भारतीय दर्शन

हिन्दी ग्रंथ अकादमी ग्रंथांक - 158

भारतीय दर्शन

(ऐतिहासिक और समीक्षात्मक विवेचन)

सम्पादक

डॉ. नन्द किशोर देवराज

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

(हिन्दी ग्रंथ अकादमी प्रभाग)

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - 226 001

प्रकाशक :

डॉ. सच्चिदानन्द पाठक

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

मानव संसाधन एवं विकास मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालयस्तरीय ग्रंथ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी गन्थ अकादमी प्रभाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण : 1976

द्वितीय संस्करण : 1978

तृतीय संस्करण : 1983

चतुर्थ संस्करण : 1992

पंचम संस्करण : 1999

षष्ठ संस्करण : 2002

प्रतियाँ : 3100

मूल्य : 120=00 रुपये (एक सौ बीस रुपये)

मुद्रक :

रोहिताश्व प्रिण्टर्स

ऐशबाग रोड, लखनऊ

फोन : 692973, 692286

प्रकाशकीय

ब्रह्म वह आध्यात्मिक सत्ता है जो व्यक्त एवं अव्यक्त तत्त्वों को अपने में समाये हुए है। पाषाणों की मृत्त यांत्रिकता, वनस्पतियों का अचेतन जीवन, पशुओं का चेतन जीवन एवं मानव का आत्म-चेतन जीवन ब्रह्म की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। सृष्टि प्रक्रिया वास्तव में ब्रह्म में निहित अनन्त सम्भावनाओं में से कुछ को मूर्तरूप देने का प्रयास है। जब ब्रह्म को जगत् का अधिष्ठान स्वीकार किया जाता है तब सत्ता का ईश्वर पक्ष उद्घाटित होता है और वह प्रकृति, जीव जगत के विभेद और रहस्य को अपने में समाहित कर लेता है।

भारतीय दर्शन का समुचित अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि अध्येता, बृहदारण्यक, छन्दोग्य, कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों का गहन, अध्ययन करे। उपनिषद् सभी भारतीय दर्शनों के मूल स्रोत हैं। जो भारतीय दर्शन वेद-प्रामाण्य को मानते हैं वे सभी उपनिषदों को वेद-प्रामाण्य के अन्तर्गत रखते हैं। यद्यपि बौद्ध, जैन और चार्वाक दर्शन-वेद-प्रामाण्य को नहीं मानते हैं, तथापि उनके दर्शनों के भी मूल उपनिषदों में हैं।

सम्पादक के रूप में डॉ. नन्द किशोर देवराज के अथक् परिश्रम के फलस्वरूप 'भारतीय दर्शन' पुस्तक आज अपनी उपयोगिता और लोकप्रियता सिद्ध कर चुकी है कि मात्र दो वर्षों की अल्पावधि में इस पुस्तक के नवीन संस्करण के प्रकाशन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी।

डॉ. कमलेश दत्त त्रिपाठी, श्री संगम लाल पाण्डे, डॉ. अजित शुकदेव शर्मा, डॉ. नीलकण्ठ शर्मा हिरेमठ, श्री प्रमोद कुमार कोयल प्रभृति विद्वानों के लेखों से सुसज्जित इस पुस्तक में उन्नीस अध्यायों के माध्यम से वैदिक संहिता, उपनिषद् दर्शन, आजीवक दर्शन, भगवद्गीता, जैन दर्शन, चार्वाक दर्शन, हीनयान दर्शन, महायान दर्शन, न्याय दर्शन, वैशेषिक, दर्शन, सांख्य दर्शन, योग दर्शन, मीमांसा दर्शन आदि को समाहित करते हुए भारतीय दर्शन के विविध सोपानों को विस्तृत विवरण किया गया है।

पुस्तक का षष्ठ संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रंथ पूर्व संस्करणों की भाँति अपनी उपयोगिता सिद्ध करेगा।

डॉ. सच्चिदानन्द पाठक
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

वक्तव्य
(प्रथम संस्करण)

यह बड़े खेद और चिन्ता की बात है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी में अब तक न तो योरपीय दर्शन का ही कोई विस्तृत और प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध रहा है और न भारतीय दर्शन का। इस दिशा में छिटपुट अनेक प्रयत्न हुए हैं, किन्तु वे सारे प्रयत्न अधूरे रह गये हैं। इधर के अधिकांश ग्रन्थ तो विद्यार्थियों की सहायता के लिए लिखे गये 'नोट्स' का संग्रह भर हैं। प्रस्तुत लेखक ने सम्भवतः सबसे पहला 'भारतीय दर्शन का इतिहास' लिखा था जो 1941 में हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग से प्रकाशित हुआ था। उस समय प्रस्तुत लेखक ने ताजा ताजा एम0एम0 किया था और वह शंकर वेदान्त पर शोध कर रहा था। अद्वैत वेदान्त से अतिरिक्त दर्शनों की उसकी जानकारी संस्कृत के कुछ ग्रन्थों तक सीमित थी; बौद्ध दर्शन के मूल ग्रन्थों की जानकारी नहीं के बराबर थी। उसके कुछ दिनों बाद श्री बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय दर्शन' निकला, किन्तु उसमें कठिन दार्शनिक विषयों का (ज्ञान-मीमांसा से सम्बद्ध सूक्ष्म विवादों का) समुचित समावेश नहीं हो सका है। वास्तव में भारतीय अथवा योरपीय दर्शनों का प्रामाणिक और विस्तृत इतिहास लिखने के लिए अनेक वर्षों का अध्ययन और परिश्रम अपेक्षित है। विशेषतः अपने देश में प्रत्येक दर्शन की लम्बी परम्परा और इतिहास रहा है; अधिकांश दर्शनों का विस्तृत साहित्य है। उदाहरण के लिए, जैन दर्शन एवं बौद्ध दर्शनों का विशाल साहित्य है; हिन्दू दर्शनों में न्याय और अद्वैत वेदान्त का साहित्य विशेष विस्तृत है। वैशेषिक तथा सांख्य योग का साहित्य के बारे में कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए शंकराचार्य के 'शारीरक भाष्य' पर जितनी विशिष्ट टीका-उपटीकाएँ है, उतनी वेदान्त के किसी दूसरे आचार्य के भाष्य-ग्रन्थ पर नहीं हैं। अद्वैत वेदान्त पर बहुत से स्वतंत्र ग्रन्थ भी हैं। वेदान्त के किसी दूसरे सम्प्रदाय में 'खण्डन-खण्डखाद्य' 'प्रत्यक्तत्वप्रदीपिका' तथा 'अद्वैतसिद्धि' जैसे ग्रन्थ दुर्लभ हैं और 'भामती' तथा 'विवरण' जैसी टीकाएँ भी सुलभ नहीं हैं।

भारतीय दर्शन के एक आदर्श इतिहासकार को प्रत्येक सम्प्रदाय के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों से परिचित होना चाहिए - हो सके तो उसके समूचे साहित्य से। किन्तु यह सम्भव नहीं है। उन पण्डितों के लिए भी, जो अपना सारा जीवन संस्कृत भाषा और भारतीय दर्शन के ग्रन्थों के अध्ययन के लिए देते हैं, हमारे समस्त दार्शनिक वाङ्मय से सुपरिचित होना सुकर नहीं है। दर्शन के इतिहासकार में एक अन्य विशेषता भी अपेक्षित है - समस्त सम्प्रदायों के प्रति सहानुभूति का भाव। यह विशेषता परम्परा-प्रेमी पण्डितों में दुर्लभ है, उनमें प्रायः किसी एक सम्प्रदाय का अभिनिवेश रहता है। कम हिन्दू पण्डित हैं जो जैन तथा बौद्ध दर्शनों का अध्ययन करते हैं; उनसे भी कम होंगे जो उक्त दर्शनों को उचित सहानुभूति दे सकें। यह विशेषता प्रायः अंग्रेजी जानने वाले विद्वानों में ही पायी जाती है।

एक अध्यापक होने के नाते प्रस्तुत लेखक को भारतीय दर्शन के एक अच्छे इतिहास की

जरूरत खलती रही है। साथ ही मुझे यह भी आभास रहा कि, अपनी अनेकविध व्यस्तताओं के बीच, वैसा इतिहास लिखने का समय मुझे शायद ही कभी मिल सके। इसलिए मैंने हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के लिए प्रस्तुत इतिहास सम्पादित करने का निश्चय किया। किन्तु इस कार्य में मुझे अप्रत्याशित कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। यह जरूरी था कि इतिहास एम0 ए0 के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी बने; इसके लिए यह आवश्यक माना गया कि पुस्तक का आकार और मूल्य इतना न बढ़ जाय कि विद्यार्थी उससे लाभ न उठा सकें। फलतः दर्शन सम्बन्धी प्रत्येक अध्याय के लिए 50-60 पृष्ठों की सीमा बाँध गयी। विभिन्न अध्यायों के लेखकों को यह बता दिया गया कि यथासम्भव वे इस सीमा का उल्लंघन न करें। इस पर एक सज्जन ने, जिन्होंने स्वयं अपनी इच्छा से चार अध्याय लिखना स्वीकार किया था, स्वीकृति के लगभग आठ महीने बाद यह सूचना देने में इतना विलम्ब लगाया कि उनके मनोनीत अध्याय दूसरों से लिखवाने पड़े। प्रस्तुत लेखक स्वयं एक भी अध्याय नहीं लिखना चाहता था – इसलिए भी कि उसे अतिरिक्त आय और आयकर का भय था; फिर भी उसे कुछ अध्याय लिखने और लिखा देने पड़े। पाठक पायेंगे कि मेरे द्वारा लिखे गये अध्याय अपेक्षाकृत छोटे हैं; उनमें कितनी विषय-वस्तु आ सकी है और वे कितने प्रामाणिक हैं, इनका निर्णय सुधी लोग करेंगे। इसके विपरीत, अन्य विद्वानों द्वारा लिखे गये प्रायः सभी अध्याय कमोवेश लम्बे थे, उनमें सम्पादक को अनिवार्य रूप से काट-छाँट करनी पड़ी। दो अध्यायों में से हाथ के लिखे प्रायः चालीस-पचास पृष्ठ कम करने पड़े; इसी प्रकार एक अध्याय में से लगभग पचीस पृष्ठ कम किये गये। इसे कम करने की प्रक्रिया में कहीं - कहीं सम्पादक को मूल लेखकों के वक्तव्य अपने शब्दों में संक्षिप्त भी करने पड़े।

इस ग्रन्थ में जहाँ अन्य वैष्णव सम्प्रदायों पर अध्याय दिया गया है, वहाँ पुस्तक का आकार अधिक बढ़ने के डर से, शैव-शाक्त दर्शनों एवं तन्त्रों पर अध्याय नहीं जोड़ा गया। हिन्दी साहित्य का वैष्णव दर्शनों से अधिक सम्बन्ध रहा है। यों, प्रायः विश्वविद्यालयों में रामानुज दर्शन तक ही भारतीय दर्शन का इतिहास पढ़ाया जाता है। मुझे आधुनिक भारतीय दर्शन का संक्षिप्त परिचय, इधर के सांस्कृतिक इतिहास के परिचय की दृष्टि से, ज्यादा जरूरी जान पड़ा।

इस ग्रन्थ की तैयारी में जिन-जिन लेखकों ने सहयोग दिया है उनके प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ। हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के निदेशक श्री ब्रह्मदत्त दीक्षित और उसके अध्यक्ष पं0 हजारीप्रसाद द्विवेदी से समय-समय पर प्रोत्साहन और सुझाव मिलते रहे, इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

25 मार्च, 1974 — देवराज

द्वितीय संस्करण

मुझे प्रसन्नता है 'भारतीय दर्शन' का पुनर्मुद्रण अपेक्षित हो गया है। इस संस्करण में पूर्व मुद्रण की कुछ आशुद्धियाँ ठीक की गयी हैं तथा विश्लेषणात्मक विषय-सूची, लेखक-परिचय (जो प्रमादवश छूट गया था) और संदर्भ ग्रन्थ-सूची जोड़े गये हैं।

52, बादशाह नगर, लखनऊ — देवराज
12 जुलाई, 1978

तृतीय संस्करण

'भारतीय दर्शन' विशेषतः छात्रों के लिए तैयार किया गया था। उन्होंने इसे उपयोगी पाया, यह सम्पादक के लिए सन्तोष और सुख की बात है। इस संस्करण में कोई परिवर्तन-परिवर्द्धन आवश्यक नहीं समझा गया।

52, बादशाह नगर, लखनऊ — देवराज
जनवरी, 1983

चतुर्थ संस्करण

प्रस्तुत संस्करण में उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के उपाध्यक्ष डॉ० परिपूर्णानन्द वर्मा के प्रोत्साहक सुझावों के तहत 'तन्त्र-दर्शन' पर जिसका विकसित रूप काश्मीर शैव दर्शन में (जो शैव तन्त्र परम्परा का सर्वप्रमुख दार्शनिक मतवाद है) पाया जाता है, स्वतंत्र अध्याय दिया गया है। 'आधुनिक भारतीय दर्शन' के अन्तर्गत भारतीय पुनर्जागरण तथा डॉ० भगवानदास के विचारों पर कुछ पृष्ठ जोड़े गये हैं, पूर्वलिखित अध्याय के कुछ पृष्ठ हटाये भी गये हैं।

इस दृष्टि से प्रस्तुत संस्करण में 'तन्त्रदर्शन' पर स्वतंत्र अध्याय पुस्तक की उपयोगिता में वृद्धि करेगा। डॉ० साहब का दूसरा सुझाव यह था कि पुस्तक में अनुक्रमणिका का समावेश होना चाहिये, यह परामर्श सहर्ष स्वीकार किया गया। निश्चय ही दोहरी अनुक्रमणिका (विषयानुक्रमणिका तथा नामानुक्रमणिका) के समावेश से पुस्तक सर्वविध पाठकों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

52, बादशाह नगर, लखनऊ — देवराज
23, मार्च, 1992

पंचम संस्करण

इस नये संस्करण में पुस्तक की विषयवस्तु में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन-परिवर्द्धन आवश्यक नहीं समझा गया, किन्तु मुद्रित प्रति में त्रुटि-सुधार पर विशेष अवधान और श्रम का व्यय किया गया है।

52, बादशाह नगर, लखनऊ — देवराज
31 मार्च, 1998

विषय-सूची

●

भूमिका

दार्शनिक चिन्तन सभ्य मनुष्य का स्वभाव है। किन्तु सभ्यता के इतिहास में समीक्षात्मक दर्शन या दार्शनिक चिन्तन का विकास कुछ ही देशों में हो सका; इन देशों में प्राचीन यूनान और भारतवर्ष का स्थान प्रमुख है। यूनान में दार्शनिक चिन्तन का उदय इस वैज्ञानिक प्रश्न के साथ हुआ कि दृश्यमान् जगत् के पीछे एक तात्त्विक पदार्थ कौन सा है। बाद में, कतिपय संशयवादी विचारकों की प्रतिक्रिया के रूप में, वहाँ क्रमश: ज्ञान-मीमांसा और नीति-शास्त्र का व्यवस्थित प्रारम्भ हुआ। इन प्रवृत्तियों का विकसित रूप अफलातून (प्लेटो) और अरस्तू (एरिस्टाटिल) की विचार-पद्धतियों में पाया जाता है। प्लेटो गणित का भी प्रेमी था। तत्त्व मीमांसा, ज्ञान-मीमांसा और नीति-शास्त्र के अतिरिक्त उसने राज्य, शिक्षा, ललित कलाओं आदि से सम्बन्धित दार्शनिक प्रश्नों पर भी विचार किया है। अरस्तू ने ज्ञान को शाखाओं में विभक्त करते हुए तत्त्व-मीमांसा, तर्क-शास्त्र, आचार-शास्त्र, काव्य-मीमांसा, राजनीति, दर्शन आदि पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे। प्लेटो और अरस्तू ने उन सभी दार्शनिक समस्याओं की रूपरेखा स्थिर की जिनके आधार पर बाद के योरपीय दर्शन का विकास और विस्तार हुआ।

प्राचीन देशों में दर्शन का दूसरा महत्त्वपूर्ण और इतिहास क्रम में प्राचीनतम केन्द्र भारतवर्ष था। ऋग्वेद में जहाँ तहाँ छिटपुट दार्शनिक जैसे प्रश्न उठाये गये हैं; कहीं-कहीं वैसे प्रश्नों के उत्तर देने के प्रयत्न भी किये गये हैं; किन्तु हमारे यहाँ दर्शन का व्यवस्थित आरम्भ उपनिषदों में हुआ। उपनिषद् दर्शन का आरम्भ-बिन्दु धार्मिक-आध्यात्मिक-जिज्ञासा है; इस जिज्ञासा का ही एक रूप चरमतत्त्व-विषयक प्रश्न और उत्तर है, जो अधिकांश उपनिषदों का प्रधान प्रतिपाद्य है। सबसे प्राचीन उपनिषद् बृहदारण्यक और छान्दोग्य (आठवीं शती ई० पू०) हैं, जिनमें ब्रह्म, आत्मा और अमृतत्व या मोक्ष-विषयक जिज्ञासा प्रधान है। उपनिषदों में परा-अपरा विद्याओं तथा श्रेय और प्रेय का भेद किया गया है, और ज्ञान के महत्त्व पर जोर दिया गया है, विशेषत: ब्रह्म-ज्ञान पर अथवा ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान पर, जिससे मोक्ष सम्भव होता है। उपनिषदों में ब्रह्म या आत्मा को इन्द्रिय, मन और वाणी के परे बतलाया गया है। ये संकेत ज्ञान-मीमांसा-सम्बन्धी प्रश्नों को उकसाने वाले हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन में दो प्रमुख क्षेत्रों से सम्बन्धित विषयों पर विशेष विचार हुआ है—एक क्षेत्र अध्यात्म विद्या अथवा मोक्ष शास्त्र है और दूसरा ज्ञान-मीमांसा अथवा प्रमाण-शास्त्र। दोनों ही क्षेत्रों में भारतीय दर्शन ने नितान्त सूक्ष्म और विविध चिन्तन किया है जिसका, विश्व-संस्कृति की पृष्ठभूमि में, विशेष महत्त्व और विशिष्ट स्थान है।

दर्शन और आध्यात्मिक खोज

कतिपय योरपीय पण्डितों को भारतीय दर्शन से यह शिकायत है कि वह धर्म और अध्यात्मसे बहुत ज्यादा सम्पृक्त रहा है। हम इस शिकायतको उचित नहीं समझते विश्व में हम जो कुछ देखते हैं और जानते या जानने की इच्छा रखते हैं, उसे दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—एक है तथ्य-समूह और दूसरा है मूल्य-जगत्। यहाँ तथ्यों से हमारा मतलब दीखने वाली चीजों से सम्बन्धित वास्तविकताएँ हैं। हमारा सुनिश्चित मत है कि तथ्य-जगत् अथवा वस्तुओं का संसार वैज्ञानिक अध्ययन का विषय है, जबकि मूल्य-जगत् का अनुचिन्तन दर्शन का कार्य है। इस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में नैतिक; कलात्मक या सौन्दर्यपरक और आध्यात्मिक सभी तरह के मूल्यों का समावेश है। भारतीय दर्शन में मुख्यत: आध्यात्मिक मूल्यों पर विचार हुआ है। यहाँ कलात्मक सौन्दर्य का विश्लेषण और तत्सम्बन्धित चिन्तन तथाकथित अलंकार-ग्रन्थों में किया गया है। इन ग्रन्थों के कतिपय प्रणेता प्रसिद्ध दार्शनिक भी थे; जैसे अभिनवगुप्त। काव्य-शास्त्र के सम्प्रदायों का दार्शनिक निकायों से भी सम्बन्ध रहा है, जैसे न्याय और वेदान्त से, किन्तु जिन विचारकों को हम मुख्यत: दार्शनिक नाम देते हैं—जैसे सांख्य के प्रवर्त्तक कपिल; न्याय दर्शन के प्रतिष्ठाता गौतम; बौद्ध विचारक नागार्जुन एवं धर्मकीर्ति; कुमारिल, शंकराचार्य, रामानुज आदि—उन्होंने उस भाँति काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी चिन्तन नहीं किया जिस भाँति पश्चिम में प्लेटो, अरस्तू, काण्ट, हेगेल, क्रोचे आदि ने किया है। इसी प्रकार इस देश के दार्शनिकों ने नीति-विज्ञान (या आचार-शास्त्र), समाज दर्शन, राजनीति दर्शन आदि पर भी अलग से चिन्तन और ग्रन्थ-लेखन नहीं किया। पश्चिम के दार्शनिकों ने शुरू से गणितशास्त्र में और बाद में भौतिक शास्त्र में भी विशेष रुचि ली। आज के योरप और अमेरिका में विज्ञान-दर्शन भी दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण शाखा मानी जाती है। इसके विपरीत, भारत के दार्शनिकों ने कभी भी गणित में रुचि नहीं ली; और चूंकि यहाँ भौतिक विज्ञान का उदय नहीं हो पाया, इसलिए यहाँ के दार्शनिकों का ध्यान विज्ञान की ओर नहीं गया। यहाँ के दार्शनिकों की रुचि

का विशिष्ट केन्द्र मोक्ष-दर्शन और ज्ञान-मीमांसा रहे। इन क्षेत्रों से सम्बन्धित भारतीय दर्शन की उपलब्धियों पर हम अलग-अलग विचार करेंगे।

भारतीय मोक्षवाद

ऊपर हमने कहा कि भारतीय दर्शन का उदय मुख्यत: आध्यात्मिक जिज्ञासा में हुआ। कहा गया है कि भारतीय दर्शन की तीन अप्रमाणित पूर्व-मान्यताएँ हैं, अर्थात् मोक्ष का सिद्धान्त, कर्म-सिद्धान्त और पुनर्जन्म का सिद्धान्त। यह आरोप गलत नहीं है। किन्तु हमारा निवेदन है, प्रत्येक संस्कृति या युग की कतिपय निजी पूर्व-मान्यताएँ होती हैं। हमारे युग की भी कई अप्रमाणित या अर्द्धप्रमाणित मान्यताएँ हैं, जैसे ये विश्वास—कि प्रकृति-जगत् अखण्ड नियमों द्वारा शासित है, कि चिन्तन की सर्वाधिक विश्वसनीय प्रणाली विज्ञान की प्रणाली है, कि उद्योग-धन्धों की प्रगति सभ्यता की प्रगति का आवश्यक अंग है, इत्यादि। उन्नीसवीं सदी में बहुत से विचारकों का यह विश्वास था कि मनुष्य जाति और उसकी सभ्यता लगातार उन्नति की ओर अग्रसर है, अर्थात विश्व-प्रक्रिया क्रमशः उच्चतर भूमिकाओं की ओर अग्रसर होती रहती है इसलिए यह शिकायत समीचीन नहीं है कि भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की कतिपय पूर्वमान्यताएँ थीं। शिकायत की बात यह हो सकती है कि आज के भारतीय उस समय की मान्यताओं को असमीक्षित ढंग से स्वीकार करके चलते रहें। यह देखने की बात है कि बीसवीं सदी के आते-जाते विचारकों की पिछली सदी की इस मान्यता में अविश्वास होने लगा कि मनुष्य आवश्यक रूप में, हर क्षेत्र में, निरन्तर प्रगति कर रहा है। ध्यातव्य है कि बीसवीं शती की प्रथम अर्द्धशती में दो भयंकर विश्व युद्ध या महायुद्ध हुए।

योरप के विचारकों को धर्म के परम्परागत अनुशासन में इसलिए अरुचि हो गयी कि मध्ययुगीन ईसाई धर्म ने स्वतन्त्र चिन्तन पर सख्त प्रतिबन्ध लगाये; उसने दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों को भी स्वतन्त्र चिन्तन करने से भरसक रोका। इसके फलस्वरूप वहाँ के आधुनिक दार्शनिक दर्शन को धर्म से अलग रखना चाहते हैं और धार्मिक-आध्यात्मिक मान्यताओं को मात्र श्रद्धा की चीज समझते हैं। किन्तु हमारे देश में, विशेषत: उन्नतिशील युगों में, धर्म दार्शनिक चिन्तन पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सका। इसके विपरीत, यहाँ दर्शन ने धर्म और धर्म-ग्रन्थों को अपने तेज से अभिभूत कर दिया। धर्म-ग्रन्थ बतलाते हैं कि जीवन का ध्येय मोक्ष है, लेकिन मोक्ष का स्वरूप और उसके उपाय क्या हैं, यह दर्शन बतलाता है। यही नहीं, प्रत्येक दर्शन मोक्ष-तत्त्व की अलग व्याख्या देता है। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि जहाँ मोक्ष की अवधारणा के सम्बन्ध में भारतीय दर्शनों के अलग-अलग मत हैं, वहाँ वे मोक्ष की साधना अर्थात् मोक्ष की ओर बढ़ने वाले सन्त-जीवन के सम्बन्ध में,

बहुत कुछ एक-सा मत रखते हैं—बहुत कुछ इसलिए कि कई मतभेद वहाँ भी हैं। उदाहरण के लिए, हिन्दू धर्म मोक्ष-प्राप्ति के लिए ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग, ज्ञान-कर्म-समुच्चय मार्ग, भक्ति-मार्ग, इन अनेक मार्गों का निर्देश करता है। फिर भी हमारे देश के समस्त आध्यात्मिक शिक्षक मोक्ष-साधना से सम्बद्ध कई बातों पर सहमत हैं। वे सब इस बात पर जोर देते हैं कि मोक्ष-कामी मनुष्य को राग-द्वेष और आसक्ति पर विजय पानी चाहिए। मोक्ष का पारिभाषिक अर्थ है संसार अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा। भारतीय विचारकों का विश्वास था कि जब तक, प्रत्येक नये जन्म में, शरीर से सम्पर्क है, तब तक दुःख-निवृत्ति नहीं हो सकती।

भारतीय दर्शनों में आत्मा की कल्पना बड़ी सूक्ष्म और भव्य है। ईसाई धर्म तथा इस्लाम में ईश्वर को आत्मा का स्रष्टा बताया जाता है; ईश्वर आत्मा को नष्ट भी कर सकता है। किन्तु भारतीय दर्शनों के अनुसार आत्मा अनादि, अजर और अमर है। अज्ञान के वशीभूत होकर मनुष्य अपने शरीर आदि में ममत्व-बुद्धि रखने लगता है, यही बन्धन है। दुनिया की वस्तुओं में आसक्ति इसी ममत्व-बुद्धि का परिणाम है, क्योंकि वस्तुओं की जरूरत शरीर और मन को ही होती है।

हिन्दू दर्शन श्रुति को प्रमाण मानते हैं; वेदान्त कहलाने वाले दर्शनों का सैद्धान्तिक आधार श्रुति ही है। किन्तु मोक्षवाद की दृष्टि से श्रुति चरम प्रमाण नहीं है। चरम या अन्तिम प्रमाण अनुभव या अनुभूति है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आध्यात्मिक सत्यों की अन्तिम कसौटी अनुभव है।

यहाँ हमें भारतीय मोक्षवाद की विशेषताएँ लक्षित करनी चाहिए। इस दृष्टि से हमारे दर्शन के क्लासिकल अथवा स्वर्ण युग (नागार्जुन से लेकर शंकराचार्य तक की अवधि) की मनोवृत्ति तथा मध्ययुगीन भक्त दार्शनिकों की विचारधारा में अन्तर है, जिस पर पाठकों को ध्यान देना चाहिए। बौद्ध, जैन तथा हिन्दुओं के षड्दर्शनों के अनुसार मुक्ति की अवस्था आत्मा को (यहाँ बौद्ध मत थोड़ा भिन्न है) स्वाभाविक अवस्था है, अर्थात् उसका निजी स्वरूप। पूर्णत्व स्वयं आत्मा में अन्तर्निहित है। अविद्या को नष्ट करने वाला ज्ञान आत्मा के स्वरूप-लाभ में सहायक होता है। न्याय दर्शन के अनुसार चेतना आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है; यह गुण शरीर, मन आदि के सम्पर्क से उत्पन्न होता है। मुक्त जीव में चेतना नहीं रहती, अतः मुक्त आत्मा का दूसरी आत्माओं अथवा ईश्वर से भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता। मतलब यह है कि मुक्ति का अर्थ ईश्वर का सम्पर्क अथवा ईश्वर के आनन्द से आनन्दित होना नहीं है, जैसा कि बाद के भक्त दार्शनिकों का विचार है। सांख्य-योग में भी मुक्ति का अर्थ कैवल्य अर्थात् पुरुष का प्रकृति से (और दूसरे पुरुषों से भी) सम्बन्ध-विच्छेद है। मुक्ति का अर्थ है पुरुष की अपने स्वरूप में अवस्थिति। सांख्य तो पुरुष से भिन्न

ईश्वर या ब्रह्म की सत्ता स्वीकार ही नहीं करता। योग दर्शन में ईश्वर का उल्लेख है, पर वह ईश्वर नैयायिकों तथा भक्त दार्शनिकों के ईश्वर से नितान्त भिन्न है। वह ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं है। अद्वैत वेदांत में आत्मा और ब्रह्म को अभिन्न माना जाता है, इसलिए मोक्ष को आत्मा का स्वरूप-लाभ कहना उतना ही उपयुक्त है जितना उसे ब्रह्म-लाभ अथवा ब्रह्म-प्राप्ति कहना। जैन दर्शन के अनुसार मल-रूप कर्म पुद्गल से पूर्णतया अलग हो जाना ही जीव की मुक्ति है। मुक्त जीव विशुद्ध चैतन्य-रूप, सर्वज्ञ, अनन्त वीर्ययुक्त और स्वयं में सुखी होता है। बौद्ध धर्म में निर्वाण की दो कल्पनाएँ हैं हीनयानी दर्शनों के अनुसार निर्वाण का अर्थ पंचस्कन्धों का निरोध (प्रतिसंख्या-निरोध) है; इसमें योग की क्रियाएँ विशेष सहायक होती हैं। पुद्गुल नैरात्म्य का बोध (अर्थात् यह ज्ञान कि वस्तुत: वस्तुओं की सत्ता नहीं है, न कोई स्थिर भौतिक वस्तु है, न आत्मा) राग द्वेष का शमन करके निर्वाण का पथ प्रशस्त करता है। पालि पिटकों में (यथा ब्रह्मजाल सुत्त और पाट्ठपाद सुत्त में) बुद्ध यह कहते पाये जाते हैं कि निर्वाण न अस्ति-रूप है, न नास्ति-रूप; निर्वाण का भाषा में वर्णन सम्भव नहीं है। जीवन के दुःखों की—राग, द्वेष और मोह की—समाप्ति ही निर्वाण है। निषेध की भाषा में कहा जा सकता है कि समस्त क्लेशों (क्लेशावतरण) और ज्ञान के प्रतिबन्धों (ज्ञेयावरण) का विनाश ही निर्वाण है। 'अभिधर्मकोश' के अनुसार निर्वाण एक असंस्कृत धर्म है—ऐसा धर्म जो कार्य-कारण-शृंखला से बाहर है। यह वर्णन निर्वाण या अमृत-पद को भावात्मक रूप दे देता है। हिन्दू दर्शनों के अनुसार शरीरादि से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान राग, द्वेष आदि दोषों को हटाता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार अनात्मा को मायामय जानकर, उसमें आत्मा के अध्यास का परित्याग कर, आत्मा अपने स्वरूप को पहचानता और मुक्त होता है। (द्रष्टव्य है कि संस्कृत में आत्मा शब्द पुल्लिग है, हिन्दी में स्त्रीलिंग—सम्भवत: फारसी 'रूह' शब्द की उत्तर कालीन प्रसिद्धि के कारण।)

महायानी बौद्ध दर्शनों के अनुसार विश्व की सम्पूर्ण वस्तुएँ स्वभाव-शून्य हैं, उनकी प्रतीति भ्रम अथवा व्यावहारिक सत्य मात्र है। हीनयानी दर्शन वस्तुओं को विकल्पमूलक मानते हुए भी क्षणिक स्वलक्षणों (धर्मों) को यथार्थ मानते हैं। विज्ञान-वाद के मत में क्षणिक विज्ञान ही एकमात्र तत्त्व है, दृश्यमान वस्तुएँ, जिनमें लोगों को राग द्वेष होता है, अस्तित्ववान् हैं ही नहीं। कोई स्थिर आत्मा भी नहीं है; ग्राह्य और ग्राहक दोनों मिथ्या हैं। जब चित्त इन मिथ्या विकल्पों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है तब वह निरालम्बन बन जाता है और स्वयं अपने में स्थित होता है। इस स्थिति को 'विज्ञप्तिमात्रता' कहा जाता है। चित्त की यह स्थिति ही लोकोत्तर

ज्ञान है, इसे आश्रय परावृत्ति कहते हैं। सब प्रकार के आवरणों (क्लेशावरण और ज्ञेयावरण) के हटने और राग-द्वेष एवं मोह के नष्ट होने पर आलय विज्ञान अपने स्वाभाविक रूप में स्थित होता है। इसे अद्वय ज्ञान भी कहते हैं, क्योंकि इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत समाप्त हो जाता है। इसी का दूसरा नाम अनास्रव धातु और विमुक्ति है।

शून्यवादी के अनुसार भी विश्व के सारे पदार्थ स्वभावशून्य हैं, अर्थात् शून्य-रूप। माध्यमिक का यह मन्तव्य समझने के लिए 'प्रतीत्य समुत्पाद' के स्वरूप को समझना जरूरी है। संक्षेप में, प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त यह बतलाता है कि वस्तुओं की उत्पत्ति हेतु प्रत्ययों (कारणों) पर निर्भर करती है। किन्तु जो वस्तुएँ प्रतीत्य समुत्पन्न हैं, वे स्वभावशून्य हैं। किसी वस्तु का स्वभाव, अर्थात् निजी स्वरूप वह है जो अकृत्रिम है, अर्थात् दूसरी किसी वस्तु पर निर्भर नहीं है; किन्तु अनुभव-जगत् में इस तरह की कोई भी चीज नहीं है। हर वस्तु हेतु प्रत्ययों की सापेक्ष, और इस प्रकार अकृत्रिम स्वभाव से वंचित है। निष्कर्ष यह कि संसार की प्रत्येक वस्तु शून्य अर्थात् स्वभावशून्य या निःस्वभाव है। वस्तुतः संसार की वस्तुओं की सत्ता सांवृतिक या व्यावहारिक है, तात्त्विक नहीं।

फिर तत्त्व पदार्थ क्या है ? शून्यवादी का कहना है कि तत्त्व पदार्थ बुद्धि से परे है; उसका बौद्धिक निरूपण सम्भव नहीं है। तत्त्व बुद्धि द्वारा अगोचर है; बुद्धि द्वारा जो ग्रहण किया जाता है वह सांवृतिक सत्य मात्र है अर्थात् व्यावहारिक सत्य। वास्तविक तत्त्व अनक्षर है अर्थात् शब्दों से परे; उसके बारे में न कुछ कहा-सुना जा सकता है, न उसका उपदेश ही किया जा सकता है।[1] तत्त्व की ऐसी अवगति में

---

1. इस सन्दर्भ में 'बोधिचर्यावतार' (9/2) की पंजिका के निम्न वक्तव्य ध्यातव्य हैं :—

परमार्थतोऽवाच्यमपि परमार्थतत्त्वं दृष्टान्तद्वारेण संवृतिमुपादाय कथंचित् कथितम्।

यदुक्तम्— अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का।
श्रूयते देश्यते चार्थः समारोपादनक्षरः॥

माध्यमिक विचारक तत्त्व को चतुष्कोटिविनिर्मुक्त मानते हैं। यह तत्त्व ही निर्वाण है। वे संसार और निर्वाण की एकता भी घोषित करते हैं। संसार की सब वस्तुओं में सांवृतिक और पारमार्थिक दोनों स्वभाव मौजूद रहते हैं। उनमें अज्ञानी लोग मृषादर्शन के विषयभूत सांवृतिक रूप को देखते हैं और ज्ञानी लोग बुद्धि के अगोचर पारमार्थिक रूप को। समूचे बौद्ध दर्शन में शब्दों द्वारा प्रकट

स्थित होना ही निर्वाण है। यह निर्वाण तभी सम्भव है जब मनुष्य आत्मभाव में आस्था छोड़ दे और स्वभाव-शून्य वस्तुओं से राग-द्वेष का सम्बन्ध छिन्न कर ले। इस प्रकार की सम्बन्धशून्यता की स्थिति ही तत्त्व अवथा बुद्धभाव में अवस्थिति है।

ऊपर उल्लिखित प्राय: सभी दर्शनों में जीवन्मुक्ति की कल्पना है। हिन्दू दर्शनों में सांख्य और अद्वैत वेदान्त जीवन्मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। इसका मतलब यही है कि मुक्ति की अवस्था केवल विश्वास की चीज नहीं है, साधक उसका अनुभव स्वयं अपने जीवन में कर सकता है। सांख्य साहित्य के एक पद्य के अनुसार पचविंशति तत्त्वों को जानने वाला जैसे-तैसे रहते हुए भी मुक्त हो जाता है। शंकराचार्य कहते हैं—

> "ज्ञानी व्यक्ति जीते हुए भी अशरीर अर्थात् मुक्त होता है। जिस व्यक्ति में कर्त्ता और भोक्ता होने का अध्यास और अभिमान खत्म हो गया है, वह सुख-दु:ख के द्वन्द्वों से परे हो जाता है। जीवन के लाभ-हानि उसे प्रभावित नहीं करते। यही मुक्ति की अवस्था है।"

जीवन्मुक्ति की धारणा भारतीय धर्म-दर्शन की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है। आध्यात्मिक सत्य केवल बुद्धि द्वारा जानने अथवा श्रद्धा द्वारा स्वीकार करने की चीज नहीं है, उसकी सार्थकता इसी में है कि वह हमारे जीवन को प्रभावित करे। भारतीय दर्शनों का यह दावा है कि अपने इसी जीवन में शान्ति-लाभ करके हम आध्यात्मिक सत्य को प्रमाणित कर सकते हैं। वस्तुत: भारतीय धर्म और साधना में सदा से अनुभव का विशेष स्थान रहा है।

जैसा हमने पहले संकेत किया था, भक्ति-युग में मोक्ष की उपर्युक्त धारणा में परिवर्तन लक्षित होता है। रामानुज के अनुसार आत्मा का परिमाण अणु है, आत्मा सर्वव्यापक नहीं है, जैसाकि स्वर्ण-युग के षड्दर्शनों का मत है दूसरे भक्त दार्शनिकों—मध्व, निम्बार्क और वल्लभ—का मत भी रामानुज के समान है। इन सभी के अनुसार जीवात्मा किसी न किसी रूप में ईश्वर पर निर्भर है। दूसरे, मोक्ष आत्मा का स्वभाव नहीं है; मोक्ष का अर्थ है भगवान् का निरन्तर सम्पर्क, जो भगवान् की भक्ति और उनकी कृपा द्वारा ही सम्भव है। मोक्ष की दशा में आत्मा या जीव भगवान् के ज्ञान और आनन्द में सहभागी होकर ज्ञानी और आनन्दी बन

होनेवाला ज्ञान सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है; ऐसे ज्ञान का विषय बुद्धि के विकल्प होते हैं, न कि तत्त्व पदार्थ। वेदान्त की भाँति माध्यमिक मानता है कि प्राकृत लोगों का जगत् योगियों अथवा ज्ञानियों के लोक से बाधित हो जाता है।

जाता है । मुक्त जीव में भगवान् के सदृश अनेक समानताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, किन्तु मुक्त जीव सृष्टि की रचना, स्थिति और प्रलय के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। भगवान् के साहचर्य की कल्पना कई प्रकार की गयी है । मध्व के अनुसार मोक्ष के भी अनेक रूप हैं सालोक्य मुक्ति में जीव भगवान् के साथ एक ही जगह रहता है, जहाँ उसे निरन्तर भगवान् का दर्शन प्राप्त होता रहता है । सामीप्य नामक मोक्ष में वह भगवान् से और भी अधिक निकटता प्राप्त करता है । सारूप्य मोक्ष इन दोनों से ऊँचा है; जो भगवान् की निरन्तर सेवा करते हैं और बाह्य आकार में भगवान् से मिलते-जुलते हैं, उन्हें यह मोक्ष प्राप्त होता है । सबसे ऊँची मुक्ति सायुज्य कहलाती है; उस स्थिति में मुक्त आत्मा भगवान् में प्रवेश करके उनके आनन्दपूर्ण जीवन मे सहभागी होता है । रामानुज के अनुसार मुक्ति का अर्थ सायुज्य ही है । निम्बार्क के मत में भी मोक्ष तद्भावापत्ति अर्थात् भगवान् के स्वरूप के उपभोग-रूप है । रामानुज आदि के अनुसार जीवन-काल में पूरी मुक्ति (जीवन्मुक्ति) सम्भव नहीं है, वे विदेह मुक्ति की अवधारणा के पोषक हैं ।

जैसा हमने शुरू में संकेत दिया था, भारतीय दार्शनिक चिन्तन का ध्येय ज्ञान और ज्ञान का लक्ष्य आत्म-लाभ बतलाते हैं । जहाँ विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में आत्मा, मोक्ष आदि के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद है, वहाँ मोक्ष के लिए उपयोगी साधना के बारे में बहुत कुछ मतैक्य है । यह मतैक्य अपने को साधक अर्थात् सन्त के जीवन की अवधारणा में प्रकट करता है । संक्षेप में, सन्त वह है जो दुनिया के भोगैश्वर्य के प्रति विरक्त है । प्राय: सभी दर्शनों के सिद्धान्त विरक्ति-भाव के पोषक हैं । विश्व की वस्तुओं से आत्मा का कोई आवश्यक सम्बन्ध या लगाव नहीं है; जो कुछ लगाव दिखाई देता है उसका कारण अविद्या और अज्ञान है । स्वयं अपनी और वस्तुओं की सही प्रकृति न जानने के कारण मनुष्य राग, द्वेष अर्थात् आसक्ति का शिकार होता है । यह मत सांख्य और वैशेषिक जैसे वस्तुवादी दर्शनों को भी स्वीकार है । किन्तु वस्तु-जगत् में हमारी आसक्ति क्यों नहीं होनी चाहिए, इसका ज्यादा विश्वसनीय उत्तर प्रत्ययवादी दर्शन देते हैं, अर्थात् वे दर्शन जगत् को तात्त्विक नहीं मानते। एक प्रकार से बौद्धों के सारे सम्प्रदाय प्रत्ययवादी हैं । जर्मन दार्शनिक काण्ट की भाँति वैभाषिक और सर्वास्तिवादी दार्शनिक यह मानते हैं कि अनुभवगोचर वस्तुएँ हमारी बुद्धि की संरचना मात्र हैं—बौद्धों की पदावली में वस्तुएँ विकल्प-रूप हैं । विज्ञानवादी तथा 'योगवासिष्ठ' जैसे ग्रन्थ विश्व की वस्तुओं को विज्ञान अथवा प्रत्यय मात्र मानते हैं; अद्वैत के दृष्टि-सृष्टिवादी सम्प्रदाय का भी ऐसा ही मत है । माध्यमिक विचारक वस्तुओं को शून्य अथवा स्वभावशून्य घोषित

करते हैं; शून्य तथा शून्यता शब्दों का प्रयोग विज्ञानवाद में भी होता है। एक लेखक ने कहा है कि बुद्धि का उपदेश विभिन्न कोटियों के अधिकारियों के लिए भिन्न होते हुए भी दो बातों में सबके लिए समान है, अर्थात शून्यता एव अद्वय की शिक्षा में।[1] लक्षित होने की बात यह है कि जगत् के मिथ्यात्व अथवा शून्यता की शिक्षा के पीछे एक आध्यात्मिक उद्देश्य है—यह उद्देश्य है जागतिक वस्तुओं के प्रति वैराग्य-भावना को उत्पन्न करना। विरक्त व्यक्ति मे संकल्प नहीं होते; संकल्प के अभाव में राग-द्वेष-मूलक कर्म सम्भव नहीं है। भारतीय दर्शनों के अनुसार इस प्रकार के सकाम कर्म ही बन्धन के हेतु होते हैं। 'पंजिका' में उद्धृत 'चतुःस्तवः' के एक श्लोक में कहा गया है—

"सर्वसंकल्पहानाय शून्यताऽमृत देशना।"

अर्थात्—शून्यता का अमृत उपदेश इसलिए किया जाता है कि मनुष्य (रागद्वेषमूलक) संकल्प छोड़ दे।

दूसरे कई विचारकों ने भी यही मत प्रकट किया है कि जगत् के मिथ्या अथवा विज्ञान मात्र होने की शिक्षा वैराग्य उत्पन्न करने के लिए है।[2]

भारतीय दर्शन की उक्त शिक्षा का संकेत करते हुए अलबर्ट श्वाइट्जर आदि कई पाश्चात्य लेखकों ने भारतीय संस्कृति पर अभियोग लगाया है कि वह संस्कृति जीवन-निषेधक और पलायनवादी है। भारत के विचारक जगत् को मिथ्या घोषित करते हुए जीवन और जगत् से वैराग्य की शिक्षा देते हैं; वे प्रेरणा नहीं देते कि मनुष्य प्रयत्नपूर्वक अपने जीवन को सुखी और सक्षम बनाये तथा इतिहास के निर्माण में योग दे। इस अभियोग में आंशिक सचाई है। भारतीय दर्शन कर्म और कर्म-फल को बन्धन-रूप या बन्धन का हेतु मानता है। सब प्रकार के कर्मों के फल से छुटकारा पाये बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। इसीलिए अद्वैत के प्रतिष्ठाता प्रखर तार्किक शङ्कराचार्य यह स्वीकार नहीं करते कि कर्म से (अथवा ज्ञान-कर्म-समुच्चय से) मुक्ति हो सकती है। ज्ञानी पुरुष में कर्त्ता होने का अभिमान नहीं हो सकता; वैसे अभिमान के बिना कर्म सम्भव नहीं है। तात्पर्य यह है कि कर्म का आधार अनात्मा में आत्मा और आत्मा में अनात्मा का अध्यास है, जो मोक्ष का विरोधी है।

कर्म और ज्ञान के समन्वय का प्रयत्न भगवद्गीता में किया गया है। गीता के अनुसार सकाम कर्म ही बन्धन का हेतु होता है, अतः मनुष्य को निष्काम भाव से कर्त्तव्य कर्म करना चाहिए। गीता की यह शिक्षा उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है।

---

1. भिन्नाऽपि देशनाऽभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा।
2. दे० 'त्रिंशका' पर स्थिरमति की टीका का उपोद्घात।

प्रश्न है, क्या वह आज के मनुष्य के लिए पर्याप्त है। इसका समुचित उत्तर पाने के लिए दर्शन और जीवन के सम्बन्ध को अधिक गहराई में पैठकर देखना होगा। संक्षेप में, दर्शन का प्रमुख कार्य हमारी मूल्य-चेतना को विश्लेषित करना और उसे दिशा देना है। सब प्रकार के विज्ञानों का विषय तथ्य जगत् के विभिन्न विभाग हैं, दर्शन का विषय सब प्रकार के मूल्य हैं – अर्थात् तर्कशास्त्रीय मूल्य, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य एवं कलागत मूल्य। दर्शन का प्रधान कार्य सत्यं, शिवं और सुन्दरं के विविध रूपों का विश्लेषणात्मक अनुशीलन है। किन्तु मनुष्य की मूल्य-चेतना बदलती और विकसित होती रहती है, उसी के अनुरूप दर्शन भी नये रूप धारण करता है। उदाहरण के लिए, आज के मनुष्य की नैतिक चेतना प्राचीन काल की नैतिक चेतना से, कई मुख्य रूपों में, भिन्न हो गयी है। फलतः आज का नीति-दर्शन प्राचीन एवं मध्ययुगीन नीति-शास्त्र से भिन्न होने को लाचार है। आज हम ऊँच-नीच के पुराने भेदों को स्वीकार नहीं करते, प्राचीन वर्ण-व्यवस्था भी आज ग्राह्य नहीं रह गयी है। सच यह है कि जनतन्त्र की राज-व्यवस्था और जाति-भेद का मन्तव्य एक-दूसरे के विरोधी हैं। इसी प्रकार आज के मनुष्य का जीवन-विवेक प्राचीन तथा मध्ययुगीन जीवन-सिद्धान्तों से भिन्न हो गया है। एक प्रकार से गीता की निष्काम कर्म की शिक्षा आज के मनुष्य के लिए भी अर्थपूर्ण है, किन्तु ठीक उसी रूप में नहीं। गीता के अनुसार समाज के सब सदस्यों को अपने-अपने वर्ण-धर्म का पालन करना चाहिए; आज के युग में यह न सम्भव है, न अपेक्षित। आज सभी जातियों के लोग राजनीति में जाते हैं, सभी उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं और सब कोई नौकरी या व्यवसाय में पहुँच सकते हैं। आज के युग-धर्म की यह भी माँग है कि हम समस्त नागरिकों की प्रगति के लिए कोशिश करें, अथवा गांधी जी के शब्दों में, दरिद्र-नारायण की सेवा को अपना मुख्य धर्म मानें। इसी प्रकार आज के विचारक और नेता संन्यास को विशेष महत्त्व नहीं देते। वास्तव में किसी सन्यासी का जीवन वहीं तक महत्त्वपूर्ण है जहाँ तक वह लोक के लिए उपयोगी है; जैसे, स्वामी विवेकानन्द और स्वामी दयानन्द का जीवन था। गांधी जी इस युग के एक महान् सन्त और शिक्षक थे, उन्होंने संन्यास न लेकर, मनुष्यों के बीच रहते हुए, देश और मानव जाति की सेवा की। आज केवल अपनी मुक्ति खोजने वाले व्यक्ति को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता, इसीलिए आधुनिक विद्वान् महायान बौद्धों के बोधिसत्व के आदर्श की अधिक चर्चा करते हैं। भेद यही है कि जहाँ बोधिसत्व समस्त प्राणियों को मुक्ति दिलाने की चिन्ता करता है, वहाँ आज का परोपकारी सन्त गरीबों की जीविका, शिक्षा आदि समस्याओं में गहरी अभिरुचि रखता है।

❀ ❀ ❀

हमने अब तक भारतीय मोक्षवाद और उनके वैशिष्टय का उल्लेख किया। दूसरा क्षेत्र, जिसमें यहाँ के चिन्तकों ने विशेष कार्य किया है, प्रमाण-शास्त्र अथवा ज्ञान-मीमांसा का है। सच पूछिये तो इस क्षेत्र में सम्बन्धित चिन्तन ही दर्शन को सही मानों में आलोचनात्मक बनाता है। प्राचीन देशों में यूनान और भारतवर्ष में ही ज्ञान-मीमांसा का व्यवस्थित उदय हो सका। चीनी दर्शन का ज्ञान-मीमांसा पक्ष पुष्ट नहीं है। यूनानी दर्शन में मोक्षवाद की विकसित चर्चा नहीं पायी जाती, किन्तु वहाँ वैयक्तिक, सामाजिक एवं राजनैतिक मूल्यों तथा आदर्शों पर अधिक विचार हुआ और इस प्रकार इस दुनिया में सक्षम जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक विवेक को निरूपित करने के चिन्तनात्मक प्रयत्न हुए। इसके विपरीत अपने देश का आचारशास्त्र, समाज दर्शन और राजनीति दशन बहुत हद तक उपदेश के धरातल पर प्रतिष्ठित रहा, विशेष तर्कनाशील नहीं बना। वर्णों (या जातियों) का ऊँच-नीच में विभाजन आज आज के जनतंत्री युगधर्म के विरुद्ध पड़ता है।

किन्तु प्रमाण, प्रमा, प्रामाण्य आदि को लेकर भारतीय दार्शनिकों ने बहुत सूक्ष्म चिन्तन किया। यह लक्षित करने की बात है कि प्रत्येक तर्क-शास्त्रीय पद्धति एवं ज्ञान-मीमांसीय पद्धति का किसी न किसी तत्त्व-दर्शन या तत्त्व-मीमांसा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मतलब यह है कि नैयायिकों के तर्क-शास्त्र और उनकी तत्त्व-मीमांसा में वैसा ही गहरा लगाव है जैसा बौद्ध या जैन तर्क-शास्त्र और उन निकायों की तत्त्व-मीमांसा से। योरपीय तर्क-शास्त्र का विषय अनुमान-प्रक्रिया रही है; इसके विपरीत भारतीय तर्क-शास्त्र प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द आदि ज्ञान के सभी स्रोतों पर विचार करता है। यों, योरपीय दर्शन में भी प्रत्यक्ष ज्ञान एवं भाषा और अर्थ के सम्बन्ध पर पर्याप्त चिन्तन हुआ है, लेकिन ये विषय तर्क-शास्त्र के अंग नहीं समझे जाते।

अपने देश में क्योंकि तर्क-शास्त्र एवं ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्रों में बहुत अधिक चिन्तन हुआ है, इसीलिए वहाँ कदम-कदम पर मतभेद पाया जाता है वैसे ही जैसे मोक्षवाद के क्षेत्र में। प्रमाणों की परिभाषा और संख्या, विभिन्न प्रमाणों के विषय, ज्ञान का स्वरूप और प्रामाण्य, ज्ञान का ज्ञान या अवगति, आत्मा की अवगति का स्वरूप आदि, सभी विषयों पर विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में गम्भीर मतभेद हैं। ये मतभेद भारत के ज्ञान-मीमांसीय चिन्तन की सप्राणता प्रमाणित करते हैं।

प्रमाण की परिभाषाओं के मुख्य रूप हैं। जैन, बौद्ध और मीमांसक विचारकों के अनुसार ज्ञान-विशेष को प्रमाण कहते हैं। सिद्धसेन के अनुसार अपने को और पर को प्रकाशित करने वाला अबाधित ज्ञान ही प्रमाण है, जो प्रमेय (प्रमाण-

विषय) के भेद से प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार का होता है।[1] बौद्ध दार्शनिक धर्मोत्तर ने प्रमाण का लक्षण न देकर सम्यक् ज्ञान का लक्षण किया है। अविसंवादि ज्ञान को सम्यक् ज्ञान कहते हैं। जो स्वयं द्वारा प्रदर्शित अर्थ की प्राप्ति कराने की क्षमता रखता है, वह ज्ञान संवादक कहलाता है। तात्पर्य यह है कि सम्यक् ज्ञान प्रदर्शित वस्तु से संबंधित क्रिया को सफल बनानेवाला होता है।[2] धर्मकीर्ति के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान, दो ही प्रमाण हैं, दोनों के विषय अलग-अलग हैं। यह सिद्धान्त कि प्रत्येक प्रमाण का विषय अलग होता है और कोई विषय दो या अधिक प्रमाणों से नहीं जाना जाता, प्रमाण-व्यवस्था या प्रमाण-विप्लव कहलाता है; विपरीत-मन्तव्य को प्रमाण-सम्प्लव कहते हैं। भाट्ट मीमांसक के अनुसार निश्चित, बाधवर्जित अपूर्व अर्थ को ग्रहण करनेवाले दोषहीन कारणों से उत्पन्न ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। इन सबके विपरीत नैयायिक विचारक प्रमाण की कारणमूलक परिभाषा देते हैं। प्रमा अर्थात् सही ज्ञान का असाधारण कारण (करण) ही प्रमाण है। जयन्त भट्ट ने कारण साकल्य को, जिसमें बोधाबोध-रूप सामग्री का समावेश है, प्रमाण कहा है। **इसका मतलब यह हुआ कि ज्ञान (और चेतना मात्र) अनेक-रूप कारण-सामग्री से उत्पन्न होता है, वह आत्म-तत्त्व का स्वरूप या स्वाभाविक धर्म नहीं है।** सांख्य और अद्वैत वेदान्त का मन्तव्य इससे एकदम विपरीत है। ये दोनों दर्शन आत्मा को चैतन्य-रूप मानते हैं। सांख्य मत में पुरुष के चैतन्य से आविष्ट या अनुप्राणित बुद्धिवृत्ति ज्ञान है। वेदान्त के अनुसार साक्षी चैतन्य ही प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रत्यक्षत्व है, वही प्रत्यक्ष प्रमा है।

उपर्युक्त विवरण से यह संकेत मिलता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण और प्रत्यक्ष ज्ञान के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। भारतीय प्रमाण-शास्त्र में प्रत्यक्ष दो प्रकार का माना गया है, निर्विकल्पक और सविकल्पक। वस्तु की उपस्थिति में, मन और बुद्धि की क्रिया शुरू होने से पहले, जो ज्ञान होता है वह निर्विकल्पक कहा जाता है। बौद्ध तर्क-शास्त्री दिङ्नाग की प्रसिद्ध परिभाषा के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान वह ज्ञान है, जिसमें कल्पना का समावेश नहीं है, अतएव जो नाम, जाति आदि की योजना से रहित है। बौद्ध ज्ञान-मीमांसा के अनुसार इस प्रकार का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रामाणिक प्रत्यक्ष

---

1. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।
   प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा मेय विनिश्चयात्॥—न्यायावतार।
2. अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं....प्रदर्शितमर्थं प्रत्ययत् संवादकमुच्यते।—न्यायबिन्दु 1/1 पर टीका, धर्मोत्तर कृत।

ज्ञान है। सविकल्पक प्रत्यक्ष और अनुमान दोनो विकल्पग्राही होते हैं, इसलिए वे व्यावहारिक धरातल पर ही—व्यवहारोपयोगी होने के नाते ही—प्रामाणिक होते हैं, वे परमार्थ-सत्य के वाहक नहीं हो सकते। जैसा कि माध्यमिक कहता है, परमार्थ-सत्य मौन रूप है क्योंकि वास्तविक तत्त्व अनक्षर है। ठीक इसका विपरीत मत भर्तृहरि आदि वैयाकरण दार्शनिकों का है, जो समस्त ज्ञान को शब्दानुविद्ध अर्थात् भाषा से सम्पृक्त मानते हैं। वैयाकरणों के मत में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ग्राह्य नहीं है। रामानुजाचार्य भी बौद्धों के जैसे शब्दहीन निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान को स्वीकार नहीं करते। न्याय, मीमांसा आदि दर्शन निर्विकल्पक और सविकल्पक, दोनों प्रकार का प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं।

कौन-कौन वस्तुएँ प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय हैं, इस सम्बन्ध में भी दार्शनिकों में मतभेद है। न्याय के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान पैदा करती हैं। इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष छह प्रकार का होता है। न्याय के अनुसार एक प्रकार का सन्निकर्ष घट (घड़े) का प्रत्यक्ष उत्पन्न करता है, दूसरी तरह का सन्निकर्ष घट के रूप का, इसी प्रकार तीसरी कोटि का सन्निकर्ष रूपत्व जाति का प्रत्यक्ष उत्पन्न करता है। एक अन्य सन्निकर्ष भूतल में घट के अभाव का प्रत्यक्ष उत्पन्न करता है। बाद के नैयायिक तीन प्रकार के अलौकिक सन्निकर्ष को मानते हैं, अर्थात् ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष, सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष और योगज सन्निकर्ष। नैयायिक विचारक बाह्य और आंतर प्रत्यक्ष का भेद भी करते हैं। सुख-दुःख आदि का प्रत्यक्ष मन नाम की इन्द्रिय से होता है; इसे आंतर प्रत्यक्ष कहते हैं। नैयायिकों के मत में आत्मा प्रत्यक्षगम्य नहीं है, वह अनुमान का विषय है। बौद्धों के अनुसार सामान्य या जाति बुद्धि का विकल्प है, न कि प्रत्यक्ष का विषय।

न्याय-वैशेषिक और भाट्ट मीमांसकों के अनुसार गति प्रत्यक्ष का विषय है, प्रभाकर गति को अनुमेय मानते हैं। इसी प्रकार भाट्ट मीमांसक और कतिपय नैयायिक काल (समय) को प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं। अन्य विचारकों के मत में प्रत्यक्ष चलनात्मक कर्म का होता है, काल या समय की प्रतीति कर्म-प्रत्यक्ष की सापेक्ष है। बौद्ध मत में स्वलक्षणों से व्यतिरिक्त काल नामक कोई वस्तु नहीं है। काल बुद्धि की कल्पना मात्र है।

क्या ज्ञान स्वयं दूसरे ज्ञान का विषय होता है? प्रश्न है, क्या हमें ज्ञान का ज्ञान होता है? यहाँ न्याय-वैशेषिक का मत यह है कि एक ज्ञान दूसरे ज्ञान के द्वारा

जाना जाता है, जिसे अनुव्यवसाय कहते हैं। वस्तु-ज्ञान के समय हमें केवल वस्तु का ज्ञान होता है, उस ज्ञान का नहीं। ज्ञान का प्रत्यक्ष अनुव्यवसाय नाम के दूसरे ज्ञान से होता है, यह ज्ञान मन का धर्म है। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार ज्ञान स्वयं ज्ञेय नहीं है। जानी हुई वस्तु में एक धर्म पैदा हो जाता है जिसे ज्ञातता कहते हैं; इस ज्ञातता की उपस्थिति से वस्तु के ज्ञान का अनुमान किया जाता है। वस्तु में उत्पन्न होनेवाली ज्ञातता को प्राकट्य (वस्तु की प्रकटता, प्रकट होने का भाव) भी कह सकते हैं। दूसरे विचारकों का मत है कि ज्ञातता वस्तु का कोई नया धर्म नहीं है, ज्ञान का विषय होना वस्तु की ज्ञातता है। प्रभाकर का मत उक्त दोनों मतों से भिन्न है; उसका मन्तव्य त्रिपुटी प्रत्यक्ष कहलाता है। उत्पन्न होनेवाला ज्ञान तीन चीजों को प्रकाशित करता है—वस्तु को, ज्ञाता आत्मा को और स्वयं अपने को। इसके विरोध में नैयायिक कहते हैं कि प्रत्येक ज्ञान ज्ञाता और स्वयं अपने को प्रकाशित नहीं करता। घट-प्रत्यक्ष के साथ हमें आत्मा और घट-ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता, अन्यथा वे दोनो भी चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय बन जाएँगे।

प्रभाकर के मत में ज्ञान वस्तु और ज्ञाता का प्रकाशक होने के साथ-साथ, स्व-प्रकाशक अर्थात् स्वयंप्रकाश भी है। जैन दार्शनिक भी ज्ञान (प्रमाण) को स्वपराव-भासक मानते हैं। इसके विपरीत अद्वैत वेदान्ती केवल आत्म-तत्त्व को स्वप्रकाश कहते हैं। एक दृष्टि से प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मरूप (साक्षी-चैतन्य-रूप) ही है; दूसरी दृष्टि से आत्म-ज्योति से प्रकाशित अन्तःकरण वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अद्वैत वेदान्ती प्रमातृ-चैतन्य और विषय-चैतन्य में भेद करते हैं। अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ-चैतन्य है, विषय की ओर जानेवाली अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमाण चैतन्य है, और वह चैतन्य जिसपर विषय का अध्यास हुआ है, विषय चैतन्य है। जब वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य और विषय से अवच्छिन्न-चैतन्य मिलते हैं तब प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। अन्तःकरण से अवच्छिन्न प्रमातृ-चैतन्य भी प्रत्यक्ष ज्ञान की स्थिति में उक्त दोनो चैतन्यों से एकाकार हो जाता है। सांख्य दर्शन अन्तःकरण के स्थान पर बुद्धि को प्रतिष्ठित करता है, जिसकी वृत्ति विषय से सम्पर्क स्थापित करती है। पुरुष के चैतन्य से सम्पृक्त होने के कारण बुद्धि-वृत्ति ज्ञान का रूप धारण कर लेती है।

वास्तव में प्रभाकर और अद्वैत वेदान्त के मत में काफी साम्य है। दोनो ज्ञान को स्वप्रकाश मानते हैं। भेद यही है कि अद्वैत वेदान्त आत्मा (साक्षी-चैतन्य) और ज्ञान में भेद नहीं करता। चूँकि ज्ञान स्वप्रकाश है, इसलिए उसे जानने के लिए किसी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

आत्म-प्रत्यक्ष

आत्मा ज्ञाता मात्र है, या वह ज्ञान का विषय भी होता है ? इस सम्बन्ध में भी भारतीय दार्शनिकों के बीच पर्याप्त विवाद और मतभेद हैं। ऊपर हम प्रभाकर का मत दे चुके हैं; उसके अनुसार प्रत्येक ज्ञान आत्मा को ज्ञाता के रूप में प्रकाशित करता है। कुछ नैयायिक, जैसे उद्योतकर, आत्मा को मानस प्रत्यक्ष का विषय बतलाते हैं। यह प्रत्यक्ष अहंप्रत्यय के रूप में होता है। किन्तु दूसरे नैयायिक, जैसे जयन्त भट्ट, आत्मा को अनुमेय (अनुमान का विषय) घोषित करते हैं। उदयनाचार्य उद्योतकर के मत के समर्थक हैं।

आत्म-ज्ञान के सम्बन्ध में एक कठिनाई उपस्थित होती है, जिसका पहला संकेत बृहदारण्यक उपनिषद् में पाया जाता है—कि जो ज्ञाता है उसे कैसे जाना जाएगा ? आत्मा एक साथ ही ज्ञाता और ज्ञेय कैसे हो सकता है ? अद्वैत वेदान्त आत्मा को ज्ञान का विषय नहीं मानता, वह आत्मा को स्वप्रकाश कहता है। चित्सुखाचार्य ने आत्मा की स्वप्रकाशता का लक्षण इस प्रकार किया है : ज्ञान का विषय न होते हुए जो अपरोक्ष व्यवहार के योग्य है वह स्वप्रकाश है।

कुछ विद्वानों के अनुसार कुमारिल का मत अद्वैत के निकट है, किन्तु पार्थसारथि मिश्र आत्मा को मानस प्रत्यक्ष का विषय बतलाते हैं।

ख्यातिवाद

प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही भारतीय दार्शनिक भ्रम अथवा भ्रान्त ज्ञान की व्याख्या भी करते हैं। शुक्ति में रजत की, रज्जु में सर्प की और आँख दबाने पर दो चन्द्रमाओं की प्रतीति भ्रान्त ज्ञान के उदाहरण हैं। पित्त से पीड़ित व्यक्ति को चीजें पीली दिखायी देती हैं; यह भी भ्रान्त ज्ञान है। भारतीय दर्शन में सत् ख्याति, असत् ख्याति, आत्म-ख्याति और अन्यथा ख्याति, अख्याति, विपरीत ख्याति और अनिर्वचनीय ख्याति नामों से प्रसिद्ध भ्रम सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त हैं। मुख्य झगड़ा वस्तुवादी और प्रत्ययवादी (रियलिस्ट और आइडियलिस्ट) विचारकों के बीच है। प्रत्ययवादी विचारक यह मानते हैं कि भ्रान्त ज्ञान का विषय ज्ञाता के बाहर अस्तित्ववान् नहीं होता, वह किसी न किसी रूप में बुद्धि या कल्पना की सृष्टि है। अद्वैत वेदान्ती भ्रम के विषय को अज्ञान की सृष्टि मानते हैं। इसके विपरीत वस्तुवादी विचारक (जो यह स्वीकार करना नहीं चाहते कि ज्ञान-क्रिया, किसी भी रूप में, ज्ञेय पदार्थ को बनाती या विकृत करती है) यह सिद्ध करना चाहते हैं कि तथाकथित भ्रांत ज्ञान का विषय भी कहीं न कहीं अस्तित्ववान् होता है। पाठक विभिन्न ख्यातियों का विवरण विभिन्न दर्शनों से सम्बन्धित अध्यायों में पायेंगे।

अनुमान प्रमाण

भारतीय दर्शन के दो सर्वमान्य प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान हैं, केवल चार्वाक अनुमान को प्रमाण स्वीकार नहीं करता। भौतिकवाद के रूप में चार्वाक दर्शन बहुत सूक्ष्म और सुव्यवस्थित रूप नहीं ले सका; वस्तुतः इस दर्शन का निजी साहित्य उपलब्ध नहीं। किन्तु चार्वाक द्वारा की गयी अनुमान प्रमाण की समीक्षा सटीक और महत्त्वपूर्ण है। अनुमान की आधार-भित्ति व्याप्ति है, जिसे नियत साहचर्य, अविनाभाव, नांनरीयक आदि अनेक नाम दिये गये हैं। चार्वाक अपने खण्डन में व्याप्ति-ज्ञान की सम्भावना से इनकार करता है। एक विशेष धूम को विशेष अग्नि से सम्बन्धित देखकर हम यह व्याप्ति कैसे बना सकते हैं कि जहाँ-जहाँ धूम होगा वहाँ-वहाँ वह्नि होगी ? हमारी आँखें सूक्ष्म भेदों को नहीं देख सकतीं। व्यावहारिक दृष्टि से अनेक धूम और अनेक अग्नियाँ समान मानी जा सकती हैं, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से नहीं। बौद्ध तर्कशास्त्री चार्वाक के विरुद्ध अनुमान का मण्डन करते हैं; उनके अनुसार तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति-सम्बन्ध व्याप्ति का आधार है, जिससे अनुमान सम्भव है। किन्तु जैसा हम पहले कह आये हैं, बौद्ध तर्कशास्त्र में अनुमान प्रमाण विकल्पमूलक है, इसलिए वह तात्त्विक ज्ञान नहीं दे सकता। वस्तुतः कार्य-कारण-सम्बन्ध की स्थापना स्वयं में कठिनाई उपस्थित करती है। इसलिये नैयायिक विचारक कार्य-कारण-सम्बन्ध के बदले साहचर्य नियम पर निर्भर करना पसन्द करते हैं।

भारतीय तर्क-शास्त्र में हेतु या साधन अथवा लिंग की प्रकृति पर विशेष विचार हुआ है, क्योंकि हेतु से ही साधन का अनुमान किया जाता है। बौद्ध तर्क-शास्त्र में विश्वसनीय हेतु त्रिरूप कहा गया है; ऐसे हेतु में पक्षधर्मता, सपक्ष में सत्त्व और विपक्ष में असत्त्व, ये तीन विशेषताएँ होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, 'पर्वत में वह्नि है' इस अनुमान में पर्वत में धूम का वर्तमान होना पक्षधर्मता है (यहाँ पर्वत पक्ष है)। रसोईघर (महानस) में धूम की उपस्थिति सपक्ष में सत्त्व है और जलाशय में (जहाँ अग्नि नहीं है) धूम की अनुपस्थिति विपक्ष में असत्त्व है। नैयायिकों के अनुसार हेतु के पाँच रूप या लक्षण हैं; इन लक्षणों में ही व्याप्ति का समावेश हो जाता है। इन सबके विरुद्ध जैन तर्कशास्त्री हेतु का एक ही लक्षण बतलाते हैं। विश्वसनीय हेतु वह है जो साध्य के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता—अन्यथाऽनुपपन्नत्वम् हेतोर्लक्षणमीरितम्। वे कहते हैं कि जहाँ अन्यथा अनुपपत्ति है वहाँ हेतु की त्रिरूपता से क्या लेना है और जहाँ अन्यथा अनुपपत्ति नहीं है वहाँ हेतु की त्रिरूपता से भी क्या लाभ है ?[1] वास्तव में अन्यथाअनुपपन्नत्व के समुचित निर्धारण के लिए ही हेतु के

---

1. अन्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
   नान्यथाऽनुपपन्नत्व यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥—पात्रकेशरीकृत 'त्रिलक्षणकदर्थन'।

विपक्ष व्यावृत्ति आदि लक्षणों का निश्चय करना आवश्यक होता है।

निर्दोष हेतु कितने प्रकार का होता है, इस सम्बन्ध में भी विभिन्न तर्क-पद्धतियों में विचार किया गया है। यहाँ भी अनेक मत पाये जाते हैं। जैन तर्कशास्त्री कार्य हेतु, कारण हेतु, व्याप्य हेतु, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर ये छह प्रकार के हेतु मानते हैं। इन सबकी अनुपलब्धियों को भी हेतु बनाया जा सकता है—जैसे कार्यानुपलब्धि, कारणानुपलब्धि आदि।[1]

बौद्ध तर्कशास्त्री दो ही तरह के हेतु मानते हैं अर्थात् कार्य हेतु (धूम वह्नि का कार्य है) और स्वभाव हेतु (शिशपा में स्वभावतः वृक्षत्व है)। इसी प्रकार न्याय और सांख्य दर्शनों में हेतुओं के प्रकार अलग-अलग रूपों में कल्पित किये गये हैं।

यहाँ न तो यह सम्भव ही है और न उद्दिष्ट कि हम भारतीय प्रमाण-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा के सभी विषयों का उल्लेख करें। देखने की बात यह है कि इस क्षेत्र में प्रायः हर प्रश्न पर परीक्षकों के बीच मतभेद है। आज के दर्शन में इनमें से कई समस्याओं का रूप बदल गया है। इन नयी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए प्राचीन और मध्ययुगीन तर्कशास्त्र एवं ज्ञान-मीमांसा के अनेक प्रश्नों पर आज भी नये चिन्तन की बहुत गुंजाइश है। सच यह है कि दर्शन के क्षेत्र में आज तक किसी भी प्रश्न का अन्तिम हल नहीं दिया जा सका है। दार्शनिकों के बीच निरन्तर चलने वाले मतभेद इसका प्रमाण हैं। मतभेद की इस निरन्तरता ने आज के विद्वानों को दर्शन के स्वरूप और इसकी चिन्तन-पद्धति के बारे में फिर से सोचने को मजबूर कर दिया है। एक तरह से कहें तो आज दर्शन के अस्तित्व के सामने ही प्रश्नचिह्न-सा लग गया है। इस प्रश्नचिह्न का विशेष सम्बन्ध तत्त्व-मीमांसा से है।

× × ×

अभी तक हमने भारतीय तत्त्व-मीमांसा की विशेष चर्चा नहीं की थी। इस क्षेत्र में भी मतविभिन्नता का अन्त नहीं है। माध्यमिक विचारक तत्त्व या चरम तत्त्व को अनक्षर (भाषा से परे) घोषित करते हैं, विज्ञानवादी उसे विज्ञप्तिमात्रता बतलाते हैं, अद्वैत वेदान्ती तत्त्व को ब्रह्म कहते हैं, और उसे अप्रमेय एवं वाणी से परे बतलाते हुए भी सत्, चित् आनन्दादि शब्दों से वर्णित करते हैं। ये सब विचारक एकतत्त्ववादी हैं। जैन विचारक और सांख्य-योग जीव और अजीव अथवा पुरुष और प्रकृति नाम देते हुए द्वैतवाद अथवा अनेकत्ववाद का समर्थन करते हैं। न्याय-वैशेषिक स्पष्ट ही तत्त्वों की अनेकता में विश्वास रखते हैं।

---

1. जैनमत के विस्तृत परिचय के लिए देखिए, कैलाशचन्द्र शास्त्री : 'जैन न्याय', भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1966, पृ० 217 और आगे।

एकतत्त्ववादी और कतिपय द्वैतवादी भी (जैसे जैन और वैभाषिक सर्वास्तिवादी बौद्ध) व्यावहारिक ज्ञान और पारमार्थिक ज्ञान में अन्तर करते हैं। एकतत्त्ववादी प्रायः चरम तत्त्व को चिदात्मक मानते हैं, किन्तु वे उस तत्त्व और जगत् के सम्बन्ध को अलग-अलग रूपों में कल्पित करते हैं। उदाहरण के लिए शंकर, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ और प्रत्यभिज्ञा दर्शन, ये सब चरम तत्त्व के अद्वैत में विश्वास करते हैं, किन्तु उस तत्त्व और विश्व के सम्बन्ध को अलग ढंगों से प्रतिपादित करते हैं।

इधर के योरपीय दर्शन में तत्त्व-मीमांसा के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई है। तर्कनिष्ठ अनुभववाद (या भाववाद) के समर्थक तत्त्व-मीमांसा के वक्तव्यों को निरर्थक (सिर्फ गलत नहीं) घोषित करते हैं, इसलिए कि उन वक्तव्यों की वैसी परीक्षा सम्भव नहीं है, जैसी विज्ञान के वक्तव्यों की। भाववाद के आद्य प्रवर्तक कॉम्त ने यह मत प्रकट किया था कि मानवीय विचारों की प्रगति का पहला चरण पौराणिक कथाओं या मिथकों के निर्माण में अभिव्यक्ति पाता है; विकास की इस भूमिका में मनुष्य अनेक देवी-देवताओं, भूत-प्रेतों आदि की कल्पना करता है। विकास के दूसरे चरण में मनुष्य कल्पना द्वारा अमूर्त्त तत्त्वों का निरूपण करता है; यह दर्शन की भूमि है। विकास के तीसरे चरण में मनुष्य विश्व के बारे में वैज्ञानिक ढंग से सोचते हुए प्रकृति-जगत् के नियमों का अन्वेषण करता है।

वैशेषिक दर्शन में, और जैन दर्शन में भी, परमाणुवाद का सिद्धान्त पाया जाता है। किन्तु विज्ञान का परमाणुवाद इनसे अधिक सूक्ष्म, सटीक और उपयोगी सिद्ध हुआ है। वैशेषिक दर्शन में जल, वायु आदि की बड़ी स्थूल परिभाषाएँ दी गयी हैं। वह दर्शन जिन्हें स्वतन्त्र द्रव्य या तत्त्व मानता है, वे आज विज्ञान द्वारा यौगिक सिद्ध किये जा चुके हैं। आधुनिक विज्ञान ने प्रयोग-पद्धति का अवलम्ब लेते हुए यह सम्भव बनाया है कि हम बिजली, भाप आदि से तरह-तरह के काम ले सकें। प्रायोगिक विज्ञान ने हमारी अद्भुत भौतिक सभ्यता का निर्माण किया है, जिनमें यातायात के क्षिप्र साधन, रेडियो, सिनेमा और आधुनिक शल्य-क्रिया जैसे चमत्कार समाहित हैं। हमारी औद्योगिक सभ्यता पूर्णतया विज्ञान पर आश्रित है। इसलिए आज के विचारकों की यह धारणा है कि कम से कम भौतिक जगत् और उसके विकास के सम्बन्ध में—और जीव-जगत् के विकास के सम्बन्ध में भी—**दर्शन को कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है।** प्रस्तुत लेखक के मत में दर्शन का एकमात्र विषय हमारे जीवन-मूल्य हैं, जिनमें नैतिक, आध्यात्मिक, कलात्मक और तर्क-शास्त्रीय, सभी मूल्यों का समावेश है। दर्शन विभिन्न विज्ञानों के **व्याख्या-प्रकारों** और **व्याख्या-सूत्रों** पर भी इस दृष्टि से विचार कर सकता है कि वे कहाँ तक वास्तविकता को पकड़ने में सफल होते हैं।

इधर तथाकथित विश्लेषणवादी विचारकों ने फिर तत्त्व-मीमांसा को उज्जीवित करने का प्रयत्न किया है; यथा, अंग्रेज दार्शनिक स्ट्रासन की वर्णनात्मक तत्त्व-मीमांसा को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा। अस्तित्ववादी विचारक भी तत्त्वमीमांसीय प्रश्न उठाते पाये जाते हैं। किन्तु तत्त्व-मीमांसा के ये दोनों रूप परम्परागत तत्त्व-दर्शन से भिन्न हैं। अस्तित्ववादी चिन्तक मनुष्य की आन्तरिक भावनात्मक अनुभूति और उसकी नैतिक-आध्यात्मिक स्थिति एवं समस्याओं में विशेष रुचि रखते हैं। वर्णनात्मक तत्त्व-मीमांसा के पोषक हमारी दैनन्दिन भाषा में प्रयुक्त होनेवाले व्याख्यात्मक प्रत्ययों, जैसे कारणता, वस्तु, व्यक्ति, कर्म आदि पर सूक्ष्म, विश्लेषणात्मक चिन्तन करते हैं। इस चिन्तन का उद्देश्य वैसे प्रत्ययों की उपयुक्त परिभाषाएँ देना है, अर्थात् उनके अर्थ का उद्घाटन, स्पष्टीकरण या स्थिरीकरण। किन्तु इन सबके साथ-साथ नीति-शास्त्र, कला-शास्त्र और विज्ञान दर्शन, इतिहास दर्शन आदि क्षेत्रों में भी चिन्तन-मनन चल ही रहा है।

किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय का सही ज्ञान—उसकी आत्मा से परिचय—दर्शन के इतिहास से नहीं हो सकता। दर्शन के इतिहासकार के पास स्थान और समय की कमी होती है, उसकी दृष्टि में कोई भी दर्शन अनेक विचार-पद्धतियों में से एक होता है। इसके विपरीत, प्रत्येक सम्प्रदाय का लेखक अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर स्वमत का प्रतिपादन और पुष्टि करता है। भारतीय दर्शन की समुचित जानकारी के लिए यह जरूरी है कि अध्येता बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर आदि कुछ उपनिषदों से अच्छा परिचय प्राप्त करें। इसके बाद प्रत्येक दर्शन के दो तीन मूल ग्रन्थों को देखना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, न्याय दर्शन के विद्यार्थी को वात्स्यायन-भाष्य के अतिरिक्त जयन्त भट्ट की 'न्यायमंजरी', अथवा वाचस्पति मिश्र की 'तात्पर्यटीका' एवं उदयन की 'न्यायकुसुमांजलि' अवश्य ही देखनी चाहिए। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन के अध्ययन के लिए 'प्रशस्तपाद-भाष्य', श्रीधर की 'न्यायकन्दली', शंकर मिश्र का 'वैशेषिकसूत्रोपस्कार' अवश्य पठनीय हैं। वास्तव में वाचस्पति मिश्र की विविध टीकाएँ सभी दर्शनों के साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। हीनयानी दर्शनों के ज्ञान के लिए वसुबन्धु का अभिधर्मकोश विशेष महत्त्व रखता है। बौद्ध तर्क-शास्त्र की जानकारी के लिए धर्मकीर्ति का न्यायबिन्दु प्रामाणिक ग्रन्थ है, उसपर धर्मोत्तर और दुर्वेक मिश्र की टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। माध्यमिक दर्शन के सरल परिचय के लिए शान्तिदेव का 'बोधिचर्यावतार' उपयोगी है। विज्ञानवाद के लिए वसुबन्धुकृत 'त्रिंशका' नामक पुस्तक है। हिन्दू दर्शनों में न्याय, सांख्य, योग और अद्वैत वेदान्त की विशेष मान्यता है। अद्वैत वेदान्त के परिचय के लिए शंकराचार्य का 'शारीरक भाष्य', 'भामती' और 'विवरण' टीकाएँ एवं चित्सुखाचार्य की 'प्रत्यक्तत्त्व-

प्रदीपिका' विशेष पठनीय है। भारतीय दर्शन के आकाश में उक्त आचार्यों के अतिरिक्त कुमारिल और प्रभाकर (मीमांसा में), नागार्जुन और आर्यदेव (माध्यमिक दर्शन में), उमास्वामी, अकलंकदेव, समन्तभद्र, सिद्धसेन, आदि (जैन दर्शन में) तथा उद्योतकर, गंगेश, अभिनवगुप्त, रामानुज आदि दर्जनों से अधिक ज्योतिर्मय नक्षत्र हैं। हमारे देश में ऐसे अनेक भाष्यकार और टीकाकार भी हुए हैं, जिन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों के चिन्तन को मौलिक रूप में आगे बढ़ाया है। उदाहरण के लिए, जहाँ कपिल मुनि सांख्य दर्शन के प्रवर्त्तक कहे जाते हैं, वहाँ उक्त दर्शन की सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'सांख्य-कारिका' है जिसपर 'युक्तिदीपिका' और 'तत्त्वकौमुदी' महत्त्वपूर्ण टीकाएँ हैं। वैसे ही अद्वैत के साहित्य में 'खण्डनखण्डखाद्य' के लेखक श्रीहर्ष और 'अद्वैतसिद्धि' के प्रणेता मधुसूदन सरस्वती विशिष्ट नाम हैं। इधर के विचारकों में प्राचीन और मध्ययुगीन चिन्तकों जैसा साहस नहीं पाया जाता। इस दृष्टि से श्री अरविन्द ने एक साहसपूर्ण नयी तत्त्व-मीमांसा का निर्माण किया है—यद्यपि वह आज के तत्त्व-मीमांसा-विरोधी युग में अधिक प्रशंसा नहीं पा सकी। हिन्दू धर्म के नैतिक विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन लानेवाले महात्मा गांधी हैं, जो इधर के भारतीयों में उस क्षेत्र के सबसे बड़े विचारक हैं। दूसरे उल्लेखनीय नाम स्वामी विवेकानंद, लोकमान्य तिलक और भगवानदास के हैं। कुछ लोगों के बीच इधर कृष्णमूर्ति के दर्शन की भी चर्चा रही है। बंगाल के कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य और दक्षिण के सर्वपल्ली राधाकृष्णन् भी महत्त्वपूर्ण दार्शनिक लेखक रहे हैं। सम्भवतः गांधी जी को छोड़कर, जो नैतिक-सामाजिक क्षेत्र के बड़े ही क्रांतिकारी विचारक थे, बीसवीं सदी के किसी भारतीय चिन्तक की तुलना योरप के रसेल, विटगेन्स्टाइन, हाइडेगर आदि से नहीं की जा सकती।

× × × × ×

जैसा कि हमने संकेत किया, प्रस्तुत लेखक के मत में दर्शन का कार्य हमारी मूल्य-चेतना का अनुशीलन है। इस अनुशीलन के दो प्रमुख अंग, विश्लेषण और मूल्यांकन के मानों का प्रतिपादन है। उसका कार्य ऐसे व्याख्या-सूत्रों की उद्भावना भी है, जो क्षेत्र-विशेष के अनुभवों को सम्बद्ध कर सकें। अपने अभिमत को हम नीतिशास्त्र (एथिक्स) के उदाहरण द्वारा स्पष्ट करेंगे। मनुष्य की नैतिक चेतना, कला-चेतना आदि बदलती और विकसित होती रहती हैं। मनुस्मृति में मानव जाति को चार वर्णों में बाँटते हुए विभिन्न वर्णों के कर्त्तव्यों का अलग-अलग निर्देश किया गया है। आज के प्रगतिशील विचारक और नेता वर्ण-भेद और जाति-भेद को अवैज्ञानिक, अजनतांत्रिक और अन्यायपूर्ण घोषित करते हैं। सारे मनुष्य समान हैं और उनके अधिकार भी समान हैं। प्रत्येक नागरिक को हर प्रकार की उन्नति करने का

समान अधिकार है। जनतांत्रिक सरकार का कर्त्तव्य है कि वह हर बालक-बालिका को उन्नति करने का समान अवसर दे। ऐसी स्थिति में यह अनिवार्य है कि हमारे भलाई-बुराई के मानदण्ड बदल जायें। प्राचीन और मध्य युग में हिन्दुओं में अनेक स्त्रियों से विवाह करने की प्रथा प्रचलित थी। भारतीय मुसलमानों में यह प्रथा अभी तक प्रचलित है। किन्तु सरकार ने कानून बनाकर हिन्दुओं पर एक पत्नी रखने की प्रथा लागू कर दी है। बहुत पहले कतिपय ब्रह्मसमाजी नेताओं ने हिन्दुओं में प्रचलित सती-प्रथा को बन्द कराया था। आज हमारा संविधान सब नागरिकों की समानता की घोषणा करता है; इसलिए कि आज किसी को शूद्र या काली जाति का सदस्य कहकर उसका अपमान या उससे दुर्व्यवहार करना गैरकानूनी ही नहीं, अनैतिक भी समझा जाता है। इस प्रकार आज के मनुष्य की विकसित नैतिक चेतना पुराने रीति-रिवाजों और नैतिक मानदण्डों के मूल्यांकन की कसौटी बन गयी है। आज विश्व की अनेक संस्कृतियों और धर्मों का आमना सामना भी हो रहा है। ऐसी स्थिति में कोई धर्म अपनी श्रेष्ठता तभी प्रमाणित कर सकता है जब उसकी शिक्षाएँ हमारे युग की विकसित नैतिक चेतना के अनुकूल हों।

इसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भी हमारे मानदण्ड बदल रहे हैं। प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों के अनुसार किसी काव्य या आख्यायिका का नायक और नायिका उच्च वर्ग के सदस्य होने चाहिए; आज की कहानी या उपन्यास में किसी भी स्त्री या पुरुष को केन्द्रीय पात्र बना दिया जाता है—उदाहरण के लिए प्रेमचन्द के 'गोदान' का नायक एक गरीब किसान है।

इसी प्रकार विज्ञान और गणित की प्रगति ने हमारे तर्क-शास्त्र को नया रूप और नयी मान्यताएँ दी हैं। हम आशा करते हैं कि इस ग्रन्थ को पढ़नेवाले विद्यार्थी और अन्य पाठक परिवर्तन के बड़े तथ्य को सामने रखते हुए विभिन्न दर्शनों से सम्बद्ध अध्यायों का—और समूचे भारतीय दर्शन का—अध्ययन करेंगे। वे जहाँ प्राचीन दर्शनों के महत्त्व को हृदयंगम करते हुए अपनी संस्कृति की दार्शनिक धरोहर में उचित गर्व का अनुभव करेंगे, वहाँ अपने इस दायित्व को भी समझने का प्रयत्न करेंगे कि हमें इस दार्शनिक धरोहर को निरन्तर बढ़ाते रहना है। यदि दर्शन का प्रमुख कार्य मूल्यों का अनुचिन्तन है, तो कहना होगा कि आज प्रत्येक क्षेत्र में नयी संवेदना एवं मूल्य-चेतना के अनुरूप नये व्याख्या-प्रत्ययों और मानदण्डों का निरूपण करना हमारी वर्तमान और आनेवाली पीढ़ियों का विशेष दायित्व है। वस्तुतः जिस प्रकार प्रत्येक युग या पीढ़ी अपनी बदलती संवेदना के अनुरूप नये साहित्य का निर्माण करती है, वैसे ही नये दर्शन का भी। किन्तु नये दर्शन के निर्माण के लिए अपेक्षित योग्यता और

दृष्टि का सम्पादन तभी हो सकता है जब होनहार विचारक अपनी और विश्व की विकसित दार्शनिक परम्पराओं का अच्छा परिचय प्राप्त कर ले। दर्शन एक बहुत ही कठिन विषय है। व्यवस्थित दार्शनिक चिन्तन की योग्यता का सम्पादन, इसीलिए, लम्बी तैयारी माँगता है। विशेषतः आज के दार्शनिक के सामने दर्शन के स्वरूप और उसकी चिन्तन-प्रणाली से सम्बन्धित समस्याएँ बड़े उग्र रूप में खड़ी हो गयी हैं। प्रत्येक ऐसे विचारक को, जो दर्शन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक कार्य करना चाहता है, इस प्रश्न से उलझना जरूरी हो गया है कि दर्शन के इतिहास में विचारकों के बीच इतना मतभेद क्यों है? कहीं ऐसा तो नहीं कि दार्शनिक चिन्तन का इतिहास खाली अटकलबाजियां करने की एक निष्फल शृंखला या परम्परा मात्र है?

किन्तु यदि हम दर्शन को जीवन-मूल्यों के सम्बन्ध में व्यवस्थित चिन्तन से समीकृत करें तो उसकी उपयोगिता असंदिग्ध है। जहाँ जीवन-यात्रा के साधनों को जुटानेवाला होने के नाते विज्ञान की उपयोगिता है, वहाँ जीवन को दिशा देने के लिए दर्शन का अवलम्ब भी उतना ही, बल्कि अधिक, जरूरी है। भारतीय दर्शन प्रारम्भ से ही जीवन के चरम लक्ष्य और प्रयोजन में रुचि रखता आया है। आज के युग में भी यह उतना ही, बल्कि अधिक, आवश्यक हो गया है कि दर्शन मानव की जीवन-यात्रा और नियति के सम्बन्ध में पुनः प्रश्न उठाये और उनकी नयी व्याख्या देते हुए हमें नया प्रकाश दे।

देवराज

अध्याय 1

वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों में धर्म तथा दर्शन

वैदिक साहित्य

'वेद' भारत में आकर बस जानेवाले आर्यों के जीवन के प्राचीनतम साहित्यिक साक्ष्य के रूप में ही नहीं, अपितु पूरे भारत-योरोपीय-भाषा-परिवार के प्राचीनतम साहित्य के रूप में समादृत रहे हैं। इनके रचनाकाल का निर्धारण बड़ी कठिन समस्या रही है। मैक्समूलर ने 1889 में प्रकाशित 'हिस्ट्री आव् एन्शिएण्ट संस्कृत लिटरेचर' नामक अपने ग्रन्थ में उपरितम समय-सीमा 1200 वर्ष ईसा पूर्व प्रस्तावित किया, जिसे अधिकांश पश्चिमी विद्वानों ने मानने का आग्रह किया। तिलक[1] और याकोबी[2] ने ज्योतिष के साक्ष्य पर अपनी स्वतन्त्रता गवेषणाओं के आधार पर क्रमशः 6,000 वर्ष तथा 4,500 वर्ष ई० पूर्व से वैदिक युग का आरम्भ माना। वेबर, ह्विटनी, ओल्डेनवर्ग, थिबो, हापकिन्स, मैकडानेल और कीथ ने इन मतों की कठोर आलोचना की। ब्युहलर[3] का मत था कि भारत की विजय और ब्राह्मणीकरण 1200 ई० पूर्व से कहीं पूर्व समय की अपेक्षा रखता है और उनका अनुसरण करते हुए विन्टरनिट्ज[4] ने माना कि वैदिक साहित्य का आरम्भ ई० पू० तृतीय सहस्राब्दी और भारतीय संस्कृति का आरम्भ ई० पू० चतुर्थ सहस्राब्दी में मानने में कोई बाधा नहीं है। प्रोफेसर ब्लूमफील्ड भी वैदिक युग का आरम्भ बहुत पहले (2000 ई० पू० के लगभग) ले जाना चाहते हैं। बोगाज कोई में विंकलर की खोज के बाद तो हित्ताइत और मितन्नी नरेशों की सन्धि को प्रस्तुत करनेवाली मृत्पट्टिकाओं का अध्ययन

1. Orian or Researches into the Antiquity of the, Vedas, Poona, 1916.
2. Z. D. M. C., XLIX, 218-230; JRAS (1909) 72. ff, (1910) 456 fl.
3. IA, XXIII, 245 ff.
4. GIL, p. 20; JAOS, p. 287 ff.

करते हुए पुरातात्त्विक साक्ष्य द्वारा भी पूर्वतन समय को ही मानने का निष्कर्ष प्राप्त हुआ है ।[1]

समस्त वैदिक साहित्य मौखिक परम्परा से ही प्राप्त है इसलिए उसके लिए 'श्रुति' शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है। भारतीय परम्परा वेदों को अपौरुषेय मानती रही है। 'मन्त्रद्रष्टा' ऋषियों ने इनका प्रणयन नहीं, अपितु साक्षात्कार किया। मौखिक परम्परा से सहस्राब्दियों तक चले आने के बावजूद वेदों का पाठ बहुत शुद्ध रहा।

वेद किसी एक ग्रन्थ का नहीं, अपितु एक पूरी साहित्य-राशि का नाम है, जिसके चार भाग हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ।

संहिताएँ चार हैं—ऋक्-संहिता, यजुष्-संहिता, साम-संहिता और अथर्व-संहिता। ऋक्-संहिता 1028 सूक्तों का संकलन है। ये सूक्त दस मण्डलों में रखे गये हैं। ऋक्-संहिता का एक अन्य विभाजन अष्टकों में भी किया गया है। परम्परा के अनुसार इसके द्वितीय मण्डल से सप्तम मण्डल तक के ऋषि गुत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वसिष्ठ हैं। किन्तु आधुनिक विद्वान् इसका तात्पर्य यह लेते हैं कि इन नामों से प्रथित कुलों के व्यक्तियों ने उन उन मण्डलों की रचना अथवा साक्षात् किया। प्रथम मण्डल के 51-191 सूक्तों को विभिन्न ऋषियों ने रचा।

प्राचीनतम ऋक्-संहिता का असली कलेवर इतना ही रहा होगा। प्रथम मण्डल के 1–50 सूक्त तथा अष्टम मण्डल कण्व कुल के ऋषियों द्वारा रचा गया। नवम मण्डल में पवमान-सोम से सम्बद्ध मन्त्रों का संकलन है। अन्त में दशम मण्डल है, जिसमें विभिन्न विषयों से सम्बन्ध सूक्त हैं। प्रायः पूरी की पूरी ऋक्-संहिता को संहिताओं में सबसे प्राचीन कह दिया जाता है, किन्तु यह उल्लेखनीय है कि ऋक्-संहिता में वैदिक साहित्य के प्राचीनतम अंश हैं और सामान्यतः द्वितीय से सप्तम मण्डल तक को सर्वप्राचीन अंश समझा जाता है। तदनन्तर प्रथम और अष्टम मण्डल के भाग को निर्मित माना जाता है। नवम मण्डल को इसके बाद संकलित मानते हैं। दशम मण्डल को इन सभी मण्डलों से अर्वाचीन कहा जाता है। यह निष्कर्ष उसमें समाविष्ट धार्मिक विचारों के आधार पर निकाला गया है। देवी उषस् वहाँ तिरोहित हो जाती हैं और नैतिक देव वरुण अपने स्थान से हट जाते हैं। 'विश्वेदेवाः' का

---

1. देखिए—Cāttopādhyaya, K., Presidential Address, All India Oriental Congress, Ninth Session, Vedic Section, pp. 16-18, Trivendram, 1937.

भावात्मक स्वरूप विकसित होता जाता है और दूसरे भावात्मक देव आते हैं। धार्मिक विचारधारा का विकास सृष्टि सम्बन्धी और दार्शनिक सूक्तों से प्रकट होता है। इसी मण्डल में सर्वप्रथम चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। ऋक्-संहिता में मुख्यतः देवों की स्तुति में सम्बोधित सूक्त हैं। यद्यपि लौकिक जीवन से सम्बद्ध कुछ सूक्त भी अवश्य मिलते हैं, तथापि ऋक्-संहिता में प्रधानतया धर्मपरक सूक्त हैं।

कर्मकाण्डपरक धर्म के उद्देश्य को पूरा करने के लिए यजुष् और साम-संहिताओं का संकलन किया गया है। वैदिक युग के आरम्भ में यज्ञ सरल उपासना कर्म था। यज्ञ में देवों के लिए हविः प्रदान करना और उस समय ऋक् और सामन् का उच्चारण ही सामान्य प्रक्रिया थी। ज्यों ज्यों समय बीतता गया, कर्मकाण्ड अधिकाधिक जटिल होता गया। अनुष्ठान-विशेष के लिए विशेष मन्त्रों को नियत किया गया। यज्ञ के क्षण-क्षण के कार्य को निर्दिष्ट कर दिया गया। इस यज्ञ सम्बन्धी तन्त्रों का संकलन ही यजुः-संहिता है। 'यजुष्' का अर्थ गद्यात्मक मन्त्र होता है। किन्तु इस संहिता के कुछ भाग गद्य में और कुछ पद्य में हैं, जिन्हें भिन्न भिन्न यज्ञों में प्रयुक्त होने योग्य क्रम में रखा गया है।[1]

साम-संहिता में यज्ञों में गेय सामन् मन्त्रों का संकलन है। इसके अधिकांश मन्त्र ऋक्-संहिता से ही लिये गये हैं। इनका संग्रह भी कर्मकाण्ड की दृष्टि से किया गया है।

अथर्व-संहिता को लम्बे समय तक वेद के रूप में मान्यता नहीं मिली थी, किन्तु अन्ततः इसे भी वेदचतुष्टय में रखा गया। इस संहिता में मुख्यतया यातु और अभिचारपरक मन्त्रों का संग्रह है। इसमें सम्भवतः प्राचीनतर और समाज के निचले स्तर के विश्वासों का रक्षण है, इसलिए इसका महत्त्व सबसे अलग है।

ब्राह्मण भाग की रचना सामान्यतः मन्त्र भाग की रचना के बाद हुई। 'ब्राह्मण' का तात्पर्य मैक्समूलर और एग्लिंग ने 'ब्रह्मा' नामक पुरोहित के वचन या उनके लिए विहित निर्देश रूप में लिया है, किन्तु इसका वेबर द्वारा स्वीकृत अर्थ 'ब्रह्मन्' अर्थात् 'प्रार्थना से सम्बद्ध' ही उचित है[2]। प्रोफेसर मैकडानेल के अनुसार ये उस युग की आत्मा प्रतिबिम्बित करते हैं, जिसमें सारी बौद्धिक क्रियाशीलता यज्ञ, अनुष्ठानों के वर्णन, उसके मूल्य पर विमर्श तथा उसके आरम्भ और महत्त्व के विश्लेषण पर ही केन्द्रित थी। कृष्ण यजुः-संहिता में ऐसे वर्णनात्मक स्थल हैं, जो बताते हैं कि

---

1. Macdonell, A. A History of Sanskrit Literature. p. 31.
2. S. B. E., I,P. lxxl; S. B. E. XII, Introduction, p. XXII.

किसी मन्त्र का विनियोग यज्ञ में किस प्रकार होगा और क्यों उसी प्रकार किया जायगा। ये केवल कर्मकाण्ड का विवरण ही नहीं देते, बल्कि उसे कथा और पुरावृत्तों से स्पष्ट करते हुए सप्राण बनाते हैं एवं कर्मकाण्ड के पारिभाषिक विवरणों के साथ काव्यात्मक मन्त्रों का काव्यपरक व्याख्यान अपनी कथाओं से करते हैं। ये भारतीय पुराकथा के कोष के रूप में देखे जा सकते हैं। गद्य में रचित इन ब्राह्मण ग्रन्थों का महत्त्व भारत-योरपीय-भाषा-परिवार के अत्यन्त प्राचीन गद्य को सुरक्षित रखने में भी है।

आरण्यक सामान्यतः ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग हैं। इनका यह नाम सम्भवतः अरण्य में निवास करनेवाले वानप्रस्थ मुनियों के द्वारा उच्चरित होने के कारण या अरण्य की शान्ति में शिष्यों को उपदिष्ट होने के कारण पड़ा। आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों से परवर्ती हैं, यह उनकी विषयवस्तु और उनके ग्रन्थ के अन्तिम भाग होने से भी स्पष्ट है। इनमें यज्ञ को प्रतीकात्मक विवेचन और पौरोहित्योन्मुख दर्शन प्राप्त होता है। कर्मकाण्ड की रूपकात्मक व्याख्या इनमें प्राप्त है। फिर भी इनका विषय एकविध न होकर बहुविध है। इनमें प्रस्तुत यज्ञ का रहस्यात्मक विवेचन ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकाण्ड और उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड के बीच सेतु सरीखा है।

उपनिषदें वेद के दार्शनिक चिन्तन की परिणति को प्रस्तुत करती हैं और वैदिक साहित्य के चरम भाग को भी। इसीलिए उन्हें 'वेदान्त' के नाम से भी अभिहित किया गया है। दार्शनिक विचार और तत्त्वचिन्तन के कारण उनका अपना विशिष्ट महत्त्व है। उपनिषदें सामान्यतया आरण्यक के अन्त में हैं और आरण्यक ब्राह्मण के। इसलिए कभी-कभी वे विषय, जो ब्राह्मण में विवेचित होने चाहिए, आरण्यक में और आरण्यक के विषय उपनिषद् में मिल जाते हैं। किन्तु यह व्यक्त करता है कि यह सारा साहित्य एक प्रक्रिया में विकसित हुआ है और इसलिए गहराई से अन्तःसम्बद्ध है। अतएव परम्परानुयायी पण्डितवर्ग वेदों को सनातन मानता है अर्थात् कौन भाग पूर्व का है और कौन बाद का, इस इतिहास को असंगत बताता है। फिर भी उपनिषदें जहाँ एक ओर वैदिक परम्परा की परिणति हैं, वहाँ उनका ज्ञान-काण्ड ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकाण्ड का विरोधी भी प्रतीत होता है। इस सारी समता और भिन्नता को ऐतिहासिक सन्दर्भ में ही देखकर समझा जा सकता है।

वेद की व्याख्या पद्धति

वेद के अर्थावगम के लिए उनकी व्याख्या का प्राचीनतम प्रयास यास्क के 'निरुक्त' में उपलब्ध है। उस समय तक वेद के अनेक शब्दों का अर्थ जानना कठिन

हो गया था। यास्क अपने सत्रह पूर्ववर्ती आचार्यों में से एक, कौत्स, का कथन उद्धृत करते हैं कि वेद 'दुरूह, अर्थ-रहित और परस्पर विरुद्ध' हैं। स्वयं यास्क ने पद-निरुक्ति के आधार पर वेदार्थ का प्रयास किया। यास्क के शताब्दियों बाद एक बार फिर जिन अनेक आचार्यों ने वेदों की व्याख्या का प्रयत्न किया, उनमें चौदहवीं शती ई० के आचार्य सायण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। सायण ने भारतीय परम्परा के अनुसार ही पद-निरुक्ति एवं व्युत्पत्ति पर बल देते हुए वेद-व्याख्यान किया। किन्तु यास्क के समय ही वेदार्थ का ज्ञान कठिन हो गया था, फिर सायण तक तो वेद और भी दूरस्थ हो गये थे। सायण ने ऋक्-संहिता के सूक्तों में वर्णित देवताओं के प्रकृति से सम्बन्ध के आधार पर कर्मकाण्ड एवं पुराकथापरक व्याख्या के मार्ग को स्वीकार किया है, जिसे बाद में पश्चिमी विद्वानों ने भी माना। सभी संहिताओं पर सायण ने अपना भाष्य प्रस्तुत किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने एकेश्वरवाद की दृष्टि से वेद की व्याख्या की और निरुक्त का आश्रय लेने में वे और भी आगे चले गये। राजा राममोहन राय ने वैदिक देवताओं को परम सत्ता के भिन्न-भिन्न गुणों के आलंकारिक प्रतिनिधि के रूप में देखा। श्री अरविन्द ने एकेश्वरवादी दृष्टि से वेद को रहस्यमय धर्म और गूढ़ दार्शनिक ज्ञान से भरा देखा।

योरप में वेदों के व्याख्यान की अनेक दृष्टियाँ सामने आयीं। विलसन ने सायण के मार्ग को ही प्रामाणिक माना। किन्तु रॉथ ने 'समालोचनात्मक पद्धति' (Critical method) की स्थापना की। उन्होंने ऋक्-संहिता को 'प्राचीनतम धार्मिक गीति' और आदिम तथा स्वाभाविक कविता के रूप में देखा, जिसका अर्थ तुलनात्मक भाषाविज्ञान की दृष्टि से स्वयं मूल से ही प्राप्त करना चाहिए। उन्होंने भारतीय व्याख्याकारों और कर्मकाण्डीय ज्ञान की उपेक्षा की। बर्गेन ने रूपकात्मक (allegorical) अर्थ को स्वीकार किया और प्रत्येक शब्द के एक अर्थ पर ही बल दिया, किन्तु ऋक्-संहिता का वह व्याख्यान बहुत संकुचित दृष्टि से किया गया। पिशेल और गेल्डनर की दृष्टि रॉथ की ठीक प्रतिक्रिया में थी। उनके अनुसार ऋक्-संहिता के अर्थ के लिए भारतीय परम्परा ही कुञ्जी है। उनका मत है कि ऋक्-संहिता आदिम समाज को नहीं, बल्कि विकसित समाज को, उसके गुण-दोषों के साथ प्रतिबिम्बित करती है। ब्रनहॉफर के अनुसार वेद की धातुएँ भारत-ईरानी युग तक गहरी चली गयी हैं और वेद का व्याख्यान इसी सन्दर्भ में होना चाहिए। हिलेब्रान्ट और ओल्डेनबर्ग ऋग्वेद को समझने के लिए वैदिक यज्ञ के ज्ञान पर बल देते हैं। मैकडानेल ने अपेक्षाकृत सन्तुलित मार्ग अपनाया।

वैदिक संहिता और ब्राह्मणोंमें धर्म एवं दर्शन

वैदिक दार्शनिक चिन्तन स्वाभाविक रूप से पुराकथा और धर्म में अभिव्यक्त हुआ। धर्म का मूलरूप रहस्य से आच्छादित है, किन्तु हम स्वीकार कर सकते हैं कि उसका प्राचीनतम रूप प्राकृतिक शक्तियों और उपादानों की उपासना का था। इस धर्म के साथ मिलकर पुराकथा परमसत्ता के बारे में प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत करती है। धीरे धीरे तर्क कल्पना का स्थान लेता है और पुराकथा के स्थान पर विश्व-विज्ञान और दार्शनिक कारण-मीमांसा का आरम्भ होता है। पश्चिमी विद्वानों ने धर्म और दर्शन की विचार-सन्तति के विकास में कई सोपान या स्तर माने हैं, जिनमें धर्म, पुराकथा और विश्व-विज्ञान परस्पर मिश्रित हैं[1]। ये सोपान हैं—बहुदेववाद (Polytheism), एकेश्वरवाद (Monotheism) तथा अद्वैतवाद अथवा एकवाद (Monism)।

वैदिक धर्म के विकास पर तुलनात्मक भाषाविज्ञान एवं तुलनात्मक पुराकथाशास्त्रपरक अध्ययन से बहुत प्रकाश पड़ा है। प्राचीन ईरानी, ग्रीक, लैटिन, लिथुआनियन, लेट्टिश, प्राचीन प्रुशन भाषाओं में वैदिक 'देव' शब्द के समानान्तर शब्द प्राप्त होते हैं, अतः 'देवता' की अवधारणा भारत-योरपीय युग तक पीछे चली जाती है। वैदिक देव द्यौस् पिता, अग्नि, सूर्य के समानान्तर शब्द अनेक प्राचीन भारत-योरपीय भाषाओं में प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा, आपः, वायु, अपां नपात्, त्रित-आप्त्य, यम आदि देवों के समानान्तर शब्द प्राचीन ईरानी भाषा में मिलते हैं अतः इन देवों की प्राचीनता भारत-योरपीय एवं भारत-ईरानी युग तक सिद्ध होती है।

वैदिक धर्म के विकास पर विचार करते हुए सामान्यतः पश्चिमी विद्वान् वैदिक धर्म में भारत-योरपीय युग तथा भारत-ईरानी युग से प्राप्त प्रकृति-उपासना के तत्त्व स्वीकार कर प्राचीन वैदिक धर्म को प्रकृति-उपासना-परक धर्म ही मानते हैं। उनके अनुसार वैदिक युग में प्रकृति के विभिन्न पक्षों की देवरूप में कल्पना कर उनकी उपासना की जाती थी। किन्तु इस सम्बन्ध में परम्परागत भारतीय दृष्टि भिन्न है। इसके अनुसार प्रकृति के विभिन्न पक्षों या उपादानों तथा भावों की उपासना नहीं, अपितु उनके अधिष्ठातृ अथवा अभिमानी देवों की उपासना की जाती है।[2] वैदिक धर्म के सन्दर्भ में यही दृष्टि सत्य प्रतीत होती हैं।

1. Radhakrishnan's Indian Philosophy, Vol. I., p. 71.
2. "अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्" (ब्र० सू० 2/1/5) पर भाष्य में साङ्ख्य दृष्टि का खण्डन करते हुए आचार्य शंकर ने कहा, "मृदब्रवीत्" (पृथ्वी ने कहा), "आपोऽब्रुवन्" (जल ने कहा) का तात्पर्य जड़ पृथ्वी और जल से नहीं, प्रत्युत उनकी अधिष्ठातृ देवताओं से है।

वैदिक धर्म के बहुदेववाद, एकेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद मानने के सम्बन्ध में भी विद्वानों में गहरा मतभेद है। कुछ विद्वान् यदि वैदिक धर्म को बहुदेववादी मानते हैं और अन्य एकेश्वरवादी, तो अन्य विद्वान् संहिता भाग से उपनिषद् भाग तक एक अद्वैतवाद को ही वैदिक धर्म का प्राण मानने पर बल देते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि ऋक्-संहिता के प्राचीनतम अंशों में ही भारत-योरपीय युग से प्राप्त अनेक देवों के ऊपर एक सर्वोच्च देव की अवधारणा दृष्टिगोचर होती है। यूनानी बहुदेववाद में भी अनेक देवों के ऊपर सर्वोच्च देव 'जेउस' है तथा अवेस्ता में 'यज़त' (उपास्य) वर्ग से उच्च 'अहुरमज़्द' की प्राप्ति होती है। 'अहुरमज़्द' की अवधारणा इस्लाम के 'अल्लाह' की एक मात्र देव की अवधारणा से भिन्न है।

ऋक्-संहिता में पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा आकाश में पृथिव्यग्नि, वैद्युताग्नि तथा सौराग्नि के रूप में एक ही अग्नि की अवधारणा प्राप्त होती है। एक ही 'सत्' तत्व नाना देवों के रूप में है, इस धारणा के बीज ऋक्-संहिता के प्राचीनतम अंशों में विद्यमान हैं।

वेद का बृहत्तर अंश 'कर्मकाण्ड' कहा जाता है, यद्यपि 'ज्ञानकाण्ड' में वैदिक विचार की परिणति होती है। कर्मकाण्डपरक वैदिक धर्म को जानने और 'यज्ञ' के स्वरूप को समझने के लिए 'देव' का स्वरूप समझना आवश्यक है। यज्ञ में देवता के उद्देश्य से द्रव्यत्याग किया जाता है। जिस देवता के लिए हवि ली जाती है, होता (ऋत्विक्-विशेष) उसका मन में ध्यान करता है।[1] अतः देवस्वरूप का ज्ञान वैदिक धर्म के ज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

देवस्वरूप—'देव' शब्द की निरुक्ति करते हुए यास्क ने उसे दान, दीपन, द्योतन अथवा द्युस्थान से सम्बद्ध माना।[2] देव वह है जो मनुष्य को देता है, विश्व को देता है। इस अर्थ में सूर्य, आकाश, अग्नि आदि देव हैं, क्योंकि वे प्रकाश आदि प्रदान करते हैं। ऋषि, माता-पिता, अतिथि भी देव हैं, क्योंकि वे भी विद्या, जीवन और अभ्युदय प्रदान करते हैं। दीपन और द्योतक से सम्बद्ध मानने पर देव प्रकाश-युक्त हैं।[3] यास्क उन्हें द्युस्थान अर्थात् आकाश-स्थित मानकर भी 'देव' की निरुक्ति करते हैं।

1. निरुक्त, 8/22.
2. निरुक्त, 7/15.
3. सेल्टो-किन्ट 'देवो' (devo), ईरानी 'दएव' (daeva), लैटिन 'देउस' (deus), ग्रीक 'दिवस' (divas), लिथुआनियन 'दिएवस' (dievas) आदि सभी शब्द संस्कृत की दिव् (चमकना, दीप्त होना) की पूर्वतन धातु से ही निकले हैं।

वैदिक देव-स्वरूप के विकास में प्रकृति ने उपादान और शक्ति के अभिमानी या अधिष्ठातृ देव की धारणा भारतीय परम्परा के अनुसार सर्वथा उचित है। पाश्चात्य विद्वानों ने प्रकृति के विभिन्न विभागों के अध्यक्ष (departmental gods) के रूप में देवों का विकास स्वीकार किया है। उसेनर (Usener) ने देवस्वरूप के विकास में दो सोपानों को माना है—

(1) विशिष्ट देव (Special gods) और

(2) व्यक्तिरूप या व्यक्तित्व सम्पन्न देव (Personal gods)।[1]

पहले सोपान में द्यौस्, अग्नि, सूर्य आदि प्राकृतिक वस्तुओं का नाम ही देवों का नाम है और उनका कार्य उस मौलिक आधार तक ही सीमित है; जैसे 'अग्नि' का आग और 'वात' का हवा तक। धीरे धीरे वह प्रकृति की शक्तियों पर व्यक्तित्व का आरोप करता है। जितना अधिक विशिष्ट देव अपने समीपवर्ती देव के क्षेत्र को अधिकृत कर लेता है और अपने को 'आदिम प्राकृतिक अर्थ' से मुक्त कर लेता है, उतना ही अधिक वह व्यक्तित्वारोपण से युक्त होता जाता है। उदाहरण के लिए 'द्यौस्' और 'पृथिवी' पर व्यक्तित्वारोपण आरम्भिक रूप में ही है, किन्तु 'वरुण' और 'इन्द्र' अत्यधिक 'व्यक्तित्वारोपण' से युक्त देव हैं। यही एक कारण था कि 'द्यौस्' और 'पृथिवी' के नाम से उनके भौतिक आधार का बोध निरन्तर होता रहा और वे 'पारदर्शी' (Transparent) बने रहे। व्यक्तित्वारोपण की कल्पना में उनके भौतिक आधार की उपस्थिति अवरोध डालती रही।

इसी तर्क से ब्लूमफील्ड ने[2] देवों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

(1) प्रागैतिहासिक (Prehistoric)

(2) पारदर्शी (Transparent)

(3) पारभासी (Translucent)

(4) अपारदर्शी (Opaque)

(5) भावात्मक प्रतीक देव (Abstract symbolic gods)

प्रागैतिहासिक देवों से तात्पर्य सम्भवतः उन देवों से है, जो भारत-योरपीय युग से चले आते हैं और वैदिक धर्म जिन्हें प्राचीनतर युग से प्राप्त दाय के रूप में ग्रहण करता है।

'पारदर्शी' देव वे हैं, जिनके स्वरूप में प्रकृति का भौतिक आधार और व्यक्तित्व दोनों उपस्थित रहता है। दूसरे शब्दों में, व्यक्तित्वारोपण को प्रेरित करनेवाले वैशिष्ट्य

---

1. Griswold : The Religion of Ṛgveda p. 81.
2. देखिए, The Religion of the Veda, pp. 150-207.

की स्मृति निरन्तर बनी रहने के कारण उनके व्यक्तित्वारोपण में अवरोध आ जाता है; उदाहरणतः 'द्यौस्', 'उषस्' और 'वात'।

'पारभासी' ऐसे मिथकीय रूप हैं, जिनके भौतिक आधार की विस्मृति हो जाती है और उन आधारों को पहचानने में संशय हो जाता है; जैसे—अश्विनौ, विष्णु और पूषन्।

'अपारदर्शी' देव पूर्णतया व्यक्तित्वारोपण युक्त हैं; जैसे इन्द्र। इन्द्र का पुरुषाकृतिपरक (Anthropomorphic) रूप स्पष्ट है।

भावात्मक देव के रूप में 'श्रद्धा' और 'भक्ति' आदि को लिया जा सकता है।

किन्तु ब्लूमफील्ड के इस वर्गीकरण का आधार ऐतिहासिक कालक्रम और नैरुक्तिक सिद्धान्त दोनो ही है, अतः दोनों की कमियाँ इसमें हैं। देवों को काल-क्रम के पौर्वापर्य में रखने का असन्दिग्ध प्रमाण प्राप्त नहीं है और कोई भी देव, व्याख्याकार की व्याख्या के अनुसार पारदर्शी, पारभासी या अपारदर्शी हो सकता है।

अतः स्वयं ऋक्-संहिता में उल्लिखित[1] तथा यास्क द्वारा स्वीकृत[2] वर्गीकरण ही सबसे उपयुक्त प्रतीत होता है। अपने स्थान के अनुसार (1) पृथ्वी-स्थानीय (2) अन्तरिक्ष स्थानीय तथा (3) द्यु-स्थानीय हैं। यास्क के इस वर्गीकरण का मैकडानेल[3] और कीथ आदि ने अनुसरण किया है।

द्युस्थानीय देवों में द्यौस् पिता, वरुण और मित्र इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। अन्तरिक्ष-स्थानीय देवों में इन्द्र और मरुत् तथा पृथ्वी-स्थानीय देवों में अग्नि, सोम प्रमुख हैं.

इन देवों के प्रकृति में अवस्थित भौतिक उपादानों और व्यापारों को पहचानने के लिए पाश्चात्य विद्वानों ने घोर प्रयास किया है। वैदिक पुराकथा पर प्रचुर कार्य किया गया है। प्रायः देवस्वरूप के निर्धारण में द्युस्थानीय देवों में, 'द्यौस्' को आकाश के देवता और वरुण को रात्रिकालीन सूर्य के रूप में माना गया है।

मित्र और वरुण के स्वरूप-निर्धारण के सम्बन्ध में अन्य मत भी हैं। सूर्य के अनेक रूपों और व्यापारों के आधार पर अनेक देवों की कल्पना की गयी। 'सूर्य' भास्वर मण्डल है और 'मित्र' प्रकाशदायी मित्र शक्ति। 'सवितृ' जीवन और क्रिया का

1. ऋक्-संहिता, 10/158/1.
2. निरुक्त, 7/5.
3. Vedic Mythology, pp. 21-138.
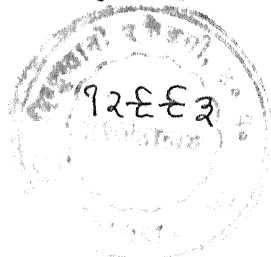
प्रसविता या जनक है तथा 'पूषन्' पशुओं का रक्षक और पालक। 'विष्णु' आकाश में 'त्रिपदक्रम' अर्थात् प्रातः पूर्व क्षितिज, मध्याह्न में मध्याकाश तथा सायंकाल पश्चिम क्षितिज पर पहुँचकर मानों तीन डग में भुवन नाप लेने वाला 'उरुगाय' देव है।

अन्तरिक्ष-स्थानीय देवों में मुख्यतः वृष्टि और झंझावात के देव हैं। इन्द्र-वृष्टि की अवरुद्ध गायों की मुक्ति के लिए संघर्ष कर्ता देव हैं। 'त्रित आप्त्य' तीसरी या अन्तरिक्ष में मेघ में स्थित अग्नि है। 'अपाम् नपात्' अन्तरिक्षीय जल में स्थित अग्नि का नाम है।

मातरिश्वन् मेघ में जन्मा और मेघ से पृथ्वी पर अग्नि लानेवाला देव है। अहिर्बुध्न्य' नीचे अन्तरिक्ष में सर्प जैसा लगता मेघ है। 'अजएकपाद' मेघरूपी पर्वत से नीचे छलाँग लगाता है। 'मरुत्' झंझावात और वर्षा के साथ बिजली की कौंध है। रुद्र पृथ्वी पर टूट पड़ने वाला, तरु को चीर देनेवाला, मनुष्यों का विनाशक वज्र है।

पृथ्वी-स्थानीय देवों में अग्नि, सोम आदि प्रमुख हैं। अग्नि और ब्रह्मणस्पति को दूसरे रूप में यज्ञ से सम्बद्ध देव (sacrificial gods) के रूप में भी वर्णित किया जा सकता है।

ऋक्-संहिता (1/158/1) तथा निरुक्त में देवों की संख्या तीन कही गयी है—अग्नि, वायु अथवा इन्द्र तथा सूर्य। ऋक्-संहिता (1/139/1) में ही यह संख्या आकाश में ग्यारह, अन्तरिक्षीय जल में ग्यारह तथा पृथ्वी पर ग्यारह($11 \times 3 = 33$) मिलाकर तैंतीस बतलायी गयी है। शतपथ (10/6/3/5) तथा गोपथ (7.2.22) ब्राह्मणों में तैंतीस देव कहे गये हैं।

वैदिक देव-मण्डल के द्यु-स्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय और पृथ्वीस्थानीय देवताओं के लिए सम्बोधित सूक्तों में उनका स्वरूप जिस गरिमा के साथ अंकित हुआ है, उसका परिचय कुछ प्रमुख देवों के स्वरूप के वर्णन से मिलता-जुलता है। इस उद्देश्य से यह वर्णन प्रस्तुत है।

द्यौस् पिता—द्यौस् को भारत-योरपीय युग का देव माना गया है। ये आकाश के देव हैं। प्राचीन यूनान में जेउस (Zeus), प्राचीन रोम में जुपितर (Jupiter) और प्राचीन टयूटानी जातियों में टाइर (Tyr) नामों से यही देव मिलते हैं। ऋक्-संहिता में द्यौस् के लिए एक भी स्वतन्त्र सूक्त नहीं है। वे या तो उषस्, अश्विन्, अग्नि, पर्जन्य, सूर्य, आदित्य, मरुत् और अङ्गिरस् के जनक हैं तथा पृथ्वी के पतिरूप में वर्णित हैं अथवा उनका उल्लेख उन देवताओं के साथ हुआ है, जिनमें एक पृथ्वी है। द्यौस् और पृथ्वी को माता-पिता के रूप में कल्पित कर उन्हें मानवीय गुणों से युक्त

किया गया। उपकारिता, सर्वज्ञता, धर्मात्मता और आचार सम्बन्धी गुण भी उनसे सम्पृक्त कर दिये गये[1]। प्रायः उनके लिए द्विवचनान्त समासयुक्त पद का प्रयोग किया गया है; अर्थात् सत्ताएँ दो हैं, किन्तु वे एक ही सामान्य प्रत्यय को व्यक्त करती हैं। पिता द्यौस् के लिए, महान् देवों के लिए प्रयुक्त उपाधि 'असुर' का प्रयोग भी किया गया है।

वरुण—वरुण को वैदिक देव-मण्डल में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देव के रूप में स्वीकार किया गया है। वरुण की एक व्युत्पत्ति $\sqrt{\text{वेर}}$ ($\sqrt{\text{ver}}$) धातु के अनुसार उन्हें आवृत कर लेनेवाला, आच्छादित कर लेनेवाला देव समझा गया है। वह आकाश के तारामण्डित क्षेत्र को मानो समस्त जीव-जन्तुओं और उनके निवास-स्थानों सहित आच्छादित कर लेते हैं। इस प्रकार अनेक विद्वान् उन्हें आकाश के देव के रूप में मानते हैं और उन्हें ईरान के देव 'अहुरमज़्द' तथा ग्रीक शब्द 'ओरनोस' (Ouranos) के साथ एकीकृत करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु 'आरनोस' के साथ भाषा-वैज्ञानिक आधार पर समीकरण करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि वरुण में द्वितीय स्वर 'उ' है, जबकि 'ओरनोस' ग्रीक शब्द में 'अ' है। इसी प्रकार 'वरुण' शब्द आद्युदात्त है, जबकि 'औरनोस' अन्तोदात्त शब्द है। इस प्रकार भाषावैज्ञानिक दृष्टि से यह समीकरण सम्भव नहीं है[2]। मित्रदेव वरुण के सहचर हैं। इन दोनों के लिए 'मित्रावरुणा' इस समस्त द्विवचनान्त शब्द का प्रयोग किया गया है। 'मित्र' को दिवस के सूर्य के रूप में और वरुण को रात्रि के सूर्य के रूप में समझने का प्रयास किया गया है। वरुण को विश्व का निरीक्षण करनेवाले देव के रूप में वर्णित किया गया है। सूर्य उनके नेत्र हैं, वायु श्वास है, आकाश वस्त्र है। उनकी आज्ञा से नदियाँ बहती हैं, सूर्य चमकता है, नक्षत्र और चन्द्र परिधि में रहते हैं और उन्हीं के नियम से द्युलोक और पृथ्वीलोक अलग अलग विद्यमान हैं। वे ऋतुओं का नियमन करते हैं और शरद्, मास, दिन और रात्रि का उचित विधान करते हैं। वे भौतिक और नैतिक व्यवस्था रखते हैं और 'धृतव्रत' हैं। अन्य देवता उनकी आज्ञा में रहते हैं। वे सब कुछ जानते हैं—पक्षियों का आकाश-मार्ग और नौकाओं का समुद्र-मार्ग। वे 'ऋत्' के नियामक हैं। उन्हें 'ऋतस्य गोपा', 'ऋतायु' और 'ऋतजात' कहा गया है। वरुण की स्तुति में पाप की क्षमा-प्रार्थना का स्वर प्रधान

---

1. ऋक्-संहिता, 1/159/1, 1/160/1, 4/56/2
2. Cattopādhyāya, K : All India Oriental Conference, Presidential Address, Section I, P. 17.

है, इससे प्रतीत होता है कि ऋक्-संहिता का ऋषि पाप के भार और उससे मुक्ति के भाव से सर्वथा परिचित है।

अश्विना—अश्विना के लिए लगभग 50 पूरे सूक्त हैं तथा अन्य बहुत से मन्त्रों में भी उनकी स्तुति की गयी है। उनके स्वरूप की सबसे विशिष्ट बात उनका युगल रूप है। उनकी तुलना नेत्रों, पैरों, हाथों और युग्म में रहनेवाले पशुओं से की गयी है। वे द्युतिमान्, वाजी, शक्तिमान्, पुराणयुवा, प्रज्ञा और ओजस् से युक्त हैं। उनके पथ को अरुण या स्वर्णिम कहा गया है। उनका सम्बन्ध मधु से है। वे सर्वत्र जाते हैं और उनका विशेष सम्बन्ध प्रकाश से है। अश्विना के पिता द्यौस् हैं और स्वसा उषस् है। संकट में अश्विन सहायक हैं। उनके अवदानों का विस्तृत वर्णन ऋक्-संहिता में है। यास्क द्वारा उल्लिखित मत में[1] तथा शतपथ ब्राह्मण में[2] उन्हें आकाश तथा पृथिवी माना गया है। अन्य मतों के अनुसार दिन और रात्रि, सूर्य और चन्द्रमा या दो राजाओं के रूप में उन्हें बताया गया है। सम्भवतः अश्विना सूर्य के उदय के पूर्व उसके पथ पर आगे आगे चलनेवाले अश्वारूढ़ देव-युगल हैं। इनके स्वरूप के विषय में पाश्चात्य विद्वानों में बड़ा मतभेद है।[3]

विष्णु—विष्णु शब्द की उत्पत्ति विष् धातु से मानने पर इस शब्द का अर्थ होगा 'क्रियाशील' और 'वि' पूर्वक 'स्नु' से (सानु की तरह) मानने पर विश्व के पृष्ठ भाग या पार्थिव लोकों का अतिक्रमण करनेवाला। हर तरह से विष्णु सौर देव हैं। इसके लिए पाँच सूक्त सम्बोधित हैं।

उनके अवदानों का वर्णन करते हुए उन्हें 'उरुगाय' (विस्तृत गतिशील) कहा गया है। वे तीन डग भरते हैं, जिनमें से दो तो देखे जा सकते हैं, पर तीसरा पक्षियों की दृष्टि से भी परे है। उसका सर्वोच्च पद स्वर्ग है, जहाँ देव और पितृ निवास करते हैं। उनके पदों को मधु से पूर्ण कहा गया है। इन पदन्यासों को यास्क से पूर्ववर्ती आचार्य शाकपूणि विश्व के तीन विभाग बताते हैं। [4]आचार्य और्णवाभ के अनुसार ये उदय, मध्याह्न और अस्तमन बेला के सूर्य की स्थितियाँ हैं।

उनका इन्द्र के साथ गहरा सम्बन्ध है। उन्हें पर्वत पर निवास करनेवाला कहा गया है। उन्हें "पार्थिवानि रजांसि" को नाप लेनेवाला कहा है। वे गर्भरक्षक माने

1. निरुक्त, 1/10
2. शतपथ, 10/115/16
3. देखिए, Keith, Rel. and Phil. of Veda and Up., Vol. I, pp. 117-118.
4. निरुक्त, 10/19

गये हैं और मानव जीवन के लिए उनका अत्यधिक महत्त्व है। भक्तों के बुलाने पर वे उपस्थित हो जाते हैं।

परवर्ती ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु का महत्त्व बढ़ता गया है। उत्तरकालीन धर्म में विकसित विष्णु के स्वरूप का बीज ऋक्-संहिता में विद्यमान है। उनके पादन्यास और वामनावतार का उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथों में है। उनके स्वरूप-वर्णन में अनेक अवतारों के बीज मिल जाते हैं।

आदित्यदेव—ऋक्-संहिता में आदित्यदेवों के लिए 6 पूर्ण और 2 आंशिक सूक्त आये हैं। आदित्य का अर्थ है—अदिति के पुत्र। इनकी संख्या 6 कही गयी है[1] और इनके नाम हैं—मित्र, अर्यमन्, भग, वरुण, दक्ष और अंश। एक बार सात[2] और एक बार आठ[3] कही गयी है। सातवें सम्भवतः सूर्य और आठवें मार्त्तण्ड हैं। ब्राह्मणों में सामान्यतः यह संख्या बारह है। उन्हें बारह मासों में तद्रूप माना गया है।

आदित्य दीप्तिमान्, हिरण्यमय, निमेष न करनेवाले, निष्पाप और पवित्र वर्णित हैं। वे असत्य से घृणा करते हैं और पाप का दण्ड देते हैं। वे अपने शत्रुओं को पाश से बाँधते हैं और भक्तों की रक्षा करते हैं।

उषस्—ऋक्-संहिता में देवी उषस् का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। उनके लिए 20 सूक्त कहे गये हैं। ये सूक्त अपने काव्य की दृष्टि से पाश्चात्य विद्वानों को आकृष्ट करते हैं। उषस् को रोम की औरोरा (Aurora) और ग्रीस की एओस (Eos) के समान बताया गया है। लेकिन इससे उषस् को भारत-योरपीय युग की देवी नहीं कहा जा सकता। ट्यूटानिक ओस्तरा (Ostara) तथा लेट्टिश, उहसिंग (Uhsing) भी बालसूर्य की उपासना प्रस्तुत करती हैं।

उषस् का मानवीय रूप में वर्णन बहुत कम हो पाया है। वह नव नव होने पर भी 'पुराणी' है। उन्हें अपनी माता द्वारा सजायी गयी 'हस्रा' के रूप में वर्णित किया गया है। झिलमिलाते वस्त्रों में उषस् पथों को प्रकाशित करती है, अन्धकार दूर करती है, दुःस्वप्न को 'त्रित आप्त्य' के पास भेजती है और प्राणियों में क्रियाशीलता का संचार करती है।

सूर्य प्रेमी की तरह उषस् का अनुगमन करता है। वह सूर्य की पत्नी और प्रेयसी है। वह भग की बहन, वरुण की सम्बन्धिनी और रात्रि की भगिनी भी है। अग्नि के साथ उषस् का सम्बन्ध है।

---

1. ऋक्-संहिता 2/27/1
2. वही, 9/114/3
3. वही, 10/72/8

इस प्रकार पिता द्यौस्, वरुण, मित्र, अश्विना, विष्णु तथा आदित्यदेव और देवी उषस् के वर्णन से द्यु-स्थानीय देवों के स्वरूप का दिङ्निर्देश हो जाता है। सूर्य, सवितृ, पूषन्, अर्यमन्, विवस्वत् आदि देव के स्वरूप भी अत्यन्त महत्त्व के हैं।

इन्द्र—इन्द्र अन्तरिक्ष-स्थानीय देव हैं। वे ऋक्-संहिता के सर्वमहान् देव हैं। केवल वरुण ही शक्ति में उनकी समता कर पाते हैं, किन्तु सोमयाग से उनका सम्बन्ध वरुण की अपेक्षा कहीं गहरा है। उनकी स्तुति में ऋक्-संहिता के लगभग एक चतुर्थांश अर्थात् 250 सूक्त कहे गये हैं।

इन्द्र के विग्रह का वर्णन बड़े सजीव रूप में किया गया है। उनका शरीर विशाल है और द्यावापृथिवी (आकाश-पृथ्वी) उनकी मेखला भी नहीं बन पातीं। उनके सिर, भुजाएँ, हाथ और विशाल उदर का वर्णन आया है। वे सोमपान के शौकीन हैं, और उनके ओठों तथा श्मश्रु पर सोमपान के बाद 'ऋजीष' (तलछट) लग जाया करता है। उनके श्मश्रु (दाढ़ी) और बाल भूरे रंग के हैं। उनकी भुजाएँ लम्बी और कठोर हैं। उनका अस्त्र वज्र है, उसमें शत या सहस्र नोक हैं। वह स्वर्ण अथवा धातु से निर्मित कहा गया है। वे अश्वों द्वारा खींचे जानेवाले रथ पर चलते हैं।

इन्द्र की माता का नाम गृष्टि, निभृष्टि या शबसी कहा गया है। उनके पिता त्वष्टा या द्यौस् हैं। उनकी पत्नी इन्द्राणी हैं। उनका सम्बन्ध वरुण, वायु, सोम, बृहस्पति, पूषन्, विष्णु और सूर्य के साथ वर्णित किया गया है।

इन्द्र के अवदान का वर्णन करते हुए उन्हें सर्प-शरीरवाले वृत्र का वध करनेवाला कहा गया है। पर्वतों पर निवास करनेवाले और अपने शरीर से जलमार्ग को अवरुद्ध करनेवाले अहि वृत्र को वह मरुत् और विष्णु की सहायता से खण्ड-खण्ड कर देते हैं। वह वृत्र का हनन बार बार करते हैं। रँभाती गायों की भाँति जल-धाराएँ वृत्र-वध के बाद समुद्र की ओर दौड़ पड़ती हैं।

विभिन्न देशों के तीस से अधिक विद्वानों ने इन्द्र के स्वरूप पर विचार किया है। उनके मत संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(1) इन्द्र—आकाश के देव,
(2) इन्द्र—वज्र, वर्षा और तूफान के देव,
(3) इन्द्र—सौर देव,
(4) इन्द्र—चन्द्र देव,
(5) इन्द्र—प्राचीन वीरनायक,
(6) इन्द्र—बल एवं युद्ध के देव।

ल्युडविग के अनुसार इन्द्र आकाशदेव हैं। वृत्र-वध के आख्यान का तात्पर्य ओल्डेनबर्ग के अनुसार यह है कि इन्द्र का कार्य पर्वत पर से जलराशि पृथ्वी पर लाना था[1]। उनके अनुसार प्राचीन काल में इस आख्यान के विषय अशनिपात, वृष्टि और प्रकाश का उदय ही थे।

मैकडानेल के अनुसार इन्द्र प्रथमतः वज्रधारी देव हैं और अवर्षण तथा अन्धकार के असुरों पर विजय प्राप्त कर अवरुद्ध जल को मुक्त करते हैं तथा प्रकाश करते हैं।

कीथ के अनुसार मेघ की तुलना पर्वतों से की जानी स्वाभाविक और सरल है। पर्वत मेघ ही हैं, जो तूफान से पहले जल को अवरुद्ध करके अन्धकार से आवृत आकाश में लटक जाते हैं। तूफान आता है, बिजली कौंध उठती है, वृष्टि होती है और फिर सूर्य चमकने लगता है। वृत्र-वध आख्यान का यही अभिप्राय है[2]।

हिलेब्रान्ट के अनुसार वृत्र हिम है, जो शीत में जल को अवरुद्ध कर देता है। इसी का सर्प-रूप में वर्णन किया गया है। स्वभावतः इनके अनुसार इन्द्र हिम को पिघलानेवाले सूर्य होंगे[3]।

हापकिन्स के अनुसार इन्द्र उर्वरता के देव हैं, जो मूलतः कौशिकों और गौतमों के देव थे, बाद में भारद्वाजों ने उन्हें युद्धदेव के रूप में माना[4]। ग्यूर्न्तेत के अनुसार भी वह युद्धदेव और दानव-संहारक हैं।

निरुक्त (10/7) के अनुसार इन्द्र का यही कर्म रसदान एवं वृत्र-वध है। जो भी बल का कार्य है, वह इन्द्र का ही कर्म है। बृहद्देवता (2/6) में भी इन्द्र का यही कार्य कहा गया है, साथ ही वे स्तुति के प्रभु भी कहे गये हैं। निष्कर्ष यह है कि इन्द्र बल और युद्ध के देव हैं। बाद में उनका सम्बन्ध वर्षा से भी हो जाता है।

इन्द्र के साथ त्रिशीर्षा विश्वरूप, शम्बर-वध तथा सरमा-पणि आदि के आख्यान जुड़े हैं। इन्द्र को कुपित पर्वतों को स्थिर करनेवाला भी कहा गया है। दाशराज्ञ युद्ध के वसिष्ठ द्वारा प्रेरित होकर उन्होंने राजा सुदास की सहायता की।

इन्द्र के स्वरूप की तुलना वरुण के स्वरूप के साथ अकसर की जाती है। वरुण से नैतिक स्वरूप की तुलना में इन्द्र के युद्धदेव के रूप में उदय को वैदिक देवशास्त्र के

---

1. Religion des Veda, p. 137.
2. Rel. and Phil. of Veda and Up. Vol. 1., p. 127.
3. Vedic Mythology, III, pp. 174-201.
4. JAOS, XXXVI, pp. 242.

इतिहास में अत्यन्त क्रान्तिकारी घटना कहा गया है[1]। किन्तु वास्तविक बात यह है कि आरम्भ से ही इन्द्र बल और युद्ध के देव हैं, बाद में वर्षा से भी सम्बद्ध हो जाते हैं। इन्द्र के अतिरिक्त अन्य छोटे छोटे देव अन्तरिक्ष सम्बन्धी अन्य प्रकार के चमत्कारों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जैसे वात (वायु) और मरुद्गण भयंकर तूफान के देव हैं। रुद्र भयंकर शब्द करनेवाले देव हैं। इसी प्रकार अपाम् नपात्, त्रित आप्त्य, अज एकपाद मातरिश्वन्, पर्जन्य आदि अन्तरिक्ष-स्थानीय देव हैं। अवेस्ता में 'अपाम् नपात्' तथा 'थ्रित आप्त्य' देव आते हैं।

अग्नि—पृथ्वी-स्थानीय देवों में अग्नि का स्थान अग्रगण्य है। उनके मानव रूप की कल्पना बहुत कम सम्पन्न हो पायी। अग्नि मानव और देवों के बीच के घटक हैं। उनका स्वरूप सामान्यतया पौरोहित्य विषयक धारणा से युक्त है।

उनका स्वरूप सामान्यतया भौतिक अग्नि का ही रूप है। वन उनके आहार बन जाते हैं। उन्हें शिर और पाद रहित कहा गया है, किन्तु जिह्वाएँ सात हैं। भौतिक अग्नि के अभिमानी या अधिष्ठातृ देव के रूप में इनका स्वरूप स्पष्ट है। उनका आह्वान किया गया है कि वह आकर कुश के आसन पर विराजें और देवों के निमित्त हविष् को स्वीकार करें। अग्नि की द्युति का भी वर्णन किया गया है।

अग्नि के माता-पिता द्यावा-पृथिवी अथवा त्वष्टा-आप हैं, वे देवताओं द्वारा भी उत्पन्न किए जाते हैं और अरणियों द्वारा भी उनका जन्म होता है।

अग्नि की कल्पना द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी, तीनों स्थानों में की गयी है। द्यु-स्थानीय अग्नि सूर्य हैं। वे जल-राशि के गर्भ में हैं, जलों में उपोढ वृषा हैं और मेघों में अवतीर्ण वृषा हैं।

कीथ के अनुसार इन वर्णनों से तात्पर्य सम्भवतः 'अपांनपात्' है। सर्वदा अग्नि का सम्बन्ध अन्तरिक्षस्थ जल से माना गया है। पृथ्वी पर तो उनकी अवस्थिति स्पष्ट ही है। अन्तरिक्ष और आकाश में एक ही अग्नि की अवस्थिति ने विश्व की निगूढ़ एकता का आधार बहुत सीमा तक प्रदान किया। उन्हें अनेक स्थलों पर 'त्रिविध' कहा गया है और कई स्थलों पर द्विजन्मा। उनका पहला जन्म पृथ्वी पर और दूसरा आकाश में अथवा पहला स्वर्ग में और दूसरा जल में कहा गया है। ऋक्-संहिता में कहा गया है कि वे जलों में अवतीर्ण होते हैं और वनस्पतियों में पुनः उद्भूत होते हैं।

---

1. Rel. and Phil. of Veda and Up., Vol. I, p. 133 तथा Radhakrishnan : History of Ind. Phil., Vol. I, p. 86.

वे दानवों का नाश करते हैं एवं मनुष्यों के मित्र, रक्षक और नेता हैं। उन्हें माता-पिता, माता और पुत्र तक कहा गया है। उन्हें मेधा, वाक्, भोजन, सम्पत्ति और दीर्घ आयुष्य प्रदान करनेवाला कहा गया है।

सोम—ऋक्-संहिता का प्रमुख विषय सोमयाग है। उसका पूरा नवम मण्डल सोम के लिए सम्बोधित है। अग्नि की ही भाँति सोम भी कर्मकाण्ड से सम्बद्ध हैं। यज्ञ में 'सवन' अर्थात् सोम का रस निकाल की क्रिया का विस्तृत वर्णन किया गया है।

सोम लता है और उसका रंग लोहित, भूरा या पीत कहा गया है। सोम लता को ग्रावन् (पत्थर) से वेदी पर बिछे चर्म पर पीसा जाता है। उलूखल में मूसल से कूटने की क्रिया भी ज्ञात थी। पीसने-कूटने के बाद छाना जाता है। तब सोम 'पवमान' की संज्ञा प्राप्त करते हैं। ह्विटनी के अनुसार सरलहृदय आर्यों ने अपनी प्रकृति और आश्चर्यमय शक्तियों की उपासना में सोमरस द्वारा आत्मिक शक्ति को उठाने के सामर्थ्य को समझा, इसीलिए इसे तैयार करने की विधि पावन बन गई।[1]

सोम का पूर्ण मानवीय रूप वर्णित नहीं हुआ। सोम का सम्बन्ध औषधियों से था, फलतः आगे चलकर वह औषधियों के राजा बन गये। सोम के चन्द्र बन जाने की धारणा का भी विकास हुआ। सोम अवेस्ता के 'हओम' और ग्रीस के 'डायोनिसस' के समान हैं। अवेस्ता में 'हओम' के उत्पत्ति स्थान पर्वत का विस्तृत वर्णन है।

पृथ्वी-स्थानीय अन्य देवताओं में बृहस्पति स्वयं, पृथ्वी, नदियाँ, समुद्र आदि वर्णित हैं।

पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युस्थानीय देवों के अतिरिक्त गन्धर्व, अप्सरस्, वन, वृक्ष, ओषधि, गृहदेव, दिव्य उपकरण, पशु, भावात्मक देवों आदि की भी स्तुति की गयी है। वैदिक देव-मण्डल अत्यन्त विशाल है और धर्म के इस पक्ष के विकास के साथ दर्शन का विकास भी गहराई से जुड़ा हुआ है।

नैतिक धारणा—प्राचीन वैदिक धर्म के अन्तर्गत नैतिक अवधारणाओं के विषय में यह उल्लेखनीय है कि अत्यन्त प्राचीन युग में ही 'ऋत' की अवधारणा का विकास हो गया। वरुण को 'ऋत के गोप्ता' के रूप में देखा गया। वरुण का नैतिक व्यवस्था के नियामक का स्वरूप अत्यन्त प्रभावशाली है। यह विश्व-व्यवस्था के भौतिक पक्ष के साथ नैतिक पक्ष का नियंत्रण करते हैं। अनिष्ट और यातना के समय उपासक के साथ रक्षक रूप में रहना, उसे 'अंहस्' (पाप) से मुक्ति दिलाना, पापी को जलोदर से युक्त कर दण्डित करना, वदान्यता उनके नैतिक स्वरूप को स्पष्ट करते हैं।

1. J. O. A. O. S., 3, 292.

वरुण जिस 'ऋत' के अभिरक्षक हैं और जिससे सारे देव भी आबद्ध हैं, उसका तात्पर्य सामान्यतः 'धर्म' एवं सब प्रकार के नियमों से है। यह न्याय का द्योतक है। सम्भवतः सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा ऋतुओं की नियमित गति एवं क्रम से इस धारणा का उदय हुआ होगा। अतः 'ऋत' का अर्थ 'विश्व की व्यवस्था' भी है। विश्व में व्यवस्था, उषस् का आगमन, सूर्य का चमकना, ये सब कुछ 'ऋत' के ही कारण हैं। देवों को 'ऋत' से उत्पन्न अर्थात् 'ऋतजात' कहा गया है। वे 'ऋत' को स्वीकार करते हैं और उसके अनुसार आचरण करते हैं।

'ऋत' की धारणा के रूप में विश्व की बाह्य दृश्यमान व्यवस्था के मूल में स्थित नैतिक नियम की सत्ता को स्वीकार किया गया। जगत् की घटनाओं के पूर्व 'ऋत' विद्यमान है और उसके परिवर्तनशील क्रम 'ऋतु' की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। इसीलिए 'ऋत' को सबका जनक कहा गया है[1]।

'ऋत' का मार्ग ही सदाचार का मार्ग समझा गया, जो बुराइयों से अस्पृष्ट यथार्थ पथ है।[2] 'ऋत' के स्वीकार करने के साथ ही विश्व की प्रयोजनीयता की व्याख्या हो जाती है। विश्व में अन्तर्निहित व्यवस्था को स्वीकार करते ही आचरण के क्षेत्र में विद्यमान एक अपरिहार्य व्यवस्था की स्थिति को भी स्वीकार करने में सहायता मिलती है, जो हमें सुरक्षा के बोध से युक्त कर देता है। उत्तरवर्ती दार्शनिक चिन्तन के 'कर्म सिद्धान्त' का आधार 'ऋत' की अवधारणा में विद्यमान है।

'ऋत की अवधारणा के समान ही देवी 'अदिति' की अवधारणा में भी नैतिक व्यवस्था का आधार प्राप्त होता है। 'अदिति' संज्ञा शब्द है और इसका अर्थ 'बन्धन-राहित्य' है। इस शब्द का 'स्वतन्त्रता', 'मुक्ति' और 'निःसीमता' के अर्थ में भी प्रयोग हुआ है। 'अदिति' को आदित्यों की माता कहा गया है। अदिति के स्वरूप का दूसरा पक्ष यह है कि वह सांसारिक क्लेश और नैतिक अपराध से छुटकारा दिलाती है। 'अनागस्त्व' के लिए उनकी और आदित्यों की प्रार्थना की गई है। अदिति के लिए कहा गया—अदिति द्यौस् है, अदिति अन्तरिक्ष है, अदिति माता है, पिता है, पुत्र है, अदिति समस्त देव है। पञ्चजन (अनु, दह्यु, यदु, तुर्वश, पुरु, ये पाँच जन अर्थात् सारे मनुष्य) अदिति हैं। जो कुछ उत्पन्न हो चुका है, वह अदिति है, जो उत्पन्न होगा, वह अदिति है (ऋ० सं०, 1/89/10)। इससे स्पष्ट है कि विश्व-व्यवस्था के लिए 'अदिति' और 'ऋत' की अवधारणा ऋक्-संहिता के नैतिक चिन्तन को प्रगट करती है।

---

1. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. I, pp. 79-80.
2. ऋक् सं०, 10/136/6

ऋक्-संहिता के परवर्ती युग में वरुण का महत्त्व कम हो गया। इससे पाश्चात्य विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीयों के नैतिक आदर्श में परिवर्तन नैतिक अवधारणा के लोप की ओर ले गया। वरुण के स्थान पर 'इन्द्र' को प्रमुखता मिली किन्तु इन्द्र न तो सर्वदा के लिए सर्वप्रमुख देवता बन पाया और न वह नैतिक गुणों से सर्वथा शून्य है। 'ऋत' का आश्रय भी केवल वरुण ही नहीं है, अन्य आदित्य देवों को भी उनका आश्रय स्वीकार किया गया।

परवर्ती भारतीय धर्म और दर्शन का विकास जिस दिशा में हुआ वह पश्चिम की परिचित 'इब्रानी' अवधारणा से सर्वथा पृथक् है। इसलिए 'ईश्वर' की भारतीय अवधारणा अधिकाधिक अपुरुषपरक होती गयी है और नैतिक विचार जीवन-व्यवहार में अभिव्यास सदाचार के रूप में रहा है तथा उसका स्वरूप भी पर्याप्त लचीला रहा है।

सर्वोच्च देव अथवा एकेश्वरवाद—प्राचीन वैदिक धर्म के नाना देवों में विश्वास के सोपान के साथ ही एक सर्वोच्च देव की धारणा विद्यमान थी। अनुभूत तथ्यों में प्रकृति के नाना देवताओं की कल्पना सन्तोष प्रदान न कर सकी। वैदिक ऋषि उस सर्वोच्च सत्ता के अन्वेषण में प्रयत्नशील थे, जो सबके ऊपर शासन करती है। धार्मिक चेतना की एक परम सत्ता की अवधारणा को प्राप्त करने की प्रवृत्ति ने उसे सर्वोच्च देव की ओर प्रेरित किया। वैदिक साहित्य में यह धारणा यद्यपि अद्वैतवादी धारणा के साथ मिले जुले रूप में ही प्राप्त है और दोनों को अलग करना कठिन है, फिर भी तत्तत् स्थलों पर कहीं एक का प्राधान्य है और कहीं दूसरे का। इसी आधार पर सर्वोच्च देव की धारणा को एकेश्वरवाद से समीकृत कर एकेश्वरवादी और अद्वैतवादी दोनों दार्शनिक प्रवृत्तियों को वैदिक दर्शन में अलग-अलग माना गया है।[1]

बहुदेववादी धारणा से एकेश्वरवादी धारणा तक पहुँचने की यात्रा कुछ आकस्मिक नहीं, अपितु अत्यन्त क्रमप्राप्त प्रतीत होती है। ब्लूमफील्ड के अनुसार 'बहुदेववाद' के क्रियात्मक जीवन में असमर्थ होने और परस्पर भेद में अनौचित्य होने के कारण अवसरवादी एकेश्वरवाद का उदय हुआ, जिसमें प्रत्येक देवता प्रभुता को प्राप्त करता है, पर उसे रख नहीं पाता।[2] इस विचार को मैक्समूलर ने 'हेनोथीइज्म' (Henotheism) या कैथेनोथीइज्म (Kathenotheism) अर्थात् एकाधिदेववाद के नाम से प्रतिपादित किया था। वैदिक सूक्तों में अक्सर इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं कि जिस देवता की स्तुति की जा रही है उसका महत्त्व बहुत बढ़ा दिया जाता है। अन्य

1. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, एम० हिरियन्ना, पृ० 40.
2. The Religion of the Veda, M. Bloomfield, p. 199.

देवताओं की उस समय उपेक्षा कर स्तुत देव को सबसे श्रेष्ठ वर्णित किया जाता है। उस समय वही 'परमा देवता' होता है और दूसरे देव उसके सम्मुख तिरोहित हो जाते हैं; यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी अन्य देव के प्रति अवज्ञा प्रकट की जाती है और उसकी महिमा कम की जाती है।[1] एकाधिदेववाद की इस प्रवृत्ति को एकत्व की दिशा में जाने की सहज प्रवृत्ति की अचेतन अभिव्यक्ति मानते हुए मैक्समूलर ने इसे बहुदेववाद और एकेश्वरवाद के मध्य विकास का एक निश्चित सोपान माना।[2] किन्तु इस मत के विरुद्ध मैकडानल्ड ने तर्क दिये हैं कि वैदिक देवता शेष दूसरे देवताओं से सर्वथा स्वतन्त्र रूप में प्रस्तुत नहीं किये जाते, क्योंकि अन्य कोई भी धर्म देवताओं को इससे अधिक बार बार एवं वैविध्यपूर्ण सन्निधि तथा संयोग में नहीं रखता और वेद के सर्वाधिक शक्तिशाली देवता भी दूसरों पर निर्भर किए गए हैं। इस प्रकार वरुण और सूर्य इन्द्र के अधीन अंकित हैं (1.101) और वरुण तथा अश्विना विष्णु की शक्ति के सम्मुख नत हैं (1.156) जब कोई देवता 'एकः' या मुख्य कहा जाता है, जैसा स्तुतियों में पर्याप्त स्वाभाविक है, तब भी ऐसे कथन अपनी एकेश्वरवादी शक्ति को सन्दर्भ अथवा उसी छन्द द्वारा प्रदत्त सुधार या संशोधन के कारण छोड़ देते हैं। अतः एकाधिदेव वास्तविकता न होकर एक प्रतीति मात्र है, जो अविकसित 'व्यक्ति-त्वारोपण' के कारण, देवमण्डल के एक 'जेउस' (Zeus) सरीखे स्थायी प्रमुख के न होने के कारण, स्तुति कर्त्ता अन्यदेव की उपेक्षा कर एक विशेष देवता की महिमा के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन के कारण उत्पन्न होती है।[3] इस तरह का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन धार्मिक काव्यों में स्वाभाविक होता है। और इसलिए यह अनिवार्यतः इस बात का सूचक नहीं कि धारणा से एक की धारणा की ओर प्रगति अवश्य हुई। फिर भी यह स्वीकार किया जा सकता है कि एकाधिदेववादी प्रवृत्ति से एकेश्वरवादी धारणा के विकास में सहायता मिली।

देवों का स्वरूप एक दूसरे के बहुत समान है तथा विभिन्न देवताओं का वर्णन एक ही प्रकार से किया गया है। इसका कारण है, देवताओं का अस्पष्ट पृथक्करण तथा एक प्राकृतिक वस्तु का दूसरी (जैसे सूर्य, अग्नि और उषा) के साथ सहज सम्बन्ध या सादृश्य। हिरियन्ना ने इसे देवताओं की 'परस्पर व्याप्ति' का नाम दिया है।[4] देवताओं की इस परस्पर समानरूपता से एकमात्र सर्वोच्च उपास्य देव के उदय

1. Kaegi : The Rgveda, p. 27.
2. Max Müller : Six Systems of Indian Philosophy.
3. Macdonell : Vedic Mythology, pp. 16-17.
4. एम. हिरियन्ना : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० 37.

का मार्ग प्रशस्त हो गया। किसी एक देवता की परमा देवता के रूप में स्तुति करने की प्रवृत्ति से 'प्रजापति' (प्राणियों के सर्वोच्च स्वामी) की अवधारणा का विकास हुआ, यद्यपि यह सचेत सामान्यीकरण की प्रक्रिया से नहीं, अपितु मन के विकास के अनिवार्य सोपान के रूप में हुआ। इस प्रकार 'प्रजापति' तथा 'विश्वकर्मा' आदि विशेषण आरम्भ में सभी देवताओं को छोड़ देने पर सर्वोच्च पृथक् देव के रूप में आ गये।[1]

एकेश्वरवादी धारणा के विकास में एक कारण डॉ० राधाकृष्णन् ने वैदिक देवमण्डल में आर्येतर रहस्यात्मक अवधारणा के प्रवेश को माना है।[2] इस मान्यता की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वैदिक धर्म भारत-योरपीय युग से एक सर्वोच्च देव के साथ देव-मण्डल की धारणा प्राप्त करता है। जो भी कारण हो, ऋग्वेद में एक देवता से दूसरे को मिला देने अथवा उनका वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति आ गयी। पृथ्वी-स्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय और द्यु-स्थानीय देवताओं के रूप में वर्गीकरण का संकेत ऋक्-संहिता में ही मिल जाता है। उनकी संख्या कभी 33 और कभी 333 कही गयी।[3] ईश्वर की एकात्मक धारणा में पहुँचने का उपाय देवताओं को समष्टि रूप में देखना भी था। फलतः 'विश्वेदेवाः' (सभी देवता) की कल्पना की गयी।

पृथ्वी पर, अन्तरिक्ष में तथा आकाश में पृथिवी-स्थानीय अग्नि, वैद्युताग्नि और सौराग्नि के रूप में एक ही अग्नि के साक्षात्कार में ऋत की धारणा से उत्पन्न एकत्व के भाव के उदय तथा 'विश्वेदेवाः' की अवधारणा में प्रकृति के व्यापारों के मूल में रहनेवाली प्रयोजन की एकता का बोध विद्यमान है। यदि प्रकृति की नाना-विधता और भिन्न-भिन्न घटनाओं के कारण अनेक देवताओं की कल्पना की जाती है, तो उसके अन्दर लक्षित एकता के अनुसार एकत्व को भी समझा जा सकता है। वैदिक ऋषियों ने विश्व के स्वयम्भू एवं अविनाशी आदि कारण को खोजना चाहा। इस प्रकार के एकेश्वरवाद की स्थापना की विधि यही थी कि सभी देवों को एक सर्वोच्च सत्ता के अधीन कर दिया जाय, जो सबका नियन्त्रण कर सके।

अनेक विद्वानों के अनुसार वैदिक देवमण्डल में 'वरुण' का उदय एकेश्वरवाद के अत्यन्त निकट पहुँचा देता है। वरुण सर्वोच्च नैतिक देव थे। उनमें सदाचार

---

1. देखिए, Radhakrishnan : Indian Philosophy; Surendra Nath Dasgupta, Vol I, p. 19.
   एम. हिरियन्ना : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० 38-39.
2. **Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. I, p. 89.**
3. **ऋक्-संहिता, 3/9/9; शतपथ, 10. 121.**

सम्बन्धी आध्यात्मिक गुण—न्याय, उपकार, साधुता और करुणा—सन्निहित था। उच्चतर आदर्शवाद पर अत्यधिक बल दिया गया। वरुण मानव और प्रकृति, इहलोक और परलोक सभी का स्वामी है। वह बाह्य आचरण ही नहीं, जीवन की आन्तरिक पवित्रता पर भी ध्यान रखता है। इससे नैतिक 'एकेश्वरवाद' पर पहुँचने का मार्ग प्रशस्त हो गया था। यह आकस्मिक नहीं था, वल्कि एक सुनिश्चित नियम के अनुसार ही था। जरथुस्त्र के सुधार नैतिक और एकेश्वरवादी थे। ओल्ड टेस्टामेन्ट का एकेश्वरवाद भी नैतिक था, यहाँ तक कि इसी से बाद में उद्भूत पैगम्बर मुहम्मद का एकेश्वरवाद भी कठोर नैतिक मान्यताओं से युक्त था। सच्चा और सुसंगत आस्तिकता-वाद नैतिक एकेश्वरवाद के रूप में प्रतिफलित होता है, यद्यपि यह भी सही है कि ईश्वर की मान्यता के बिना भी महत्त्वपूर्ण नैतिक विकास हो सकते हैं।

किन्तु नैतिक एकेश्वरवाद सुधारकों या पैगम्बरों के द्वारा प्रवर्तित होता है। यही प्राचीन इसराइल में हुआ, यही ईरान में और इस्लाम में। ऋक्-संहिता के युग में द्रष्टा ऋषि और पुरोहित तो थे किन्तु जरथुस्त्र और बुद्ध की तरह के नैतिकतावादी नहीं। यदि हम यह कहें कि वरुण को सम्बोधित अनुताप-सूचक सूक्त उन लोगों की रचनाएँ हैं, जिनमें सच्चे पैगम्बर की आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि थी, तो हमें यह कहने के लिए भी बाध्य होना पड़ेगा कि ऐसे पैगम्बरीय उत्तराधिकार का शीघ्र ही अन्त हो गया। ऋक्-संहिता में 'जेहोवा' और 'अहुरमज्द' की भाँति प्रतिष्ठित वरुण धीरे-धीरे लों और तालाबों के देवता हो गये और इसके साथ-साथ 'ऋत' का नियम तिरोहित हो गया अथवा 'कर्म' की धारणा में समा गया[1] ग्रिस्वोल्ड इसको नैतिक ट्रैजेडी कहते हैं। वरुण के स्थान पर इन्द्र को वह पद मिलता है। वस्तुतः भारत में एकेश्वरवाद की प्राप्ति का मार्ग भिन्न था। डायसन ने कहा है, "मिस्र में एकेश्वरवाद का एक अन्य ही प्रकार का मार्ग अपनाया गया था, अर्थात् नाना प्रकार के स्थानीय देवताओं के यान्त्रिक तादात्म्य की पद्धति अपनायी गयी। फिलिस्तीन में अन्य सब देवताओं को बहिष्कृत किया गया, उनकी उपासना करने वालों पर अपने जातीय देव 'जेहोवा' के हित में हिंस्र अत्याचार किए गए। भारत में लोग एकेश्वरवाद से भी ऊपर अद्वैत-वाद पर पहुँचे, अधिकतर दार्शनिक मार्ग से (अर्थात् विविधता की गहराई में पहुँचकर) उसमें अन्तर्निहित एकत्व का उन्होंने अनुभव किया।[2]

भारत में 'नैतिक एकेश्वरवाद' के स्थान पर 'आध्यात्मिक एकेश्वरवाद' का विकास हुआ। देवताओं में एक सर्वोच्च देवता ढूँढ़ने के स्थान पर उनके पीछे काम

1. H. D. Griswold : The Religion of the Regveda, pp. 347-48.
2. Outlines of Indian Philosophy, P. Deussen, p. 13.

करने वाली एक सामान्य शक्ति को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया गया ।[1] आध्यात्मिक एकेश्वरवाद के उदाहरण के रूप में 'हिरण्यगर्भ-प्रजापति-सूक्त' को प्रस्तुत किया गया है ।[2]

'प्रजापति' का अर्थ है 'अपत्यों का स्वामी' ऋग्वेद में इस विशेषण का प्रयोग एक बार सवितृ के लिए हुआ है,[3] जिन्हें विश्व का प्रजापति और 'दिवोधर्ता' कहा गया है । 'सोम' के लिए भी यह प्रयुक्त हुआ है । परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में प्रजापति को तत्त्वतः देवताओं का मूर्धन्य, सबका जनक, देवताओं और असुरों का पिता एवं प्रथम यजमान माना गया है । समस्त ब्राह्मण-कालीन सृष्टि सम्बन्धी आख्यानों के प्रजापति नायक बने हैं । सूत्रों में उन्हें विशेष रूप से ब्रह्मन् (ब्रह्मा) का तदात्म बताया गया है, जो कि मन्त्र या महनीय शक्ति के वाचक ब्रह्मन् शब्द का पुल्लिङ्ग रूप है ।[4] किन्तु ब्राह्मणों में इस देवता के विकास से प्रजापति की प्रधानता

---

1. ऋक्-संहिता, 1.164.46 तथा अथर्वसंहिता, 3.55 ।
2. H. D. Griswold : The Religion of the Ṛgveda.
3. ऋ०, 4/53/2
4. "ब्रह्मन" के (1) अन्न, (2) अन्नमयी आहुति, (3) सामगान, (4) मन्त्र, (5) सविधि निष्पन्न कर्म, (6) मन्त्रपाठ और दक्षिणा, दोनों साथ-साथ, (7) होता का मन्त्रपाठ तथा (8) महान्, इन आठ अर्थों को सायण ने स्वीकार किया है, जिसे मार्टिन हाउग ने आकलित किया है । रॉथ ने इसका अर्थ 'आत्मा की उत्कण्ठा और सन्तोष में अभिव्यक्त होनेवाली उस भक्ति' के रूप में माना है, जो देवों तक पहुँचती है । किन्तु शतपथ ब्राह्मण में ही यह 'देवों के पीछे विद्यमान शक्ति-रूप प्रथम कारण' के महत्त्वपूर्ण अर्थ में कल्पित किया गया (देखिए, Dasgupta : A History of Indian Philosophy, Vol. I, p. 20) ।

   वस्तुतः 'ब्रह्मन्' का अर्थ 'स्तुति' और 'मन्त्र' ही है । 'बृह्' धातु से निष्पन्न 'ब्रह्मन्' देवों का 'वर्धन' करनेवाला है । वैदिक ऋषि मन्त्रों की शक्ति में निष्ठा रखते थे, बल्कि अपनी कामनाओं की पूर्ति में मन्त्र को ही कारण मानते थे । याग में 'शस्त्र' और 'स्तोत्र' के रूप में मन्त्र उतना ही प्रधान कर्म है, जितना हविस्त्याग (जै० 2.1.13-29) । उपनिषदों के युग में 'प्रथम कारण' अथवा 'स्रष्टा' की मीमांसा होने लगी, तो इन कर्मकाण्डवादियों ने आगे बढ़कर उस 'प्रथम कारण' और 'ब्रह्म' का तादात्म्य कर दिया । 'ब्रह्म' के स्तुतिपरक अर्थ और औपनिषदिक 'स्रष्टा' के अर्थ का मध्यवर्ती और सम्बद्ध करनेवाला अर्थ 'शक्ति' का है । 'ब्रह्म' का यह शक्तिपरक पक्ष 'केनोपनिषद्' में बहुत स्पष्ट है ।

को आघात नहीं पहुँचता है।[1]

हिरण्यगर्भ-सूक्त (ऋ०, 10.121.) में उन्हें हिरण्यगर्भ कहा गया है। 'हिरण्यगर्भ' का अर्थ है 'स्वर्णिम बीज'। वे सर्वमहान् देव हैं। उन्होंने पृथ्वी और द्युलोक को धारण किया है। वे प्राण और बल प्रदान करते हैं, सभी उनके अनुशासन में रहते हैं और देवता भी उनके शासन को स्वीकार करते हैं। मृत्यु और अमरता उनकी छाया है। वे अपनी महिमा से सभी 'गतियुक्त' श्वास लेते और निमेष करते प्राणियों के एकमात्र स्वामी बन गये। ये 'हिमवत्' (पर्वत), 'रसा' के सहित समुद्र उन्हीं के हैं। वे देवताओं के ऊपर देव हैं, देवों के 'असु' हैं और सर्वस्रष्टा हैं। वे ही एकमात्र उपास्य हैं। अन्त में 'हिरण्यगर्भ' और 'प्रजापति' को एक वर्णित किया गया है। अथर्व-संहिता और परवर्त्ती साहित्य में भी 'हिरण्यगर्भ' को सर्वोच्च देव वर्णित किया गया है।[2] अथर्व-संहिता में वे 'गर्भ' के रूप में आते हैं[3] और सृष्टिक्रम में जलराशि में उत्पन्न हुए हैं। तैत्तिरीय संहिता में भी उनके पद का तादूप्य प्रजापति पद से स्थापित किया गया है।

ऋक्-संहिता के ही दो सूक्तों[4] में विश्वकर्मन् की स्तुति आयी है। उन्हें विश्वतश्चक्षु विश्वतोबाहु, विश्वतोमुख, विश्वतस्पात् पदों द्वारा सर्वदर्शी अंकित किया गया है। उन्हें 'धाता', 'विधाता' और 'परमसंहक्' कहा गया है। 'विश्वकर्मन्' शब्द का प्रयोग भी पहले विशेषण की तरह इन्द्र और सूर्य के लिए किया गया है, किन्तु बाद में वह सब भुवनों के रचनेवाले, ऋषि, होता और पिता के रूप में वर्णित है। विश्वकर्मा ने अपनी इच्छा से पृथ्वी की सृष्टि की और आकाश को तान दिया। ब्राह्मण ग्रन्थों में विश्वकर्मा प्रजाप्रति के तद्रूप हो गये हैं।[5]

(विस्तृत विवेचन के लिए देखिए, Presidential Address by K. Chattopadhyaya, All India Oriental Conference, Ninth Session, Section 1, Trivendram, 1937)

1. वैदिक धर्म और दर्शन, ए० बी० कीथ, अनुवादक डॉ० सूर्यकान्त, भाग 1, पृ० 257
2. अथर्व०, 4/2/8; तै० सं०, 5/5/1/2
3. वही, 4/2/8
4. ऋ०, 10/81 तथा 10/1704
5. शतपथ, 8/2/1/10 तथा 3/13; ऐतरेय, 4/22

ऋक्-संहिता के एक सूत्र (10/72) में ब्रह्मणस्पति का इसी रूप में वर्णन है और सृष्टि की प्रक्रिया बतायी गयी है। इसी प्रकार एक अन्य सूत्र में द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष की सृष्टि सविता द्वारा हुई वर्णित है।[1]

तत्त्वविद्या को यातुविद्या के साथ अनोखे ढंग से सम्मिश्रित करनेवाले अथर्ववेद ने सर्वोच्च देव के लिए नये-नये नाम लिये हैं। उदाहरणार्थ यह 'काल' को एक विश्वव्यापी सत्ता मानता है।[2] फिर सृष्टि के आधार के रूप में यह 'स्कम्भ' का आविष्कार करता है और इसे सर्वोच्च पद देता है।[3] इसी प्रकार 'प्राण' तथा 'रोहित' का भी देवीकरण और प्रजापति के साथ तादूप्य किया गया है।[4]

यज्ञ की अवधारणा

एकेश्वरवादी प्रवृत्तियों के विकास के साथ ही यज्ञ का विस्तार और जटिलता बढ़ती जा रही थी, किन्तु इससे बहुदेववादी यज्ञ की प्रतिष्ठा नहीं हुई, प्रत्युत इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि देवों की स्थिति अपेक्षाकृत कम महत्त्व की हो गयी और यज्ञ की उस संस्था के रूप में प्रतिष्ठा होती गयी, जिससे अभीप्सित फल प्राप्त होते हैं। यज्ञों में दी जानेवाली हवि उस भक्ति के साथ नहीं दी जाती थी, जिसे हम वैष्णव या मसीही प्रभाव के अन्तर्गत देखते हैं।[5] यज्ञ का स्वरूप बहुत कुछ यान्त्रिक हो गया और उस यज्ञ के सम्पादन में मामूली से मामूली त्रुटि भी अनिष्ट का कारण बन सकती थी। मन्त्र के ठीक ठीक प्रयोग तथा यज्ञीय कर्मकाण्ड का ठीक ठीक सम्पादन हो जाने पर फल-प्राप्ति अनिवार्य थी। मन्त्र और कर्मकाण्ड की इस बलवती शक्ति में विश्वास को अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने यज्ञ की 'यान्त्रिकता' के रूप में देखा है। मार्टिन हाउग के अनुसार यज्ञ 'यन्त्र थे जिनके सभी अंग एक दूसरे से ठीक-ठीक जुड़ने चाहिए थे'। कीथ के अनुसार 'यज्ञ' ब्राह्मणों में एक विशुद्ध और सरल अभिचार है।[6] अभीष्ट की पूर्ति देवानुग्रह का नहीं बल्कि यज्ञ के विधिपूर्वक सम्पादन का स्वाभाविक

---

1. ऋ०, 10/149/2
2. अथर्व०, 19/53/54
3. अथर्व०, 10/8
4. वही, 11/4 तथा 13/1-3; तै० ब्रा०, 2/5/2। देखिए, वैदिक धर्म और दर्शन, कीथ, 1-8, अनु० डा० सूर्यकान्त, प्रथम भाग, पृ० 258-59.
5. Dasgupta : A History of Indian Philosophy, Vol. I, p. 21.
6. Keith : Religion and Philosophy of the Veda and Upanisads, p. 454.

फल थी । यज्ञ-सम्पादन ऐसे 'रहस्यात्मक' फल की सृष्टि करता था, जिससे यथासमय स्वभावतः अभीष्ट की सिद्धि होती थी ।

यज्ञ वेदों की ही भाँति अनादि माने गये । विश्व की सृष्टि स्वयं स्रष्टा द्वारा किये गए यज्ञ का फल मानी गयी । यज्ञ की अवधारणा के पीछे सन्निहित दार्शनिक विचार पर अपना मत प्रकट करते हुए कीथ ने कहा है, ''विश्वविषयक इस सिद्धान्त में बहुत सी ऐसी सामग्री है, जिसे कभी भी सामान्य अर्थ में दार्शनिक नहीं कहा जा सकता, किन्तु समष्टि पर विचार करते हुए विश्वविषयक इस व्यवस्थित दृष्टिकोण को दर्शन का नाम न देने का निर्बन्ध भी निरा हठ होगा, क्योंकि यह पूर्णतः सोचा-विचारा गया है और अपनी मौलिक सीमाओं के भीतर तर्क-संवलित एवं परिनिष्ठित है ।''[1]

सम्पूर्ण विचार-पद्धति का आधार प्रजापति के साथ यज्ञ की एकरूप-स्थापना है । यज्ञ रूप में प्रजापति सर्वस्रष्टा है, देव और असुर उसके श्वास लेने और छोड़ने से उत्पन्न हुए हैं । उसी से मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, खनिज, पर्वत, पृथ्वी और स्वर्ग उत्पन्न हैं । सृष्टि यज्ञ से ही उत्पन्न हुई । वह यज्ञ-रूप होने के साथ ही यज्ञ का स्रष्टा भी है । वह प्रथम यज्ञकर्त्ता, मेध्य, पशु और यज्ञफल का प्राप्तिकर्त्ता भी है । प्रजापति न केवल स्रष्टा है, अपितु वह उनके अन्दर 'नाम रूप' का आधान करता हुआ, प्रविष्ट होकर, उन्हें अव्यवस्था से व्यवस्था में लाता है ।[2]

दूसरे दृष्टिकोण से यज्ञ यज्ञकर्त्ता का तदात्म है और यह देवों तथा प्रजापति से भी एकरूप है । यज्ञ वस्तुतः मनुष्यों के अनुरूप है और यह परिणाम ठीक ही निकाला गया है कि यज्ञ स्वयं मनुष्य का यज्ञ होना चाहिए । इससे कीथ ने निष्कर्ष निकाला है कि एक समय यज्ञ का परिनिष्ठित रूप आत्मबलि देना था ।[3] किन्तु वह स्वयं स्वीकार करते हैं कि ब्राह्मणों में इस विचार का उल्लेख नहीं है ।

वस्तुतः सन्ततिसूत्र आगे बढ़ाने के लिए जिस प्रकार मनुष्य पर पितृ-ऋण है, स्वाध्याय के लिए ऋषि-ऋण तथा आतिथ्य सत्कार के लिए मनुष्य-ऋण है, उसी प्रकार देवों के प्रति ऋण का शोधन यज्ञों से होता है । यज्ञ को 'कर्म' और 'क्रिया' कहा गया है । ब्राह्मणों की निरुक्ति के अनुसार इसका जन्म क्रिया से हुआ है, इसी कारण यह 'यज्ञ' हैं, यज्ञ यही है ।[4] यही यज्ञ प्रथमतः एकमात्र कर्त्तव्य के रूप में

---

1. Keith : Religion and Philosophy of the Veda and Upanisads, पृ० 455.
2. वही, पृ० 455.
3. वही, पृ० 459-60.
4. शत० ब्रा०, 3/9/4/23

माना गया और यह ध्रुव नियम था कि अच्छे या बुरे, नैतिक या इतर (क्योंकि ऐसे भी कर्म थे, जो शत्रु के विनाश या दूसरों के मूल्य पर अपनी समृद्धि प्राप्त करने के लिए किये जाते थे) फल के लिए किया जानेवाला विधिपूर्वक सम्पन्न यज्ञ फल अवश्य देगा। 'ऋत' के रूप में जिस 'विश्वनियम' को स्वीकार किया गया था उसका मैकडानेल ने नैतिक क्षेत्र में 'सत्य' और 'उचित' (Right) अर्थ माना है और धार्मिक क्षेत्र में यज्ञ या कर्म (Rite) तथा फल की सृष्टि का अपरिहार्य नियम माना है।[1] इसी अवधारणा में 'कर्म-सिद्धान्त' का मूल है, जिसने परवर्त्ती भारतीय दर्शन पर गहरा प्रभाव डाला। इस प्रकार संहिता-कालीन सरल विश्वास जटिल यागीय विवरण और विश्व के परम सत्य के दार्शनिक ज्ञान की ओर विकसित हुआ।

अद्वैत (Monism)

प्राचीन वैदिक सूक्तों में एक प्रदीप्त जिज्ञासा का भाव दृष्टिगोचर होता है। ऋक्-संहिता में स्थान-स्थान पर प्रश्नात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। वैदिक देवशास्त्र पर दृष्टिपात करने से ज्ञात हो जाता है कि अनेक देवताओं की स्वीकृति पर बल दिया गया, किन्तु इस विशाल देवमण्डल से वैदिक ऋषि की जिज्ञासा का समाधान न हो सका। अनेक देवों में कौन-सा देव उपास्य है,[2] यह प्रश्न सामने आया।

ब्लूमफील्ड ने वैदिक दर्शन के विकास में 'ब्रह्मोद्य' की भूमिका की चर्चा की है। 'ब्रह्मोद्य' एक प्रकार की पहेली के रूप में थे, जिन्हें यज्ञ के अवसर पर पूर्वनिश्चित रूप में प्रश्नकर्त्ता ऋत्विज् पूछता था और अन्य ऋत्विज् उत्तर देता था। इनके विषयों में देवशास्त्रीय मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक प्रश्न भी होते थे। ऋक्-संहिता में एक पूरा सूक्त (1/164) इसी प्रकार का है। ब्लूमफील्ड मानते हैं कि दार्शनिक मीमांसा का आरम्भ उपनिषद् के पूर्व बहुदेववादी और कर्मकाण्डीय धर्म में ही हो गया था। दूसरी ओर एक अन्य प्रवृत्ति के भी दर्शन होते हैं, जिसे 'वैदिक स्वतन्त्र चिन्तन' का नाम दिया गया है।[3] यह कहीं अविश्वास के रूप में और कहीं संशय के रूप में प्रकट हुई है। अविश्वास करनेवालों की 'ब्रह्मद्विष्', 'देवनिद्' तथा 'अपव्रत' कहकर निन्दा की गई है। इन्द्र के प्रति अश्रद्धालु जनों को इन्द्र की सत्ता और श्रेष्ठता का विश्वास दिलाते हुए एक सूक्त में ऋषि अश्रद्धालुओंसे उसपर श्रद्धा रखने को कहता है, किन्तु एक अन्य सूक्त में 'देवभक्तों' को स्वार्थी, प्रलापी और अपने आपको भ्रम में डालनेवाला पुरोहित[4] कहकर उपहास किया गया है।

---

1. Macdonell : Vedic Mythology, p. 11.
2. "कस्मै देवाय हविषा विधेम", ऋ०, 10/121/1.
3. Religion of Veda, Bloomfield, pp. 215-220 and 187.
4. ऋ०, 10/82

जिज्ञासा, अविश्वास और संशय की इन प्रवृत्तियों से ही दार्शनिक चिन्तन का विकास होता है। एक ओर तो इनसे एक सर्वोच्च सत्ता की कल्पना हुई, किन्तु यह एकेश्वरवाद भी प्रश्नों का पूर्ण समाधान न कर सका। यदि एक सर्वोच्च देव के नीचे सभी देवों को मान लें तो भी प्रश्न उठते हैं—"प्रथम उत्पन्न देव को किसने देखा ?" "कौन इसे जानता है ?" "कौन बतायेगा ?" "कहाँ से वह पैदा हुआ ?" "कहाँ से आया ?" स्वयं देवता भी इसके बन जाने के बाद आये हैं, फिर कौन जानता है कि यह कहाँ से आया ?[1]

दर्शन शास्त्र की मूलभूत समस्या है कि जीवन क्या है ? अथवा विश्व का तत्त्व क्या है ? इन प्रश्नों का कोई बँधा-बँधाया उत्तर स्वीकार नहीं किया जा सकता। आध्यात्मिक यथार्थ सत्ता का अनुभव करना और ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। सर्वोच्च देववाद अथवा एकेश्वरवाद इन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त कराने में तथा वैदिक विचारकों को अन्तिम रूप से सन्तुष्ट करने में असमर्थ रहा।

एकेश्वरवाद की एकता से भी ऊँची धारणा अद्वैतवाद या एकवाद (Monism) में प्राप्त होती है। उपनिषदों में यह धारणा पूरी तरह विकसित हुई किन्तु संहिता के युग में भी इसका पूर्वाभास अनेकशः प्राप्त होता है। संहिताओं में अद्वैतवादी विचार-धारा के दो पृथक् रूप प्राप्त होते हैं—एक सर्वेश्वरवाद के रूप में और दूसरा दार्शनिक कारणता के सिद्धान्त की स्वीकृति के रूप में।

सर्वेश्वरवादी विचारधारा में प्रकृति का ईश्वर से अभेद कर दिया जाता है। इसकी सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति ऋक्-संहिता के उस सूक्त में मिलती है जहाँ अदिति (शाब्दिक अर्थ बन्धनराहित्य या बन्धन से मुक्ति) को द्यौस्, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, सौर, देवों, सारे मानवों, जो कुछ जात है और जो कुछ भावी है, सभी के रूप में देखा गया है।[2]

इस धारणा के उदाहरण के रूप में 'पुरुष सूक्त' (ऋ०, 10/90) को उद्धृत करना एक सीमा तक ही ठीक है, क्योंकि इस सूक्त में आरम्भ में ही 'पुरुष' के लोकातीत स्वरूप पर बल दिया गया है। सर्वेश्वरवादी अवधारणा में प्रकृति और ईश्वर के उस भेद का निषेध है, जिसे एकेश्वरवाद में अनिवार्य रूप से माना जाता है। सर्वेश्वरवाद में ईश्वर को प्रकृति से अतीत नहीं, बल्कि उसमें व्याप्त माना गया है। विश्व ईश्वर से उत्पन्न नहीं बल्कि ईश्वररूप है। यद्यपि इस सिद्धान्त का उद्देश्य एकत्व

---

1. ऋक्०, 10/129/7
2. ऋक्संहिता, 1/89/10

का अभ्युपगम करना है, तथापि यह प्रकटतः कुछ असङ्गति के साथ ईश्वर और प्रकृति, दोनों प्रत्ययों को अपने अन्दर सँजोए हुए है और इसलिए सच्चे एकत्व की खोज में लगी बुद्धि को सन्तुष्ट करने में असफल रहता है ।[1]

इसी बौद्धिक असन्तोष से प्रेरित एकत्व की एक अन्य धारणा भी ऋक्-संहिता में ही प्राप्त होती है, जिसे हम 'नासदीय सूक्त' में पाते हैं ।[2] यह सूक्त अपने दार्शनिक विचार के कारण विद्वानों द्वारा अत्यधिक प्रशंसित हुआ है । सूक्त इस प्रकार है—

"नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ।।
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राज्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ।।
तम आसीत्तमसागूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छेनाम्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ।।
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।।
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरिस्विदासीत् ।
रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ।।
को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथ को वेद यत आबभूव ।।
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न दधे ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ।।

उस समय न सत् था और न असत् ही । आकाश नहीं था और न उससे ऊपर का व्योम (Heavan) । किसने आवृत कर रखा था ? वह कहाँ था और किसके आश्रय में था ? क्या वह गम्भीर जल था (जिसमें यह सब स्थिर था) ?

मृत्यु भी नहीं थी, इसलिए कुछ अमर भी नहीं था, रात और दिन के बीच प्रकाश (भेदक) भी नहीं था, वह एक श्वास के बिना अपने से श्वसित था, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं था ।

उस समय अन्धकार था, आरम्भ में यह सब प्रकाश रहित समुद्र था, वह बीज जो भूमि से ढका था वह एक उष्मा (तपस्) की शक्ति से उत्पन्न हुआ था ।

---

1. देखिए, हिरियन्ना : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० 40.
2. ऋक्-संहिता, 10/129

आरम्भ में काम ने उसे आविर्भूत किया, जो मनस् से उत्पन्न बीज था; कवियों ने अपने हृदय में अन्वेषण के पश्चात् बुद्धि द्वारा असत् में सत् के बन्ध को जाना।

उनकी किरण, जो पार तक फैली थी, क्या ऊपर थी ? या नीचे थी ? बीज को धारण करनेवाले थे, शक्तियाँ थीं, आत्मशक्ति नीचे थी और इच्छाशक्ति ऊपर।

तब फिर जानने वाला कौन है, किसने इसकी यहाँ घोषणा की, कहाँ से यह सृष्टि उत्पन्न हुई ? देवता इस सृष्टि के बाद आये, तो फिर कौन जानता है कि यह कहाँ से प्रादुर्भूत हुई ?

जिससे इस सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ, उसने बनाया या नहीं बनाया, उच्चतम व्योम में ऊँचे से ऊँचा देखनेवाला, वही यथार्थ रूप से जानता है या क्या वह भी नहीं जानता[1] ?

इस सूक्त का अनुवाद अत्यन्त दुरूह है और इसके विभिन्न अनुवादों में बहुत अन्तर भी है। तथापि इसमें निहित दार्शनिक विचार के समीप हम उपर्युक्त अनुवाद द्वारा पहुँच सकते हैं। इस सूक्त में अद्वैतवादी अथवा एकवादी विचारधारा का सार दिखाई देता है। यहाँ स्पष्टतः विश्व के दार्शनिक कारण की मीमांसा की गयी है और न केवल सम्पूर्ण ब्राह्मण की उत्पत्ति एक मूल कारण से मानी गयी है, बल्कि उसका स्वरूप निर्धारित करने की चेष्टा भी की गयी है। हिरियन्ना ने इस सूक्त के सम्बन्ध में इस प्रकार अपने विचार व्यक्त किये हैं :

"यहाँ सत्-असत्, जीवन-मृत्यु, पुण्य-पाप इत्यादि सारे द्वन्द्वों का इस आधारभूत तत्त्व के अन्दर ही विकसित होना और फलतः उनके विरोधों का परमार्थतः इस तत्त्व में परिहार माना गया है। विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यहाँ यह मत नहीं अपनाया गया कि कोई बाह्य कर्त्ता इसकी सृष्टि करता है, बल्कि यह मत प्रस्तुत किया गया है कि दृश्य जगत् अनुभवातीत कारण का स्वतः विस्तार है। यह धारणा नितान्त अपुरुषपरक है। सर्वेश्वरवाद में ईश्वरवाद की जो छाया है, उस तक का इसमें अभाव है[2]।"

ऋक्-संहिता में केन्द्रीय तत्त्व को नपुंसक लिङ्ग शब्द 'सत्' से कहा गया, यह प्रदर्शित करने के लिए कि वह लिङ्गातीत है। उन्हें इस बात का निश्चय हो गया था कि ऐसी यथार्थ सत्ता अवश्य है, जिसकी अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि केवल भिन्न संज्ञाएँ

---

1. Six Systems of Indian Philosophy, p. 65.
2. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० 42.

था रूप हैं।[1] असत् से सत् की उत्पत्ति की अवधारणा एकेश्वरवादी विचार में ही प्राप्त होने लगती है[2], किन्तु ऋक्-संहिता के दशम मण्डल के पाँचवें सूक्त में अग्नि की सत् और असत् दोनों रूपों में कल्पना की गयी है। यहाँ सत् और असत् का विरोध मिट जाता है। 'नासदीय सूक्त' के आरम्भ में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में उस उन्नत सिद्धान्त की स्थापना है। प्रारम्भ में न सत् था और न ही असत्। सत् भी अपने अभिव्यक्त रूप में नहीं था। केवल इसीलिए हम उसे असत् नहीं कह सकते, क्योंकि वह एक निश्चित सत्ता है, जिसमें सब पदार्थ आविर्भूत हुए। पहली पंक्ति में हमारे सिद्धान्तों की अपूर्णता प्रदर्शित की गयी है। परमात्मा को, जो समस्त विश्व की पृष्ठभूमि में है, हम सत् अथवा असत् किसी भी रूप में 'ठीक-ठीक' नहीं जान सकते।[3] इस सूक्त में दो अत्यधिक सतर्कता से प्रयुक्त पद हैं—'तत्' और 'एकम्'। ये परमतत्त्व के भावात्मक और एकात्मक स्वरूप के अतिरिक्त और किसी बात का संकेत नहीं करते। विचार का यह स्तर हमें अद्वैतवादी चिन्तन के द्वार पर पहुँचा देता है, जो उपनिषद् में प्राप्त होता है।[4]

सृष्टि विभाग

ऋक्-संहिता के सृष्टि विषयक विचार को दो रूपों में देखा जा सकता है—पुराकथाशास्त्रीय और दार्शनिक। प्रोफेसर मैकडानेल ने दो भिन्न प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में कहा है, "एक तो विश्व को यान्त्रिक निर्माण का परिणाम समझता है—तक्षा और जोड़नेवाले का कौशल कार्य; दूसरा इसे स्वाभाविक सर्जन के परिणाम रूप में प्रस्तुत करता है।"[5]

मनुष्य और प्रकृति दोनों समान रूप से चिन्तन का विषय बने। बाह्य जगत् की सत्यता में कभी सन्देह नहीं किया गया। इसे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में विभक्त एक व्यवस्थाबद्ध समष्टि के रूप में ही देखा गया। यद्यपि देवता अनेक हो सकते हैं और वे अपने अपने विभाग का शासन कर सकते हैं, किन्तु जिस विश्व का

---

1. ऋक्०, 1/164/46। देखिए, Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. I, p. 94.
2. देखिए, ऋक्०, 10/72/2 : ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।
   देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायते॥
3. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. I, p. 101.
4. हिरियन्ना : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० 42.
5. Vedic Mythology, p. 11.

वे शासन करते हैं, वह एक है। प्रकृति में सन्निहित इस एकत्व के बोध से एकेश्वरवादी और अद्वैतवादी विचार बलवान् होते गये।

सृष्टि-क्रम के अनेक वर्णन ऋक्-संहिता में मिलते हैं। प्रत्येक परिवर्तनशील पदार्थ के प्रथम आधार के रूप में उन्होंने यूनानी दार्शनिकों की ही भाँति जल, वायु, अग्नि आदि को ही मौलिक तत्त्व माना, जिनसे जगत् की उत्पत्ति हुई।[1] किन्तु कदाचित् पृथिव्यग्नि, वैद्युताग्नि और सौराग्नि की एकता के अनुभव से उन्हें ज्योतिःस्वरूप अग्नि के एकत्व का बोध हुआ।[2]

सृष्टि की प्रक्रिया को पहले ठीक उसी रूप में देखा गया, जैसे कोई तक्षा गृह का निर्माण करता है। एक स्थल पर प्रश्न किया गया है, "तब कौन सा वृक्ष था, कौन सा वन था, जिससे उन्होंने द्यावा-पृथिवी का तक्षण किया? ओ मनीषियो, अपने मन से पूछो, वह क्या था जिसपर भुवनों को धारण करता वह खड़ा था?"[3] तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसका उत्तर दिया गया, "ब्रह्मन् ही वह वृक्ष था और ब्रह्मन् ही वन जिससे द्यावापृथिवी निर्मित हुए।"[4] सविता और विष्णु को द्युलोक को 'स्कम्भ' (खम्भे) पर दृढ़ करते वर्णित किया गया है।[5]

यज्ञ की अवधारणा के विकास के साथ सृष्टि-प्रक्रिया को 'यज्ञ' के रूप में कल्पित किया गया। 'पुरुषसूक्त' (ऋ०, 10/90) में पुरुष को विश्व में व्याप्त होकर भी उसे दस अंगुल अतिक्रान्त बताया गया। पुरुष ही भूत, भावी सब कुछ है और अमृत तथा अन्न से बढ़नेवाले का स्वामी है। उसका एक चौथाई यहाँ है और तीन चौथाई स्वर्ग में। आगे चलकर इसमें विराट् और उससे पुनः पुरुष की उत्पत्ति बतायी गयी है। यह कहा गया है कि पुरुष की हवि बनाकर किये गये यज्ञ से ब्रह्माण्ड की समस्त वस्तु को रचने की सामग्री प्राप्त हुई। "चन्द्रमा उसके मन से उत्पन्न हुआ, उसकी आँख से सूर्य उत्पन्न हुआ, उसके मुख से इन्द्र और अग्नि पैदा हुए और उसके प्राण से वायु। उसकी नाभि से अन्तरिक्ष, उसके शीर्ष से द्यौस्, उसके चरणों से पृथ्वी और उसके श्रोत्र से दिशाएँ उत्पन्न हुईं।" यह वास्तव में दृश्य जगत् का उसके भागों में विश्लेषण है।

---

1. ऋक्०, 10. 190
2. ऋक्०, 6/9/7, 1/164/37, 10/5/7
3. ऋक्०, 10/81/4
4. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 2/8/9/6
5. ऋक्०, 10/149/1; देखिए Vedic Mythology, p. 11.

सर्वोच्चदेववाद या एकेश्वरवाद और अर्धसर्वेश्वरवाद के स्तर तक पहुँचने पर यह प्रश्न उठता है कि क्या परम सत्ता पूर्वस्थित प्रकृति को उपादान के रूप में प्रयुक्त कर सृष्टि का निर्माण करती है या अपने निजी स्वभाव से किसी पूर्वस्थित्त सामग्री के बिना आविर्भूत करती है ? "हिरण्यगर्भ सूक्त" में हिरण्यगर्भ प्रकृतिरूपी उपादान कारण से सृष्टि का निर्माण करानेवाला वर्णित है।[1] किन्तु पूर्ववर्णित "नासदीय सूक्त" में सृष्टि का अत्यन्त उन्नत सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। "नासदीयसूक्त" द्वैतपरक आध्यात्मिक ज्ञान का अतिक्रमण कर उच्चतर अद्वैतवाद को स्वीकार करता है। यह प्रकृति और आत्मा दोनों को ही परम सत्ता के दो रूप बतलाता है। परम सत्ता अपने आपमें न तो 'अहम्' है और न 'अहम्' का अभाव है, न तो 'अहम्' की प्रकृति की स्वयं चेतना है और न ही 'अहम्' के अभाव के रूप की चेतनाहीनता है। यह इन दोनों से उच्च श्रेणी की है। यह श्रेष्ठतर चेतना है। विरोध का विकास स्वयं इसी के अन्दर हुआ है। डॉ० राधाकृष्णन्[2] के अनुसार इस सूक्त में कालरहित पूर्ण सदा शृंखलाबद्ध सत्ताओं में प्रकट होता वर्णित है। यह सूक्त हमें सृष्टि-निर्माण की विधि बतलाते हुए सृष्टिरूपी घटना की व्याख्या करता है। इस सूक्त के सृष्टि-विषयक विचार के समान ही विचार 'शतपथ ब्राह्मण' में भी प्राप्त होता है, जहाँ कहा गया है कि आरम्भ में न तो सत् और न असत् था।[3] अथर्व-संहिता में भी 'स्कम्भ' में विश्व के सभी रूपों को सन्निहित बताया गया है।[4]

ऋक्-संहिता में जगत् को मिथ्या मानने के विचार का संकेत नहीं मिलता। सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि के परवर्ती विचार का भी प्रतिपादन नहीं है। यद्यपि ऋक्-संहिता में इस तरह के विचार की झलक सी प्रतीत होती है, तथापि इनकी अन्य तरह से व्याख्या भी की गयी है।[5]

नीतिशास्त्र एवं परलोक-विषयक धारणा

ऋक्-संहिता में प्रतिपादित नीति-विचार में 'ऋत' का महत्त्व बहुत अधिक है। 'ऋत' की अवधारणा बाद में भारतीय दर्शन में स्वीकृत 'कर्म सिद्धान्त' का पूर्व रूप है। 'ऋत' का स्वरूप पहले ही विवेचित किया जा चुका है। यदि कोई सर्व-

---

1. ऋक्०, 10/121
2. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. I, p. 103.
3. शत० ब्रा०, 10/5/3/1
4. अथर्व०, 10/7/10
5. ऋक्-संहिता, 10/190/3

कालावस्थायी नियम या व्यवस्था है, तो उसे व्यवहार में आना ही चाहिए। यदि यह व्यवस्था है, तो अन्याय या अव्यवस्था पर्यवसायी रूप में नहीं रह सकते, उनका अन्त और पराजय सुनिश्चित है। वैदिक ऋषि ने वरुण को 'ऋत' का रक्षक माना था और जैसे धार्मिक क्षेत्र में 'ऋत' यज्ञ के रूप में अभिव्यक्त है और विश्व के स्तर पर सबका जनक है, उसी प्रकार सदाचार के स्तर पर वही सत्य, व्यवस्था और औचित्य है। 'अनृत' उसका विपरीत है। अवस्थित आवरण ही सत्यव्रत है। कर्मकाण्ड का महत्त्व बढ़ने के साथ ही 'ऋत' यज्ञात्मक अनुष्ठान का पर्यायवाची हो गया। यज्ञ को अभीष्ट की सिद्धि का अमोघ साधन माना गया, इसलिए जीवन की व्यवस्था में उसे प्रधान स्थान मिला।

देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण को माना गया था। देवों के प्रति कर्त्तव्य की पूर्ति यज्ञ के सम्पादन से होती है। ऋषि-ऋण का तात्पर्य है कि प्राचीन पुरुषों के प्रति सांस्कृतिक दाय के लिए ऋण है, जिसे हम स्वाध्याय के द्वारा उस परम्परा को ग्रहण कर, उसे आगे की पीढ़ी तक पहुँचाकर अनृण हो सकते हैं। 'पितृ-ऋण' से अनृण्य सन्तति के सूत्र को आगे बढ़ाकर प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार मनुष्यों के प्रति भी हमारे कर्त्तव्य हैं। अतिथि सत्कार के द्वारा उसका एक पक्ष पूर्ण होता है। सबके प्रति दया की भावना का कर्त्तव्य के रूप में विधान है। इसी के साथ परोपकार और दान के महत्त्व को समझा गया।[1] इनके द्वारा वैदिक युग में कर्त्तव्य की धारणा स्पष्ट हो जाती है।

ऋक्-संहिता में वैराग्य की प्रवृत्ति के संकेत भी मिलते हैं। वहाँ लम्बे बाल और रंगीन वस्त्रवाले मुनियों का उल्लेख है।[2] इन्द्र ने भी तपस्या के बल पर अन्तरिक्ष लोक को प्राप्त किया।[3]

परवर्ती जीवन में यज्ञ को अत्यधिक प्राधान्य मिलने के कारण कुछ विद्वानों के अनुसार नैतिक विचारों की उपेक्षा हुई और कर्मकाण्ड का महत्त्व बढ़ गया। किन्तु कर्मकाण्ड की यह महत्त्व-वृद्धि ही वैदिक युग का एकमात्र पक्ष नहीं है। परवर्ती युग में भी नैतिक विचार समाप्त नहीं होते, अपितु यह समझा जाता है कि देवता विश्व-व्यवस्था के साथ नैतिक व्यवस्था को भी बनाये रखते हैं।

वैदिक विश्वास में इस लोक में प्राप्त होनेवाले पुरस्कार और दण्ड के अतिरिक्त प्राचीन परलोक-विषयक धारणा का भी अस्तित्व था। यह विश्वास था कि मृत्यु ही

1. ऋ०, 10/117/6
2. वही, 10/136/2
3. वही, 10/127

अन्त नहीं है। यह माना गया है कि पुण्य करनेवाले और पापी, दोनों ही परलोक में जाते हैं। सदाचार और धर्माचरण के फल के रूप में स्वर्ग में देवों के साथ सुखोपभोग प्राप्त होता है। इस लोक में जाने के लिए प्रार्थना की गयी है, जहाँ देवभक्त लोग मतवाले बने रहते हैं। बाद में पुण्यशील पितरों के लोक में इस आनन्द की प्राप्ति बतायी गयी है। यम पितृलोक का अधिपति बताया गया है। देवयान और पितृयान का वर्णन ऋक्-संहिता में एक स्थल पर आया है।[1]

नरक की स्पष्ट धारणा ऋक्-संहिता में नहीं है, यद्यपि पाप का दण्ड शाश्वत यातना को स्वीकार किया गया है। वरुण पापियों को गहरे गढ़े में ढकेल देते हैं और इन्द्र भी अपने उपासकों को पीड़ा पहुँचानेवाले को अन्धकार में डाल देते हैं किन्तु नरक की वह कल्पना ऋक्-संहिता में नहीं है जो बाद में पुराणों में आयी है। ब्राह्मणों और अथर्व-संहिता में सर्वदा तमसावृत रहनेवाले अधोलोक की कल्पना है, जबकि स्वर्ग में प्रकाश रहता ही है। आत्मा की अमरता में विश्वास था और यह माना गया कि मृत्यु के साथ ही अन्त नहीं हो जाता, अपितु अपने कर्मों के अनुसार सुख या दुःख भोगने के लिए परलोक जाना पड़ता है। यह विश्वास उत्तरवर्त्ती दार्शनिक विकास का आधार बना, किन्तु यह स्पष्ट है कि ऋक्-संहिता में पुनर्जन्म के विचार का संकेत नहीं मिलता।

●

1. ऋ०, 10/88/15

अध्याय 2

उपनिषद्-दर्शन

1. उपनिषद्-साहित्य

सामान्यतः एक सौ आठ उपनिषद् उपलब्ध हैं, जिनके नाम सबसे पहले मुक्तिकोपनिषद् में गिनाये गये हैं। किन्तु गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई से मुद्रित उपनिषद्-वाक्य-महाकोष में दो सौ तेईस उपनिषदों के नाम दिये गये हैं, जिनमें से दो उपनिषद् (उपनिषद्-स्तुति और देव्युपनिषद्) अभी तक अनुपलब्ध हैं और मांडूक्य-उपनिषद् से पृथक् करके मांडूक्यकारिका के चारों प्रकरणों के नाम चार बार गिने गये हैं। इस प्रकार कुल दो सौ अट्ठारह उपनिषद् होते हैं। फिर, गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित 'कल्याण' के उपनिषद्-अंक में दो सौ बीस उपनिषदों के नाम दिये गये हैं। सम्भव है, और भी उपनिषद् हों, जिनका प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है।

उपनिषदों का वर्गीकरण वेद की शाखा के अनुसार किया जाता है। मुक्तिकोपनिषद् में कहा गया है कि ऋग्वेद की इक्कीस शाखायें हैं, यजुर्वेद की एक सौ नौ शाखायें हैं, सामवेद की एक सहस्र और अथर्ववेद की पचास। फिर वहीं यह भी कहा गया है कि प्रत्येक शाखा का एक-एक उपनिषद् है। इस प्रकार कुल एक हजार एक सौ अस्सी शाखायें हैं और उनके अनुसार एक हजार एक सौ अस्सी उपनिषद् भी हैं। किन्तु न तो वेद की ये सभी शाखायें उपलब्ध हैं और न इतने उपनिषद् ही उपलब्ध हैं।

उपलब्ध शाखाओं के निम्नलिखित मुख्य उपनिषद् हैं।

वेद	शाखा	उपनिषद्
ऋग्वेद	शाकल	ऐतरेय
,,	वाष्कल	कौषीतकि और वाष्कल मंत्रोपनिषद्
सामवेद	कौथुम	छांदोग्य उपनिषद्
	जैमिनीय	केनोपनिषद्

कृष्ण यजुर्वेद	तैत्तिरीय	तैत्तिरीय और महानारायण उपनिषद्
	मैत्रायणी	मैत्रायणी उपनिषद्
	कठ	कठोपनिषद्
	श्वेताश्वतर	श्वेताश्वतरोपनिषद्
शुक्ल यजुर्वेद	काण्व	ईशावास्योपनिषद् और बृहदारण्यक उपनिषद्
	माध्यंदिन	ईशावास्य और बृहदारण्यक उपनिषद्
अथर्ववेद	पिप्पलाद	प्रश्नोपनिषद्
	शौनक	मुंडक उपनिषद् और मांडूक्योपनिषद्

उपलब्ध उपनिषदों का आजकल कई प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है। पहला वर्गीकरण वेदानुसार है। ऐतरेय, कौषीतकि आदि दस उपनिषद् ऋग्वेद के हैं; ईश, बृहदारण्यक आदि उन्नीस उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद के हैं, कठ, तैत्तिरीय आदि बत्तीस उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद के हैं, केन, छांदोग्य, मैत्रायणी आदि सोलह उपनिषद् सामवेद के हैं तथा प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य आदि इकत्तीस उपनिषद् अथर्ववेद के हैं। इस प्रकार मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार एक सौ आठ उपनिषदों का वर्गीकरण है।

उपनिषदों का दूसरा वर्गीकरण सम्प्रदाय के आधार पर किया जाता है। अडयार लाइब्रेरी, मद्रास से संन्यास-उपनिषद्, योग-उपनिषद्, वेदान्त-उपनिषद् और वैष्णव-उपनिषद् शीर्षकों से उपनिषदों के चार संग्रह प्रकाशित हैं। शैव-उपनिषद् और शाक्त-उपनिषद् भी इसी योजना में जोड़े जा सकते थे जो किसी कारणवश प्रकाशित नहीं किये जा सके। वास्तव में मूलतः केवल वेदान्त-उपनिषद् ही थे। कालान्तर में जब वैष्णव-मत, शैव-मत, शाक्त-मत, सौर-मत, गाणपत्य-मत और ब्राह्म-मत के सम्प्रदाय विकसित हुए तो इनके अपने-अपने उपनिषद् प्रकाश में आये। इन सबका विचार करने से उपनिषदों को नौ वर्गों में बाँटा जा सकता है जो क्रमशः वेदान्त-उपनिषद्, योग-उपनिषद्, संन्यास-उपनिषद्, वैष्णव-उपनिषद्, शैव-उपनिषद्, शाक्त-उपनिषद्, ब्राह्म-उपनिषद्, सौर-उपनिषद् और गाणपत्य-उपनिषद् कहे जा सकते हैं।

मुक्तिकोपनिषद् में कहा गया है कि सभी उपनिषदों में मांडूक्य ही मुमुक्षुओं के लिए पर्याप्त है और यदि उससे ज्ञान की प्राप्ति न हो सके तो दस उपनिषदों को पढ़ना चाहिए। पुनः यदि दस उपनिषदों के अध्ययन से भी ज्ञान न मिले तो बत्तीस उपनिषदों को पढ़ना चाहिए। अन्त में यदि इसपर भी ज्ञान न प्राप्त हो तो एक सौ

आठ उपनिषदों को पढ़ना चाहिए। इस वर्णन से सिद्ध है कि कभी ज्ञान-प्राप्ति के दृष्टिकोण से क्रमशः एक उपनिषद्, दस उपनिषद्, बत्तीस उपनिषद् और एक सौ आठ उपनिषदों का पाठ और अभ्यास किया जाता था। आचार्य गौड़पाद ने केवल मांडूक्य-उपनिषद् को ही लिया और उसी पर अपना स्वतन्त्र भाष्य लिखा। आचार्य शंकर ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांदोग्य और बृहदारण्यक, इन दस उपनिषदों को लिया और उनपर अपने भाष्य लिखे। सम्भव है, किसी अन्य आचार्य ने बत्तीस उपनिषदों पर भी भाष्य लिखा हो और किसी और ने एक सौ आठ उपनिषदों पर। कुछ भी हो, शंकराचार्य ने जिन दस उपनिषदों पर भाष्य लिखे हैं वे अत्यन्त प्राचीन उपनिषद् हैं। यहाँ उन्हीं के दर्शन को प्रधानतया उपनिषद्-दर्शन कहा जायगा।

2. उपनिषदों का काल

सभी उपनिषदों का काल एक ही नहीं है। अल्लोपनिषद् की रचना सम्राट् अकबर के समय में की गयी और मठाम्नायोपनिषद् की रचना (किन्हीं ?) शंकराचार्य ने की; वज्रसूचिकोपनिषद् की रचना अश्वघोष ने की या उनके समय में की गयी। इसी प्रकार राधोपनिषद् की रचना उस समय हुई जब भक्ति काल में भारत के धार्मिक साहित्य में राधा का प्राकट्य हुआ। इसी प्रकार अनेक उपनिषदों के बारे में कहा जा सकता है कि वे शंकराचार्य के बाद के हैं।

डॉ० पाल डायसन ने उपनिषदों का काल निश्चित करते हुए उन्हें चार क्रमिक युगों की रचना माना है।[1] इन चार कालों में जिन उपनिषदों की रचनाएँ हुईं वे यों हैं—

(1) **प्राचीन गद्यात्मक उपनिषद्**—जिनमें क्रमशः बृहदारण्यक और छांदोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौषीतकि और केन आते हैं।

(2) **पद्यात्मक उपनिषद्**—जिनमें कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मुंडक और महानारायण आते हैं।

(3) **परवर्ती गद्यात्मक उपनिषद्**—जिनमें प्रश्न, मैत्रायणी और मांडूक्य आते हैं।

(4) **परवर्ती अथर्ववेदी उपनिषद्**—जिनमें गर्भ, प्राणाग्निहोत्र, पिंड आदि अधिकांश उपनिषद् आते हैं।

चौथे वर्ग के उपनिषद् शंकराचार्य के परवर्ती हैं और प्रथम तीन वर्गों के उपनिषद् प्राचीन उपनिषद् कहे जाते हैं। पाल डायसन ने दिखलाया है कि बादरायण ने छांदोग्य, बृहदारण्यक, कठ, तैत्तिरीय, कौषीतकि, मुंडक और प्रश्न उपनिषदों का

1. दि फिलासफी आव् दि उपनिषद्, पाल डायसन, 1906, पृ० 23-26.

उपयोग अपने ब्रह्मसूत्र में किया है।[1] इससे स्पष्ट है कि प्रथम तीन वर्ग के चौदह उपनिषद् अत्यन्त प्राचीन हैं। वास्तव में वे बादरायण से बहुत पहले के हैं। वे गौतम बुद्ध के भी पहले के हैं। इन चौदह उपनिषदों में एक उपनिषद् मैत्रायणी-उपनिषद् है जिसको पाल डायसन ने प्राचीन उपनिषदों के अन्तिम वर्ग में रखा है। इस उपनिषद् में एक वाक्य है—मघाद्यम् शविष्ठार्धम् आगनेयम् क्रमेण ।[2] इस वाक्य से लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने सिद्ध किया है कि मैत्रायणी उपनिषद् का काल 1200 या 1400 ई० पू० है। इस वाक्य का अर्थ है कि माघ नक्षत्र के आरम्भ से क्रमशः धनिष्ठा नक्षत्र के आधे भाग तक पहुँचने तक दक्षिणायन होता है। उदगयन की स्थिति बतानेवाला यह वाक्य निश्चित ही उसी समय रचा गया होगा जब उदगयन की वैसी स्थिति रही होगी। इस आधार पर गणना करके तिलक जी ने सिद्ध किया कि मैत्रायणी उपनिषद् का काल 1200 या 1400 ई० पू० है।[3] कुछ भी हो, इस बात पर आजकल प्रायः सभी विद्वानों में मतैक्य है कि 14 प्राचीन उपनिषदों का काल निश्चय ही गौतम बुद्ध के पहले है। इन्हीं चौदह उपनिषदों के दर्शन का विवेचन हम यहाँ करेंगे। अन्य अधिकांश उपनिषदों के दर्शन हमारे मत से उपनिषद्-काल के दर्शन नहीं हैं। वे परवर्ती युगों में रचे गये और अपने युग की दार्शनिक विचारधारा को व्यक्त करते हैं। उनके दर्शनों का विवेचन इस पुस्तक के अन्य अध्यायों में प्रकारान्तर से हो गया है।

3. उपनिषद् का अर्थ

उपनिषद् शब्द के मुख्य अर्थ के बारे में विवाद है। इस प्रसंग में निम्नलिखित चार मत प्रचलित हैं :

(1) ओल्डेनवर्ग का मत है कि उपनिषद् का अर्थ उपासना है। यहाँ ब्रह्म या आत्मा का ध्यान करना उपनिषद् है। किन्तु पाल डायसन ने ठीक ही इस मत के खंडन में कहा है कि (i) उपासना में उप + आस् और उपनिषद् में उप + सद् दो भिन्न-भिन्न धातुएँ हैं, (ii) आत्मा उपास्य नहीं है तथा (iii) आत्मा जिज्ञास्य है।[4] अतः यह मत ठीक नहीं है।

---

1. वेदान्त-दर्शन, पाल डायसन (हिन्दी अनुवाद, संगमलाल पाण्डेय), हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, 1971, पृ० 119–120.
2. मैत्रायणी उपनिषद् 6, 14
3. गीतारहस्य, बाल गंगाधर तिलक, 10 वाँ संस्करण, 1955, पृ० 577–579.
4. दि फिलासफी आव् दि उपनिषद्, पाल डायसन, पृ० 13–15.

(2) शंकराचार्य[1] का मत है कि उपनिषद् का अर्थ ब्रह्मविद्या है क्योंकि वह संसार का अत्यन्त उच्छेद करती है और जिन ग्रन्थों का प्रयोजन ब्रह्मविद्या है उनको भी उपनिषद् कहा जाता है। इस प्रकार उनके मत से उपनिषद् का वाच्यार्थ ब्रह्मविद्या है और लक्ष्यार्थ ब्रह्मविद्या-विषयक ग्रन्थ। अन्यत्र[2] उन्होंने उपनिषद् शब्द की निरुक्ति देते हुए कहा है कि उप और नि उपसर्ग के साथ सद् धातु में क्विप् प्रत्यय लगाकर उपनिषद् शब्द बनता है। सद् धातु के तीन अर्थ हैं—नाश करना, ले जाना और शिथिल करना। जो विद्या विद्यार्थी को ब्रह्म के पास ले जाती है, संसार-बीज का विनाश करती है और पुनर्जन्म करानेवाले कर्मों को शिथिल करती है वह उपनिषद् है। फिर वहीं शंकराचार्य यह भी कहते हैं कि उपनिषद् के ये लक्षण किसी ग्रन्थ में सम्भव नहीं हैं इसलिए अभिधावृत्ति से उपनिषद् का अर्थ ब्रह्मविद्या ही है; कारण, ब्रह्मविद्या में उपनिषद् के ये तीनों लक्षण मिलते हैं। फिर उनका कहना है कि लक्षणा-वृत्ति के द्वारा जिस ग्रन्थ में ब्रह्मविद्या का वर्णन रहता है उसको भी उपनिषद् कहा जाता है। शंकराचार्य के इस मत को उनके शिष्य सुरेश्वर ने अच्छे शब्दों में अभिव्यक्त किया है।[3] डॉ॰ पाल डायसन ने शंकराचार्य के उपर्युक्त निर्वचन को भाषा-विज्ञान और इतिहास के आधार पर अप्रमाणित बतलाया है।

(3) डॉ॰ पाल डायसन ने उपनिषद् के बारे में हिन्दू मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि उपनिषद् का मुख्य अर्थ किसी जिज्ञासा को लेकर गुरु के समीप (उप) निश्चय के लिए (नि) बैठना (सद्) है। इस प्रकार का बैठना प्रायः एकान्त में (रहसि) होता था और गुरु शिष्य को किसी गोपनीय विद्या की शिक्षा देता था। इस कारण बाद में चलकर इस रहस्यमयी विद्या या शिक्षा के लिए उपनिषद् शब्द का प्रयोग होने लगा। अन्त में जिन ग्रन्थों में यह विद्या है उनको भी उपनिषद् कहा जाने लगा।[4]

(4) पाल डायसन ने तीसरे मत का समर्थन करते हुए निश्चित किया है कि उपनिषदों में कहीं-कहीं 'इति उपनिषद्' शब्द का प्रयोग है, तो कहीं-कहीं 'इति रहस्यम्' शब्द का। इससे स्पष्ट है कि उपनिषद् का अर्थ रहस्य है। इसका व्याख्यान करते

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य, संबंध भाष्य।
2. कठोपनिषद् भाष्य, संबंध भाष्य।
3. बृहदारण्यक वार्तिक, संबंध भाष्य, 5-8.
4. पाल डायसन का ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ॰ 10.

हुए उन्होंने लिखा है कि उपनिषद् का अर्थ रहस्यमय प्रतीक, रहस्यमय शब्द, रहस्यमय नाम, रहस्यमय सूत्र, रहस्यमय ज्ञान और रहस्यमय उपदेश है।[1] आगे उन्होंने इन सब अर्थों को तीन अर्थों में वर्गीकृत किया है—

(क) **रहस्यमय शब्द**, जैसे तज्जलान या नेतिनेति।

(ख) **रहस्यमय ग्रन्थ**, जैसे—तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मवल्ली के अन्तिम दो अनुवाकों के अन्त में 'इति उपनिषद्' शब्द का प्रयोग।

(ग) **रहस्यमय** अर्थ, जैसे छांदोग्य उपनिषद् 1 1 10 में उद्गीथ शब्द के विमर्श को उपनिषद् कहा गया है।[2]

(5) किन्तु पाल डायसन का मत भी ठीक नहीं है; कारण, उपनिषद् व्याख्यानपरक हैं। अनेक जगह किसी वाक्य को कहकर उसका उपव्याख्यान किया गया है। उदाहरण के लिए मांडूक्य-उपनिषद् में ओम् इति एतद् अक्षरं इदम् सर्वम् तस्योपव्याख्यानम् भूतंभवदभविष्येद् इति" कहा गया है। यहाँ ओम् सम्पूर्ण सत्ता है, इसका उपव्याख्यान किया गया है। "उपनिषदम् व्याख्यास्यामः" ऐसा तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है। उपनिषदों में सर्वत्र व्याख्या और उसके जानने पर बल है। इससे स्पष्ट है कि उपनिषद् के अर्थ में व्याख्या-तत्त्व रहस्यमय नहीं है। वह पूर्ण बौद्धिक व्याख्या है। वास्तव में वेदों में जो दर्शन है उसी की व्याख्या उपनिषद् हैं। इस दर्शन को हम प्रातिभ-ज्ञान कह सकते हैं। प्रातिभ ज्ञान से जो तत्त्व प्राप्त होता है उसकी व्याख्या उपनिषद् है। ऐसा मानने से शंकराचार्य के द्वारा निश्चित किया गया उपनिषद् अर्थ ऐतिहासिक सिद्ध होगा और भाषा-विज्ञान के आधार पर भी उसका औचित्य स्पष्ट हो जायगा। शंकराचार्य का यह मत सही है कि उपनिषद् का मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या है और गौण अर्थ ब्रह्मविद्या-विषयक ग्रन्थ है। उपनिषदों के इतिहास में इन दोनों अर्थों को मिलाकर एक नया शब्द वेदान्त प्रचलित हुआ है। उपनिषद् शब्द अक्षरशः और अर्थतः वेदान्त है। स्वयं उपनिषदों में ही उपनिषद् के अर्थ में वेदान्त का प्रयोग हुआ है।[3] अतः हमारा मत है कि उपनिषद् का अर्थ वेदान्त है।

---

1. वही, पृ० 10-13.
2. दि फिलासफी आव् उपनिषद्स, पाल डायसन, पृ० 16-17.
3. देखिए, मुण्डक उपनिषद्, 3/2/6.

4. उपनिषदों की व्याख्याएँ

उपनिषदों की अनेक व्याख्याएँ की गयी हैं, जिनके फलस्वरूप सभी भारतीय दर्शनों का उद्भव और विकास हुआ है। फिर भी वेदान्त के विविध सम्प्रदाय मुख्य रूप से औपनिषद दर्शन माने जाते हैं। यदि उपनिषदों की सम्पूर्ण व्याख्याओं का विचार किया जाय तो उन्हें हम निम्नलिखित वर्गों में बाँट सकते हैं।

(1) शंकर-पूर्व भाष्य। ये सभी भाष्य अब अनुपलब्ध हैं। किन्तु भर्तृप्रपंच, ब्रह्मनन्दि, द्रविणाचार्य आदि शंकरपूर्व आचार्यों ने उपनिषदों के भाष्य लिखे थे। इस काल के भाष्य सांख्यवादी, भेदाभेदवादी या अभेदवादी थे।

(2) शांकर-भाष्य और उसकी परम्परा के भाष्य। शंकराचार्य ने दस उपनिषदों पर अद्वैतवादी भाष्य लिखे हैं। उनकी परम्परा में सुरेश्वराचार्य, आनन्दगिरि, विद्यारण्य, शंकरानन्द, भास्करानन्द आदि ने उपनिषदों पर अथवा शांकरभाष्य पर टीकाएँ लिखी हैं। इस प्रकार मुख्यतः उपनिषदों के अद्वैतवादी भाष्य प्रचलित हैं।

(3) वैष्णव-भाष्य। रामानुज के अनुयायी वेंकटनाथ और रंगरामानुज ने उपनिषदों पर विशिष्टाद्वैतवादी भाष्य लिखे। मध्वाचार्य ने उपनिषदों पर द्वैतवादी भाष्य लिखे। वल्लभ मतानुयायी पुरुषोत्तम ने उपनिषदों पर शुद्धाद्वैतवादी भाष्य लिखे। इसी प्रकार उपनिषदों के अन्य वैष्णव भाष्य भी हैं।

(4) आधुनिक युग के भाष्य। आधुनिक युग में उपनिषदों के भाष्य कई दृष्टिकोणों से किये गये हैं, जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं।

(क) ऐतिहासिक दृष्टिकोण से माना जाता है कि उपनिषदों का दर्शन उस दार्शनिक कर्म की पराकाष्ठा है, जिसका आरम्भ ऋग्वेद में हुआ। इस दर्शन का महत्त्व उपनिषद् काल में ही था और बाद में इसका प्रभाव समस्त परवर्ती दर्शन पर पड़ा। पाल डायसन की उपनिषद्-व्याख्या इस कोटि की है। बेलवल्कर और रानाडे ने ब्राह्मणों, आरण्यकों और आरम्भिक उपनिषदों की व्याख्या इस दृष्टिकोण से की है।

(ख) उपनिषदुत्तर दृष्टिकोण से गफ ने 'उपनिषदों का दर्शन' नामक एक ग्रन्थ लिखा, जिसमें उन्होंने उपनिषदों के दर्शन का भाष्य शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के अनुसार किया।

(ग) तुलनात्मक दृष्टिकोण से डॉ० राधाकृष्णन् ने उपनिषदों के दर्शन का भाष्य पाश्चात्य दार्शनिकों के दर्शनों से तुलना करते हुए किया। प्रोफेसर रानाडे ने उपनिषद् दर्शन पर एक ग्रन्थ लिखा, जिसमें उन्होंने उपनिषद् दर्शन की

तुलना अपने समकालीन दार्शनिकों के दर्शनों से की । इन प्रयासों का लक्ष्य यह सिद्ध करना है कि उपनिषद् का दर्शन शाश्वत दर्शन है ।

(घ) धार्मिक दृष्टिकोण से मसीही विद्वानों ने उपनिषदों का अध्ययन किया और उनके तत्त्ववाद; नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र का भारतीय जन-जीवन पर प्रभाव दिखलाते हुए यह आलोचना की कि उपनिषदों का धर्म आधुनिक युग के लिए अपर्याप्त है । इसके विरोध में भारतीय विद्वानों ने उपनिषदों को मानव धर्म का शाश्वत ग्रन्थ बतलाया । राजा राममोहन राय, रवीन्द्रनाथ टैगौर और रामकृष्ण मिशन के दार्शनिकों के कार्य इस ओर उल्लेखनीय हैं ।

स्पष्ट है कि उपर्युक्त दृष्टिकोणों से उपनिषद्-दर्शन के जो व्याख्यान किये गये हैं वे एकांगी और अपर्याप्त हैं । यद्यपि यह सत्य है कि उपनिषदों में शाश्वत धर्म और दर्शन के बीज हैं, तथापि उनका विकास आधुनिक युग में स्वतन्त्र रीति से होना चाहिए, न कि किसी पाश्चात्य प्राचीन या अर्वाचीन दर्शन के संदर्भ में । पुनः यह सत्य है कि उपनिषद्-दर्शन का विकास किसी विशेष युग में हुआ और उसका सम्बन्ध उसके पूर्वकालीन और उत्तरकालीन दर्शनों से है, तथापि इन दर्शनों के सन्दर्भ में उसकी व्याख्या करना उसके शाश्वत सत्य को नकारना है । अतः हमारा मत है कि उपनिषद्-दर्शन के स्वतन्त्र व्याख्यान ही अधिक तर्कसंगत हैं । ऐतिहासिक, वैज्ञानिक और तुलनात्मक व्याख्याओं की अपेक्षा उपनिषदों की दार्शनिक व्याख्या अधिक समीचीन है ।

5. उपनिषद् और भारतीय दर्शन

उपनिषद् सभी भारतीय दर्शनों के मूल स्रोत हैं । जो भारतीय दर्शन वेद-प्रामाण्य को मानते हैं वे सभी उपनिषदों को वेद-प्रामाण्य के अन्तर्गत रखते हैं । यद्यपि बौद्ध, जैन और चार्वाक दर्शन-वेद-प्रामाण्य को नहीं मानते हैं, तथापि उनके दर्शनों के भी मूल उपनिषदों में हैं । कुमारिल भट्ट ने दिखलाया है कि बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद, क्षणभंगवाद, अनात्मवाद तथा वैराग्यवाद उपनिषद् से ही निकले हैं । यद्यपि बौद्धों ने बौद्ध दर्शन को उपनिषदों से उत्पन्न नहीं माना है; तथापि आधुनिक युग में बौद्ध दर्शन के अनेक विद्वानों ने स्वीकारा है कि बौद्ध दर्शन के बीज उपनिषदों में हैं । चार्वाक-दर्शन का भौतिकवाद उपनिषद् के दार्शनिक विरोचन का दर्शन है । फिर, उपनिषदों में उपस्ति जैसे दार्शनिक हैं, जो आत्मा को दृश्य वस्तु के रूप में देखना चाहते हैं । अन्नमय ब्रह्म की अवधारणा भौतिकवादी है । इस प्रकार चार्वाक-दर्शन के

बीज उपनिषदों में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। फिर, जैन-दर्शन के अनेक सिद्धान्तों का स्रोत उपनिषद् में है। उदाहरण के लिए, सद्-दृष्टि, असद्-दृष्टि और अवाच्य-दृष्टि उपनिषदों में बहुत मिलती हैं, जिनको लेकर जैनियों ने स्याद्वाद और अनेकान्तवाद को विकसित किया। फिर, उपनिषदों में सत्य, तप, वैराग्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्तेय और अहिंसा के अनेक विवेचन हैं, जो जैन आचारशास्त्र के मूल हैं।

षड्दर्शनों में वेदान्त के सभी सम्प्रदाय उपनिषदों के साक्षात् विकास हैं। 'तत् त्वम् असि' इस एक वाक्य की व्याख्या विभिन्न वेदान्त-सम्प्रदायों ने विभिन्न प्रकार से की है। इस और ऐसे अन्य वाक्यों के व्याख्यानों से इन सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ है। ये सभी सम्प्रदाय ब्रह्मवादी हैं और जीव, जगत् तथा ब्रह्म का विवेचन करते हैं। इस विवेचन में ये उपनिषद् के वाक्यों को प्रमाण-रूप में मानते हैं। वेदान्त दर्शन का मूल ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' उपनिषदों के दर्शन का सार प्रस्तुत करता है।[1] वेदान्त दर्शनों में मान्य भगवद्गीता स्वयं एक उपनिषद् होने का दावा करती है और सभी उपनिषदों का सार-तत्त्व प्रदान करती है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता के ही भाष्यों से वेदान्त-सम्प्रदायों का विकास हुआ है। अतः उनकी उपनिषद्-मूलकता स्पष्ट है। कर्म-मीमांसा कर्म, उपासना और ज्ञान के समन्वय पर बल देती है। यह समन्वयवाद उपनिषदों में बहुचर्चित है। वहाँ कर्मकाण्ड, उपासना-काण्ड और ज्ञान-काण्ड के अलग-अलग विवेचन हैं। फिर, वहीं अनेक यज्ञों के दार्शनिक विवेचन हैं, जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् के आरम्भ में अश्वमेध का विवेचन है। इन विवेचनों से कर्म-मीमांसा का प्रादुर्भाव हुआ है। आत्मावाअरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः जैसी उक्तियाँ कुमारिल के विधि-वाद के स्रोत हैं। आत्मा इत्येवोपासीत जैसी श्रुतियाँ प्रभाकर के नियोगवाद के मूल में हैं। इसी प्रकार विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत जैसी श्रुतियाँ मंडन मिश्र के भावनावाद के मूल हैं। इस प्रकार मीमांसा के प्रमुख सम्प्रदायों का स्रोत उपनिषद् ही है।

सांख्य-दर्शन की प्रकृति का उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में "अजाम् एकाम् लोहित शुक्ल कृष्णाम्" इस मन्त्र में आता है जहाँ स्पष्ट रूप से प्रकृति को सत्त्व, रज और तम गुणों से युक्त कहा गया है। सत्कार्यवाद, ज्ञानमार्ग, पुरुष की असंगता आदि सांख्य-सिद्धांत उपनिषदों से लिये गये हैं। यों तो योगविषयक अनेक अर्वाचीन उपनिषद् हैं, किन्तु प्राचीन उपनिषदों में भी योग के अनेक सिद्धान्त मिलते हैं। मांडूक्य-उपनिषद् तो प्रणव-उपासना का मूल ही है। अन्य उपनिषदों में भी अनेक उपासनाएँ बतलायी

---

1. वेदान्त वाक्य कुसुम ग्रथनार्थत्वात् सूत्राणम्।—शंकराचार्य, शारीरक भाष्य, 1/1/2

गयी हैं जो शान्ति-प्राप्ति के उपाय हैं। कठोपनिषद् का योग-विवेचन पतंजलि के योग-सूत्र का मूल स्रोत है। वहाँ योग और योगी का स्पष्ट वर्णन है।[1]

न्याय वैशेषिक दर्शन के ज्ञान-सिद्धान्त उपनिषदों की श्रवण-प्रक्रिया और मनन-प्रक्रिया के विकास हैं। मनन का निरूपण उपनिषदों में जिन उदाहरणों से किया गया है उनसे ही व्याप्ति सिद्धान्त विकसित हुआ है। शंका-समाधान, शास्त्रार्थ, निग्रह-स्थान, छल, जाति आदि के उदाहरण उपनिषदों में भरे पड़े हैं, जिनका विवेचन न्यायशास्त्र करता है। वैशेषिक-परमाणुवाद के बीज भी उपनिषदों में मिलते हैं। आत्मा को अणु से भी अणु, अणिष्ठ कहा गया है। इससे सिद्ध है अणुवाद का ज्ञान उपनिषद् दार्शनिकों को था और उसी का विकास परवर्ती काल में वैशेषिक दर्शन में हुआ। व्याकरणशास्त्र, निरुक्त, भाषा-दर्शन, सौन्दर्य-शास्त्र, काव्य-शास्त्र आदि के मूल भी उपनिषदों में यत्र-तत्र हैं, जिनका विकास कालान्तर में इन-इन शास्त्रों के द्वारा किया गया।

सभी भारतीय दर्शन उपनिषद्-दर्शन से विकसित हुए हैं और जो उपनिषदों से नहीं निकला है वह दर्शन ही नहीं है, यह मान्यता भारतवर्ष में बहुत दिनों तक प्रचलित थी। इसके फलस्वरूप अनेक नये उपनिषदों की रचना हुई, जो वास्तव में नये धार्मिक सम्प्रदायों को उपनिषद्-मूलक सिद्ध करने के लिए रचे गये। किसी धार्मिक सम्प्रदाय की प्रामाणिकता को प्रतिष्ठित करने के लिए उसके मूल को उपनिषदों की भाषा और शैली में लिखा जाता रहा है। यद्यपि यह सत् प्रयास नहीं तथापि यह सिद्ध करता है कि उपनिषदों का कितना प्रभाव समस्त भारतीय दर्शन पर है। उपनिषद् एक ओर सभी दर्शनों के उद्‌गम स्थान हैं तो दूसरी ओर वे उनके प्रामाण्य की कसौटी भी हैं। जो दर्शन उपनिषदों से सत्यापित है वह सत्य है और जो उनसे सत्यापित नहीं है, वह असत्य है। यही नहीं, जो सत् उपनिषद्‌गम्य है वही सत् है, जिज्ञास्य है और जो अनौपनिषदिक है वह असत् है, हेय है। यह मान्यता उपनिषद्-काल में ही इतनी प्रबल हो चली थी कि उस काल में दार्शनिक एकमात्र औपनिषदपुरुष (मूल तत्त्व) को ही जानना चाहते थे—तं त्वौपनिषद् पुरुषं पृच्छामि।[2]

6. उपनिषद् की दार्शनिक विधियाँ

उपनिषद् के दार्शनिकों ने कई विधियों से दार्शनिक चिन्तन किया है। उनकी मुख्य विधियाँ निम्नलिखित हैं :—

---

1. कठोपनिषद्, 2/3/11
2. बृहदारण्यक उपनिषद्, 3. 9. 26

(1) **प्रतीकात्मक विधि**—शाण्डिल्य ने इस विधि से परमतत्त्व का विवेचन छान्दोग्योपनिषद् में किया है। उन्होंने परमतत्त्व को "तज्जलान" कहा।[1] इसका अर्थ है कि जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है (तज्ज), जिसमें यह जगत् गतिशील है (तदन) और जिसमें यह जगत् लय होता है (तल्ल) वह ब्रह्म है। इस विधि के द्वारा किसी सम्प्रत्यय की संरचना की जाती है और उसकी व्याख्या की जाती है।

(2) **सूत्र विधि**—माण्डूक्योपनिषद् के दार्शनिक ने सूत्र विधि से ओम् को परब्रह्म बताया है और फिर अ + उ + म द्वारा ओम् की व्याख्या करते हुए ओम् को चतुष्पात् आत्मा कहा है।

(3) **निरुक्त विधि**—उपनिषदों में स्वप्न, पुरुष आदि शब्दों की निरुक्तियाँ दी गयी हैं। जो सत से सम्पन्न है या स्वयं को प्राप्त करता है वही स्वप्न है। पुरि में (देहम्) जो शयन करता है वह पुरुष है। शब्द और अर्थ का इस प्रकार सम्बन्ध बनाकर अनेक शब्दों की व्याख्या की गयी है। इससे अर्थ का स्पष्टीकरण और विश्लेषण होता है।

(4) **आख्यायिका-विधि**—अनेक आख्यायिकाओं द्वारा उपनिषदों में परमतत्त्व का विवेचन किया है। उदाहरण के लिए, इन्द्र और विरोचन की आख्यायिका द्वारा छान्दोग्य उपनिषद् में आत्म-तत्त्व का क्रमिक विवेचन किया गया है।

(5) **उपमान-विधि**—उपनिषद्-दार्शनिक आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को अनेक साम्यानुमानों द्वारा जीव और आत्मा के सम्बन्ध को बताते हुए 'तत् त्वम् असि' की व्याख्या की है। जैसे नमक पानी में घुलकर सर्वत्र पानी में व्याप्त हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म जीव में सर्वत्र व्याप्त है। जैसे नदियाँ समुद्र में मिलने पर अपने नाम और रूप से रहित हो जाती हैं वैसे ही जीव ब्रह्म से मिलकर अपने नाम और रूप को खो देता है।

(6) **शास्त्रार्थ-विधि**—उपनिषद्-दार्शनिक याज्ञवल्क्य ने अनेक दार्शनिकों से शास्त्रार्थ करके सम्राट् जनक के दरबार में अपने दर्शन की सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की है। उनके शास्त्रार्थ का निरूपण बृहदारण्यक उपनिषद् में किया गया है। इस विधि को संवाद-विधि भी कहा जा सकता है। कठोपनिषद् में यम-नचिकेता-संवाद, छान्दोग्य-उपनिषद् में आरुणि-श्वेतकेतु-संवाद और नारद-सनत्कुमार-संवाद तथा

1. छान्दोग्योपनिषद्, 3. 14.1

बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद एवं याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संवाद हैं ।

(7) **संश्लेषणात्मक-विधि**—उपनिषदों में कई जगह अनेक दृष्टिकोणों का समन्वय किया गया है । छान्दोग्य उपनिषद् में अश्वपति कैकेय ने सृष्टि-विज्ञान के छह सिद्धान्तों का समन्वय किया है । प्रश्नोपनिषद् में पिप्पलाद ने छह ऋषियों के मतों का समन्वय किया है ।

(8) **आत्म-संलाप-विधि**—याज्ञवल्क्य, नचिकेता, शाण्डिल्य आदि दार्शनिकों ने एकान्त में स्वगत संलाप करके कुछ दार्शनिक चिन्तन किया है ।

(9) **अरुन्धती न्याय-विधि**—तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म को क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय बताया गया है । यह उपदेश वरुण ने भृगु को एक क्रम से दिया है । उन्होंने सम्पूर्ण सत्य का उद्घाटन सहसा एक बार ही नहीं किया । उनकी विधि का उद्देश्य शिष्य को शनैः शनैः उच्चतर सत्य का अधिकारी बनाना है । इस विधि को अरुन्धती-न्याय कहा जाता है ।

(10) **विश्लेषणात्मक-विधि**—उपनिषद्-दार्शनिक याज्ञवल्क्य ने आत्मा का विवेचन शुद्ध विश्लेषणात्मक विधि से किया है । यह विधि उपनिषदों में बहुधा देखी जाती है । उपनिषद्-दार्शनिक किसी वस्तु के कारण, आधार या प्रयोजन की खोज करते हैं । इस खोज में वे कारण के कारण, आधार के आधार या लक्ष्य के लक्ष्य की खोज करते चले जाते हैं और अंत में उस वस्तु पर पहुँचते हैं जो सबका कारण होते हुए अकारण है, सबका आधार होते हुए निराधार है और सबका लक्ष्य होते हुए अलक्ष्य है । इस विधि से कहा गया है कि आत्मा सबका ज्ञाता होते हुए स्वयं अज्ञाता है, सबका कर्त्ता होते हुए स्वयं अकर्त्ता है और सबका भोक्ता होते हुए स्वयं अभोक्ता है । इस प्रकार के विवेचनों का तात्पर्य है कि आत्मा स्वकारण, स्वाधार, स्वालक्ष्य और स्वप्रकाश है ।

(11) **अधिदैवत-विधि**—उपनिषदों में कहीं-कहीं देवताओं के द्वारा ऋषियों को ज्ञान मिलता है । तैत्तिरीय उपनिषद् में वरुण देव ने भृगु ऋषि को ज्ञान दिया । छान्दोग्य उपनिषद् में अग्निदेव ने सत्यकाम जाबाल को तथा प्रजापति ने इन्द्र को ज्ञान दिया । कठोपनिषद् में यम देवता ने नचिकेता को ज्ञान दिया । इस प्रकार का दिव्य ज्ञान बताता है कि उपनिषद्-ज्ञान इलहाम या दिव्य सन्देश है । वह अपौरुषेय ज्ञान है । उसका दाता ईश्वर है ।

इन विधियों से स्पष्ट है कि उपनिषद् के दार्शनिक परमतत्त्व को समझने तथा समझाने के लिए अनेक विधियों का प्रयोग करते हैं। इन सभी विधियों में शिष्य परिप्रश्न करता है, गुरु की सेवा करता है और गुरु के प्रति नम्रता दिखलाता है।

7. सृष्टि-विज्ञान

गौड़पाद ने उपनिषदों के सृष्टि-विज्ञान के बारे में अनेक सिद्धान्तों का वर्णन किया है[1] और अन्त में यह निष्कर्ष निकाला है कि उपनिषदों का तात्पर्य सृष्टि-विज्ञान नहीं है। उनका कहना है कि सृष्टि असत् से होती है या सत् से होती है, इस विषय में उपनिषद् के वचन निर्णायक नहीं हैं क्योंकि दोनों पक्ष के सिद्धान्त उपनिषदों में मिलते हैं। अतएव जो सिद्धांत युक्ति-युक्त लगे वही उपनिषद् का सृष्टि-विज्ञान है।

भूततोऽभूततोवापि सृज्यमाने समा श्रुतिः।
निश्चितं युक्तियुक्तं च यत् तद् भवति नेतरत्[2] ॥

पुनश्च, गौड़पाद के अनुसार सृष्टिवादिनी श्रुतियाँ ब्रह्मतत्त्व को समझने-समझाने के उपाय मात्र हैं—

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन[3] ॥

उनका मत है कि उपनिषद् अज्ञातवाद की शिक्षा देते हैं और सृष्टि-विज्ञान ब्रह्मतत्त्व की व्याख्या करनेवाला एक मिथक है। सत्ता और मिथक (आख्यायिका) का ऐसा गाढ़ा संबंध उपनिषदों में मिलता है कि एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है। किन्तु फिर भी यह पृथक्करण करना उपनिषद्-दर्शन को समझने के लिए आवश्यक है। परन्तु आधुनिक युग में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उपनिषदों के जो अध्ययन किये गये हैं उनसे स्पष्ट होता है कि उपनिषदों में सृष्टि-विज्ञान के प्रायः वे सभी सिद्धान्त मिलते हैं जो प्राचीन ग्रीक दर्शन और आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए प्रो० रानाडे[4] ने दिखलाया है कि उपनिषदों में सृष्टि-विज्ञान के निम्नलिखित सिद्धांत मिलते हैं—

(1) सृष्टि का मूल तत्त्व अप् (जल) है। जल से सत्य उत्पन्न हुआ। सत्य ने ब्रह्म को

---

1. माण्डूक्य कारिका 2. 20-28
2. वही 3. 23
3. वही, 3. 15
4. ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आव् उपनिषद् फिल०, पृ० 76-105

उत्पन्न किया। ब्रह्म ने प्रजापति को उत्पन्न किया और प्रजापति ने देवों को पैदा किया।[1] तत्पश्चात् शेष सृष्टि हुई।

(2) उपनिषद् के दार्शनिक रैक्स का मत है कि मूल तत्त्व वायु है। वायु सभी वस्तुओं का संवर्ग है। यह संवर्ग-विद्या ग्रीक दार्शनिक अनेक्जीमिनीज़ के सृष्टि-विज्ञान से मिलती-जुलती है।

(3) कठोपनिषद् में कहा गया है कि अग्नि ही सम्पूर्ण भुवन में विभिन्न रूप से प्रविष्ट है।[2] इस विचार की तुलना प्रो० रानाडे ने ग्रीक दार्शनिक हेरक्लाइटस के सृष्टि-विज्ञान से की है, जिसके अनुसार अग्नि समस्त वस्तुओं का मूल कारण है।

(4) प्रवाहण जैवलि का मत है कि आकाश सभी वस्तुओं का मूल स्रोत है। सभी भूतों की उत्पत्ति आकाश से होती है।[3]

(5) सृष्टि का मूल असत् है ऐसा उल्लेख छान्दोग्य, तैत्तिरीय और बृहदारण्यक उपनिषदों में आता है। असत् से सत् उत्पन्न हुआ। वह सत् एक ब्रह्माण्ड हो गया। इस ब्रह्माण्ड के दो भाग हो गये—पृथ्वी और द्यौ। फिर इसके अंशों से पर्वत, मेघ, नदियाँ और समुद्र उत्पन्न हुए। ब्रह्माण्ड से आदित्य उत्पन्न हुआ[4] और तत्पश्चात् आदित्य से अन्य सभी वस्तुएँ उत्पन्न हुईं।

(6) छान्दोग्य उपनिषद् में सारी सृष्टि का मूल सत् कहा गया है। सत् से तेज उत्पन्न हुआ। तेज से जल उत्पन्न हुआ। जल से अन्न उत्पन्न हुआ। अन्न से अण्डज, जीवज और उद्भिज पैदा हुए।[5] यहाँ कहा गया है कि तेज, अप् और अन्न अर्थात् अग्नि, जल और पृथ्वी परस्पर मिलकर, त्रिवृत्त होकर, सभी वस्तुओं के कारण हैं। इस प्रकार त्रिवृत्तकरण का सिद्धान्त उपनिषदों में मिलता है, जिसका विकास वेदान्त पंचीकरण-सिद्धान्त में हुआ।

(7) कौषीतकी उपनिषद् में प्राण को परमतत्त्व माना गया है।[6] प्राण का यह सम्प्रत्यय

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद्, 5. 1
2. कठोपनिषद्, 2. 5
3. छान्दोग्य उपनिषद्, 1/9/1
4. वही, 3. 19/1/3
5. वही, 6, 6/2/3
6. कौषीतकि उपनिषद्, 3-9

बर्गसाँ के इलोन वायटल से मिलता-जुलता है। इसी प्राण-तत्त्व से सृष्टि की सम्पूर्ण वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं।

(8) श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर है। नारायण सृष्टि के मूल कारण हैं; वे भगवान् हैं और उन्होंने अपने संकल्प से सृष्टि को उत्पन्न किया है, ऐसा नारायण उपनिषद् में कहा गया है। प्रश्नोपनिषद् में भी प्रजापति को सृष्टि का कर्त्ता माना गया है। नारायण उपनिषद् में प्रजापति को भी नारायण से उत्पन्न माना गया है। प्रजापति ब्रह्मा या सृष्टिकर्त्ता ईश्वर का नाम है।

(9) सारी सृष्टि निर्गुण ब्रह्म या आत्मा से उत्पन्न हुई, ऐसा वर्णन ऐतरेय उपनिषद् में मिलता है। आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है। इस प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है।

(10) मुण्डकोपनिषद् में सृष्टि के मूल कारण को निर्गुण ब्रह्म तथा सगुण ब्रह्म दोनों कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में सृष्टि का मूल कारण सगुण ब्रह्म या ईश्वर माना गया है। ईशावास्योपनिषद् में सृष्टि को संभूति और प्रलय को असंभूति कहा गया है। इससे क्रमशः जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव माना गया है। मुण्डकोपनिषद् में ईशावास्य के आविर्भाववाद और श्वेताश्वतर के सृष्टिवाद का समन्वय किया गया है।

(11) कहीं-कहीं काल को समस्त भूतों की योनि कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद्[1] में कहा गया है कि सृष्टि-विज्ञान के छह मत हैं—काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पंचमहाभूत या पुरुष को भिन्न-भिन्न लोग समस्त भूतों की योनि मानते हैं। इन छह मतों की आलोचना करके वहाँ दिखलाया गया है कि सृष्टि का कारण स्वयं भगवान् हैं।

इस प्रकार उपनिषदों के सृष्टि-विज्ञान का सिंहावलोकन करने से ज्ञात होता है कि वहाँ सृष्टि-सिद्धान्त, विकास-सिद्धान्त और आविर्भाव-सिद्धान्त, तीनों मिलते हैं। फिर, वहाँ भौतिकवादी सृष्टि-विज्ञान से लेकर अजातवाद तक के सभी सिद्धान्त मिलते हैं। सिद्धान्तों की इस विविधता की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है :—

---

1. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 1. 2

(1) उपनिषद् अनेक हैं। उनके ऋषि अनेक हैं। इसलिए उनके सृष्टि-विज्ञान भी अनेक हैं।

(2) उपनिषदों के सभी सृष्टि-विज्ञान एक क्रम से विकसित हुए हैं जिसे हम स्थूलता और सूक्ष्मता का क्रम कह सकते हैं। भौतिकवादी सिद्धान्त पहले विकसित हुए, प्राणवादी सिद्धान्त उनके बाद विकसित हुआ और तत्पश्चात् ईश्वरवादी सिद्धान्त विकसित हुआ। अन्त में आत्मवादी सिद्धान्त विकसित हुआ। सृष्टि-विज्ञान के इस विकास-क्रम द्वारा उपनिषदों के सभी सिद्धान्तों का समन्वय हो जाता है।

(8) गौड़पाद के अजातिवाद के द्वारा भी उपनिषद् के सभी सृष्टि-वैज्ञानिक सिद्धान्तों का अन्तर्विरोध दूर हो जाता है, क्योंकि वे सभी सिद्धान्त आत्मवाद की विभिन्न प्रक्रियाएँ हैं।

सृष्टि क्या है? इस प्रश्न के चार उत्तर उपनिषदों में मिलते हैं। कुछ लोग सृष्टि को आधिदैविक मानते हैं, तो कुछ लोग आध्यात्मिक। अन्य लोग इसे आधिभौतिक मानते हैं। किन्तु ब्रह्मज्ञानी सृष्टि को स्वप्नवत् तुच्छ मानते हैं।

8. तत्त्व-मीमांसा

मनुष्य ऊपर देखने के पहले अपने भीतर देखता है और अपने भीतर देखने के पहले वह अपने बाहर देखता है। इस प्रकार पहले वह बाह्य सत्ता को देखता है, तत्पश्चात् वह आभ्यन्तर सत्ता को देखता है और अन्त में वह ऊर्ध्व सत्ता को देखता है। उपनिषदों में बाह्य सत्ता को अधिभूत, आभ्यन्तर सत्ता को अध्यात्म और ऊर्ध्व सत्ता को अधिदेव कहा गया है। फिर, इनको क्रमशः पुरुष, आत्मा और ब्रह्म कहा गया। आरम्भ में पुरुष अर्थात् मूल तत्त्व के विविध रूप बताये गये और अन्त में पुरुष को एक और अद्वितीय सत् कहा गया। फिर आत्मा भी कई बतायी गयी और अन्त में आत्मा को एक और अद्वितीय चित् कहा गया। इसी प्रकार कई देव आरम्भ में बताये गये और अन्त में एकमात्र देवता ब्रह्म को कहा गया। इसी प्रकार उपनिषदों में परमतत्त्व के बारे में आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक दृष्टिकोणों से किये गये चिन्तन मिलते हैं और अन्त में इन तीनों दृष्टिकोणों से प्राप्त सत् को एक और अभिन्न सत् कहा गया है। इस सत् को ब्रह्म की संज्ञा दी गयी है। इसका लक्षण 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' ब्रह्म किया गया है अर्थात् जो सत्य, ज्ञान और अनन्त है वह ब्रह्म है। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म में आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक दृष्टिकोणों का पूर्ण समन्वय हुआ है।

ब्रह्म के अनेक और लक्षण किये गये। इनमें से मुख्य ये हैं—ब्रह्म, अनन्त, अमृत, आनन्द, प्रज्ञान, अन्तर्यामी तत्त्व या परात्पर तत्त्व हैं। ऐसे सभी चिन्तनों के फलस्वरूप आत्मा और ब्रह्म का समीकरण प्रकट हुआ जो उपनिषद् की तत्त्व-मीमांसा का सार-सर्वस्व है। 'अयं आत्मा ब्रह्म', 'तत् त्वम् असि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', सर्वं खलु इदम् ब्रह्म', ये चार वाक्य उपनिषदों के महावाक्य हैं जो ब्रह्म और आत्मा के अभेद पर बल देते हैं। इस समीकरण को सिद्ध करने से पूर्व ब्रह्म-विचार और आत्म विचार का पृथक्-पृथक् विवेचन करना प्रासंगिक है।

(1) ब्रह्म का विचार उपनिषदों में अनेक प्रकार से किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्म को परिभाषित करती हुई कहती है कि ब्रह्म वह है जिससे सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसमें सभी प्राणी स्थित हैं और जिसमें सभी प्राणियों का अन्त में लय हो जाता है। इस परिभाषा के अनुसार ब्रह्म को क्रमशः अन्नमय ब्रह्म, प्राणमय ब्रह्म, मनोमय ब्रह्म, विज्ञानमय ब्रह्म और आनन्दमय ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म अन्नमय है और अन्नमय से ऊपर भी है, प्राणमय है और प्राणमय से ऊपर भी है, वह मनोमय है और मनोमय से ऊपर भी है, वह विज्ञानमय है और विज्ञानमय से ऊपर भी है और इसी प्रकार वह आनन्दमय है और आनन्दमय से ऊपर भी है। ब्रह्म सर्वान्तर और सर्वोर्ध्व है, वह अन्तरयामी और परात्पर है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय ब्रह्म के ये पाँच कोश हैं। ब्रह्म इन कोशों से व्यतिरिक्त है।

सामान्यतः उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं, परब्रह्म और अपरब्रह्म। परब्रह्म अमूर्त और अमृत है, अपरब्रह्म मूर्त और मर्त्य है। परब्रह्म यत् (चर) है और अपरब्रह्म स्थित है। अपरब्रह्म सत् है और परब्रह्म त्यत् (तत् = वह) है।[1]

सत् + त्यत् मिलकर सत्य बनता है। हमें जो दृष्ट या ज्ञात होता है वह तत् है। वह तत् क्या है? इस प्रश्न का उत्तर जब हम देने चलते हैं तो हमारी शब्दावली में इसके लिए जो सबसे उपयुक्त शब्द है वह सत् है। अतः हम तत् के अर्थ को सत् कहते हैं। दोनों मिलकर हम सत्य प्राप्त करते हैं। इस प्रकार हम निर्गुण निराकार और निरुपाख्य तत् अर्थात् परब्रह्म को और सगुण, साकार, बोधगम्य सत् अर्थात् अपर-ब्रह्म को एक दूसरे से अभिन्न करते हैं। उपनिषदों ने भी ऐसा ही किया है। मुंडक उपनिषद् के अनुसार परब्रह्म और अपरब्रह्म के दर्शन से ही हृदयग्रन्थि टूटती है, सभी

1. बृहदारण्यक उपनिषद्, 2. 3. 1

संशय क्षीण होते हैं और सभी कर्मों का क्षय होता है।[1] इससे स्पष्ट है कि परब्रह्म और अपरब्रह्म का सम्बन्ध बहुत गाढ़ा है।

परब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञान को परा विद्या और अपरब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान को अपरा विद्या कहा गया है। डॉ० पाल डायसन ने इन दोनों विद्याओं को एक दूसरे का विरोधी बतलाया है।[2] परन्तु वास्तव में ये विद्याएँ परस्पर समन्वय-योग्य हैं और जैसे परब्रह्म और परब्रह्म के बीच कोई खाई नहीं है, वैसे ही परा विद्या और अपरा-विद्या के बीच में भी कोई खाई नहीं है। जैसे किसी सिक्के की दो पीठें होती हैं वैसे ही ब्रह्म के दो रूप हैं। इन दोनों रूपों को ब्रह्म का स्वभाव या प्रकृति कहा गया है। भगवद्गीता इन्हें क्रमशः ब्रह्म की परा प्रकृति तथा अपरा प्रकृति कहती है।[3]

(2) आत्मा का विचार उपनिषदों में अनेक प्रकार से किया गया है। इनमें से मांडूक्य-उपनिषद् का विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वहाँ कहा गया है कि जीव की चार अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जाग्रत में ज्ञाता को वैश्वानर कहा गया है। स्वप्न के द्रष्टा को तैजस कहा गया है और सुषुप्ति में आनन्द के अनुभव-कर्ता को प्राज्ञ कहा गया है। तुरीय आत्मा वैश्वानर, तैजस और प्रज्ञा का मूल आधार है। वह अदृष्ट, अग्राह्य अव्यवहार्य, अचिंत्य, अलक्षण, अव्यपदेश्य है। वह प्रपंचोपशम, शिव, शान्त और अद्वैत है। केनोपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा न तो ज्ञेय विषय है और न अज्ञेय। वह ज्ञेय या विदित से भिन्न है और अज्ञेय या अविदित से ऊपर है। अन्यदेव तद् विदितादधो अविदितादधि।[4]

सम्पूर्ण उपनिषद् साहित्य में आत्म-विवेचन की दो प्रधान शैलियाँ मिलती हैं। पहली शैली आत्मा के अन्तर्यामी स्वरूप को प्रस्तुत करती है। इसके अनुसार आत्मा सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वान्तिर, सब का एकायन है। वह अणु से अणु और महान् से महान् है। इस शैली को अन्वय-विधि कहा जा सकता है। दूसरी शैली व्यतिरेक-विधि है। इसमें आत्मा का विवेचन "नेति नेति" की रीति से किया जाता है। जो कुछ ज्ञेय है, जो कुछ मर्त्य है, जो कुछ अल्प है और जो कुछ चित्य है वह सब आत्मा नहीं है। आत्मा न चल है, न अचल; न स्थायी है, न क्षणिक; न सूक्ष्म है, न स्थूल। वह सभी द्वन्द्वों और कोटियों से परे है।

---

1. मुण्डक उपनिषद् 2.2.9
2. वेदान्तदर्शन, डॉ० पाल डायसन (हिन्दी अनुवाद, संगमलाल पाण्डेय), पृ० 97.
3. भगवद्गीता, 7.4-5
4. केनोपनिषद्, 1.3

बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने आत्मा के स्वरूप के विषय में दो महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। पहली, आत्मा विषय नहीं हो सकती है—विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।[1] दूसरी, आत्मा ही एकमात्र प्रीतिपात्र है। सब कुछ आत्म-प्रेम के लिए ही होता है। जो कुछ प्रिय है, जो कुछ मूल्यवान् है, वह आत्म-प्रेम के कारण ही है। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियम् भवति।[2] अतः एकमात्र मूल्य या परमार्थ आत्मा है।

(3) आत्मा और ब्रह्म एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। छांदोग्य उपनिषद् में "तत् त्वम् असि" की व्याख्या करते हुए आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को अनेक दृष्टान्तों द्वारा आत्मा और ब्रह्म की एकता और अभिन्नता समझायी है। जैसे बरगद का बीज और बरगद का वृक्ष मूलतः एक हैं, जैसे समुद्र से मिलने पर नदियों का जल और समुद्र का जल एक है, जैसे नमक और पानी मिल जाने पर दोनों एकमेक हो जाते हैं, वैसे ही जीवात्मा और परमात्मा एक हैं। आत्मा सभी विषयों में व्याप्त है क्योंकि सभी विषय आत्मा के द्वारा ही ज्ञात होते हैं। इस कारण आत्मा ही सब कुछ है। वह सर्वव्यापी और अनन्त है। यही ब्रह्म का लक्षण है अतः आत्मा ही ब्रह्म है।

उपनिषद् के ऋषियों ने आत्मा और ब्रह्म की एकता का साक्षात् तथा अपरोक्ष अनुभव किया है। इस अनुभव को व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा सोऽहम् अस्मि[3], अहम् ब्रह्मास्मि[4]। अन्त में नानात्व को मिथ्या बताते हुए उपनिषदों में कहा गया है कि एकमात्र सत् आत्मा या ब्रह्म है। आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ है वह नाम-रूपात्मक है, विकार है, नश्वर है और जन्म-मरण के चक्र में डालनेवाला है। उपनिषद् के ऋषियों का अनुभव है कि नानात्व है ही नहीं। जो नानात्व देखते हैं, वे जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमते रहते हैं। नानात्व माया का प्रपंच है। आत्मा निष्प्रपंच है, ब्रह्म निष्प्रपंच है। इस कारण आत्मा ब्रह्म है।

आत्मा का लक्षण स्वयंज्योतिः और ज्योतियों की ज्योति, सत्य का सत्य है। वह ज्ञानस्वरूप है, असंग है, अज और अमर है। वह देह, इंद्रियों, प्राण, मन, वाक्, बुद्धि, हृदय और विज्ञान से भिन्न है। वह पंचमहाभूतों से भी भिन्न है। मन आत्मा द्वारा अभिमत है किन्तु आत्मा मन द्वारा अभिमत नहीं है। वाक् आत्मा द्वारा

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद्, 4. 5. 15
2. वही, 4. 5. 6
3. कौषीतकि उपनिषद्, 1.6
4. बृहदारण्यक उपनिषद् 1. 4. 10

अभिव्यक्त है किन्तु आत्मा वाक् द्वारा अभिव्यक्त नहीं है। इस प्रकार आत्मा मन और वाणी से अगोचर होते हुए भी मन और वाणी का आधार हैं।

9. परलोक विद्या

उपनिषदों का मत है कि इस जन्म में जीव जब मर जाता है तब वह अपने कर्म के अनुसार परलोक में फल पाता है। मृत्यु के बाद जीवों की तीन गतियाँ हैं— देवयान की गति, पितृयान की गति और तृतीय गति।

देवयान—जो लोग श्रद्धा और तप का अभ्यास करते हैं तथा औपनिषद् उपासना का मार्ग अपनाते हैं, उनका जीव देहपात के बाद पहले चिता की आग में प्रवेश करता है। वह आग से दिन में, दिन से शुक्लपक्ष में, शुक्लपक्ष से उत्तरायण के छह मास में, इन मासों से संवत्सर में, संवत्सर से आदित्य में, आदित्य से चन्द्रमा में और चन्द्रमा से विद्युत् में प्रवेश करता है। वहाँ एक अमानव पुरुष है। वह उस जीव को ब्रह्मलोक ले जाता है। ब्रह्मलोक में वह बहुत वर्ष तक रहता है और जब तक ब्रह्मा या ईश्वर परब्रह्म में लय नहीं होते तब तक उसकी मृत्युलोक में पुनरावृत्ति नहीं होती है। किन्तु जब पुनः ब्रह्मा का आविर्भाव होता है तो उस जीव की पुनरावृत्ति उपर्युक्त क्रम के अनुसार ही ब्रह्मलोक से मृत्युलोक में होती है। यह चक्र तब तक चलता रहता है जब तक मुक्ति नहीं मिलती।

पितृयान—जो लोग इष्ट, पूर्त और दान करते हैं तथा जो यज्ञ करते हैं वे जब अपने देहपात के पश्चात् चिता की अग्नि में प्रवेश करते हैं तो पहले वे उसके धूम में प्रवेश करते हैं। फिर वे यथाक्रम धूम से रात में, रात से कृष्ण पक्ष में, कृष्ण पक्ष से दक्षिणायन के छह महीनों में और वहाँ से पितृलोक जाते हैं। पितृलोक से वे आकाश में और आकाश से चन्द्रमा में प्रवेश करते हैं। जब वे चन्द्रमा में पहुँचते हैं तब वे अन्न हो जाते हैं और देवतागण उनका भक्षण करते हैं। जब तक उनका पुण्यक्षय नहीं हो जाता तब तक वे यहाँ रहते हैं। फिर जिस मार्ग से वे गये थे उसी मार्ग से वे लौटते हैं। जिसका आचरण रमणीय था, वह उत्तम योनि में पैदा होता है और जिसका आचरण अशुभ था वह अशुभ योनि में पैदा होता है।

तृतीय गति—ऊपर के दोनों मार्गों से भिन्न एक तीसरा मार्ग है जो उन क्षुद्र जीवों के लिए है जो शीघ्रता से पैदा होते और मरते रहते हैं। उनके मरण और पुनर्जन्म में कोई व्यवधान नहीं है। ऐसे जीवों में कीट, पतंग और डसनेवाले जीव हैं।

10. मोक्ष

मोक्ष अपुनर्भव है। इसका विपरीत पुनर्भव या पुनर्जन्म है जिसे जन्म-मरण

का चक्र या संसार कहा जाता है। उपनिषद् के दार्शनिक संसार को बंधन मानते हैं और इस बंधन से मुक्त होने को मोक्ष कहते हैं।

मोक्ष आत्मा का साक्षात् और अपरोक्ष ज्ञान है। यह एकत्व-दर्शन है। इस दर्शन को प्राप्त करने पर शोक-मोह नहीं रह जाते, सारे बन्धन, सारे संशय और सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं। जो जीव ऐसा दर्शन प्राप्त करता है वह आप्तकाम, कृतकृत्य, आनन्दघन और स्वराट् हो जाता है। उसके लिए कोई वस्तु अप्राप्य नहीं रहती। वह अमरत्व, आनन्द और स्वाराज्य भोगता है।

यदि इस जीवन में मोक्ष-लाभ हो जाता है तो जीवन सफल है, अन्यथा जीवन नष्ट है। बंधन की स्थिति दुःखदायी है। इस दुःख के अभाव का ही नाम मोक्ष है। किन्तु मोक्ष अभावात्मक नहीं है। वह भावात्मक आनन्द है। 'रसो वै सः'[1] कहकर उसका वर्णन किया जाता है। इस जगत् में जो कुछ सुख है वह मोक्ष-रूपी आनन्द का ही लव अंश है।

मोक्ष की प्राप्ति का एकमात्र उपाय ज्ञान है। आत्मतत्त्व को जानकर ही लोग मृत्यु का अतिक्रमण करते हैं। इसके अतिरिक्त मोक्ष का कोई और उपाय नहीं है।[2] इस ज्ञान को उपनिषदों में त्याग कहा गया है क्योंकि मोक्षदायक ज्ञान निवृत्तिपरक या संन्यासपरक है। प्रवृत्तिपरक या कर्मोन्मुख ज्ञान बंधनकारी है और उसे अज्ञान या अविद्या कहा गया है।

किन्तु यद्यपि बिना ज्ञान के मोक्ष-लाभ नहीं होता, तथापि इस ज्ञान में उपासना या भक्ति सहायक है। उपासना से ज्ञान-प्राप्ति की अर्हता प्राप्त होती है। उपासना के पूर्व कर्म भी ज्ञान-प्राप्ति में सहायक माना गया है। कर्म से चित्त शुद्ध होता है और उपासना के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। इस प्रकार कर्म से चित्त-शुद्धि, चित्तशुद्धि से भक्ति और भक्ति से ज्ञान उत्पन्न होते हैं। किन्तु ज्ञान के पश्चात् कर्म और भक्ति असम्भव है। कारण, एकत्व-दर्शन के पश्चात् जीव के ज्ञातृत्व-कर्तृत्व और भोक्तृत्व दूर हो जाते हैं।

ज्ञान प्राप्ति के तीन सोपान श्रवण, मनन और निदिध्यासन हैं। श्रवण, मनन और निदिध्यासन से आत्म-ज्ञान होता है और आत्मज्ञान होने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है। तब कुछ जानने योग्य रह ही नहीं जाता।[3] उपनिषदों का स्वाध्याय

---

1. तैत्तिरीय उपनिषद्, 2.7
2. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 3.8
3. बृहदारण्यक उपनिषद्, 2. 4. 5

करना, औपनिषद पुरुष की जानकारी प्राप्त करना श्रवण है। अपनी युक्तियों से इस श्रवण को सत्यापित करना, एक और अद्वितीय तत्त्व को सिद्ध करना तथा नानात्व को मिथ्या सिद्ध करना मनन है। फिर एक और अद्वितीय सत् पर सतत ध्यान करना निदिध्यासन है जो वास्तव में चित्त की वह एकाग्रता है जिसमें भ्रमर कीटवत् अनन्यता से साधक अपने साध्य से एकमेक हो जाता है। निदिध्यासन के पश्चात् समाधि की अवस्था है जिसमें अनुभव होता है कि मैं ब्रह्म हूँ, अहं ब्रह्मास्मि।[1] यही जीवनमुक्ति है। देह रहते ऐसी ब्रह्मानुभूति अनेक उपनिषद्-दार्शनिकों को मिली थी। वे जीवन्मुक्त थे और अपने शरीर को वैसे ही देखते थे जैसे साँप अपने छोड़े हुए केंचुल को देखता है। इन्हीं जीवन्मुक्त ऋषियों ने उपनिषद्-ज्ञान का विचार किया और एक ऐसा क्रांत दर्शन दिया जिसकी कल्पना मात्र से आज भी विश्व के सभी मनीषी आश्चर्यचकित हो जाते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि में जो कुछ सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्, उदात्तम्, पावनम् और रहस्यम् है वह सब उपनिषद् के इस क्रान्त दर्शन की तुलना में अत्यन्त अल्प है। औपनिषद् दर्शन के ग्रहणकर्त्ता क्रान्तदर्शी हैं। उनका दर्शन अत्युत्तम है। उससे बढ़कर या उससे मूल्यवान् आजतक कोई दर्शन नहीं हुआ है।

●

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद्, पृ० 1. 4. 10

अध्याय 3

आजीवक-दर्शन

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में पाँचवीं-छठी शताब्दी पूर्व का काल वस्तुतः वैचारिक क्रान्ति का काल था, क्योंकि इस काल में अनेक महापुरुषों और मनीषियों के चिन्तन और उपदेश के साथ ही महत्त्वपूर्ण आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्होंने न्यूनाधिक मात्रा में कुछ सामाजिक वर्गों के लिए क्लेश और उनके द्वारा जिज्ञासा के भाव को जन्म दिया। अतः सामाजिक परिवर्तन और क्रान्ति का अनुभव निस्सन्देह धर्म और दर्शन की नई सरणियों की खोज से सम्बन्ध रखता है। यही कारण है कि जैनागमों में महावीर के अतिरिक्त 263 और बौद्ध त्रिपिटकों में बुद्ध के अतिरिक्त 62 मतावलम्बियों को उपस्थित किया गया है। ध्यातव्य है कि जैन, बौद्ध दर्शन के साथ ही साथ उपर्युक्त मतावलम्बियों के विचारों की पृष्ठभूमि में वैदिक धर्म-दर्शन के विपरीत अवैदिक धर्म-दर्शन की ही परम्परा थी, जिसे श्रमण-परम्परा के नाम से अभिहित किया जाता है। इस परम्परा का सामूहिक स्वर पुरोहितों, कर्म-काण्डों, ईश्वर, आत्मा, वेदों आदि के विरुद्ध था और बदले में वे दुःखवादी, निवृत्ति-वादी, निरीश्वरवादी, जीववादी और क्रियावादी विचार के पोषक थे तथा उनकी दार्शनिक निष्ठा का मूल आधार संसारवाद अथवा कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त थे। ब्रह्मचर्य, तपस्या, योग आदि क्रियाओं की अपेक्षा के कारण निश्चित रूप से ये ब्राह्मणेतर, तथा वैदिक संस्कृति के बाह्यतर प्रतीत होते हैं। ऋक्-संहिता के केशिसूक्त में 'केश-धारी' मैले, गेरुये कपड़े पहने 'मौनेय', 'वातरसज' मुनियों और 'मुण्डकोपनिषद्' के मुण्डित-शिर, यज्ञ-विधि के निन्दक श्रमणों, व्रात्यों, यतियों के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि वैदिक धर्म-दर्शन के विपरीत श्रमण धर्म-दर्शन की एक अलग परम्परा थी। इस बात की पुष्टि मेगास्थनीज एवं पतंजलि के कथनों से भी होती है, जहाँ ब्राह्मण और श्रमण को परस्पर विविक्त और विरोधी बतलाया गया है। यह बात दूसरी है कि इन दो परम्पराओं ने एक दूसरे को प्रभावित किया है और भारतीय धर्म-दर्शनों को विस्तृत एवं स्पष्ट होने में समान सहयोग दिया है।

अतः श्रमण विचार-धारा में बौद्ध, जैन, आजीवक, चार्वाक आदि का उल्लेख होता है जिनमें से यहाँ मात्र आजीवक मंखली गोशाल एवं उसके समकालीन पूर्णकस्यप, अजित केशकम्बल, प्रक्रुध-कत्यायन एवं संजय वेलट्ठिपुत्त के ही विचारों को उपस्थित करना है, जिन्होंने क्रमशः नियतिवाद, अक्रियावाद, उच्छेदवाद, अन्योन्यवाद एवं विक्षेपवाद की स्थापना की ।।

आजीवक मंखलो गोशाल—नियतिवादी

गोशाल का पूरा नाम 'मंखलि गोशाल' अथवा 'मक्खली गोशालक' था। 'मक्खली' शब्द 'मस्करी' का ही पाली रूप है। गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला में जन्म लेने के कारण इनका नाम गोशाल अथवा गोशालक हो गया। स्वतन्त्र रूप से भिक्षा पर ही जीवित रहनेवाले साधु-संन्यासियों की तरह वे अपना जीवन व्यतीत किया करते थे। जैन ग्रन्थों में उल्लिखित है कि वे कुछ दिनों तक महावीर के साथ भी रहे और उनकी मृत्यु महावीर के कारण ही हुई थी। वे विशुद्ध रूप से नियतिवाद के शीर्षस्थ समर्थक थे और उनका यह मत लोगों के बीच काफी प्रचारित भी था। उनके छह शिष्यों का उल्लेख भी मिलता है, जिन्होंने उनके सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करने का व्रत लिया था। उनके ये शिष्य इस प्रकार हैं—(1) शान, (2) कलन्द, (3) कर्णिकार, (4) अच्छिद्र, (5) अग्नि वैश्यायन एवं (6) गोमायुपुत्र अर्जुन। श्रावस्ती नगरी की रूपवती, बुद्धिमती एवं धनाढ्य कुम्हारिन 'हालाहला' उनके मत की समर्थिका थी, जो आजीवक मत के प्रचार में सहयोग देती रही।

जैन ग्रन्थों के अनुशीलन से पता चलता है कि गोशाल से सातवाँ पूर्व आचार्य कुंडियायन हुआ था, जो आजीवक मत का संस्थापक था। उनके अनन्तर ऐणेयक, मल्लराम माल्यमण्डित, रोहभारद्वाज, गौतमपुत्र अर्जुन एवं मंखलिपुत्र गोशालक, ये सात पट्टधर हुए, जिन्होंने क्रमशः बाईस, इक्कीस, बीस, उन्नीस, अट्ठारह, सत्तरह तथा सोलह वर्षों तक आचार्यत्व ग्रहण किया था। बौद्ध ग्रन्थों से अन्य दो आचार्यों 'किस्ससंकिच्चा' एवं 'नन्दवच्छ' का भी पता चलता है, जो गोशालक के पूर्ववर्ती आजीवक थे। इस प्रकार इनका सम्प्रदाय उस समय मगध एवं अन्य क्षेत्रों में भी फैला हुआ था। और उसके बहुत सारे मतावलम्बी थे। आजीवकों का एक भारी संघ राजगृह के जेतवन के पीछे के भाग में ही रहता था। ये अत्यन्त कठिन तपस्या करते थे। ये पंचाग्नि तापते थे, उत्कुटिक (उकड़ूँ बैठनेवाले) थे और हवा में झूलते रहते थे (आचार्य नरेन्द्रदेव)। इन आजीवकों के लिए ही अशोक के पोते दशरथ ने गया के पास की बराबर पहाड़ी में कई गुफाएँ बनवायी थीं और उन्हें आजीवकों को दान दे दिया था। यहाँ

तक कि कई आजीवक राजा बिन्दुसार की मित्र-मण्डली में थे और उनकी रानी के परामर्शदाता भी थे (हिस्ट्री ऐण्ड डॉक्ट्रिन्स ऑव आजीवकाज, पृ० 131-32)। लोमहंस जातक (पृ० 390) के अनुसार स्वयं बोधि भगवान् कुछ दिनों के लिए आजीवक हुए थे। इससे ज्ञात होता है कि बौद्ध एवं जैन मुनियों के साथ आजीवक भी प्रतिष्ठित एवं श्रद्धा के पात्र समझे जाते थे। इस प्रकार के कई उल्लेख हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय आजीवक मत को माननेवाले बहुत से लोग थे। बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में कई ऐसे गृहस्थों की चर्चा है, जो उनके मत का प्रचार-प्रसार करने में सहयोग देते थे। आजीवकों की सभाएँ होती थीं और लोग उनसे अपने प्रश्नों का समाधान करते थे।

जैनाचार्य कालकाचार्य का निमित्त-शास्त्र पढ़ने के लिए आजीवकों के पास जाना, उनके उस शास्त्र में निपुण होने की सूचना देता है। विक्रमपूर्व प्रथम शताब्दी में दक्षिण भारत में आजीवकों का विशेष प्रचार दृष्टिगोचर होता है। 'बृहज्जातक', 'भट्टिकाव्य', 'हर्षचरित्र', 'अभिधानरत्नमाला', 'दिव्यावदान', 'औपपातिक सूत्र', 'निशीथचूर्णि', 'अनुयोगद्वार', 'जानकीहरण' आदि ग्रन्थों में आजीवकों के आचार-विचार कई खण्डों में देखने को मिलते हैं। कहीं उन्हें साधना के पिशाच, एक-दण्डी, पांडुरभिक्षु, मदिरा पीनेवाला एवं स्त्री-भोग में मत्त माना गया है तो कहीं मांस-मदिरा से रहित अहिंसक रूप में उपस्थित किया गया है। शीलांक टीका में इन्हें शैव माना गया है और भट्टोत्पल की दृष्टि में ये नारायण के भक्त हैं। नग्न रहना इनके सम्प्रदाय का स्वाभाविक धर्म था। वे तरह-तरह के तप एवं साधनाओं में रत रहा करते थे (औपपातिक सूत्र 41; स्थानांग सूत्र 4/309)।

'नियतिवाद' आजीवक दर्शन की रीढ़ है। नियति के लिए यहाँ भाग्य शब्द का भी प्रयोग हुआ है। वे मानते थे कि संसार में नियति ही परम तत्त्व है, जिसके कारण जागतिक सारे कार्य-कलाप संचालित होते हैं। जगत् की कोई भी घटना, कोई वस्तु पुरुष-प्रयत्न के द्वारा सिद्ध नहीं होती, बल्कि वह नियति के वश में होकर कार्य करती है। सत्त्वों के क्लेश का कोई हेतु या प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु और बिना प्रत्यय के ही प्राणी क्लेश पाते हैं। कोई मनुष्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता, पराये भी कुछ नहीं कर सकते। कोई भी पुरुष कुछ नहीं कर सकता है, क्योंकि बल, वीर्य एवं पराक्रम नाम की कोई वस्तु नहीं है। बल्कि भाग्य और संयोग के कारण मनुष्य सुख-दुःख भोगते हैं (दीर्घनिकाय, पृ० 20)। इन बातों का समर्थन आजीवक मत का अनुयायी सद्दालपुत्र भी करता है—मृत्तिकाभांड नियति बल से बनते हैं, पुरुष-पराक्रम से नहीं। सभी पदार्थ नियति के वशवर्ती होते हैं, जिसका जैसा होना नियत है, वह

वैसा ही बनता है, उसमें पुरुष-पराक्रम कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता, क्योंकि सब भाव नियत रहते हैं (उपासक दशांग, सातवाँ अध्ययन)। नियतिवाद के सम्बन्ध में कई ग्रन्थों में विचार किया गया है और नियतिवाद के लिए स्वभाववाद, यदृच्छावाद आदि का नाम दिया गया है। कई ग्रन्थों में आजीवक के साथ अजित केश कम्बल एवं पूरण कश्यप के विचार भी सम्मिलित कर लिये गये हैं। ऐसा लगता है कि आगे चलकर आजीवक मत में कई मत समाविष्ट हो गये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोशालक एक कट्टर भाग्यवादी था, जो सम्पूर्ण गतिविधि का नियामक नियति को ही मानता था। उसका कहना था कि मनुष्य का दुःख, कष्ट आदि उसके पूर्व कर्म के कारण नहीं हैं, बल्कि नियतिवश हैं और संचित बुरे कर्मों से छुटकारा पाना भी बिना कारण अथवा आधार के है। इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है कि गोशाल की दृष्टि में कर्म का अस्तित्व ही नहीं था, ऐसी बात नहीं है; बल्कि वह कर्म के सिद्धान्त में कोई नैतिक बल नहीं पाता था, क्योंकि उसके अनुसार नैतिक आचरण (व्रत, तप, ब्रह्मचर्यादि) का प्रभाव कर्म पर नहीं पड़ता है। इसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य (आत्मा) चौरासी लाख महाकल्प में परिभ्रमण करने को बाध्य होता है और प्रत्येक प्राणी (जीव) का विकास उसकी नियति, संगति एवं भाव पर निर्भर होता है ('सुमंगल विलासिनी' टी०, भाग 1, पृ० 160)। सामञ्ञफलसुत्त में इस सन्दर्भ में नियति, संगति, भाव, परिणता के उल्लेख मिलते हैं। यहाँ 'परिणता' शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाया है। अतः आजीवक के तत्त्व-मीमांसा में भाव वस्तुतः वस्तु के स्वभाव का ही पर्याय है अथवा नियति की प्रक्रिया का द्योतक है, जिसके अन्तर्गत नियंत्रित उत्पत्ति, विकास एवं पुनर्जन्म होते हैं। कुछ लोगों की दृष्टि में स्वभाव ही नियति है। कर्म के सिद्धान्त एवं पुरुषार्थ को नहीं मानने के कारण स्वभाव अथवा नियतिवाद को अक्रियावाद भी कहा जाता है। लेकिन स्वभाववाद और नियतिवाद में थोड़ा अन्तर है। स्वभाववाद जहाँ मानता है कि प्राणी (जीव) का नियामक प्राणी (जीव) से भिन्न नहीं है, वहाँ नियतिवाद नियामक को जीव से भिन्न मानता है। इस सन्दर्भ में संगति संयोग के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। 'सूत्र-कृतांग' (1/1/2.3) के अनुसार दुःख-सुख न स्वयंकृत है न दूसरे का किया हुआ ही है। बल्कि वह साधन के बिना ही उत्पन्न होता है और जो मात्र संयोग या नियतिकृत है।

आगे चलकर आजीवक मत में परिवर्तन देखने को मिलते हैं। अब तक इस मत में जहाँ विश्वनियंता-शक्ति के रूप में नियति को परम कारण एवं मात्र एक कारण माना जाता था, वहाँ बाद में ऐसा माना जाने लगा कि नियति परम कारण है। परन्तु एकमात्र कारण नहीं है तथा उसके साथ भाव, संगति आदि अन्य कारण भी हैं।

आत्मा को तीन राशियों अर्थात् अवस्थाओं में बतलाने के कारण आजीवक मत को त्रैराशिक भी कहा जाता है। इस मत के अनुसार जीव अनन्त काल के पश्चात् संसार से उद्विग्न होकर शुद्धाचरण-सम्पन्न होता है और शुद्धाचार-सम्पन्न होकर मोक्ष को प्राप्त करके कर्म-रहित हो जाता है। परन्तु वह फिर अपने शासन की पूजा और तिरस्कार देखकर राग-द्वेष करता है। राग-द्वेष के कारण वह फिर कर्म-सहित हो जाता है। इस प्रकार त्रैराशिक आत्मा या जीव तीन राशियों को प्राप्त करता है। आत्मा की इन तीन अवस्थाओं की कल्पना गोशालक मत की अपनी एक विशेषता है।

दक्षिणी परम्परा (प्रमुख तीन ग्रन्थ—मणिमेखलै, नीलकेशी एवं शिवणाण चेट्टिअर) में उल्लिखित आजीवकों के मत में परमाणुवाद की चर्चा देखने को मिलती है, जो गोशाल के मौलिक सिद्धान्त से भिन्न है। परमाणुवाद के सन्दर्भ में गोशाल, कश्यप एवं कात्यायन तीनों ही सात तत्त्वों को मानते हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीव। इनमें से प्रथम चार तत्त्वों के साथ काया शब्द का व्यवहार हुआ है और अन्तिम तीन तत्त्वों के साथ नहीं। अतः ऐसा जान पड़ता है कि अन्तिम तीन तत्त्वों को बाद में सम्मिलित कर लिया गया, जो प्रकुध के सात तत्त्वों का प्रभाव ग्रहण के सिवाय और कुछ नहीं। यहाँ उल्लिखित है कि ये सारे तत्त्व अकर्त्ता एवं बंध्या हैं और एक दूसरे को प्रभावित करने में भी असमर्थ हैं। मणिमेखलै में भी उल्लिखित है कि ये तत्त्व उत्पत्ति और विनाश से मुक्त हैं। आपस में इन तत्त्वों का संघटन होता है लेकिन मिश्रण नहीं और इनका जिस अनुपात में संघटन होता है उसी आधार पर उसका नामकरण भी होता है। इन तत्त्वों की अपनी-अपनी विशेषताएँ भी होती हैं।

आजीवक मत में आठ चरम पद और छः अनतिक्रमणीय की चर्चा हुई है, जिनके सम्बन्ध में प्रकाश डालना यहाँ समीचीन नहीं है।

आजीवक गोशाल के आचार श्रमण-परम्परा के आधार से मिलते-जुलते हैं। इस सम्प्रदाय में दो प्रकार के लोग थे—भिक्षु और गृहस्थ। भिक्षु नंगे रहते थे, कठिन तपस्या करते थे और इधर-उधर से माँगकर खाते थे। ग्राम, नगर, पुर और सन्निवेशों में जो आजीवक रहते थे, उनके कई प्रकार थे। जैसे द्विगृहान्तरित, त्रिगृहान्तरित, सप्तगृहान्तरित, उत्पलवृन्तिक, गृह-सामुदानिक आदि (औपपातिक सूत्र)। वे अपने हाथों से भोजन करते थे, देहली के बीच रखा हुआ ओखली में कूटा हुआ तथा चूल्हे पर पका हुआ आहार ग्रहण नहीं करते थे। ये मद्य, मांस, प्याज, लहसुन, कन्द, मूल, गूलर, शहतूत, पीपल आदि के फलों का त्याग करते थे (मज्झिम निकाय, प्रकरण

26) । इनका आचार जैन साधुओं से बहुत मिलता-जुलता था । इसलिए इन्हें 'पासत्थ' कहा गया है ।

पूर्णकाश्यप (अक्रियावादी)

अनुभवों से पूर्ण समझे जाने के कारण इन्हें 'पूर्ण' कहा जाता है और ब्राह्मण होने के कारण 'काश्यप' । यह भी कहा जाता है कि वे किसी श्रीमंत के यहाँ दास थे और जन्म से उनका क्रम सौवाँ था । अतः उनका नाम पूरण पड़ा । पर यह संगत नहीं है । जो जाति से काश्यप था, वह जन्म से दास कैसे होता । इनके जीवन सम्बन्धी कई किंवदन्तियाँ हैं । एक बौद्ध किंवदन्ती के अनुसार वे एक प्रतिष्ठित गृहस्थ के पुत्र थे और उन्होंने किसी के यहाँ नौकरी कर ली थी । स्वामी ने एक दिन उन्हें द्वारपाल का कार्य सौंपा तो उन्हें अपमान प्रतीत हुआ और वे जंगल की ओर चल दिये । वहाँ चोरों ने उनके सारे वस्त्र छीन लिये और वे नग्न हो गये । वैसी अवस्था में ही भिक्षा के सिलसिले में उन्हें किसी गाँव में जाना पड़ा । लोगों ने उन्हें नंगा देखकर पहनने को कपड़े दिये । लेकिन उन्होंने वस्त्र लौटाते हुए कहा, "मुझे कपड़े की जरूरत नहीं है, क्योंकि वस्त्र का प्रयोजन लज्जा-निवारण है और लज्जा का मूल पाप-प्रवृत्ति है । मैं इस प्रवृत्ति से दूर हूँ, तो मुझे वस्त्र का क्या प्रयोजन ।" इस प्रकार इनकी इस निस्पृहता से लोग इनके अनुयायी होने लगे । उनके अनुयायियों की संख्या अस्सी हजार बतायी जाती है । 'भगवतीसूत्र' के अनुसार वे महावीर के समसामयिक माने गये हैं । 'ललितविस्तर' में कहा गया है कि अवन्ती का राजा चन्द्रप्रद्योत इन्हीं के सम्प्रदाय को माननेवाला था । धम्मपद अट्ठकथा (1/144) में उनके निधन के सम्बन्ध में एक विचित्र कथा देखने को मिलती है, जिसमें कहा गया है कि बुद्ध के समक्ष दिव्य-शक्ति प्रदर्शन में असफल होकर उन्होंने एक नदी की तेज धारा में अपने आपको समर्पित कर दिया और वे सदा के लिए संसार से चल बसे । पुनः दूसरे मत के अनुसार बुद्ध के सोलह वर्ष की अवस्था में पूरण की मृत्यु श्रावस्ती में हुई थी । 'समञ्ञफलसुत्त' के अनुसार पूरण कश्यप अजातशत्रु के समकालीन माने गये हैं और 'मिलिन्द प्रश्न' के अनुसार मिलिन्द के समकालीन ।

पूर्ण कश्यप को अक्रियावादी विचारधारा का समर्थक माना जाता है क्योंकि इनकी दृष्टि में आत्मा निष्क्रिय एवं कर्म निष्फल हैं । उनका कहना था कि यदि कोई गंगा नदी के दक्षिणी किनारे पर हत्या करे या डाका डाले तो भी कोई पाप नहीं होगा और यदि कोई उत्तरी किनारे पर यज्ञ करे या दान दे, तो भी किसी प्रकार का पुण्य नहीं मिलेगा । उनके विचार में छेदन करने-कराने, पकाने-पकवाने, शोक करने-कराने,

प्राण-हरण करने-कराने, सेंध काटने-कटवाने, गाँव लूटने-लुटवाने, बटमारी करने-कराने, आदि में पाप नहीं होता। झूठ बोलने और परस्त्री-गमन करने से भी पाप नहीं लगता। उनका कहना था कि प्राणियों के वध करने से धरती पर यदि मांस का खलिहान भी लग जाय, तो भी कोई पाप नहीं होगा। इसी प्रकार उनका कहना था कि दान, यज्ञ, संयम आदि भी पुण्य-प्राप्ति के कारण नहीं हैं। किन्तु इन सब के बावजूद समाधि, व्रत एवं तपश्चर्या में इनकी श्रद्धा अगाध थी। ये सांख्य सिद्धान्त की तरह आत्मा को निष्क्रिय मानते थे व परपुरुषार्थ का फल नहीं मानते थे। सांख्य के अनुसार आत्मा प्रकृति से भिन्न है और मारना-मरवाना आदि बातों का परिणाम उस पर नहीं होता। इस बात का समर्थन 'गीता' भी करती है (3/27, 2/21 और 18/17)। उसके अनुसार सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए हैं तो भी अहंकार से मोहित हुआ आत्मा ऐसा मानता है कि "मैं करता हूँ।" पुनः जो इस आत्मा को मारनेवाला समझता है या जो इसे मारा जानेवाला मानता है उन दोनों ने ही सत्य को नहीं समझा है, क्योंकि वह आत्मा न मरता है और न किसी के द्वारा मारा जाता है। जिसमें अहंभाव नहीं है, जिसकी बुद्धि अलिप्त रहती है, वह लोगों को मारकर भी उन्हें नहीं मारता, उसमें बँधता नहीं। 'सूत्रकृतांग' के टीकाकार शीलांक के मत में आत्मा मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्याय और जपास्फटिकन्याय से यद्यपि स्थितिक्रिया और भोगक्रिया करता है तथापि वह समस्त क्रिया का कर्त्ता नहीं है, क्योंकि वह सर्वव्यापी और अमूर्त्त है।

अक्रियावाद और गोशाल के संसारशुद्धिवाद में साम्य दीख पड़ता है। उसका कहना यह था कि यद्यपि आत्मा प्रकृति से अलिप्त है फिर भी उसे निश्चित ही जन्म लेने पड़ते हैं और उसके बाद वह आप-ही-आप मुक्त हो जाती है। यह कल्पना आज भी हिन्दू समाज में पायी जाती है कि चौरासी लाख जन्म लेकर प्राणी उन्नत स्थिति को पहुँच सकता है। ऐसा लगता है कि मंक्खली गोशाल के समय में यह कल्पना बहुत प्रचलित थी।

ऐसे बहुत से उद्धरण दिये जा सकते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जाता है कि आगे चलकर पूरण कश्यप का सम्प्रदाय गोशालक के आजीवक पंथ में शामिल हो गया था। 'अंगुत्तर निकाय' में आनन्द बुद्ध भगवान् से कहता है, "भदन्त, पूरण कस्सप ने कृष्ण, नील, लोहित, हरिद्र, शुक्ल और परमशुक्ल छः अभिजातियाँ बतायी हैं, बधिक, व्याध आदि लोगों का समावेश कृष्णाभिजाति में होता है। भिक्षु आदि कर्मवादी लोगों का नीच जाति में, एक वस्त्र पहननेवाले निर्ग्रन्थों का लोहिताभिजाति

में, शुभ वस्त्र पहननेवाले अचेलक श्रावकों (आजीवकों) का हरिद्राभिजाति में, आजीवकों और आजीवक भिक्षुणियों का शुक्लाभिजाति में और नन्दवच्छ किसी संकिच्च तथा मक्खलिगोशाल का समावेश परमशुक्लाभिजाति में होता है।" इस संदर्भ में कहा जाता है कि जैन मत में वेश्याओं की कल्पना अभिजातियों के आधार पर हुई है। डॉ० वेलवलकार एवं डॉ० रानाडे के मत में बुद्ध का प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त पूरणकश्यप के 'अधिच्च समुपाद' सिद्धान्त के आधार पर ही विकसित हुआ है। इनके आचार-विचार गोशालक मत से मिलते-जुलते थे। बुद्धघोष के अनुसार ये अचेल रहा करते थे। जैन ग्रंथ में अक्रियावादी के चौरासी प्रकार देखने को मिलते हैं। डॉ० बरुआ ने बताया है कि इसके मत से साम्य रखता हुआ मत बहुत प्राचीन काल में भी विकसित हुआ था, जो ब्राह्मणस्पति का था।

अजित केशकम्बल—उच्छेदवादी

इन्हें 'उच्छेदवाद' या जड़वाद का अग्रणी माना जाता है। ये वात्यों में प्रमुख माने जाते हैं। ये तपस्या में लीन होकर वर्षों खड़े ही रह जाते थे। केशों का बना कम्बल धारण करने के कारण इन्हें 'केश कम्बली' कहा जाता है। एफ० एल० उड-वर्ड के अनुसार यह कम्बल मनुष्य के केशों का ही बना होता था। इनकी मान्यता लोकायतिक दर्शन जैसी ही थी। कुछ विद्वानों (डॉ० बरुआ) का यह भी अभिमत है कि नास्तिक दर्शन के आदि प्रवर्त्तक भारत में यही थे। बृहस्पति ने इनके अभिमतों को ही विकसित रूप दिया हो, ऐसा लगता है। इन्हीं के दर्शन के सिद्धान्त पर लोकायत और अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्त की नींव पड़ी थी, जिस पर सुदृढ़ प्रासाद कौटिल्य ने आगे चलकर तैयार किया।

इनका सम्प्रदाय अग्निहोत्र, वेद, त्रिदण्ड तथा तपस्या का भी विरोधी था। ये तत्परता से वैदिकी हिंसा का विरोध तथा कड़ाई के साथ सदाचार का पालन करते थे। इसलिए लोक में इनके सम्प्रदाय को आदर एवं सम्मान प्राप्त था, यहाँ तक कि 'वत्स' देश का तत्कालीन राजा उदयन इनके सम्प्रदाय का उपासक था। ज्ञात होता है कि इन्हीं के सिद्धान्त के आधार पर हितोपदेश (मित्रलाभ) में कहा गया है कि यज्ञ, वेददान, तप, सत्य, धृति, क्षमा और अलोभ, ये आठ धर्म के मार्ग हैं, जिनमें प्रथम चार का सेवन तो स्वार्थी और दम्भी भी करते हैं, पर अन्तिम चार का सेवन महात्मा ही करते हैं।

'सामञ्जफल सुत्त' के अनुसार इनके विचार में "दान का फल नहीं है, यज्ञ का फल नहीं है, हवन का फल नहीं है और न सुकृत-दुष्कृत कर्मों का फल या विपाक

ही है। यह लोक नहीं है, परलोक भी नहीं है, माता--पिता नहीं हैं। औपपातिक या देवादि प्राणी भी नहीं हैं। लोक में सत्य को प्राप्त श्रमण-ब्राह्मण नहीं हैं, जो इस लोक-परलोक को स्वयं जानकर या साक्षात्कार कर दूसरों को बतला सके। यह पुरुष चार भूतों का बना है। मनुष्य जब मरता है, तब पृथ्वी-काय पृथ्वी में मिल जाती है, अप-काय जल में मिल जाती है, तेज-काय अग्नि में मिल जाती है, वायु-काय वायु में मिल जाती है और इन्द्रियाँ आकाश में चली जाती हैं। पुरुष मृत-शरीर को खाट पर ले जाते हैं। जलाने तक पद (चिह्न) जान पड़ते हैं, फिर हड्डियाँ कबूतर के पंख-सी सफेद हो जाती हैं। पूर्वकृत आहुतियाँ राख हो जाती हैं। यह दान मूर्खों का प्रज्ञापन (उपदेश) है। जो कोई आस्तिकवादी कहते हैं, वह उनकी तुच्छता (झूठ) है। मूर्ख या पण्डित सभी शरीर छोड़ने पर विनष्ट हो जाते हैं, मरने के बाद कोई नहीं रहता।"

यही विचार-धारा 'सूत्रकृतांग' में इस प्रकार प्रकट हुई है—"जो अज्ञानी हैं और जो ज्ञानी हैं उन सबकी आत्मा भिन्न-भिन्न है, एक नहीं है। मरने के बाद आत्मा नहीं रहती है। अतः परलोक में जानेवाला कोई नित्य पदार्थ नहीं है।" उच्छेदवाद को यहाँ तज्जीवतच्छरीरवाद कहा गया है, जिसके सन्दर्भ में टीकाकार शीलांक का कहना है कि "स एव जीवस्तदेव शरीरमिति वदितुं शीलमस्येति तज्जीवतच्छरीर-वादी" अर्थात् वही जीव है और वही शरीर है, जो यह बतलाता है उसे तज्जीवच्छ-रीरवादी कहते हैं। यद्यपि भूतवादी भी शरीर को आत्मा कहते हैं, तथापि उनके मत में पाँच भूत ही शरीर-रूप में परिणत होकर सब क्रियाएँ करते हैं। परन्तु तज्जीव-शरीरवादी के मत में यह नहीं है। वह शरीर-रूप में परिणत पाँच भूतों से चैतन्य शक्ति की उत्पत्ति मानता है। यही इसका भूतवादी भेद है। पुनः कहा गया है कि "पुण्य-पाप नहीं है। इस लोक से भिन्न दूसरा लोक भी नहीं है, शरीर का नाश हो जाने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है।" इस सन्दर्भ में टीकाकार शीलांक ने बहुत से दृष्टान्त उपस्थित किये हैं। यथा जल के बुद्बुद् जैसे जल से भिन्न वस्तु नहीं हैं, उसी तरह पाँच भूतों से भिन्न कोई आत्मा नहीं है तथा जैसे केले के खम्भे के बाहरी छिलकों के उतारते जाने पर सब छिलके ही छिलके रह जाते हैं, उनसे भिन्न सार-रूप पदार्थ केले के अन्दर नहीं होता, इसी तरह शरीर सम्बन्धी पाँच भूतों के अलग-अलग होने पर उनसे भिन्न कोई सार-रूप आत्मा नहीं पायी जाती है तथा जिस तरह आग का गोला, घुमाने पर चक्रवृद्धि उत्पन्न करता है इसी तरह भूत-समुदाय, बोलना, चलना आदि विशिष्ट क्रिया करता हुआ 'जीव' होने का भ्रम उत्पन्न करता है तथा जिस तरह स्वप्न में घट, पट आदि बाहरी पदार्थों के बिना भी बाहरी पदार्थों के रूप में उनके ज्ञान का अनुभव किया जाता है, उसी तरह आत्मा के बिना भी भूत-समुदाय में

आत्मा का ज्ञान उत्पन्न होता है, आदि। यहाँ शंका उत्पन्न हो सकती है कि यदि पाँच भूतों से भिन्न 'आत्मा' नामक कोई अलग पदार्थ नहीं है और उसके किये हुए पुण्यपाप भी नहीं हैं तो यह विचित्र जगत् किस तरह हो सकता है? इस जगत् में कोई धनवान है तो कोई दरिद्र, कोई सुन्दर है तो कोई कुरूप आदि। इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह स्वभाव से होता है। जैसे किसी पत्थर के टुकड़े की देवमूर्ति बनायी जाती है और वही मूर्ति कुंकुम, अगर, चंदन आदि विलेपनों को भोगती है तथा दूसरे पत्थर के टुकड़े पर पैर आदि धोने का कार्य किया जाता है लेकिन पत्थरों के टुकड़ों का कोई पुण्य-पाप नहीं होता, जिनके उदय से उनकी वैसी अवस्थाएँ होती हैं। अतः स्वभाव से ही जगत् की विचित्रता है।

अजित केशकम्बल के विचार कई ग्रन्थों में देखने को मिलते हैं। उन्हें कहीं उच्छेदवादी कहा जाता है, कहीं क्षत-विधवादी, कहीं कायावादी और कहीं लोकायत-नवादी। ऐसा लगता है, आगे चलकर इस मत का विलयन चार्वाक और आजीवकों के साथ हो गया, क्योंकि कहीं-कहीं उक्त दोनों परम्पराओं में इसका उल्लेख किया जाता है।

जिस प्रकार उसे ब्राह्मणों के यज्ञ-याग पसन्द नहीं थे, उसी प्रकार आजीव-कादि श्रमणों की तपश्चर्या भी उसे स्वीकार्य नहीं थी। फिर भी वह श्रमणों के आचार-विचारों का सम्यक् पालन करता था।

प्रक्रुध कात्यायन—अन्योन्यवादी

ककुद्ध वृक्ष के नीचे पैदा होने के कारण उन्हें 'प्रकुध' कहा गया है। प्रश्नोपनिषद् में इन्हें 'ऋषि पिपलाब्द' का समकालीन और ब्राह्मण बतलाया गया है, हालाँकि वहाँ उनका नाम 'कबन्धी कात्यायन' बताया गया है। पर कबन्धी और प्रकुध एक ही शारीरिक दोष (कूबड़) के वाचक हैं। बौद्ध टीकाकारों ने इन्हें पकुध गोत्री होने से पकुध माना है। पर आचार्य बुद्धघोष ने प्रक्रुध उनका व्यक्तिगत नाम और कात्यायन उनका गोत्र माना है। कात्यायन बुद्ध के समकालीन थे, फिर भी उनसे बड़े थे।

इनका मत अन्योन्यवाद कहा जाता है, क्योंकि ये किसी एक पदार्थ में न तो शक्ति मानते थे और न पुण्य आत्मा ही। इनका सिद्धान्त अकृततावाद भी कहलाता है। इनके अनुसार जगत् में सात पदार्थ हैं—पृथिवी, अप, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीव। ये पदार्थ किसी के द्वारा बनाये या बनवाये नहीं हैं। ये पदार्थ अवध्य, कूटस्थ और नगर-द्वार के स्तम्भ की भांति अचल हैं। ये परस्पर एक दूसरे को नहीं सताते और न एक दूसरे में सुख-दुःख उत्पन्न करने में ही समर्थ हैं। इन्हें मारने-मरवाने,

सुनने-सुनवाने, जानने या बतलानेवाला भी कोई नहीं है। जो कोई किसी का सिर काटता है, वह उसे नहीं मारता। इन सातों के ऊपर तो शस्त्र-घात हो ही नहीं सकता।

इनके अनुसार प्रधान "योनि चौदस सौ, हजार (दूसरी), साठ सौ, छिआसठ सौ पाँच सौ कर्म, और पाँच कर्म, तीन कर्म, (एक) कर्म और आधाकर्म, बासठ प्रतिपद, बासठ अन्तर्कल्प, छह अभिजातियाँ, आठ पुरुष की भूमियाँ, उनचास सौ आजीवक, उनचास सौ परिव्राजक, उनचास नागों के आवास, बीस सौ इन्द्रिय, तीन सौ नरक, छत्तीस रजोधातु, सात संज्ञावान गर्भ, सात असंज्ञी गर्भ, सात निर्ग्रन्थी गर्भ, सात देव, सात मनुष्य, सात पिशाच, सात सरोवर, सात गाँठ (पमुट), सात प्रपात—सात सौ प्रपात, सात स्वप्न—सात सौ स्वप्न हैं। इनमें चौरासी हजार महाकल्पों तक दौड़कर अर्थात् आवागमन में पड़कर मूर्ख और पण्डित सभी दुःख का अन्त करते हैं अर्थात् निर्वाण प्राप्त करते हैं।" इनकी दृष्टि में ज्ञानी और अज्ञानी में कोई अन्तर नहीं है। इस दृष्टि से इनके मत को अज्ञानवाद भी कहा जाता है। इनका कहना हैं—"शील का व्रत या तप ब्रह्मचर्य से मैं अपरिपक्व कर्म को पचाऊँगा और परिपक्व कर्म को भोगकर अन्त करूँगा। अतः इनका आचार-पक्ष सबल मालूम पड़ता है। यह भी प्रतिभासित होता है कि कर्म का अन्त व्रत, तप अथवा ब्रह्मचर्य से सम्भव है। इनकी दृष्टि में उत्कर्ष-अपकर्ष, मान-अपमान आदि कुछ भी नहीं होते। सुख-दुःख द्रोण (नाप) से नपे-तुले होते हैं, जिनका घटाना-बढ़ाना संसार में सम्भव नहीं है। जैसे सूत की गोली फेंकने पर उधरती हुई गिरती है, ऐसे ही मूर्ख और पण्डित दौड़कर आवागमन में पड़कर, दुःख का अन्त करते हैं।

इनके अनुसार छः तत्त्वों की चर्चा भी देखने को मिलती है, जिसे 'आत्म षट्वाद' कहा जाता है। अर्थात् महाभूत पाँच हैं और आत्मा छठा है तथा वे नित्य हैं। टीकाकार शीलांक ने स्पष्ट किया है कि महाभूत अपने अचेतन स्वभाव से और आत्मा चेतन स्वभाव से कभी नष्ट नहीं होते हैं। ये अभाव-रूप में होकर भाव-रूप में नहीं आते हैं। जगत् में जो उत्पत्ति और विकास व्यवहार होता है, वह भी वस्तु की प्रकटता और अप्रकटता को लेकर ही होता है। अतः कहा है कि 'नासतो'—असत् पदार्थ का भाव नहीं है अर्थात् जो वस्तु नहीं है वह होती नहीं है और सत् पदार्थ का कभी अभाव नहीं होता।

धर्मानन्द कौशाम्बी के अनुसार इसका अन्योन्यवाद वैशेषिक दर्शन की ही तरह था। अर्वाचीन वैशेषिक दर्शन उसी के तत्त्व-ज्ञान से निकला हो, सम्भव है। लेकिन इनके सात पदार्थ एवं वैशेषिकों के साथ पदार्थों में समानता नहीं दीख पड़ती। इनके अनुसार सात पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष, समवाय एवं अभाव हैं।

डॉ० बरुआ ने बताया है कि कात्यायन का जो जीव अथवा अप्पा शब्द का अर्थ है, वही अर्थ महिदास के 'प्राण' शब्द और उद्दालक के 'जीवात्मा' शब्द भी प्रकट करते हैं। उन्होंने यहाँ तक कहा है कि कात्यायन मत का प्रभाव-ग्रहण महावीर एवं बुद्ध ने भी किया है।

बुद्धघोष के अनुसार इस मत का आचार-पक्ष तप-व्रत, ब्रह्मचर्य आदि से विभूषित था। वे सर्वदा गर्म जल का सेवन करते थे और ठंडे पानी से परहेज करते थे। ऐसा लगता है कि इस सम्प्रदाय का विलयन आजीवक सम्प्रदाय में हो गया क्योंकि कई ग्रन्थों में आजीवक गोशाल के साथ कात्यायन का नाम उल्लिखित मिलता है। इस सन्दर्भ में 'महानारद-कश्यप-जातक' में आजीवक के नियतिवाद के साथ इनके तत्त्व संबंधी विचारों का सम्मिलन देखा जा सकता है।

संजयबेलट्ठिपुत्र—विच्छेपवादी

इन्हें 'विच्छेपवादी' या 'अज्ञानवादी' या 'अनिश्चिततावादी' भी कहा जाता है। इनका नाम संजय था और इनके पिता का नाम बेलट्ठ था। तत्कालीन परम्परा के अनुसार इनके पिता के नाम से इनका भी नाम सम्बन्धित कर दिया गया था। आचार्य बुद्धघोष भी इस विचार का समर्थन करते हैं। कुछ लोगों के अनुसार सारिपुत्र एवं मौद्गल्यायन के पूर्ववर्ती आचार्य संजय परिव्राजक ही संजयबेलट्ठिपुत्र हैं। लेकिन यह यथार्थ नहीं लगता। दूसरे शब्दों में, उन्हें (बेलट्ठिपुत्र को) सारिपुत्र एवं मौद्गल्यायन का गुरु माना गया है। उनके विचार 'विच्छेपवाद' के समर्थक थे। इसलिए उन्हें विच्छेपवादी कहा जाता है। विच्छेपवाद के अनुसार 'अस्ति' और 'नास्ति' किसी का भी समर्थन नहीं किया जा सकता। 'दीर्घनिकाय' (सामञ्जफलसुत्त) के अनुसार उनका कहना था कि "यदि कोई मुझसे पूछे कि क्या परलोक है तो मैं कहूँगा—हाँ। परन्तु मुझे वैसा नहीं लगता। मुझे ऐसा भी नहीं लगता कि परलोक नहीं है। औपपातिक प्राणी है या नहीं, अच्छे-बुरे कर्म का फल होता है या नहीं, तथागत मृत्यु के बाद रहता है या नहीं, इनमें से किसी भी बात के विषय में मेरी निश्चित धारणा नहीं है।" उनके विचार में जन्म-मरण, इहलोक-परलोक, अच्छे-बुरे कर्मों के फल आदि के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं दीख पड़ते। अर्थात् उनके सारे के सारे विचार अनिश्चितता अर्थात् संशय में डालते हैं। कुछ लोगों की दृष्टि में इनका विच्छेपवाद जैनियों के स्याद्वाद का प्राक् रूप है और महावीर एवं बुद्ध ने इनके विचारों से प्रभाव-ग्रहण किया था। बात यह है कि विच्छेपवाद का प्रभाव जैन मत के स्याद्वाद पर पड़ा अवश्य है लेकिन दोनों में अन्तर है। विच्छेपवाद जहाँ संशय अथवा नका-

रात्मक विचार का द्योतक है, वहाँ स्याद्वाद एक निश्चित दृष्टि अथवा स्वीकारात्मक विचार-धारा का पोषक है। यद्यपि विधि, निषेध, उभय और अनुभय, इन चार पक्षों की परम्परा उपनिषदों, त्रिपिटकों और आगमों में भी देखने को मिलती है, तथापि चारों पक्षों को लेकर सात पक्षों का रूप स्थिर करना तथा उन्हें स्वीकारात्मक विचार-धारा से सम्बन्धित करना जैन मत की अपनी विशेषता है। वस्तुतः संजय के चार पक्ष संशय प्रदान करते हैं और एक निश्चित दृष्टि नहीं देते। जैसे—

(1) परलोक है।
(2) परलोक नहीं है।
(3) परलोक है और नहीं है।
(4) परलोक है, ऐसा नहीं; नहीं है, ऐसा नहीं।

विच्छेपवाद को अज्ञानवाद भी कहा जाता है, क्योंकि इनमें विकल्पों के कारण विभिन्न मतों की सृष्टि होती है और निश्चित ज्ञान भी अज्ञान में बदल जाता है। जैन ग्रन्थों में इस अज्ञानवाद के 67 भेद देखने को मिलते हैं। कहा गया है कि कोई दुर्बुद्धि इस प्रकार के वितर्क के कारण दूसरे अर्थात् ज्ञानवादी की सेवा नहीं करते हैं, वे अपने वितर्क के कारण यह मानते हैं कि अज्ञान ही यथार्थ है। अज्ञानवादी वस्तुतः अन्धा मनुष्य है, जो दूसरे अन्धे को मार्ग में ले जाता है तथा जिस मार्ग से जाना है उससे भिन्न, दूसरे मार्ग में चला जाता है अतः अज्ञानवादी अपने को तथा दूसरे को शिक्षा देने में समर्थ नही हैं। वे अनार्य श्रमण शंका-रहित अनुष्ठानों में शंका करते हैं तथा शंका-सहित अनुष्ठानों में शंका करते हैं। लोभ, मान, माया और क्रोध को छोड़कर जीव कर्मांश-रहित होता है परन्तु मृग के समान अज्ञानी मनुष्य उसे छोड़ देता है।

'मज्झिमनिकाय' (सन्दक-सुतन्त) में भी इनके संशययुक्त विचारों का दर्शन होता है, जिनके अनुसार इनका कहना था कि "ऐसा भी मेरा मत नहीं, वैसा भी मेरा मत नहीं, अन्यथा में भी मेरा मत नहीं, नहीं भी मेरा मत नहीं, न नहीं भी मेरा मत नहीं।" फिर भी भारतीय चिन्तन की तर्क-प्रणाली को विकसित करने में इनका बहुत बड़ा योग है। ऐकान्तिक निर्णय की परम्परा को इनके विचारों ने झकझोर डाला, जिसके फलस्वरूप बुद्ध, जैन आदि न्याय को गति मिली। अतः डॉ० बेलवलकर एवं रानाडे ने उन्हें भारतीय तर्क-विद्या का पिता माना है।

●

अध्याय 4

भगवद्गीता

भारतवर्ष के दार्शनिक-धार्मिक साहित्य में भगवद्गीता का स्थान विशिष्ट है। कहा गया है कि भगवद्गीता में उपनिषद्-रूपी गउओं का दुग्ध श्रीकृष्ण द्वारा दुहकर एकत्र कर दिया गया है; अर्जुन-रूपी बछड़ा इस दुहने की क्रिया का निमित्त मात्र है; उसका भोक्ता कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति हो सकता है। परम्परा के अनुसार उपनिषद् साहित्य श्रुति है और भगवद्गीता स्मृति। धार्मिक परम्परा में श्रुति का वही स्थान है जो लौकिक ज्ञान में प्रत्यक्ष का। भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष को ज्येष्ठ प्रमाण माना जाता है। स्मृति का दर्जा अनुमान के बराबर है। जैसे अनुमान प्रत्यक्ष पर निर्भर होता है, वैसे ही स्मृति श्रुति पर निर्भर करती है।

किन्तु आर्य हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य में स्मृतियाँ अनेक हैं, जिनमें 'मनु-स्मृति' प्रधान समझी जाती है। हिन्दुओं की दृष्टि में मनुस्मृति का विशेष महत्त्व है। उक्त स्मृति तथा दूसरे स्मृति-ग्रन्थों में मुख्यतः वर्णाश्रम धर्म का वर्णन है। चूँकि हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था दूसरे धर्मों और देशों को मान्य नहीं है, इसलिए मनु आदि की स्मृतियों का अपने देश के बाहर प्रचार नहीं है। इसके विपरीत भगवद्गीता का अनुवाद प्रायः विश्व की सभी महत्त्वपूर्ण भाषाओं में हुआ है और उससे अनेक विदेशी विचारकों एवं जिज्ञासुओं ने प्रेरणा ली है। उपनिषद् भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र ये तीनों मिलकर प्रस्थानत्रयी कहलाते हैं। ये आस्तिक हिन्दुओं के प्रामाणिक ग्रन्थ हैं जिनका समर्थन वेदान्त के विभिन्न आचार्य खोजते रहे हैं। अनेक आचार्यों ने इन तीनों अथवा उनमें से दो पर अपनी दृष्टियों से भाष्यग्रन्थ लिखे हैं।

गीता का उपदेश एक तीखे नैतिक अन्तर्द्वन्द्व के अवसर पर दिया गया था। उसके उपदेश की नाटकीय परिस्थिति उसे प्रत्येक ईमानदार अन्वेषक और जिज्ञासु के लिए महत्त्वपूर्ण एवं पठनीय बना देती है। गीता की शिक्षा में एक उदार समन्वय की भावना है, उसमें प्रायः किसी भी धर्म को माननेवालों के लिए रोचक एवं महत्त्व-पूर्ण सामग्री मिल सकती है। गीता में कट्टर साम्प्रदायिकता की मनोवृत्ति नहीं पायी जाती, इसलिए भी वह सब प्रकार के पाठकों का ध्यान आकृष्ट करती है। तुलनात्मक

धर्म के प्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान् जेनर ने भगवद्गीता के सन्देश एवं स्वर की भूरि भूरि प्रशंसा की है।

स्वयं भारतवर्ष के प्रचुर धार्मिक साहित्य में भी भगवद्गीता का स्थान अद्वितीय है। वास्तव में यदि एक ग्रन्थ को हिन्दू धर्म का प्रतिनिधि ग्रन्थ कहा जा सकता है तो वह भगवद्गीता ही है। सम्भवतः गीता एकमात्र ग्रन्थ है, जिसमें मोक्षवाद के साथ-साथ, लौकिक कर्ममय जीवन को उचित महत्त्व दिया गया है। यही कारण था कि बीसवीं शती में जब स्वतन्त्रता-संग्राम के सैनिकों को प्रेरणा की जरूरत महसूस हुई तो उन्होंने उतना उपनिषदों की ओर नहीं देखा जितना भगवद्-गीता की ओर। राष्ट्र की माँगों को मन में रखते हुए ही लोकमान्य श्री बाल गंगाधर तिलक ने शंकर के व्याख्यान का खण्डन किया और गीता की नयी कर्मपरक व्याख्या प्रस्तुत की। बाद में महात्मा गांधी ने 'अनासक्तियोग' के रूप में गीता का अहिंसा-परक व्याख्यान किया।

गीता-साहित्य

गीता की व्याख्या के रूप में देश और विदेश में विस्तृत साहित्य की रचना हुई है। ऊपर हमने तिलक और गाँधी की व्याख्याओं का उल्लेख किया; गीतोक्त 'कर्म-योग' के इधर के व्याख्याताओं में स्वामी विवेकानन्द और अरविन्द घोष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। गीता की सबसे प्राचीन उपलब्ध व्याख्या शंकराचार्य का भाष्य है। महत्त्व की दृष्टि से पुराने टीकाकारों में दूसरा स्थान रामानुजाचार्य का है। उक्त दोनो भाष्यों पर क्रमशः आनन्दगिरि और वेंकटनाथ ने टीकाएँ लिखी हैं। अन्य व्याख्याओं में आनन्दतीर्थकृत (माध्व) भाष्य, जिसपर जयतीर्थ मुनि की टीका है, श्री हनुमत्कृत 'पैशाच भाष्य', वल्लभानुयायी श्री पुरुषोत्तम जी कृत 'अमृततरंगिणी', श्री मधुसूदन सरस्वतीकृत 'गूढ़ार्थदीपिका', श्रीधर स्वामी कृत 'सुबोधिनी' आदि प्रसिद्ध हैं। अंतिम दो लेखक अद्वैत मत के अनुयायी हैं। योरपीय ईसाई व्याख्याताओं में रयूडॉल्फ ऑटो और आर० सी० जेनर के नाम उल्लेखनीय हैं।

गीता की समन्वय-दृष्टि

भारतीय धार्मिक-दार्शनिक साहित्य में गीता के अतिरिक्त महत्त्व का एक प्रमुख कारण उसकी समन्वय-दृष्टि है; इस समन्वय-दृष्टि का ऐतिहासिक कारण और महत्त्व है। उपनिषद् युग के बाद की शताब्दियों पर नजर डालने से जान पड़ता है मानो उस समय के भारत में तरह-तरह के वादों एवं सिद्धांतों की बाढ़-सी आ गयी

थी। सिद्धान्तों की विविधता, परम्परा के समर्थकों और उसके समीक्षकों दोनो तरह के विचारकों के बीच पायी जाती थी। 'श्वेताश्वतर' और 'मैत्री' जैसे बाद के उपनिषदों एवं 'महाभारत' में तरह तरह के मतवादों का उल्लेख है, जैसे कापालिक-दर्शन, बृहस्पति-दर्शन, कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद आदि। पाँचरात्र सम्प्रदाय की 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' में बत्तीस तन्त्रों का जिक्र है, जैसे ब्रह्म-तन्त्र, पुरुष-तन्त्र, शक्ति-तन्त्र, नियति-तन्त्र, काल-तन्त्र, गुण-तन्त्र, अक्षर-तन्त्र, प्राण-तन्त्र, कर्तृ-तन्त्र, ज्ञान-तन्त्र, क्रिया-तन्त्र, भूत-तन्त्र, इत्यादि। जैन ग्रन्थों में वर्णन है कि महावीर जी 363 दार्शनिक सिद्धान्तों से परिचित थे। बौद्धों के 'ब्रह्मजालसुत्त' में 62 बौद्धेतर मतों का उल्लेख है, जो गौतम बुद्ध के समय में प्रचलित थे।

आस्तिक विचारकों के आपसी मतभेद सदैव नास्तिक विचार और चिंतन को प्रोत्साहन देते हैं। यदि सत्य एक है और वह धर्मग्रन्थों में उपलब्ध है, तो विभिन्न आस्तिक विचारकों और व्याख्याताओं में मतभेद क्यों होता है? आस्तिकों के बीच मतभेद की स्थिति तरह-तरह की नास्तिक विचारणाओं को जन्म देती है। पिछले अध्यायों में पाठक विभिन्न आजीवक कहे जानेवाले चिन्तकों एवं लोकायत या चार्वाक दर्शन से परिचित हो चुके हैं। आस्तिकों की ओर से इन विचारकों के विरुद्ध समुचित उत्तर प्रस्तुत करने का प्रश्न था। भगवद्गीता के रूप में आस्तिक हिन्दू-धर्म और दर्शन ने यह प्रयत्न किया कि भिन्न-भिन्न मतों और मार्गों का एक सशक्त समन्वय प्रस्तुत करे। जबकि गीता का विशेष महत्त्व विभिन्न मोक्ष मार्गों के बीच समन्वय की स्थापना में है, वहाँ उसका तत्त्वदर्शन भी निर्गुण और सगुण ब्रह्म, सांख्य के प्रकृतिवाद, प्राचीन उपनिषदों के ब्रह्मवाद, और बाद के उपनिषदों के ईश्वरवाद का समन्वय प्रस्तुत करने की दृष्टि से नगण्य नहीं है।

गीता का तत्त्व दर्शन

गीता के विश्व-तत्त्व सम्बन्धी विचारों पर उपनिषदों की स्पष्ट छाप है; सांख्य के विचारों का भी बाहुल्य है। गीता और उपनिषदों में मुख्य भेद यही है कि जहाँ उपनिषदों में ब्रह्म के निर्गुण रूप को प्रधानता दी गयी है, वहाँ गीता में सगुण ब्रह्म को श्रेष्ठ ठहराया गया है। ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को भी गीता मानती है। 'सारी विभक्त वस्तुओं में जो अविभक्त होकर वर्तमान है, जिसे न सत् कहा जा सकता है न असत्, जो सूक्ष्म एवं दुर्ज्ञेय है, जो ज्योतियों की भी ज्योति एवं अन्धकार से परे है, जो ज्ञाता और ज्ञेय है'[1] उस ब्रह्म का वर्णन और गुणगान करने से गीता नहीं

1. दे० 13/15, 16, 17

सकुचानी। परन्तु उसका अनुराग सगुण ब्रह्म में ही अधिक है, जिससे, ब्रह्मसूत्र के शब्दों में, सारे जगत् की उत्पत्ति एवं स्थिति होती है और जिसमें प्रलय काल में समस्त संसार लय हो जाता है।

ब्रह्माण्ड के अशेष पदार्थ उसी से निःसृत होते हैं। सगुण ब्रह्म या भगवान् की दो प्रकृतियाँ हैं—एक परा और दूसरी अपरा। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, इन आठ प्रकारों की अपरा प्रकृति है। परा प्रकृति जीव-रूप या चैतन्य-स्वरूप है जो जगत् को धारण करती है।[1] अपरा प्रकृति वास्तव में सांख्य की मूल प्रकृति और श्वेताश्वतर की माया है। इसे अव्यक्त भी कहते हैं। ब्रह्मा के दिन के प्रारम्भ में सारे व्यक्त पदार्थ प्रकट होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि आने पर उसी अव्यक्त-संज्ञक में लय हो जाते हैं।

गीता में प्रकृति को महद्ब्रह्म भी कहा गया है, जो सम्पूर्ण विश्व की योनि (कारण) है। भगवान् स्वयं इसमें बीजारोपण करते हैं[2]। यह अव्यक्त महद्ब्रह्म या प्रकृति तीन गुणोंवाली है। सत्त्व, रजस् और तमस् प्रकृति के गुण भौतिक, मानसिक और व्यावहारिक क्षेत्रों में सर्वत्र व्याप्त हैं। सात्त्विक, राजस और तामस भेद से भोजन तीन प्रकार का होता है, श्रद्धा तीन प्रकार की होती है, यज्ञ, दान, तप आदि कर्म तीन प्रकार के होते हैं। प्रकृति के गुण ही हमारे कर्मों के लिए उत्तरदायी हैं। प्रकृति ही वास्तविक कर्त्री है। अहंकार के वश होकर हम अपने को कर्ता मानते हैं।

इस अव्यक्त से भी परे एक पदार्थ है, जो स्वयं अव्यक्त और सनातन है, जो सब भूत-वर्गों का नाश हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता; इसे अक्षर कहते हैं। 'सब भूतों को क्षर कहते हैं और कूटस्थ को अक्षर कहते हैं।' ये तत्त्व सांख्य की प्रकृति तथा पुरुष के समान जान पड़ते हैं[3]। उत्तम पुरुष इन दोनों से भिन्न है, जिसे परमात्मा कहा गया है, जो अव्यय ईश्वर तीनों लोकों को व्याप्त करके उनका भरण-पोषण करता है।

भगवान् ही संसार की सब वस्तुओं का एकमात्र अवलम्बन है। उनमें सब कुछ पिरोया हुआ है (मयि सर्वमिदं प्रोतम्); उन्हीं से सब कुछ प्रवर्तित होता है (मत्तः सर्वम् प्रवर्तते)। दसवें अध्याय में तथा सातवें और नवें अध्यायों के कुछ स्थलों

---

1. 7/4, 5
2. 14/3
3. 15/16 : रामानुज क्षर और अक्षर का अर्थ बद्ध एवं मुक्त जीव करते हैं। शंकर क्षर का अर्थ मायाशक्ति बतलाते हैं।

में भगवान् की विभूतियों का वर्णन है। संसार के सत्-असत् सभी पदार्थ भगवान् ही हैं। 'पृथ्वी में मैं गन्ध हूँ और सूर्य तथा चन्द्रमा में प्रकाश। मैं सब भूतों का जीवन हूँ और तपस्वियों का तप'। (7/9)। मैं ही ऋतु हूँ, मैं ही यज्ञ हूँ, मैं स्वधा हूँ, मैं ओषधियाँ हूँ; मंत्र, आज्य, अग्नि और हव्य पदार्थ मैं ही हूँ। संसार की गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास-स्थान, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय, आधार और अविनाशी बीज मैं ही हूँ।' (9/16/18)।

'मैं सब भूतों के भीतर स्थित हूँ, मैं उनका आदि, अन्त और मध्य हूँ। आदित्यों में मैं विष्णु हूँ, ज्योतियों में सूर्य, मरुद्गणों में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा। अक्षरों में 'अकार' हूँ समासों में द्वन्द्व। मैं अक्षय काल हूँ, मैं सबको धारण करनेवाला विश्वतोमुख हूँ। सबका हरण करनेवाली मृत्यु हूँ, मैं भविष्य के पदार्थों की उत्पत्ति हूँ। मैं स्त्रियों की कीर्ति श्री, वाणी, स्मृति, बुद्धि, धैर्य और सहनशीलता हूँ।' (10/20, 21, 33, 34)।

ग्यारहवें अध्याय में विश्वरूप दिखलाकर भगवान् ने अर्जुन को अपनी विभूतियों और संसार का अपने ऊपर अवलम्बित होने का प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया। साथ ही उन्होंने अर्जुन को यह उपदेश भी दिया कि उसे अपने को भगवान् के ऊपर छोड़कर उन्हीं की उद्देश्य-पूर्ति के लिए कर्म करना चाहिए। इस प्रकार गीता ने अपने तत्त्व दर्शन में सांख्यों के प्रतिवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद और भागवतों के ईश्वरवाद, तीनों का समन्वय कर दिया।

गीता का व्यवहार-दर्शन

यहाँ व्यवहार-दर्शन पदोच्चय के दो अर्थ समझने चाहिए, व्यावहारिक कर्म का दर्शन और मोक्ष-साधना का दर्शन। अर्जुन के सामने समस्या थी कि वह अपने जीवन के एक क्रान्तिकारी अवसर पर कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय कैसे करे। युद्ध में असंख्य लोगों की हत्या का कारण बनना उसकी अन्तर्वृत्तियों के विरुद्ध था, इसलिए वह, वर्णधर्म के अनुसार, क्षत्रिय के कर्म को निभाने में असमर्थ था। गीताकार ने इस प्रश्न को जीवन के चरम लक्ष्य के बड़े सन्दर्भ में रखकर विचार किया; इस प्रकार गीता का प्रमुख ध्येय मोक्ष की साधना का निरूपण करना बन गया।

गीता के दो प्रमुख भाष्यकार शंकर और रामानुज हैं। शंकर के अद्वैत वेदान्त के अनुसार मोक्ष का साधन ज्ञान ही हो सकता है, कर्म नहीं; क्योंकि कर्म अविद्यात्मक है, वह कर्ता और भोक्ता होने के अभिमान से जुड़ा हुआ है। कर्म अन्तःकरण की शुद्धि का साधन है, इस प्रकार वह मोक्ष का दूरवर्ती उपकारक है। इसके विपरीत

रामानुज निरन्तर कर्म करने की आवश्यकता पर जोर देते हैं। कर्ता और भोक्ता होने के अहंकार का शमन केवल शाब्दिक ज्ञान द्वारा सम्भव नहीं है; कर्ममय जीवन द्वारा ही उस अहंकार से छुटकारा पाया जा सकता है।

उपनिषद्-काल से मोक्ष के सम्बन्ध में दो धारणाएँ बन चुकी थीं। एक यह कि मोक्ष की अवस्था नित्य-स्थिति है, जिससे लौटकर नहीं आया जाता; दूसरी यह कि नित्य-मोक्ष की प्राप्ति नश्वर फलवाले कर्मों से मुक्ति द्वारा ही सम्भव है। गीता इन दोनों मान्यताओं को स्वीकार करती है। उसने एक नयी बात यह बतलायी कि कर्मों को करते हुए भी उनके फल से बचा जा सकता है, यदि उन कर्मों को निष्काम भाव से किया जाय। गीता ने इस तथ्य पर भी जोर दिया है कि कर्मों का सर्वथा परित्याग किसी के लिए भी सम्भव नहीं है।[1] यह 'कर्म योग' गीता का प्रमुख विषय और उसकी प्रधान शिक्षा है।

किन्तु गीता, जैसा हमने पहले कहा, विभिन्न आस्तिक मतों या मार्गों में समन्वय की स्थापना का प्रयत्न भी करती है। इन मार्गों में ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग का विरोध मुख्य है। वैसे अपने देश में योगमार्ग सम्भवतः बौद्ध-धर्म के उदय से पहले से प्रचलित था। बाद के उपनिषदों (जैसे श्वेताश्वतर) में भक्तिमार्ग का उपदेश भी पाया जाता है। गीता सभी मार्गों के महत्त्व को स्वीकार करती है, किन्तु वह किसी न किसी रूप में अपने कर्ममार्ग के अन्तर्गत ज्ञान और भक्ति दोनों को समेट लेती है। इससे पहले कि हम गीता के विभिन्न मार्गों से सम्बद्ध मनोभावों का निरूपण करें, हम पाठकों का ध्यान उसकी साधक जीवन से सम्बद्ध कतिपय सामान्य मान्यताओं की ओर आकृष्ट करेंगे। ये मान्यताएँ हमारी समझ में तीन हैं; गीता की शिक्षाओं को ठीक से हृदयंगम करने के लिए इन मान्यताओं को समझना जरूरी है।

1—गीता का कड़ा आदेश है कि मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति के लिए मन और इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए। 'विषयों का ध्यान करते करते मनुष्य की उनमें आसक्ति हो जाती है, इस आसक्ति से काम या वासना उत्पन्न होती है, जिसके पूरे न हो सकने पर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह और मोह से स्मृति का नाश होता है। स्मृति-नाश होने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और मनुष्य का पतन होता है' (2/63)। अन्यत्र गीता में काम, क्रोध और लोभ को नरक का द्वार कहा गया है। इन तीनों को छोड़ देना चाहिए। प्रत्येक साधक को, चाहे वह कर्मयोगी हो या भक्त या ज्ञानी, मन और इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए, यह गीता का दृढ़

---

1. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।—3/5

आदेश है। यों, गीता संन्यास के जीवन को अतिरिक्त महत्त्व नहीं देती। किन्तु दुनिया में रहकर कर्म करते हुए और विषयों को ग्रहण करते हुए भी यदि मनुष्य इन्द्रियों को वश में रखता है तो उसे शान्ति रहती है (2/64)।

2—गीता का विश्वास है कि साधना-पथ की कुछ मंजिलें तय कर लेने पर साधक में समत्वबुद्धि अथवा साम्य-भावना का उदय हो जाना चाहिए। इस समत्व-बुद्धि के दो पक्ष हैं। एक पक्ष यह है कि साधक सब प्राणियों को, शत्रुओं और मित्रों को, समान दृष्टि से देखता है, वह किसी से द्वेष नहीं करता, किसी से अतिरिक्त राग भी नहीं रखता—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु,
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते। 6/9

अर्थात् सुहृद् (शुभेच्छु) और मित्र, उदासीन और मध्यस्थ, द्वेषभाजन और बन्धु, साधु और पापी सबमें जो समबुद्धि रखता है वह विशिष्ट होता है। तात्पर्य यह है कि साधक सब भूतप्राणियों को समान (दया और प्रेम की) दृष्टि से देखता है। दूसरे, साधक को अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख, मान-अपमान में समान होना चाहिए। ऐसा व्यक्ति ही स्थितप्रज्ञ कहलाने का अधिकारी होता है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः,
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते। 2/56

जिसका मन दुःखों से परेशान नहीं होता, जिसमें सुख की आकांक्षा नहीं है, जो राग, भय और क्रोध से मुक्त है, ऐसे मुनि को स्थितप्रज्ञ कहते हैं। 'जो शत्रु और मित्र के प्रति एवं मान अपमान में समान रहता है, जो निन्दा और स्तुति को तुल्य समझता है, ऐसा भक्त भगवान् को प्रिय है' (12/18, 19)। अन्यत्र भी कहा है कि 'जो सब भूतों में समभाव रखता है वह भगवान् की पराभक्ति को प्राप्त होता है' (18/54)। यहाँ समत्व या समबुद्धि को भक्ति के लिए उपयोगी और आवश्यक बतलाया गया है। दूसरे अध्याय में निष्काम कर्मयोगी के लिए सिद्धि और असिद्धि में, सफलता और असफलता में सम रहने का उपदेश दिया गया है, और इसी समत्व को योग कहा गया है (समत्वं योग उच्यते 2/48)। इस प्रकार गीता समबुद्धि या समत्व की साधना को हर प्रकार के साधक के लिए आवश्यक घोषित करती है।

3—तीसरे, गीता में सतत कर्म करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। गीता में उन पुरोहितों की निन्दा है, जो स्वर्ग आदि का लोभ देकर वैदिक अनुष्ठान (यज्ञ आदि) करने की सिफारिश करते हैं। किन्तु गीता कर्म का एकान्त विरोध नहीं

करती। वस्तुतः वह कर्म को अनिवार्य और आवश्यक दोनों मानती है। अपने समय के प्रचलित मुहावरे का प्रयोग करते हुए गीता कहती है कि प्रजापति ने प्रजाओं को यज्ञों के साथ ही उत्पन्न किया। फिर प्रजाओं ने कहा, "इन यज्ञों से तुम देवताओं का परितोष करो, और देवता लोग तुम्हारी सन्तुष्टि या पोषण करें" (2/10, 11)। तात्पर्य यह कि विश्वजीवन का धारण परस्पर सेवा से होता है, इसलिए सभी को कुछ न कुछ उपयोगी कार्य करना चाहिए। अन्यत्र (3/25) गीता ने लोकसंग्रह का उल्लेख किया है। लोकसंग्रह को दृष्टि में रखते हुए ज्ञानी पुरुष को भी, आसक्ति त्यागकर, साधारण, आसक्तिवाले लोगों की तरह कर्म करना चाहिए।

गीता में विभिन्न मार्ग

जैसे हम शुरू में कह चुके हैं, गीता की दृष्टि समन्वयात्मक है। गीता मोक्ष-प्राप्ति के किसी मार्ग का तिरस्कार नहीं करती। इसके विपरीत उसने सभी मार्गों की प्रशंसा की है। किन्तु उसका मुख्य प्रतिपाद्य कर्मयोग है। फलतः हर मार्ग के साथ गीता कर्मयोग को जोड़ देती है।

गीता और योग

गीता में योग शब्द का प्रयोग पातंजल योग के अर्थ में नहीं हुआ है। संभवतः उस समय तक पतंजलि का योगशास्त्र बना ही नहीं था। किन्तु हमारे देश में योग संज्ञा और यौगिक क्रियाओं का प्रचार बहुत पहले से रहा है।

गीता में 'योग' की परिभाषा अनेक प्रकार से की गयी है। 'समत्व का ही नाम योग है'। 'कर्मों में कुशलता को ही योग कहते हैं' (योगः कर्मसु कौशलम्), आदि। गीता के योग शब्द का सामान्य अर्थ अपने को लगाना या जोड़ना है। इस प्रकार कर्मयोग का अर्थ हुआ अपने को सामाजिक कर्तव्यों की पूर्ति में लगाना[1]। फलाकांक्षा न रखकर कर्तव्य-बुद्धि से कर्म करने का नाम ही कर्मयोग है।

किन्तु गीता को उस योग से कोई द्वेष नहीं है, जो समाधि का साधन या समाधि-रूप है। छठे अध्याय में तो इस प्रकार के योगी को तपस्वियों से, कर्मकांडियों से और ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ कहा गया है। 'एकान्त में मन और इन्द्रियों की क्रियाओं को रोककर, सिर, ग्रीवा और शरीर को अचल स्थिर करके, शान्त होकर, चित्त की शुद्धि के लिए योग करना चाहिए।' 'पाप-रहित होकर जो नित्य योगाभ्यास करता है उसे ब्रह्म-संस्पर्श का आत्यन्तिक सुख प्राप्त होता है।' परन्तु ऐसे योगी को भी कर्म

---

1. दे० एम० हिरियन्ना : आउटलाइन्स, पृ० 119.

का अनुष्ठान छोड़ देना चाहिए, यह गीता की सम्मति नहीं है। अर्जुन को योगी बनना चाहिए (तस्माद्योगी भवार्जुन), परन्तु इसका अर्थ युद्ध से उपरति नहीं है। गीता उस योगी की प्रशंसा करती है जो सब प्रकार से रहता हुआ भी एकत्व-भावना में मग्न रहता है।

गीता और ज्ञानमार्ग

ज्ञानमार्ग और ज्ञानियों की प्रशंसा भी गीता ने मुक्त कण्ठ से की है। ज्ञान से बढ़कर पवित्र करनेवाला कुछ भी नहीं है (न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते); ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्मसात् कर देती (ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन)। ज्ञानी पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता-सूँघता-खाता हुआ, साँस लेता हुआ और सोता हुआ हमेशा यह समझता है (या समझे) कि मैं कुछ नहीं करता; प्रकृति के तीन गुण ही सब कुछ कर रहे हैं। भक्तों में भगवान् को ज्ञानी भक्त सबसे प्रिय हैं। सारी इच्छाओं को छोड़कर ममता और अहंकार-रहित जो पुरुष घूमता है वह शान्ति को प्राप्त होता है। यह ब्राह्मी स्थिति है, इसे प्राप्त करके मनुष्य का मोह नष्ट हो जाता है' (5/8, 2/71, 72) लेकिन ऐसे निःस्पृह ज्ञानी को भी गीता के मत में, कर्मत्याग करने का अधिकार नहीं है। भगवान् कृष्ण कहते हैं कि उन्हें संसार में कुछ करना शेष नहीं है, कोई प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है, तो भी वे लोगों के सामने उदाहरण रखने के लिए लोकसंग्रहार्थ कर्म करते हैं।

कर्ममार्ग—कर्ममार्ग गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है। फलतः गीता जगह-जगह, अनेक रूपों में उसकी शिक्षा देती और उसका समर्थन करती है। इस सम्बन्ध में गीता की पहली मान्यता यह है कि समस्त कर्मों का त्याग सम्भव नहीं है।

> न हि कश्चित्क्षणमपि जातुतिष्ठत्यकर्म कृत्
> कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः । 3/5 ।

क्षण भर के लिए भी कोई बिना कर्म किये नहीं रह सकता। प्रकृति के गुणों द्वारा विवश होकर हरेक को कर्म करने पड़ते हैं। कर्म किये बिना जीवन-रक्षा या शरीर-निर्वाह भी नहीं हो सकता। दूसरे, यदि सब कर्म करना छोड़ दें तो सृष्टि-चक्र का चलना बन्द हो जाय। यज्ञ-सहित प्रजा को उत्पन्न करके प्रजापति ने कहा—इससे तुम देवताओं को सन्तुष्ट करो, देवता तुम्हारी इच्छाएँ पूरी करें। कर्म वेद से उत्पन्न हुए हैं, और वेद ब्रह्म से; इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित है। जो ब्रह्मा के प्रवर्तित इस चक्र का अनुसरण नहीं करता, वह पातकी है। जो सिर्फ अपने लिए ही पकाते हैं, वे पाप को ही खाते हैं, (3/10-13)।

कतिपय कर्मों का त्याग न करने के पक्ष में गीता ने तीसरा हेतु भी यह दिया है कि यज्ञ, दान और तप से सम्बद्ध कर्म विद्वानों को पवित्र करनेवाले होते हैं। गीता के अनुसार ये कर्म सदैव करणीय हैं (18/5)। 'शरीर से, मन से, बुद्धि से और सिर्फ इन्द्रियों से भी योगी लोग आसक्ति को त्यागकर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं' (3/42, 44)।

शायद पाठक यह सोचने लगें कि यह तो ब्राह्मण-युग का पुनरुज्जीवन हुआ; पर वास्तव में गीतोक्त कर्मवाद और ब्राह्मण से कर्म-काण्ड में महत्त्वपूर्ण भेद है। गीता को वेदों की लुभानेवाली वाणी (पुष्पिता वाणी) पसन्द नहीं है। 'हे अर्जुन, वेद त्रैगुण्य विषयक हैं; तू तीनों गुणों का अतिक्रमण कर' (5/11)। चौथे अध्याय में कुछ यज्ञों का वर्णन किया गया है, जिनके करने में द्रव्य पदार्थों की आवश्यकता नहीं पड़ती। यहाँ द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञादि का वर्णन है और अन्त में कहा गया है कि द्रव्ययज्ञों से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। सारे कर्म जिस ज्ञान में परि-समाप्त हो जाते हैं, उस ज्ञान को तत्त्वदर्शियों से विनम्र होकर सीख' (4/33,34)। इस प्रकार गीता ने यज्ञों की बहिर्मुखता को दूर करने का प्रयत्न किया है।

गीता भारतीय विचारकों के इस मूल सिद्धान्त को मानती है कि 'कर्मों के फल से छुट्टी पाये बिना मुक्ति नहीं हो सकती। लेकिन कर्मफल से छुटकारा किस प्रकार मिले, इस विषय में गीता का अपना मत है। ज्ञानमार्ग के अवलम्बन से कर्मफल से मुक्ति मिल सकती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। ज्ञान के सदृश पवित्र करनेवाला कुछ भी नहीं है। गीता ज्ञान की महत्ता को स्वीकार करती है; लेकिन उनके मत में—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् । (5/4)

'ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग या कर्मयोग को बालक ही भिन्न कहते हैं, न कि विद्वान्। किसी एक में भी स्थित पुरुष दोनों के फल का लाभ पाता है।' कर्मफल से छूटने के लिए कर्म को छोड़ने की आवश्यकता नहीं है।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः । (6/1)

'जो कर्मफल में आसक्ति त्यागकर कर्तव्य कर्म करता है वही संन्यासी है, वही योगी है। अग्नि को न रखनेवाला क्रियाहीन कुछ भी नहीं है'। 'काम्य कर्मों के त्याग को ही विद्वान् लोग संन्यास कहते हैं, सब कर्मों के फल को ही मनीषी त्याग बताते है।'

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः । (18/2)

जो कर्मफल को छोड़ देता है वही वास्तविक त्यागी है—

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते (18/11)

इसलिए भगवान् अर्जुन से कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि । (2/47)

'कर्म में ही तुम्हारा अधिकार हो, फल में कभी नहीं; तुम कर्मफल का हेतु भी मत बनो, अकर्मण्यता में भी तुम्हारी आसक्ति न हो ।' प्रो० हिरियन्ना के शब्दों में गीता कर्म के त्याग के बदले कर्म में त्याग का उपदेश देती है ।[1]

निष्काम भाव से, फलासक्ति को त्यागकर, कर्म करने की यह शिक्षा ही गीता का मौलिक उपदेश है । ज्ञानमार्ग की तरह गीता ने इस उपदेश को भक्तिमार्ग से भी जोड़ दिया है । 'कर्तव्याकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही तेरे लिए प्रमाण है' यह कहकर गीता ने शास्त्रों का सम्मान भी कर लिया है । यह गीता की सहिष्णुता और समन्वय की 'स्पिरिट' है ।

भक्तिमार्ग—ज्ञानमार्ग यह सिखलाता है कि सब कुछ करते हुए साधक अपने को अकर्ता माने, यह समझे कि कर्म के वास्तविक निर्धारक प्रकृति के तीन गुण हैं । स्पष्ट ही इस प्रकार की अकर्ता होने की भावना नितान्त कठिन है । निष्काम कर्म की शिक्षा यह बतलाती है कि कर्म करते हुए हम कर्मफल की आकांक्षा न करें । यह भी न्यूनाधिक हमारी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध है । जब हम प्रयत्नपूर्वक कोई कार्य करते हैं, तो उसके फल की आकांक्षा भी रखते हैं । गीता ने एक ओर कर्मयोग को ज्ञानमार्ग से जोड़ने की कोशिश की है और दूसरी ओर भक्तिमार्ग से । हमें अपने कर्तव्य कर्म करते हुए उनका फल भगवान् को अर्पित कर देना चाहिए । कर्मों का ऐसा अनुष्ठान एक प्रकार की भगवान् की पूजा है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः (18/46)

और

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः । (18/45)

अपने अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य सिद्धि अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करता है, यदि उसकी यह भावना हो कि वह अपने कर्मों द्वारा भगवान् की अर्चना (पूजा) कर

1. एम्० हिरियन्ना : आउटलाइन्स, पृ० 121

रहा है। इसी में कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग का समन्वय है। पाठक देख सकते हैं कि कर्म के साथ जुड़ी हुई भक्ति-भावना साधक के जीवन को अधिक रसमय और रोचक बना देती है। फलाकांक्षा से रहित कर्म का जीवन कुछ लोगों को नीरस प्रतीत हो सकता है (जर्मन दार्शनिक कान्ट ने भी 'कर्तव्य कर्तव्य के लिए' का उपदेश किया था); वैसा जीवन कुछ हद तक निरुद्देश्य भी जान पड़ सकता है। शायद उस तरह का जीवन व्यतीत करना मनुष्य की पुरुषार्थ-भावना के विपरीत है। मनुष्य या तो यह समझकर निष्काम भाव से कर्तव्य-कर्म, या ऊँचे कर्म करे कि वह मनुष्य जाति के इतिहास को आगे बढ़ा रहा है या फिर इस भावना से कि वह भगवान् को प्रसन्न करने के लिए कर्म कर रहा है। पहला विकल्प मानववादियों का है, जो ईश्वर और परलोक को नहीं मानते; दूसरा विकल्प ईश्वर-भक्तों के लिए है। गीता इसी विकल्प की शिक्षा देती है। भगवान् को प्रसन्न करने का उद्देश्य एक साथ ही जीवन को सार्थक, पवित्र और ऊँचा बनानेवाला है।

'मेरे लिए ही कर्म करनेवाला, आसक्ति-हीन, सब प्राणियों में वैर-रहित मेरा भक्त मुझे ही प्राप्त होता है' (11/55)। 'अर्जुन! तुम मुझमें ही अपना मन लगाओ, मेरी ही भक्ति करो, मेरे ही लिए यज्ञ करो, मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार मुझमें ही अपने को लगाकर और मुझमें परायण होकर तुम मुझे ही प्राप्त होगे' (18/65)।

'मेरा आश्रय लेनेवाला पुरुष सारे कर्मों को करता हुआ भी मेरे अनुग्रह से शाश्वत पद को प्राप्त होता है' (18/56)।

'हे अर्जुन, तुम सब धर्मों को त्यागकर सिर्फ मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें सारे पापों से मुक्त कर दूँगा; तुम सोच मत करो' (18/66)।

'यदि तुम अहंकार का आश्रय लेकर 'मैं युद्ध नहीं करूँगा', ऐसा मानते हो तो तुम्हारा यह निश्चय झूठा है; क्योंकि तुम्हारा क्षत्रिय स्वभाव तुम्हें जबरदस्ती युद्ध में प्रवृत्त कर देगा' (18/59)।

गीता की उक्त व्याख्या में हमने उसके किसी टीकाकार का अवलम्ब लेना उचित नहीं समझा है। वास्तव में इसकी अपेक्षा भी नहीं है। गीता की शिक्षा जल-प्रपात की तरह उज्ज्वल और सुस्पष्ट है। गीताकार ने कहीं भी अपना आशय दुरूह बनाने की कोशिश नहीं की है।

उसमें यदि कुछ जटिलता है तो उन अनेक दृष्टियों के कारण जिनके समन्वय का प्रयत्न उसमें हुआ है। वैसे गीता की शैली सीधी और हृदयस्पर्शिनी है। गीता की एक दूसरी विशेषता भी है; वह साधक को उपदेश ही नहीं देती, उसकी कठिनाइयों

से सहानुभूति भी प्रकट करती है। गीता मानती है कि मन का निग्रह करना अत्यन्त कठिन है; साथ ही वह बतलाती है कि अभ्यास और वैराग्य से उसपर नियन्त्रण किया जा सकता है। कुल मिलाकर गीताकार का स्वर आशावादी है। 'हे अर्जुन, अच्छे कर्म करनेवाला कभी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता', (6/40) और 'इस धर्म का थोड़ा सा अनुष्ठान भी महान् भय से रक्षा करता है' (2/40)। गीता के वक्ता को धर्म की शक्ति में पूर्ण विश्वास है। यह विश्वास पाठकों को शक्ति और उत्साह प्रदान करता है।

जहाँ गीता की वैचारिक विशेषताएँ उसे हिन्दू धर्म और दर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ बनाती हैं वहाँ उसकी सरल सजीव शैली ने उसे हिन्दुओं का और कुछ हद तक विश्व भर के साधकों का, लोकप्रिय ग्रन्थ बना दिया है। भारतीय धर्म और दर्शन के इतिहास की दृष्टि से हम गीता को एक क्रान्तिकारी ग्रन्थ नहीं कहेंगे; इन दृष्टियों से बुद्ध की शिक्षाएँ कहीं ज्यादा क्रान्तिकारी थीं। गीता का विशेष महत्त्व उसकी काफी मौलिक विवेक-दृष्टि के कारण है। उसमें समन्वय की वह प्रवृत्ति भी पायी जाती है जो हिन्दू धर्म की निजी विशेषता है 'कर्तव्य-अकर्तव्य के मामले में तुम्हारे लिए शास्त्र ही प्रमाण है', गीता की यह उक्ति आज के प्रगतिकामी विचारकों को पसन्द आनेवाली नहीं है। हिन्दू धर्म की वर्ण-व्यवस्था और उस पर आधारित आचार-शास्त्र जनतन्त्र के विरोधी हैं। लेकिन यहाँ भी गीता की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक उदार है। कृष्ण कहते हैं—'मेरे द्वारा चार वर्णों की सृष्टि गुण और कर्म के विभाग के अनुसार की गयी' (4/13)। यहाँ जन्म की अपेक्षा विभिन्न मनुष्यों के गुणों और कर्मों पर अधिक गौरव है, जो आज के पाठकों के लिए ज्यादा ग्राह्य हो सकता है।

●

अध्याय 5

जैन दर्शन

इतिहास और साहित्य

जैन दर्शन वस्तुतः जैन धर्म का विचार-पक्ष रहा है, इसलिए स्वाभाविक है कि उसका प्रारम्भ उस धर्म के साथ ही हुआ। इस दर्शन के समग्र प्राप्त साहित्य को विकास-क्रम की दृष्टि से चार कालों में विभक्त किया जाता है: (1) आगम काल, (2) अनेकान्त-स्थापन काल, (3) प्रमाणशास्त्र-व्यवस्था काल और (4) नवीनन्याय काल। काल-विभाजन के सन्दर्भ में पं० दलसुखभाई मालवणिया ने ठीक ही कहा है कि पूर्वकाल की विशेषताएँ उत्तरकाल में कायम रही हैं और उस काल का जो नया कार्य है, उसी को ध्यान में रखकर उत्तरकाल का नामकरण हुआ है। तात्पर्य यह कि पूर्वकाल में उत्तरकाल के विचार-बीज वर्तमान हैं और पल्लवन की दृष्टि से ही उस काल का नामकरण हुआ है।

आगम काल

आगम युग के अन्तर्गत श्वेताम्बरों एवं दिगम्बरों के आगम साहित्य आते हैं। कहा जाता है कि आगमों की विषय-वस्तु साक्षात् चौबीसवें तीर्थंकर महावीर की वाणी हैं, जिनको गणधरों ने ग्रन्थरूप में निबद्ध किया। वस्तुतः ये आगम-ग्रन्थ जैन-परम्परा में वेद की ही तरह मान्य हैं। कहा जाता है, महावीर की वाणी श्रुत-परम्परा में स्मृत होती आयी और काल एवं व्यक्ति की अपेक्षा से उस मूल वाणी में परिवर्तन होता गया। पुनः, आगम के कुछ अंश उतने पुराने सिद्ध नहीं होते। इन्हीं सारी बातों को लेकर दिगम्बर सम्प्रदाय श्वेताम्बर के आगमों को मान्य नहीं समझता। अतः आगम साहित्य श्वेताम्बर और दिगम्बर-दृष्टि से अलग-अलग है। श्वेताम्बर के अनुसार साधारणतः पैंतालिस आगम ग्रन्थ हैं। यद्यपि इन सारे आगम-ग्रन्थों में मुख्यतः आचार एवं दर्शन-सम्बन्धी विचार देखने को मिलते हैं, फिर भी दर्शन से सम्बन्ध रखनेवाले प्रमुख ग्रन्थ भगवती, सूत्र-कृतांग, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, नन्दी, स्थानांग, समवायांग, अनुयोगद्वार आदि हैं। आचार से सम्बन्धित ग्रन्थ आचारांग, दशवैकालिक,

उपासकदशा, आवश्यक, निशीथ आदि हैं। इन आगमों पर बहुत-सी टीकाएँ लिखी गयी हैं, जिनमें जैन दर्शन की समुचित व्याख्या उपलब्ध होती है।

दिगम्बरों के अनुसार प्रमुख आगम ग्रन्थ षट्खण्डागम, कषायपाहुड़, महाबन्ध या महाधवल, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, समयसार, अष्टपाहुड़, नियमसार आदि हैं, जिनमें तत्त्वज्ञान, कर्म आदि के सम्बन्ध में गहराई के साथ विचार किया गया है।

श्वेताम्बर-दिगम्बर आगम ग्रन्थों के अतिरिक्त उमास्वाति का 'तत्त्वार्थ सूत्र' बड़ा ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें जैन दर्शन-सम्बन्धी सभी विचारों को सूत्र रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसका समय पहली शती से चौथी शती तक का है। इसमें आचार, दर्शन का स्वरूप, नयों का लक्षण, ज्ञान का प्रामाण्य, जीव का स्वरूप आदि विषयों की सम्यक् चर्चा हुई है। इस ग्रन्थ पर अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा सर्वाधिक टीकाएँ लिखी गयी हैं।

अनेकान्त-स्थापन काल

यह काल जैन दर्शन की व्यवस्थित विचार-श्रृंखला की प्रारम्भिक कड़ी है, क्योंकि इसी काल में नय, सप्तभंगी, स्याद्वाद आदि को सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत किया गया। यह सही है कि आगमों में इनके तत्त्व बहुविध वर्तमान हैं, लेकिन अन्य दर्शनों के समक्ष इस दर्शन को सबल एवं योग्य बनाने का कार्य इस काल ने ही किया है। इस काल के प्रमुख तथा प्रसिद्ध दार्शनिक हैं सिद्धसेन एवं समन्तभद्र। सिद्धसेन की प्रमुख पुस्तकें सन्मतितर्क, न्यायावतार एवं बत्तीसियाँ हैं, जिनमें नय, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, प्रमाण, ज्ञान आदि की समुचित व्याख्या हुई है। समन्तभद्र के ख्याति-प्राप्त ग्रन्थ आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन और बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र हैं, जिनमें जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का सम्यक् प्रतिपादन हुआ है। इस काल के अन्य दार्शनिकों में मल्लवादी, सिंहगणि, पात्रकेसरी, श्रीदत्त आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

प्रमाणशास्त्र-व्यवस्था काल

इस काल में तर्क, प्रमाण, प्रमेय आदि विषयों पर काफी विस्तार के साथ चर्चा हुई, जिसके फलस्वरूप जैन दर्शन किसी भी अन्य दर्शन के समक्ष अपना गौरव अनुभव करने में समर्थ हो सका। इस काल के प्रमुख दार्शनिक हरिभद्र, जिनभद्र एवं अकलंक हैं। हरिभद्र ने जहाँ अनेकान्त द्वारा अपनी विचार-पद्धति को सर्वांगीण रूप में विकसित किया, वहाँ जैन न्यायशास्त्र के इतिहास में अकलंक ने प्रमाणशास्त्र को एक व्यवस्था प्रदान की, जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती सभी दार्शनिकों ने किया। जिनभद्र-गणि का अनेकान्त एवं नय आदि का विवेचन अपने आपमें महत्त्वपूर्ण है। हरिभद्र के

प्रमुख दार्शनिक ग्रंथ हैं—अनेकान्तजयपताका, षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि। अकलंक के प्रमुख ग्रन्थ हैं—लघीस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, तत्त्वार्थवार्तिक आदि। अन्य प्रमुख दार्शनिकों में विद्यानन्दि, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र आदि हैं।

नवीन न्याय काल

अन्य दर्शनों की भाँति इस काल में जैन दर्शन में भी नूतन चिन्तन एवं नयी पद्धति से विचार-विमर्श हुआ। इस काल के प्रमुख दार्शनिक यशोविजय हैं। इन्होंने नवीन न्याय की शैली में जैन दर्शन को ढाला और आगम आदि ग्रन्थों की व्याख्याएँ भी नयी पद्धति से कीं। इनके ग्रन्थों की संख्या अधिक है। इनके प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थों में अष्टसहस्रीविवरण, अनेकान्तव्यवस्था, जैनतर्कभाषा, नयोपदेश, भाषारहस्य आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

दार्शनिक सिद्धान्त

द्रव्य (तत्त्व) विचार

जैन दर्शन में सत्, तत्त्व, अर्थ, द्रव्य, तत्त्वार्थ आदि शब्दों का प्रयोग तत्त्व-सामान्य के लिए एक ही अर्थ में होता रहा है। तत्त्व और सत् दोनों एकार्थक हैं (सत् द्रव्यलक्षणम्।—तत्त्वार्थसूत्र, 5/29)। सत् और द्रव्य भी एकार्थक ही हैं; क्योंकि सब एक हैं, इसलिए सब सत् हैं (सर्वमेकं, सद्विशेषाद्, तत्त्वार्थभाष्य, 1/35)। दूसरे शब्दों में कहा गया है कि किसी भाव अर्थात् सत् का नाश नहीं होता और किसी अभाव अर्थात् असत् का उत्पाद नहीं होता। सभी पदार्थ अपने गुण एवं पर्याय रूप से उत्पाद, व्यय करते रहते हैं (पंचा० गा०, 150)। जड़ एवं चेतन जैन दृष्टि से भिन्न-स्वभाव होकर भी सत् हैं, अर्थात् वे दोनों उभय रूप से सत् हैं।

चूंकि वस्तु अनन्त-धर्मात्मक होती हैं (अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्), इसलिए किसी मनुष्य के स्वरूप-ज्ञान के लिए उसके देश, काल, जाति, जन्म, धर्म, वर्ग, समाज आदि सत्तात्मक धर्मों का ज्ञान आवश्यक है। पुनः उस मनुष्य के निषेधात्मक गुणों की भी जानकारी अत्यन्त अपेक्षित है। दूसरे शब्दों में, वस्तु को सत्तात्मक अर्थात् स्वपर्याय एवं निषेधात्मक अर्थात् परपर्याय दोनों का समुच्चय माना गया है।

सत् के स्वरूप के विश्लेषण के क्रम में कहा गया है कि सत् उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य युक्त है (तत्त्वार्थसूत्र, 5/29–30)। दूसरे शब्दों में, गुण और पर्यायवाला द्रव्य कहा गया है। इन दोनों कथनों में अन्तर नहीं है। यहाँ पर्याय का व्यवहार उत्पाद एवं व्यय के लिए हुआ है, वे दोनों परिवर्तन के सूचक हैं। गुण का व्यवहार ध्रौव्य

दर्शन में आकाश का गुण माना गया है। सांख्य शब्द तन्मात्र से आकाश की उत्पत्ति बताता है। लेकिन जैन दर्शन में शब्द पौद्गलिक है। शब्द का कारण स्कन्धों का परस्पर टकराना है (पंचास्तिकायसार, 85-86)। बन्ध के दो प्रकार बताये गये हैं, आदिमान और अनादि। स्निग्ध एवं रूक्ष गुण निर्मित, विद्युत्, अग्नि, उल्का आदि विषयक बंध आदिमान हैं। धर्म, अधर्म आदि का बन्ध अनादि है।

धर्म—स्वयं क्रिया करनेवाले जीव और पुद्गल की जो सहायता करता है, वह धर्म है। अतः धर्म जीव और पुद्गल की गति करने में सहायता करता है। गति का अर्थ है एक देश से दूसरे देश में जाने की क्रिया। अतः यह क्रिया गति का ही दूसरा नाम है। जिस प्रकार मछली को तैरने के लिए पानी की अपेक्षा होती है और पानी के बिना मछली तैरने की शक्ति रखते हुए भी तैर नहीं सकती, उसी प्रकार जीव या पुद्गल की गति के लिए धर्म माध्यम है। यदि बिना धर्म के गति हो सकती तो मुक्त जीव अलोकाकाश में पहुँच जाता, क्योंकि मुक्त जीव स्वभाववश ऊर्ध्व गतिवाला होता है। लेकिन वह लोक के अंत तक ही जाकर स्थिर हो जाता है क्योंकि धर्म लोक के अन्दर ही होता है, अलोकाकाश में नहीं (तदन्तरमूर्ध्वगच्छत्यांलोकान्तत् —तत्त्वार्थ-सूत्र, 10/5)। धर्म को नित्य, अवस्थित एवं अरूपी माना गया है। अर्थात् यह तद्-भावाव्यभाव से सर्वदा गति देने में सहायक रहता है। इसके जितने प्रदेश हैं, उतने ही प्रदेशों में यह सर्वदा वर्तमान रहता है; इसके भिन्न-भिन्न रूप नहीं रहते बल्कि इसका अपरिवर्तित रूप रहता है। यह सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होता है।

अधर्म—स्थितिशील जीव तथा पुद्गल की स्थिति के सहकारी कारण द्रव्य विशेष को अधर्म कहते हैं। जिस प्रकार गति में धर्म कारण है उसी प्रकार स्थिति में अधर्म कारण है (नियमसार, 30)। यह भी लोकाकाश के बराबर है और सम्पूर्ण तिल में तेल की तरह लोकाकाश में व्याप्त है (तत्त्वार्थसूत्र, 3/23)। जैसे थके हुए पथिक के लिए वृक्ष की छाया सहायक होती है, उसी प्रकार जीव एवं पुद्गल की स्थिति के लिए अधर्म कारण है। अधर्म वस्तुतः रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से रहित अमूर्तिक और निष्क्रिय है एवं उत्पाद-व्यय रूप से परिणमन करते हुए भी नित्य है। इसके अस्तित्व का पता भी लोक की सीमाओं पर ही चलता है। अर्थात् जब आगे धर्म द्रव्य न होने के कारण जीव और पुद्गल गति नहीं कर सकते, तब स्थिति के लिए इनकी सहकारिता आवश्यक होती है।

ध्यातव्य है धर्म और अधर्म द्रव्य पुण्य और पाप के पर्यायवाची नहीं हैं बल्कि स्वतन्त्र द्रव्य हैं। असंख्यात् प्रदेश वाले होने के कारण इन्हें अस्तिकाय कहा जाता है।

आकाश—जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म और काल को स्थान देनेवाला द्रव्य आकाश कहलाता है (आकाशस्यावगाहः ।—तत्त्वार्थसूत्र, 5/8)। यद्यपि पुद्गलादि द्रव्यों में भी परस्पर न्यूनाधिक रूप में एक-दूसरे को अवकाश देना देखा जाता है; जैसे बर्तन में पानी, खाट पर बिछावन आदि, फिर भी समस्त द्रव्यों को एक साथ अवकाश देनेवाला आकाश ही है। इसकी सत्ता अनुमान पर आधारित है। जैसे एक पेटी में बहुत सारे सामान रख दिये जावें तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वे सामान और पेटी एक ही हैं (पेटी का अस्तित्व निःसन्देह अलग है), उसी प्रकार आकाश द्रव्य भी है। यह अनन्त-प्रदेशी एवं अरूपी है। इसके दो विभाग हैं, लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल रहते हैं। लोकाकाश के ऊपर अलोकाकाश की कल्पना की गयी है, जहाँ उक्त द्रव्य नहीं होते। आकाश अन्य द्रव्यों को अवकाश देता है, लेकिन स्वयं में स्वप्रतिष्ठित भी है अर्थात् उसके लिए किसी अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं होती। दार्शनिकों ने आकाश को स्वतन्त्र द्रव्य माना है, लेकिन उन्होंने जैन दर्शन की तरह इसे दो विभागों में बाँटने की कोशिश नहीं की है। इस संदर्भ में माना गया है कि दिशा स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है, बल्कि आकाश के प्रदेशों में सूर्योदय की अपेक्षा से पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं की कल्पना की जाती है। शब्द भी आकाश का गुण नहीं है, बल्कि वह पौद्गलिक है।

अद्धा समय या काल—समस्त द्रव्यों के उत्पादादि परिणमन में सहकारी काल द्रव्य माना गया है; काल परिवर्तन का कारण है। स्वयं परिवर्तन करते हुए अन्य द्रव्यों के परिवर्तन में यह सहकारी होता है। व्यावहारिक दृष्टि से इसे परिणामों का कारण माना जाता है और पारमार्थिक दृष्टि से इसे वर्तना का कारण मानते हैं। इन्हीं दो दृष्टियों के आधार पर काल के दो भेद माने जाते हैं, पारमार्थिक काल और व्यावहारिक काल। पारमार्थिक काल नित्यनिरवयव माना जाता है, क्योंकि हर क्षण, हर पल में भी काल है। द्रव्यों के परिणाम से अनुमित दंड, घण्टा, पल आदि अवयवों से सम्पन्न काल को व्यावहारिक काल कहते हैं। काल के संख्यातीत प्रदेश होते हैं। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक एक काल प्रदेश बैठा हुआ है। रत्नों की राशि की तरह लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर जो एक एक द्रव्य स्थित है, वह काल है। परिवर्तन की दृष्टि से यद्यपि काल के सभी प्रदेशों का एक स्वभाव है, फिर भी वे परस्पर भिन्न हैं। काल के क्रमिक पर्यायों से अतीत, वर्तमान एवं भविष्य का व्यवहार होता है। अर्थात् काल की अपेक्षा से ही किसी भी पदार्थ के परिणमन को अतीत, वर्तमान या भविष्य कहा जाता है। ध्यातव्य है कि जैन परम्परा के कुछ लोग काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं भी मानते (कालश्चेत्येके ।—तत्त्वार्थसूत्र, 5/38)।

बौद्ध परम्परा में काल को प्रज्ञप्तिमात्र माना गया है, जो केवल व्यवहार के लिए कल्पित होता है (अट्ठशालिनीः, 1/3/16) । वैशेषिक की दृष्टि में काल एक स्वतन्त्र द्रव्य है ।

(3) **कर्म विचार**—कर्म शब्द का अर्थ साधारणतः होता है कार्य, प्रवृत्ति अथवा क्रिया । यज्ञ आदि क्रियाएँ कर्म के रूप में कर्मकाण्ड में प्रचलित हैं । व्रत, नियमादि क्रियाएँ भी कर्म-रूप में स्वीकृत की जाती हैं । जैन दर्शन में कर्म वह है, जिसके कारण, साधन तुल्य होने पर भी, फल का तारतम्य अथवा अन्तर मानव जगत् में दृष्टिगत होता है । उस तारतम्य अथवा विविधता के कारण का नाम कर्म है । वस्तुतः कर्म-बीज के कारण ही जीवों को नाना उ पाधियाँ अथवा विविध अवस्थाएँ हैं (कम्मुणा उवाही जायइ ।—आचारांगसूत्र, 3/1) । दूसरे शब्दों में, प्रत्येक प्राणी के सुख-दुःख तथा तत्सम्बन्धी अनेकविध अवस्थाएँ कर्म की विचित्रता-विविधता पर ही आधारित हैं (भगवतीसूत्र, 12/5) । संसारी जीवों के कर्म-बीज भिन्न-भिन्न होने के कारण ही उनकी स्थिति-परिस्थिति तथा रूप-दशा में विलक्षणताएँ दीख पड़ती हैं । इसके कारण ही कोई दरिद्र है तो कोई धनी है । कर्म के दो भेद माने गये हैं, द्रव्य कर्म और भाव कर्म । द्रव्य कर्म वह है, जो कार्मण जाति का पुद्गल (जड़ तत्त्व) विशेष आत्मा के साथ मिलकर कर्म के रूप में परिणत होता है । रागद्वेषात्मक परिणाम को भाव कर्म कहते हैं ।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है । वह कार्मणात्मक कर्मों के साथ अनादि काल से बँधी हुई चली आ रही है (पंचाध्यायी, 2/35; लोकप्रकाश, 424) । जीव पुराने कर्मों का नाश करता हुआ नवीन कर्मों का उपार्जन करता रहता है । जब तक जीव के पूर्वोपार्जित समस्त कर्मों का नाश नहीं हो जाता और पुनः नये कर्मों का उपार्जन बन्द नहीं होता, तब तक उसकी मुक्ति सम्भव नहीं । कर्मों का सर्वथा विनाश होने पर ही मुक्ति अथवा मोक्ष, निर्वाण या सिद्धि मिल सकती है । कर्मोपार्जन के दो कारण माने गये हैं, योग और कषाय । शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति का नाम योग है और क्रोधादि मानसिक आवेगों की संज्ञा कषाय है । कषाययुक्त प्रवृत्तियाँ कर्मबन्ध के महत्त्वपूर्ण कारण मानी गयी हैं, क्योंकि उनसे उत्पन्न होनेवाले कर्मबन्ध कषाय रहित क्रिया से होनेवाले कर्मबन्ध की अपेक्षा बलवान होते हैं । जब प्राणी अपने मन, वचन एवं तन से किसी भी प्रकार की क्रिया करता है, तो कर्म परमाणुओं का आकर्षण अनायास होने लगता है । कर्म के परमाणुओं की मात्रा प्रवृत्ति की तरतमता पर निर्भर होती है । जितने क्षेत्र में आत्मा विद्यमान होती है, उतने ही क्षेत्र में कर्म

परमाणु भी ग्रहण किये जाते हैं। जिस कर्म का जितना स्थितिबन्ध होता है, वह उतनी ही अवधि तक उदय में आता रहता है। कर्मबन्ध चार प्रकार के होते हैं—प्रदेशबन्ध, प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभावबन्ध। योग के कारण समस्त आत्म-प्रदेशों पर सभी ओर से सूक्ष्म-कर्म पुद्‌गल का आकर एक क्षेत्रावगाही हो जाना (अर्थात् जिस क्षेत्र में आत्म प्रदेश है, उसी क्षेत्र में पुद्‌गल का ठहर जाना) प्रदेशबन्ध कहलाता है (तत्त्वार्थसूत्र, 8/24)। कर्म रूप से परिणत पुद्‌गलों में प्रकृति अर्थात् स्वभाव के बँधने को प्रकृतिबन्ध कहते हैं; जैसे ज्ञान को ढकने का स्वभाव, सुख-दुःख अनुभव कराने का स्वभाव आदि। प्रकृति-बन्ध के साथ ही साथ कर्म पुद्‌गल जीव के साथ कब तक चिपके रहेंगे, इसकी काल-मर्यादा को स्थिति-बन्ध कहते हैं। प्रकृति के बन्ध के साथ ही उसमें तीव्र अथवा मन्द रूप से फल चखाने की शक्ति भी निर्मित हो जाती है, जिसे अनुभाव-बन्ध कहते हैं। इन चारों बन्धों में से प्रकृति-बन्ध एवं प्रदेश-बन्ध योग अर्थात् मन, वचन एवं काय के व्यापार के कारण होते हैं और शेष दो कषाय के कारण।

जैन दर्शन में आठ कर्म-प्रकृतियाँ मानी गयी हैं—1. ज्ञानावरणीय (वे कर्म जो ज्ञान का आच्छादन करते हैं); 2. दर्शनावरण या दर्शनावरणीय (वे कर्म जो प्रेक्षण क्रिया को आवृत करते हैं); 3. मोहनीय (वे कर्म जो भ्रम उत्पन्न करते हैं); 4. वेदनीय (वे कर्म जो सुख-दुःख आदि का कारण बनते हैं); 5. नामकर्म (वे कर्म जो शरीर के पोषण के कारण होते हैं); 6. अन्तराय (वे कर्म जो बाधाएँ या विघ्न उत्पन्न करते हैं; 7. गोत्रकर्म (वे कर्म जो जीव को विशेष परिवार में उत्पन्न करते हैं); 8. आयुष्य कर्म (वे कर्म जो जीवन की अवधि या आयु निर्धारित करते हैं)। इनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अन्तराय घाती प्रकृतियाँ कही गयी हैं। शेष अघाती हैं, क्योंकि वे आत्मा के किसी भी गुण का घात नहीं करतीं। अघाती के अन्तर्गत वेदनीय, आयु, नाम एवं गोत्र कर्म प्रकृतियाँ क्रमशः सुख-दुःख के अनुभव के कारण विविध गति, शरीरादि के कारण एवं प्राणियों के उच्चत्व-नीचत्व का कारण होती हैं।

(5) **ज्ञान एवं प्रमाण मीमांसा**—जैन दर्शन में चेतना जीव का मौलिक गुण है अर्थात् जीव निसर्गतः अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एवं अनन्त चरित्र-विशिष्ट है। कर्मों के आवरण के कारण उसका शुद्ध चैतन्य रूप ओझल रहता है और पुनः कर्मों का सम्पूर्ण रूप से क्षय हो जाने के बाद वह सर्वज्ञ बन जाता है। कहा भी है कि व्यवहार-दृष्टि से केवली सभी द्रव्यों को जानता है और परमार्थतः वह आत्मा को भी जानता

के लिए हुआ है, क्योंकि यह नित्यता-वाचक है। किसी भी वस्तु की एकता-अनेकता, नित्यता-अनित्यता आदि दो पक्ष होते हैं, जिनमें प्रथम पक्ष ध्रौव्य अर्थात् गुण-सूचक होते हैं। पुनः वस्तु का दूसरा पक्ष उत्पाद-व्यय अर्थात् पर्याय-सूचक होते हैं। वस्तु के परिवर्तन में पूर्व रूप का विनाश एवं नये रूप की उत्पत्ति होती है, लेकिन वस्तु का विनाश एवं उत्पत्ति होने में उत्पाद एवं व्यय के रहते हुए भी वस्तु का सर्वथा विनाश नहीं होता और न नयी उत्पत्ति ही होती है। वस्तुतः वस्तु के उत्पाद एवं विनाश के बीच एक प्रकार की स्थिरता या एकरूपता होती है, जिसे ध्रौव्य कहते हैं। इस ध्रौव्य का अपर नाम तद्भावाव्यय है (तत्त्वार्थसूत्र, 5/30)। सत् के स्वरूप की इन सारी बातों को समाहित करते हुए कुन्दकुन्द ने सत् की व्याख्या इस प्रकार की है—जो अपरिव्यक्त स्वभाववाला है, उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य-युक्त है, गुण और पर्याय-युक्त है, वही द्रव्य है। चूँकि द्रव्य, सत्, सत्ता आदि एकार्थक हैं, इसलिए यह परिभाषा भी तीनों के लिए प्रयुक्त समझी जाती है। सत् की इस परिभाषा एवं तत्त्वार्थसूत्र की परिभाषा में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र के तीनों सूत्रों (उत्पाद, व्ययध्रौव्ययुक्तंसत्, गुणपर्यायवद् द्रव्यम् एवं सद्भावाव्ययंनित्यम्) का इसमें एकीकरण कर दिया गया है।

द्रव्य का वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। यह वर्गीकरण द्रव्यसामान्य की दृष्टि से सम्भव नहीं है, क्योंकि इस दृष्टि में किसी प्रकार की भेदकल्पना नहीं की जा सकती। परन्तु साधारणतः व्यावहारिक दृष्टिकोण से द्रव्य के सात भेद माने गये हैं—(1) जीव, (2) अजीव, (3) आस्रव, (4) बंध, (5) संवर, (6) निर्जरा और (7) मोक्ष। कभी-कभी इनमें पाप एवं पुण्य भी जोड़कर नौ तत्त्व मान लिये जाते हैं।

(1) **जीव द्रव्य**—जीव को आत्मा भी माना गया है, जिसका सामान्य लक्षण उपयोग है (उपयोगोलक्षणम्।—तत्त्वार्थसूत्र, 2/8)। उपयोग का अर्थ होता है चैतन्य-परिणति अर्थात् जीव का साधारण गुण चैतन्य है, जिससे वह समस्त जड़ द्रव्यों से अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। बाह्य एवं आभ्यंतर कारणों से चैतन्य के ज्ञान एवं दर्शन रूप से दो परिणमन होते हैं। जिस समय चैतन्य स्व से भिन्न किसी ज्ञेय को जानता है, उस समय वह ज्ञान कहलाता है; जब चैतन्य मात्र चैतन्य-रूप रहता है तब वह दर्शन कहलाता है। जीव असंख्यात प्रदेशवाला होता है। उसका सम्बन्ध सूक्ष्म कार्मण शरीर से अनादि काल का होता है। इसलिए वह कर्मोदय से प्राप्त शरीर के आकार के अनुसार छोटा-बड़ा आकार ग्रहण करता है। संक्षेप में, वह उपयोग-रूप, अमूर्तिक, कर्त्ता, स्वदेह-परिमाण, भोक्ता, संसारी-सिद्ध एवं स्वभाव से ऊर्ध्व-गमन करनेवाला है।

यद्यपि चेतना जीव का आवश्यक गुण है, फिर भी कुछ जीवों में चेतना की मात्रा अधिक हो सकती है और कुछ में कम। कैवल्य-प्राप्त जीवों में पूर्ण चेतना है और पौधों में चेतना नहीं के बराबर है। वे जीव हैं, उनमें चेतना है, किन्तु उनकी चेतना कर्म के प्रभाव से क्षीण हो गयी है। ये दोनों दो छोरों पर हैं। इन दोनों के बीच अन्य जीवों की स्थिति है, जो भिन्न-भिन्न मात्रा में चेतनासंपन्न हैं, जैसे, चींटी, मक्खी आदि।

चार्वाक की दृष्टि में चेतना शरीर का गुण है, लेकिन जैन दृष्टि में ऐसा नहीं है। इसके विचार में जीव एवं शरीर में भेद है। जिस प्रकार प्रकाश वस्तुओं को प्रकाशित करता है, किन्तु प्रकाश के लिए वस्तुओं का रहना आवश्यक नहीं है—यदि वस्तुएँ न भी रहें तो भी प्रकाश अपनी ज्योति फेंकता रहेगा, उसी प्रकार वस्तुओं की चेतना जीव को रहती है, पर चेतना के लिए वस्तु-सम्पर्क अपेक्षित नहीं है। यदि वस्तु न रहे और सम्पर्क न भी हो तो भी चेतना रहेगी। अतः जैन, चेतना को जीव का मौलिक एवं आवश्यक गुण मानते हैं।

जीव के अन्य गुण भी हैं। चेतना गुण प्रकाशित करती है, तो जीव अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है और अपने आपको भी। जीव शरीर का चालक होने के कारण सक्रिय है, निष्क्रिय नहीं। इसकी अवस्थाओं में परिवर्तन होता है। फिर भी शरीर के समान यह अनित्य नहीं, बल्कि नित्य है। जीव अनेक हैं। जीव जिस शरीर में रहता है, उसके हर भाग में व्याप्त रहता है। यही कारण है कि शरीर के किसी भी भाग में सूई चुभोने पर उसकी चेतना मनुष्य को होती है। शरीर के बड़े या छोटे होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता है। जीव शरीर में रहकर भी स्थान नहीं घेरता वस्तुतः जीव और शरीर का सम्बन्ध चेतना और वस्तु का सम्बन्ध है; जैसे प्रकाश कमरे के हर भाग में फैलकर भी कमरे का कोई हिस्सा नहीं बनता है, ठीक उसी प्रकार शरीर के हर भाग में रहकर भी जीव शरीर का कोई भाग नहीं है।

कर्मों के अनुसार जीव को शरीर मिलता है, क्योंकि जिस प्रकार का कर्म यह करता है उसी के अनुरूप पुद्गल-कण आकृष्ट होते हैं और वैसा ही शरीर बनता है। मनुष्य के शरीर का निर्माण संचित कर्म अर्थात् पूर्व जन्म के कर्म के अनुसार होता है। इसके सम्बन्ध में आगे विचार किया जायेगा।

आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जैन दर्शन में नीचे लिखे तर्क दिये गये हैं—

(1) साक्षात् ज्ञान के आधार पर तर्क दिया जाता है कि जैसे हमारी इन्द्रियाँ कलम के गुणों को पकड़ती हैं और हमें इन गुणों का धारण करनेवाले पदार्थ कलम का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार चेतना, सुख-दुख आदि गुणों का भी हमें साक्षात् ज्ञान होता है। अतः हमें इन गुणों के आधार जीव का भी ज्ञान हो जाता है।

(2) इन्द्रियों के साधन से ज्ञान प्राप्त करनेवाला जीव है, इन्द्रियाँ नहीं; क्योंकि वे ज्ञान की साधन-मात्र हैं।

(3) जिस प्रकार मशीन का कोई चालक होता है, उसी प्रकार शरीर-रूपी मशीन का चालक जीव है, क्योंकि जीव के द्वारा ही शरीर से विभिन्न क्रियाएँ संचालित होती हैं।

(4) शरीर का निर्माण एवं विकास जीव के द्वारा होता है, क्योंकि जीव निमित्त कारण बनकर पुद्गल कण-समूहों को रूप देकर शरीर का निर्माण करते हैं।

(2) **अजीव द्रव्य**—चैतन्य रहित जड़ पदार्थों को अजीव कहते हैं। अजीव द्रव्य के दो भेद माने गये हैं, रूपी और अरूपी। (1) रूपी या रूप-युक्त वह है जो स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण, इन चारों से युक्त हो (रूपिणः पुद्गलाः।—तत्त्वार्थसूत्र, 5/4, 5/23)। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण, ये चारों एक साथ रहते हैं। जहाँ इन चारों में से एक भी हो, वहाँ शेष तीन रहेंगे ही। रूपी के अन्तर्गत पुद्गल का उल्लेख होता है। (2) अरूपी अजीव वह है जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण नहीं होते। अरूपी के चार भेद होते हैं—

(क) धर्मास्तिकाय अर्थात् धर्म, (ख) अधर्मास्तिकाय अर्थात् अधर्म, (ग) आकाशस्तिकाय अर्थात् आकाश, (घ) अद्धासमय अर्थात् काल। 'अस्तिकाय' 'अस्ति' और 'काय' इन दो शब्दों से बना है, जिनका क्रमशः अर्थ होता है विद्यमान होना और प्रदेशों का समूह। अर्थात् जहाँ अनेक प्रदेशों का समूह होता है, वह अस्तिकाय है।

पुद्गल का एक अणु जितना स्थान (आकाश) घेरता है, उसे प्रदेश कहते हैं। इस प्रकार अनेक प्रदेश अस्तिकाय में पाये जाते हैं। प्रदेश का उक्त परिमाण यहाँ एक प्रकार का माप है।

पुद्गल—बौद्ध दर्शन में 'पुद्गल' शब्द आत्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, लेकिन जैन दर्शन में इसका अर्थ होता है जड़ या भौतिक तत्त्व; अर्थात् जो द्रव्य पूरण और गलन द्वारा विविध प्रकार से परिवर्तित होता है, वह पुद्गल है (पूरणगलनान्वर्थ-संज्ञत्वात् पुद्गलाः।—राजवार्तिक, 5/1/24)। वस्तुतः पूरण और गलन रूप क्रिया

केवल पुद्गल में ही होती है, अन्य में नहीं । इसका एक रूप दूसरे रूप में उक्त दोनों क्रियाओं द्वारा ही परिवर्तित होता है । पुद्गल के चार मुख्य धर्म स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण हैं । ये चारों धर्म पुद्गल के परमाणु में पाये जाते हैं और पूरण-गलन होते समय इनका कभी नाश नहीं होता । स्पर्श के आठ भेद होते हैं—मृदु, कठिन, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष । रस के पाँच प्रकार होते हैं—तिक्त, कटुक, अम्ल, मधुर और कषाय । गन्ध दो हैं—सुरभि गन्ध और दुर्गन्ध । वर्ण पाँच भेदों में विभाजित हैं—नील, पीत, शुक्ल, कृष्ण और लोहित । इस प्रकार पुद्गल के बीस भेद माने और बताये गये हैं कि इनके अनन्त भेद हो सकते हैं ।

पुद्गल के दो प्रमुख भेद हैं, अणु और स्कन्ध । पुद्गल का वह अन्तिम भाग जो विभाजित से परे है, अणु कहलाता है । अणु इतना सूक्ष्म है कि अपने आपमें वह आदि, मध्य और अन्त एक ही है । अणु में एक रस, एक वर्ण एक गन्ध और दो स्पर्श होते हैं । उसमें सापेक्ष गुण, जैसे मृदु-कठोर या गुरु-लघु नहीं होते ।

अनेक अणुओं अथवा परमाणुओं से स्कन्ध की रचना होती है । इसलिए यह अणुओं का समुदाय है । स्कन्ध का निर्माण तीन तरह से होता है : भेदपूर्वक, संघात-पूर्वक और भेद एवं संघात उभयपूर्वक (भेद संघातेभ्य उत्पद्यन्ते:—तत्त्वार्थ-सूत्र, 5/26) । भेद दो कारणों से होता है—आभ्यंतर एवं बाह्य । आभ्यंतर भेद में बाह्य कारण की अपेक्षा नहीं होती, एक स्कन्ध का भेद होकर दूसरा स्कन्ध बन जाता है । बाह्य भेद के लिए स्कन्ध के अतिरिक्त दूसरे कारण की अपेक्षा होती है । पृथक्-पृथक् अणुओं का संयोग संघात कहलाता है । भेद एवं संघात दोनों के एक साथ होने पर उभयपूर्वक स्कन्ध बनता है । संघात एवं बंध पुद्गल के स्निग्धत्व और रूक्षत्व के कारण होते हैं (स्निग्धरूक्षत्वाद्बंध: ।—तत्त्वार्थसूत्र, 5/32) । बंध के लिए कुछ आवश्यक शर्तें हैं । (1) जघन्थ गुणवाले अवयवों का बंध नहीं होता । (2) समान गुण होने पर सदृश अवयवों का बंध नहीं होता और (3) दो या अधिक गुणवाले अवयवों का बंध नहीं होता ।

अणु एवं स्कन्ध दोनों भेदों के आधार पर पुद्गल के छह भेद भी किये गये हैं—(1) स्थूल-स्थूल अर्थात् मिट्टी, पत्थर, काष्ठ आदि ठोस पदार्थ । (2) स्थूल अर्थात् दूध, दही, पानी आदि द्रव्य पदार्थ । (3) स्थूल-सूक्ष्म अर्थात् प्रकाश, विद्युत् आदि । (4) सूक्ष्म-स्थूल अर्थात् वायु, वाष्प आदि । (5) सूक्ष्म अर्थात् मनोवर्गणा आदि अचाक्षुष द्रव्य तथा (6) सूक्ष्म-सूक्ष्म अर्थात् परमाणु ।

पुद्गल के पर्याय अथवा कार्य निम्नलिखित हैं—शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, प्रकाश, उद्योत, उष्णता आदि । शब्द को वैशेषिक

श्रवण से होता है, जो आप्त-पुरुष द्वारा प्रणीत होते हैं और जिनमें श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम करने की शक्ति होती है। श्रुतज्ञान के दो प्रकार होते हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान साक्षात् तीर्थंकर द्वारा प्रकाशित एवं गणधरों द्वारा सूत्र-निबद्ध ग्रन्थों से प्राप्त होता है। यह ज्ञान बारह अंगों द्वारा प्राप्त होता है (दिगम्बर मतानुसार षट्खण्डागम, कषायपाहुड़, महाबन्ध आदि द्वारा)। बारह अंग इस प्रकार हैं—(1) आचार, (2) सूत्रकृत, (3) स्थान, (4) समवाय, (5) उपासकदशा, (6) भगवती, (7) ज्ञाताधर्मकथा, (8) अंतकृद्दशा, (9) अनुत्तरौपपातिकदशा, (10) प्रश्न-व्याकरण, (11) विपाक और (12) दृष्टिवाद (जो उपलब्ध नहीं है)।

अंगबाह्य श्रुतज्ञान उन शास्त्रों के श्रवण से प्राप्त होता है जो सर्वसाधारण के हित के लिए, अंगों के आधार पर गणधर अथवा आचार्य द्वारा लिखे जाते हैं। इसके कालिक, उत्कालिक अनेक प्रकार के भेद किये गये हैं। आवश्यकनिर्युक्ति (17-19) के अनुसार जितने अक्षर हैं और उनके जितने विविध संयोग हैं उतने ही श्रुतज्ञान के भेद हैं। उन सारे भेदों को बताना यहाँ सम्भव नहीं है। श्रुतज्ञान का मुख्य आधार यद्यपि शब्द है फिर भी हस्त-संकेत आदि अन्य साधनों से भी यह ज्ञान होता है। इसके लिए चिन्तन, संकेत एवं स्मरण आवश्यक हैं।

इस प्रकार प्रत्येक जीव के लिए मति एवं श्रुतज्ञान अपेक्षित हैं। एक परम्परा-नुसार ये दोनों ज्ञान केवल ज्ञान की स्थिति में वर्त्तमान रहते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे सूरज के प्रकाश में दीपक। दूसरी परम्परा के अनुसार केवलज्ञान सम्पूर्णतः अकेला होता है, जहाँ कोई अन्य ज्ञान नहीं होता। श्रुतज्ञान मति-पूर्वक ही होता है; जबकि मतिज्ञान के लिए श्रुतपूर्वक होना कोई आवश्यक नहीं (तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य)। अन्य मत में दोनों अर्थात् श्रुत एवं मति ज्ञान एक दूसरे के साथ वर्त्तमान रहते हैं (नन्दीसूत्र, 24; सर्वार्थसिद्धि, 1/30; तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1/9/30)। इन दोनों कथनों में साम्य ही है, विरोध नहीं; क्योंकि सामान्य दृष्टि से मति और श्रुत सहचारी हैं। सामान्य शब्दज्ञान, जो केवल मतिज्ञान है; बढ़ते-बढ़ते श्रुतज्ञान के स्तर पर पहुँचता है। दूसरे शब्दों में, वक्ता या श्रोता का वही ज्ञान श्रुत है, जो श्रोतानुसारी है। जो श्रोतानुसारी नहीं है, वह मति है, (विशेषावश्यक भाष्य, 121)। यहाँ श्रोतानुसारी का तात्पर्य शास्त्र के अर्थ की परम्परा का अनुसरण करनेवाला ज्ञान है।

ज्ञान और दर्शन

प्रमाण की व्याख्या के पूर्व संक्षेप में ज्ञान एवं दर्शन के संबंध में विचार कर लेना अपेक्षित है, क्योंकि इसके सन्दर्भ में प्रमाण-समीक्षा में स्पष्टता होगी।

अनाकार उपयोग को दर्शन और साकार उपयोग को ज्ञान कहा गया है (तत्त्वार्थ-सूत्र भाष्य, 1/9)। अनाकार का अर्थ निर्विकल्प है और साकार का सविकल्प। दोनों को क्रमशः अन्तर्मुख एवं बहिर्मुख भी कहते हैं। निर्विकल्प वह है, जो उपयोग-सामान्य भाव का ग्रहण करता है। इस प्रकार दर्शन को सामान्यग्राही माना गया है। सविकल्प वह है, जो उपयोग-विशेष का ग्रहण करता है। इस प्रकार ज्ञान को विशेषग्राही समझा गया है। आगे चलकर, तर्ककाल में इन दोनों के स्वरूप में कुछ परिवर्तन हुए, जिनके फलस्वरूप सामान्य विशेषात्मक बाह्यार्थ का ग्रहण ज्ञान माना गया और तदात्मक आत्मा का ग्रहण दर्शन (सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थग्रहणं ज्ञानम् तदात्मकस्वरूपग्रहणं दर्शनमितिसिद्धम्।—षट्खण्डागम, धवला टीका, 1/1/4)। इनके सन्दर्भ में कहा गया है कि तत्त्व-सामान्य-विशेषात्मक है, इसलिए सामान्य-व्यतिरिक्त विशेष का ग्रहण करनेवाला ज्ञान अप्रमाण है और उसी प्रकार विशेष-व्यतिरिक्त सामान्य का ग्रहण करनेवाला दर्शन मिथ्या है। इस मत का समर्थन द्रव्य-संग्रहवृत्ति (गा० 44) भी करती है। सिद्धान्त दृष्टि अथवा आगम दृष्टि से आत्मा की सत्ता उपयोग दर्शन है तथा बाह्य अर्थ का ग्रहण ज्ञान है। निश्चय दृष्टि से यद्यपि ज्ञान एवं दर्शन से अभिन्न हैं, तथापि व्यवहार दृष्टि से दोनों भिन्न हैं।

सामान्य व्यक्ति के सम्बन्ध में सबका एक ही मत है कि दर्शन और ज्ञान क्रमशः होते हैं, लेकिन केवली के प्रश्न को लेकर मतभेद है। पहला मत कहता है कि केवली में दर्शन और ज्ञान की उत्पत्ति क्रमशः होती है, क्योंकि दो उपयोग एक साथ नहीं हो सकते। इसलिए दर्शन और ज्ञान युगपद नहीं हो सकते (आवश्यकनियुक्ति, 973; भगवतीसूत्र, 18/8)। दूसरा मत कहता है कि दर्शन एवं ज्ञान युगपद होते हैं (तत्त्वार्थ-सूत्र, भाष्य, 1/31; नियमसार, 159; सर्वार्थसिद्धि, 2/9)। तीसरे मत के अनुसार केवली में ज्ञान एवं दर्शन दोनों में अभेद होता है, यही कारण है कि केवल ज्ञान और केवली दर्शन का भेद सिद्ध करना सम्भव नहीं (सन्मतितर्कप्रकरण, 2/3, 2/9)। ज्ञान सविकल्प है और दर्शन निर्विकल्प है, इस प्रकार का भेद आवरण-रूप कर्म के क्षय के बाद नहीं रहता। पुनः ज्ञान हमेशा दर्शन-पूर्वक होता है, लेकिन दर्शन ज्ञान-पूर्वक नहीं होता (सन्मतिप्रकरण, 2/11, 2/22)। इसलिए केवली को जब एक बार सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है, तब पुनः दर्शन की क्या आवश्यकता।

प्रमाण

यद्यपि जैन आगमों में, प्रकारान्तर से, प्रमाण की चर्चा बहुविध हुई है तथापि प्रमाण का प्रामाणिक विश्लेषण तर्क-युग की देन है। प्रामाण्य-अप्रामाण्य का अलग-

अलग विचार करने के बजाय ज्ञान के स्वरूप के साथ ही प्रमाण का स्वरूप समझ लेने का संकेत उमास्वाति ने किया था जो आगे चलकर अन्य दार्शनिक परम्पराओं की भाँति प्रमाण के सम्बन्ध में यथोचित विवेचन, विश्लेषण का कारण बना।

प्रमाण-लक्षण के सन्दर्भ में बहुत सारी परिभाषाएँ दी गयी हैं। किसी ने स्वपरावभाषी ज्ञान[1] को प्रमाण बतलाया है, तो किसी ने स्वपरावभाषी बाधारहित ज्ञान[2] को प्रमाण कहा है। किसी की दृष्टि में स्वपरावभाषी व्यवसायात्मक ज्ञान[3] प्रमाण है तो किसी की दृष्टि में अनधिगतार्थक अविसंवादी ज्ञान[4] ही प्रमाण है। किसी ने सम्यक् ज्ञान को प्रमाण बतलाकर स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान को सम्यक् ज्ञान[5] कहा है तो किसी ने स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण[6] कहा है। इस प्रकार इन लक्षणों को देखते हुए कहा जा सकता है कि इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है; अगर थोड़ा सा मतभेद है भी तो कुछ शब्दों (अपूर्व) को लेकर। इतना तो स्पष्ट है कि जैन दर्शन में ज्ञान को ही प्रमाण का कारण माना गया है। यह प्रमाण ज्ञान सम्पूर्ण वस्तु को ग्रहण करता है और उसमें सामान्य ज्ञान का स्वसंवेदित्व धर्म भी रहता है। प्रमाण होने से उसे अविसंवादी भी होना अपेक्षित ही है। विसंवाद (संशय), विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित अविसंवादी सम्यक् ज्ञान प्रमाण होता है। इस सन्दर्भ में अकलंक का अनधिगतार्थग्राही एवं माणिक्यनन्दि का अपूर्व शब्द समानार्थक हैं, जो अज्ञात अर्थ का निश्चय करनेवाले ज्ञान के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

अतः प्रमिति या प्रमाण अज्ञान-निवृत्तिरूप होता है, इसलिए ज्ञान ही प्रमाण माना गया है, क्योंकि इष्ट वस्तु का ग्रहण और अनिष्ट वस्तु का त्याग ज्ञान के कारण ही होता है (परीक्षामुख, 1/2)। जैसे अन्धकार की निवृत्ति में दीपक साधकतम होता है, उसी प्रकार जानने की क्रिया में साधकतमता ज्ञान की ही रहती है, इन्द्रियों आदि की नहीं। इन्द्रिय-सन्निकर्षादि ज्ञान की उत्पादक सामग्रियाँ हो सकती हैं लेकिन वे अचेतन एवं अज्ञान रूप होने के कारण प्रमिति में साक्षात् कारण नहीं हो सकतीं। ज्ञान जहाँ अपने को जानता है, वहाँ बाह्य अर्थ को भी जानता है, इसलिए स्व और

---

1. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।—वृ० त्र०, 63
2. प्रमाणं स्वपरावभासिज्ञानं बाध विवर्जितम्।—न्याय०, 1
3. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्।—लघी०, 60
4. प्रमाणविसंवादि ज्ञानमनधिगतार्थलक्षणत्वात्।—अष्टश०, पृ० 174
5. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।—परी०, 1-1
6. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानम्।—प्र० प०, 53

पर का निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण माना गया है (प्रमाणनय तत्त्वालोक, 1/2)। प्रमाण में अर्थ का सम्यक् निर्णय भी होता है (प्रमाणमीमांसा, 1/1/2)। अर्थ के निर्णय में स्व-निर्णय भी समाविष्ट होता है। प्रमाण के अन्य लक्षणों में पाये जानेवाले निश्चित, बाधवर्जित, अदुष्टकारणजन्यतत्त्व, लोकसम्मतत्त्व, अव्यभिचारीव्यवसायात्मक आदि विशेषण प्रकारान्तर से सम्यक् अर्थ को ही व्यंजित करते हैं।

प्रामाण्य

भारतीय दर्शनों में नैयायिक जहाँ परतः-प्रामाण्यवाद का पोषक है, मीमांसक स्वतः-प्रामाण्यवादी है; सांख्य जहाँ प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों को स्वतः मानते हैं वहाँ जैन दर्शन में स्वतः एवं परतः ज्ञान के प्रामाण्य के लिए अपेक्षित मानते हैं। जैन दर्शन दोनों का भिन्न-भिन्न दृष्टि से समर्थन करता है। उसकी दृष्टि में अभ्यासा-वस्था आदि में होनेवाला निश्चय स्वतः-प्रामाण्यवाद का साक्षी है और पुनः किसी अन्य आधार पर होनेवाला प्रामाण्यनिश्चय परतः-प्रामाण्यवाद का पोषक है।

अतः प्रामाण्य प्रमाण का धर्म है। इसलिए इसकी उत्पत्ति भी उन्हीं कारणों से होती है जिन कारणों से प्रमाण उत्पन्न होता है। प्रमाण जिस पदार्थ को जिस रूप में जानता है, उसका उसी रूप में प्राप्त होना प्रामाण्य कहलाता है। इस सन्दर्भ में कहा जाता है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः ही होती है लेकिन ज्ञप्ति या निश्चय की स्वतः और परतः दोनों होती है (प्रमाणनयतत्त्वालोक, 1/21)।

प्रमाण का फल

प्रमाण के फल के सम्बन्ध में दो भेद माने जा सकते हैं—एक साक्षात्-फल, जिससे अज्ञान का नाश होता है और दूसरा परम्परा-फल जिसमें उपादान और उपेक्षा होती है। इसका मुख्य प्रयोजन अर्थ-प्रकाश भी है (फलमर्थप्रकाशः।—प्रमाण-मीमांसा, 1/1/34)। केवल ज्ञान के लिए उसका फल सुख और उपेक्षा है तथा शेष ज्ञानों के लिए ग्रहण एवं त्याग बुद्धि (न्यायावतार, 28)। वस्तुतः प्रमाण का फल विवेक की प्राप्ति है, जिसके द्वारा सद् कार्य में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और असद् कार्य से निवृत्ति उत्पन्न होती है। पूर्वकालभावी ज्ञान उत्तरकालभावी ज्ञान के लिए प्रमाण है और इसके विपरीत उत्तरकालभावी ज्ञान पूर्वकालभावी ज्ञान के फल है। अतः प्रत्येक ज्ञान प्रमाण भी है और फल भी है। जैसे अवग्रह ज्ञान प्रमाण है और ईहा ज्ञान उसका फल है, क्योंकि ईहा ज्ञान के होने में अवग्रह ज्ञान साधकतम है और ईहा ज्ञान उसका साध्य है, उसी प्रकार स्मृति की उत्पत्ति में साधकपन होने से साधारण ज्ञान प्रमाण है और स्मृति उसका फल है आदि।

है । अतः यहाँ आत्मा और ज्ञान में कोई अन्तर नहीं माना जाता, क्योंकि ज्ञान अपने आपको जानता हुआ ही दूसरे पदार्थ को जानता है । साधारणतः ज्ञान के दो प्रकार माने जाते हैं—(1) साधारण अथवा लौकिक ज्ञान; तथा (2) असाधारण अथवा अलौकिक ज्ञान । साधारण ज्ञान अथवा आत्मेतर इन्द्रिय-मन-सापेक्ष ज्ञान परोक्ष कहा जाता है । दूसरे शब्दों में, जिस न की प्राप्ति इन्द्रिय तथा मन के द्वारा होती है, उसे परोक्ष कहते हैं । असाधारण या अलौकिक ज्ञान आत्म-सापेक्ष होता है, जिसे प्रत्यक्ष कहते हैं । जिस ज्ञान की उपलब्धि में आत्मा स्वयं कारणभूत हो, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं । यहाँ स्पष्ट है कि जैन दर्शन आत्म-प्रत्यक्ष को भी वास्तविक प्रत्यक्ष मानता है, जबकि अन्य दर्शन इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानते हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेद माने गये हैं—अवधि, मनःपर्यय एवं केवल । इनमें से दो ज्ञान विकल प्रत्यक्ष हैं क्योंकि इनकी कुछ सीमाएँ हैं । केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, क्योंकि यह पूर्ण है । अवधि का विषय केवल-रूपी पदार्थ है अर्थात् जिसे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हों वही अवधि-ज्ञान का विषय बनता है । अवधि-ज्ञान के अधिकारी वे ही हो सकते हैं, जो भव-प्रत्ययी (देव एवं नारक) और गुण-प्रत्ययी (मनुष्य) हैं । व्यक्ति के प्रयत्न से कर्मों का क्षयोपशम होने पर ही यह ज्ञान पैदा होता है । देव और नारक की तरह मनुष्यादि के लिए यह ज्ञान जन्मसिद्ध नहीं है, बल्कि व्रत-नियम, तप आदि के सम्यक् पालन से प्राप्त होता है । गुण प्रत्यय का अवधि-ज्ञान के अन्तर्गत कई दृष्टियों से विचार किया गया है । अवधि-ज्ञान की सीमा लोकाकाश तक है ।

मनुष्यों के मन के चिंतित अर्थ को प्रकट करनेवाला ज्ञान मनःपर्यय ज्ञान कह-लाता है । यह ज्ञान आत्म-पूर्वक होता है । यह मनुष्य-क्षेत्र तक सीमित है और गुण के कारण उत्पन्न होता है (आवश्यकनियुक्ति, 76) । इसकी परिभाषा के संबंध में दो विचार देखने को मिलते हैं—एक कहता है कि मनःपर्यय ज्ञानी चिंतित अर्थ का प्रत्यक्ष कर लेता है (सर्वार्थसिद्धि, 1/9; तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1/26/6-7) तो दूसरा मानता है कि मनःपर्यय ज्ञानी मन की विविध अवस्थाओं का तो प्रत्यक्ष करता ही है किन्तु उन अवस्थाओं में, जो अर्थ रहा हुआ है, उसका अनुमान करता है (विशेषा-वश्यक भाष्य, 814) । दूसरे शब्दों में, पहला मन के द्वारा चिंतित अर्थ के ज्ञान के लिए मन को माध्यम न मानकर सीधा उस अर्थ को प्रत्यक्ष मान लेता है । दूसरा मानता है कि मन के ज्ञान से अर्थ का ज्ञान होता है । इस सम्बन्ध में दूसरे का कथन युक्ति-संगत जान पड़ता है क्योंकि मनःपर्यय ज्ञान से साक्षात् अर्थ-ज्ञान होना सम्भव नहीं; उसका विषय रूपी-द्रव्य का अनन्तवाँ भाग है (तदन्तभागे मनः पर्यायस्य ।—तत्त्वा-र्थसूत्र, 1/29) । मनःपर्यय ज्ञान के दो प्रकार हैं—ऋजुमति एवं विपुलमति (तत्त्वार्थ-

सूत्र, 1/24)। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मन के सूक्ष्मतर परिणामों को जानने में समर्थ होता है। पुनः ऋजुमति क्षणस्थायी होता है और विपुलमति स्थायी (तत्त्वार्थ-सूत्र, 1/25)। इस प्रकार अवधि-ज्ञान एवं मनःपर्यय एक ही ज्ञान की दो भूमिकाएँ हैं। दोनों में अन्तर यही है कि अवधि की अपेक्षा मनःपर्यय ज्ञान अधिक सूक्ष्म अंश को जानता है। अवधि ज्ञान देव, नरक, मनुष्य और तिर्यक् को हो सकता है, लेकिन मनःपर्यय ज्ञान केवल चरित्रवान् मनुष्य को ही होता है। अवधि-ज्ञान के विषय सभी रूपी द्रव्य होते हैं लेकिन मनःपर्यय का विषय केवल मन। लेकिन इतना सही है कि दोनों ज्ञान आंशिक आत्म-प्रत्यक्ष की कोटि में हैं। समस्त ज्ञानावरण का समूल नाश होने पर प्रकट होनेवाला निरावरण ज्ञान केवल ज्ञान है। यह आत्म मात्र सापेक्ष होता है। यह समस्त द्रव्यों के त्रिकालवर्ती सभी पर्यायों को जानता है। अतीन्द्रिय कहा गया है। दूसरे शब्दों में, आत्मा की ज्ञान शक्ति का पूर्ण विकास या आविर्भाव केवल ज्ञान है। यह सकल प्रत्यक्ष होने के कारण सम्पूर्ण है, उसके साथ मति आदि ज्ञान नहीं रहते। इस ज्ञान को क्षायिक माना गया है, जबकि अन्य ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। इस ज्ञान के प्रतिबन्ध क्रमशः चार हैं—मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय। इस ज्ञान की प्राप्ति के क्रम में सर्वप्रथम मोह का क्षय होता है तथा तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त के बाद ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अंतराय कर्म क्षय हो जाते हैं। वस्तुतः यह ज्ञान व्यक्ति के ज्ञान के विकास का अन्तिम सोपान है।

यहाँ अवधि ज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान एवं केवल ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष माने गये हैं।

साधारण अथवा लौकिक ज्ञान के दो प्रकार माने जाते हैं—मति एवं श्रुत। मतिज्ञान इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है (तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।—तत्त्वार्थसूत्र, 1/14)। इस सन्दर्भ में जैन दर्शनानुसार केवल पाँच इन्द्रियाँ स्वीकृत हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत्र। इन्हीं पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा क्रमशः स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण एवं शब्द विषयों के ज्ञान होते हैं। मन को यहाँ सर्वार्थग्राही इन्द्रिय कहा गया है। इसका अपर नाम अन्तःकरण भी है। मतिज्ञान के पर्याय के रूप में अभिनिबोधिक, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, प्रज्ञा आदि शब्द देखने को मिलते हैं। इस ज्ञान के कई प्रकार हैं। कहीं इसके प्रकार दो हैं तो कहीं तीन, कहीं चार आदि। यहाँ मतिज्ञान के प्रमुख चार भेदों की चर्चा अपेक्षित है, जो इस प्रकार हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा। इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होने पर नाम आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्यमात्र का ज्ञान अवग्रह है

(अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः ।—प्रमाण-मीमांसा, 1/1/26)। इस ज्ञान में यह निश्चित प्रतीति नहीं होती कि किस पदार्थ का ज्ञान हुआ है। अवग्रह के लिए अग्रहणता, उपधारणता, श्रवणता, अवलम्बनता, मेधा (नन्दीसूत्र, 1/30), ग्रह, ग्रहण, आलोचन, अवधारण (तत्त्वार्थभाष्य, 2/1, 15) आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। अवग्रह के दो प्रकार हैं—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। अर्थ और इन्द्रियों के संयोग के पूर्व का अव्यक्त ज्ञान व्यंजनावग्रह है। यह चक्षु और मन से नहीं होता (न चक्षुरिन्द्रियाभ्याम् ।—तत्त्वार्थसूत्र, 1/19) चक्षु और मन अप्राप्यकारी होने के कारण इनके साथ अर्थ का संयोग नहीं होता। अर्थावग्रह सामान्य ज्ञान रूप होता है, संयोग रूप नहीं। इसलिए यह चक्षु और मन से होता है और इन दोनों का विषय-ग्रहण सामान्य ज्ञान रूप ही है। इसे व्यक्त ज्ञान कहा गया है। इन दोनों को समझने के लिए एक उदाहरण देना समीचीन होगा। जैसे किसी सोये हुए व्यक्ति को पुकारा जाता है तो पहले के कुछ शब्द कान में जाकर चुपचाप टकराकर रह जाते हैं और उनकी अभिव्यक्ति नहीं होती। पुनः तीन-चार बार पुकारने पर कान में काफी शब्द एकत्र हो जाते हैं और उसे ज्ञान होता है कि कोई बुला रहा है। यह ज्ञान पहले शब्द के समय इतना अस्पष्ट और अव्यक्त होता है कि उसे इस बात का पता नहीं होता कि कोई बुला रहा है। लेकिन बार-बार पुकारने के बाद उसे 'कोई बुला रहा है' का ज्ञान प्राप्त होता है। इन दोनों स्थितियों में पहली स्थिति व्यञ्जनावग्रह की है और दूसरी अर्थावग्रह की।

अवगृहीतार्थ की विशेष रूप से जानने की इच्छा ईहा है (अवगृहीतार्थ विशेषकांक्षणमीहा ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक, 2/8)। यद्यपि ईहा में पूर्ण निर्णय नहीं हो पाता, फिर भी ज्ञान निर्णय की ओर झुक अवश्य जाता है। यह संशय नहीं है, क्योंकि इसमें ज्ञान का झुकाव न स्वीकारात्मक होता है और न नकारात्मक ही। संशय वस्तुतः ईहा की पूर्व की स्थिति है और ईहा हो जाने के बाद संशय समाप्त हो जाता है। ईहा के लिए आयोगणता, मार्गणता, गवेषणता, चिन्ता, विमर्श, ऊह, तर्क, परीक्षा, विचारणा, जिज्ञासा आदि का प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि पुकारनेवाला पुरुष है या स्त्री।

ईहितार्थ का विशेष निर्णय अवाय है (ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः ।—प्रमाण-मीमांसा, 1/1/28)। इसमें सम्यक् असम्यक् की विचारणा पूर्ण रूप से परिपक्व हो जाती है और असम्यक् का निवारण होकर सम्यक् का निर्णय हो जाता है। विशेषावश्यक भाष्य (गा० 185) के अनुसार जो गुण पदार्थ के अन्दर नहीं हैं, उनका निवारण अवाय है और जो गुण पदार्थ में हैं उनका स्थिरीकरण धारणा है। लेकिन भाष्यकार

के मत में यह विचार उचित नहीं है क्योंकि असद्गुणों का निवारण हो या सद्गुणों का स्थिरीकरण, अथवा दोनों एक ही साथ हों, सभी अवायान्तर्गत ही हैं (विशेषावश्यक भाष्य, 186)। इस सन्दर्भ में यह उल्लेख कर देना समीचीन होगा कि वस्तुतः दो परम्पराओं में अलग-अलग विध्यात्मक अथवा निषेधात्मक अर्थ ग्रहण किया जाता है। ज्ञान को निषेधात्मक माननेवाली परम्परा अवाय के लिए 'अपाय' शब्द का प्रयोग करती है (सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि)। ज्ञान को विध्यात्मक माननेवाली परम्परा में 'अवाय' शब्द का ही प्रयोग किया है (तत्त्वार्थसूत्र भाष्य, हरिभद्रीय टीका, सिद्धसेनीय टीका आदि)। अवाय के लिए आवर्तनता, प्रत्यावर्तनता, बुद्धि, विज्ञान, अपगम, अपनोद, अपव्याध, अपेत, अगत, अपविद्ध और अपनुत शब्दों का प्रयोग होता है।

स्मृति का हेतु रूप में धारणा की व्याख्या हुई है (स्मृतिहेतुर्धारणा।—प्रमाण-मीमांसा, 1/1/29)। इसलिए धारणा में ज्ञान इतना दृढ़ हो जाता है कि वह स्मृति का कारण बनता है। जिनभद्र के अनुसार ज्ञान को अविच्युति को धारणा कहते हैं (अविच्चुई धारणा तस्स।—विशेषावश्यक भाष्य, 180)। उनके अनुसार धारणा के तीन प्रकार हैं—(क) अविच्युति अर्थात् पदार्थ के ज्ञान का विनाश न होना। (ख) वासना अर्थात् संस्कार का निर्माण होना और (ग) अनुस्मरण अर्थात् भविष्य में उन संस्कारों का जाग्रत होना (वि० भा०, 291)। इसके विपरीत वादिदेव सूरि का कहना है कि धारणा अवाय प्रदत्त-ज्ञान की दृढ़तमावस्था है। यह स्मृति का कारण नहीं बन सकती, क्योंकि किसी ज्ञान का इतने लम्बे काल तक बराबर चलते रहना सम्भव नहीं है। पुनः, एक साथ दो उपयोग नहीं रह सकते। स्मृति और संस्कार दोनों अलग-अलग गुण हैं। वस्तुतः धारणा तो अपने समय की मर्यादा के बाद समाप्त हो जाती है और उसके बाद दूसरे ज्ञान की परम्परा चलती रहती है। धारणा के पर्याय के रूप में स्थापना, प्रतिष्ठा, कोष्ठा (नन्दीसूत्र), प्रतिपत्ति, अवधारणा, अवस्थान, निश्चय, अवगम एवं अवबोध का व्यवहार होता है।

शास्त्र-निबद्ध ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। दूसरे शब्दों में, आप्त-पुरुष द्वारा रचित शास्त्रों से जो मतिपूर्वक ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है (श्रुतं मतिपूर्वंद्वयनेकद्वादशभेदम्।—तत्त्वार्थसूत्र, 1/20)। यहाँ मतिज्ञान कारण रूप में होता है और श्रुतज्ञान कार्यरूप में; क्योंकि शब्द-श्रवण रूप व्यापार मतिज्ञान होता है और तदनन्तर उत्पन्न होनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान होता है। लेकिन मतिज्ञान होने पर भी यदि श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम तो श्रुतज्ञान सम्भव नहीं है। इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि किसी भी शास्त्र-श्रवण से श्रुतज्ञान नहीं होता वरन् ऐसे शास्त्रों के

प्रमाणाभास

जिस प्रकार स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है, उसी प्रकार अस्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहना, अथवा असद् वस्तु को सत् रूप से जानना प्रमाणाभास है, जैसे सीप में होनेवाला चाँदी का ज्ञान। प्रमाणाभास के कई भेद होते हैं, जैसे—प्रत्यक्षाभास, परोक्षाभास, स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, तर्काभास, अनुमानाभास आदि।

प्रमाण के भेद

प्रमाण के दो भेद हैं—(1) प्रत्यक्ष और (2) परोक्ष। प्रत्यक्ष का प्रतिपादन दो दृष्टियों, लोकोत्तर एवं लौकिक, के आधार पर होता है। इसलिये इसके क्रमशः दो भेद किये गये हैं—(1) पारमार्थिक प्रत्यक्ष और (2) सांव्यवहारिक अथवा व्यावहारिक प्रत्यक्ष। पारमार्थिक प्रत्यक्ष भी सकल एवं विकल के भेद से दो प्रकार के होते हैं—(क) सकल प्रत्यक्ष अथवा केवल ज्ञान और (ख) विकल प्रत्यक्ष अथवा अवधि ज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के चार भेद किये गये हैं, जो क्रमशः अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा हैं, जिनके सम्बन्ध में ज्ञान के सन्दर्भ में चर्चा की गयी है।

परोक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष के विपरीत माना गया है। इसलिए इस प्रमाण में अविशदता अथवा अस्पष्टता होती है (अविशदः अथवा अस्पष्ट परोक्षम्।—प्रमाणमीमांसा, 1.2.1; प्रमाणनयतत्त्वालोक, 3.1) इसके प्रकार पाँच हैं—(1) स्मृति, (2) प्रत्यभिज्ञान, (3) तर्क, (4) अनुमान और (5) आगम।

स्मृति—अनुभव की वासना की जागृति से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति माना गया है (वासनोद्‌बोध हेतुकातदित्याकारा स्मृतिः।—प्र० मी०, 1.2.3.)। अतः यह अतीत के अनुभव का स्मरण करानेवाला ज्ञान है। इसके विपरीत यह तर्क कि अतीत का नष्ट हो चुका ज्ञान प्रमाण कैसे माना जा सकता है, कोई अर्थ नहीं रखता है। चूँकि पदार्थ और ज्ञान में ज्ञेय एवं ज्ञाता का सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध तीनों कालों में उपस्थित रह सकता है, इसलिए यह स्मृति ज्ञान प्रमाण माना जाता है। पुनः इसे प्रमाण न मानने पर अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि लिंग और लिंगी का सम्बन्ध-ग्रहण प्रत्यक्ष का विषय नहीं है और न उन दोनों (लिंग-लिंगी) या सम्बन्ध स्मृति के अभाव में ही स्थापित किया जा सकता है।

प्रत्यभिज्ञान—यह ज्ञान दर्शन एवं स्मरण से उत्पन्न होता है, जिससे 'यह वही है' का बोध होता है; अर्थात् इस ज्ञान में प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों का संकलन रहता है। इस ज्ञान-प्रमाण में उपमान, वैलक्षण्य, भेद, अभेद आदि आदि सब का ग्रहण होता है।

तर्क—तर्क का अपर नाम ऊह भी है। उपलम्भानुपलम्भ निमित्त व्याप्ति ज्ञान को तर्क कहा जाता है। इसमें लिंग के सद्भाव से साध्य के सद्भाव का ज्ञान होता है और इसके विपरीत साध्य के असद्भाव से लिंग के असद्भाव का ज्ञान होता है। इसके अन्तर्गत धूम को लिंग और अग्नि को साध्य माना जाता है; जैसे, धूम के होने पर अग्नि होती है और अग्नि के अभाव में धूम नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष का विषय जहाँ वर्तमान काल ही है, वहाँ तर्क का विषय भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्काल है। यह अनुमान का आधार भी है, क्योंकि तर्क से व्याप्ति ज्ञान होने पर ही अनुमान की प्रवृत्ति सम्भव होती है।

अनुमान—साधन से साध्य का ज्ञान होना अनुमान कहा जाता है (साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्।—प्र० मी०, 1.2.7), जैसे धूम (साधन) को देखकर अग्नि (साध्य) का अनुमान करना। साधन को हेतु अथवा लिंग भी कहते हैं। इस सन्दर्भ में साधन एवं साध्य के बीच जो सम्बन्ध होता है, उसे अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं। अतः साधन को देखकर तदविनाभावी साध्य का ज्ञान करना ही अनुमान है। इसके दो भेद होते हैं—स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहनेवाले स्वनिश्चित सावन के साध्य का ज्ञान करना स्वार्थानुमान है। इसमें साधन को देखकर साध्य का अनुमान स्वयं कर लिया जाता है और किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं होती। इसके विपरीत साधन और साध्य के अविनाभाव सम्बन्ध के कथन से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान परार्थानुमान कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, यह अनुमान उसके लिए नहीं है, जो साधन और साध्य के सम्बन्ध से परिचित है, बल्कि उसके लिए है, जिसे इस सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है। इसके प्रमुख पाँच अवयव है—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इन पाँचों अवयवों से युक्त परार्थानुमान का उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है—इस पर्वत में अग्नि है, क्योंकि इसमें धूम है; जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है—जैसे पाकशाला; जहाँ पर अग्नि नहीं होती है वहाँ पर धूम नहीं होता—जैसे जलाशय; इस पर्वत पर धूम है, इसलिए यहाँ अग्नि है।

(6) **स्याद्वाद एवं सप्तभंगी**—जैन दर्शनानुसार प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, इसलिए उसका पूर्ण रूप वचनों से अगोचर है। कोई भी ऐसा शब्द नहीं है, जो उसके पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्ति दे सके। पुनः, असर्वज्ञ मनुष्य के सभी ज्ञान आंशिक और अपूर्ण होते हैं। वह वस्तु का जो ज्ञान प्राप्त करता है, वह अन्ततः अपूर्ण और आंशिक होता है। यद्यपि उसके ज्ञान में सत्यता होनी है, तथापि वह सत्यता किसी विशेष दृष्टिकोण की ही होती है। वस्तुओं के समस्त गुणों का ज्ञान केवल सर्वज्ञ को होना है,

साधारण मनुष्य को नहीं। इसलिए वस्तु का ज्ञान भिन्न भिन्न दृष्टियों से प्राप्त होता है। ये विभिन्न दृष्टियाँ ही आंशिक निर्णय के रूप में 'नय' कही जाती हैं। लेकिन इन सभी दृष्टियों को जब अनेकान्त दृष्टि में समन्वित किया जाता है तो जैन अनेकान्तवाद की स्थापना होती है। यही कारण है कि इस वाद में एक-अनेक, नित्य-अनित्य, सान्त-अनन्त, सद्-असद् आदि धर्मों का समन्वय होता है। अनेकान्तवाद वस्तुतः दो एकान्त-वादी दृष्टियों को मिलानेवाली एक मिश्रित दृष्टि मात्र नहीं है बल्कि यह एक स्वतन्त्र दृष्टि है, जिसके द्वारा वस्तु का पूर्ण स्वरूप प्रतिभासित होता है। दो एकान्तवादी दृष्टियाँ एक दूसरे की विरोधिनी होने के कारण एक नहीं हो सकतीं।

अतः अनेकान्त दृष्टि विराट् वस्तु को जानने का वह प्रकार है जिसमें विवक्षित धर्म जानकर भी अन्य धर्मों का निषेध नहीं किया जाता बल्कि उन्हें गौण या अविव-क्षित कर दिया जाता है तथा इस तरह हर हालत में पूरी वस्तु का मुख्य-गौण-भाव से स्पर्श हो जाता है। इस प्रकार अनेकान्त एक व्यापक विचार-पद्धति है, जो स्याद्वाद के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, यद्यपि अनेकान्तवाद और स्याद्वाद दोनों एक ही हैं। अन्तर यही है कि अनेकान्तवाद में अनेकान्त धर्म की मुख्यता रहती है और अनेकान्त को अभिव्यक्त करने के लिए स्याद्वाद का आश्रय लिया जाता है (स्याद्वादमंजरी, का० 5)। यही कारण है कि स्याद्वाद वस्तु तत्त्व का सम्यक् प्रतिपादन करने में सक्षम है, क्योंकि इसमें अपने अथवा दूसरे के विचारों, मंतव्यों, वचनों तथा कार्यों में तन्मूलक विभिन्न अपेक्षा या दृष्टिकोण का ध्यान रखा जाता है। स्याद्वाद में लगा 'स्यात्' शब्द प्रत्येक वाक्य के सापेक्ष होने की सूचना देता है। अर्थात् वह निश्चित रूप से बताता है कि वस्तु केवल इसी धर्मवाली नहीं है, बल्कि उसमें इसके अतिरिक्त भी अनेक धर्म विद्यमान हैं।

इस सन्दर्भ में किसी भी पदार्थ के लिए अपेक्षा के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए सात प्रकार के वचनों का प्रयोग किया गया है, जिन्हें तार्किक निर्णयों का वर्गी-करण भी कह सकते हैं। इन्हीं सात प्रकार के वचनों को सप्तभंगी कहा गया है। इसके सातों भंग वस्तु के धर्म-विशेष पर आश्रित हैं। इन सात भंगों के सन्दर्भ में हमें यह न भूलना चाहिए कि हमारे यहाँ चार प्रकार के भंगों अर्थात् वचन-कोटियों का व्यवहार वैदिक काल से चला आ रहा है। विश्व के सम्बन्ध में सत् (विधि), असत् (निषेध), उभय और अनुभय, ये चार पक्ष छान्दोग्य (6/2,3,19,1), ईशोपनिषद्, (5) कठोपनिषद् (1/2/20), मुण्डकोपनिषद् (2/2/1), श्वेताश्वतरोपनिषद् (4/18) आदि में देखे जा सकते हैं; यहाँ तक कि माध्यमिक बौद्ध दर्शन से आचार्य नागार्जुन ने सत्, असत्, सदसत् और अनुभय, इन चार दृष्टियों से वस्तु को अवाच्य माना है।

इन चार पक्षों का दर्शन जैनागमों में भी होता है। यद्यपि आगमों में इनसे अधिक भंग भी मिलते हैं, तथापि ये चार भंग मौलिक हैं। यह दूसरी बात है कि अवक्तव्य का स्थान कहीं तीसरा है तो कहीं चौथा। जहाँ अस्ति और अस्ति का निषेध है, वहाँ अवक्तव्य का तीसरा स्थान है और अस्ति, नास्ति एवं अस्ति-नास्ति उभय तीनों का निषेध है, वहाँ अवक्तव्य का स्थान चौथा है। सप्तभंग क्रमशः इस प्रकार हैं— अस्ति, नास्ति, अनुभय (अवक्तव्य), उभय (अस्ति-नास्ति), अस्तिअवक्तव्य, नास्ति-अवक्तव्य, नास्तिअवक्तव्य और अस्ति-नास्ति अवक्तव्य। इस संदर्भ में तत्त्व के मुख्यतः दो पहलू परम्पराश्रित हैं। इसलिए अस्ति नास्तिपूर्वक माना जाता है और नास्ति अस्तिपूर्वक। इन भंगों को सात की सीमा में इसलिए रखा गया है कि तीन वस्तुओं के गणित के नियम के अनुसार अपुनरुक्त भंग सात ही हो सकते हैं। पुनः वस्तु के सात प्रकार के धर्म के आधार पर भी सप्तभंगी की स्थापना हुई है। यद्यपि वस्तु के धर्म अनंत होते हैं, फिर भी उनके धर्म संबंधी वाक्य केवल सात ही हैं। अवक्तव्य में पूर्ण रूप से अवक्तव्यता और अंश-रूप से वक्तव्यता की विवक्षा करने पर सप्तभंगी बनायी जाती है।

अवक्तव्य के तीन अर्थ हो सकते हैं—(क) सत् एवं असत् का निषेध, (ख) सत्-असत् एवं सदसत् का निषेध तथा (ग) सत् एवं असत् का स्वीकार। इस संदर्भ में अवक्तव्य का तीसरा स्थान होने पर सत् और असत् का तथा चौथा स्थान होने पर सत्, असत् एवं सदसत् का निषेध होगा।

ऊपर कहा गया है कि सप्तभंगों में प्रथम तीन भंग प्रमुख होते हैं और शेष चार संयोगज अर्थात् प्रथम तीन की सहायता से बनते हैं। इसके संबंध में इस प्रकार विचार किया गया है, प्रथम भंग—'कथंचित् घट है' में घट का अस्तित्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से है। इसलिए उसके अस्तित्व के नियामक वे ही चार हैं। द्वितीय भंग में—कथंचित् घट नहीं है' में घट का नास्तित्व पदार्थों के द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से है क्योंकि घट एवं पर पदार्थों में भेद की प्रतीति स्पष्ट है। तृतीय भंग— 'कथंचित् घट अवक्तव्य है' में घड़े के दोनों स्वरूप युगपत हैं इसलिए घट अवक्तव्य है। चतुर्थ भंग—'कथंचित् घट है और नहीं है' में अस्ति नास्ति उभय रूप है अर्थात् प्रथम और द्वितीय की क्रमिक विवक्षा एवं सामूहिक दृष्टि रहने पर घट उभयात्मक है। पंचम भंग—'कथंचित् घट और अवक्तव्य हैं' प्रथम अस्ति एवं द्वितीय अर्थात् अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा होने पर होता है। सातवाँ भंग—'कथंचित्घट है, नहीं है और अवक्तव्य हैं' में नास्ति, अस्ति और अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा होती है। ध्यातव्य है कि ये सभी भंग द्रव्य-क्षेत्र-काय-भाव की दृष्टि होते हैं। इस संदर्भ में कहा जा सकता है

कि, ''सकलादेश के आधार पर जो सप्तभंगी बनती है उसे प्रमाण सप्तभंगी कहते हैं तथा विकलादेश की दृष्टि से जो सप्तभंगी बनती है, उसे नय सप्तभंगी कहते हैं।'' एक वस्तु में अविरोधपूर्वक विधि और निषेध की कल्पना से भी सप्तभंगी है। सप्तभंगी के प्रत्येक भंग निश्चयात्मक बोधक हैं। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से घट है तथा परद्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से घट नहीं है। इसमें प्रयुक्त 'कथंचित्' अथवा 'स्यात्' शब्द गौण-मुख्य-धर्म की विवक्षा का सूचन करता है। यदि कोई वचन-प्रयोग स्याद्वाद सम्बन्धी है तो यह निश्चित है कि वह 'ही' पूर्वक ही है। स्यात् अथवा कथंचित् का प्रयोग न होने पर भी समझ लिया जाता है कि वह स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है। इसमें कोई भी पदार्थ स्वरूप की दृष्टि से सत् और पर रूप की दृष्टि से असत् है, क्योंकि वह एकान्त रूप से सत् है तो सर्वदा सत् ही रहेगा। नाम, स्थापना द्रव्य और भाव से जिसकी विवक्षा होती हैं, उसे स्वरूप या आत्मा कहते हैं। आत्मा का ग्रहण वक्ता के प्रयोजन के अनुसार अर्थ ग्रहण करने से होता है और यह अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव के अर्थ-विभाग को न्यास कहते हैं। सामान्यतः किसी का एक नाम रख देना नाम-निक्षेप कहा जाता है। मूर्ति, चित्र आदि स्थापना-निक्षेप के अन्तर्गत है। द्रव्य-निक्षेप में गत और आगत में रहनेवाली योग्यता का वर्तमान में आरोपण किया जाता है। वर्तमान कालीन योग्यता का निर्देश-भाव-निक्षेप करता है। अतः स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से कहा जाता है कि घट है। तथा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल एवं परभाव की अपेक्षा से कहा जाता है कि घट नहीं है। यहाँ प्रतिनियत रूप से घट कहा गया है और इतर रूप से 'घट नहीं है' कहा गया है। यदि इतर रूप से भी घट हो तब सब घटात्मक हो जाय। पुनः, आत्मा को प्रतिक्षणभावी द्रव्य की पर्यायोत्पत्ति कहते हैं तथा अतीत एवं अनागत पर्याय विनाश एवं पर्यायोत्पत्ति को परमात्मा। अतः प्रत्युत्पन्न पर्याय की अपेक्षा से घट है और अतीत एवं अनागत पर्याय की अपेक्षा से घट नहीं है। यदि अतीत एवं अनागत पर्यायों की अपेक्षा से घट सत् हो तो एक ही क्षण में घट की सारी अवस्थाएँ उपलब्ध हो जाएँ तथा अतीत, वर्तमान एवं अनागत का कोई भेद ही न रहे।

पहले कहा जा चुका है कि वस्तु का ज्ञान एवं कथन करने के लिए दो दृष्टियों का व्यवहार होता है—प्रथम सकलादेश एवं द्वितीय विकलादेश। किसी एक धर्म के साथ अन्य धर्मों का अभेद करके वस्तु का वर्णन करना सकलादेश का कार्य है। अतः इसमें एक गुण में अशेष वस्तु का संग्रह हो जाता है। स्यादरूपमेव सर्वम् वाक्य का इस दृष्टि से अर्थ होता है—सभी धर्मों का अस्तित्व से अभेद। एक धर्म अन्य धर्मों से अभिन्न कैसे है, इसके लिए काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार गुणीदेश, संसर्ग

एवं शब्द का आधार लिया जाता है। इस अभेद को दृष्टि में रखते हुए ही उस धर्म का कथन सम्पूर्ण वस्तु का कथन मान लिया जाता है। विकलादेश में जिस धर्म का कथन अभीष्ट होता है, वही धर्म दृष्टि के सामने रहता है। अतः इसमें अन्य धर्मों का निषेध नहीं होता बल्कि उनका उस समय कोई प्रयोजन न होने के कारण ग्रहण नहीं किया जाता। सकलादेश के आधार पर प्रमाण सप्तभंगी बनती है और विकलादेश के आधार पर नय सप्तभंगी। अतः किसी भी वस्तु के विधि और निषेध रूप दो पक्षवाले धर्म के बिना विरोध प्रतिपादन से सात प्रकार के विकल्प अर्थात् सप्तभंगी बनती है यही कारण है कि एक वस्तु में अविरोधपूर्वक विधि एवं प्रतिषेध की विकल्पना रहती है।

(7) **नयवाद**—वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने पर विभिन्न पहलुओं का ही आंशिक ज्ञान मिलता है और यही आंशिक ज्ञान नय है। दूसरे शब्दों में, यह आंशिक दृष्टिकोण का ही पर्याय है क्योंकि इसके द्वारा अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक पर्याय का निश्चय किया जाता है। अर्थात् नय में नाना स्वभाव में से अलग कर किसी एक स्वभाव में वस्तु का निश्चयन होता है।

बात यह है कि प्रमाण एवं नय दोनों ज्ञानात्मक पर्याय हैं और इसलिए एक दूसरे का सम्बन्ध निकट का है। जब ज्ञाता की सकल की ग्रहण की दृष्टि होती है, तब ज्ञान प्रमाण होता है और जब उसी 'प्रमाण' गृहीत वस्तु का आंशिक ग्रहण अभिप्राय होता है तब वह आंशिक ग्राह्य अभिप्राय 'नय' कहलाता है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर प्रमाण को सकलादेशी और नय को विकलादेशी माना गया है। ध्यातव्य है कि नये एक अंश को मुख्य रूप से ग्रहण करके भी अन्य अंशों को गौण करता है लेकिन उनकी अपेक्षा रखता है, तिरस्कार तो कभी नहीं करता। इसलिए नय को सुनय होने की अपेक्षा रहती है।

वस्तु के अनन्त धर्मात्मक होने के कारण एक एक धर्म को ग्रहण करनेवाले अभिप्राय भी अनन्त होते हैं। इस दृष्टि में नय भी अनन्त कहे जा सकते हैं। कहा भी है कि जितने अभिप्राय को व्यक्त करनेवाले शब्द हो सकते हैं उतने 'नय' हैं (सन्मतितर्क, 3/47)। उन अनन्त अभिप्रायों को दो दृष्टियों में समाहित किया जा सकता है। वे दो दृष्टियों से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक है। द्रव्यार्थिक दृष्टि में सामान्य या अभेदमूलक समस्त दृष्टियों का समावेश हो जाता है और विशेष या भेदमूलक दृष्टियों का पर्यायार्थिक दृष्टि में। द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक दृष्टि के अपर नाम क्रमशः अव्युच्छित्तिनय और व्युच्छित्तिनय हैं। अन्य सभी दृष्टियों का समावेश इन्हीं दृष्टियों में हो जाता है। पर्यायार्थिक दृष्टि को प्रकारान्तर से प्रदेशार्थिक दृष्टि भी कहते हैं। लेकिन दोनों में थोड़ा-सा अन्तर है। पर्यायद्रव्य की देश-काल की नाना

अवस्थाएँ हैं । द्रव्य भी अवयव-प्रदेश कहे जाते हैं । एक द्रव्य के अनेक अंश हो सकते हैं और एक-एक अंश प्रदेश कहलाता है । इनमें कुछ द्रव्यों के प्रदेश नियत भी होते हैं और कुछ अनियत भी । पर्याय के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है और उनकी संख्या नियत भी नहीं होती । इस सन्दर्भ में व्यावहारिक और नैश्चयिक दृष्टि का उल्लेख किया जाता है । व्यावहारिक दृष्टि इन्द्रियाश्रित या स्थूल होती है, जबकि नैश्चयिक दृष्टि इन्द्रियातीत या उच्च । अतः व्यावहारिक दृष्टि से पदार्थ के स्थूल रूप का ज्ञान होता है और नैश्चयिक से पदार्थ के सूक्ष्म रूप का । नैश्चयिक दृष्टि को पारमार्थिक दृष्टि भी कहते हैं ।

नय के प्रकार के सन्दर्भ में कई प्रकार के विचार मिलते हैं, जो द्रव्य एवं पर्यायों के अवान्तर भेदों पर आधारित हैं । पहली परम्परा नय के छह भेदों को स्वीकार करती है एवं नैगम को स्वतन्त्र नहीं मानती । दूसरी परम्परा में नय पाँच प्रकार में विभक्त है—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द । तीसरी परम्परा में नय के सात भेद प्रतिपादित हैं, जो सर्वमान्य हैं । वे इस प्रकार हैं—(1) नैगम, (2) संग्रह, (3) व्यवहार, (4) ऋजुसूत्र, (5) शब्द, (6) समभिरूढ़ और (7) एवंभूत ।

(1) **नैगम**—इस नय में गुण और गुणी, अवयव और अवयवी, जाति और जातिमान, क्रिया और कारक, भेद और अभेद आदि की विवक्षा की जाती है । दूसरे शब्दों में, भेद का ग्रहण करते समय अभेद को गौण तथा भेद को मुख्य और अभेद का ग्रहण करते समय भेद को गौण और अभेद को मुख्य समझना नैगम है । अकलंक ने धर्म और धर्मी दोनों को गौण-मुख्य-भाव से ग्रहण करना नैगमनय का कार्य बताया है । जैसे, जीव कहने से ज्ञानादि गुण गौण होकर जीव द्रव्य ही मुख्य रूप में विवक्षित होता है और उसी प्रकार ज्ञानवान जीव कहने में ज्ञान गुण मुख्य हो जाता है तथा जीव द्रव्य गौण । इस प्रकार नैगम नय में अनेक प्रकार के सामान्य एवं विशेष ग्राहक ज्ञान के द्वारा वस्तु तत्त्व का निश्चय किया जाता है । इस सन्दर्भ में वैशेषिक दर्शन के अनुसार यदि सामान्य और विशेष का स्वरूप माना जाय तो अविशुद्ध नैगम नय के अन्तर्भूत हो सकता है क्योंकि वैशेषिक दर्शन सामान्य और विशेष को भिन्न-भिन्न पदार्थ मानता है-तथा उनके लक्षण भी भिन्न-भिन्न प्रतिपादित करता है । कुछ लोग नैगम नय को संकल्पमात्रग्राही मानते हैं । जैसे, जब कोई व्यक्ति किसी दुकान पर कपड़ा लेने जाता है और उससे कोई पूछता है कि 'तुम कहाँ जा रहे हो ?' तो वह उत्तर देता है कि 'कमीज सिलाने' । वास्तव में वह व्यक्ति कमीज का कपड़ा लेने जा रहा है, न कि कमीज सिलाने के लिए । इस सन्दर्भ में संकल्प को दृष्टि में रखते हुए वह कहता है कि 'कमीज सिलाने जा रहा हूँ ।'

जब अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान् आदि में सर्वथा भेद माना जाता है, तब नैगमाभास होता है, क्योंकि गुण गुणी से पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखता और न गुणों की उपेक्षा करके गुणी ही अपना अस्तित्व रख सकता है।

(2) **संग्रह**—सामान्य या अभेद को ग्रहण करनेवाली दृष्टि संग्रहनय कहलाती है, अर्थात् पदार्थों के सामान्य और विशेष दोनों धर्मों को संग्रहीत करके एक सामान्य को स्वीकार करना ही संग्रहनय है। हम जानते हैं कि प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेषात्मक अथवा भेदोभेदात्मक होते हैं। इन दो धर्मों में से सामान्य का ग्रहण एवं विशेष के प्रति उपेक्षाभाव इस नय में होता है। इस नय के दो भेद माने गये हैं—पर और अपर। परसंग्रह नय में सकल पदार्थों का एकत्व अभिप्रेत होता है। जीवाजीवादि जितने भी भेद हैं, सबका एक सत् में समावेश हो जाता है, क्योंकि कोई भी ऐसा नहीं है जो सत् न हो। यहाँ सत् सामान्य की दृष्टि से जीवादि का एकत्व में अन्तर्भाव हो जाता है। पुनः, अपर-संग्रहनय द्रव्यत्वादि अपर सामान्यों को ग्रहण करता है अर्थात् इसमें एक द्रव्यरूप से समस्त पर्यायों का तथा द्रव्य से समस्त द्रव्य आदि का संग्रह किया जाता है और यह तब तक चलता है, जब तक भेदमूलक व्यवहार अपनी सीमा पर नहीं पहुँच जाता। वस्तुतः पर-संग्रह, अपर-संग्रह दोनों मिलकर जितने भी प्रकार के सामान्य या अभेद हो सकते हैं, सबका ग्रहण करते हैं, जैसे ज्ञानात्मा कहने से उसमें पाँचों प्रकार के ज्ञान का संग्रह मान लिया जाता है। इसके विपरीत संग्रहाभास कहा जाता है।

(3) **व्यवहार**—संग्रहनय द्वारा गृहीत अर्थ का विधिपूर्वक अवहरण करना व्यवहार नय कहलाता है। दूसरे शब्दों में, संग्रहगृहीत सामान्य का भेदपूर्वक ग्रहण करना व्यवहारनय है। यह द्रव्य का ही ग्रहण भेदपूर्वक करता है, इसलिए इसका अन्तर्भाव द्रव्यार्थिक नय में होता है, पर्यायार्थिक में नहीं। चूँकि इस नय की दृष्टि भेदपूर्वक और विशेष का ग्रहण करनेवाली होती है, इसीलिए इसका मुख्य प्रयोजन व्यवहार की सिद्धि है। केवल सामान्य के बोध या कथन से हमारा व्यवहार नहीं चलता, बल्कि भेद-बुद्धि का आश्रय लेना पड़ता है और यह भेद-बुद्धि परिस्थिति के अनुसार अपनी चरम सीमा तक जा सकती है। जैसे दो स्वतन्त्र द्रव्यों में वास्तविक भेद है, उनमें सादृश्य के कारण अभेद आरोपित होता है। लोकव्यवहार अर्थ, शब्द और ज्ञान तीनों से चलता है। वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाली होती है। द्रव्य, गुण-पर्यायवाला है, जीव चैतन्य रूप है, आदि भेदक वाक्य प्रमाणविरोधी हैं तथा लोकव्यवहार में अविसंवादी होने से प्रमाण हैं। इसके विपरीत लोकव्यवहार-विरुद्ध विषमवादी और वस्तुस्थिति की उपेक्षा करनेवाली भेद-कल्पना व्यवहाराभास है।

(4) **ऋजुसूत्र**—वर्तमान क्षण में होनेवाले पर्याय को मुख्य रूप से ग्रहण करनेवाले अध्यवसाय-विशेष को ऋजुसूत्रनय कहते हैं। इसमें भेद अथवा पर्याय की विवक्षा से कथन किया जाता है। यह मानता है कि वस्तु की प्रत्येक अवस्था भिन्न है। एक क्षण और दूसरे क्षण की अवस्था में भेद है तथा दोनों अलग-अलग क्षण आपने अपमें सीमित हैं। जैसे, बगुला उजला है, इस वाक्य में बगुला एवं उजलापन की जो एकता है, उसकी उपेक्षा करने के लिए यह नय कहता है कि बगुला बगुला है और उजलापन उजलापन है। वस्तुतः बगुला और उजलापन भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। यदि उजलापन और बगुला एक होते तो खल्ली भी बगुला हो जाती क्योंकि खल्ली उजली है। क्षणिकवाद एवं भेद में विश्वास रखने के कारण यह प्रत्येक वस्तु को अस्थायी एवं भिन्न मानता है। इस नय में क्रियमाण को भी अंशतः कृत, बद्धमान को भी बद्ध कहना उचित समझा जाता है। इस नय को लोकव्यवहार के विरोध की कोई चिन्ता नहीं होती। ध्यातव्य है कि इस नय में पर्याय की मुख्यता रहती है लेकिन द्रव्य की परमार्थ सत्ता भी क्षण की तरह स्वीकृत होती है। अतः इस नय में द्रव्य का अस्तित्व गौण रूप से वर्तमान ही रहता है। इसके विपरीत द्रव्य की सत्ता का सर्वथा निषेध करके केवल पर्यायमात्र को ही मानना ऋजुसूत्र नयाभास कहलाता है।

(5) **शब्दनय**—यह अनेक पर्याय अर्थात् अनेक शब्दों द्वारा सूचित वाच्यार्थ को एक ही पदार्थ समझता है, जैसे 'कुम्भ', 'कलश' और 'घट' आदि शब्द एक ही पदार्थ के वाचक हैं। दूसरे शब्दों में, काल, कारक, लिंग तथा संख्या के भेद से शब्द भेद होने पर, उनके भिन्न-भिन्न अर्थों को ग्रहण करनेवाला शब्द नय है। शब्दों के भेद से अर्थ में भेद करना इस नय का काम है। अतः इसके अभिप्राय में अतीत, अनागत एवं वर्तमानकालीन क्रियाओं के साथ प्रयुक्त होनेवाला एक ही देवदत्त भिन्न हो जाता है। इस नय के आधार पर ही व्याकरण शास्त्र के उपसर्ग-भेद, पुरुष-भेद, लिंग-भेद, क्रिया-भेद आदि निष्पन्न होते हैं; दिल्ली शहर था और दिल्ली शहर है—वाक्यों में अर्थ-भेद स्पष्ट है। काल के भेद से यहाँ अर्थ में भेद उत्पन्न हो गया है। इसी प्रकार शब्द नय लिंगों से भिन्न-भिन्न अर्थ का बोध देता है, क्योंकि स्त्रीलिंग से वाच्य अर्थ का बोध पुल्लिंग में नहीं हो सकता। पुनः, उपसर्ग के कारण एक ही धातु के भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं। इसके विपरीत शब्दाभास होता है।

(6) **समभिरूढ़**—इस नय के अनुसार एक अर्थ अनेक शब्दों का वाच्य नहीं हो सकता और एक शब्द अनेक अर्थों का भी वाचक नहीं हो सकता। प्रत्येक शब्द के व्युत्पत्ति-निमित्त और प्रवृत्ति-निमित्त अलग-अलग होते हैं। उनके अनुसार वाच्य-भूत अर्थ में पर्याय-भेद अथवा शक्ति-भेद मानना ही चाहिए। अतः इस नय में प्रत्येक

पर्यायवाची शब्द का अर्थ-भेद माना जाता है। उदाहरण के लिए 'इन्द्र', 'शक्र' और 'पुरन्दर', इन तीन शब्दों को लिया जा सकता है। यद्यपि शब्द-नय की दृष्टि से इनसे एक ही अर्थ होता है, व्युत्पत्ति के आधार पर ये तीनों शब्द विभिन्न अवस्था के वाचक हैं। इन्द्र का व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ होता है, जो शोभित हो वह इन्द्र है, जो शक्तिशाली है वह शक्र है तथा जो नगर आदि को ध्वंस करता है वह पुरन्दर है। अतः इन तीनों की व्युत्पत्ति की भिन्नता के कारण वाच्यार्थ भिन्न-भिन्न हैं। शब्द-नय के अन्तर्गत एक लिंगवाले पर्यायवाची शब्दों में अर्थ-भेद नहीं होता, लेकिन इसमें प्रवृत्ति-निमित्तकों की भिन्नता होने से पर्यायवाची शब्दों में भी अर्थ-भेद होता है। पदार्थ को एकान्तरूप मानकर भी अनेक शब्दों का प्रयोग करना अपेक्षित नहीं है, क्योंकि पर्यायवाची शब्द-भेद मानते हुए भी अर्थ-भेद नहीं मानने का दुराग्रह समभिरूढ़ नयाभास कहा जाता है।

(7) **एवंभूत**—जिस काल में जो क्रिया हो रही है, उस काल में उस क्रिया से सम्बद्ध विशेषण अथवा विशेष्य नाम का व्यवहार करानेवाला विचार एवंभूत नय कहलाता है। दूसरे शब्दों में, पदार्थ जिस समय जिस क्रिया में परिणत हो, उस समय उसी क्रिया में निष्पन्न शब्द की प्रवृत्ति स्वीकार करना एवंभूत नय है। इस प्रकार समभिरूढ़ नय जहाँ व्युत्पत्ति भेद से अर्थ-भेद मानता है, वहाँ एवंभूत नय कहता है कि जब व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ घटित होता हो तभी उस शब्द का अर्थ सम्यक् मानना चाहिए; जैसे इन्द्रासन पर शोभायमान होने पर 'इन्द्र' कहना चाहिए, शक्ति के प्रदर्शन के समय 'शक्र' कहना चाहिए। यहाँ आगे-पीछे 'इन्द्र' अथवा 'शक्र' का प्रयोग करना इस नय के विपरीत है। पुनः, पूजा करते समय ही किसी को पुजारी कहा जा सकता है, अन्य समय में नहीं। अतः तत्-क्रियाकाल में सम्यक् शब्द का प्रयोग करना इस नय का कार्य है। इसके विपरीत तत्क्रियाकाल में अन्य शब्द का प्रयोग करना एवंभूताभास है।

इस प्रकार इन नयों में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं अल्पविषमता है। प्रत्येक का विषय-क्षेत्र उत्तरोत्तर कम होने से इनका पारस्परिक पौर्वापर्य सम्बन्ध है। पहले के तीन नय सामान्य तत्त्व और शेष चार नय विशेष पर भार देते हैं। उसी प्रकार पहले के तीन द्रव्यार्थिक हैं और शेष चार पर्यायार्थिक अथवा प्रादेशिक। पुनः अर्थ की प्रधानता के कारण प्रथम चार नय अर्थनय कहे गये हैं और शेष तीन नय शब्द की मुख्यता के कारण शब्दनय।

आचार दर्शन और मोक्षमार्ग

अन्य भारतीय दर्शनों की भाँति जैन दर्शन भी मोक्षशास्त्र है। जैन-सम्मत मोक्ष-साधना में आचार की शुद्धता का विशेष महत्त्व है। उमास्वामी के अनुसार सम्यक्-

दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य मोक्षमार्ग है। सम्यक् श्रद्धा, सही ज्ञान और नैतिक आचार जैनधर्म के त्रिरत्न या रत्नत्रय हैं। सही आस्था और दर्शन प्राप्त करने के लिए बौद्धिक चिन्तन आवश्यक है। जैनियों का दृष्टिकोण, इस दृष्टि से बुद्धिवादी है; वे अन्धश्रद्धा के समर्थक नहीं हैं।

सम्यक्चारित्र के लिए पाँच व्रतों का पालन आवश्यक है। ये पाँच व्रत हैं अहिंसा, सत्य या सत्यपरता, अस्तेय (चोरी से दूर रहना), ब्रह्मचर्य (अर्थात् इन्द्रियों का संयम) और अपरिग्रह। जैन धर्म में अहिंसा पर सर्वाधिक बल दिया गया है। मनुष्य को मन, वचन, कर्म से हिंसा का परित्याग करना चाहिए। हिंसा न स्वयं करनी चाहिए, न करानी चाहिए, न उसका समर्थन करना चाहिए—कृत, कारित तथा अनुमत सब प्रकार की हिंसा त्याज्य है। इसी प्रकार सत्य, अस्तेय आदि की भी सूक्ष्म व्याख्याएँ की गयी हैं।

जैन आचारशास्त्र गृहस्थों (श्रावकों) तथा श्रमणों (संन्यासियों), दोनों के लिए उक्त पञ्चव्रतों का उपदेश करता है। किन्तु श्रावक लोगों के लिए व्रतों की व्याख्या उनकी सीमाओं को ध्यान में रखते हुए की जाती है। उनके लिए अणुव्रतों का विधान है, जबकि श्रमणों के लिए वे महाव्रत कहे जाते हैं। उदाहरण के लिए गृहस्थ के लिए ब्रह्मचर्य का अर्थ है एकपत्नीव्रत और अपरिग्रह का अर्थ है परिमित परिग्रह। श्रमण या संन्यासी के लिए इनका अर्थ परिपूर्ण संयम एवं सम्पत्ति-त्याग होगा।

जैनधर्म की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह कर्तव्यों का निर्देश जातिवाद को मानकर नहीं करता, वह मनुष्य मात्र के लिए एक ही आचार-पद्धति का निर्देश करता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि जीव के बन्धन का हेतु आस्रव (कर्म-पुद्‌गल की आत्मा की ओर गति और उसमें प्रवेश) है। जिस प्रकार बन्धन या बन्ध का कारण आस्रव है, वैसे ही निर्जरा (कर्म-पुद्‌गल का आत्मा से बहिर्गमन या निष्कासन) मोक्ष का कारण है। इन दोनों के बीच में संवर की स्थिति है, जिसका मतलब है आस्रव का निरोध; इस निरोध के बाद निर्जरा की प्रक्रिया शुद्ध होती है। आत्मा और कर्म-पुद्‌गल के और इसी प्रकार आत्मा और देह के आत्यन्तिक वियोग को मोक्ष कहते हैं।

आस्रव के हेतु या आस्रव-द्वार पाँच हैं—मिथ्यात्व (मिथ्या श्रद्धा), अविरति (व्रताभाव), प्रमाद, कषाय (क्रोध-मान-माया-लोभ) और योग (मन-वचन-काय की प्रवृत्ति)। संवर अर्थात् आस्रव-निरोध के हेतु निम्न हैं—सम्यक्त्व (सम्यक् श्रद्धा),

विरति (व्रत), अप्रमाद, अकषाय और अयोग ।[1]

आत्मिक गुणों के विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं । गुणस्थान चौदह हैं, अर्थात् (1) मिथ्यादृष्टि, (2) सासादन सम्यक् दृष्टि, (3) मिश्र दृष्टि (सम्यक्-मिथ्या दृष्टि), (4) अविरत सम्यग्दृष्टि, (5) देश-विरति, (6) सर्वविरति, (7) अप्रमत्तसंयत, (8) अपूर्वकरण, (9) स्थूलकषाय (अनिवृत्ति बादर गुणस्थान), (10) सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान, (11) उपशान्तकषाय अथवा उपशान्तमोहगुणस्थान, (12) क्षीणकषाय अथवा क्षीण-मोहगुणस्थान, (13) सयोगिकेवली (सदेहमुक्ति) गुणस्थान और (14) अयोगिकेवली (विदेहमुक्ति) गुणस्थान ।[2]

तेरहवें गुणस्थान को मानने का अर्थ यह है कि जैन धर्म सांख्य तथा अद्वैत वेदान्त की भाँति जीवन्मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार करता है । शरीर का संयोग रहने के कारण जीवन्मुक्त सन्त शारीरिक क्रियाएँ करता है, किन्तु इस अवस्था में वह राग, द्वेष, मोह आदि से सर्वथा मुक्त होता है । मुक्ति की चरम दशा में आत्मा अपने विरुद्ध, पूर्ण रूप में स्थिति हो जाती है । यह मोक्ष परमात्मपद, स्वरूपसिद्धि और निर्वाण है । मोक्षावस्था सर्वांगीण पूर्णता, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख आदि की अवस्था है ।

●

---

1. विस्तृत विवरण के लिए देखिए, डॉ० मोहनलाल मेहता, 'जैनधर्मदर्शन', पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान, वाराणसी, 1973, पृ० 436 तथा आगे ।
2. विशेष विवरण के लिए देखिए, वही, पृ० 493 तथा आगे ।

अध्याय 6

चार्वाक दर्शन

भारतीय दर्शन के इतिहास में विशुद्ध भौतिकवादी दर्शन प्रायः चार्वाक के नाम से सम्बन्धित है। इस दर्शन को लोकायत भी कहते हैं। इसके प्रारम्भिक शिक्षकों में बृहस्पति का नाम भी लिया जाता है। बृहस्पति के अनुयायी बार्हस्पत्य कहलाते हैं। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में नास्तिक-शिरोमणि चार्वाक को बृहस्पति का अनुयायी बतलाया गया है। भौतिकवाद उस दर्शन को कहते हैं जिसके अनुसार विश्व का मूलभूत तत्त्व एक या अनेकरूप, जड़ात्मक है। भौतिकवादी जड़तत्त्व से भिन्न किसी चेतन तत्त्व को स्वीकार नहीं करते।

चार्वाक नास्तिक दर्शन भी है। मनु स्मृति तथा हिन्दू परम्परा के अनुसार नास्तिक उसे कहते हैं जो वेद की प्रामाणिकता को नहीं मानता।[1] पाणिनि के एक सूत्र में आस्तिक और नास्तिक की परिभाषा दी गई है; उसके अनुसार परलोक को माननेवाला आस्तिक है और न माननेवाला नास्तिक।[2] दुनिया के अधिकांश दर्शनों में नास्तिक का अर्थ अनीश्वरवादी होता है। चार्वाक मत उक्त तीनों अर्थों में नास्तिक है। सांख्य दर्शन वेद को मानता है, किन्तु ईश्वर को नहीं। जैन और बौद्ध वेद और ईश्वर दोनों को नहीं मानते, किन्तु परलोक को मानते हैं। वास्तव में जो धर्म या दर्शन भलाई-बुराई अथवा नैतिक-अनैतिक के अन्तर को मानता है उसे आस्तिक कहना चाहिए। इस दृष्टि से मानववाद भी आस्तिक दर्शन है।

साहित्य—चार्वाक मत का कोई निजी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है किन्तु भारतीय दर्शन और धर्म-साहित्य में जहाँ तहाँ चार्वाक और बृहस्पति नाम के विचारकों का उल्लेख और उनके मत का प्रतिपादन मिलता है। दर्शन ग्रन्थों में प्रायः चार्वाक का मत पूर्वपक्ष के रूप में उल्लिखित होता है। चार्वाक नाम की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इसका अभिप्राय वह व्यक्ति है, जिसकी वाणी या वचन (वाक्) चारु या मनोहारिणी है, अर्थात् साधारण लोगों को पसन्द आनेवाली। सम्भवतः लोक या साधारण लोगों में अधिक प्रचलित होने के कारण, अथवा इस लोक के जीवन में

---

1. नास्तिको वेदनिन्दकः।—मनुस्मृति, 2/11
2. अस्ति, नास्ति दिष्टं मतिः।—अष्टाध्यायी, 4/4/60

केन्द्रित होने के कारण, इस मत का नाम लोकायत पड़ा। संक्षेप में, चार्वाक मत के मुख्य मन्तव्य ये हैं : प्रत्यक्ष प्रमाणवाद (प्रत्यक्ष ही एक मात्र विश्वसनीय प्रमाण है); भौतिकवाद; भूतचैतन्यवाद (आत्मा अर्थात् चैतन्य चार महाभूतों का विकार मात्र है; शरीर से भिन्न आत्मा नहीं है), ऐहिक सुखवाद (जीवन का ध्येय, इसी जीवन का सुख है, अर्थात् स्वर्ग तथा मोक्ष का निषेध)।

चार्वाक मत के उल्लेख

चार्वाक मत का उल्लेख प्राचीन साहित्य में जगह-जगह मिलता है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में लोकायत की गणना आन्वीक्षिकी (तर्कमूलक दर्शन) के अन्तर्गत सांख्य और योग के साथ की गयी है।[1] इस दर्शन के प्रवर्तक बृहस्पति द्वारा रचित सूत्रों का उल्लेख 'बार्हस्पत्य सूत्र', 'लोकायतिक सूत्र' आदि नामों से हुआ है। पतंजलि के 'व्याकरण महाभाष्य' में उक्त सूत्रों पर लिखी गयी 'भागुरी' नाम की वर्णिका या टीका का भी उल्लेख है।[2] 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक के दूसरे अंक में कहा गया है कि वाचस्पति (बृहस्पति) ने जिस तन्त्र या शास्त्र की रचना करके चार्वाक को समर्पित किया था उसका विस्तार चार्वाक और उनके शिष्यों द्वारा किया गया है।[3] 'महाभाष्य' में उल्लिखित बृहस्पति का समय दूसरी शती ई० पू० से पहले होना चाहिए। शान्तरक्षित के 'तत्त्वसंग्रह' में पुरन्दर नाम के विचारक का उल्लेख है जो अनुमान प्रमाण की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करता था। इसीलिए उसे सुशिक्षित चार्वाक कहा गया। कुछ विद्वानों की सम्मति में 'तत्त्वोपप्लवसिंह' का रचयिता जयराशि भट्ट एक प्रकार के चार्वाकीय मत का समर्थक था। उक्त लेखक ने विभिन्न दर्शनों द्वारा दी गयी प्रमाणों की परिभाषाओं का खण्डन किया है; उसने प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षणों का भी खंडन किया है।

स्वतंत्र विचार-पद्धति के रूप में चार्वाक दर्शन का संक्षिप्त परिचय हरिभद्र सूरि कृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' में मिलता है। उक्त दर्शन का अधिक विस्तृत विवरण सायण माधव के 'सर्वदर्शन संग्रह' में उपलब्ध है। जहाँ तक चार्वाक मत के विचारों का संबंध है, उनका स्थूल रूप में उल्लेख प्राचीन साहित्य में जगह-जगह मिलता है।

---

1. सांख्यं योगः लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी।—अर्थशास्त्र, उपोद्घात।
2. वर्णिका भागुरी लोकायतस्य।—महाभाष्य, 7/3/45
3. वाचस्पतिना प्रणीय चार्वाकाय समर्पितम्। तेन च शिष्योपशिष्य द्वारेण बहुलीकृतम् तन्त्रम्।

ऋग्वेद में, जैसा पहले उल्लेख हो चुका है, इन्द्र की सत्ता में संदेह करनेवाले तथा अपव्रत लोगों का जिक्र है। वहाँ आस्तिक, व्रती लोगों की प्रशंसा तथा यज्ञ-विहीन, अव्रती लोगों की निन्दा है। कठोपनिषद् में कहा गया कि धन के मोह से मूढ़, बालबुद्धि, प्रमादी व्यक्तियों को परलोक (के मार्ग या साधन में आस्था नहीं होती, वह केवल इस लोक को मानता है, परलोक को नहीं, ऐसा व्यक्ति बार-बार मेरे (अर्थात् यम या मृत्यु के) वश में आता है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि चार्वाक दर्शन के कतिपय सिद्धान्त बहुत प्राचीन समय में प्रचलित थे।

वाल्मीकि की रामायण महाभारत से प्राचीन समझी जाती है। उसके अयोध्या-काण्ड में जाबालि नाम के एक ब्राह्मण ने राम को अयोध्या लौटने की सलाह देते हुए इस प्रकार आदेश दिया :

"हे मनुष्यों में श्रेष्ठ राम, पिता के राज्य को छोड़कर बहुत काँटों भरे कठिन रास्ते में स्थित होना तुम्हें उचित नहीं है।

हे राजपुत्र, कीमती राज्य-भोगों का भोग करते हुए तुम अयोध्या में उसी तरह विहार करो, जैसे इन्द्र स्वर्ग में करता है।....राजा दशरथ वहाँ गये जहाँ सभी को जाना है; मरणशील मनुष्यों की यही प्रवृत्ति है; उसके लिए तुम अपने को क्यों व्यर्थ मार रहे हो; जो लोग जीवन भर धर्म की चिंता करते रहे उनके लिए मुझे शोच है; उन्होंने यहाँ दुःख सहा और गड़कर नष्ट हो गये। अष्टका आदि पिता का श्राद्ध तथा देवताओं के लिए जो यज्ञ लोग करते हैं उसमें केवल अन्न का नाश होता है—भला मरा व्यक्ति कुछ खाता है। यदि यहाँ किसी के भोजन करने से दूसरे के शरीर को पहुँचे (जो कि नहीं होता) तभी यह माना जा सकता है कि मरे हुए के लिए श्राद्ध करने से उसे मिलता है।....हे बुद्धिमान राम ! तुम्हें यही मानकर चलना चाहिए कि परलोक नहीं है, इसलिए परोक्ष की उपेक्षा करके और प्रत्यक्ष को स्वीकार करके बरतना चाहिए।"[2]

यहाँ जाबालि चार्वाक के अनुयायी की भाँति बात करते हैं। किन्तु आगे बतलाया गया है कि वे वस्तुतः उक्त मत के अनुयायी नहीं थे।

---

1. न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म्।
   अयं लोको नास्ति पर इतिमानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥—क० उप०, 1/2/6
2. अयोध्याकांड, 100/7, 9, 11, 12–14, 16

शान्तिपर्व के अन्तर्गत 'मोक्षधर्मपर्व' (अध्याय 186) में भारद्वाज नाम के व्यक्ति जीव की अलग सत्ता में शंका करते दिखाये गये हैं। उनका ऋषि भृगु के साथ संवाद चल रहा था। भारद्वाज ने कहा—

"भगवन्! यदि वायु ही प्राणी को जीवित रखती है, वायु ही शरीर को चेष्टाशील बनाती है, वही साँस लेती और वही बोलती भी है, तब तो इस शरीर में जीव की सत्ता स्वीकार करना व्यर्थ ही है। यदि शरीर में गर्मी अग्नि का अंश है, यदि अग्नि से ही खाये हुए अन्न का परिपाक होता है, यदि अग्नि ही सबको जीर्ण करती है, तब तो जीव की सत्ता मानना व्यर्थ ही है। जब किसी प्राणी की मृत्यु होती है, तब वहाँ जीव की उपलब्धि नहीं होती। प्राणवायु ही इस प्राणी का परित्याग करती है और शरीर की गर्मी नष्ट हो जाती है।....जल का सर्वथा त्याग करने से शरीर के जलीय अंश का नाश हो जाता है, श्वास रुक जाने से वायु का नाश होता है। उदर का भेदन होने से आकाश तत्त्व नष्ट होता है और भोजन बन्द कर देने से शरीर के अग्नि तत्त्व का नाश हो जाता है।....पाञ्चभौतिक संघात (शरीर) के नष्ट होने पर यदि जीव है तो वह किसके पीछे दौड़ता है? क्या अनुभव करता है? क्या सुनता है और क्या बोलता है? मृत्यु के समय इस आशा से गोदान करते हैं कि यह गौ परलोक जाने पर मुझे तार देगी। परन्तु जीव तो गोदान करके मर जाता है; फिर वह गौ किसको तारेगी? गौ, गोदान करनेवाला मनुष्य तथा उसको लेनेवाला ब्राह्मण, ये तीनों जब यहीं मर जाते हैं, तब परलोक में उनका कैसे समागम होता है?"[1]

यहाँ चार्वाक द्वारा जीव के विरुद्ध उठायी गयी उक्तियों की स्पष्ट अनुगूँज है।

हरिभद्र सूरि कृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' के अन्तिम खण्ड में, लोकायतिक अथवा चार्वाक मत का निरूपण है। उसका सारांश इस प्रकार है—लोकायतों के मत में कोई सर्वज्ञता आदि गुणों से सम्पन्न देव नहीं है, मोक्ष, धर्म और अधर्म अथवा पुण्य-पाप का भेद नहीं है। हमारी दृष्टियों को जितना जगत् दिखाई देता है, वही है। अनुमान, आगम आदि प्रमाण नहीं हैं। पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों से ही, जो एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध हैं, चैतन्य उत्पन्न होता है। इसलिए प्रत्यक्ष भोगों को छोड़कर अदृष्ट स्वर्ग आदि के लिए प्रयत्न करना मूर्खता है।

भारतवर्ष में उपनिषत्काल से ही मोक्षवाद को स्वीकार कर लिया गया है, इस कारण यहाँ भौतिकवाद का समुचित, सूक्ष्म रूप में विकास नहीं हुआ। यहाँ विज्ञान

---

1. शान्तिपर्व (मोक्षधर्मपर्व), अध्याय 186, 1-3, 8-12

का उदय भी नहीं हुआ जिसने योरप में भौतिकवाद को पुष्ट किया। इन कारणों से चार्वाक दर्शन के सिद्धान्त अपेक्षाकृत स्थूल जान पड़ते हैं। किन्तु उसकी ज्ञान मीमांसा, जिसमें केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना गया है और अनुमान प्रमाण की आलोचना की गयी है, सचमुच ही महत्त्वपूर्ण है। चार्वाक दर्शन के अध्ययन के लिए वही स्वाभाविक आरम्भ-बिन्दु है।

ज्ञान-मीमांसा—भारतीय दर्शन में प्रमाणों की संख्या के बारे में काफी मतभेद है। चार्वाक सिर्फ प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है; बौद्ध लोग प्रत्यक्ष और अनुमान को; वैशेषिक और सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द को; नैयायिक इनमें उपमान को भी जोड़ देते हैं। पूर्व मीमांसा और अद्वैत वेदान्त के अनुसार अर्थापत्ति और अनुपलब्धि भी स्वतन्त्र प्रमाण हैं।

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है; किन्तु वह प्रत्यक्ष का लक्षण कैसे करता है, यह ज्ञात नहीं। 'तत्त्वोपप्लवसिंह' में (जिसे कुछ लोग चार्वाक दर्शन का ग्रन्थ मानते हैं), विभिन्न दर्शनों के अभिमत सभी प्रमाणों (के लक्षणों) का खण्डन किया गया है; वहाँ प्रत्यक्ष का भी खण्डन है। उक्त ग्रन्थ में न्याय और बौद्ध दर्शन दोनों के द्वारा परिभाषित प्रत्यक्ष की लम्बी समीक्षा पायी जाती है। स्वयं जयराशि भट्ट ने यह मत कहीं प्रकट नहीं किया है कि वह प्रत्यक्ष को प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है।

चार्वाक प्रत्यक्ष की क्या परिभाषा देता था, यह हमें ज्ञात नहीं; किन्तु उसके द्वारा किया गया अनुमान का खण्डन प्रसिद्ध है। हम यह खण्डन 'सर्वदर्शन-संग्रह' का अनुसरण करते हुए नीचे देते हैं।

अनुमान का आधार व्याप्ति होती है जो हेतु और साध्य, लिंग और लिंगी के बीच साहचर्य का नियम है। हम पर्वत में धूम देखकर अग्नि का अनुमान करते हैं। यहाँ पर्वत पक्ष है जहाँ धूम की उपस्थिति पायी जाती है। पर्वत में धूम का होना पक्षधर्मता कहलाती है। पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनों से अनुगृहीत (सहचरित) लिंग ही लिंगी अर्थात् अग्नि का अनुमापक होता है।

जैसा हमने कहा, हेतु (लिंग या साधन) और लिंगी या साध्य का साहचर्य नियम ही व्याप्ति है। किन्तु यह साहचर्य नियम उपाधि-शून्य होना चाहिए। हम यह कह सकते हैं कि जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है, किन्तु यह नहीं कह सकते कि जहाँ अग्नि है, वहाँ धूम है। धूम और अग्नि का सम्बन्ध निरुपाधिक (उपाधिमुक्त) है, जब कि अग्नि और धूम का साहचर्य सोपाधिक (उपाधियुक्त) है। अग्नि के साथ धूम तभी सहचरित होगा जब अग्नि का आधार गीला ईंधन हो। सूखे ईंधनवाली अग्नि से धुआँ

नहीं उठता । इसीलिए, चूँकि अग्नि और धूम का सम्बन्ध सोपाधिक है, अग्नि धूम की अनुमापक नहीं होती ।

उपाधि दो प्रकार की होती है, शंकित और निश्चित । यहाँ उपाधि निश्चित है, जैसे अग्नि और धूम से सम्बन्ध में, वहाँ हम (अग्नि को देखकर धूम का) अनुमान नहीं करते; किन्तु जहाँ उपाधि की आशंका है, वहाँ भी अनुमान नहीं किया जा सकता । चार्वाक का कहना है कि इस उपाधि की शंका के निराकरण का कोई तरीका नहीं है । हम दो चीजों के साहचर्य को देखकर कभी यह निश्चय नहीं कर सकते कि उनका संबंध निरुपाधिक है, इसलिए हम किसी भी हेतु या लिंग को देखकर साध्य या लिंगी का निश्चयात्मक अनुमान नहीं कर सकते ।

इस आपत्ति को दूसरे ढंग से भी प्रकट किया जा सकता है । हमें किसी व्याप्ति का निश्चय (निश्चयात्मक ज्ञान) नहीं हो सकता । और जब तक व्याप्ति का निश्चय न हो, तब तक अनुमिति के बारे में निश्चय नहीं हो सकता । चार्वाक प्रश्न करता है— व्याप्ति का निश्चय किस प्रमाण से होता है ? 'जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है', यह ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता, क्योंकि हमारे लिए यह सम्भव नहीं है कि भूत और भविष्य के समस्त धूमों को अग्नि से सम्बद्ध देखें । इन्द्रिय-ज्ञान का विषय सिर्फ वर्तमान में मौजूद वस्तु होती है, इन्द्रियजन्य ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ (वस्तु) के संयोग की उपेक्षा करता है; यह संयोग वर्तमान वस्तु से ही हो सकता है । चूँकि तीनों कालों से धूमों और अग्नियों के साथ साथ नहीं देखा जा सकता, इसलिए प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति का ज्ञान संभव नहीं है ।

[आधुनिक तर्कशास्त्र में उक्त समस्या को आगमन की समस्या (प्राब्लेम ऑव इन्डक्शन) कहते हैं । हम कुछ धूमों का कुछ अग्नियों से सम्बन्ध देखते हैं; इस देखने के बल पर हम सब धूमों और सब अग्नियों के सम्बन्ध के बारे में सार्वभौम नियम कैसे बना सकते हैं ? वास्तव में इस प्रश्न का कोई उचित समाधान नहीं है । जिसे हम व्याप्ति नियम कहते हैं वह वास्तव में हमारी कल्पना का विकल्प, उसकी सृष्टि होता है । उक्त नियम व्यवहार में सफल पाया जाता है, यही उसकी सत्यता है । इस दृष्टि से हम अनुमान के आधारभूत व्याप्ति-वाक्य को व्यावहारिक सत्य कह सकते हैं । किन्तु ऐसा सत्य एकदम निश्चित-निश्चयात्मक नहीं होता ।]

नैयायिक लोग कहते हैं कि व्याप्ति-सम्बन्ध वास्तव में दो सामान्यों के बीच होता है; यथा, धूमत्व-सामान्य और अग्नित्व-सामान्य में । वे लोग यह भी मानते हैं कि सामान्य लक्षण सन्निकर्ष द्वारा हम उक्त सामान्यों और उनके सम्बन्ध का प्रत्यक्ष करते

हैं। इस पर चार्वाक आक्षेप करता है कि यदि व्याप्ति-सम्बन्ध सामान्यों के बीच होता है, तो जाहिर है कि वह व्यक्तियों (विशेषों) के बीच नहीं होता लेकिन यह निष्कर्ष नैयायिक को स्वीकार नहीं होगा। यदि कोई कहे कि व्याप्ति-सम्बन्ध का प्रत्यक्ष बाह्य इन्द्रियों से नहीं बल्कि बुद्धि या अंतःकरण द्वारा होता है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि बुद्धि या अन्तःकरण का व्यापृत (सक्रिय) होना इन्द्रियों पर ही निर्भर है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि व्याप्ति का ज्ञान अनुमान से होता है। उस दशा में अनुमान व्याप्ति पर और व्याप्ति अनुमान पर निर्भर होने से अन्योन्याश्रय दोष होगा। अनवस्था दोष भी होगा, क्योंकि एक अनुमान में प्रयुक्त व्याप्ति की सिद्धि के लिए दूसरे अनुमान की आधारभूत व्याप्ति का सहारा लेना पड़ेगा; और उस व्याप्ति की सिद्धि के लिए तीसरे अनुमान में प्रयुक्त व्याप्ति का अवलम्बन लेना होगा, इसी प्रकार आगे भी। वैसे ही शब्द-प्रमाण भी व्याप्ति-ज्ञान का आधार नहीं हो सकता।

पहले कहा गया था कि व्याप्ति-सम्बन्ध में उपाधि का अभाव आवश्यक है, और इस अभाव का निश्चयात्मक ज्ञान सम्भव नहीं है। अग्नि और धूम के साहचर्य में गीले इंधन की उपाधि प्रत्यक्षगम्य है लेकिन यह नियम नहीं बनाया जा सकता कि प्रत्येक उपाधि प्रत्यक्षगम्य हो।[1] यदि उपाधि अनुमानगम्य होगी तो अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष हो जाएँगे।

उपाधि का लक्षण इस प्रकार किया जाता है—

अव्याप्तसाधनो यः साध्यसमव्याप्तिरुच्यते उपाधिः।

अर्थात् साध्य की समव्याप्ति होते हुए जो साधन (हेतु, लिंग) में अव्याप्त है उसे उपाधि कहते हैं। व्याप्ति का दूसरा नाम अविनाभाव सम्बन्ध है। अविनाभाव या व्याप्ति दो तरह की होती है, समव्याप्ति और असमव्याप्ति। पृथ्वीत्व और गंध का संबंध समव्याप्ति है; दोनों एक दूसरे को व्याप्त करते हैं। अग्नि द्वारा धूम की व्याप्ति असमव्याप्ति है; तपते हुए लोहे के गोले में अग्नि होती है, पर धूम नहीं होता है। धूम और गीले इंधन के संयोग के बीच समव्याप्ति, किन्तु अग्नि और गीले ईंधन के संयोग में असमव्याप्ति है। इसलिए अग्नि और धूम का सम्बन्ध समव्याप्तिक नहीं है।

अतएव वह्नि से धूम के अनुमान में (जहाँ वह्नि हेतु या लिंग है और धूम साध्य या लिंगी) गीले ईंधन का संयोग उपाधि है। यह उपाधि साध्य यानी धूम की सम-

1. उपाध्यभावोऽपि दुरवगमः। उपाधीनां प्रत्यक्षनियमासंभवेन प्रत्यक्षाणामभावस्य प्रत्यक्षत्वेऽप्यप्रत्यक्षाणामभावस्याप्रत्यक्षतयाऽनुमानाद्यपेक्षायामुक्तदूषणानतिवृत्तेः।—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 10-11

व्याप्ति है । किन्तु वह साधन अर्थात् अग्नि को व्याप्त नहीं करती । अतः, उपाधि की उपस्थिति के कारण, अग्नि धूम की अनुमापक नहीं है ।

ऊपर हमने चार्वाक द्वारा किया हुआ अनुमान अथवा व्याप्ति का खण्डन प्रस्तुत किया । प्रत्यक्ष है, यह खण्डन विश्वास पैदा करनेवाला है । जैसा हमने संकेत किया, हमारा व्याप्तिज्ञान बुद्धि की कल्पना अथवा विकल्प पर निर्भर करता है, वह व्यावहारिक सत्य ही हो सकता है, पारमार्थिक सत्य नहीं । व्याप्ति और अनुमान की व्यावहारिक उपयोगिता सुशिक्षित चार्वाक पुरन्दर को भी भी स्वीकार है, जैसा 'तत्त्वसंग्रह' की 1481वीं कारिका और उसपर कमलशील की टीका से प्रकट है । यहाँ यह जोड़ देना चाहिए कि बौद्ध तर्कशास्त्रियों के अनुसार भी अनुमान प्रमाण (जो विकल्पमूलक है) व्यावहारिक सत्य का वाहक ही हो सकता है । यहाँ चार्वाक के प्रतिपक्षियों को यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अनुमान प्रमाण का खण्डन श्रीहर्ष और चित्सुखाचार्य जैसे अद्वैती आचार्यों ने भी किया है ।

चूँकि चार्वाक अनुमान को प्रमाण नहीं मानता, इसलिए वह अनुमान से सिद्ध होनेवाले ईश्वर, आत्मा, परलोक आदि को भी नहीं मानता । प्रत्यक्ष के आधार पर हम स्वीकार नहीं कर सकते कि किसी खास यज्ञ के करने से स्वर्ग या अगले जन्म में चक्रवर्ती राजा का पद मिल सकता है । चार्वाक अथवा उनके गुरु बृहस्पति के समय में पुरोहितों द्वारा विज्ञापित यज्ञ आदि का प्रपंच बहुत बढ़ गया था । पुरोहित लोग यज्ञ कराने के लिए लम्बी-चौड़ी दक्षिणा लिया करते थे । स्वयं यज्ञों की मान्यता वेदों की प्रामाणिकता पर निर्भर है इसलिए लोकायत अथवा बृहस्पति या चार्वाक के मत के समर्थकों ने यज्ञ आदि के साथ साथ वेदों का भी विरोध किया है—

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ।

अर्थात् अग्निहोत्र, तीन वेद, त्रिदण्डधारण (संन्यास), शरीर में भस्म का लेप, ये सब बुद्धि एवं पुरुषार्थ-हीन लोगों की जीविका के साधन हैं ।

शरीर से भिन्न आत्मा की सत्ता मानना आवश्यक नहीं है । प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माननेवाले चार्वाक के मत में चार ही तत्त्व पदार्थ हैं, अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि । चार्वाक आकाश नाम के पाँचवें भूत को नहीं मानता, क्योंकि वह प्रत्यक्षगम्य नहीं है । चार भूतों के योग से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है, जैसे शराब के घटक विभिन्न द्रव्यों के मिलने से मादकता नाम का नया गुण उत्पन्न हो जाता है ।[1]

---

1. चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ।
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ।।

फलतः देह से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। इसीलिए पुनर्जन्म, स्वर्ग, अपवर्ग आदि को मानना भी व्यर्थ है। जीवन का एकमात्र ध्येय सुख है। चार्वाक वर्ण, आश्रम आदि से सम्बन्धित क्रियाओं को कर्तव्य या धर्म नहीं मानता, क्योंकि उन सभी का सम्बन्ध वेदों की प्रामाणिकता एवं स्मृतियों की मान्यता से है। यदि ज्योतिष्टोम यज्ञ में मरा हुआ पशु स्वर्ग को जाता है, तो यजमान अपने पिता को ही क्यों नहीं मार डालता।[1]

यदि मरे हुए पितरों का श्राद्ध उनकी तृप्ति का कारण होता है, तो बुझे हुए दीपक की लौ को भी तेल पाकर बढ़ना चाहिए।[2] दूसरे, जो लोग बाहर यात्रा पर जा रहे हैं उनके साथ पाथेय के रूप में भोजन आदि रखना व्यर्थ है, क्योंकि घर में किये हुए श्राद्ध से उनकी रास्ते में तृप्ति हो जानी चाहिए।

यदि यहाँ दान करने से मनुष्य को स्वर्ग में तृप्ति मिल सकती है, तो जो ऊँचे प्रासाद पर चढ़ गये हैं उन्हें नीचे किए दान से भी तृप्ति मिलनी चाहिए।

वास्तव में स्वर्ग और नरक कल्पना मात्र हैं। जो शरीर एक बार जल गया, उसका पुनर्जन्म कैसे हो सकता है? इसलिए मनुष्य को चाहिए कि जब तक जियें, सुख से जिये, ऋण करके भी घी पिये।[3]

जान पड़ता है, चार्वाक मत के अनुयायी वैदिक पुरोहितों से बहुत ज्यादा चिढ़े हुए थे, इसीलिए उन्होंने कहा कि वेद के रचयिता भाँड़, धूर्त और निशाचर थे।

समीक्षात्मक दृष्टि

चार्वाक ने जो अनुमान प्रमाण की आलोचना की और अतीन्द्रिय पदार्थों को मानने से इनकार किया, वह कोई अनहोनी बात नहीं थी। वर्तमान युग में तर्कनिष्ठ भाववादियों ने भी कुछ ऐसा ही सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वेदों और कर्मकाण्ड की निन्दा भी विशेष नयी चीज नहीं थी। बौद्धों और जैनों ने वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं किया और स्वयं उपनिषदों में कर्मकाण्ड का विरोध पाया जाता है। भगवद्गीता में भी उन वेदवादी लोगों की, जो लुभानेवाली वाणी बोलते हैं (अर्थात्

---

1. पशुश्चेन्निहितः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
   स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥
2. मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्ति कारणम्।
   निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम्॥
3. यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिवेत्,
   भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

स्वर्ग आदि का प्रलोभन देकर यज्ञ आदि करने की सलाह देते हैं) दबे स्वर में निन्दा की गयी है। चार्वाक मत में ज्यादा खटकनेवाली चीज उसका स्थूल जीवन-दर्शन था। प्राचीन यूनान में एपीक्यूरस ने भी सौख्यवाद का ,नैतिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया था, किन्तु उसकी शिक्षा ज्यादा सूक्ष्म थी। एपीक्यूरस ने कहा था कि भावात्मक सुख को पाने की अपेक्षा दुःख से बचने की अधिक कोशिश करनी चाहिए। इसकी तुलना में चार्वाक का सुखवाद बड़ा स्थूल जान पड़ता है। आत्मा और परमात्मा को बौद्ध दर्शन भी नहीं मानता, किन्तु बुद्ध जानते थे कि जीवन के दुःखों का शमन इतना सरल काम नहीं है। सुखी जीवन बिताना एक बड़ी कला है, सुख की प्राप्ति उतनी सहज नहीं है जैसा कि चार्वाक समझता है। सम्भव है, मूल चार्वाक दर्शन में इस सम्बन्ध में कुछ अधिक सूक्ष्म चिन्तन रहा हो, जिसे उसके प्रतिपक्षियों ने अपने ग्रन्थों में विकृत रूप दे दिया है। किन्तु जिस रूप में वह जीवन-दर्शन हमें प्राप्त हुआ है, उस रूप में वह संवेदनशील और समझदार नर-नारियों के लिए बरतने योग्य नहीं है।

●

अध्याय 7

प्रारंभिक बौद्ध धर्म तथा हीनयान दर्शन

1. साहित्य

(क) पालि

ई० पू० पाँचवीं-छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी ईसवी तक बौद्ध धर्म और दर्शन का ऐतिहासिक काल माना जाता है। राजनैतिक इतिहास की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि बिम्बसार के काल से लेकर बंगाल के पालवंश तक बौद्ध धर्म का इतिहास उपलब्ध है।

भगवान् बुद्ध ने सद्धर्म का उपदेश जनभाषा में दिया था जो मध्यमण्डल में बोली जाती थी। यह भाषा मागधी थी, जो कालान्तर में 'पालि' नाम से अभिहित की गयी। बुद्धवचन इसी पालि भाषा में सुरक्षित है। लंका के महाराजा वट्टगामिनी के दिनों में वह बुद्धवचन ताम्रपात्रों पर अंकित कर चिरस्थायी कर दिया गया था, अर्थात् ईसा की प्रथम शताब्दी में बुद्धवचन, जिसे भिक्षु महेन्द्र सम्राट् अशोक के समय में लंका ले गये थे, पूर्णतः लेखबद्ध हो चुका था। ये बुद्धवचन, हमें उस ग्रन्थ-समूहों में मिलते हैं, जिन्हें 'त्रिपिटक' (पालि—त्रिपिटक) कहा जाता है। सम्पूर्ण त्रिपिटक पालि भाषा में उपलब्ध है। संस्कृत भाषा में भी बौद्धों ने त्रिपिटक की रचना की थी। परन्तु आज वह प्राप्य नहीं है। चीनी और तिब्बती अनुवादों से ही उसका पता लगता है।

त्रिपिटक का अर्थ है तीन पिटारियाँ—तीन महाग्रन्थ-समूह, जिनमें बुद्धवचन निबद्ध हैं और जो परम्परा से चले आ रहे हैं। पहले इन संग्रहों को पिटारियों में रखा जाता होगा और तीनों पिटकों के लिए अलग-अलग तीन पिटारियाँ प्रयोग में लायी जाती होंगी। अतः कालान्तर में यह संग्रह ही त्रिपिटक की संज्ञा से विभूषित हो गया। ये तीन पिटक हैं : **सूत्रपिटक (सुत्तपिटक), विनयपिटक** और **अभिधर्मपिटक (अभिधम्मपिटक)**। ये ग्रन्थसमूह ही प्रारम्भिक बुद्ध धर्म और दर्शन के जानने के लिए मूलस्रोत हैं। इन्हीं के द्वारा बुद्ध-शासन का अपना प्राचीनतम तथा विशुद्धतम रूप

सुरक्षित है। इन्हीं के द्वारा भगवान् बुद्ध के जीवन चरित और उपदेशों को भलीभाँति जाना जा सकता है।

डॉ० रिज् डेविड्स के अनुसार, त्रिपिटक साहित्य का काल बुद्ध के निर्वाण के काल से (अर्थात् पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से) लेकर अशोक के समय (अर्थात् तीसरी शताब्दी ई० पू०) तक, जब उसने अन्तिम स्वरूप प्राप्त किया, माना जाना चाहिए। लंका, बर्मा, स्याम आदि बौद्ध देशों में त्रिपिटक का स्थान सर्वोच्च है। वहाँ इन ग्रन्थों का प्रचार तथा आदर उतना ही अधिक है, जितना भारतवर्ष में रामायण, महाभारत का। त्रिपिटक के प्रति बौद्ध राष्ट्रों की श्रद्धा का अन्दाजा इससे लगाया जा सकता है कि बर्मा के राजा मैण्डुम ने महाभारत से तिगुने बड़े त्रिपिटक के सारे ग्रन्थों को पत्थर की पट्टियों पर खुदवाकर सुरक्षित रख दिया है।

तीन पिटक, जैसा ऊपर बतलाया गया है, निम्नलिखित हैं : (1) सुत्तपिटक, (2) विनयपिटक और (3) अभिधम्मपिटक।

(1) **सुत्तपिटक**—इस पिटक में गौतमबुद्ध के सिद्धान्तों का पद्य और संवादों के रूप में संग्रह किया गया है। इसमें गद्य संवाद हैं, मुक्तक छन्द हैं। प्राचीन छोटी-छोटी कहानियाँ, उपमाएँ अथवा उदाहरण हैं। यह पिटक पाँच निकायों में विभक्त है जिनके नाम हैं—(क) दीघनिकाय, (ख) मज्झिमनिकाय, (ग) संयुत्तनिकाय, (घ) अंगुत्तरनिकाय और (ङ) खुद्दकनिकाय।

(क) **दीघनिकाय**—34 सुत्तों और 3 वर्गों में विभाजित है। सुत्तों में बौद्ध सिद्धान्तों, जैसे—आर्यसत्य, मध्यममार्ग, प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण की चर्चा अधिक है। कहीं-कहीं वर्णव्यवस्था, तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक स्थिति अथवा जाति आदि की उच्चता का मार्मिक खण्डन भी मिलता है। इन सुत्तों में बौद्ध नीति एवं शील, सदाचार आदि की चर्चा भी मिलती है।

(ख) **मज्झिमनिकाय**—इसमें 152 सुत्त है जो 15 वर्गों में विभाजित हैं। इन सुत्तों में ब्राह्मण, यज्ञ, होम, योग के विविध स्वरूप, जैनाचार्यों के साथ बुद्ध का संवाद, तत्कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति, बौद्ध धर्म के मूल चार आर्यसत्य, रूप, कर्म, पुनर्जन्म सिद्धान्त, आत्मवाद का खण्डन, ध्यान की अनेक विधियों आदि का सम्यक् विवेचन मिलता है।

(ग) **संयुक्तनिकाय**—ऐसे सुत्तों का संग्रह है, जिसमें दार्शनिक समस्याओं का वर्णन अधिक पाया जाता है। इस निकाय में लगभग आठ हजार सुत्त हैं, किन्तु केवल तीन हजार ही सुत्त प्राप्त होते है जो पाँच वर्गों में विभक्त हैं।

(घ) **अंगुत्तरनिकाय**—इसमें अनेक धर्मों[1] का विवेचन है। इसमें 23 सौ सुत्त जो 11 वर्गों में बँटे हुए हैं। इन वर्गों को निपात कहते हैं जो संख्यात्मक श्रेणी से क्रमबद्ध हैं। सभी निपातों में एकरूपता है। इन निपातों में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को संख्या के क्रम से निबद्ध किया गया है; उदाहरणार्थ, दुक निपात में दो त्याज्य वस्तुएँ, दो प्रकार के ज्ञानी पुरुष, तिक निपात में तीन प्रकार के दुष्कृत कर्म और चतुक्क निपात में चार आर्यसत्य, चार ज्ञान, चार संवर, चार प्रतिसंविद आदि बतलाये गये हैं।

(ङ) **खुद्दकनिकाय**—यह सुत्तपिटक का अन्तिम निकाय है, जिसमें 15 ग्रन्थ संगृहीत हैं। वे हैं—(1) खुद्दकपाठ, (2) धम्मपद, (3) उदान, (4) इतिवुत्तक, (5) सुत्तनिपात, (6) विमानवत्थु, (7) पेतवत्थु, (8) थेरगाथा, (9) थेरीगाथा, (10) जातक, (11) निद्देस, (12) पटिसम्भिदामग्ग, (13) अपदान, (14) बुद्धवंस और (15) चरियापिटक। कभी-कभी 'निद्देस' को चूलनिद्देस और महानिद्देस दो पृथक् ग्रन्थ मानकर 16 ग्रन्थों की भी गणना की जाती है।

(2) **विनयपिटक**—विनयपिटक में विनय-सम्बन्धी नियमों का संग्रह किया गया है। इसे बौद्ध-भिक्षुकों का 'आचार शास्त्र' भी कहा जा सकता है। इस महाग्रन्थ में भिक्षु-भिक्षुणियों के दैनिक कार्यकलापों से सम्बन्धित नियमों के उल्लेख मिलते हैं, जिन्हें भगवान् बुद्ध ने समय-समय पर संघ-संचालन को नियमित करने के लिए निर्देशों के रूप में दिया था; जैसे—प्रव्रज्या की दीक्षा कैसे देनी चाहिए, शिष्य तथा आचार्य का परस्पर व्यवहार कैसा होना चाहिए, भिक्षुओं को कैसे रहना चाहिए, कैसे उन्हें भिक्षाटन के लिए शहर या गाँव में जाना चाहिए, भिक्षुओं और भिक्षुणियों को परस्पर कैसा व्यवहार रखना चाहिए, इत्यादि बातों के सम्बन्ध में भगवान् की शिक्षाएँ इस पिटक में मिलती हैं। ये नियम एवं शिक्षाएँ भगवान् के समय में ही बन चुकी थीं। ये नियम संख्या में 227 हैं जो अनेक रूपों में बारम्बार बतलाये गये हैं। इन नियमों को विषय-वस्तु की दृष्टि से तीन भागों अथवा ग्रन्थों में विभाजित किया गया है जो हैं :—

(1) **सुत्तविभंग**—पाराजिक, पाचित्य,

(2) **खन्धक**—महावग्ग, चुल्लवग्ग,

(3) **परिवार**।

(3) **अभिधम्मपिटक**—'अभिधम्म' का अर्थ है—विशिष्ट धर्म या अतिरेकधम्म। यह बौद्ध धर्म का दार्शनिक पिटक है। यद्यपि इसकी विषयवस्तु सुत्तपिटक से पर्याप्त

1. बौद्ध धर्म में 'धर्म' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ 'धर्म' का अर्थ 'विषय' है।

साम्य रखती है, फिर भी 'अभिधम्मपिटक' की विषय को प्रस्तुत करने की अपनी शैली है। यह पिटक सात ग्रन्थों में मिलता है। जैसे,

(1) धम्मसंगणि, (2) विभंग, (3) धातुकथा, (4) पुग्गलपञ्ञत्ति, (5) कथा-वस्तु, (6) यमक और (7) पट्ठान।

(1) **धम्मसंगणि** में विशेष रूप से चित्तचैतसिक (चित्तवृत्तियों) तथा अव्याकृत धर्मों का विश्लेषण किया गया है। (2) **विभंग** में भी चित्तवृत्तियों तथा बौद्ध शब्दा-वली का वर्णन पाया जाता है। (3) **धातुकथा** में विभंग के अठारह विभागों में से केवल तीन भाग—स्कन्ध, आयतन एवं धातु का ग्रहण किया गया है। (4) **पुग्गलपञ्ञत्ति** में नैतिक दृष्टि से विकास को प्राप्त होनेवाले बौद्ध भिक्षुओं का वर्णन किया गया है तथा कई पुद्गल-भेद बतलाये गये हैं। (5) **कथावस्तु** मे अष्टादश निकायों के विभिन्न मतों का खण्डन कर स्थविरवाद की स्थापना की गयी है। (6) **यमक** में युगल रूप से बौद्ध सिद्धान्तों का वर्णन पाया जाता है। (7) **पट्ठान** में 24 प्रत्ययों की दृष्टि से प्रतीत्य-समुत्पाद का वर्णन किया यगा है।

अनुपिटक साहित्य—इसके अतिरिक्त अनुपिटक साहित्य भी मिलता है जो बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए त्रिपिटक के बाद रचा गया है। अनुपिटक साहित्य को तीन भागों में विभक्त किया गया है—1. **पूर्व-बुद्धघोष-युगीन साहित्य**—इसमें (1) नेत्ति-पकरण, (2) पेटकोपदेश, (3) मिलिन्द प्रश्न और (4) दीपवंश आदि आते हैं। 2. **बुद्धघोष-युग का साहित्य**—इसमें (1) बुद्धघोष की सर्वोत्कृष्ट रचना, (2) विसुद्धिमग्ग और उनकी अन्य अट्ठकथाएँ, जो पिटकों पर लिखी गयी हैं, आ जाती है। (3) आचार्य बुद्धदत्त और धर्मपाल की अट्ठकथाएँ। इसी युग में लंका में (1) महावंश, (2) कच्चायन व्याकरण तथा आचार्य अनिरुद्ध का प्रसिद्ध ग्रन्थ, (3) अभिधम्मत्थसंगहो आदि रचनाएँ भी लिखी गयी मिलती हैं। 3. **बुद्धघोषपरवर्ती साहित्य**—इसमें अट्ठकथा साहित्य पर टीकाएँ, अनुटीकाएँ, चूलवंश सासन-वंश आदि ग्रन्थों की गणना की जाती है।

(ख) बौद्ध संस्कृत साहित्य

बौद्ध धर्म-सम्बधी साहित्य केवल पालि भाषा में ही नहीं मिलता, संस्कृत[1]

---

1. बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ भी दो विभागों में विभाजित किये जा सकते हैं। एक 'अर्ध संस्कृत', 'मिश्र संस्कृत' या कर्णकटु 'संकर संस्कृत' में पाये जाते है, जैसे 'महावस्तु', 'ललित-विस्तर' इत्यादि; दूसरे विशुद्ध संस्कृत में, जैसे 'अभिधर्मकोश', 'माध्यमिक-शास्त्र', 'बुद्धचरित', 'चतुःशतक' इत्यादि।

तिब्बती, चीनी आदि भाषाओं में भी मिलता है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्म का प्राचीन रूप पालि ग्रन्थों में ही मिलता है। पालि के समान ही संस्कृत में तीन पिटक थे, किन्तु दुर्भाग्यवश वे सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं हैं। चीनी और तिब्बती अनुवादों से उनके अस्तित्व का पता लगता है। संस्कृत में पालि निकायों के समान 'आगम' थे, जो 'दीर्घागम', 'मध्यमागम' आदि नामों से प्रसिद्ध थे। पालि अभिधम्म-पिटक के समान ही संस्कृत में भी सात ग्रन्थ उपलब्ध थे, जिनका उल्लेख बौद्ध संस्कृत साहित्य में ही मिलता है। संस्कृत में विनयपिटक भी था। गिलगित में सुरक्षित पाण्डुलिपियों के संस्कृत विनयपिटक के कई अंश प्राप्त हुए हैं।

कुछ ऐसा साहित्य भी पाया जाता है, जिसमें हीनयान और महायान दोनों के सिद्धान्त मिलते हैं। ये ग्रन्थ संस्कृत और मिश्रित संस्कृत में लिखे हुए हैं, जैसे—

(1) अभिधर्मकोश, भाष्य एवं व्याख्या, (2) अभिधर्मसार, (3) अभिधर्मामृत, (4) अभिधर्मदीप, (5) महावस्तु अथवा महावस्तु अवदान, (6) ललितविस्तर, (7) सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र, (8) अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, (9) अवदानशतक, (10) दिव्या-वदान, (11) निदान, (12) कल्पनामण्डितिका (कुमारलात), (13) चतुःशतक स्तोत्र, (14) मैत्रेय व्याकरण, (15) जातकमाला, (16) बुद्धचरित, (17) विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि, (18) शिक्षासमुच्चय, (19) बोधिचर्यावतार, (20) माध्यमिकशास्त्र, (21) कर्मशतक, (22) अवदानकल्पलता (क्षेमेन्द्रकृत) आदि।

इनमें से यहाँ हम कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का परिचय देंगे :—

अभिधर्मकोश[1]—यह बौद्ध धर्म का प्रख्यात एवं उपयोगी ग्रन्थ है। यह आचार्य वसुबन्धु की रचना है। प्रारम्भ में वसुबन्धु सौत्रान्तिक थे और बाद में चलकर वे योगा-चार मत में दीक्षित हुए। 'अभिधर्मकोश' में उन्होंने बिना किसी भेदभाव के सौत्रा-न्तिक और वैभाषिक, दोनों के ही मतों को सरल एवं सुबोध शैली में प्रतिपादित किया है। इस कोश में नौ कोशस्थान हैं, जो विषयक्रम से इस तरह हैं—धातु, इन्द्रिय, लोक, कर्म, अनुशय, आर्यपुद्गल, ज्ञान, ध्यान और पुद्गलवाद। पुद्गलवाद के खण्डन से

---

1. यह ग्रन्थ-रत्न कई वर्षों से मूल में अनुलब्ध था। इसके बारे में सूचना चीनी तिब्बती अनुवादों में मिलती थी। फ्रेंच विद्वान् पूसें ने, चीनी अनुवाद के आधार पर, इसका फ्रेंच में अनुवाद किया है तथा आचार्य नरेन्द्रदेव ने उससे हिन्दी अनुवाद किया है। परन्तु अब वह मूल में काशीप्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना से प्रकाशित हुआ है।

सम्बद्ध कोशस्थान परिशिष्ट के रूप में शायद दिया गया है। वसुबन्धु को अपनी रचना इतनी प्रिय रही कि उन्होंने स्वयं उसपर अपना भाष्य भी लिखा है। इसी पर आचार्य यशोमित्र ने 'स्फुटार्था' व्याख्या लिखी है। यह रचना हीनयान और महायान दोनों ही निकायों में आदर की दृष्टि से देखी जाती है।

अभिधर्मकोश के पूर्व धर्मश्री आचार्य की रचना **'अभिधर्मसार'** मिलती है जिस पर भदन्त धर्मत्रात ने अपना विस्तृत संस्करण लिखा था और जिस पर आचार्य वसुबन्धु ने व्याख्या लिखी थी। 'अभिधर्मसार' वैभाषिकों के मुख्य ग्रन्थों में से एक है।

'अभिधर्मामृत' चीनी भाषा से संस्कृत में हाल ही में प्रकाश में लाया गया है। यह संस्कृत में रचा गया था। इसके लेखक आचार्य घोषक माने जाते हैं।

महावस्तु या महावस्तु अवदान—यह हीनयान और महायान के मध्य एक सेतु है। यह महासाङ्घिक लोकोत्तरवादियों का विनय ग्रन्थ है। महावस्तु में पाली महावग्ग की तरह बुद्ध की जीवनी और संघ स्थापना का वर्णन मिलता है। महावस्तु के प्रारम्भ में ही बोधिसत्त्वों की चार चर्याओं का वर्णन किया गया है जिन्हें पूर्ण करना बोधिसत्त्व के लिए बुद्धत्व प्राप्त करने के निमित्त अनिवार्य होता है।

महावस्तु में भगवान् को लोकोत्तर कहा गया है। बोधिसत्त्व माता-पिता से उत्पन्न नहीं होते, वे देवों की तरह औपपादुक हैं। इनका शरीर, आहार, चीवर-धारणादि सभी लोकोत्तर हैं। यह समय ही हीनयान से महायान की ओर संकेत करता है। महावस्तु में भक्ति का प्राधान्य है। इसका प्रमुख उद्देश्य बुद्ध के जीवन-चरित को प्रस्तुत करना है। इस तरह महावस्तु हीनयान का ग्रन्थ-विशेष होते हुए भी महायान के सिद्धान्तों से अनुप्राणित है।

'ललितविस्तर' नव वैपुल्यों में से एक है। इसे महायान में अन्यतम श्रद्धा से पूजा जाता है। लगता है, यह ग्रन्थ पूर्व में सर्वास्तिवाद निकाय का ग्रन्थ रहा है। भगवान् बुद्ध ने पृथ्वी पर जो क्रीडा या लीला की थी इसमें उसका वर्णन होने से इसे 'ललितविस्तर' कहते हैं।

'ललितविस्तर' का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ हीनयान के ग्रन्थों के अति निकट है। यह हो सकता है कि किसी मूल प्राचीन ग्रन्थ का यह रूपान्तर हो और बाद में यह महायान ग्रन्थ के रूप में परिणत और परिवर्धित हुआ हो। ललितविस्तर गद्य-पद्य-मय ग्रन्थ है। गद्य के बीच बीच में गाथाएँ दी गई हैं जो ग्राम्य गीत प्रस्तुत करती हैं तथा 'सुत्तनिपात' की तरह अति प्राचीन भी हैं। ग्रन्थ में आए बुद्ध का जन्म, असित ऋषि की कथा, *बिम्बसारोपसंक्रमण* एवं *'मार-परिसंवाद'*

तथा 'धर्मचक्रप्रवर्तन' आदि अंश बौद्ध निकायों से मिलने के कारण इसकी भी प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। इसके अलावा इसमें कुछ नवीन अंश भी हैं जो महायान मत को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार यह महाग्रन्थ हीनयान और महायान दोनों के मध्य धुरी का कार्य करता है। यह विशेषतः महायान का ग्रन्थ होते हुए भी हीनयान के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है।

अभिधर्मदीप तथा वृत्ति—इसके लेखक के बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु वह कदाचित् विमलमित्र नामक कश्मीरी विद्वान् था जिसके बारे में युवानच्वांग (चीनी यात्री) ने लिखा है कि उसने वसुबन्धु के विचारों का प्रतिवाद करने के लिए एक ग्रन्थ लिखा था।

इस ग्रन्थ में वैभाषिक मत का प्रतिपादन किया गया है और सौत्रान्तिकों तथा महायानियों के सिद्धान्तों का खण्डन। इस प्रकार यह पूर्णतः वैभाषिक ग्रन्थ है।[1]

इसी तरह आचार्य अश्वघोष ने जिन 'बुद्ध चरित' आदि ग्रन्थों की रचना की है वे भी सर्वास्तिवादी सिद्धान्तों तथा महायानी भक्ति-भावना से ओतप्रोत हैं। इस प्रकार आचार्य अश्वघोष तक हीनयान सर्वास्तिवादी होते हुए भी महायान के प्रभाव से बच न सका। उस समय महायान का प्रभाव जोरों पर था, फिर भी हीनयान महायान के साथ-साथ चल रहा था।[2] इतना जरूर है कि लोकाचार और लोकाकर्षण ने उपर्युक्त ग्रन्थकारों को इतना अधिक प्रभावित किया कि वे अपने को अन्य मत वाले मानते हुए भी तत्कालीन महायान के प्रभाव से अछूते न रह सके।

यहाँ एक बात और ध्यान रखने की है कि 'मंजुश्री-मूलकल्प' रचना को छोड़कर एक भी बौद्ध ग्रन्थ भारत की सीमा के भीतर प्राप्त नहीं हुआ है। आज हम जिस बौद्ध साहित्य का अध्ययन करते हैं वह हमें भारत के बाहर लंका, बर्मा, स्याम, नेपाल, तिब्बत के चैत्यों एवं विहारों से प्राप्त हुआ है। चीन और तिब्बत से प्राप्त सूचियों में उल्लिखित ग्रन्थों से इस विशाल बौद्ध साहित्य के विस्तार का पता चलता

1. यह ग्रन्थ डॉ० पद्मनाभ जैनी द्वारा सम्पादित तथा काशीप्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना द्वारा प्रकाशित किया गया है।
2. हीनयानी और महायानी सम्प्रदायों के अनुयायी विहारों में कभी-कभी साथ-साथ भी रहते थे, ऐसे उल्लेख चीनी यात्रियों ने अपने यात्रा-वर्णन में किये हैं। देखिये : बील द्वारा चीनी से अनुवादित बुद्धिस्ट रेकार्ड ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० 225 तथा और कई पृष्ठ जिनमें हीनयानी और महायानी निकायों के माननेवालों के साथ-साथ रहने की चर्चा है।

है। इसके साथ ही मध्य एशिया और गिलगित में किया गया पाण्डुलिपियों पर अन्वेषण तथा तिब्बत से स्वर्गीय महापण्डित राहुल सांकृत्यायन और इटली के विद्वान् प्रोफेसर टुची द्वारा लायी गयी बौद्ध ग्रन्थ-राशि से बौद्ध साहित्य की विपुलता का पता चलता है।[1]

2. बुद्ध-पूर्व धार्मिक स्थिति

बुद्ध के पूर्व भारत में अनेक अन्धविश्वास एवं मतवाद फैले हुए थे। 'दीघनिकाय' के ब्रह्मजालसुत्त में इन मतवादों को 62 मिथ्या दृष्टियों में गिनाया गया है जो पूर्वान्त, अपरान्त और पूर्वापरान्त, इन तीन विभागों में विभाजित की गयी हैं, जैसे :—

पूर्वान्त में शाश्वतवात, नित्यानित्यतावाद, सान्तानन्तवाद, अमराविक्षेपवाद और अकारणवाद, ये पाँच वाद थे। ये धारणाएँ लोक और आत्मा के शाश्वतत्व और अशाश्वतत्व को लेकर थीं। कुछ श्रमण और ब्राह्मण आतप, प्रधान, अनुयोग, अप्रमाद और सम्यक् मनीसकार, इनसे युक्त होकर इस लोक और आत्मा को कूटस्थ, नित्य, अनित्य, अन्त, अनन्त और अकारण ही मानते थे। वे यह भी मानते थे कि सत्त्व दौड़ते हैं, संसरण करते हैं, च्युत होते हैं और मरते हैं। पूर्वान्त में उपर्युक्त पाँचों मतवादों में 18 मिथ्या धारणाएँ अन्तर्भूत हो जाती हैं।

अपरान्त में 44 धारणाएँ गिनायी गयी हैं और उन्हें भी पाँच भागों में बाँटा गया है : मरणान्तर होशवाला आत्मा अर्थात् सत्त्व के मरने पर उसकी चेतना शेष रहती है, इसे माननेवालों का मत; मरणान्तर बेहोशवाला आत्मा अर्थात् मरने के बाद सत्त्व की चेतना भी नहीं रहती; मरणान्तर न होशवाला और न बेहोशवाला आत्मा; आत्मा का उच्छेद तथा दृष्टधर्मनिर्वाणवाद[2] इत्यादि। उच्छेदवादियों का कहना था कि 'सत्त्व चार महाभूतों से बना है और मरने के बाद उन्हीं में मिल जाता है'। तथा दृष्टधर्मनिर्वाणवादी मानते थे कि 'सत्त्व को इसी जन्म में उसके देखते-देखते ही वह निर्वाण लाभ करता है।'

इस तरह ये 62 दृष्टियाँ बुद्ध-पूर्व युग में या बुद्ध के ही समय में प्रचलित थीं जिनमें फँसे रहने के कारण इन मतों के विचारक संसार वा आत्मा के सच्चे स्वरूप को नहीं समझ पाते थे। भगवान् बुद्ध ने इन सबको व्यर्थ समझा और उन्होंने कहा कि

---

1. राहुल सांकृत्यायन द्वारा तिब्बत से लाई गई पाण्डुलिपियाँ तथा उनके फोटोग्राफों पर कई भारतीय विद्वान् काम कर रहे हैं और धीरे धीरे बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ काशीप्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना द्वारा प्रकाशित हो रहे हैं।
2. अर्थात् इसी जन्म में निर्वाण प्राप्त करना।

यदि सत्त्व लोक और आत्मा के आदि और अन्त या नित्यत्व के विषय में फँसा रहेगा तो उसे संसार से कभी भी छुटकारा नहीं मिल सकता। अतः उसे चाहिए कि वह दुःख के स्वरूप को समझे और उससे निवृत्ति का उपाय कर निर्वाण-लाभ करे।

बुद्ध के समकालीन छह तीर्थङ्कर

'दीघनिकाय' के सामञ्ञफलसुत्त में बतलाया गया है कि उपर्युक्त 62 मिथ्या दृष्टियों के अतिरिक्त उत्तर भारत में छह प्रबल दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने-वाले मत थे, अर्थात् (1) अक्रियावाद, (2) दैववाद, (3) अकृतवाद, (4) उच्छेदवाद अथवा भौतिकवाद, (5) अनिश्चिततावाद और (6) चतुर्यामसंवर।

(1) **अक्रियावाद**—इस दार्शनिक मत के संस्थापक एवं प्रचारक पूर्णकाश्यप थे। थे इस वाद के तीर्थंकर कहलाते थे। बुद्ध-परिषद् में सम्राट् अजातशत्रु बुद्ध को पूर्ण-काश्यप से हुई अपनी भेंट का ब्यौरा सुनाते हैं, जिसमें बतलाया गया है कि पूर्णकाश्यप का मत था कि किसी अच्छे-बुरे कार्य का कोई भी अच्छा अथवा बुरा फल नहीं होता। दान, शील, यम-नियम, संयम, तप और परोपकार आदि कार्यों में कोई पुण्य नहीं है। हिंसा, झूठ, चोरी, काममिथ्याचार आदि में कोई पाप नहीं है।

इनका कहना था कि 'कोई भी व्यक्ति अपने आप कोई क्रिया नहीं करता। अतएव अक्रिय होने से उसे पुण्य-पाप का भी दोष नहीं लगता।' इस तरह पूर्णकाश्यप द्वारा अक्रियत्व का प्रतिपादन किए जाने के कारण इनका मत 'अक्रियावाद' कहा गया है।

(2) **दैववाद या नियतिवाद**—नियतिवाद के तीर्थंकर **मक्खलि गोसाल** थे। इन्हें दैववादी भी कहते हैं। ये और इनके शिष्य दैव पर ही भरोसा रखते थे। कर्म अर्थात् पुरुषार्थ में इनका तनिक भी विश्वास नहीं था। ये अकर्मण्यवादी थे। इनका कहना था कि सत्त्व के क्लेशों का और उनकी शुद्धि का कोई कारण नहीं है। सत्त्व स्वयं अपनी या दूसरों की शक्ति से कुछ भी नहीं कर सकता, उसमें बल नहीं है, वीर्य और पराक्रम नहीं है। सभी प्राणी निर्बल और असहाय हैं। भाग्य और संयोग के फेर में पड़कर सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। यही मक्खलि गोसाल का नियतिवाद तथा अहेतुवाद है।

मक्खलि गोसाल की विस्तृत चर्चा जैन आगमों में मिलती है। वहाँ बतलाया गया है कि मक्खलि गोसाल प्रारम्भ में निर्ग्रन्थनाथपुत्र महावीर के शिष्य थे। किसी विषय पर विवाद हो जाने के कारण मक्खलि गोसाल महावीर से अलग हो गए और

इन्होंने एक नये सम्प्रदाय की रचना की, जो गोसाल की मृत्यु के बाद ही समाप्त हो गया। इनका यह मतवाद केवल ग्रन्थों तक ही सीमित रह गया।

(3) **अकृतवाद**—इसके संस्थापक **प्रकुध कात्यायन** माने जाते हैं। ये अकृत-वादी या सप्तकायवादी थे। इनका कहना था कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीव, ये सब अकृत, अनिमित्ति और अचल हैं। ये कभी न विकार को प्राप्त होते हैं और न परस्पर हानि पहुँचाते हैं। यहाँ न कोई मारनेवाला है, न मरनेवाला, न कोई सुननेवाला है, न कोई सुनानेवाला इत्यादि। यही इनका अकृतवाद है। ये आध्यात्मिक जीवन की आवश्यकता स्वीकार नहीं करते। इनका मत समाज-विरोधी और नीति-विरोधी-सा प्रतीत होता है।

(4) **उच्छेदवाद अथवा भौतिकवाद—अजित केशकम्बली** भौतिकवादी थे। यही इसके जन्मदाता थे। इनके अनुसार संसार में किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। पाप-पुण्य का न कोई फल है, न स्वर्ग आदि की कोई रचना है। मरने के बाद व्यक्ति जिन चार महाभूतों से निर्मित हुआ है उन्हीं में विलीन होता है। ये आत्मा की सत्ता मानना व्यर्थ समझते हैं। इस मत से ऐसा लगता है कि इससे चार्वाक दर्शन का अभ्युदय हुआ, जो भारतीय षड्दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

(5) **अनिश्चिततावाद**—इस दार्शनिक मत के संस्थापक **संजय वेलट्ठिपुत्त** थे। इनके मत को संदेहवाद भी कहा गया है। इनका कहना था कि कोई भी तत्त्व, जैसे परलोक, देवता, पुण्य, अपुण्य होता है या नहीं होता, मैं नहीं कह सकता क्योंकि न मैंने परलोक देखा है, न देवता आदि को; तब कैसे कहूँ कि इनका अस्तित्व है या नहीं।

यह सन्देहवाद भी अपने समय में काफी पनप रहा था किन्तु संजय वेलट्ठिपुत्त के साथ ही यह निकाय भी नाममात्र शेष रह गया।

संजय वेलट्ठिपुत्त के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का कहना है कि ये वे ही आचार्य थे जिनके बौद्ध बनने से पहले शारिपुत्र और मौद्गलायन प्रधान शिष्यों में से थे। जो भी हो, किन्तु इतना सत्य है कि बुद्ध युग में सन्देहवाद भी अपने चरम स्तर पर फैला हुआ था और इसके माननेवाले भी बहुसंख्यक थे।

(6) **चतुर्यामसंवर**—बौद्ध धर्म की दृष्टि से, जैसा **दीघनिकाय** के श्रामण्यफलसुत्त में आता है, चतुर्यामसंवर के प्रवर्तक एवं विचारक जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर थे। उपर्युक्त सुत्त में वे 'निगण्ठनाथपुत्त' से अभिहित हैं। आगे सुत्त में कहा गया है कि ये चार प्रकार के संयम को मानते थे (1) जीव-हिंसा के भय से जल के व्यवहार का संयम करना, (2) सभी पापों का वारण करना, (3) सभी पापों के वारण

में सदा लगे रहना, (4) सभी पापों का वारण करने के कारण धूतपाप (पापरहित) होना। इसी से निर्ग्रन्थनाथपुत्र को गतात्मा, संयमी और स्थितात्मा कहा गया है।

निर्ग्रन्थ कायिक कर्मों पर अधिक जोर देते थे। तपस्या का इनके यहाँ अधिक महत्त्व था। इन्होंने साधना के बल पर ही सर्वज्ञता प्राप्त कर ली थी। बौद्ध निकाय ग्रन्थों में निर्ग्रन्थ की सर्वज्ञता का काफी मखौल उड़ाया गया है।

उपर्युक्त छह सम्प्रदायों में से केवल एक निर्ग्रन्थनाथपुत्र का सम्प्रदाय शेष रहा है। अन्य सभी सम्प्रदाय बौद्ध धर्म का उदय होते ही अस्त हो गये।[1]

3. बुद्ध का संक्षिप्त जीवनचरित

ई० पू० 623 में भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ। इनके पिता शुद्धोदन, कोशल के अधीन सूर्यवंशी राजा थे, जो शाक्य गणतन्त्र के प्रमुख शासक थे। इनकी माता महामाया कपिलवस्तु से अपने मायके देवदह जा रही थीं तो लुम्बनी वन में सुपुष्पित दो शाल वृक्षों के बीच में बुद्ध का जन्म हुआ। अशोक ने ढाई सौ वर्ष बाद बुद्ध के जन्मस्थान पर जो स्मारक बनवाया, वह आज भी इस घटना का प्रतीक है।

जब राजकुमार सिद्धार्थ तरुण हुए तब वे संसार से कुछ विरक्त तथा अधिक विचारमग्न रहने लगे। इसे देखकर महाराजा शुद्धोदन डर गए कि कहीं मेरा बच्चा साधुओं के संसर्ग में आकर घर से बेघर न हो जाय। इसके लिए उन्होंने कोलिय गणतन्त्र की राजकुमारी यशोधरा से उनका विवाह कर दिया। विवाह के कारण सिद्धार्थ कुछ दिन और घर ठहर गये। इसी बीच इन्हें एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। कहा जाता है, जब उन्हें पुत्र-जन्म की सूचना दी गई तो उन्होंने अपना मार्ग का रोड़ा (= राहु) समझ उसे राहुल नाम से पुकारा और इस कारण नवजात शिशु का नाम भी 'राहुल' रखा गया।

दिनों दिन सिद्धार्थ गौतम इस संसार की असारता से विरक्त होते जा रहे थे। एक समय जब वे उद्यान-विहार के लिए नगर के राजमार्ग से गुजरे तो उन्होंने एक वृद्ध को देखा जो झुक-झुककर लाठी के सहारे चल रहा था। उसके सिर के बाल पक गए थे, दाँत गिर चुके थे, शरीर पर झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं। राजकुमार ने अपने सारथी से उसके सम्बन्ध में पूछा, "क्या इसी तरह सभी को बूढ़ा होना पड़ता है?" सारथी ने कहा, "हाँ, राजकुमार जी! इस संसार का यह ध्रुव नियम है कि जो जन्मता है, वह

---

1. इसके विस्तृत वर्णन के लिए देखिए, भरतसिंह उपाध्याय, बौ० द० अ० भा० द०, पृ० 835

वृद्ध होता है और उसकी हालत इस वृद्ध की तरह हो जाती है।'' राजकुमार तुरन्त वहाँ से महल को लौट पड़े और इस पर विचार करने लगे।

दूसरे, तीसरे और चौथे दिन भी उसी तरह राजकुमार उद्यान-विहार के लिए निकले तथा उन्होंने रोगी, मृत और संन्यासी को देखा। इसके विषय में भी उन्होंने सारथी से पूछा और उसने उत्तर दिया कि संसार में जो आता है वह अवश्य ही रोगी होता है और रोग से पीड़ित हो वह तड़प-तड़पकर मरता है।

राजकुमार ने संन्यासी के गेरुए वस्त्रों एवं उसके जीवन को ही पसन्द किया। वे एक रात अपने पुत्र-पत्नी और माता-पिता को सोता छोड़कर 29 वर्ष की अवस्था में घर से निकल पड़े। इसे भगवान् का 'महाभिनिष्क्रमण' कहा गया है।

राजकुमार गौतम अनेक वर्षों तक कोशल और मगध के जंगलों में योग्य गुरु की खोज में भटकते रहे। एक दिन इनका आचार्य आराडकलाम से साक्षात्कार हुआ। आराडकलाम ध्यानमार्गी आचार्य थे, जिनके यत्र-तत्र कई आश्रम थे जिनमें इनके शिष्य नागरिकों को ध्यान की शिक्षा-दीक्षा देते थे। आचार्य ने सिद्धार्थ को भी ध्यानयोग साधना की दीक्षा दी। यहाँ राजकुमार ने ध्यान की सातवीं सीढ़ी 'आकिञ्चन्यायतन' तक का अभ्यास कर उसमें पारंगतता हासिल की थी।

बोधिसत्त्व गौतम यहीं नहीं रुके, वे इससे भी आगे बढ़कर आचार्य उद्दकरामपुत्र के पास पहुँचे जो उस समय ध्यानयोग की आठवीं सीढ़ी 'नैवसंज्ञानासंज्ञायतन' की शिक्षा देते थे। यहाँ उन्होंने ध्यान की आठवीं सीढ़ी भी पार कर ली, फिर भी वे सन्तुष्ट नहीं हुए। तदनन्तर बोधिसत्त्व अनुत्तर शांतिवर पद की प्राप्ति के लिए **'बोध-गया'** के पास उरुवेला में आये और नैरञ्जना नदी के तट पर समाधिस्थ हो गये। इनका विचार था कि 'मुझमें भी श्रद्धा है, वीर्य है, स्मृति और प्रज्ञा है, मैं स्वयं धर्म का साक्षात्कार कर सकता हूँ।' गौतम ने यहाँ मध्यम मार्ग (अर्थात् न अधिक उपभोग, न शरीर को अधिक कष्ट देना) का सहारा लिया, सुजाता के कर-कमलों से खीर खायी और समाधि में वे लीन हो गये। यह दिन वैशाख पूर्णिमा का दिन था। गौतम ने इसी दिन रात्रि के अन्तिम याम में चार आर्य सत्यों का साक्षात्कार किया और वे अपने जीवन के 36वें वर्ष में बोधिलाभ कर 'सम्यक् सम्बुद्ध' बन गये थे।

बुद्ध होने के बाद इन्होंने सबसे पहला उपदेश अपने पुराने साथी अपने उन्हीं पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को दिया जो उन्हें अनशन त्यागने के कारण पतित समझकर छोड़कर चले गये थे। बुद्ध ज्ञान से उनके निवास को जानकर ऋषिपत्तन मृगदाव (सारनाथ) पहुँचे और अपना पहला उपदेश उन्हें ही दिया। उन्होंने कहा कि "इन दो अतियों

का सेवन नहीं करना चाहिए : (1) काम-सुखों में अधिक लिप्त होना और (2) शरीर से कठोर साधन करना ।[1] इन्हें छोड़कर जो मध्यम मार्ग मैंने खोज निकाला है उसका सेवन करना चाहिए! यह मध्यम मार्ग आँख देनेवाला, ज्ञान करानेवाला और शान्ति देनेवाला है ।" यह बुद्ध का प्रथमोपदेश बौद्ध जगत् में '**धर्मचक्रप्रवर्तन**' के नाम से प्रसिद्ध है ।

इस तरह भगवान् गौतम ने अपना सारा जीवन धर्म के प्रचार एवं प्रसार में लगा दिया और 45 वर्षों तक मध्यमण्डल में विचरण कर सद्धर्म का उपदेश दिया। बौद्ध धर्म गौतम बुद्ध के समय ही चारों ओर फैल गया था। वैशाख पूर्णिमा के दिन ही बुद्ध 80 वर्ष की अवस्था में मल्ल गणतन्त्र की राजधानी कुशीनर में परिनिर्वाण को प्राप्त हुए थे ।

यद्यपि बुद्ध ने किसी सम्प्रदाय-विशेष को खड़ा करने की दृष्टि से बौद्ध संघ की स्थापना नहीं की थी, फिर भी उनके समय में एक विशालकाय बौद्ध-भिक्षु-संघ बन गया था जिसने बुद्ध-परिनिर्वाण के एक सप्ताह बाद ही सद्धर्म के स्थायित्व के लिए एक बौद्ध संगीति का आयोजन किया था ।

इस संगीति का उद्देश्य मात्र सद्धर्म का संग्रह करना था । यह संगीति सम्राट् अजातशत्रु के संरक्षण में राजगिरि के वैभार पर्वत की सप्तपर्णी गुफा में हुई थी । इसके अध्यक्ष महास्थविर महाकाश्यप थे । इसमें 500 अर्हत् भिक्षुओं ने भाग लिया था । उपालि ने धर्म का और आनन्द ने विनय का संगायन किया था ।

इसके सौ वर्ष बाद ही विनय के दस नियमों को लेकर वैशाली में द्वितीय संगीति हुई । इस संगीति राजा 'कालाशोक' के शासन-काल के 11 वें वर्ष में वैशाली के बालुकराम उद्यान में, रेवत महास्थविर की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई थी । संगीति में 700 अर्हतों ने भाग लिया । इसे सप्तशतिका कहते हैं । यह आठ मास तक होती रही । इसमें तीनों पिटकों, 5 निकायों, 9 अंगों तथा 84,000 धर्मस्कन्धों का भी संगायन किया गया था । इस संगीति में चर्चा का मुख्य विषय विनय सम्बन्धी दस नियम थे !

तदनन्तर सम्राट् अशोक के दिनों में पाटलिपुत्र में मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में तीसरी संगीति भी हुई । इस संगीति में तीन पिटक अपने यहाँ सही स्वरूप

---

1. द्वे मे भिक्खवे अन्ता पब्बजितेन न सेवितब्बा । कतमे द्वे ? यो चयं कामेसुकाम-सुखल्लिकानुयोगो हीनो गम्मो पोथुज्जनिको अनरियो अनत्थ संहितो यो चायं अत्तकिलमथानुयोगो दुक्खो अनरियो अनत्थसंहितो ।—विनय०, 1/10

में आये और तृतीय पिटक 'अभिधम्मपिटक' के अन्तिम ग्रन्थ 'कथावस्तु' की भी रचना की गयी। इस ग्रन्थ-विशेष में अष्टादश निकायों के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है और केवल स्थविरवाद के दृष्टिकोण का प्रतिपादन हुआ है।

4. बौद्ध सिद्धान्त

(क) चार आर्य सत्य

आर्य अर्थात् 'अर्हत्' ही जिन्हें सत्यरूप से जानते हैं उन्हें **'आर्य सत्य'** कहते हैं। 'अभिधर्मकोशभाष्य' में आचार्य वसुबंधु ने कहा है कि आर्यजन छोटे से भी दुःख से उद्वेलित हो जाते हैं, पृथक् जन नहीं, जैसे ऊन के धागे का सिरा जब हथेली पर होता है तब सत्त्व उसे अनुभव नहीं करता किन्तु वही जब आँख में पड़ जाता है तब बड़ी पीड़ा उत्पन्न करता है। यहाँ पृथक् जन हथेली के समान हैं जो दुःखरूपी धागे के सिरे को नहीं समझते और विद्वज्जन आँख के समान हैं जो (थोड़े ही) दुःख से बहुत उद्विग्न हो जाते हैं।[1] अतः मूढ़ जन को नरक तक में दुःखबुद्धि नहीं होती, किन्तु आर्य जन को श्रेष्ठ लोक (भवाग्र) में भी दुःख बुद्धि होती है।

चार आर्य सत्यों का परम्परागत वर्णन इस क्रम से दिया गया है :—

(1) दुःख आर्य सत्य, (2) दुःखसमुदय आर्य सत्य, (3) दुःख निरोध आर्य सत्य और (4) दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद् आर्य सत्य।

चार आर्य सत्यों का विस्तृत निरूपण भगवान् बुद्ध की भारतीय दर्शन को महत्त्वपूर्ण देन है। इसकी कुछ समानता 'योगशास्त्र' से देखी जा सकती है। महर्षि व्यास और आचार्य विज्ञानभिक्षु का कहना है कि 'अध्यात्म शास्त्र' भी चिकित्सा शास्त्र की तरह चतुर्व्यूह है। जिस तरह चिकित्सा शास्त्र में रोग, रोगहेतु, रोगनिदान (आरोग्य) और रोगनिदानोपाय (भैषज्य) हैं, उसी तरह अध्यात्म क्षेत्र में भी संसार (अर्थात् दुःख), संसार-हेतु (दुःखसमुदय), मोक्ष (दुःखनिरोध) और मोक्षोपाय (दुःख-निरोध का उपाय या मार्ग) ये चार सत्य हैं। जैसे वैद्य सत्त्व की नाड़ी देखकर उसके रोग एवं रोग के कारण को जानकर तथा उसके निदान को समझकर दवा (निदानोपाय) से उसके रोग को दूर कर देता है, वैसे ही सम्यक् सम्बुद्ध भी सत्वों के दुःख, उसका हेतु, निदान और उसके निदान के उपाय को जानकर चार आर्य सत्यों को

---

1. ऊर्णापक्ष्म यथैव हि करतलसंस्थं न वेद्यते पुम्भिः
   अक्षिगतं तु तथैव हि जनयत्यरतिं च पीडां च।
   करतलसदृशो बालो न वेत्ति संस्कारदुःखतापक्ष्म
   अक्षिसदृशस्तु विद्वांस्तेनैवोद्वेज्यते गाढम् ॥—अभिधर्मकोशभाष्य, पृ० 329

बतलाते हैं जिनका सत्त्व स्वयं अपने ज्ञान से साक्षात्कार कर सकता है। इसी कारण बुद्ध को महाभिषक् (=वैद्यराज) भी कहा गया है।

(1) **प्रथम आर्य सत्य—दुःख**—पालि एवं संस्कृत बौद्ध साहित्य में प्रायः दुःख की व्याख्या एक समान ही की गई है। भगवान् बुद्ध कहते हैं, जन्म लेना, बूढ़ा होना, मरना, शोक करना, रोना-पीटना, पीड़ित होना, चिन्ता करना, परेशान होना, इच्छित वस्तु की प्राप्ति न होना, दुःख है। संक्षेप में, पाँचों ही उपादान स्कन्ध, यथा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान भी, जिससे यह सत्त्व बना हुआ है, वह भी दुःख है।

"जातिपि दुक्खा, जरापि दुक्खा, मरणम्पि दुक्खं, सोकपरिदेवदोमनस्सुपायासापि दुक्खा अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभते तम्पि दुक्खं सङ्खित्तेन पञ्चूपादानक्खन्धापि दुक्खा।"[1]

यह दुःख तीन विभागों में विभाजित किया गया है—(1) दुःखदुःखता, (2) सस्कार-दुःखता और (3) विपरिणाम-दुःखता। जो स्वभाव से ही दुःख-रूप हैं वे उत्पत्ति और स्थिति में दुःखकारक होने से परिणाम में भी दुःखकारक होते हैं। यही दुःखदुःखता है। विपरिणाम में दुःख रूप होने से मनाप अर्थात् मन को अच्छे लगने वाले सभी संस्कार संस्कार-दुःख हैं और अमनाप अर्थात् मन को अच्छे न लगनेवाले संस्कार दुःखरूप होने से दुःखप्रद हैं। जो सुखोत्पादक संस्कार हैं वे उत्पत्ति और स्थिति में सुखकारक होते हुए भी परिणाम में दुःखद ही हैं। अदुःखा और असुखवेदना संस्कार से ही दुःखकारक हैं। इसी से कहा गया है कि सभी संस्कार संस्कार-दुःख होने से दुःख हैं। 'धम्मपद' में भी कहा गया है कि सुख मानने से दुःख और भय उत्पन्न होता है क्योंकि समस्त संसार आग से जल रहा है तब उसमें आनन्द का अवसर ही कहाँ?[2] पृथ्वी पर ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ पर मृत्यु का शासन न हो। जीवन दुःखों से परिपूर्ण है। सभी वस्तुएँ जो उत्पन्न हुई हैं, दुःख, अनित्य और अनात्म रूप हैं।[3] जन्म

---

1. देखिये, दीघनिकाय, जिल्द 2, पृ० 305, मज्झिमनिकाय, जिल्द 3, पृ० 250; विनयपिटक, पृ० 10
2. को नु हासो किमानन्दो, निच्चं पज्जलिते सति।
   अन्धकारेन ओनद्धा, पदीपं न गवेसथ॥—ध० प०, 146
3. सब्बे सङ्खारा अनिच्चा ति····।—वही, 277
   सब्बे सङ्खारा दुक्खा ति····।—वही, 278
   सब्बे धम्मा अनत्ता ति····।—वही, 279

जरा, रोग, मृत्यु, शोक, क्लेश, आकांक्षा और नैराश्य, सभी आसक्ति से उत्पन्न हैं अतः वे सभी दुःख हैं।

संसार में जो कुछ भी सुख की सामग्री दिखलायी पड़ती है वह सब विना संस्कार-दुःखता के प्राप्त नहीं हो सकती क्योंकि उनकी प्राप्ति के लिए अनेक कष्टसाध्य प्रयत्न करने होते हैं। अतः वे सभी प्रयत्न संस्कार-दुःख हैं। सत्त्व सुख, लाभ के लिए एकानेक दान, पूजा, अर्चना, भेंट, शील, आचार आदि पुरुषार्थ करते हैं। ये सभी दान आदि प्रयत्न भी संस्कार-दुःख ही हैं। अतः दुःख हेय है, त्याज्य है।

(2) **दुःखसमुदय आर्य सत्य**—दूसरा आर्य सत्य दुःखसमुदय है। समुदय का अर्थ 'कारण' है—दुःखसमुदय अर्थात् 'दुःख का कारण'। संसार में दुःख ही नहीं है बल्कि उसका कारण भी है। बिना कारण के कार्य नहीं होता। जब कार्य है तब उसका कारण भी अवश्य है।

दुःख का कारण तृष्णा है। तृष्णा ही एक ऐसी है जो (सत्त्व का) पुनर्भव करानेवाली है, नन्दी (=आसक्ति) और राग से युक्त है, वहाँ वहाँ (तत्रतत्र) आनन्द खोजनेवाली है। जन्म और मरण के चक्र को चलानेवाली तृष्णा ही दुःख का मूल कारण है। तृष्णा ही इन्द्रिय-सुख के साथ कभी यहाँ कभी वहाँ आनन्द खोजनेवाली कामनारूप दुःख का कारण है।

तृष्णा भी तीन प्रकार की बतलायी गयी है :—(1) काम-तृष्णा, (2) भव-तृष्णा और (3) विभव-तृष्णा। काम अर्थात् विषयों का भोग[1] करनेवाले धर्म को 'काम' कहते हैं। इसकी आसक्ति ही 'काम-तृष्णा' कहलाती है। काम के लिए ही एक राजा दूसरे राजा से, क्षत्रिय क्षत्रिय से, ब्राह्मण ब्राह्मण से, गृहपति गृहपति से, माता पुत्र से, पुत्र माता से, पिता पुत्र से, पुत्र पिता से, भाई भाई से, बहिन भाई से, भाई बहिन से, और मित्र मित्र से लड़ते हैं; वे आपस में कलह करते हैं, विग्रह और विवाद करते हैं। एक दूसरे पर हाथ से, दण्ड से और शस्त्र से भी आक्रमण करते हैं। वे मर जाते हैं और अन्त में भी मरण-समान दुःखों को प्राप्त करते हैं। यही काम-तृष्णा है।

शाश्वत दृष्टि को 'भव' कहते हैं क्योंकि यह आत्मा नित्य है, निरन्तर रहने-वाली है, इस दृष्टि से संसार में बारम्बार जन्मने की जो इच्छा है, यही '**भव-तृष्णा**' है। और उच्छेद दृष्टि '**विभव**' कहलाती है, अर्थात् यह आत्मा मरने के बाद उच्छिन्न

1. इसमें पाँच इन्द्रियों के विषय, यथा रूप, शब्द, रस, गन्ध, स्पर्श तथा मन का विषय, कोई भी विचार जिसे 'धर्म' शब्द से अभिहित किया जाता है, आ जाते हैं।

हो जाती है नष्ट हो जाती है। इस दृष्टि के साथ होनेवाली तृष्णा को **'विभव-तृष्णा'** कहते हैं। यही दुःखसमुदय है।

(3) **दुःखनिरोध आर्य सत्य**—निःशेष दुःख के रोध अर्थात् रुक जाने को दुःख-निरोध कहते हैं। दुःख के कारण का नाश हो जाना 'दुःखनिरोध' है। दुःखनिरोध में तृष्णा का निरवशेष प्रहाण हो जाता है, उससे मुक्ति हो जाती है, उसका वहाँ कोई स्थान नहीं रह जाता, यत्र-तत्र तृष्णा का जो आनन्द खोजना है उसका अवशेष प्रहाण हो जाता है। उस तृष्णा का प्रतिनिःसर्ग, व्यन्ती भाव, क्षय, विराग, निरोध, व्युपशम और अस्तंगम ही दुःखनिरोध है।

तृष्णा का नाश होने से 'उपादान' का निरोध होता है, 'उपादान' के निरोध से 'भव' का, 'भव' से जाति, जरा-मरण, शोक, दुःख, दौर्मनस्य और उपायास का भी निरोध हो जाता है। इस प्रकार समस्त दुःख का निरोध हो जाने से 'निर्वाणलाभ' होता है।

राग-द्वेष एवं मोह के क्षय को निर्वाण कहते हैं। यह दृष्टि भव-निर्वाण है। इसी जन्म में इसका साक्षात्कार कर निर्वाण-सुख का अनुभव किया जा सकता है। अर्हत् ही निर्वाण-सुख का अनुभव करते हैं। निर्वाण ही बौद्ध धर्म का अन्तिम लक्ष्य है।

(4) **दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद् आर्य सत्य**—प्रतिपद् का अर्थ है 'मार्ग'। दुःख-निरोध करने के उपायभूत मार्ग को ही दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद् कहते हैं। इस मार्ग के आठ अङ्ग हैं :—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। इस मार्ग पर आरूढ़ होकर ही सत्त्व अपने दुःखों का निरोध कर निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग

दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद् के आठों अङ्गों को ही **'आर्य अष्टांगिक मार्ग'** भी कहा जाता है। वे आठ अंग हैं—(1) सम्यग्दृष्टि, (2) सम्यक् संकल्प, (3) सम्यक् वाक् (4) सम्यक् कर्मान्त, (5) सम्यक् आजीव, (6) सम्यक् व्यायाम, (7) सम्यक् स्मृति और (8) सम्यक् 'समाधि'।

यह अष्टाङ्गमार्ग बौद्ध धर्म का 'आचार मार्ग' है। यह मार्गों में श्रेष्ठ है—**'मग्गानं अट्ठङ्गिको सेट्ठो'**। भगवान् बुद्ध ने अपने प्रथम धर्मोपदेश 'धर्मचक्र-प्रवर्तन' में इसी मार्ग का सदुपदेश दिया था।

'शील', 'समाधि' और 'प्रज्ञा', ये तीनों बौद्ध धर्म की आधार-शिला हैं जिनके अभ्यास से तृष्णा का निरोध किया जाता है। सभी पापों का न करना, सभी अकुशल

कर्मों को नहीं करना, अकुशल कर्मों की ओर प्रवृत्ति न करना, समस्त तृष्णाओं का निरोध करना ही शील है। तृष्णा-निरोध से समस्त सांसारिक विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, क्लेशों का निरोध हो जाता है और शील के आचरण से भिक्षु अर्हत्त्व-प्राप्ति के लिए अग्रसर होता है। वह राग-द्वेष एवं मोह को दूर करनेवाली प्रथम सीढ़ी 'स्रोत आपन्न', द्वितीय 'सकृदागामी' अर्थात् इस लोक में पुनः एक बार जन्म लेकर निर्वाण-लाभ करता है और आगे भी साधना द्वारा बढ़ता हुआ 'अनागामी' (= यहाँ न आकर वहीं से, स्वर्गादि से ही निर्वाण-लाभ करना) और अन्तिम चतुर्थ 'अर्हत्त्व' को प्राप्त करता है।

समाधि का अर्थ 'कुशल चित्त की एकाग्रता' है। समाधि में चित्त की समस्त अकुशल वृत्तियों का निरोध हो जाता है। चित्त एकाग्र हो जाता है, शान्त हो जाता है और कुशल कर्मों की ओर अभिमुख होने से प्रज्ञा-लाभ करता है। समाधि तीन तरह की बतलायी गयी हैं: शून्यता समाधि, अनिमित्त समाधि और अप्रणिहित समाधि।

शील और समाधि से प्रज्ञा की उपलब्धि होती है। प्रज्ञा-लाभ होने से अविद्या का नाश होता है। **'अभिधर्मकोशभाष्य'** में प्रज्ञा भी तीन प्रकार की कही गयी है; श्रुतमयी, चिंतामयी और भावनामयी। भावनामयी प्रज्ञा समाधिजन्य है और श्रेष्ठतम है। श्रुतमयी और चिन्तामयी प्रज्ञा से भिक्षु ध्यान-समाधि का अधिकारी होता है। **'दीघनिकाय'** के सामञ्ञफलसुत्त में आता है कि प्रज्ञा प्राप्त करनेवाले व्यक्ति को अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वह प्रज्ञावान् सत्त्वों के पूर्वजन्म का ज्ञान करने की शक्ति रखता है, परिचित्त-ज्ञान की उसमें शक्ति होती है। उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ दिव्य हो जाती हैं तथा वह दुःखक्षय अर्थात् आस्रवक्षयज्ञान-दर्शन से सम्पन्न होता है।

उपर्युक्त आठों ही अङ्ग शील, समाधि और प्रज्ञा में अन्तर्भूत हो जाते हैं; सम्यग्दृष्टि और सम्यक् संकल्प 'प्रज्ञा' में, सम्यग्वाक् सम्यक्कर्मान्त और सम्यक् आजीव 'शील' में तथा शेष सम्यग्व्यायाम,[1] सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि 'समाधि' में।

(1) **सम्यग्दृष्टि**—सम्यग्दृष्टि अष्टाङ्गिकमार्ग की प्रथम सीढ़ी है। इसका अर्थ है—ठीक अथवा यथार्थ दृष्टि। यह दर्शन और ज्ञान से उपेत होती है। वस्तुओं का जैसा स्वरूप है, उनका उसी रूप से ज्ञान और दर्शन होना ही सम्यग्दृष्टि है। लोक, परलोक, माता-पिता हैं, दान है, हुत है, अच्छे-बुरे कर्मों का फल-विपाक है, ऐसा ज्ञान होना ही सम्यग्दृष्टि है।

---

1. कुछ ग्रन्थों में 'सम्यग्व्यायाम' प्रज्ञास्कन्ध के अन्तर्गत बतलाया गया है। देखिये, **अभिधर्मकोशभाष्य, पृ० 55**

'अभिधम्मपिटक' के **'विभग'** ग्रन्थ में चार आर्य सत्यों के ज्ञान को ही "सम्यग्दृष्टि' कहा गया है। संसार दुःख से पीड़ित है, सत्त्व तृष्णा-जाल में आबद्ध है। वह इस जाल से मुक्त हो सकता है; मुक्त होने का उपाय भी है। इसे जानना, सम्यक् रूप से इनका दर्शन करना ही 'सम्यग्दृष्टि' है। जो कुशल और अकुशल को जानता है उसे भी सम्यग्दृष्टि कहा गया है।

'लौकिक' और 'लोकोत्तर' के भेद से सम्यग्दृष्टि दो प्रकार की होती है। लौकिक सम्यग्दृष्टि के भी दो भेद किये गये हैं : (1) कर्मस्वकता और (2) विपश्यना लौकिक सम्यग्दृष्टि। कुशल एवं अकुशल कर्मों के विपाक पर विश्वास कर सत्त्व ऐसा सोचता है कि यह कर्म ही अपना है; **'कर्मस्वकता लौकिक सम्यग्दृष्टि'** है। नाम और रूप धर्मों में अनित्यता, दुःखता एवं अनात्मा का विचार करने वाला ज्ञान **'विपश्यना लौकिक सम्यग्दृष्टि'** है।[1]

लोकोत्तर मार्ग एवं फल में सम्प्रयुक्त ज्ञान अर्थात् आर्य अष्टांगिक मार्ग में होनेवाला ज्ञान लोकोत्तर सम्यग्दृष्टि कहलाता है। यह लोकोत्तर सम्यग्दृष्टि भी दुःख को जानने, समुदय सत्य का प्रहाण करने, निरोध सत्य का साक्षात्कार करने और मार्ग सत्य की भावना करने से चार प्रकार की हो जाती है।

(2) **सम्यक् संकल्प**—सम्यक् संकल्प का अर्थ ठीक विचार, यथार्थ विचार अथवा चिन्तन है। सम्यक् संकल्प तीन तरह का होता है। (क) नैष्क्रम्य (=त्याग) सम्यक् संकल्प, (ख) अव्यापाद (=अद्वेष) सम्यक् संकल्प और (ग) अविहिंसा सम्यक् संकल्प।

(क) नैष्क्रम्य सम्यक् संकल्प—नैष्क्रम्य का अर्थ है बाहर निकलना। यह संसार दुःखों का घर है (सम्बाधो घरावासो), बन्धनागार है। इस कारागार से मुक्त होने के लिए जो उत्साहित होता है, चित्त में जो एतत्सम्बन्धी सद्विचार हैं वे ही नैष्क्रम्य सम्यक् संकल्प हैं।

(ख) अव्यापाद सम्यक् संकल्प—व्यापाद का अर्थ प्रायः हिंसा किया गया है, किन्तु यहाँ घृणा या द्वेष के अर्थ में ही लिया गया है। दूसरे सत्त्वों को हानि पहुँचाने की दृष्टि से उनसे दुराव करना, घृणा करना व्यापाद है। इससे विपरीत अव्यापाद होता है, अर्थात् अद्वेष। दूसरों के प्रति करुणादि भावना रखना अव्यापाद है।

---

1. लौकिक सम्यग्दृष्टि के लिए देखिए, एन० एच० साम्ताणी—अर्थविनिश्चय सूत्र, पृ० 31; तथा रेवतधम्म एवं रमाशंकर त्रिपाठी, अभिधम्मत्थसंगहो (हिन्दी, अनु०), पृ० 757

(ग) **अविहिंसा सम्यक् संकल्प**—दूसरों के प्रति प्राणघात की भावना या विचार न रखना अविहिंसा सम्यक् संकल्प है ।

इस तरह सम्यक् संकल्प में राग, हिंसा और प्रतिहिंसा के विचारों का कोई स्थान नहीं होता । सम्यक् संकल्प में महत् त्याग की प्रबल इच्छा होती है । यही शान्ति का राजमार्ग है । महायान में इसका दूसरा अर्थ मिलता है । वहाँ सम्यक् संकल्पी बोधिसत्त्व का दुर्लभ निर्घोष मिलता है जिसमें वे संसार के समस्त सत्त्वों के दुःखों को अपने कन्धों पर उठाने के लिए तत्पर दिखायी देते हैं । यही सम्यक् संकल्प है ।[1]

(3) **सम्यक् वाक्**—सम्यक् वाक् का अर्थ ठीक वचन, यथार्थ वचन है । सभी दर्शनों का इसमें एकमत है कि असत्य से बढ़कर कोई पाप नहीं है और सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है । सत्य बोलना मानव का धर्म है । प्रिय वचन बोलना ही सत्त्व का भूषण है । हमारी जैसी वाणी होगी, वैसे ही हमारे वचन भी होंगे और वैसा ही हमें ज्ञान भी होगा । अतएव यथार्थ वाणी बोलना ही सम्यक् वाक् है ।

त्रिपिटक में झूठ, पैशुन्य (चुगली), पारुष्य वचन (कठोर वाणी), सम्भिन्न-प्रलाप (व्यर्थ का बकवास) आदि से विरति ही सम्यक् वाक् कहा गया है ।

(4) **सम्यक् कर्मान्त**—सम्यक् कर्मान्त का अर्थ है ठीक कर्म अथवा यथार्थ कार्य । सत्त्वों का कर्म प्रबल होता है, कर्मों पर ही सत्त्व निर्भर है । उसके जैसे कर्म होंगे, वैसी ही उसकी गति होगी । यदि बुरे कर्म किये हैं तो नरकगामी होगा और यदि सत्कर्म किये हैं तो स्वर्ग या निर्वाण का प्राप्तक होगा ।

हिंसा, चोरी और काममिथ्याचार से विरत रहना ही सम्यक् कर्मान्त है । सम्यक् कर्मान्त के सत्त्व पाप से ऊपर उठता है और सदाचारी बनता है । सम्यक् कर्मान्त ही सत्त्व का सच्चा मित्र है ।

(5) **सम्यक् आजीव**—सम्यक् आजीव अर्थात् ठीक अथवा यथार्थ आजीविका । सम्यक आजीव का अर्थ है सत्त्वों के जीवन-यापन के सत्साधन । इस संसार में हजारों सत्त्व हजारों तरह से अपनी अपनी जीविका चलाते हैं । भगवान् बुद्ध ने स्वयं 'दीघनिकाय' के ब्रह्मजालसुत्त में सत्त्वों की नाना आजीविकाओं का वर्णन करते हुए कहा है कि सत्त्व अपने जीवन का निर्वाह कैसे कैसे साधनों को अपनाकर करते हैं ।

---

1. 'अर्थविनिश्चयसूत्र' में सम्यक् संकल्प का अर्थ दान, शील आदि क्रियाओं द्वारा बुद्धत्व-प्राप्ति करने का संकल्प बतलाया गया है । देखिये, पृ० 35

लोग विष, शस्त्र, सत्त्व, मदिरा, मांस बेचकर, झूठे नाप तौल से ग्राहकों को धोखा देकर, दासों, नौकरों एवं जानवरों का व्यापार आदि करके अपना जीवन-निर्वाह करते हैं; ये ही सब मिथ्या आजीव है और इन्हीं आजीविकाओं का सहारा न लेकर सदाचरण से जीवन-यापन करना ही सम्यक् आजीव है ।[1]

(6) **सम्यक् व्यायाम**—'व्यायाम' का अर्थ यहाँ 'प्रयत्न' अथवा 'पुरुषार्थ' है । अकुशल धर्मों का त्याग करना और कुशल धर्मों का उपार्जन करना ही सम्यक् व्यायाम है । यह चार प्रकार का होता है :—

(क) अनुत्पन्न अकुशल कर्मों को उत्पन्न न करना ।
(ख) अनुत्पन्न कुशल कर्मों को उत्पन्न करना ।
(ग) उत्पन्न अकुशल कर्मों का प्रहाण करना । और
(घ) उत्पन्न कुशल कर्मों का संरक्षण करना ।

(7) **सम्यक् स्मृति**—स्मृति का अर्थ स्मरण है । सम्यक् स्मृति का अर्थ हुआ ठीक स्मरण, यथार्थ स्मृति । स्मृति हिताहित का अन्वेषण कर, अहित का त्याग कर हित का आदान करती है, कुशल धर्मों की ओर ले जाती है । स्मृति जिसकी जितनी दृढ़ होगी वह उतना ही जागरूक और सावधान होगा तथा ज्ञान-लाभ में बढ़ा-चढ़ा रहेगा । स्मृति आलम्बन में प्रवेश कर विषय को निश्चित रूप से चित्त में स्थिर करती है ।

लोभ और दौर्मनस्य को दूर कर काय, वेदना, चित्त और धर्म अर्थात् मन के विषयों के प्रति जागरूक, प्रयत्नशील, ज्ञानयुक्त, सावधान रहना ही सम्यक् स्मृति है ।

'सम्यक् स्मृति' को बौद्ध धर्म में काफी महत्त्व दिया गया है । यह ज्ञान-प्राप्ति एवं विशुद्धि तथा निर्वाण का साक्षात्कार कराने का एकमाग मार्ग है । भगवान् बुद्ध बारम्बार इसी कारण अपने शिष्यों को स्मृति और सम्प्रज्ञान से युक्त रहने के लिए आदेश देते हैं । भिक्षु सदैव आने-जाने, देखने-भालने, सिकोड़ने-पसारने, संघाटी-पात्र और चीवर को धारण करने, खाने-पीने, सोने-उठने-बैठने, बोलने और चुप रहने में स्मृति और सम्प्रज्ञान से युक्त होता है । इसी से '**बोधिचर्यावतार**' में कहा भी गया है कि 'नरक की पीड़ा का स्मरण करते हुए भी स्मृति को मन से क्षण भर के लिए भी नहीं हटाना चाहिए । सदा जागरूक, स्मृतिवान् भिक्षु ही तृष्णा-जाल को काटकर निर्वाण प्राप्त करता है ।

---

1. देखिये, दीघनिकाय, 1/5

स्मृति के उपस्थान भी बतलाये गये हैं जिन्हें चार स्मृत्युपस्थान के नाम से जाना जाता है।[1] वे हैं :—(1) कायानुपश्यना, (2) वेदनानुपश्यना, (3) चित्तानुपश्यना, (4) धर्मानुपश्यना।

(8) **सम्यक् समाधि**—कुशल चित्त की एकाग्रता को **'समाधि'** कहा गया है। समाधिस्थ भिक्षु क्रोध, आलस्य, उद्धतपना, पछतावा और सन्देह से विगत होता है। उसे सांसारिक लोभ थोड़ा भी नहीं डिगा सकते। वह तत्त्वों पर महाकरुणापूर्ण चित्त से विचरण करता है, वह उपेक्षावान् होता है, वह पंचस्कन्धों को दुःख, अनित्य और अनात्मरूप समझता है। योगी भिक्षु सभी संस्कारों का शमन कर, तृष्णा का प्रहार कर निर्वाण-लाभ करता है।

सम्यक् समाधि में चार ध्यान आ जाते हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

(1) वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता नामक पाँच ध्यानाङ्गों सहित प्रथम ध्यान होता है।

(2) अध्यात्म सम्प्रसाद, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता नामक चार ध्यानाङ्गों सहित द्वितीय ध्यान होता है।

(3) उपेक्षा, स्मृति, सम्प्रज्ञान, सुख और समाधि से युक्त पाँच ध्यानाङ्गों सहित तृतीय ध्यान होता है।

(4) अदुःखासुखावेदना, उपेक्षापारिशुद्धि; स्मृतिपारिशुद्धि और समाधि इन चार ध्यानाङ्गों सहित चतुर्थ ध्यान होता है।

प्रतीत्य समुत्पाद

प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्तों में एक है। भगवान् बुद्ध ने इसका भी साक्षात्कार सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करते समय ही किया था।

प्रतीत्य समुत्पाद का प्रायः अर्थ 'सापेक्ष कारणतावाद' है। यद्यपि बुद्ध कार्य-कारण के अविछिन्न प्रवाह को नहीं मानते, फिर भी वे मानते हैं कि एक के होने पर दूसरे की उत्पत्ति होती है—**'इमस्मि सति इदं होति'**। इस तरह बौद्ध धर्म में 'प्रत्यय' का अर्थ हेतु है। अतः प्रतीत्य समुत्पाद विच्छिन्न प्रवाह को दर्शाता है। इसी से आचार्य नागार्जुन ने शून्यवाद को जन्म दिया है।

---

1. वैभाषिकों द्वारा स्मृत्युपस्थान की व्याख्या यों मिलती है :—
   स्मृत्योपतिष्ठत इति स्मृत्युपस्थानं प्रज्ञेति वैभाषिकीयोऽर्थः।—**अभिधर्मकोष-व्याख्या** (संपादित, वोगीहारा), पृ० 530

प्रतीत्य समुत्पाद में 'प्रति' का अर्थ प्राप्ति है। 'इण' धातु गत्यर्थक है, किन्तु उपसर्ग लगने से धातु का अर्थ बदल जाता है इसलिए 'प्रति इ' का अर्थ प्राप्ति है और 'प्रतीत्य' का अर्थ 'प्राप्त कर' है। 'पद' धातु सत्तार्थक है। 'सम + उत्' उपसर्गपूर्वक इसका अर्थ 'प्रादुर्भाव' है। अतः प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ हुआ प्रत्यय प्राप्त कर प्रादुर्भाव।[1] कुछ आचार्य प्रतीत्य समुत्पाद का एक भिन्न अर्थ करके क्त्वा सम्बन्धी दोष का परिहार करते हैं। 'प्रति' वीप्सा के अर्थ में है, 'सम' समवाय के अर्थ में है, 'इत्य' गमन में साधु अनवस्थायी है। उत्पूर्वक 'पद' धातु का अर्थ प्रादुर्भाव है। अतः प्रतीत्य समुत्पाद = उस उस हेतु सामग्रीवश विनश्वरों का समवाय में उत्पाद है।[2] आचार्य अनुरुद्ध प्रतीत्य समुत्पाद की व्याख्या इस प्रकार करते हैं : जो प्रत्यय-समूह प्रत्यय-सामग्री की अपेक्षा करके साथ-साथ प्रत्ययोत्पन्न धर्मों का उत्पाद करता है वह प्रत्यय-समूह ही 'प्रतीत्य-समुत्पाद' है। प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ एक सूत्र से इस प्रकार जाना जा सकता है कि हेतु प्रत्यय की अपेक्षा करके भावों का उत्पाद या प्रादुर्भाव अर्थात् इसके होने पर **'इमस्मि सति'**, यह होता है **'इदं होति'**। बुद्धघोष का कहना है कि यहाँ केवल उत्पाद मात्र का अर्थ ही 'प्रतीत्य समुत्पाद' नहीं है बल्कि इससे यह भी द्योतित होता है कि इसके न होने **'इमस्मि असति'**, यह नहीं होता **'इदं न होति'** तथा इसके निरुद्ध होने पर **'इमस्स निरोधा'** यह निरुद्ध हो जाता है **'इदं निरुज्झति'**। भगवान् बुद्ध स्वयं कहते हैं कि जो प्रतीत्य समुत्पाद को देखता है वह धर्म को देखता है और जो धर्म को देखता है वह प्रतीत्य समुत्पाद को देखता है।[3]

प्रतीत्य समुत्पाद को आचार्य बुद्धघोष दो भागों में बाँटते हैं—(1) प्रतीत्य और (2) समुत्पाद। हेतु-समूह के प्रतिमुख होने से 'प्रतीत्य' है और अकेला उत्पन्न न होकर साथ में उत्पन्न होने से अर्थात् पारस्परिक स्वभाववाले धर्मों को ही उत्पन्न करने से 'समुत्पाद' है। इस तरह प्रतीत्य पद से शाश्वत आदि दृष्टियों का और समुत्पाद से उच्छेद आदि दृष्टियों का प्रहाण हो जाता है और दोनों के मध्य का रास्ता प्रतिभासित होता है। इसी से प्रतीत्य समुत्पाद को 'मध्यमा प्रतिपदा' भी कहा गया है।

---

1. प्रतिः प्राप्त्यर्थः, एति गत्यर्थः। उपसर्गवशेन धात्वर्थपरिणामात् प्राप्येति सोऽर्थः सोऽर्थः प्रतीत्येति। पदिः सत्तार्थः समुत्पूर्वः प्रादुर्भावार्थः। तेन प्रत्ययं प्राप्य समुद्भव प्रतीत्यसमुत्पादः।—अभिधर्मकोशभाष्य, पृ० 138
2. प्रतिर्वीप्सार्थः। इतौ साधव इत्या अनवस्थायिनः। उत्पूर्वः पदिः प्रादुर्भावार्थः। तां तां कारणसामग्रीं प्रति इत्यानां समवायेनोत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादः—वही।
3. देखिये, मज्झिमनिकाय, 1/3/8

भगवान् बुद्ध ने प्रतीत्य समुत्पाद का अनेक जगह विभिन्न प्रकार से, विभिन्न व्यक्तियों के आशय एवं अधिमुक्ति के अनुसार उपदेश दिया है। प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त का दार्शनिक विकास बाद में बौद्ध धर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में हुआ है, परन्तु इसके मूल बीज सुत्तपिटक में मिलते हैं।

प्रतीत्य समुत्पाद का नियम अटल और अमिट है। संसार के सभी सत्त्व इस नियम के वशीभूत हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों ही कालों में यह नियम निर्बाध लागू होता है। यह अनादि और अनन्त है।

प्रतीत्य समुत्पाद में द्वादश अंग हैं जिससे इसे द्वादशांग भी कहते हैं। इसमें एक अंग दूसरे के प्रत्यय से होता है। इन अङ्गों को 'निदान' भी कहते हैं। प्रतीत्य समुत्पाद को भवचक्र भी कहते हैं। ये द्वादशांग इस प्रकार हैं—

'अविद्या' प्रत्यय से 'संस्कार', 'संस्कार' प्रत्यय से 'विज्ञान', विज्ञान' प्रत्यय से 'नामरूप', 'नामरूप' प्रत्यय से 'षडायतन', 'षडायतन' प्रत्यय से 'स्पर्श', स्पर्श' प्रत्यय से 'वेदना', 'वेदना' प्रत्यय से 'तृष्णा', 'तृष्णा' प्रत्यय से 'उपादान', 'उपादान' प्रत्यय से 'भव', 'भव' प्रत्यय से 'जाति', 'जाति' प्रत्यय से 'जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुःख-दौर्मनस्य और उपायास' होते हैं। इस प्रकार इस सम्पूर्ण दुःख-स्कन्ध का समुदय होता है। यही प्रतीत्य समुत्पाद है।[1]

यह प्रतीत्य समुत्पाद जगत्-सृष्टि को स्पष्टतः द्योतित करता है।

द्वादश अंग

(1) **अविद्या**—अविद्या का अर्थ है 'अज्ञान'। प्रायः चार आर्य सत्यों का अज्ञान ही अविद्या है। अनित्य दुःख और अनात्मभूत जगत् में आत्मा को खोजना या सुख को खोजना अविद्या है। 'अभिधर्मकोश' के भाष्यकार आचार्य वसुबन्धु पूर्वजन्म की क्लेशावस्था को ही अविद्या कहते हैं।

आचार्य बुद्धघोष अपनी अन्यतम रचना 'विसुद्धिमग्ग' के 'प्रज्ञाभूमि' नामक अध्याय में अविद्या की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यह अविद्या ही स्कन्धों की राशि

---

1. अविज्जापच्चया सङ्खारा, सङ्खारपच्चया विञ्ञाणं, विञ्ञाणपच्चया नामरूपं, नामरूपपच्चया सळायतनं, सळायतनपच्चया फस्सो, फस्सपच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादानं, उपादानपच्चया भवो, भवपच्चया जाति, जातिपच्चया जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति। एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होति। अयं वुच्चति पटिच्चसमुप्पादो।—अभिधम्मत्थसंगहो (हिं० अनु०) पृ० 812

होने, आयतनों के आयतन होने, धातुओं के शून्य होने, इन्द्रियों के अधिपति होने और सत्यों के यथार्थ ज्ञान को नहीं कराती। अतः यही अविद्या है। अन्त-रहित संसार में सब योनि, गति, भव, विज्ञान की स्थिति और सत्त्वों के आवास में सत्त्वों को दौड़ाती है, यह इसलिए भी अविद्या है। अविद्या परमार्थतः अविद्यमान स्त्री-पुरुष आदि में दौड़ाती है और विद्यमान स्कन्ध आदि में नहीं दौड़ाती, अतएव यह अविद्या है। और भी, चक्षु-विज्ञान आदि के आलम्बनों, प्रतीत्य समुत्पाद और प्रतीत्य समुत्पन्न धर्मों को ढकने से भी यह अविद्या कहलाती है। अविद्या स्वरूप से मोह ही है। 'अविद्या', 'अज्ञान', 'अदर्शन' और 'मोह' इत्यादि अविद्या के ही पर्यायवाची शब्द हैं।

अविद्या संसार का मूल कारण भी नही कही जा सकती क्योंकि भगवान् ने स्वयं, 'मज्झिमनिकाय' में कहा है कि अविद्या का कारण आस्रव है (**आस्रवसमुदया-अविज्जा समुदयोति**) अर्थात् आस्रव से ही अविद्या उत्पन्न होती है और फिर संस्कार आदि समस्त भव दुःखों का उत्पाद होता है। अतः अविद्या के मूल में आस्रव है और आस्रव के मूल में अविद्या। इस तरह यह **भवचक्र** चलता रहता है।

(2) **संस्कार**—संस्कार के कई अर्थ हैं किन्तु यहाँ संस्कार का अर्थ 'कर्म' किया गया है। यह पूर्वजन्म की कर्मावस्था है। अविद्यावश सत्त्व जो भी भला-बुरा कर्म करता है, वही 'संस्कार' कहलाता है।

आचार्य बुद्धघोष संस्कृत प्रत्युत्पन्न धर्मों का अभिसंस्कार करनेवाली लौकिक कुशल और अकुशल चेतना को ही 'संस्कार' कहते हैं।

यह संस्कार तीन प्रकार का होता है: 1. पुण्याभिसंस्कार, 2. अपुण्याभि-संस्कार और 3. आनेञ्जाभिसंस्कार। संस्कार के और भी तीन विभाग किये गये हैं, यथा—(1) कायसंस्कार, (2) मनःसंस्कार और (3) वाक्संस्कार।

(3) **विज्ञान**—विज्ञान प्रत्युत्पन्न जीवन की वह अवस्था है जब प्राणी माता के गर्भ में प्रवेश करता और चेतना प्राप्त करता है। यह गर्भ अथवा प्रति-सन्धि का क्षण है। इसे उपपत्ति क्षण भी कहते हैं।

'विज्ञान' विजानन को कहते हैं जिसका अर्थ है—ये चित्तधाराएँ जो पूर्वजन्म में किए गए कुशल या अकुशल कर्मों के विपाक-स्वरूप प्रकट होती हैं और जिनके कारण ही सत्त्व अपनी इन्द्रियों के विषयों में जानकारी करता है।

(4) **नामरूप**—नामरूप में दो शब्द हैं—'नाम' और 'रूप'। रूप में चार महाभूत—पृथ्वी, जल, तेज और वायु तथा 'नाम' में संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान ये चार स्कन्ध आते हैं। दोनों को मिलाकर ही पंचस्कन्ध नामरूप कहलाते हैं।

रूप औदारिक होते हैं और नाम क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हैं। नाम को मानसिक धर्म भी कहते हैं और रूप शारीरिक धर्म कहे जाते हैं क्योंकि रूप से ही सत्त्व की काया की संरचना होती है।

नामरूप 'विज्ञान' से होता है। जब विज्ञान माता की कुक्षि में प्रतिसन्धि ग्रहण करता है तभी से नामरूप उत्पन्न होना शुरू हो जाते हैं।

(5) **षडायतन**—छह आयतन अर्थात् पाँच इन्द्रियाँ और मन षडायतन कहलाते हैं। ये 'षडायतन' ही ज्ञानोत्पत्ति में सहायक होते हैं।

षडायतन उस अवस्था का सूचक है जब सत्त्व माता के उदर से बाहर आता है और उसकी छह इन्द्रियाँ, आँख, कान, नाक, जिह्वा, स्पर्श और मन, पूर्णतया तैयार हो जाती हैं परन्तु वह अभी तक उन्हें प्रयुक्त नहीं कर सकता।

(6) **स्पर्श**—इन्द्रिय और विषय के सन्निपात को स्पर्श कहते हैं। यह वह अवस्था है जब सत्त्व बाह्य जगत् के पदार्थों के सम्पर्क में आता है। यह पंचेन्द्रिय और मन, इन छह के भेद से छह प्रकार का होता है।

(7) **वेदना**—वेदना का अर्थ अनुभव करना है।[1] इन्द्रिय और विषय के संयोग से मन पर जो प्रथम प्रभाव होता है उसी का नाम 'वेदना' है। चित्त से वेदना का अटूट सम्बन्ध है। चाहे वह दुःख, सुख, न दुःख और न सुख रूप ही क्यों न हो। इस प्रकार वेदना भी तीन प्रकार की हो जाती है—1. सुखावेदना, 2. दुःखावेदना और 3. असुखादुःखावेदना।

(8) **तृष्णा**—षड्विषयों के प्रति प्यास का होना 'तृष्णा' है। यह आसक्ति-रूप होती है। यह तीन तरह की कही गयी है—1. काम, 2. भव और 3. विभव तृष्णा। यह त्रिविध तृष्णा ही सत्त्व को भवचक्र में घुमानेवाली होती है। तृष्णा ही दुःख का मूल कारण है। यह विषय-भेद से छह प्रकार की होती है।

(9) **उपादान**—विषयों का दृढ़ता पूर्वक ग्रहण करना 'उपादान' है। यह चार प्रकार का होता है :—

(क) **कामोपादान**—अर्थात् कामवासनाओं में चिपटे रहना।
(ख) **दृष्टयुपादान**—मिथ्या सिद्धान्तों में विश्वास करना।
(ग) **शीलव्रतोपादान**—व्यर्थ के शीलाचार में लगे रहना।
(घ) **आत्मवादोपादान**—आत्मा के अस्तित्व में दृढ़ आग्रह करना।

---

1. वेदनाऽनुभवः।—अभि० को० भा०, पृ० 10

(10) **भव**—होना मात्र भव है अर्थात् पुनर्जन्म करानेवाला कर्म भव कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है—उपपत्ति भव और कर्म भव। जिस जिस उपादान को लेकर सत्त्व जिस जिस लोक में जन्मता है उसका वही उपपत्ति भव कहलाता है। जो कर्म पुनर्जन्म करानेवाले होते हैं उन्हें कर्म भव कहते हैं।

(11) **जाति**—जाति अर्थात् 'जन्म'। उत्पन्न होना जाति है। सत्त्व पूर्वभव के कारण ही उत्पन्न होता है। जाति पंचस्कन्धों के स्फुरण की अवस्था है। **'मज्भिम-निकाय'** में भगवान् कहते हैं कि उन उन सत्त्वों का उस उस सत्त्व-निकाय में जाति, सज्जाति, अवक्रान्ति, अभिनिर्वृत्ति स्कन्धों का प्रादुर्भाव और आयतनों का प्रतिलाभ यही जाति है।[1]

(12) **जरामरण**—जरा और मरण ये दो अवस्थाएँ हैं। जीर्ण होना जरा है और मृत्यु होना मरण है। भगवान् कहते हैं कि उन उन सत्त्वों का उस उस सत्त्व-निकाय में जरा, जीर्णता, दाँतों का टूटना (खाण्डिच्चं), बालों का पकना, (पालिच्चं), त्वचा का सिकुड़ना अर्थात् शरीर में झुर्रियाँ पड़ जाना (बलितचा), आयु की हानि और इन्द्रियों का पक जाना जरा है।[3] उन उन सत्त्वों का उस उस सत्त्व-निकाय से च्युत होना, च्यवनता, भेद, अन्तर्धान, शरीर का गिरना, मृत्यु, मरण, काल, करना, स्कन्धों का भेद (टूटना) और जीवितेन्द्रिय का उच्छेद है। यही मरण है।[3] जो जन्म लेता है उसका पाक होता है और अन्त में च्युत होता अर्थात् मर जाता है। इस प्रकार जाति से ही जरामरण होते हैं और मरण से शोक, परिदेव (विलाप), दुःख, दौर्मनस्य परेशानी, उपायास आदि उत्पन्न होते हैं।

'प्रतीत्य समुत्पाद' के द्वादशाङ्गों का यही क्रम है जिससे यह भवचक्र चल रहा है। यदि जरामरण, शोक आदि को दूर करना है तो जन्म की शृंखला को ही तोड़ना होगा। भव के प्रत्ययों को हटाना होगा। भव के निरोध से क्रमशः उपादान तृष्णा, वेदना, स्पर्श, षडायतन, नामरूप, विज्ञान, संस्कार और अविद्या के प्रत्ययों का भी प्रहाण होगा। इस तरह यह जीवन अन्योन्याश्रित है, कार्य-कारण की सहेतुक धुरी पर अवस्थित है, जिसे समझकर सत्त्वों को अपनी मुक्ति का मार्ग स्वयं खोजना है। नियति जैसी कोई चीज उसके मार्ग में बाधक नहीं है।

---

1. देखिये, मज्झिमनिकाय, 1/50
2. वही, 1/49
3. वही।

प्रतीत्य समुत्पाद काल की दृष्टि से तीन कालों, तीन सन्धियों, चार संक्षेपों, बारह कड़ियों और बीस आकारों में भी विभक्त किया गया है, जैसे अतीत, वर्तमान और भविष्य ये तीन काल हैं। इन तीनों कालों को एक ही जन्म की तीन क्रमिक अवस्थाएँ भी कहा जा सकता है। 'अविद्या' और 'संस्कार' दोनों अतीत जन्म की कर्म शक्तियाँ हैं जो हमारे वर्तमान जन्म को निश्चित करती हैं। 'विज्ञान', 'नामरूप', षडायतन', 'स्पर्श' और 'वेदना' वर्तमान जन्म के विपाक-स्वरूप हैं जिसके बाद हमारे जीवन की 'तृष्णा', भव और 'उपादान' कड़ियाँ स्वयं कर्मभव बन जाती है जो भविष्य में पुनर्जन्म के विपाक-स्वरूप होती हैं एवं जरा-मरण और दुःख की सन्तति-परम्परा चलती है ! यही भवचक्र है।

इस तरह प्रतीत्य समुत्पाद केवल दार्शनिक सिद्धान्त ही नही बल्कि आंतरिक और बाह्य जीवन के समस्त कार्य-कलापों के समुदय और निरोध को प्रकाशित करने-वाला है जिससे यह ज्ञात होता है कि सत्त्व इसे सम्यक्तया जानकर स्वयं उनका साक्षा-त्कार कर अपनी मुक्ति (निर्वाण) प्राप्त कर सकता है।

त्रिलक्षण : अनित्य, दुःख और अनात्म

(1) **अनित्य या क्षणिकवाद**—बौद्ध धर्म की दृष्टि से सभी वस्तुएँ संस्कृत हैं और जो संस्कृत हैं वह अनित्य है। जो नित्य तथा स्थायी प्रतीत होता है वह भी विपरिणामधर्मी तथा विनाशशील है। अतः कोई भी वस्तु नित्य नहीं है।

संसार का प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है, क्षण क्षण परिवर्तनशील है। बुद्ध ने तत्त्वों का विभाजन तीन भागों में किया है—स्कन्ध, आयतन और धातु।

स्कन्ध पाँच हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। रूप—पृथ्वी, जल, तेज और वायु हैं।[1] वेदना सुखदुःखानुभूत होती है। संज्ञा, निमित्तोद्ग्रहणा-त्मिका है।[2] संस्कार कर्म है और विज्ञान चेतना या मन है। संज्ञा संस्कार, वेदना और रूप के संसर्ग से विज्ञान की विभिन्न स्थितियाँ होती हैं। इसी से इन्हें अनित्य बत-लाया गया है।

आयतन बारह हैं—छह इन्द्रियाँ (चक्षु से मन तक) और छह उनके विषय (रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श और धर्म) मिलकर बारह आयतन होते हैं।

अठारह धातु—उपर्युक्त 12 आयतनों में उनके छह विज्ञान मिलाने पर 18 धातुएँ हो जाती हैं।

---

1. देखिये; अभिधर्मकोशभाष्य, 1/12, पृ० 8
2. वेदनाऽनुभवः संज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका।—वही, पृ० 10

इन स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में सारे संसार की वस्तुएँ अन्तर्भूत हो जाती हैं। इन्हीं तीनों का वर्णन नामरूप में किया गया है। ये सभी संस्कृत हैं अतः अनित्य हैं। संयुक्तनिकाय[1] में भगवान् ने कहा है कि चारों महाभूतों की यह काया एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह और वर्ष तक ही मौजूद देखी जाती है, किन्तु जिसे चित्त या मन अथवा विज्ञान कहते हैं वह अहर्निश दूसरा ही उत्पन्न होता है और दूसरा ही नष्ट होता है। इस तरह एक का विनाश और दूसरे का उत्पाद लगातार होता रहता है। यही अनित्यवाद है और यही क्षणिकवाद है। इस अनित्यवाद अथवा क्षणिकवाद का जन्म प्रतीत्य समुत्पाद से ही हुआ है।

(2) **दुःखवाद**—इसके लिए **दुःख आर्य सत्य** में वर्णन किया गया है।

(3) **अनात्मवाद**—बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व का निराकरण किया है। वे इस मत को नहीं मानते कि आत्मा नित्य है, ध्रुव है, अजर-अमर है, सदा एक है। यह अनात्मवाद ही बौद्ध धर्म की दार्शनिक भित्ति है।

अनात्म अर्थात् आत्मा का अभाव। आत्मा के लिए भगवान् ने 'सत्काय' शब्द का प्रयोग किया है। सत्काय का अर्थ सत् अर्थात् नित्य, ध्रुव और काय अर्थात् नाम (रूप के अतिरिक्त के चार स्कंध) किया गया है। जो नित्य, ध्रुव और अपरिणामी है, यही दृष्टि रखना 'सत्काय दृष्टि' है। पञ्चोपादानस्कन्ध, जिससे काया का अस्तित्व सिद्ध होता है, उसमें नित्यादि दृष्टि रखना 'सत्काय' है। 'महावग्ग' में भगवान् ने पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को उपदेश देते हुए आत्मा के अस्तित्व का निराकरण तथा अनात्मवाद का प्रतिपादन किया है। यहाँ कहा गया है कि भिक्षुओं! रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, ये सभी यदि आत्मरूप होते तो इनमें रोग न होता और हम कह सकते हैं कि यह मेरा रूप है, संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान है। और मेरे रूप, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान और वेदना ऐसे हों, ऐसे न हों; किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि वे सभी अनित्य, दुःख और विपरिणामधर्मी हैं। उनसे यह समझना कि 'यह मेरा है', 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा आत्मा है' भ्रम है।

भगवान् कहते हैं कि भिक्षुओ! जो कुछ यहाँ रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान है, ये चाहे अतीत, वर्तमान और भविष्य के ही क्यों न हों, आन्तरिक या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, समीप या दूर के ही क्यों न हों, वे सब मेरे नहीं हैं, वह मैं नहीं हूँ और न ही मेरा आत्मा है। इस प्रकार इन्हें सम्यक् प्रज्ञा से देखना चाहिए और भिक्षुओ! जो आर्य श्रावक रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान में अनात्म का दर्शन करता है वह निर्वेद प्राप्त करता है, निर्वेद से उसे वैराग्य होता है

1. देखिये, संयुक्तनिकाय, 12/7

और वैराग्य से उसे विमुक्ति-लाभ, इससे विमुक्ति-ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति होती है कि मैं विमुक्त हूँ, जन्म का क्षय हो गया, कृतकरणीय पूर्ण हो गया है और ब्रह्मचर्य का वास भी पूर्ण कर लिया।

'मज्झिमनिकाय' में आता है कि एक बार जब अग्निवेश गोत्री सच्चक साधु ने गौतम बुद्ध से पूछा कि आप अपने शिष्यों को कौन-सी शिक्षा देते हैं, तब भगवान् ने उत्तर में कहा कि मैं रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान अनित्य, दुःख और अनात्म है, इसकी शिक्षा अपने शिष्यों को देता हूँ।[1] भगवान् ने अनात्मवाद का उपदेश आनन्द और राहुल को भी दिया है। **'संयुक्तनिकाय'** में भगवान् ने कहा, "भिक्षुओ! चक्षु तुम्हारा नहीं है, रूप तुम्हारा नहीं है; इन्हें छोड़ो; निर्वेद प्राप्त करो"। **'मज्झिमनिकाय'** के प्रथम सुत्त 'मूलपर्यायसुत्त' में बुद्ध ने कहा है कि पृथ्वी, जल, तेज, और वायु तथा श्रुत, स्मृत और विज्ञान सबको न मैं, न मेरा समझना चाहिए क्योंकि ये मेरे नहीं हैं और न मैं ही इनका हूँ। यही बुद्ध का **अनात्मवाद** है।

इसी अनात्मवाद को धर्मसेनापति शारिपुत्र ने बुद्ध का सनातन शासन कहा है और स्वयं शारिपुत्र ने अनात्मवाद का उपदेश गृहपति अनाथपिण्डक और छन्न को दिया था। अनात्मवाद का विस्तृत विवेचन **'मिलिन्दप्रश्न'** के भिक्षु नागसेन और महाराजा मिलिन्द के परिसम्वाद में मिलता है।

इस प्रकार भगवान् ने तत्त्वों के कल्याणार्थ अनात्मवाद का उपदेश दिया है जिससे सत्त्व समझे कि भव अनित्य, दुःख और अनात्म है तथा अपने में ज्ञान-लाभ करें। अनात्म आदि के चिन्तन से सत्त्व की प्रीति, प्रश्रब्धि और सुख की प्राप्ति होती है जिससे सत्त्व का उच्चतर विकास होता है। अनित्यादि के चिन्तन से सत्त्व का मान नष्ट हो जाता है, इन्द्रियों की शुद्धि होती है और मिथ्या दृष्टि का प्रहाण होकर सम्यक् दृष्टि की प्राप्ति होती है। इसी सम्यक् दृष्टि से सत्त्व निर्वाणगामी होता है।

(4) **अनीश्वरवाद**—बुद्ध के अनित्य, दुःख और अनात्मवाद में ईश्वर या ब्रह्मा सदृश सृष्टिकर्त्ता के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। फिर भी त्रिपिटक में कई जगह जहाँ भी ईश्वर का जिक्र किया गया है, वहाँ बुद्ध ने ईश्वर का निराकरण ही किया है। इस तरह बौद्ध धर्म निरीश्वरवादी धर्म है।

'दीघनिकाय' के 'पथिकसुत्त' में ईश्वर का उपहास करते हुए बतलाया गया है कि एक समय बुद्ध भार्गव गोत्रीय परिव्राजक से कहते हैं, भार्गव! जब मैं ईश्वर को मानने-वाले श्रमणों और ब्राह्मणों के पास जाकर पूछता हूँ कि 'आप क्या सचमुच ईश्वर या ब्रह्मा

---

1. मज्झिमनिकाय, 1/4/5

को सृष्टिकर्त्ता मानते हैं', तब वे कहते हैं—हाँ'। मैं उनसे पुनः पूछता हूँ कि 'आप लोग ईश्वर के कर्त्तापन को कैसे श्रेष्ठ मानते हैं ?' ऐसा पूछने पर उल्टे वे मुझसे ही पूछते हैं। मैं उनको इस प्रकार समझाता हूँ, बहुत दिनों के बीतने पर इस संसार का प्रलय हुआ, फिर चिरकाल बाद लोक की उत्पत्ति हुई। लोक की उत्पत्ति होने पर शून्य ब्रह्मविमान प्रकट हुआ। कोई सत्त्व आयु क्षय होने पर उसमें उत्पन्न हुआ। बहुत समय हो गया। अकेले रहने के कारण उसमें ही वह ऊब गया और भयभीत भी हुआ। उसका मन हुआ कि अच्छा हो, दूसरे सत्त्व भी यहाँ आवें। दूसरे सत्त्व भी आयु क्षीण होने पर शून्य ब्रह्मविमान में उत्पन्न होते हैं। जो सत्त्व वहाँ पहले था उसके मन में यह होता है कि मैं ब्रह्मा हूँ। कर्त्ता, निर्माता, श्रेष्ठ, स्वामी, भूत तथा भविष्य के सत्त्वों का जन्म देने-वाला पिता हूँ। मैंने ही इन सत्त्वों को उत्पन्न किया है। मेरे ही चित्त में ऐसा पहले हुआ था कि दूसरे सत्त्व भी यहाँ आवें। इसी कारण ये यहाँ आये हैं। जा सत्त्व उसके बाद उत्पन्न हुए हैं उनके भी चित्त में यह होता है कि यह ब्रह्मा, ईश्वर, कर्त्ता है क्योंकि यह मुझसे पहले यहाँ था और हम लोग पीछे आए हैं। इस प्रकार जब दूसरे सत्त्व काया को छोड़कर इस लोक में आते हैं, समाधि को प्राप्त कर उमसे पूर्वजन्म का स्मरण करते हैं, तब वह कहता है, जो वह ब्रह्मा, ईश्वर, कर्त्ता है वह नित्य, ध्रुव, शाश्वत, निर्विकार और सदा के लिए तद्रूप रहनेवाला है और हमलोग उसके ही द्वारा उत्पन्न किये गये हैं अतः अनित्य, अध्रुव, अल्पायु और मरणशील हैं'। इस तरह ईश्वर के कर्त्तापन को श्रेष्ठ बतलाया गया है।[1]

इसी तरह '**दीघनिकाय**' के 'केवट्टसुत्त' में भी सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा का परिहास मिलता है; यथा पहले एक भिक्षु के चित्त में यह हुआ कि ये चार महाभूत पृथ्वी, जल, तेज और वायु कहाँ जाकर निःशेष, निरुद्ध हो जाते हैं। उसने चातुर्महाराजिक देवों से जाकर पूछा। उन देवों ने कहा कि हम नहीं जानते। हमसे बढ़कर महाब्रह्मा हैं। भिक्षु ने उनसे भी जाकर वही प्रश्न पूछा। उन्होंने भी कहा, हमसे बड़े त्रायतिंस, याम, तुषित, निर्माणरति और परनिर्मितवशवर्त्ती देव हैं, वे ही इसे जानते होंगे, हम नहीं जानते। भिक्षु ने उन देवों से भी यही पूछा। उन्होंने भी कहा कि हमसे बढ़कर महाब्रह्मा हैं, वे ही बतला सकते हैं। वे महाब्रह्मा, ईश्वर, कर्त्ता और सभी के जन्मदाता पिता हैं, शायद वही इसे जानते होंगे। महाब्रह्मा भिक्षु के अभिप्राय को जानकर तत्क्षण वहीं अवतरित हुए। भिक्षु ने उनसे भी यही प्रश्न किया। महाब्रह्मा ने कहा कि मैं ईश्वर हूँ, पिता हूँ, ब्रह्मा हूँ इत्यादि। भिक्षु ने कहा, मैं आपसे यह नहीं पूछ रहा हूँ बल्कि

1. 'देखिये, दीघनिकाय, 3/1

यह पूछता हूँ कि ये चार महाभूत—पृथ्वी, जल, तेज और वायु कहाँ जाकर निःशेषतः निरुद्ध हो जाते हैं ? भिक्षु दो तीन बार यही पूछता है। तब महाब्रह्मा उसकी बाँह पकड़कर उसे एकान्त में ले जाकर उसे समझाते हैं कि ये देवता मुझे ऐसा समझते हैं कि मैं सृष्टिकर्त्ता, ईश्वर, ब्रह्मा हूँ परन्तु मुझे कुछ ज्ञात नहीं है। तुम बुद्ध को छोड़कर यहाँ क्यों भटक रहे हो, उनके पास जाओ, जैसा वे बतलावें उसे वैसा ही जानो।[1]

इस तरह इन सुत्तों में ईश्वर का खण्डन किया गया है। बुद्ध का मन्तव्य है कि कोई ईश्वर नाम की चीज नहीं है, जो इस लोक का सृष्टिकर्ता हो, इस लोक का संचालक हो। सभी सत्त्व अपने कर्मों से इस लोक में जन्मे हैं, जन्मते हैं और अपने कृत कर्मों का, अच्छे-बुरे का फल भोगते हैं। सत्त्व बिना जाने बूझे अन्धे के पीछे चलनेवाले अन्धों की भाँति ईश्वर और उसके लोक पर विश्वास रखते हैं। कोई भी त्रैविद्य ब्राह्मणों में ऐसा नहीं है जिसने ब्रह्मा या ईश्वर को अपनी आँखों से देखा हो। अतः ईश्वर नहीं है, न ही कोई सृष्टिकर्त्ता है। यह लोक अनादि और अनन्त तथा अनिर्मित है। यही बुद्ध का अनीश्वरवाद है।

निर्वाण

बौद्ध धर्म में निर्वाण का काफी महत्त्व है। निर्वाण बौद्ध धर्म का अन्तिम लक्ष्य है। बौद्ध धर्म की चरम परिणति निर्वाण में ही होती है। यद्यपि बौद्ध सम्प्रदायों में निर्वाण को लेकर काफी मतभेद है, फिर भी ऐसा कोई सम्प्रदाय नहीं है जिसने निर्वाण के सिद्धान्त की चर्चा न की हो।

'निर्वाण' निर् उपसर्गपूर्वक वन या वान शब्द से निष्पन्न हुआ है। बौद्ध धर्म में 'वन' शब्द विशिष्ट महत्त्व रखता है। यहाँ 'वन' का अर्थ प्रायः 'तृष्णा' किया गया है और निर्वाण का अर्थ तृष्णा से निवृत्त होना अथवा तृष्णा का निरोध, क्षय, विराग ही निर्वाण है।

निर्वाण का एक दूसरा अर्थ भी विद्वानों ने किया है—बुझना या शान्त होना। जैसे दीपक स्नेह (तेल) अथवा बत्ती के शेष न रहने पर शान्त हो जाता है वैसे ही इस तत्त्व के पंचस्कन्धों का निर्वाण प्राप्त होना, उपशम हो जाना, और राग, द्वेष एवं मोह से जो विमुक्त हो जाना है, वही निर्वाण है। इस प्रकार वह परम शान्ति को प्राप्त करना है।

निर्वाण की प्रथम व्युत्पत्ति स्थविरवाद, वैभाषिक और सौत्रान्तिक मत के अधिक समीप है और दूसरी कुछ आगे विकसित होकर महायान दर्शन की एक झलक

1. दीघनिकाय, 1/11

प्रस्तुत करती है जहाँ निर्वाण को शान्त और सुख-रूप माना गया है; फिर भी दोनों यानों में एक मात्र अन्तिम उद्देश्य निर्वाण या परिनिर्वाण-लाभ ही रहा है, यद्यपि महायानी केवल व्यक्तिगत निर्वाण की इच्छा नहीं रखता। वह समस्त सत्त्वों के निर्वाण के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है।

स्थविरवाद में निर्वाण

स्थविरवाद बौद्ध धर्म का प्राचीन सम्प्रदाय है। आगे चलकर यह सम्प्रदाय दो प्रधान उपसम्प्रदायों में विभाजित हो गया। विभाषाशास्त्र को माननेवाले **वैभाषिक** और सूत्रों को प्रमुखता देनेवाले **सौत्रान्तिक** कहलाये। ये दोनों सर्वास्तिवाद की शाखाएँ हैं, यद्यपि वैभाषिक, जिन्हें सर्वास्तिवादी भी कहा जाता है, स्थविरवाद के अधिक निकट ज्ञात होते हैं। सौत्रान्तिकों का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। इस निकाय से ही विज्ञानवादी निकाय का प्रादुर्भाव हुआ। वास्तव में माध्यमिक और योगाचार या विज्ञानवादी निकायों का उद्भव सौत्रान्तिक और वैभाषिकों के मतवादों एवं विचार-मन्थन से हुआ है।

स्थविरवादी निर्वाण का लक्षण दुःख का नाश, विराग और रागक्षय इत्यादि बतलाते हैं। निर्वाण तृतीय आर्य सत्य कहा गया है। निर्वाण दुःख का निरोध अर्थात् तृष्णा का क्षय, तृष्णा का विराग और तृष्णा से विमुक्ति है। तृष्णा के निरोध से भव, भव से जाति, जरा-मरण शोकादि का विरोध हो जाता है और इस तरह समस्त दुःख का निरोध होने से भिक्षु जन्ममरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। वह कृतकरणीय अर्हत् हो जाता है।

'**अभिधर्मकोषभाष्य**'[1] में निर्वाण को तृष्णा का सर्वथा प्रहाण, व्यन्तीभाव, क्षय, निरोध, व्युपशम, अस्तङ्गम इत्यादि बतलाया गया है। वह दुःखों का अत्यन्त अनुत्पाद, अप्रादुर्भाव बतलाया गया है। '**संयुक्तनिकाय**' में इसे शान्तप्रणीत, समस्त उपाधियों का निरुद्ध होना, तृष्णाक्षय कहा गया है।[2] '**धम्मपद**' में निर्वाण को 'अमृतपद' कहा गया है। '**मज्झिमनिकाय**' में इसे ही अनुत्तर योगक्खेम बतलाया गया है।[3] '**उदान**' में इसे असंस्कृत[4] एवं '**इतिवुत्तक**' में अनुत्पन्न और अकृत बतलाया गया है।[5]

1. अभिधर्मकोशभाष्य, पृ० 284
2. संयुक्तनिकाय, 13/5
3. म० नि०, 167
4. उदान, 8/3
5. इतिवृ०, 43

'**अंगुत्तरनिकाय**'[1] और '**संयुक्तनिकाय**'[2] में कहा गया है कि सब संस्कृत असंस्कृत वस्तुओं में वर्त्मच्छेद, तृष्णाक्षय, विराग, निर्वाण अग्र है। निर्वाण अग्र धर्म, द्वितीय रत्न, अग्र प्रासाद और शरण है। '**संयुक्तनिकाय**' में निर्वाण के अनेक पर्यायवाची शब्द आये हैं। निर्वाण राग, द्वेष एवं मोह का क्षय है। भगवान् भिक्षुओं को उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे भिक्षुओ, मैं तुम्हें, संसार का अन्त, अनास्रव, पार, निपुण, सूदुर्दर्श, अजर, ध्रुव, अनिदर्शन, निष्प्रपञ्च, सत्, अमृत, प्रणीत, शिव, क्षेम, आश्चर्य, अद्भुत, निर्वाण, विराग, शुद्धि, मुक्ति, द्वीप, लेण, ऋण और परायण का निर्देश करता हूँ।

आर्य निर्वाण का समाधि में साक्षात्कार करते हैं। इससे यह अनिर्वचनीय है। बुद्ध ने इसे निरोध, अव्याकृत किया है। '**उदान**' में निर्वाण को 'अचलपद' कहा गया है। '**अंगुत्तरनिकाय**' में उदायी शारिपुत्र से पूछते हैं कि निर्वाण में सुख कैसे है? शारिपुत्र उत्तर में कहते हैं कि निर्वाण अमृत है। निर्वाण सुखावेदना का अभाव ही है, निर्वाण संज्ञावेदित निरोध के सदृश है।[3] '**महावग्ग**' में भगवान् स्वयं कहते हैं कि उन्होंने अमृत का लाभ किया है और वे दूसरों के लिए भी अमृत का द्वार खोलते हैं। शारिपुत्र और मौद्गलायन ने बौद्ध दीक्षा लेने के पूर्व परस्पर यह तय किया था कि हममें से जो भी पहले अमृत (निर्वाण) की खोज करेगा वह एक दूसरे को जरूर बतलायेगा और निर्वाण प्राप्त होते ही शारिपुत्र का चेहरा प्रसन्न नजर आता है।

स्थविरवाद में 'निर्वाण' 'दृष्टधर्म निर्वाण' (इसी जन्म में निर्वाण) है। योगी समापत्ति में प्रवेश कर जिस समय प्रज्ञा का लाभ करता है उसी समय उसे निर्वाण का साक्षात्कार होता है। इसी से इसे '**अंगुत्तरनिकाय**' में '**एहिपस्सको**' एवं '**पच्चत्त-वेदितब्बं**' अर्थात् प्रत्यात्मवेदनीय कहा है।[4] इसी निकाय में उदायी आनन्द से पूछते हैं कि दृष्टधर्म निर्वाण क्या है? आनन्द कहते हैं कि कामसुख से वीतराग भिक्षु ध्यान और आरुप्यों में समापन्न होता है। इन्हीं अवस्थाओं में से प्रत्येक के लिए भगवान् ने पर्याय रूप से कहा है कि यह दृष्टधर्म निर्वाण है। जब भिक्षु चतुर्थ आरुप्य ध्यान नैवसंज्ञान संज्ञायतन का समतिक्रमण कर संज्ञावेदित निरोध का साक्षात्कार करता है और वहाँ अवस्थान करता है तथा प्रज्ञा द्वारा उसके क्लेश क्षीण हो जाते हैं तब उक्त

1. अंगुत्तरनिकाय, 2/34
2. सं० नि० 31/12
3. अंगु० नि०, 4/414
4. अंगु० नि०, 1/149

अवस्था को भगवान् ने निष्पर्याय से 'दृष्टधर्म निर्वाण' कहा है। आर्य निर्वाण की प्राप्ति करता है। निर्वाण प्राप्त करने से उसके क्लेश क्षीण होते हैं।

आचार्य नागसेन ने '**मिलिन्दप्रश्न**' में निर्वाण का सूक्ष्म विवेचन किया है। आचार्य का कहना है कि तृष्णा का निरोध हो जाना निर्वाण है। पंचस्कन्धों का निःशेषतः रुक जाना, उनका सर्वथा लुप्त हो जाना निर्वाण है। आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार जलती हुई आग की लौ बुझने पर पुनः दिखायी नहीं देती, उसी प्रकार निर्वाण-प्राप्त सत्त्व भी दिखायी नहीं पड़ता। निर्वाण में दुःख लेशमात्र भी शेष नहीं रहता। निर्वाण सुख ही सुख है। जैसे राज्य-प्राप्ति करने में राजा नाना कष्टों को सहता है वैसे ही निर्वाण-लाभ के लिए भिक्षु साधना में चङ्क्रमण आदि विविध कष्टों को सहता है और निर्वाण-सुख को प्राप्त करता है। निर्वाण महासमुद्र की तरह अनन्त सुख का भण्डार है, क्लेशों से अलिप्त है, शान्त है, न पैदा होना, न पुराना होना, न मरना और न आवागमन को ही प्राप्त करना है। निर्वाण दुर्विज्ञेय है। अच्छी राह पर चलकर संसार के सभी संस्कारों को अनित्य दुःख तथा अनात्मरूप देखकर सत्त्व प्रज्ञालाभ से निर्वाण का साक्षात्कार और शान्ति-लाभ कर सकता है।

निर्वाण—वैभाषिक मत

वैभाषिक निर्वाण को द्रव्यसत् मानते हैं। इनका कहना है निर्वाण में जो हेतु-फल-परम्परा का उच्छेद है वह उच्छेद नहीं बल्कि इस उच्छेद का हेतु निर्वाण का प्रतिलाभ है। ये मानते हैं कि निर्वाण में प्रतिसन्धि (जन्म) और मृत्यु जैसी चीजों का कोई स्थान नहीं है। इनका यहाँ निःशेषतः निरोध हो जाता है और निर्वाण अजात एवं अविपरिणामी है; यह क्लेश, दुःख और भव का निरोध है। वस्तु का अर्थ उसका एक आकार दुःख विमोक्ष है। किन्तु उसके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि इसका अस्तित्व है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'नहीं' है। वैभाषिक आभिधार्मिकों के अनुसार निर्वाण में अशेषतः क्लेश-क्षय हो जाता है। यही आत्यन्तिक निर्वाण है। जब सर्वक्लेश का क्षय और पुनर्भव की अनुत्पत्ति होती है तब वह सोपधि-शेष निर्वाण कहलाता है। निर्वाण-प्राप्ति के ज्ञान का लाभ ध्यान में होता है। यह सुखमय है। यह इस लोक का अग्र निर्वाण है जिसे 'संज्ञावेदित निरोध' कहते हैं। उसका संवेदन काय से होता है। चरम-चित्त में प्रवेश ही निरुपधिशेष निर्वाण है। क्लेश-विशेष के प्रति निर्वाण की प्राप्ति आंशिक अर्हत्त्व है।

इनका यह भी कहना है कि आज्ञावीन्द्रिय से समन्वागत आर्य ही निर्वाण का दर्शन करता है। यह इन्द्रिय 'आर्य चक्षु' कहलाती है। यह मन की वेदना-विशेष है,

श्रद्धादि पंचेन्द्रिय से संप्रयोग है। इस इन्द्रिय द्वारा निर्वाण का 'उपभोग' होता है क्योंकि आर्य सौमनस्य और सुख का अनुभव करता है, इसलिए कि वह निर्वाण से स्पर्शकर होता है।

इस तरह वैभाषिक निर्वाण को सत् मानते हुए भी अभावात्मक ही मानते हैं, अर्थात् उनके मत में निर्वाण क्लेशाभाव-रूप है।

निर्वाण—सौत्रान्तिक

सौत्रान्तिक निर्वाण को अभाव मानते हैं। इनका मत है कि निर्वाण हेतु-फल-परम्परा का उच्छेद है। सौत्रान्तिक आकाश के तुल्य निर्वाण का प्रतिवाद करते हैं। वे कहते हैं कि यह अभाव मात्र है क्योंकि जो कुछ है वह हेतु-प्रत्यय-जनित है, अर्थात् वह संस्कृत, प्रतीत्य समुत्पन्न, हेतु-प्रभव है। संस्कृत संस्कार भी है। यह अन्य संस्कृतों का उत्पाद करता है। हेतु-फल-परम्परा से बाह्य कुछ भी नहीं है। यह परम्परा-प्रवृत्ति संसार है। निर्वाण केवल क्लेश का अभाव है। क्लेश कर्म जन्म रूपी प्रवृत्ति की निवृत्ति मात्र है। ये संस्कृत का प्रत्याख्यान नहीं करते किन्तु ये कहते हैं कि यह कोई लोकोत्तर वस्तु-सत् नहीं है, यह असद्भूत है, जैसे लोक में कहते हैं कि उत्पत्ति के पूर्व या निष्पत्ति के बाद शब्द का अस्तित्व नहीं होता। वे सूत्र भी उद्धृत करते हैं जिसे उनके प्रतिपक्षी प्रमाणिक नहीं मानते। अतीत और अनागत वस्तु आकाश, पुद्गल और निर्वाण प्रज्ञप्ति मात्र है। निर्वाण अभाव मात्र है, अप्रवृत्ति मात्र है। सूत्र भी है—सर्वथा प्रहाण, वैराग्य, क्षय, निरोध, दुःख का अत्यन्त अत्यय, अनुत्पाद और अप्रादुर्भाव। यह शान्त, प्रणीत है, तृष्णा-क्षय-निरोध निर्वाण है।

सौत्रान्तिक मानते हैं कि जैसे अग्नि का निर्वाण है वैसे ही चित्त की विमुक्ति (चेतोविमुक्ति) है। अग्नि का निर्वाण अग्नि का अत्यय मात्र है। यह द्रव्य नहीं है। यद्यपि संघभद्र आचार्य, जो वैभाषिक माने जाते हैं, यहाँ कहते हैं कि अग्नि की इस तरह उपमा देकर यह नहीं कहा सकता कि निर्वाण अभाव है। यह तो निर्वाण का एक उदाहरण है जो निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था द्योतित करता है। राग और चित्त का निरोध होने पर ही निर्वाण में प्रवेश किया जा सकता है।

5. बौद्ध धर्म के 18 निकाय (सम्प्रदाय)

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के एक सौ वर्ष बाद ही बौद्ध संघ विभाजित होता हुआ देखा जाता है। ई० पू० 5वीं शती में बौद्ध संघ के तीन प्रधान केन्द्र थे—मथुरा, कौशाम्बी और वैशाली। वैशाली के बौद्ध भिक्षुओं में शिथिलाचार आ गया था जिसे लेकर वैशाली में ही एक बौद्ध संघ की सङ्गीति बुलायी गयी थी और मतभेदों को दूर किया गया था। मथुरा और कौशाम्बी के भिक्षु विनय के कट्टर अनुयायी थे।

ये स्थविरवादी कहलाते थे। इनमें से मथुरा के बौद्ध संघ से सर्वास्तिवादियों का जन्म हुआ, कौशाम्बी से मूल स्थविरवाद का और वैशाली के बौद्ध संघ से महासाङ्घिकों का। आगे चलकर मूल सर्वास्तिवादी आठ सम्प्रदायों में और महासांघिक दस सम्प्रदायों में बँट गये। इस तरह बौद्ध संघ का 18 निकायों में विकास हो गया।

इन अष्टादश निकायों का वर्णन आचार्य वसुमित्र ने अपनी रचना 'अष्टादश निकाय शास्त्र' में अच्छी तरह किया है जिसमें उनके सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। इनके अनुसार स्थविरवाद और महासाङ्घिक का भेद अशोक के राज्यकाल में ही हो गया था। इनके कथनानुसार वैशाली की सङ्गीति महादेव की पाँच वस्तुओं को लेकर हुई थी। जो भी हो, पर इतना जरूर है कि द्वितीय सङ्गीति के बाद ही बौद्ध संघ दो भागों में विभाजित हो गया जिनसे आगे चलकर 18 सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई।

चीनी यात्री इत्सिग के अनुसार अठारह निकाय चार प्रधान भागों में विभक्त हैं—आर्य महासांघिक, आर्य मूल सर्वास्तिवाद, आर्य स्थविरवाद और आर्य सम्मितीय। इसके बाद इनमें से महासांघिक से सात, स्थविरवाद से तीन, सर्वास्तिवाद से चार और सम्मितीय से भी चार सम्प्रदायों का जन्म हुआ। इत्सिग स्वयं सर्वास्तिवादी थे। इन्होंने सर्वास्तिवाद के चार निकायों के नाम इस प्रकार बतलाये हैं—धर्मगुप्त, महीशासक, काश्यपीय और सर्वास्तिवाद। किन्तु दक्षिण के महावंश और दीपवंश ग्रन्थों के अनुसार धर्मगुप्त, सर्वास्तिवाद और काश्यपीय महीशासक निकाय से निकले और महीशासक स्थविरवाद की शाखा थी। इस तरह इत्सिग चारों निकायों को सर्वास्तिवाद की और दीपवंश तथा महावंश को स्थविरवाद शाखा बतलाते हैं। प्रथम सङ्गीति की तुलना करने से ज्ञात होता है कि स्थविर, महीशासक, धर्मगुप्त और हैमवत का एक समुदाय था और दूसरी तरफ वंशों तथा इत्सिग के स्थविर महीशासक, धर्मगुप्त और काश्यपीय का एक समुदाय था।

स्थविरवाद

स्थविरवाद अति प्राचीन निकाय है। इसे थेरवाद भी कहते हैं। इस निकाय के सिद्धान्तों को ई० पू० दूसरी शती में भिक्षु महेन्द्र द्वारा सिंहल ले जाया गया था जहाँ यह निकाय काफी फला फूला और वहीं से बर्मा आदि समस्त देशों में विकसित हुआ।

इस मत के अनुसार बुद्ध की प्रकृति मानवीय थी, उनमें मानव की तरह अनेक कमजोरियाँ भी थीं, फिर भी उनमें अति मानवीय गुणों की भी कमी नहीं थी। इस निकाय के सिद्धान्त बहुत ही सरल हैं। 'सभी पापों को नहीं करना, कुशल तथा अच्छी बातों को ग्रहण करना और मन को पवित्र रखना।' यही बुद्ध का शासन है।

उपासकों के लिए पञ्चशील का विधान है—हिंसा, झूठ, चोरी, काममिथ्याचार और सुरा-मेरय व्यसनों से विरत रहना। यदि वह भिक्षु हो जाय तो उसे बाकी जीवन ब्रह्मचर्य का बिताना होता है और कुशल कर्म-पथों का उसे दृढ़तापूर्वक पालन करना अनिवार्य होता है। दस कुशल कर्म-पथ होते हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, काममिथ्याचार, पैशुन्य, पारुष्य, सम्भिन्नप्रलाप, मालागन्धविलेपन, नरम गद्देदार आसनों और बिस्तरों के उपयोग से तथा सोना-चाँदी वा रुपये-पैसों से विरत रहना (इन्हें नहीं करना)। भिक्षुओं के लिए ध्यान-समाधि करना भी जरूरी होता है; इसी से उसे प्रज्ञा-लाभ होता है। प्रज्ञा से ही वह चार आर्य सत्यों एवं प्रतीत्य समुत्पाद का साक्षात्कार करता और निर्वाण-लाभ करता है। अर्हत्त्व-लाभ करना ही इस निकाय का महान् उद्देश्य होता है।

स्थविरवाद के अनुसार संसार की समस्त वस्तुएँ नाम और रूप में निर्मित हुई हैं। ये नाम-रूप चार महाभूत तथा संज्ञा, संस्कार, विज्ञान और वेदना है। ये सभी अनित्य, दुःख और अनात्म हैं। उपर्युक्त नाम-रूप के छह, बारह और अठारह भेद हो जाते हैं जिन्हें क्रमशः इन्द्रिय, आयतन तथा धातु कहते हैं।

आचार्य अनुरुद्ध ने वस्तुओं को चार भागों में बाँटा है—चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण। पुनः चित्त के 89, चैतसिक के 52, रूप के 28 और निर्वाण 1, इस प्रकार चित्त आदि के कुल 170 भेद माने हैं। स्थविरवादी निर्वाण को दो प्रकार का मानते हैं—सोपधिशेष निर्वाण अर्थात् जिसमें पंचस्कन्ध शेष रहते हैं और निरुपधिशेष निर्वाण, जिसमें पञ्चस्कन्ध से भी भिक्षु मुक्त होता है। थेरवाद के मत से भिक्षु आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग पर चलकर, सांसारिक दुःखों का अन्त कर निर्वाण प्राप्त कर सकता है। बुद्ध ने भी दुःखों का अन्त कर परिनिर्वाण-लाभ किया था।

महीशासक

पाली सूत्रों के अनुसार यह निकाय थेरवाद से निकला है, फिर इससे सर्वास्तिवाद। किन्तु कुछ का कहना है कि यह निकाय सर्वास्तिवादियों से निकला है। इस निकाय का विकास लंका में अधिक हुआ।

महीशासक थेरवादियों की ही तरह चार आर्य सत्यों में विश्वास करते थे। ये केवल वर्तमान में ही विश्वास करते थे। इनका विश्वास था कि अर्हत् पुनः लौटकर नहीं आता। कोई देव पवित्र जीवन नहीं बिता सकता और न ही अविश्वासी को कोई शक्ति प्राप्त हो सकती है। अन्तराभव कोई भव नहीं होता। बुद्धों को दिया गया दान ही श्रेष्ठ दान है। इनका कहना है कि अष्टाङ्गिक मार्ग में से वाक् कर्म और

आजीव सम्यक् तत्त्व नहीं हैं। ये केवल मानसिक दशाएँ हैं। अतएव इन्हें मार्ग से निकाल वना चाहिए। ये महीशासक नौ असंस्कृत धर्मों को मानते हैं—(1) प्रतिसंख्या-निरोध, (2) अप्रतिसंख्यानिरोध, (3) आकाश, (4) आनेज्जता, (5) कुशलधर्म-तथना, (6) अकुशलधर्मतथता, (7) अव्याकृतधर्मतथता, (8) मार्गाङ्गतथता और (9) प्रतीत्यसमुत्पादतथता।

सर्वास्तिवाद

सर्वास्तिवाद निकाय थेरवादियों के अति निकट है। जब थेरवाद का सूर्य अस्त हो रहा था तब सर्वास्तिवाद का चन्द्रोदय हो रहा था। इस निकाय के प्रधान आचार्य वसुबन्धु थे। यह निकाय सम्राट् कनिष्क के शासन-काल में सर्वाधिक फला-फूला। इनके ही राज्य-काल में एक बौद्ध संगीति का आयोजन हुआ था जिसके प्रधान आचार्य वसुबन्धु और वसुमित्र थे। सम्राट् के ही दिनों में त्रिपिटक के पाठ एवं मन्त्र-तन्त्र ताँबे के पत्तों पर उत्कीर्ण कर स्तूपों में रखवा दिये गये थे जो अप्राप्त हैं।

सर्वास्तिवाद निकाय 'सर्व अस्ति' अर्थात् सब कुछ है, इसमें विश्वास करता है। यह यथार्थवादी निकाय है। ये भूत, भविष्य एव वर्तमान को भी मानते हैं। ये नैरात्म्य में विश्वास करते हैं। तत्त्वों की अनेकता मानते हैं। इसके अनुसार 75 तत्त्व हैं, जिनमें 72 संस्कृत और 3 असंस्कृत हैं। संस्कृतों में रूप 11, चित्त 46, चित्त-विप्रयुक्त 14, एक अविज्ञप्ति-रूप है। असंस्कृतों में आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध तथा अप्रतिसंख्यानिरोध, ये सभी 75 धर्म हैं। ये समस्त धर्म हेतु-प्रत्यय से सम्बन्धित हैं, इसी से इस निकाय को हेतुवाद भी कहा गया है। ये सर्वास्तिवादी विभाषाशास्त्र को मानते थे, इसी कारण इन्हें वैभाषिक भी कहा गया है।

हैमावत

इस निकाय को हैमावत इसलिए कहते हैं कि इस सम्प्रदाय का जन्म हिमालय की तराई में हुआ था। कहा जाता है, ये स्थविरवादियों के वंशज थे। इस मत के सिद्धान्त भी थेरवाद के समान ही थे।

वात्सीपुत्रीय

वात्सीपुत्रीय वत्सदेशी थे। इनका गढ़ कौशाम्बी था। ये पुद्गल के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। इनका कहना था कि पुद्गल एक स्थिर तत्त्व है। इससे सम्बद्ध सूत्र इन्होंने खोज निकाला, जिसमें पुद्गल शब्द प्रयुक्त हुआ था। लगता है, इसी से

आचार्य वसुबन्धु ने भी अपनी विशिष्टतम रचना 'अभिधर्मकोश' के अन्त में पुद्गलवाद के खण्डनार्थ एक नवाँ अध्याय जोड़ा है।

वात्सीपुत्रीयों का कहना है कि पुद्गल न स्कन्धों के समान था, न उनसे भिन्न था। ये मानते थे अर्हत् का पतन हो सकता है और अविश्वासी भी चमत्कार दिखला सकता है। निकाय-विशेष राजा हर्षवर्धन के समय में अधिक फला-फूला था। इस मत के माननेवालों को आवन्तिक भी कहा गया है।

धर्मगुप्तिक

धर्मगुप्तिक, जैसा कहा गया है, चीन में जाकर अधिक विकसित हुए। यह निकाय मध्य एशिया में लोकप्रिय हो गया था। इनका अपना साहित्य भी था, अपना त्रिपिटक था। इनके प्रातिमोक्ष के नियमों का पालन चीन के मठों में किया जाता था।

इनका प्रधान धर्म था—बुद्ध को भेंट चढ़ाना और स्तूपों की श्रद्धा करना। ये महासाङ्घिकों की तरह ही विश्वास करते थे कि अर्हत् पाप-वासनाओं से रहित होता है।

काश्यपीय

यह निकाय थेरवादियों के निकट था। इसी से इन्हें स्थविरीय भी कहते हैं। तिब्बती स्रोतों के अनुसार ये सुवर्षक भी कहे गये हैं। कहा जाता है, ये विभज्यवाद और सर्वास्तिवाद के बीच की कड़ी हैं।

इनका विश्वास था कि गत, जिसका फल मिल चुका है, वह समाप्त हो गया; परन्तु वह, जो अभी पका नहीं है, वह अभी जी रहा है। काश्यपीय सूक्ष्म स्कन्धों को ही सच्चा पुद्गल मानते हैं। पुद्गल वही सूक्ष्म चेतना है जो सारे शरीर में व्याप्त रहती है।

सौत्रान्तिक या संक्रान्तिवाद

ऐसा माना जाता है कि संक्रान्तिवाद काश्यपीय निकाय से निकला है और संक्रान्तिवाद से सौत्रान्तिक निकाय। परन्तु वसुमित्र इन दोनों को एक ही मानते हैं। यह निकाय वस्तुओं की संक्रान्ति में विश्वास करता था, अर्थात् एक वस्तु दूसरे रूप में बदल जाती है। इनका कहना है कि व्यक्ति के पंचस्कन्धों में से एक सूक्ष्म स्कन्ध ऐसा है जो जन्मान्तरित होता है, सम्पूर्ण पुद्गल स्थान्तरित नहीं होता।

महासाङ्घिक

यह निकाय 10 शताब्दियों में ही शक्ति और लोकप्रियता के साथ बहुत ही विकसित हुआ। इसी निकाय से महायान का अभ्युदय हुआ। महासांघिकों ने थेरवा-

दियों के उन सिद्धान्तों को अधिक प्रश्रय दिया जिन्हें उन्होंने हेय समझकर छोड़ दिया था। कुछ नये ग्रन्थों और सिद्धान्तों की महासांघिकों ने अपने ढंग से रचना की और उन्हें अपनाया। इनके निकाय का कोई ग्रन्थ यदि है तो वह महावस्तु या महावस्तु अवदान ही है। इनके साहित्य के प्रचार की भाषा पहले प्राकृत थी और इनके धर्म-सूत्र भी शायद प्राकृत में ही थे।

बुद्ध के परिनिर्वाण की दूसरी शती में महासांघिक कई उपशाखाओं में बँट गया जैसे—एकव्यावहारिक, लोकोत्तरवाद, गोकुलिक, बहुश्रुतीय और प्रज्ञप्तिवाद। इसके बाद एक शैल सम्प्रदाय भी चला जिसे पूर्व और अपर शैल कहा गया है।

प्रारम्भ में महासांघिक विशेष प्रगति पर नहीं था परन्तु आगे चलकर वह समस्त भारत में फैल गया। एक वरदक पात्र अफगानिस्तान में मिला है जिसमें बुद्ध के धातु-भस्म हैं। इसे कमलगुल्व ने हुविष्क के राज्यकाल में महासांघिकों को दिया था। युवान-च्वाङ् को अफगानिस्तान में कुछ विहार एवं मठ देखने को मिले जो महासांघिकों के थे। इस तरह यह निकाय भारत के उत्तर-पश्चिम में अधिक प्रभुत्व-सम्पन्न रहा है।

महासाङ्घिक थेरवादियों की तरह ही सिद्धान्तों को मानते थे जिनमें आर्य सत्य अष्टाङ्गिक मार्ग, अनात्मवाद, कर्म-सिद्धान्त, प्रतीत्य समुत्पाद, बोधिपक्षिक धर्म और आध्यात्मिक विकास की क्रमिक अवस्थाएँ हैं। महासांघिकों के अनुसार अनेकबुद्ध लोकोत्तर हैं, उनके शरीर, आयु और शक्तियाँ असीम हैं, वे न तो सोते हैं, न स्वप्न देखते हैं, वे केवल आत्मस्थित हैं और सदैव समाहित एवं समाधिस्थ रहते हैं। वे नाममात्र देशना करते हैं। जब तक परिनिर्वाण प्राप्त नहीं हो जाता तब तक बुद्धों को क्षय-ज्ञान ही रहता है और फिर अनुत्पाद ज्ञान होता है। बुद्ध मानव से परे थे। ऐसे ही विचारों ने महायान के त्रिकायवाद को जन्म दिया। इनका कहना है कि बुद्ध साधारण मनुष्य की तरह चार गर्भस्थ स्थितियों से नहीं गुजरते, वे माता की कुक्षि में सफेद हाथी के रूप में प्रवेश करते हैं और माता की दाहिनी कोख से जन्म लेते हैं। ये कामवासना से परे होते हैं। महासांघिकों का कहना है कि बुद्ध जब चाहे तब सत्त्वों के कल्याणार्थ जन्म ले सकते हैं। इस तरह बुद्ध और बोधिसत्त्वों की देवरूप कल्पना महासांघिक निकाय में की गई है।

बहुश्रुतीय

इस निकाय का जन्म बहुश्रुतीय आचार्य से हुआ माना जाता है। यह महासांघिकों की ही एक शाखा थी। इनके सिद्धान्त थे कि बुद्ध के उपदेश अनित्य,

दुःख, शून्य, अनात्म और निर्वाण सम्बन्धी थे। ये मानते थे कि बुद्ध की देशना लोकोत्तर है। वे बहुश्रुतीय महादेव के पाँच नियमों का पालन करते थे। परमार्थ का कहना है कि इस शाखा ने हीनयान और महायान को एक करने की काफी कोशिश की जो व्यर्थ रही। वैसे, इन्हें दोनों के बीच की कड़ी अवश्य माना जा सकता है। ये दो सत्य मानते थे—संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य। बुद्धकाय और धर्मकाय के सिद्धान्तों को भी वे मानते थे। ये बुद्ध की विशिष्ट शक्तियों में अधिक विश्वास करते थे; जैसे—बुद्ध के दस बल और चार वैशारद्य इत्यादि।

चैत्यवाद

महादेव नामक उपदेशक से इस नियम का प्रारम्भ होता है जो एक महान् विद्वान् थे तथा जिन्होंने पर्वत पर स्थित चैत्य के समीप योग-साधना की थी। इनके उपदेश रम्य होने से इनको शिष्य-संख्या भी काफी थी। ये चैत्यक कहलाते थे। वह चैत्यवाद शैल मतों का मूल था।

चैत्यवादी अधिकतर महासांघिकों के ही सिद्धान्त मानते थे, फिर भी इनके अपने विशिष्ट सिद्धान्त थे, जैसे—

(1) इनका कहना था कि चैत्यों के निर्माण, अलंकरण और पूजा से बड़ा पुण्य मिलता है। चैत्यों की प्रदक्षिणा भी पुण्यदायक होती है।
(2) चैत्यों को फूल, मालाएँ, सुगन्ध आदि चढ़ाना कल्याण के लिए होता है।
(3) भेंट आदि चढ़ाने से पुण्य-लाभ होता है।
(4) बुद्ध राग-द्वेष एवं मोह से विरहित हैं। बुद्ध अर्हतों से बढ़कर हैं। ये दस बलों से युक्त होते हैं।
(5) इनका कहना है कि सम्यग्दृष्टि अद्वेषी नहीं होता, अतः वह पाप से मुक्त नहीं है।
(6) निर्वाण अमृत है।

इस तरह उपर्युक्त अष्टादश निकायों का संक्षिप्त वर्णन है। इसी से आगे चल कर धीरे-धीरे महायान का उदय हुआ और उसका विकास होकर समस्त भारत में ही क्या एशिया के अधिकांश देशों में जाकर वह समृद्ध हुआ।

6. हीनयान और महायान में अन्तर

यह अध्याय प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन तथा हीनयान दर्शन तक ही सीमित रखा गया है, अतः यहाँ हम महायान का विस्तृत वर्णन न देकर केवल हीनयान और महायान में अन्तर दिखलाना आवश्यक समझते हैं।

महायान बौद्ध धर्म का विकसित स्वरूप है, इसमें दो राय नहीं हो सकती। इसके मूल बीज प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में देखे जा सकते हैं। वास्तव में महायान का कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसका मूल बीज बौद्ध धर्म के मौलिक रूप में न दिखाया जा सके। उदाहरणतः माध्यमिकों का शून्यवाद प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के त्रिलक्षण—अनित्य दुःख और अनात्म का ही विकसित रूप है। विश्व के कल्याण की कल्पना, जो विकसित महायान में विशेष रूप से दृष्टिगत होती है, उसके बीज भी हम भगवान् के प्रथमोपदेश में पाते हैं जिसमें कहा गया है कि 'चरथ, भिक्खवे, चारिकं बहुजन-हिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं'।[1]

करुणा की भावना, जो महायान में चरम सीमा पर पहुँच गई थी, वह भी प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में चार ब्रह्म विहारों के रूप में पाई जाती है। बोधिसत्त्व की अद्वितीय कल्पना, जो महायान दर्शन का केन्द्र-बिन्दु है, वह भी पालि निकायों में बिखरी पड़ी है। पालि निकायों में कई सुत्तों में इस प्रकार के वाक्य हम पढ़ते हैं 'बुद्ध होने से पूर्व मैं बोधिसत्त्व ही था।' बोधिसत्त्व का अर्थ बोधि के लिए यत्नशील प्राणी होता है। भगवान् इस प्रकार अपने पूर्व जन्मों में, जब वे बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए साधना कर रहे थे, बोधिसत्त्व थे। जातक की कहानियाँ बुद्ध के पूर्व जन्मों से सम्बन्धित हैं, अर्थात् वे बोधिसत्त्वों की कहानियाँ हैं। इस प्रकार बोधिसत्त्व का विचार पालि साहित्य में सुप्रतिष्ठित है, परन्तु महायान में इसे एक निश्चित एवं व्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में विकसित किया गया है।[2]

अब हम संक्षेप में हीनयान और महायान के भेद प्रस्तुत करेंगे—

हीनयान अनित्यता, दुःखता और अनात्मता को मानता है, जबकि महायान आगे बढ़कर इसमें शून्यता जोड़ता है। हीनयान से साधक का आदर्श आस्रवक्षय अर्थात् व्यक्तिगत निर्वाण की प्राप्ति होती है जबकि महायान का आदर्श समस्त संसार को मुक्त कराने का है। हीनयान पुद्गल-शून्यता को मानता है, जबकि महायान धर्म-शून्यता को। हीनयान में छह पारमिताएँ बतलायी गई हैं। महायान में दस पारमिताओं का बारम्बार वर्णन है। हीनयान में ध्यान-योग का महत्त्व है और महायान बोधि-सत्त्वयान द्वारा महाकरुणा-प्रधान है। बोधिसत्त्व का लक्ष्य केवल अपना बुद्धत्व प्राप्त करना नहीं, किन्तु सहस्रों प्राणियों को बुद्धत्व का लाभ कराना है। इसलिए महायान में असंख्य बुद्धों और बोधिसत्त्वों की कल्पना की गई है और बोधि-चित्त की प्राप्ति के

1. विनयपिटक, 1/21
2. भरतसिंह उपाध्याय : बौद्ध धर्म और अन्य भारतीय दर्शन, पृ० 604

लिए मार्ग बतलाया गया है। दस भूमियाँ—मुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती, धर्ममेघभी महायान की विशेष देन हैं। इनका वर्णन हीनयान में नहीं के बराबर है। त्रिकाय की कल्पना भी हीनयान में नहीं मिलती। हीनयान में केवल निर्माण-कायों (धर्मकाय, सम्भोगकाय, निर्माण-काय) का ही वर्णन है। बुद्धों की विशेषताएँ, यथा दस बल, चार वैशारद्य, बत्तीस महापुरुष-लक्षण, अस्सी अनुव्यञ्जन, अष्टादश आवेणिक धर्म यद्यपि हीनयान में भी मिलते हैं, तथापि महायान में इनका विशेष वर्णन किया गया है और इनकी प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्न करने को कहा गया है। महायान में प्रज्ञापारमिता की प्राप्ति की बहुत प्रशंसा की गयी है। महायान प्रत्येक बुद्ध और श्रावक को हीन दृष्टि से देखता है। 'श्रावक' और 'अर्हत्' शब्द का प्रयोग महायान में समान रूप में किया गया है। हीनयान में अर्हत्त्व पद एक गौरवपूर्ण पद माना गया है। स्वयं भगवान् बुद्ध भी अर्हत् कहे गये हैं। किन्तु महायान में सम्यक् सम्बोधि ही चरम लक्ष्य मानी गयी है। महा-यान आत्मार्थ को छोड़कर परार्थ की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है। महायान में बुद्धों की पूजा का विशेष वर्णन मिलता है, जबकि हीनयान में ध्यान आदि साधनाओं पर अधिक जोर दिया गया है। हीनयान में साधक निर्वाण-प्राप्ति से ही सन्तुष्ट हो जाता है, जबकि महायान में बुद्ध-ज्ञान, सर्वज्ञता, अनुत्तरज्ञान या 'सम्बोधि', जिसे 'तथता' भी कहा गया है, उनके लिए सत्त्व प्रयत्नशील होता है। हीनयान का परमार्थ महायान के लिए संवृत्ति-सत्य है। महायान का परमार्थ सत्य या परिनिष्पन्न सत्य तो केवल धर्म-शून्यता है। धीरे-धीरे महायान में मन्त्रों और धारणियों का भी समावेश हो गया जबकि हीनयान इनसे मुक्त रहा। हीनयान शील और समाधि-प्रधान है जबकि महायान करुणा और प्रज्ञा-प्रधान है। यह सब कहते हुए भी इसमें सन्देह नहीं कि महायान के सम्पूर्ण सिद्धान्तों की आधारभूमि बुद्ध-वचन ही हैं जो प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में बिखरे पड़े हैं।

●

अध्याय 8

महायान दर्शन

बुद्ध के जीवनकाल में ही उनके शिष्यों में फूट का प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं।[1] किन्तु उनके मोहक व्यक्तित्व के कारण वे दबी रहीं। उनकी मृत्यु के बाद वे उभर-कर सामने आईं और सवा सौ वर्षों के अन्दर ही बौद्ध धर्म स्थविर और महासङ्घिक नाम के दो निकायों में विभक्त हो गया। महासङ्घिक विचारकों ने स्थविरवादियों का अपमान करने के लिए उन्हें हीनयान शब्द से और अपने को महायान शब्द से अभि-हित किया। अशोक से लेकर कनिष्क तक बौद्ध धर्म में जिन प्रवृत्तियों का जन्म हुआ और उसके बाद जो मुख्य रूप से चर्चा का विषय रहीं वे सभी महायान बौद्ध दर्शन की परिधि में आती हैं।[2] महायान के अनुयायियों के जीवन का लक्ष्य बोधिसत्त्व बनना है, अतः इसे बोधिसत्त्वयान भी कहते हैं।

महायान धर्म की मूल शिक्षाएँ सूत्र ग्रन्थों में संगृहीत हैं। इसे महायान सूत्र और वैपुल्य सूत्र भी कहते हैं। इनमें से निम्नलिखित 9 सूत्र ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। इन्हें नौ धर्म भी कहते हैं। ये नौ ग्रन्थ हैं : 1. अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, 2. गण्डव्यूह, 3. दशभूमीश्वर, 4. समाधिराज, 5. लंकावतार, 6. सद्धर्मपुण्डरीक, 7. तथागतगुह्यक, 8. ललितविस्तर और 9. सुवर्णप्रभास।

["चन्द्रकीर्ति ने माध्यमिक कारिका की अपनी 'प्रसन्नपदा' नामक टीका में उपर्युक्त सूत्रों के अतिरिक्त कुछ अन्य सूत्र ग्रन्थों से भी उद्धरण दिये हैं, जिनमें प्रमुख ये हैं : शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, गगनगंज, दृढ़ाध्याशयसञ्चोदनासूत्र, ध्यायितमुष्टसूत्र, पितापुत्रसमागमसूत्र, महायानसूत्र, मारदमनसूत्र, रत्नकूटसूत्र, राष्ट्रपालपरिपृच्छासूत्र, वज्रच्छेदिकासूत्र, विमलकीर्तिनिर्देशसूत्र, शालिस्तम्बसूत्र, समाधिसूत्र, सुखावतीव्यूहसूत्र, अमितायुर्ध्यानसूत्र, हस्तिकाख्यसूत्र इत्यादि।[3]

1. देवदत्त का विद्रोह इसका स्पष्ट प्रमाण है।
2. इण्डियन फिलॉसफी, प्रथम भाग, पृ० 589
3. ए हिस्ट्री आव् इण्डियन फिलासफी, भाग 1, पृ० 125

बौद्ध धर्म में सूत्र ग्रन्थों को बुद्ध की मूल शिक्षा माना जाता है और शास्त्र ग्रन्थों को मूल शिक्षाओं की दार्शनिक और विद्वत्तापूर्ण व्याख्या। महायान ग्रन्थ प्राय: सूत्र ग्रन्थ हैं। इस कारण महायान के लोग इन्हें बुद्ध की मूल शिक्षा मानते हैं। किन्तु यह साहित्य इतना विपुल है कि इसे बुद्ध की मूल शिक्षा मानना असम्भव है। विद्वानों के अनुसार इनका रचना-काल ई० पू० दूसरी शताब्दी से लेकर तीसरी-चौथी शताब्दी तक है।[1] सूत्र ग्रन्थों के अतिरिक्त अश्वघोषकृत 'महायानश्रद्धोत्पाद', बुद्ध-चरित', 'सौन्दरनन्द' और 'वज्रसूची', आर्यशूरकृत[2] 'जातकमाला' असंगकृत 'महायानसूत्रालंकार' तथ शान्तिदेवकृत 'बोधिचर्यावतार' और 'शिक्षासमुच्चय' इत्यादि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं जिनमें महायान के सिद्धान्तों का निरूपण बहुत ही अच्छे ढंग से किया गया है।"[3]]

असंग ने अपने महायानाभिधर्मसङ्गीतिशास्त्र[4] में महायान की सात विशेषताओं का उल्लेख किया है। आधुनिक विद्वानों ने हीनयान और महायान के भेद को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

(1) **व्यापकता**—हीनयान गौतम बुद्ध की शिक्षाओं तक ही सीमित है किन्तु महायान का जहाँ तक सम्बन्ध है, वर्धमान, कन्फ्यूशियन, लुओजो, शिण्टो, मूसा, जरतुश्त, सुकरात, ईसा और मोहम्मद आदि सभी धर्म-प्रवर्त्तकों और महात्माओं की शिक्षा में बुद्ध की शिक्षा के दर्शन होते हैं।

(2) **प्राणिमात्र के लिए करुणा**—हीनयान का लक्ष्य व्यक्ति का निर्वाण मात्र है। किन्तु महायान विश्व के निर्वाण के लिए प्रयत्नशील है। उसके अनुसार अर्हत् का पद, निर्वाण और तज्जन्य सुख तो मार का प्रलोभन मात्र है।[5]

(3) **पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य**—हीनयान केवल पुद्गल-नैरात्म्य में विश्वास करता है। उसके अनुसार आत्मा नाम की कोई चीज नहीं। किन्तु महायान

---

1. वही, पृ० 125
2. अश्वघोष सम्प्रदाय के कवि। इनका समय चौथी शताब्दी माना जाता है।
3. विस्तार के लिए देखिये, इण्डियन फिलॉसफी, भाग 1, पृ० 585
4. आउटलाइन्स आव् महायान बुद्धिज्म, पृ० 62-65
5. अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, 11; इण्डियन फिलॉसफी, भाग 1, पृ० 601 पर उद्धृत।

पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य दोनों में विश्वास करता है। उसके अनुसार आत्मा और धर्म कुछ भी नहीं है।

(4) **अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति**—बोधिसत्त्व प्राणियों के निर्वाण के लिए प्रयत्न करते समय कभी भी थकावट और निराशा का अनुभव नहीं करता, भले ही उसे इस लक्ष्य की प्राप्ति में अनन्त काल लग जाये।

(5) **उपाय-कौशल्य**—बोधिसत्त्व का लक्ष्य प्राणिमात्र को निर्वाण के शाश्वत आनन्द की अनुभूति कराना क्ष्य की प्राप्ति के लिए वह असंख्य उपायों को काम में लाता है। वह प्रत्येक व्यक्ति के निर्वाण के लिए उसी उपाय को काम में लाता है जो उसकी परिस्थिति और बौद्धिक क्षमता के सबसे अधिक अनुकूल होता है।

(6) **उच्चतर आध्यात्मिक उपलब्धि**—हीनयान में साधक की सर्वोच्च उपलब्धि अर्हत् का पद है। किन्तु महायान में साधक बुद्धत्व को प्राप्त करता है। बुद्ध की समस्त आध्यात्मिक शक्तियाँ उसे उपलब्ध हो जाती हैं।

(7) **बृहत्तर क्रिया**—बुद्धत्व की अवस्था प्राप्त करने पर बोधिसत्त्व ब्रह्माण्ड की दसों दिशाओं में प्रत्येक स्थल पर अपने को प्रकट कर सकता है। वह प्राणियों की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर उन्हें निर्वाण का अमृत पद प्राप्त करा सकता है।

प्रोफेसर बी० एल० सुजुकी ने हीनयान और महायान का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

(1) **बुद्धत्व की व्याख्या**—हीनयान में बुद्ध एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, किन्तु महायान में वे एक तात्त्विक और आध्यात्मिक सत्ता हैं। संसार में अब तक असंख्य बुद्ध हो चुके हैं और असंख्य होंगे। शाक्यमुनि बुद्ध उन्हीं में से एक हैं। परमतत्त्व धर्मकाय है, वही प्राणियों के उद्धार के लिए बुद्ध के रूप में अवतार लेता है और अवतार के पूर्व तुषित लोक में विहार करता है। धर्मकाय के इन रूपों को क्रमशः निर्माणकाय और सम्भोगकाय कहते हैं।

(2) **बुद्धत्व की प्राप्ति**—महायान में प्रत्येक व्यक्ति बुद्धत्व की प्राप्ति का अधिकारी है क्योंकि सभी में बुद्धत्व सहज रूप से विद्यमान है और सभी में बोधि-प्राप्ति की उत्कण्ठा है। किन्तु हीनयान के अनुसार बुद्धत्व सबमें नहीं है। अष्टांग मार्ग की साधना कर लोग इसे अर्जित कर सकते हैं।

(3) **सामान्य व्यक्ति की स्थिति**—हीनयान में गृहस्थ और भिक्षु में काफी अन्तर है किन्तु महायान में यह अन्तर काफी कम हो गया है।

(4) **निर्वाण के अर्थ में भेद**—हीनयान के अनुसार यह शान्ति या पूर्ण विराम की अवस्था है। यह एक गुण है जिसकी अष्टांग मार्ग द्वारा प्राप्ति होती है। महायान के अनुसार संसार और निर्वाण में तनिक भी भेद नहीं है। प्रज्ञापारमिता की आराधना कर हमें संसार और निर्वाण की एकरूपता को समझना है।[1]

कर्म तथा परिवर्त का सिद्धान्त

हीनयान में प्रत्येक व्यक्ति को अपने शुभ और अशुभ कर्मों का फल भोगना पड़ेगा। उससे उसे कोई बचा नहीं सकता। किन्तु महायान में बुद्ध करुणा करके दुःख-सन्तप्त व्यक्ति को अपने शुभ कर्मों का फल प्रदान कर दुःख से मुक्त कर सकते हैं।

महायान बौद्ध दर्शन के दो प्रमुख सम्प्रदाय हैं :—(1) माध्यमिक दर्शन या शून्यवाद तथा (2) योगाचार दर्शन या विज्ञानवाद। इन दोनों सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन क्रमशः इस प्रकार है—

माध्यमिक दर्शन या शून्यवाद

माध्यमिक दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त महायान सूत्रों में बिखरे हुए हैं। उन्हें एकत्र कर एक सुव्यवस्थित दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय नागार्जुन को है।[2] नागार्जुन के अतिरिक्त आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति, बुद्धपालित, भव्य या भावविवेक और शान्तिदेव इस निकाय के प्रमुख दार्शनिक हैं। इस निकाय का विकास-प्रवाह नागार्जुन के जीवन काल से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। 'मूलमाध्यमिककारिका', 'चतुःशतक', 'प्रसन्नपदा', मध्यमकवृत्ति', 'तर्कज्वाला', 'बोधिचर्यावतार' और 'शिक्षासमुच्चय' इस निकाय के प्रमुख ग्रन्थ हैं। भगवान् बुद्ध ने अपनी शिक्षा को मध्यमा प्रतिपत् कहा था। नागार्जुन ने अपने एक विशिष्ट ग्रन्थ में इस सिद्धान्त का बहुत ही तार्किक ढंग से प्रतिपादन किया है, इसलिए उसे मध्यमक

---

1. महायान बुद्धिज्म, पृ० 16–17
2. नागार्जुन और आर्यदेव का जीवन-काल विवाद का विषय है। संभवतः ये दूसरी शती में थे। नागार्जुन विदर्भ के निवासी थे और आर्यदेव सिंहल के। आर्यदेव नागार्जुन के शिष्य थे।

शास्त्र कहा जाता है और इस ग्रन्थ के सिद्धान्तों के अनुयायियों को माध्यमिक।[1] इस निकाय को शून्यवाद भी कहते हैं, क्योंकि नागार्जुन के अनुसार शून्यता, प्रतीत्य समुत्पाद और मध्यमा प्रतिपत् वस्तुतः एक ही हैं।[2] शून्यता का प्रतिपादन करने के कारण हिन्दू दार्शनिक इन्हें सर्ववैनाशिक भी कहते हैं। इस निकाय के निम्नलिखित सिद्धान्त हैं—(1) तत्त्व (शून्य), (2) तत्त्व के दो स्वरूप—संवृति और परमार्थ (संसार और निर्वाण) तथा (3) तत्त्व-प्राप्ति की विधि, प्रज्ञा और करुणा।

शून्य (तत्त्व)

सामान्य भाषा में शून्य से 'अभाव' का बोध होता है, किन्तु माध्यमिक दर्शन में इस शब्द से सामान्य अर्थ के अतिरिक्त एक विशिष्ट अर्थ का भी बोध होता है। यह विशिष्ट अर्थ है तत्त्व। किसी वस्तु का वर्णन तर्क की भाषा में हम चार ही प्रकार से कर सकते हैं। वह 'है' या 'नहीं है' या 'है और नहीं है' या 'न तो है और न नहीं है।' किन्तु तत्त्व के विषय में हम कुछ भी नहीं कह सकते। यह चतुष्कोटिविनिर्मुक्त और अनभिलाप्य है।[3] यही बात वस्तु के स्वभाव के विषय में भी लागू होती है। उसका वर्णन भी तर्क की किसी कोटि द्वारा नहीं किया जा सकता। इस बात को ध्यान में रखकर तत्त्व और वस्तु दोनों ही के लिए शून्य शब्द का प्रयोग किया गया है। व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर यह सापेक्षता, प्रतीत्य समुत्पाद या संसार है जिसमें तत्त्व (भूततथता) का अभाव है; और पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर यह तत्त्व या निर्वाण है जहाँ नानात्व का अभाव है। संसार अनिर्वचनीय है, क्योंकि हम इसे सद्, असद्, सदसद् और सदसद्विलक्षण कुछ भी नहीं कह सकते; इसी प्रकार तत्त्व भी अनिर्वचनीय है। कहने का अर्थ यह कि सब कुछ शून्य है। संसार शून्य है, क्योंकि उसमें तत्त्व का अभाव है। वह स्वभाव-शून्य है। इसी प्रकार तत्त्व भी शून्य है, क्योंकि उसमें प्रपंच या नानात्व का अभाव है। यह प्रपंचशून्य है। इस प्रकार शून्य शब्द का प्रयोग सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों अर्थों

---

1. 'मध्यमकम् अधीते विदन्ति वा'।—द कन्सेप्शन आव् बुद्धिस्ट निर्वाण, भूमिका, पृ० 4 पर उद्धृत।
2. यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे
   सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा।—माध्यमिककारिका, 24/18
3. न सन्नासन् न सदसन् न चाप्यनुभयात्मकम्
   चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः।

में किया गया है। यह संसार और निर्वाण दोनों ही है। जो प्रपंचात्मक है, जिसकी उत्पत्ति हेतु-प्रत्यय सामग्री से है, उसे तत्त्व कैसे कहा जा सकता है ? सभी व्यावहारिक वस्तुएँ प्रतीत्य समुत्पन्न हैं ? सभी धर्म सकारण हैं, अतः उनका वास्तविक अस्तित्व कैसे माना जा सकता है ? इसलिए पारमार्थिक दृष्टि से विचारने पर वे अनुत्पन्न (परमार्थतोऽनुत्पन्न) हैं। इसलिए वे स्वभाव-शून्य, निःस्वभाव या अनात्मन् हैं। अतः शून्य का अर्थ अभाव नहीं बल्कि रहित है। सांसारिक वस्तुएँ तत्त्व से रहित हैं और तत्त्व प्रपंच से रहित है। शून्यवादी 'अस्ति', 'सत्' और 'भाव' का अर्थ शाश्वत सत्य के रूप में लेते हैं। उनके अनुसार संसार की वस्तुएँ सत् नहीं हैं, क्योंकि वे शाश्वत नहीं हैं। वे नश्वर हैं। कुछ काल में उनका विनाश हो जायगा। अतः जो लोग शाश्वत अर्थ में संसार के अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं वे भ्रम में हैं। इसी प्रकार जो लोग संसार के अस्तित्व को नहीं मानते वे भी भ्रम में हैं, क्योंकि वे संसार के अल्पकालीन अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करते। संसार शाश्वत भले ही न हो, किन्तु उसके व्यावहारिक अस्तित्व को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है ? वृश्चिक-दंश की पीड़ा को कैसे भुलाया जा सकता है ? अतः शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों ही मिथ्या हैं। तत्त्व के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। वह दोनों के परे है।[1] समस्त वर्णन बुद्धि के द्वारा ही किया जाता है, किन्तु बुद्धि विप्रतिषेधों (antinomies) से युक्त है। इसकी चार ही कोटियाँ हैं, किन्तु चारों परस्पर-विरोधी हैं और 62 विप्रतिषेधों को जन्म देती हैं।[2] अतः तत्त्व बुद्धि की सभी कोटियों से परे है। वस्तुतः उसकी अनुभूति प्रज्ञा द्वारा ही हो सकती है।

यद्यपि माध्यमिक दार्शनिकों ने जगत् का वर्णन अलातचक्र, स्वप्न, माया, प्रतिबिम्ब, प्रतिध्वनि और मृगतृष्णा के रूप में किया है[3], तथापि उन वर्णनों का तात्पर्य पूर्ण अभाव नहीं है। उनका मन्तव्य केवल यह है कि संसार की वस्तुएँ पूर्ण रूप से सत् नहीं हैं, क्योंकि यदि हम उनके वर्णन का यह अर्थ लें कि संसार भ्रम मात्र है, तब भी यह प्रश्न बना ही रहता है कि उस भ्रम का आधार क्या है ? आखिर भ्रम-

---

1. अस्तीति शाश्वतग्रहो नास्तीत्युच्छेद दर्शनम्
   तस्मादस्तित्विनास्तित्वे नाश्रीयेत् विचक्षणः—वही, 15/10
2. दीर्घनिकाय, 1; सद्धर्मपुण्डरीक, 48
3. अलातचक्रनिर्माणस्वप्नमायाम्बुचन्द्रकैः
   धूमिकान्तः प्रतिश्रुत्कामरीच्यभ्रैः समो भवः—चतुःशतककारिका, 325

जन्य सर्प की प्रतीति का आधार भी तो भावमूलक रज्जु ही है। अतः पूर्ण अभाव असम्भव है। इसलिए अनुभवमूलक जगत् के लिए व्यवहृत होने पर भ्रम या शून्य का अर्थ है बाह्य जगत् की सतत परिवर्तनशील अवस्था। इस अर्थ में यह भ्रान्ति है, जिसे सम्बन्धों द्वारा पुष्टि मिलती है। यह संसार कार्य, कारण, अंश और अंशी आदि वर्गणाओं द्वारा निर्मित है, जिसका स्वतः कोई अस्तित्व नहीं। ये हमें केवल कुछ समय के लिए प्रतीयमान यथार्थता का ज्ञान देते हैं जो संवृति का विषय है। घटनाओं के अन्योन्याश्रय-सम्बन्धों का निर्णय करने के लिये वे अनुकूल सिद्ध होते हैं, किन्तु जब वे तत्त्व को यथार्थ रूप में व्यक्त करने का प्रयास करते हैं तो उनमें परस्पर-विरोध उत्पन्न होता है। वे केवल कामचलाऊ विचार मात्र हैं जिनका पारमार्थिक दृष्टि से कुछ भी महत्त्व नहीं है। नागार्जुन का सिद्धान्त कुछ-कुछ ब्रैडले के मत जैसा प्रतीत होता है जो प्रतीयमान् जगत् को सम्बन्धों की क्रीड़ा मात्र मानते हैं। किन्तु दोनों में मौलिक भेद भी है। ब्रैडले के अनुसार विचार पदों के बीच ऐसे सम्बन्धों की स्थापना करता है जो स्वयं उन सम्बन्धों से परे हैं, किन्तु नागार्जुन ग्रीन की भाँति यह मानते हैं कि अनुभव-मूलक जगत् केवल सापेक्ष है। ब्रैडले के अनुसार साधारण ज्ञान एवं विज्ञान से युक्त संसार में कुछ न कुछ ऐसी सत्ता अवश्य है जो सम्बन्धों के रूप में परिणत नहीं हो सकती। किन्तु नागार्जुन के अनुसार यहाँ ऐसी कोई भी सत्ता नहीं है।[1]

किन्तु नागार्जुन अनुभवमूलक जगत् के अधिष्ठान के रूप में एक ऐसे तत्त्व के अस्तित्व में विश्वास करते हैं जो शून्य नहीं, प्रत्युत अपर प्रत्यय, शान्त प्रपंचातीत, निर्विकल्प और अनानार्थ है।[2] इस तत्त्व को नागार्जुन ने परमार्थ शब्द से अभिहित किया है। यह वह तत्त्व है जिसकी देशना शब्दों में सम्भव नहीं है, जिसे सत्, असत्, सदसत् और सदसद्विलक्षण कुछ भी नहीं कहा जा सकता।[3] वस्तुतः शून्यवादियों के दृष्टिकोण से परमार्थ शून्य है[4], इसलिए नहीं कि यह शून्य है, बल्कि

---

1. इण्डियन फिलॉसफी, भाग 1. हिन्दी अनुवाद, पृ० 603
2. अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपंचैरप्रपंचितम्।
   निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम् ॥—माध्यमिककारिका, 18/9
   अपर प्रत्यय वह अनुभव है जिसे किसी को बताया नहीं जा सकता।
   इसे प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए अनुभव करता है।
3. अस्ति नास्ति उभय अनुभय इति चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यत्वम्।—माधवाचार्यकृत सर्वदर्शनसंग्रह।
4. शून्यं तत्त्वम्।

इसलिए कि व्यवहार के लिए प्रयुक्त कोई भी कोटि इसके लिए पर्याप्त नहीं है। इसे सत् कहना गलत होगा, क्योंकि सत् मानने पर यह उत्पत्ति, विनाश और मृत्यु का विषय हो जायेगा। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो इनसे परे हो। यदि इसे हम एक भावमूलक वस्तु मानें तो इसका अर्थ यह होगा कि यह विशेष कारणों और अवस्थाओं से उत्पन्न है, अतः इसका अपना स्वतः अस्तित्व कुछ नहीं। यदि इसे हम एक भावमूलक वस्तु नहीं मान सकते, तो अभावमूलक वस्तु भी नहीं मान सकते, क्योंकि अभाव तो उस वस्तु का होता है, जिसका पहले अस्तित्व रहा हो, किन्तु जो अब नष्ट हो गई हो।[1] यदि हम यह कहें कि तत्त्व शशशृंग या वर्गवृत्त की भाँति अभावमूलक है, तो यह नाम मात्र है, इसका कोई अस्तित्व नहीं। वस्तुतः यह अनभिलाप्य है, क्योंकि चिन्तन की सामग्री का अभाव हो जाने पर अभिधान या नामकरण समाप्त हो जाता है। किन्तु सभी वस्तुओं का सारतत्त्व निरपेक्ष न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है।[2] बुद्ध स्वयं कहते हैं कि उस वस्तु का क्या वर्णन किया जाये और उसका कैसे ज्ञान प्राप्त किया जाए, जिसे वर्णमाला के अक्षरों में व्यक्त तक नहीं किया जा सकता। वस्तुतः धर्म का वास्तविक स्वरूप निर्वाण की भाँति अनिर्वचनीय, अगम्य तथा जन्म, मृत्यु, विचार और भाषा की कोटियों से परे है। नागार्जुन के इस शून्य की पूर्वप्रतिध्वनि हमें उपनिषदों में भी मिलती है, जहाँ ब्रह्म का निरूपण शून्य, तुच्छ, अभाव, अव्यक्त, अदृश्य, अचिन्त्य तथा निर्गुण के रूप में किया गया है। 'योगस्वरोदय' में भी सच्चिदानन्द ब्रह्म का शून्य-रूप में ही वर्णन किया गया है।[3] सन्त कबीर भी यही कहते हैं कि 'सत्यों का सत्य' और सभी सत्यों का अधिष्ठान शून्य के रूप में व्यक्त किया जाता है।[4] अतः शून्य अभाव नहीं बल्कि समस्त जगत् का आधार है। कुमारजीव के शब्दों में इसी के कारण जगत् की सभी वस्तुएँ सम्भव हैं, बिना इसके कुछ भी सम्भव नहीं। बुद्ध स्वयं कहते हैं कि हे सुभूति ! शून्यता ही सभी धर्मों का आश्रय है। वे इसका परिवर्तन नहीं कर सकते। किन्तु निरपेक्ष तत्त्व की व्याख्या करने की अपनी अक्षमता के कारण तथा सान्त एवं अनन्त के सम्बन्ध के रहस्य को न समझने के कारण हमें यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि वह शून्य है। ऐसा तो केवल वे ही

---

1. मूलमाध्यमिककारिका, 25/18
2. निवृत्तमभिधातव्यं निवृत्ते चित्तगोचरे।
   अनुत्पन्नाऽनिरुद्धा हि निर्वाणमिवधर्मता ॥—वही, 18/7
3. शून्यं तु सच्चिदानन्दं निःशब्द ब्रह्म शब्दितम्।
4. रवीन्द्रनाथ टैगोर कृत अनुवाद, इण्डियन फिलॉसफी, भाग 1, पृ० ०६५

लोग सोच सकते हैं, जो तत्त्व को मात्र बौद्धिक मानते हैं[1] और जो बुद्धि की कोटियों से परे है उसे असत् मानते हैं। इसकी सत्यता और पूर्णता का बोध तो योगी को निर्वाण के परमानन्द में ही प्राप्त हो सकता है।[2]

प्रश्न उठता है कि यदि तत्त्व अनिर्वचनीय या अनक्षर[3] है तो उसका ज्ञान और उसके विषय में देशना (उपदेश) कैसे संभव है? नागार्जुन के अनुसार तत्त्व का बोध अध्यारोपापवाद विधि द्वारा होता है। व्यवहार का जो रूप हमने तत्त्व पर आरोपित कर रखा है, सम्यक् ज्ञान द्वारा उसे दूर कर हम उसके स्वरूप का बोध करते हैं। हम इसे जानने के लिए संसार की विशिष्ट घटनाओं का उपयोग साधन या उपाय के रूप में करते हैं। ये वस्तुएँ उपाय हैं और तत्त्व 'उपेय' है। इस अनिर्वचनीय तत्त्व का निर्वचन किसी अन्य साधन द्वारा सम्भव नहीं।[4] यद्यपि आरोपित विशेषताएँ तत्त्व भले ही न हों, तथापि वे तत्त्व की ओर अपने आधाररूप में संकेत कर सकती हैं। एक अर्थ में हम तत्त्व के विषय में यह कह सकते हैं कि प्रत्येक वस्तु का ज्ञान वस्तुतः तत्त्व का ही ज्ञान है, क्योंकि तत्त्व इन्हीं रूपों में व्यक्त होता है। दूसरे दृष्टिकोण से विचारने पर यह किसी भी रूप द्वारा ज्ञेय नहीं है, क्योंकि यह मेज, कुर्सी की भाँति कोई विशिष्ट वस्तु नहीं। इसका ज्ञान तो तब होता है जब हमारे सामने कुछ भी नहीं है। वस्तुतः इसकी भाषा मौन है।[5]

तत्त्व जगत् से परे है और जगत् के रूप में व्यक्त होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि तत्त्व और जगत् दो भिन्न सत्ताएँ हैं और न यह कि तत्त्व जगत् के रूप में परिवर्तित होता है, जैसा सांख्य मानता है। वस्तुतः यह प्रतीयमान जगत् का तत्त्व है (धर्माणां धर्मता) और सभी वस्तुओं का वास्तविक रूप (वास्तविक रूपम्) है। सांसारिक वस्तुएँ तत्त्व की मिथ्या प्रतीति (संवृत रूपम्) हैं। इसका रूप सदैव एक-सा रहता

---

1. हेगल की यह धारणा है कि रियल मात्र रैशनल है।
2. इन्डियन फिलॉसफी, भाग 1, पृ० 665
3. अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का।
   श्रूयते देश्यते चार्थः समारोपादनक्षरः ॥ मूलमाध्यमिककारिका 15/5
4. उपायभूतं व्यवहार सत्यमुपेयभूतं परमार्थ सत्यम्।—मध्यमकावतार, 6/80
5. यदा न भावो नाभावो मतेः संतिष्ठते पुरः।
   तदान्यगत्य भावेन निरालम्बा प्रशाम्यति ॥—बोधिचर्यावतार, पृ० 177
   परमार्थो हि आर्याणां तूष्णीम्भाव इति।—माध्यमिककारिकावृत्ति, पृ० 57
   —दि सेन्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म, पृ० 232 पर उद्धृत।

है ।[1] इसलिए दोनों में केवल विषयिगत भेद है, वस्तुगत नहीं । इसलिए नागार्जुन कहते हैं कि तत्त्व और जगत्, संसार और निर्वाण में कुछ भी अन्तर नहीं है ।[2] कार्य-कारण से परे रूप में देखने पर ये दोनों एक हैं ।[3]

नागार्जुन के तत्त्व-सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्होंने जिस दर्शन का प्रतिपादन किया है वह उस अर्थ में शून्य नहीं है जिस अर्थ में हम दैनिक जीवन में शून्य शब्द का प्रयोग करते हैं । किन्तु लोगों ने अज्ञान और पक्षपातवश उनके दर्शन को ठीक से नहीं समझा और उसे पूर्ण रूप से अभाववादी या शून्यवादी ही माना । शून्य का सामान्य अर्थ कर दार्शनिकों ने उनके शून्य सिद्धान्त की कटु आलोचना की और कहा कि यदि सब कुछ शून्य है, यदि उत्पत्ति और निरोध नाम की कोई चीज नहीं तो चार आर्य सत्य भी असत् होंगे और असत् होने पर अर्हत्त्व की चार अवस्थाएँ भी असम्भव होंगी तथा इनके अभाव में कोई भी व्यक्ति इनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करेगा । इसी प्रकार यदि व्यक्ति (पुद्गल) नहीं हैं तो संघ किनका होगा ? पुनश्च, चार आर्य सत्यों के अभाव में सद्धर्म का भी अभाव होगा और धर्म तथा संघ के अभाव में बुद्ध का अस्तित्व भी असम्भव होगा । अतः जो लोग शून्य-वाद का प्रतिपादन करते हैं वे बौद्ध धर्म के त्रिरत्न का ही विरोध करते हैं । अतः शून्यता मानने से धर्म, अधर्म, कर्म, फल, बन्धन और मोक्ष आदि सब असत्य सिद्ध होते हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण लोक-व्यवहार का उच्छेद हो जाता है ।[4]

माध्यमिकों के अनुसार ये सभी आपत्तियाँ निराधार हैं । वस्तुतः ये सभी आपत्तियाँ शून्यता के अभाव में उठती हैं । यदि हम यह मानें कि पदार्थ नित्य हैं तो फिर कार्य, कारण, कर्त्ता, करण (साधन), क्रिया, उत्पाद, निरोध, फल इत्यादि की कोई आवश्यकता नहीं । फिर भी लोक-व्यवहार ही असम्भव हो जायेगा ।[5] यदि सब

---

1. तथता सर्वकालं तथाभावात् ।
2. न संसारस्य निर्वाणात् किंचिदस्ति विशेषणम् ।
   न निर्वाणस्य संसारात् किंचिदस्ति विशेषणम् ॥—मूलमाध्यमिककारिका, 25/19
   तथागतो यत्स्वभावस्तत्स्वभावमिदं जगत् ॥
   तथागतो निःस्वभावो निःस्वभावमिदं जगत् ॥—वही, 22/16
3. य आजवंजवीभाव उपादाय प्रतीत्य वा ।
   सोऽप्रतीत्याऽनुपादाय निर्वाणमुपदिश्यते ॥—वही, 25/9
4. वही, 24/1-6
5. वही, 24/17

पदार्थ अशून्य या नित्य हैं तो दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोध-मार्ग कुछ भी सम्भव नहीं।[1] फिर कर्म और फल के अभाव में पुद्गल का भी अभाव होगा और पुद्गल के अभाव में संघ का भी अभाव होगा।[2] चार आर्य सत्यों के अभाव में धर्म का भी अभाव होगा और धर्म तथा संघ के अभाव में बुद्ध का भी अभाव होगा।[3] तब पाप और पुण्य की व्यवस्था की असिद्धि होगी क्योंकि नित्य पदार्थ को क्या लेना देना। उसके लिए कर्म या विकर्म का प्रश्न ही नहीं उठता। नित्य अशून्य में किसी प्रकार का परिवर्तन भी नहीं हो सकता। अतः संसार को प्रतीत्य समुत्पन्न के स्थान पर नित्य मानने पर सम्पूर्ण लोक-व्यवहार का समूल उच्छेद हो जाएगा।[4] अतः प्रतीत्य समुत्पाद या शून्यता का सम्यक् बोध होने पर ही चार आर्य सत्य इत्यादि सम्भव हैं।[5]

नागार्जुन के अनुसार शून्यता के विषय में वे ही लोग आपत्ति उठाते हैं जिन्होंने इसे ठीक से नहीं समझा।[6] वस्तुतः बुद्ध की शिक्षा दो सत्यों पर आधारित है, संवृत्ति और परमार्थ। जो इस भेद को नहीं जानते वे बुद्ध की गम्भीर शिक्षा को कभी भी नहीं समझ सकते।[7] उनकी दशा उस मूर्ख जादूगर की भाँति है जो स्वतः अपने जादू के वश में हो जाता है, अथवा उस सँपेरे की भाँति जिसे स्वयं उसके ही साँप काट खाते हैं।[8]

बुद्ध की शिक्षा को ठीक से समझने के लिए इन दोनों सत्यों की पृथक् रूप से व्याख्या आवश्यक है।

---

1. वही, 24/20
2. वही, 24/29
3. वही, 24/30
4. वही, 24/36
5. वही, 24/40
6. वही, 24/7
7. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
   लोक संवृति सत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥
   येऽनयोर्न विजानन्ति विभागं सत्ययोर्द्वयोः।
   ते सत्त्वं न विजानन्ति गम्भीरं बुद्धशासने॥—24/8-9
8. विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसम्।
   सर्पो यथा दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता॥—वही, 24/11

संवृति

चन्द्रकीर्ति ने संवृति शब्द के तीन अर्थ किये हैं : (1) वह जो वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को चारों ओर से आवृत किये हैं। चन्द्रकीर्ति ने इसे अज्ञान (मूलाज्ञान या मूलाविद्या) की संज्ञा प्रदान की है। यह अज्ञान या अविद्या द्वारा प्रसूत है और अज्ञान या अविद्या का पर्याय है।[1] (2) यह वस्तुओं का अन्योन्याश्रितत्व या सापेक्षता है। इस अर्थ में यह ऐन्द्रिय जगत् या प्रपंच का पर्यायवाची है।[2] (3) परम्परा से सामान्य जन जिसे मानते आये हैं।[3] संवृति के ये सभी अर्थ परस्पर सम्बद्ध हैं। प्रथम मुख्य अर्थ है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इन सभी अर्थों का महत्त्व है।

वस्तुतः संवृति मानव बुद्धि की कृति है। यही जगत् और उसकी घटनाओं का कारण है। शाब्दिक रूप में संवृति का अर्थ आवरण है जो हमसे सत्य को आवृत किये है। इसके अस्तित्व को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह स्वतःसिद्ध है। स्वप्न देखनेवाला व्यक्ति अपने स्वप्न को किसी प्रकार, किसी भी तर्क द्वारा, असत्य नहीं सिद्ध कर सकता, क्योंकि ये तर्क उतने ही असत्य हैं जितनी कि वह वस्तु जिसकी सत्यता या असत्यता वे सिद्ध कर रहे हैं। स्वप्नगत वस्तु की असत्यता तो हम जागने पर ही सिद्ध कर सकते हैं। यही बात संवृति पर भी लागू होती है। इसकी असत्यता का ज्ञान परमार्थ के साक्षात्कार अर्थात् निर्वाण की अवस्था में ही होगा। संवृति का अर्थ तर्कों द्वारा नहीं खण्डित हो सकता; क्योंकि ये संवृति के ही कार्य हैं। इस अवस्था में ज्ञाता, ज्ञेय, सत्य, असत्य तथा बन्धन और मोक्ष के भेद वैध हैं। किन्तु निर्वाण की अवस्था में ये सभी अवैध हैं। किन्तु संवृति और परमार्थ असम्बद्ध नहीं हैं, क्योंकि इसे मानने का अर्थ पूर्ण अज्ञेयवाद का प्रतिपादन करना होगा। इसलिए नागार्जुन कहते हैं कि बिना व्यावहारिक सत्य के परमार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता।[4]

प्रश्न उठता है कि क्या नागार्जुन समस्त सांवृतिक वस्तुओं को समान रूप से असत् मानते हैं। क्या उनके लिए विभ्रम (निर्मूल भ्रम), भ्रम, स्वप्न और प्रत्यक्ष की वस्तुएँ एक ही प्रकार की सत्यता रखती हैं? यद्यपि कुछ ऐसे कथन मिलते हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि उनके अनुसार धर्मों का संवृति या परमार्थ किसी भी रूप में अस्तित्व नहीं है, वे वन्ध्या-पुत्र की भाँति हैं जिसके सौन्दर्य की प्रशंसा की जा

1. समन्ताद् वरणं संवृतिः। अज्ञानं हि समन्तात् सर्वपदार्थ तत्त्वावच्छादनात् संवृतिरित्युच्यते।—वही, प्रसन्नपदा, पृ० 215
2. परस्पर संभवनं वा संवृतिरन्योन्य समाश्रयेण।
3. अथवा संवृतिः संकेतो लोकव्यवहारः ॥—वही।
4. व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।—मूलमाध्यमिककारिका, 24/10

सकती है, किन्तु जो अपने समस्त सौन्दर्य के साथ असत् है।[1] किन्तु यह नागार्जुन का अभिप्रेत मत नहीं है। वे व्यवहार में विविध प्रकार के अस्तित्व मानते हैं। वे वन्ध्या-पुत्र और सामान्य पुत्र तथा स्वप्नगत मेज-कुर्सी और जागरित अवस्था की मेज-कुर्सी के अन्तर में विश्वास करते हैं। यद्यपि सभी व्यक्ति और सभी वस्तुएँ धर्मों का संघात हैं, फिर भी उनमें इस बात में भेद है कि वे किस प्रकार के धर्मों के संघात हैं। विभ्रम के विषयों का मन के अतिरिक्त अस्तित्व नहीं है। किन्तु अनुभव के विषय देश और काल में अपना अस्तित्व रखते हैं, भले ही वे पूर्ण सत्य न हों। दैशिक और कालिक स्थिति के कारण इनका स्वरूप कुछ निश्चित है और इनके अनुभव की पुनरावृत्ति हो सकती है। ये मात्र आत्मनिष्ठ नहीं हैं, क्योंकि एक ही प्रकार की अवस्थाओं में सामान्य मानवों को इनका साक्षात्कार हो सकता है।[1] किन्तु शुद्ध मानसिक अवस्था दैशिक सम्बन्धों द्वारा नियमित नहीं होती और न देश में विस्तृत होती है। यह क्षणिक स्वभाव की है और केवल विषयी द्वारा ही श्रेय है। अतः शुद्ध मानसिक वस्तुओं की अपेक्षा भौतिक वस्तुएँ अधिक निश्चित हैं। मानसिक प्रतिमाएँ परिवर्तनशील हैं, वे चेतना के प्रवाह के साथ बदलती रहती हैं। इसके विपरीत, प्रत्यक्ष के विषय अपेक्षाकृत अधिक स्थायी हैं और कुछ निश्चित अवस्थाओं में उन्हें पुनः स्थापित किया जा सकता है। इसलिए ललितविस्तर में कहा गया है कि 'संसार की किसी भी वस्तु का अस्तित्व न तो है और न नहीं है'। अतः शून्यवादियों का सांवृतिक जगत् पूर्ण रूप से शून्य नहीं। यह शंकर का व्यावहारिक जगत् है। अभिधर्मनिकाय की नागार्जुनकृत आलोचना पढ़ने से यह बात स्पष्ट रूप से पुष्ट होती है कि वे व्यवहार में आत्मा, कर्त्ता, वस्तु, जाति, प्रत्यक्ष आदि का अस्तित्व स्वीकार

---

1. एक जगह प्रश्न पूछने पर कि क्या हम धर्मों के अस्तित्व का अनुभव नहीं करते, नागार्जुन ने यह उत्तर दिया—हाँ, वैसे ही जैसे कोई अन्धा भिक्षु अपने भिक्षापात्र में बाल का दर्शन करता है। वस्तुतः वह उसे नहीं देखता, क्योंकि न तो बाल का ही अस्तित्व है और न उसके ज्ञान का ही। फिर यदि वह उस बाल के अस्तित्व का हठ करे तो उसे दूर नहीं किया जा सकता, क्योंकि जिस दृष्टि द्वारा उसके बाल सम्बन्धी मिथ्या ज्ञान को मिटाया जा सके, वह दृष्टि उसमें है ही नहीं (इण्डियन फिलॉसफी, भाग 1, पृ॰ 642)। नागार्जुन इस विचार की पुष्टि में बुद्ध-वचन को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि स्त्री, पुरुष, जीवन, संवेदनशील प्राणी या आत्मा आदि कुछ भी नहीं। जितने भी धर्म हैं वे सभी स्वप्न, गल्प और जल में चन्द्र-प्रतिबिम्ब की भाँति असत् हैं। (वही, पृ॰ 659)

करते हैं। वे कहते हैं कि अभिधर्मवादी केवल विज्ञान-प्रवाह और कर्म मानते हैं। किन्तु कर्त्ता और कर्म सापेक्ष शब्द हैं। बिना कर्त्ता के कर्म और बिना कर्म के कर्त्ता असम्भव है।[1] इसी प्रकार वे कहते हैं कि जो केवल आत्मा को ही सत्य मानते हैं, उसकी अवस्थाओं को नहीं, या केवल अवस्थाओं को सत्य मानते हैं, आत्मा को नहीं, वे बुद्ध की शिक्षा को सही अर्थ में नहीं समझते[2]। क्योंकि यदि आत्मा की, उसकी अवस्थाओं से अलग सत्ता नहीं है, वह उसका संघात मात्र है, तो अवस्थाओं की भी आत्मा से अलग सत्ता नहीं है[3]। वे कहते हैं कि यदि व्यावहारिक सत्य का ही चित्रण करना है तो क्षणिक अवस्थाओं के अतिरिक्त क्रिया और कर्त्ता का भी अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए।[4] इसी प्रकार वे व्यवहार ज्ञान के साधनों-प्रमाणों की सत्ता में भी विश्वास करते हैं।[5]

संवृति को भी दो भागों में विभक्त किया गया है—(1) लोक संवृति, (2) अलोक संवृति।

(1) **लोक संवृति**—इससे इन्द्रियों द्वारा ज्ञेय वस्तुओं का बोध होता है। यह स्वस्थ और सामान्य व्यक्ति का ऐन्द्रिक ज्ञान है। इस कोटि में संसार की वस्तुएँ, मेज, कुर्सी, मनुष्य आदि आते हैं।

(2) **अलोक संवृति**—इसमें भ्रमजन्य वस्तुएँ, भ्रमात्मक प्रत्यक्ष और स्वप्नादि की वस्तुएँ आती हैं, जैसे मृगमरीचिका, द्विचन्द्र, अलातचक्र और रज्जु-जन्य सर्प आदि। प्रज्ञाकरमति ने लोक संवृति को तथ्य संवृति तथा अलोक संवृति को मिथ्या संवृति कहा है। यह क्रमशः वेदान्तियों की व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक सत्ता की भाँति है। संवृति में भेद और अवस्था-भेद के लिए स्थान है। सांवृतिक अनुभवों में एक क्रमबद्ध शृङ्खला भी हो सकती है। स्वप्न की वस्तुओं को सामान्य जन भी भ्रमजन्य मानते हैं। योगी या दार्शनिक को जागृत अवस्था की चिरस्थायी और मोहक प्रतीत होनेवाली वस्तुएँ भी क्षणिक और सारहीन प्रतीत हो सकती हैं, क्योंकि उसकी दृष्टि

---

1. मूलमाध्यमिककारिका, 8/12
2. वही, 10/16
3. वही, 17/6
4. माध्यमिककारिकावृत्ति, पृ० 116; दि सेन्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज़्म, पृ० 249
5. सामान्यतः बौद्ध लोग दो ही प्रमाण मानते हैं, किन्तु माध्यमिक नैयायिकों की भाँति चार प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द) में विश्वास करते हैं। —वही, पृष्ठ 75; दि सेन्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज़्म, पृ० 250

सामान्य दृष्टि से उच्चतर है। इसी प्रकार योगियों में भी उच्चतर और निम्नतर श्रेणियाँ हो सकती हैं। ये सभी बुद्धि (विकल्प) के ही प्रांगण में हैं, अतः संवृति के ही क्षेत्र में आती हैं।[1]

परमार्थ

संवृति को व्यवहारतः सत्य कहा जाता है। वस्तुतः सत्य तो परमार्थ ही है। बुद्ध की वे शिक्षाएँ या वे ग्रन्थ जो पारमार्थिक सत्य का प्रतिपादन करते हैं, नीतार्थ कहे जाते हैं और जो संवृति का उपदेश देते हैं वे नेयार्थ कहे जाते हैं।[2] परमार्थ उस तत्त्व का ज्ञान है जिसमें किसी प्रकार के वर्णन के लिए स्थान नहीं।[3] यह अनभिलाप्य, अचिन्त्य और अदेशनीय है। इसकी शिक्षा सम्भव नहीं।[4] यह अनुभवमूलक अवधारणाओं या विशेषणों से शून्य है। यह आर्य जनों की अन्तःप्रज्ञा का विषय है।[5] यहाँ भेद या अवस्था-भेद के लिए स्थान नहीं। ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय इन्हीं दो वस्तुओं के आधार पर भिन्न हो सकता है। चूँकि परमार्थ में इन दोनों का ही अभाव है, अतः

---

1. दो सत्यों का सिद्धान्त बुद्ध अथवा माध्यमिकों ने नहीं प्रतिपादित किया। यह उनके बहुत पहले उपनिषदों में भी प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्म को 'सत्यस्य सत्यम्' और एकमात्र सत्य कहा गया है। सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यम्; तेषामेष सत्यम् (बृहदारण्यक, 2/3/6)। इदं सर्वं यद् अयमात्मा न तद्द्वितीयमस्ति यद् तद् विभक्तं पश्येत्। नह नास्ति किंचन, यत्र नान्यत् पश्यति। इसी प्रकार आभिधर्मिक ग्रन्थों में भी दो प्रकार के सत्य माने गये हैं : विभिन्न धर्मों का मूल तत्त्व जो प्रज्ञा का विषय है और प्रज्ञप्ति सत्........। (देखिये, दि सेंट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म, पृ० 243)। माध्यमिकों को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने इसे सुसम्बद्ध ढंग से प्रतिपादित किया, यद्यपि नागार्जुन के बहुत पहले अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, सद्धर्मपुण्डरीक, समाधिराज और लंकावतारसूत्र में इसका विशद वर्णन है। संवृति के विवेचन के लिए देखिये, बोधिचर्यावतार, 9/3-4
2. दि सेण्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म, पृ० 254
3. यः पुनः परमार्थः सोऽनभिलाप्यः, अनाज्ञेयः, अपरिज्ञेयः, अदेशितः, अप्राशितः-पितापुत्रसमागम।—वही, पृ० 244 पर उद्धृत।
4. कुतस्तत्र परमार्थे वाचां प्रवृत्तिःकुतो वा ज्ञानस्य।
   —माध्यमिककारिकवृत्ति, पृ० 293; वही, पृ० 244
5. स हि परमार्थोऽपरप्रत्ययः शान्तः प्रत्ययात्मवेध आर्याणां सर्वप्रपंचातीतः॥—वही।

यह अद्वितीय और निर्विशेष स्वभाव का है। इसलिए इसे तथता, भूतकोटि, धर्मता, धर्मधातु और शून्यता आदि विविध संज्ञाएँ प्रदान की गई हैं।[1]

['स्वतन्त्र माध्यमिक नय के संस्थापक भावविवेक ने अपने मध्यमार्थ-संग्रह में इसे दो भागों में विभक्त किया है : (1) पर्याय और (2) अपर्याय।

प्रथम वह परमार्थ है जिसकी शब्दों में अभिव्यक्ति हो सकती है। द्वितीय वह है जिसका किसी भी प्रकार निर्वचन सम्भव नहीं है। यह समस्त व्यावहारिक अवधारणाओं से परे है। अपर्याय नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति के परमार्थ का पर्यायवाची है।[2]

पर्याय परमार्थ को पुनः दो भागों में विभक्त किया गया है : (1) जाति-पर्याय वस्तुपरमार्थ—वह निरपेक्ष तत्त्व जिसे एक सामान्य अस्तित्वमूलक सत् के रूप में समझा जा सकता है (शायद यह तीर्थक और सांख्य आदि के तत्त्व का द्योतक है)। (2) जन्मरोध परमार्थ—जो सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों का पूर्ण निरोध है। शायद इसका संकेत हीनयान के निर्वाण सम्बन्धी संप्रत्यय की ओर है जो सभी शक्तियों, संस्कारों और वस्तुओं का उच्छेद है।'[3]]

संवृति और परमार्थ का भेद ब्रैडले के सत्य और सत्ता के उपाधि-भेद जैसा प्रतीत होता है किन्तु वस्तुतः वैसा नहीं है। संवृति सत्य का एक आंशिक या अपूर्ण रूप नहीं है जिसमें कुछ जोड़ दिया जाय तो वह पूर्ण सत्य हो जाये। इन दोनों सत्यों में मात्रा का भेद नहीं बल्कि गुण का भेद है। सत्य की मात्रा के संप्रत्यय को मानने का अर्थ सत्य और मिथ्या को एक ही कोटि में लाना है; अर्थात् सत्य अधिक पूर्ण और अधिक बड़ा है और मिथ्या उससे छोटा तथा अपूर्ण है। दूसरे शब्दों में, सत्य मिथ्या का बृहत् रूप है।[4]

यद्यपि नागार्जुन ने संवृति और परमार्थ दो सत्यों का प्रतिपादन किया है, तथापि दोनों असम्बद्ध नहीं हैं। बिना संवृति के परमार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं। यद्यपि संवृति प्रतीति है, फिर भी यह एक प्रकार का तत्त्व है। यह उस तत्त्व में

---

1. शून्यता, तथता, भूतकोटि, धर्मधातुरित्यादि पर्यायाः।

—बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ०, 354; वही।

2. मध्यामार्थसंग्रह, 2; वही, पृ० 247
3. वही, 3, 4, 5, 6
4. वही, पृ० 251

प्रतिष्ठित है जो साक्षात् ब्रह्म है और जहाँ सापेक्ष तथा निरपेक्ष दोनों का शमन हो जाता है।[1] इस जगत् के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान केवल पारमार्थिक दृष्टिकोण से हो सकता है, किन्तु व्यावहारिक या बौद्धिक दृष्टिकोण पूर्ण रूप से त्याज्य नहीं है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से बुद्ध, बोधिसत्त्व, धर्म, नैतिकता, सिद्धान्त, सत्य, निर्वाण, दूसरे शब्दों में सभी धर्मों का अस्तित्व है।[2] हमें निरपेक्ष की प्राप्ति सापेक्ष का निषेध करके नहीं प्रत्युत सापेक्ष की सहायता से सापेक्ष को पार करने पर होगी। उदाहरण के लिए, यदि कोई जहाज समुद्र में डूबने लगे तो जो लोग लकड़ी के किसी टुकड़े, लट्ठे या शव का भी सहारा लेंगे वे समुद्र को पार कर लेंगे और जो ऐसा नहीं करेंगे उनका समुद्र में डूबना निश्चित है। इसी प्रकार जो सद्धर्म, बौद्धिक आस्था और षड्-पारमिताओं का सहारा लेंगे, भले ही ये व्यावहारिक रूप से सत्य हों, वे अन्ततोगत्वा उस तत्त्व को प्राप्त कर लेंगे जो निर्वाण का सुरक्षित, अमृत और सुखद पद है, किन्तु जो इनको नहीं स्वीकार करेंगे वे निश्चित ही डूब जायँगे।[3] जिस प्रकार कोई वृद्ध व्यक्ति अपनी शक्ति से खड़ा भी नहीं हो सकता, किन्तु मित्रों की सहायता से गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकता है, उसी प्रकार लोग अपनी बुद्धि से परम सत्य को भले ही न प्राप्त कर सकें, किन्तु षड्पारमिता रूपी मित्रों की सहायता से तत्त्व का दर्शन अवश्य कर सकते हैं।[4] एक कच्चे घड़े में हम पानी नहीं भर सकते; ऐसा करने पर घड़ा और पानी दोनों ही नष्ट हो जाएँगे। घड़ा मिट्टी का लोंदा हो जायेगा और पानी मटमैला। अर्थात् स्वच्छ जल रखने के लिए एक अच्छे पके घड़े की आवश्यकता है।[5] इसी प्रकार इस बुद्धिकल्पित प्रपंचात्मक जगत् को पार करने के लिए एक परिपक्व व्यावहारिक बुद्धि की आवश्यकता है। जो इसका निषेध करेंगे वे स्वतः नष्ट हो जाएँगे और दूसरों को भी नष्ट कर देंगे।[6]

कुमारिल ने सत्य-द्वय सिद्धान्त की निम्नलिखित ढंग से आलोचना की है। (1) उनके अनुसार संवृति को सत्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि संवृति और परमार्थ

---

1. अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृ० 453, 476-477; ए क्रिटिकल सर्वे आव् इण्डियन फिलॉसफी, पृ० 95
2. वही, पृ० 23
3. वही, पृ० 236
4. वही, पृ० 290-291, 396-397
5. वही, पृ० 287-288
6. वही, पृ० 181

में कोई ऐसी विशेषता नहीं पाई जाती जिसके आधार पर इन दोनों को सत्य के वर्ग में रखा जा सके। वे कहते हैं कि जो वस्तु असत् है वह सदैव असत् है और जो सत् है वह सदैव सत् है। अतः सत्य-द्वय की कल्पना व्यर्थ है।[1] (2) यदि संवृति का अन्ततः परित्याग ही करना है तो उसपर विचार करने की क्या आवश्यकता? हमें केवल परमार्थ का ही चिन्तन करना चाहिए। (3) यदि संवृति और परमार्थ दोनों ही युगपद् स्थित हैं तो संवृति के दोषों से परमार्थ भी दूषित हो जाएगा। किन्तु ये सभी आपत्तियाँ निराधार हैं। (1) जिस प्रकार तत्त्व एक है उसी प्रकार सत्य भी एक है और वह है परमार्थ सत्य[2]। संवृति सत्य लोक-व्यवहार को चलाने के लिए स्वीकार किया जाता है क्योंकि अज्ञ जन इसी को परम्परा से मानते हैं। पारमार्थिक दृष्टिकोण से यह बिलकुल असत्य है, किन्तु पारमार्थिक सत्य व्यावहारिक दृष्टिकोण से असत्य नहीं है, भले ही हम साधारण जीवन की सामान्य क्रियाओं में लिप्त रहने के कारण इसकी सत्यता का अनुभव न कर सकें। (2) दूसरी आपत्ति भी निराधार है। संवृति के बिना परमार्थ का चिन्तन हम कर ही नहीं सकते। परमार्थ संवृत्ति द्वारा आच्छादित है। अतः परमार्थ के ज्ञान के लिए संवृति का अनावरण आवश्यक है और यह अनावरण उसके विवेचन द्वारा ही सम्भव है। यह हमारे लक्ष्य पर पहुँचने के लिए सीढ़ी का काम करता है।[3] इसलिए संवृति को उपायभूत और परमार्थ को उपेयभूत सत्य कहा गया है। यह पूर्ण सत्य भले ही न हो, किन्तु पूर्ण सत्य की ओर संकेत करने में सक्षम है।[4] (3) अन्तिम आपत्ति भी निराधार है। परमार्थ संवृति द्वारा किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं होता। यह न तो संवृति द्वारा सीमित होता है और न निर्धारित। इनका निर्वचन केवल आभिप्रायिक है।

माध्यमिक द्वन्द्व-न्याय (शून्यता-दृष्टि)

पिछले पृष्ठों में यह प्रतिपादित किया गया है कि माध्यमिक दर्शन के अनुसार सब कुछ शून्य है। प्रश्न उठता है कि हम यह कैसे जानते हैं कि सब कुछ शून्य है?

1. श्लोकवार्तिक निरालम्बनवाद 6, 7
2. एकमेव भिक्षवः परमं सत्यम्, यदुताप्रमोषधर्मं निर्वाणम्। सर्वसंस्काराश्च मृषा मोष धर्माण इति।—माध्यमिककारिकावृत्ति, पृ० 41, वस्तुतस्तु परमार्थ एव एकं सत्यम्।—बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० 362
3. तथ्य संवृति सोपानम् अन्तरेण विपश्चितः।
   तत्त्वप्रासाद-शिखरारोहणं नहि युज्यते॥
   —हरिभद्रकृत अभिसमयालंकारालोक, पृ० 150 पर उद्धृत।
4. बोधिचर्यावतार, 9/9-10

क्या दृश्य जगत् का अपलाप बुद्ध की कल्पना मात्र नहीं ? क्या हम शुतुर्मुर्ग की भाँति यथार्थ के झंझावात से नेत्र निमीलित कर आदर्श लोक में नहीं विचर रहे हैं ? माध्यमिक का उत्तर है, नहीं। सर्वभावशून्यता कल्पनाजन्य नहीं बल्कि प्रौढ़ बुद्धि की सुविचारित तर्क-विधि पर आश्रित है और यह तर्क-विधि है शून्यता। यह सभी दृष्टियों का अन्त है। किसी भी वस्तु के विषय में चार दृष्टियाँ सम्भव हैं। इनमें सत् और असत् या विधि और निषेध मुख्य हैं और शेष दो गौण हैं जो इन दोनों दृष्टियों की युगपद् स्वीकृति या निषेध से बनती हैं।[1] माध्यमिक के अनुसार संसार की वस्तुओं तथा तत्त्व का निर्वचन इनमें से किसी भी दृष्टि द्वारा सम्भव नहीं। वह इन सभी दृष्टियों का खण्डन करता है किन्तु इनका खण्डन करते समय वह स्वतः किसी दृष्टि का प्रतिपादन नहीं करता और न किसी दृष्टि को आधार मानकर खण्डन करता है। इसका उद्देश्य दृष्टियों और सिद्धान्तों के जाल में फँसना नहीं बल्कि बिना किसी पूर्वाग्रह के वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का निरीक्षण करना है। रत्नकूटसूत्र के काश्यप परिवर्त में इसके स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि आध्यात्मिक साधना के पथ पर चलने की कामना करनेवाले बोधिसत्त्व को वस्तुओं के स्वभाव के सम्बन्ध में निरन्तर बौद्धिक और समीक्षात्मक सावधानी के दृष्टिकोण का अभ्यास करना चाहिए और यह सावधानी है वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप में देखना (सर्वधर्माणां भूतप्रत्यवेक्षा)। पुनश्च, इस सत्य प्रत्यवेक्षा का वास्तविक स्वरूप क्या है ? बुद्ध इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि हे काश्यप ! यह सत्य प्रत्यवेक्षा है वस्तुओं को द्रव्य या आत्मा न स्वीकार करना और रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इत्यादि को नित्य या अनित्य न समझना। वस्तुएँ नित्य हैं, यह एक 'अन्त' है और वे 'अनित्य' हैं, यह दूसरा अन्त है।.... सत्ता आत्मा है, वह एक अन्त है और वह नैरात्म्य है, यह दूसरा अन्त है। आत्मा और नैरात्म्य, इन दोनों के मध्य वह तत्त्व है जो अमूर्त या स्पर्शागम्य है, जिससे किसी की तुलना नहीं हो सकती, जो अवक्तव्य, अबुद्धिगम्य और अवस्थातीत है। यह मध्यम मार्ग है। यही तत्त्व के सत्य स्वरूप का दर्शन है।[2]

---

1. सदसद् सदसच्चेति नोभयं चेति च क्रमः।
   एष प्रयोज्यो विद्वद्भिरेकत्वादिषु नित्यशः ॥—चतुःशतक, 14/21
   हरिभद्र ने इसे तार्किक ढंग से इस प्रकार रखा है :
   विधातं प्रतिषेधश्च तावेव सहितौ पुनः।
   प्रतिषेधं तयोरेव सर्वथा नावगच्छति ॥—अभिसमयालंकारालोक, पृ० 61
2. आत्मेति काश्यप ! अयम् एकोऽन्तः, नैरात्म्यमित्ययं द्वितीयोऽन्तः, यत् एतद् अनयोरन्तयोर्मध्यम्, तदरूप्यम्, अनिदर्शनम्, अप्रतिष्ठम्, अनाभासम्, अविज्ञप्तिकम्,

माध्यमिक विभिन्न दृष्टियों का खण्डन करते समय जिस विधि का अनुसरण करता है उसे 'प्रसंग' कहते हैं। वह किसी दृष्टि को आधार मानकर चलने पर उससे जो निष्कर्ष निकलते हैं उनके परस्पर व्याघातक रूप का प्रदर्शन करता है। माध्यमिक नय उन तर्कों की एक शृंखला है जो किसी दृष्टि की असंगति का प्रदर्शन करते हैं। यह प्रसंगापादन है। यहाँ प्रत्येक वाद द्वारा स्वतः उसका ही खण्डन किया जाता है। यह कह कहा जा सकता है कि प्रसंग एक ऐसी खण्डनात्मक विधि है जहाँ हम विरोधी के मत का खण्डन कर परोक्ष रूप से अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु ऐसा सोचना ठीक नहीं। वस्तुतः यह शुद्ध और पूर्ण खण्डन है जहाँ किसी वाद को स्थापित करने का तनिक भी उद्‌देश्य नहीं। माध्यमिक नय एक आध्यात्मिक संघर्ष है। इसका कोई अपना वाद नहीं। यह स्वतः किसी न्याय-वाक्य का निर्माण नहीं करता और न अपने तर्क तथा दृष्टान्त ही उपस्थित करता है।[1] यद्यपि विश्व में योगाचार, वेदान्त और अन्य बहुतेरे ऐसे दर्शन हैं जहाँ दूसरों के मत का खण्डन करने के लिए निषेधमूलक विधि का अनुसरण किया गया है, तथापि इन दर्शनों में निषेधमूलक विधि स्वमत-प्रतिपादन का साधन मात्र है, साध्य नहीं। केवल माध्यमिक दर्शन ही ऐसा है जहाँ द्वन्द्व-न्याय साधन नहीं बल्कि स्वतः साध्य है। यहाँ समीक्षा ही दर्शन है। इस दर्शन की तुलना केवल कांट के दर्शन से की जा सकती है क्योंकि उन्होंने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ शुद्धबुद्धिमीमांसा में यह सिद्ध किया है कि सभी दृष्टियाँ, यहाँ तक कि बुद्धि भी, तत्त्व का ज्ञान कराने में असमर्थ हैं। किन्तु दोनों में मौलिक भेद यह है कि जहाँ कांट में समीक्षा का स्वतः मूल्य नहीं है, इसका उद्देश्य श्रद्धा (फेथ) के लिए स्थान सुरक्षित करना है, वहाँ माध्यमिक दर्शन में द्वन्द्व-न्याय स्वतः एक सर्वोत्कृष्ट दर्शन है। यह समीक्षा के साथ दुःख की निवृत्ति भी है।[2]

द्वन्द्व-न्याय के विकास की तीन अवस्थाएँ हैं :—(1) दृष्टि, (2) समीक्षा (शून्यता या प्रसंग) और (3) प्रज्ञा। अपने सहज चिन्तनशील रूप में दर्शन दृष्टिवाद है। इसकी अभिव्यक्ति दर्शन के विविध निकायों के रूप में होती है। किन्तु यह

अनिकेतम्, इयमुच्यते, काश्यप! मध्यमा-प्रतिपत् धर्माणां भूतप्रत्यवेशा। —रत्नकूट, काश्यप परिवर्त, पृ० 87; दि सेन्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म, पृ० 129 पर उद्‌धृत।

1. स्वतन्त्र माध्यमिक निकाय के संस्थापक भव्य एकमात्र ऐसे विचारक हैं जिन्होंने शून्यवाद का प्रतिपादन करने के लिए स्वतन्त्र तर्क दिए।
2. दि सेन्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म, पृ० 213

अवस्था अनिवार्यतः वैचारिक द्वन्द्व को जन्म देती है। यहाँ दर्शन समीक्षात्मक हो जाता है। यहाँ उसे बुद्धि की अपर्याप्तता का बोध होता है और यह ज्ञान होता है कि संसार की वस्तुएँ सापेक्ष हैं, वे तत्त्वशून्य या निःस्वभाव हैं। समीक्षा का पूर्ण विकास बुद्धि के संप्रत्ययात्मक व्यापार को समाप्त कर देता है। यहाँ दर्शन की चरम परिणति प्रज्ञा में होती है। यहाँ बुद्धि और उसके विषय एकाकार हो जाते हैं, ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत का विनाश हो जाता है। यह अद्वय ज्ञान की अवस्था है। यह भी शून्यता है, क्योंकि प्रज्ञा का निरपेक्ष तत्त्व द्वैत-शून्य (सर्वदृष्टिशून्य) है।

माध्यमिक नय अपने पूर्ण विकसित रूप में, अर्थात् प्रज्ञा की अवस्था में, सैद्धांतिक चेतना की ही नहीं बल्कि व्यावहारिक और धार्मिक चेतना की भी चरम परिणति है। नागार्जुन स्वतः कहते हैं कि 'मुक्ति कर्म और क्लेश का निरोध है।' इनकी उत्पत्ति विकल्प और प्रपंच अर्थात् बुद्धि के संप्रत्ययात्मक व्यापार द्वारा होती है। शून्यता का ज्ञान होने से प्रपंच का अन्त हो जाता है।[1] निर्विकल्प ज्ञान अथवा प्रज्ञा के रूप में माध्यमिक नय हमें दुःख से पार ले जाता है। यह हमारे समस्त प्रयत्नों का निःश्रेयस् है। यह स्वतः निर्वाण है। प्रज्ञापारमिता के रूप में यह सभी प्राणियों में विराजमान और सभी प्राणियों की आध्यात्मिक साधना का गन्तव्य धर्मकाय तथा तथागत है। धर्म का कार्य-व्यापार परात्पर को यथार्थ के धरातल पर लाना है। प्रज्ञा के रूप में माध्यमिक नय सभी प्राणियों का बुद्ध-काय से मिलन कराती है।[2] अतः यह विचार के निषेध के रूप में निरपेक्ष का साक्षात्कार है, क्लेश के निरोध के रूप में निर्वाण है और पूर्ण सत् या बुद्ध-काय से मिलन के रूप में पूर्णता है।

शून्यता पर निम्नलिखित आक्षेप किये गये हैं :—

(1) माध्यमिक विधि उच्छेदवाद का प्रतिपादन करती है। वस्तुतः तार्किक भाववादियों और प्राचीन भौतिकवादियों की दृष्टि से भिन्न नहीं है जिनका लक्ष्य तत्त्व-दर्शन और धर्म का उन्मूलन है।

(2) सभी सिद्धान्तों का खण्डन करनेवाली शून्यता स्वतः एक दृष्टि है। इसके द्वारा एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन होता है। अतः इसके खण्डन के लिए एक नये

---

1. कर्मक्लेश क्षयान्मोक्षः कर्मक्लेशा विकल्पतः।
ते प्रपंचात्, प्रपंचस्तु शून्यतायां निरुध्यते ॥—मूलमाध्यमिककारिका, 18/5

2. बुद्धानां सर्वधातोश्च येनाभिन्नत्वमर्थतः।
आत्मनश्च परेषां च समता तेन ते मता ॥—नागार्जुनकृत चतुःस्तव; दि सेन्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म, पृ० 142 पर उद्धृत

सिद्धान्त की आवश्यकता है। इस नये सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए एक अन्य नये सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार यह अनवस्था-दोष-ग्रस्त है।[1]

(3) यह तर्क शास्त्र के अनन्य नियम[2] का उल्लंघन करती है। किसी विकल्प को अस्वीकार या स्वीकार करने से उसका विपक्षी विकल्प स्वाभाविक रूप से स्वीकृत या अस्वीकृत हो जाता है। उदाहरण के लिए, गति के खण्डन से स्थिति का अस्तित्व सहज ही सिद्ध हो जाता है।

(4) सभी धर्मों के अस्तित्व को अस्वीकार करनेवाली शून्यता स्वतः असत्य है, क्योंकि यदि संसार में सभी वस्तुएँ असत्य हैं तो वे तर्क भी असत्य हैं जो शून्यता को प्रतिपादित करने के लिए दिये जाते हैं। और यदि वे असत्य नहीं हैं तो वे शून्यवाद के विरुद्ध जाते हैं।

(5) शून्यवाद अपना पक्ष प्रतिपादित करने के लिए स्वतः कोई प्रमाण नहीं रखता। किन्तु क्या बिना प्रमाण के समीक्षा संभव है ?

(6) माध्यमिक नय तार्किक विधि के रूप में ठीक भले ही हो, किन्तु इसमें उस दुर्भावना की गन्ध आती है जो उस प्रवृत्ति का सूचक है जिसे दूसरों में अच्छाई नाम की कोई वस्तु ही नहीं दिखाई पड़ती।

माध्यमिक के अनुसार ये सभी आक्षेप निराधार हैं :—

(1) शून्यता से उच्छेद या पूर्ण विनाश का अर्थ लेना माध्यमिक नय का अनर्थ करना है। माध्यमिक दार्शनिकों ने उच्छेदवादियों की स्वयं नास्तिक कहकर भर्त्सना की है और कहा है कि हमारा वाद नास्तिकवाद नहीं है। नास्तिकवाद हमारे नाम मात्र से काँप उठता है।[3] भगवान् बुद्ध स्वयं कहते हैं कि हे काश्यप![4] शून्यता को नितान्त अभाव रूप में समझने की अपेक्षा यह कहीं अधिक अच्छा है कि सुमेरु पर्वत के बराबर जीव-दृष्टि मानी जाये। इसी प्रकार लंकावतारसूत्र में भगवान् बुद्ध सुभूति से स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि शून्यता का अर्थ मात्र असत् नहीं। जो व्यक्ति सर्वशून्यता का प्रतिपादन करते हुए शून्यता का अस्तित्व

---

1. दि सेण्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म, पृ० 160
2. ला आव् दि एक्सक्ल्यूडेड मिडिल। इसे 'मध्यदशा-निषेधक-नियम' भी कहते हैं।
3. चतुःशतककारिका, 289
4. वरं खलु काश्यप! सुमेरु मात्रा पुद्गलदृष्टिराश्रिता नत्वेवाभावाभिनिवेशिकस्य शून्यता दृष्टिः।—रत्नकूटसूत्र, सौगतसिद्धान्तसारसंग्रह, पृ० 34

मानता है वह आत्मघाती नास्तिक है।[1] समाधिराजसूत्र में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि अस्तित्व और नास्तित्व, शुद्धता और अशुद्धता आदि बुद्धि-प्रलाप हैं। मध्यमा प्रतिपत् या मध्यम मार्ग इन दोनों का अतिक्रमण करता है, साथ ही अपना भी अतिक्रमण करता है।[2] वस्तुतः यह अद्वय शिव तत्त्व है जिसकी अनुभूति बुद्ध जनों द्वारा ही हो सकती है किन्तु इसका विवेचन व्यवहार द्वारा ही संभव है। जिस प्रकार एक म्लेच्छ को कोई बात समझाने के लिए उसकी भाषा का उपयोग करना पड़ता है, उसी प्रकार तत्त्व का बोध कराने के लिए तर्क और भाषा के स्तर पर उतरना पड़ता है।[3]

तार्किक भाववादी और माध्यमिक नय की निषेधमूलक और खण्डनात्मक विधि में बाह्य साम्य भले ही हो, किन्तु दोनों के लक्ष्य परस्पर विरुद्ध हैं। तार्किक भाववादी तत्त्व दर्शन को पूर्ण रूप से निरर्थक और कोरा बकवास मानता है क्योंकि उसके लिए केवल उन्हीं तर्क-वाक्यों का महत्त्व है जिनकी सत्यता अनुभव द्वारा प्रमाणित की जा सके, जैसे विज्ञान के। उसके लिए इन्द्रिय-प्रदत्त ही एकमात्र सत्य है। उसे न तो परात्पर का ज्ञान है और न उसकी उपयोगिता का। वह भौतिकवादी है।[4] किन्तु माध्यमिक पूर्ण रूप से अध्यात्मवादी है। यह परम्परागत तत्त्व दर्शन का इसलिए खण्डन नहीं करता कि तत्त्व नाम की कोई चीज नहीं, बल्कि इसलिए कि परम्परागत तत्त्व दर्शन अपनी दोषपूर्ण विधि द्वारा तत्त्व को अनुभवमूलक वृत्तियों के आधार पर गलत समझता है। वह बुद्धि की कोटियों को अवैध ढंग से असीम और निष्प्रपंच पर लागू करने का प्रयत्न

---

1. लंकावतारसूत्र में सात प्रकार की शून्यता का प्रतिपादन किया गया है। उनमें से पूर्ण अभाव का प्रतिपादन करनेवाली शून्यता को 'सर्वजघन्या' कहकर तिरस्कृत किया गया है।
2. अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता।
   सुद्धी असुद्धीति इमेऽपि अन्ता॥
   तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा।
   मध्येऽपि स्थानं न करोति पण्डितः॥
   —समाधिराज, 9/28; दि सेन्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म, पृ० 129 पर उद्धृत।
3. चतुःशतककारिका, 194
4. दि सेन्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म, पृ० 332

करता है जो केवल प्रपंच के लिए ही सत्य हैं। अतः तत्त्व की शुद्धता को यथावत् रखने के लिए माध्यमिक ने परम्परागत तत्त्व दर्शन के दावों का खण्डन किया।[1] वस्तुतः उसकी स्थिति कांट की सी है जिन्होंने बौद्धिक मनोविज्ञान, बौद्धिक सृष्टि-विज्ञान तथा बौद्धिक धर्म-विज्ञान का इसलिए खण्डन नहीं किया कि उन्हें ईश्वर की सत्ता और आत्मा की अमरता तथा स्वतन्त्रता में विश्वास नहीं था बल्कि इसलिए कि उन्हें उसे शुद्ध बुद्धि के अनधिकृत अतिक्रमण से बचाना था।[2]

(2) दूसरा आक्षेप भी निराधार है। शून्यता सिद्धान्तों की समीक्षा मात्र है। यह स्वयं कोई सिद्धान्त नहीं है। यह केवल इस बात का ज्ञान है कि वह सिद्धान्त क्या है? उसका निरूपण कैसे हुआ है? यह एक नये सिद्धान्त का निरूपण नहीं है। इसका कार्य-व्यापार प्रकाश की भाँति है जो वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करता है, कोई वस्तु जोड़ता या कम नहीं करता। इस बात की व्याख्या करते हुए कि यह उस वस्तु में कुछ जोड़ना नहीं जिसमें इसका उपयोग किया जाता है और न उस वस्तु से भिन्न कोई अन्य वस्तु है, अष्टसाहस्रिका और अन्य ग्रन्थों में कहा गया है कि रूप शून्य है और शून्यता रूप है।[3] इसी प्रकार वेदना, संज्ञा और विज्ञान के लिए भी कहा गया है। यदि शून्यता उन वस्तुओं से भिन्न होती तो वे वस्तुएँ शून्य कदापि नहीं हो सकतीं।[4] नागार्जुन इस बात को स्पष्ट रूप से कहते हैं कि सभी दृष्टियों की शून्यता का प्रतिपादन लोगों को वस्तुओं की असारता का बोध कराकर उन्हें मुक्ति प्राप्त कराने के लिए किया जाता है, किन्तु वे लोग असाध्य रोगी हैं जो इसे ही एक दृष्टि मान लेते हैं।[5] उनका यह कार्य वैसे ही हास्यास्पद है जैसे यदि किसी माँगनेवाले से कहा जाए कि हमारे पास

---

1. वही, पृ० 333
2. वही, पृ० 332
3. रूपं शून्यं शून्यतथैव रूपम्।
4. न च शून्यता भावाद्व्यतिरिक्त, भावस्येव तत्स्वभावत्वात्। अन्यथा शून्यताया भावाद् व्यतिरेके धर्माणां निःस्वभावता न स्यात्।—बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० 416-417; दि सेण्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म, पृ० 162
5. शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
   येषां तु शून्यतादृष्टिस्तान् साध्यान् बभासिरे॥—मूलमाध्यमिककारिका, 13/8

कुछ नहीं है, तो वह कहे कि हमें वह 'कुछ नहीं' ही दे दीजिए ।[1] नागार्जुन लोगों को सावधान करते हुए कहते हैं कि शून्यता को सावधानी से समझना चाहिए क्योंकि इसका सम्यग्ज्ञान न होने पर ज्ञाता की वह दशा होगी जो उस मदारी की होती है जो साँप को ठीक से नहीं पकड़ता ।[2] भगवान् बुद्ध कहते हैं कि शून्यता का उपदेश सभी दृष्टियों से पिण्ड छुड़ाने के लिए किया जाता है, किन्तु वह हतभाग्य है जो इसे भी एक दृष्टि मान लेता है ।[3]

(3) माध्यमिक के अनुसार तर्क शास्त्र द्वारा प्रतिपादित अनन्य निगम दोषपूर्ण है क्योंकि प्रत्येक उदाहरण में एक अन्य विकल्प की कल्पना की जा सकती है ।[4] सत् और असत् के बीच हम अनिश्चिति की कल्पना कर सकते हैं । इसी प्रकार भ्रमजन्य सर्प में हम सत् और असत् कोई भी विश्लेषण नहीं लगा सकते क्योंकि उसका अस्तित्व ही नहीं है । यह नियम विचार के नियमन के लिए है, किन्तु हमारे सामने यह प्रश्न है कि क्या स्वतः विचार में यह क्षमता है कि वह तत्त्व को जान सके । वह तो केवल अपनी आन्तरिक व्यवस्था तक ही सीमित है । यदि वैद्य भी हो तो वह केवल विचार के क्षेत्र में प्रयोज्य है । किन्तु विचार का तत्त्व से क्या सम्बन्ध है, इस तत्त्वदार्शनिक प्रश्न के विषय में वह अप्रासंगिक है ।[5]

(4) यह आक्षेप भी निराधार है । माध्यमिकों के अनुसार शून्यता का अर्थ पूर्ण अभाव नहीं बल्कि प्रतीत्य समुत्पाद या सापेक्षता है ।[6] वह यह नहीं कहता कि केवल हमारे तर्क सही हैं, बाकी सबके तर्क गलत हैं । वह तो यह कहता है कि तर्क ही असत्य हैं । जब हमारा कोई वाद ही नहीं, तब उसको सिद्ध करने के लिए शब्दों और तर्कों की क्या आवश्यकता है ? तब हमारे ऊपर यह आक्षेप करना कहाँ

---

1. यो न किंचिदपिपण्यं दास्यामित्युक्तः स चेत् देहि भोस्तदेव मह्यं न किंचिन्नाम पण्यम् इति ब्रूयात्, स केनोपायेन शक्यः पण्याभावं ग्राहयितुम् ।—माध्यमिककारिकावृत्ति, पृ० 247-248; दि सेन्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म, पृ० 163 पर उद्धृत ।
2. मूलमाध्यमिककारिका, 24/11
3. शून्यता निःसरणम् । यस्य खलु पुनः शून्यतैव दृष्टिस्तमहमचिकित्स्यम् इति वदामि ।—रत्नकूटसूत्र; सौगतसिद्धान्तसारसंग्रह, पृ० 35 पर उद्धृत ।
4. दि सेन्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म, पृ० 147
5. वही, पृ० 148
6. विग्रहव्यावर्तिनीकारिका, 22, 67

तक उचित है ?[1] किन्तु व्यवहार में हम तर्कों की सत्यता पर विश्वास करते हैं क्योंकि बिना व्यवहार के परमार्थ का उपदेश भी नहीं हो सकता।[2]

(5) यह आक्षेप भी ठीक नहीं। यदि हम यह मानें कि पदार्थों के अस्तित्व की सिद्धि प्रमाणों द्वारा होती है तो पहले हमें यह सिद्ध करना चाहिए कि प्रमाणों की सिद्धि कैसे होती है ? यदि एक प्रमाण की सिद्धि अन्य प्रमाण द्वारा हो तो अनवस्था दोष उत्पन्न होगा और प्रमाणों की सिद्धि के बिना प्रतिपक्षी का वाद नष्ट हो जायगा। प्रमाण की सिद्धि प्रमेय द्वारा भी नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रमेय स्वयं अपनी सिद्धि के लिए प्रमाण पर निर्भर है। यदि दोनों को एक दूसरे का कारण मानें तो अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होगा। प्रमाणों की सिद्धि अहैतुक भी नहीं मानी जा सकती। अतः प्रमाणों का प्रामाण्य न तो स्वतः सिद्ध है, न अन्य प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, न प्रमेयों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है और न अकारण।[3]

(6) अन्तिम आक्षेप भी समीचीन नहीं है। माध्यमिक नय खण्डन नहीं है। यह बुद्धि के सामर्थ्य की समीक्षा है। खण्डन में भले ही हम अपने विरोधी के मत का खण्डन कर अपने मत को स्थापित करने का प्रयत्न करते हों, किन्तु समीक्षा में तो बुद्धि स्वतः अपनी ही क्षमताओं और सीमाओं की परीक्षा करती है। यहाँ बुद्धि अभियुक्त और न्यायाधीश दोनों के ही कार्य-व्यापार का सम्पादन करती है। अतः माध्यमिक नय किसी दुर्भावना से ग्रस्त नहीं है, बल्कि यह दृष्टिवाद के विकल्प-जाल, वाग्जाल और आवरण से मन को विशुद्ध करने की आध्यात्मिक प्रेरणा से उत्प्रेरित है। इसीलिए कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध ने शून्यता-रूपी अमृत का उपदेश सभी विकल्प-दृष्टियों के विनाश के लिए दिया।[4]

---

1. यदि काचन प्रतिज्ञा स्यान् मे तत एव मे भवेद्दोषः।
   नास्ति च मम प्रतिज्ञा तस्मान् नैवास्ति मे दोषः ॥—वही, कारिका 29
1. संव्यवहारं च वयं नानभ्युपगम्य कथयामः—वही, कारिका 28
   व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।—मूलमाध्यमिककारिका, 24/10
3. विग्रहव्यावर्तनीकारिका, 32-52
4. सर्वसंकल्पप्रहाणाय शून्यताऽमृत देशना।—दि सेन्ट्रल फिलॉसफी आव् बुद्धिज्म, पृ० 146 : तथा
   सर्वदृष्टिप्रहाणाय यः सद्धर्ममदेशयत्।
   अनुकम्पामुपादाय तं नमस्यामि गौतमम् ॥—मूलमाध्यमिककारिका, 27/30

योगाचार विज्ञानवाद

महायान बौद्ध दर्शन का दूसरा प्रमुख निकाय है योगाचार विज्ञानवाद। विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान या विज्ञप्ति ही एकमात्र सत् है। संसार की सभी वस्तुएँ और सभी धर्म स्वप्न, भ्रम, द्विचन्द्र और अलातचक्र की भाँति असत् हैं। वस्तुतः ये हमारे चित्त के ही प्रतिबिम्ब हैं, जिन्हें हम अविद्याग्रस्त होने के कारण बाह्य वस्तु समझते हैं। विज्ञानवाद को योगाचार भी कहते हैं। वस्तुतः यह नाम विज्ञानवाद के व्यावहारिक पक्ष को ध्यान में रखकर दिया गया है, क्योंकि विज्ञानवादी यह मानते हैं कि विज्ञान ही निरपेक्ष सत् है, इस सत्य का बोध बुद्धि की कोटियों द्वारा नहीं बल्कि योग (ध्यान, समाधि) तथा आचार (नैतिक जीवन) द्वारा ही हो सकता है। अतः विज्ञानवाद इस निकाय के सैद्धान्तिक पक्ष को ध्यान में रखकर कहा जाता है और योगाचार व्यावहारिक पक्ष को[1]। राहुल सांकृत्यायन का मत है कि योगाचार शब्द की उत्पत्ति 'योगावचर' शब्द से हुई। इस शब्द का उल्लेख पुराने पिटक में भी मिलता है किन्तु एक दार्शनिक निकाय के रूप में नहीं[2]। शायद इसका नाम योगाचार इसलिए भी पड़ा हो कि इस दर्शन के संस्थापक आर्य असङ्ग के 'योगाचारभूमि' नामक ग्रन्थ में इसके दार्शनिक सिद्धान्तों का विशद रूप से विवेचन किया गया है[3]। विज्ञानवाद के मुख्य सिद्धान्तों का निरूपण लङ्कावतारसूत्र, समाधिराजसूत्र और सन्धिनिर्मोचन सूत्र आदि महायान सूत्रों और अश्वघोषकृत महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र में भी बहुत अच्छे ढंग से किया गया है। किन्तु इन ग्रन्थों में शून्यवाद के मुख्य सिद्धान्तों का निरूपण भी उतने ही अच्छे ढंग से किया गया है जितने विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का। अतः यह निर्णय करना कठिन है कि इन ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय क्या है। आर्य असंग को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने इस दर्शन को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया। इस कार्य में उन्हें अपने गुरु मैत्रेयनाथ से भी काफी सहायता मिली। किन्तु असङ्ग ने चित्त, धर्मधातु या महात्मन् की निरपेक्षता के समर्थन में तर्क नहीं दिए। केवल उपमाओं और रूपकों के सहारे तत्त्व की व्याख्या करने का प्रयास किया। उनके दर्शन का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे एक रहस्यवादी योगी पहले हैं और तार्किक दार्शनिक बाद में। वे बुद्ध के भक्त हैं और तुलसी, सूर तथा मीरा

---

1. इण्डियन फिलॉसफी, भाग 1, पृ० 625
2. दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० 579
3. वही, पृ० 580

की भाँति अपने हृदय की भाषा में अविगत की गति को दरशाने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु एक तार्किक दार्शनिक हृदय की भाषा नहीं जानता। उसे अपनी तर्कणा शक्ति पर गर्व होता है। उसके लिए तो जो सत् बुद्धि की कोटियों के परे है, वह सत् नहीं है। वह भक्त जनों की श्रद्धा और आराधना का विषय हो सकता है, दुःख और विपत्ति की घड़ियों में उसका सबसे बड़ा सहारा हो सकता है, किन्तु वह दर्शन का प्रतिपाद्य विषय नहीं हो सकता, दार्शनिक का आराध्य देव नहीं बन सकता। इसलिए परमार्थ, धर्मधातु या महात्मन् नाम की यदि कोई सत्ता है तो उसे तर्क के कटघरे में खड़ा होना चाहिए। असङ्ग के दर्शन में एक दोष यह भी है कि वे नागार्जुन के प्रभाव से अत्यधिक भयभीत हैं और अपने चित्त मात्र या महात्मन् को शून्य[1] भी कह देते हैं। असंग के दर्शन के इन दोषों को उनके अनुज वसुबन्धु ने, जिन्हें द्वितीय बुद्ध होने का गौरव प्राप्त है, दूर किया। उन्होंने विज्ञप्तिमात्रता की निरपेक्ष सत्ता को विशुद्ध तर्कों के आधार पर प्रतिष्ठित किया और सिद्ध किया कि यही परम सत् है बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है। किन्तु यह शून्य नहीं बल्कि शून्य का भी अधिष्ठान है[3]। उनके वृत्तिकार स्थिरमति का तो यहाँ तक कथन है कि उन्होंने शून्यवाद का ही खण्डन करने के लिए त्रिंशिका की रचना की[4]। उनके हाथों में पड़कर विज्ञानवाद विश्व के एक सर्वांगपूर्ण विशुद्ध विज्ञानवाद के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

मैत्रेयनाथ[5], असंग, वसुबन्धु, स्थिरमति, धर्मपाल और शीलभद्र आदि इस निकाय के प्रमुख दार्शनिक हैं। मैत्रेयनाथकृत सूत्रालंकार, अभिसमयालंकारकारिका

---

1. महायानसूत्रालंकार, 6/1, 9/22
2. बुद्धिस्ट लॉजिक, भाग 1, पृ० 32
3. शून्यता विद्यते त्वत्र तस्यामपि स विद्यते।—मध्यान्तविभंग, 1/1
4. विज्ञानवद् विज्ञेयमपि द्रव्यत एवेति केचिन् मन्यन्ते। विज्ञेयवद् विज्ञानमपि संवृतत एव न परमार्थतः इत्यस्य द्विप्रकारस्याप्येकान्तवादस्य प्रतिषेधार्थं प्रकरणारम्भः। —त्रिंशिकाविज्ञप्तिभाष्य, पृ० 27
5. मैत्रेयनाथ को योगाचार विज्ञानवाद का संस्थापक माना जाता है। अभी तक यह धारणा थी कि ये एक दैवी पुरुष थे जिनसे असंग को योगाचार का ज्ञान प्राप्त हुआ था। किन्तु नवीन अनुसन्धानों के अनुसार ये एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। (देखिये, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का लेख, इण्डियन हिस्टॉरिक क्वार्टर्ली, (1, 1925, पृ० 465)। उनके विषय में केवल इतना ही ज्ञात है कि वे

और मध्यान्तविभंग, असंगकृत महायानसूत्रालंकार, योगाचारभूमिशास्त्र तथा महायानाभिधर्मसंगीतिशास्त्र, वसुबन्धुकृत विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (विंशतिका और त्रिंशिका), विंशतिकास्ववृत्ति, त्रिस्त्रभावनिर्देश और अभिधर्मकोश तथा स्थिरमतिकृत त्रिंशिकाप्रकरणवृत्ति इस निकाय के प्रमुख ग्रन्थ हैं।

असंग के गुरु थे। उन्हीं से असंग को, जो पहले हीनयानी थे महायान की शिक्षा मिली थी। उन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की : सूत्रालंकार, मध्यान्तविभंग, धर्मधर्मताविभंग, महायानउत्तरतन्त्रशास्त्र तथा अभिसमयालंकारकारिका (इसे प्रज्ञापारमितोपदेशशास्त्र भी कहते हैं)। असंग और वसुबन्धु दोनों ही पठानबन्धु के नाम से विख्यात हैं।

असंग का जन्म पेशावर में एक ब्राह्मण (पठान) कुल में हुआ था। उनके जीवन के विषय में केवल इतना ही ज्ञात है कि वे प्रारम्भ में सर्वादित्त निकाय के अनुयायी थे। बाद में मैत्रेयनाथ के प्रभाव में आकर उन्होंने महायान में दीक्षा ली। उनका समय लगभग 350 ई० है। इन्होंने निम्नलिखित ग्रंथों की रचना की : योगाचारभूमिशास्त्र, महायानसूत्रालंकार तथा उसकी वृत्ति, पंचभूमि, अभिधर्मसमुच्चय, महायानसंग्रह, महायानसंपरिग्रह (इसका अनुवाद परमार्थ ने 563 ई० में चीनी भाषा में किया था), प्रकरण-आर्यवाचा, महायानाभिधर्मसंगीतिशास्त्र (ह्वेनसांग ने 625 ई० में इसका अनुवाद चीनी भाषा में किया था) तथा वज्रच्छेदिकावृत्ति।

वसुबन्धु असंग के छोटे भाई थे। प्रारम्भ में वे वैभाषिक थे और काश्मीर वैभाषिक नय का अनुसरण करते हुए अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अभिधर्मकोश की रचना की थी। बाद में असंग के प्रभाव में आकर उन्होंने महायान की दीक्षा ली। यद्यपि उनके जीवन-काल के विषय में इतिहास-वेत्ताओं में मतभेद है, तथापि वे समुद्रगुप्त के पुत्र सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के शिक्षक थे; इस आधार पर उन्हें चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध में माना जाता है। वे बहुत ही प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उनकी हीनयान और महायान दोनों में समान रूप से गति थी। तत्त्व शास्त्र तथा तर्क शास्त्र पर उनका पूर्ण रूप से अधिकार था, यह उनकी रचनाओं की विविधता से भली भाँति सिद्ध होता है। उनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं : विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (विंशतिका तथा त्रिंशिका), विंशतिकास्ववृत्ति, त्रिस्वभावनिर्देश, अभिधर्मकोष, वादविधि, वादमार्ग (वादविधान) तथा वादहृदय (वादकौशल)।

महायानसंपरिग्रहशास्त्र[1] में असंग ने योगाचार विज्ञानवाद की निम्नलिखित दस विशेषताओं का उल्लेख किया है—

(1) **आलय विज्ञान**—यह भौतिक और अभौतिक सभी प्रकार के विज्ञानों का आश्रय है। इससे विज्ञान उसी प्रकार उत्पन्न होते हैं जैसे समुद्र से तरंगें।

(2) **त्रिस्वभाव**—सत्ता त्रिविध है, परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न। इन तीनों में पारस्परिक सम्बन्ध दिखाने के लिए अभूत-परिकल्पित सिद्धान्त की कल्पना की गई है।

(3) **चित्तमात्र या विज्ञप्तिमात्रता**—जगत् की सभी वस्तुएँ स्वप्न, भ्रम, अलातचक्र और द्विचन्द्र की भाँति असत् हैं। चित्त या विज्ञप्तिमात्रता ही निरपेक्ष तत्त्व है। सांसारिक वस्तुएँ इसी चित्तमात्र की प्रतिमाएँ (प्रतिबिम्ब) हैं। इन्हें हम अज्ञानवश बाह्य वस्तु समझते हैं।

(4) **षड्पारमिताएँ**—नैतिक जीवन को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए योगाचार शून्यवाद की भाँति षड्पारमिताओं की साधना पर जोर देता है। ये पारमिताएँ निम्नलिखित हैं—दान, शील, क्षांति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा। प्रथम तीन की साधना से पुण्य-सम्भार, वीर्य और ध्यान की साधना से ज्ञान-सम्भार और इन दोनों सम्भारों से प्रज्ञा की प्राप्ति होती है।

(5) **दशभूमि**—महायान के अनुसार किसी भी व्यक्ति को बोधिसत्त्व की अवस्था तक पहुँचने के लिए निम्नलिखित दस अवस्थाओं को क्रमशः पार करना पड़ता है। ये आध्यात्मिक विकास की अवस्थाएँ हैं : प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मति, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरंगमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघा।[2]

(5) महायान की शिक्षाएँ हीनयान की शिक्षाओं की अपेक्षा बहुत ही उत्कृष्ट हैं। हीनयान तुच्छ और स्वार्थपूर्ण है। यह बुद्ध की शिक्षाओं के मर्म को समझने में असफल रहा है। यह केवल उनका शाब्दिक अर्थ ही करता है। बुद्ध ने कायिक, वाचिक और आध्यात्मिक शिक्षाओं का पालन किया था, किन्तु यह प्रथम का ही पालन करता है तथा अन्तिम को छोड़ देता है, जबकि अन्तिम शिक्षाएँ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। प्राणिमात्र की मुक्ति का लक्ष्य सामने रखते हुए महायान

---

1. आउटलाइन्स आव् बुद्धिज्म, पृ० 65-74
2. असंग ने अपने महायानसूत्रालंकार के बीसवें अध्याय में 32-38 श्लोकों में इन भूमियों का वर्णन किया है।

इन शिक्षाओं का उल्लंघन भी कर सकता है। उदाहरण के लिए, प्रथम शिक्षा यह कहती है कि किसी जीवित प्राणी को मत मारो। किन्तु बोधिसत्त्व युद्ध करने में भी नहीं हिचक सकता, यदि उसे यह प्रतीत हो कि यह उचित और मानवता के हित में है। बुद्ध की निम्नलिखित दस शिक्षाएँ हैं—(1) किसी जीवित प्राणी को मत मारो (अहिंसा)। (2) न दी हुई वस्तु को मत ग्रहण करो (अस्तेय)। (3) वैवाहिक जीवन की पवित्रता का पालन करो (ब्रह्मचर्य)। (4) झूठ मत बोलो (सत्य)। (5) किसी की झूठी निन्दा मत करो। (6) किसी का अपमान मत करो। (7) बकवाद मत करो। (8) लोभी मत बनो (9) ईर्ष्या मत करो और (10) सन्देहवादी मत बनो।

(7) बोधिसत्त्व का लक्ष्य बोधि की प्राप्ति और उसके द्वारा धर्मकाय का साक्षात्कार करना है। महायान में अगाध निष्ठा रखते हुए तथा सांसारिक सुखों मे विराग रखते हुए वह अपनी माध्यमिक विभूतियों को मित्र और शत्रु में सम भाव से वितरित करता है और प्राणिमात्र को जरा मरण, दुःख और दुर्मनस्तता के बन्धन से मुक्त कर निर्वाण के तट पर पहुँचाता है।

(8) बोधिसत्त्व का मन निर्वाण और संसार, विधि और निषेध, भाव और अभाव, ज्ञाता और ज्ञेय तथा आत्मवाद और नैरात्म्यवाद के द्वैत से परे है। वह समता (अनानार्थ) बुद्धि से युक्त और नानात्व से रहित है। समस्त संसार में उस धर्मकाय का ही दर्शन होता है।

(9) बोधिसत्त्व को यह बोध हो जाता है कि पारमार्थिक दृष्टि से संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं है। उसे निर्वाण में संसार और संसार में निर्वाण, सतत परिवर्तनशील नानात्व में कूटस्थ नित्य अनानात्व और कूटस्थ नित्य अनानात्व में सतत परिवर्तनशील नानात्व का दर्शन होता है।

(10) **त्रिकायवाद**—महायान बुद्ध के तीन कार्यों में विश्वास करता है। वे हैं : धर्मकाय, सम्भोगकाय तथा निर्वाणकाय।

(क) **धर्मकाय**—यह शाश्वत, अनन्त और सर्वव्यापी स्वतन्त्र सत्ता है जो समस्त विश्व का आधार है। अपने निर्विकार और निराकार रूप में रहते हुए भी यह जगत् के नाना रूपों में व्यक्त होता है। इसे स्वभावकाय, तत्त्व, शून्य, निर्वाण और समाधिकाय भी कहते हैं। इसकी तुलना हम उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म से कर सकते हैं।

(ख) **सम्भोगकाय**—नाम-रूप से युक्त धर्मकाय ही सम्भोगकाय है। मानव बुद्धि धर्मकाय का वर्णन करने के लिए जब उसमें विविध प्रकार के गुणों को आरोपित करती है तो वह सम्भोगकाय कहलाता है। यहाँ वह स्वर्गलोक में विहार करनेवाले सर्वज्ञ, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् आदिबुद्ध के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है। इस रूप में वह सृष्टि के सभी सुखों का भोक्ता है। उसकी तुलना हम उपनिषदों के सगुण ब्रह्म या ईश्वर से कर सकते हैं।

(ग) **निर्माणकाय**—धर्मकाय प्राणिमात्र को दुःख से मुक्त करने के लिए नाना रूपों में अवतार धारण करता है। धर्मकाय का यह अवतरित रूप ही निर्माणकाय कहलाता है। सनातन धर्म के राम, कृष्ण, बुद्ध आदि अवतार इस कोटि में आते हैं।

विज्ञप्तिमात्रता

वसुबन्धु के अनुसार विज्ञप्तिमात्रता ही परम सत् है। दृश्य जगत् मिथ्या है। इसकी सभी वस्तुएँ प्रतिभास मात्र हैं। जिस प्रकार तिमिर रोग (एक प्रकार का नेत्र-रोग) से ग्रस्त व्यक्ति को आँखों के सामने काले बालों के गुच्छे दिखाई पड़ते हैं अथवा आँख दबाने पर दो चन्द्रमा के दर्शन होते हैं, किन्तु उनका अस्तित्व नहीं[1], उसी प्रकार अज्ञान से ग्रस्त व्यक्तियों को बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व की प्रतीति होती है किन्तु वस्तुतः इनका अस्तित्व नहीं है। वे वस्तु सम्बन्धी सभी अवधारणाओं की समीक्षा करते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि ये तर्क द्वारा मान्य नहीं हो सकतीं। उनके अनुसार वस्तु के स्वरूप के विषय में तीन ही सिद्धान्त हो सकते हैं—(1) या तो वह एक द्रव्य है जो विभिन्न गुणों का अधिष्ठान है; (2) या वह एक अंशी है जिसमें विभिन्न अंश विद्यमान हैं; (3) या वह परमाणुओं का संघात है।

प्रथम सिद्धान्त को सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि किसी वस्तु को हम उसके गुणों द्वारा ही जानते हैं। गुणों के अतिरिक्त उसका क्या स्वरूप है, इसे हम नहीं जानते। उदाहरण के लिए, हम नीला कमल एक साथ देखते हैं, न कि नीला और कमल पृथक् पृथक्। दूसरा सिद्धान्त भी मान्य नहीं हो सकता। यहाँ दो ही विकल्प सम्भव हैं। या तो अंश अंशी (वस्तु) से भिन्न है या अभिन्न। यदि वे भिन्न हैं तो उनकी उत्पत्ति अंशी से नहीं हो सकती। अंशी से अंश की उत्पत्ति स्वीकार करने

---

1. विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थविभासनात्।
   यथा तैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादि दर्शनम् ॥—विंशतिका, 1

पर असत् से सत् की उत्पत्ति माननी पड़ेगी जो असम्भव है।[1] और यदि वे उससे अभिन्न हैं तो दोनों एक हैं, फिर अंश और अंशी का भेद कहाँ रहा ? तृतीय सिद्धान्त भी अमान्य है। यदि हम यह मानें कि वस्तुएँ परमाणुओं का संघात हैं तो प्रश्न उठता है कि परमाणुओं का आपस में क्या सम्बन्ध है ? एक परमाणु के चारों ओर तथा ऊपर-नीचे कम से कम छह परमाणुओं को स्थित मानना पड़ेगा। यदि हम यह मानें कि एक ही स्थान पर वे सभी परमाणु स्थित हैं तो उन सबका आकार और वजन एक ही परमाणु के बराबर होगा, इस प्रकार वस्तु परमाणु के ही बराबर होगी। अतः इस विकल्प से जगत् की किसी भी वस्तु की व्याख्या नहीं हो सकती। गगन-चुम्बी पर्वत-शिखरों और अगाध समुद्रों की बात कौन कहे, सुई की नोक और शरीर के सूक्ष्मतम बाल की भी व्याख्या नहीं हो सकती। और यदि हम यह मानें कि मध्यवर्ती परमाणु उन सभी परमाणुओं से पृथक् पृथक् सम्बन्धित है तो उसमें कम से कम छह अवयव मानने पड़ेंगे जबकि परमाणु निरवयव हैं।[2] अतः वस्तु विज्ञप्तिमात्र है।

विज्ञप्तिमात्रता का स्वरूप—वसुबन्धु के अनुसार विज्ञप्तिमात्रता ही एक मात्र सत्ता है। यह परमार्थ और सभी वस्तुओं का सार है। सदा-सर्वदा एकरस और नित्य होने के कारण इसे तथता भी कहते हैं।[3] यह परतन्त्र (वस्तु) का अधिष्ठान है। इसी के कारण जगत् की प्रतीति होती है। किन्तु यह प्रतीयमान जगत् से भिन्न रूपवाली है। इसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। इसका कभी अन्यथाभाव नहीं होता। यही परिनिष्पन्न[4] है। यह सर्वदोष-विनिर्मुक्त, अनिर्वचनीय, अचिन्त्य, आनन्द-स्वरूप (सुख) शाश्वत, ध्रुव, मुक्ति-स्वरूप और महामुनि बुद्ध का धर्मकाय[2] है। यही वह सत्ता है जिससे अनन्त बुद्धों का आविर्भाव होता है। जब तक साधक का मन इस तत्त्व में लीन नहीं होता तब तक ग्राह्य और ग्राहक का द्वैत, दूसरे शब्दों में सविकल्प

---

1. कुतो असतः सज्जायते ?
2. षट्केन युगपद् योगात् परमाणोः षडंशता।
षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः ॥—विंशतिका, 12
3. धर्माणां परमार्थश्च स स यतस्तथतापि सः।
सर्वकालं तथाभावात् सैव विज्ञप्तिमात्रता ॥—त्रिंशिका, 25
4. त्रिस्वभावनिर्देश, 3
5. स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः ॥—त्रिंशिका, 30

बुद्धि द्वारा निर्मित प्रपंच का अस्तित्व बना ही रहता है ।[1] किन्तु जब साधक समाधि में अपने सविकल्प मन को इस परम तत्त्व में विलीन कर देता है तब उसे विज्ञप्तिमात्रता के वास्तविक रूप का दर्शन होता है ।

विज्ञप्तिमात्रता का वास्तविक स्वरूप क्या है ? यह क्षणिक विज्ञानों का प्रवाह मात्र है अथवा कूटस्थ नित्य विज्ञान, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है । प्रोफेसर विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार यह क्षणिक और प्रवाह-रूप है । उनका यह कथन है कि वसुबन्धु ने इसके लिए नित्य शब्द का प्रयोग नहीं किया बल्कि ध्रुव शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ परिणामिनित्य है । इनके विपरीत ई० जी० थामस इसे कूटस्थ नित्य मानते हैं और कहते हैं कि अर्हत् का पद प्राप्त कर लेने पर आलय विज्ञान का प्रवाह सूख जाता है और विज्ञप्तिमात्रता की अनुभूति होती है ।[1] यह मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है । वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्रता विषयक उपर्युक्त वर्णन से भी इसी बात की पुष्टि होती है और स्थिरमति के त्रिंशिकाविज्ञप्तिभाष्य से भी । स्थिरमति स्पष्ट रूप से कहते हैं कि विज्ञप्तिमात्रता नित्यता के ही कारण ध्रुव और सुख-स्वरूप है । संसार की अनित्य वस्तुएँ ही दुःख हैं । यह नित्य है अतः सुख है ।[3]

वसुबन्धु नागार्जुन के शून्यता सिद्धान्त से निश्चित ही आगे बढ़े हैं । नागार्जुन के अनुसार किसी भी वस्तु की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है ।[4] प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है । किन्तु वसुबन्धु के अनुसार प्रत्येक वस्तु अवास्तविक है, फिर भी एक ऐसी सत्ता है जिसके सन्दर्भ में ही अन्य वस्तुओं की अवास्तविकता का ज्ञान होता है और वह सत्ता है विज्ञप्तिमात्रता । यह बुद्ध जनों की अनुभूति का विषय है । बुद्धि इसके विषय में सोच भी नहीं सकती । बुद्धि की कोटियों द्वारा हम जिस विशुद्ध विज्ञप्तिमात्रता के

---

1. यावद् विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठति
   ग्राहद्वयस्यानुशयस्तावन्न विनिवर्तते ॥—वही, 26 ॥
   यावद् अद्वयलक्षणे विज्ञप्तिमात्रे योगिनश्चित्तं न प्रतिष्ठितं भवति तावद् ग्राह्य-ग्राहकानुशयो न विनिवर्तते, न प्रहीयते इत्यर्थः ॥—त्रिंशिकाप्रकरणवृत्ति, पृ० 54
2. त्रिंशिकाकारिका, 4/5
3. ध्रुवो नित्यत्वात् अक्षतया । सुखो नित्यत्वादेव । यदनित्यं तद्दुःखम् । अयं च नित्य इति, अस्मात् सुखः । त्रिंशिकाविज्ञप्तिभाष्य, पृ० 56
4. मूलमाध्यमिककारिका, 22/16

प्रत्यय की कल्पना करते हैं वह अवास्तविक है, क्योंकि यदि उसकी वास्तविकता मान ली जाए तो हमें बुद्धि के प्रत्यय की सत्ता को भी मानना पड़ेगा जो असम्भव है। किन्तु बुद्धि विज्ञप्तिमात्रता के विषय में सोच भी नहीं सकती, का यह अर्थ नहीं कि इसकी सत्ता ही नहीं है। इसका तात्पर्य केवल यह है कि यह बुद्धि की कोटियों से परे है। इसकी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने के लिए हमें एक अन्य चित्त की कल्पना करनी पड़ेगी और उस चित्त की सत्ता स्थापित करने के लिए एक अन्य चित्त की। इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। अतः चित्त या विज्ञप्तिमात्रता का अस्वीकरण वदतोव्याघात है। दूसरे शब्दों में, अस्वीकरण की प्रक्रिया ही विज्ञप्तिमात्रता की सत्ता पर आधारित है, न कि इसके अनस्तित्व पर।[1] वसुबन्धु का यह सिद्धान्त देकार्त के चिन्तये अतोऽस्मि (कॉजिटो यरगोसम) और सन्त आगस्टाइन के सुइ फ्लोरसम से मिलता-जुलता है जिसके अनुसार चिन्तनकर्ता और निराकर्ता के अस्तित्व का खण्डन वदतोव्याघात है।

वस्तुवादियों ने विज्ञप्तिमात्रता सिद्धान्त पर निम्नलिखित आक्षेप किये हैं :

(1) अनुभवसिद्ध जगत् देश और काल के अनिवार्य नियमों[2] द्वारा संचालित होता है। उदाहरण के लिए, जलवृष्टि सामान्यतः वर्षा ऋतु में ही देखी जाती है। फसलों की हरियाली का दर्शन मैदान में ही होता है, न कि मरुभूमि में। यदि ये दृश्य किसी व्यक्ति-विशेष के मन की सृष्टि हैं तो वे उस रूप में केवल उसी व्यक्ति को दिखायी पड़ने चाहिए, सबको नहीं। फिर, यदि वे प्रत्यय ही हैं तो उन्हें कहीं भी और कभी भी दिखायी पड़ना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता।

(2) यदि हम बाह्य जगत् का अस्तित्व ही नहीं मानते तो तज्जन्य परिणामों की व्याख्या कैसे करेंगे ? उदाहरण के लिए, कल्पित प्रहार से किसी को चोट नहीं पहुँचती। चोट तो वास्तविक प्रहार से ही पहुँचती है।

(3) स्वप्नगत वस्तुओं की सत्ता जागरित अवस्था द्वारा बाधित हो जाती है। किन्तु जागरित अवस्था के विषयों—घट, पट आदि का—कभी भी खण्डन नहीं

---

1. विज्ञप्तिमात्र व्यवस्थापनया सर्वधर्माणां नैरात्म्य प्रवेशो भवति न तु तदस्तित्वाप-वादात्।—विंशतिकाप्रकरणवृत्ति, 10
2. यदि विज्ञप्तिरनर्था नियमो देशकालयोः।
सन्तानस्यानियमश्च भुक्ता कृत्यक्रिया न च॥—विंशतिकाकारिका, 2

होता।[1] यदि ये स्वयं स्वप्न के विषयों की भाँति मिथ्या हों तो स्वप्न के विषयों की अवास्तविकता का ज्ञान ही नहीं हो सकता।

(4) जागरित अवस्था में लोगों का जीवन नैतिक नियमों द्वारा संचालित होता है किन्तु स्वप्न में लोग नैतिक नियमों से मुक्त हैं।

(5) पुनश्च, जागरित अवस्था के विषय सार्वजनिक हैं। वे सभी के लिए अनुभव-गोचर हैं। किन्तु स्वप्न की वस्तुएँ केवल उसी स्वप्नद्रष्टा के लिए अनुभवगोचर हैं जिसने उस स्वप्न को देखा हो। उदाहरण के लिए गाय, वृक्ष या अन्य वस्तुएँ, जिनका हम प्रत्यक्षीकरण करते हैं, वे सभी के लिए एक-सी हैं किन्तु स्वप्न में देखी गयी गाय, वृक्ष या अन्य वस्तु सभी स्वप्न देखनेवालों के लिए एक-सी नहीं हैं।

विज्ञानवादियों के अनुसार ये सभी आक्षेप निराधार हैं।

(1) स्वप्न में भी, जहाँ बाह्य वस्तुओं का अभाव है, हम वस्तुओं को देश और काल के नियमों द्वारा संचालित पाते हैं।[2] उदाहरण के लिए, जलवृष्टि सामान्यतः वर्षा ऋतु में ही दिखाई पड़ती है। उपवन और शस्य-श्यामला धरती केवल मैदान में ही दिखाई पड़ती है मरुभूमि में नहीं। स्वप्न में भी सिंह की ही दहाड़ लोगों को प्रकम्पित करती है, गाय की धीमी आवाज नहीं। इसी प्रकार मित्र के प्रति प्रेम और शत्रु के प्रति घृणा की भावना स्वप्न में भी देखी जा सकती है।

(2) द्वितीय आक्षेप भी निराधार है। स्वप्न में भी वस्तुओं का स्वभाव निश्चित है। विशिष्ट वस्तु से ही तत्संबन्धी विशिष्ट परिणाम की उत्पत्ति देखी जाती है, सभी वस्तुओं से नहीं। उदाहरण के लिए, स्वप्न में भी जागरित अवस्था की भाँति जल से ही प्यास बुझती है, आग के अंगारों से नहीं और प्रहार से ही चोट पहुँचती है, न कि प्रेम-प्रदर्शन से।

(3) तृतीय आक्षेप भी अमान्य है। स्वप्नद्रष्टा को स्वप्न के पदार्थों का अभाव नहीं प्रतीत होता। उसके लिए तो वे सत्य ही हैं। जब वह स्वप्न के बाद जागरितावस्था में प्रवेश करता है तब उसे स्वप्न-दृष्ट पदार्थों के अभाव का ज्ञान प्रतीत

---

1. शाङ्कर भाष्य, 2.2.6
2. विंशतिकाकारिका, 3

होता है, बिना जागे नहीं ।[1] इसी प्रकार यह लोक भी मिथ्या विकल्प-वासना की प्रगाढ़ निद्रा में सो रहा है और बाह्य पदार्थ-रूपी समष्टि-स्वप्न देख रहा है एवं जब तक यह स्वप्न है तब तक पदार्थ भी हैं । बिना जागे उसे उन पदार्थों का अभाव नहीं प्रतीत हो सकता । जब यह लोकोत्तर निर्विकल्प विशुद्ध ज्ञान का साक्षात्कार करके प्रबुद्ध हो जाएगा तब स्वप्न के विषयों की भाँति बाह्य पदार्थों का भी अभाव हो जाएगा ।[2]

(4) चतुर्थ आक्षेप भी ठीक नहीं । जागरित अवस्था में भी लोग नैतिक नियमों का अतिक्रमण करते हैं । हम सभी इस बात का अनुभव करते हैं कि लोग झूठ बोलते हैं, हत्या, व्यभिचार, विश्वासघात और ऐसे ही अन्य जघन्य अनैतिक अपराध करते हैं ।

(5) अन्तिम आक्षेप भी असत्य है । वस्तुतः सार्वजनिक जगत् का सर्वथा अभाव है । जगत् अनन्त और असंख्य हैं ।[3] प्रत्येक व्यक्ति का अपना अनुभव और अपना जगत् है । जगत् की एकता की प्रतीति केवल इसलिए होती है कि हम अन्य व्यक्तियों के अनुभवों के अन्तर पर दृष्टिपात नहीं करते । चूँकि हम अपने शरीर की परिधि को पाकर अन्य व्यक्तियों के जगत् का दर्शन नहीं कर सकते, अतः भिन्न लोगों द्वारा अनुभूत जगत् का अन्तर हम नहीं देख पाते ।[4] जगत् की एकता और सम्बद्धता को तुलना हम कँवल रोग से पोड़ित दो व्यक्तियों के अनुभव से कर सकते हैं । उन दोनों को सफेद शंख पीला दिखाई पड़ता है । यद्यपि उन दोनों के अनुभव भ्रमात्मक हैं, फिर भी एक ही रोग से पीड़ित होने के कारण उन दोनों के अनुभव में एकता और सम्बद्धता है ।[5]

वस्तुवादी दार्शनिकों ने विज्ञप्तिमात्रता के विरुद्ध कुछ अन्य आक्षेप किए हैं । इन आक्षेपों का उत्तर भी साथ ही दिया जा रहा है—

(1) प्रत्ययों के अनुभवसिद्ध जगत् की वस्तुओं के निर्दिष्ट फलों की व्याख्या नहीं हो

---

1. जिमि सपने सिर काटै कोई । बिनु जागे न दूर दुख होई ।।—तुलसी
2. विंशतिकाकारिका, 17
3. मध्यान्तविभङ्गसूत्रभाष्यटीका, पृ० 16-17
4. दि योगाचार आइडिएलिज्म, पृ० 106-107
5. सन्तानान्तरसिद्धिकारिका, 6, 5

सकती। केवल प्रत्यय न तो हमारी प्यास बुझा सकते हैं और न भूख मिटा सकते हैं। विज्ञानवादी के अनुसार प्रत्ययों में निर्दिष्ट फल उत्पन्न करने की क्षमता है। स्वप्नदोष[1] का अनुभव हम सभी करते हैं। यहाँ वास्तविक सम्भोग नहीं, सम्भोग का प्रत्यय मात्र है, किन्तु वीर्यस्खलन वास्तविक होता है। इसी प्रकार भ्रमजन्य सर्प मृत्यु का कारण हो सकता है। फिर निर्दिष्ट फलप्रदता या कार्यक्षमता स्वयं भी एक प्रत्यय ही तो है जो अनादि वासनाजन्य है, जिसके कारण हम मानसिक वस्तुओं को बाह्य वस्तु समझते हैं।[2]

(2) विज्ञप्तिमात्रता का पर्यवसान एकजीववाद (सॉलिप्सिज्म) में होता है। मैं हूँ और मेरा चित्त है, इसके अतिरिक्त संसार में और कुछ भी नहीं है। विज्ञानवादी के अनुसार पारमार्थिक दृष्टिकोण से विचार करने पर जगत् विज्ञप्तिमात्रता का विक्षेप मात्र है, अतः पृथक् मनों की सत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। वे सभी उसी विज्ञप्तिमात्रता के विक्षेप हैं। जिस प्रकार वायु के कारण समुद्र में तरंगें उठती हैं, यद्यपि उनका समुद्र से पृथक् अस्तित्व नहीं, उसी प्रकार अविद्या के कारण वस्तुओं का पृथक् अस्तित्व प्रतीत होता है, यद्यपि ये विज्ञप्तिमात्रता से पृथक् नहीं हैं। किन्तु जहाँ तक लोक-व्यवहार का प्रश्न है, वस्तुओं के अस्तित्व को कभी भी अस्वीकार नहीं किया जाता। हमें उनका ज्ञान अनुमान द्वारा होता है। हम दैनिक जीवन में देखते हैं कि विविध कार्यों का सम्पादन हो रहा है और इन कार्यों का सम्पादन मेरे द्वारा नहीं हो रहा है। इस आधार पर हम यह अनुमान लगाते हैं कि इन कार्यों का सम्पादन अन्य व्यक्तियों द्वारा हो रहा होगा। अतः अन्य व्यक्तियों की सत्ता है।[3]

(3) विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त भगवान् बुद्ध की शिक्षा के प्रतिकूल है क्योंकि उन्होंने रूप, धातु, आयतन इत्यादि के अस्तित्व की शिक्षा दी है।[4] यह आक्षेप भी गलत है। भगवान् बुद्ध ने रूप, धातु, आयतन आदि की सत्ता का उपदेश मन्दबुद्धि लोगों को शुभ कर्म करने की प्रेरणा देने के लिए किया है। यह उनका उपाय-कौशल्य है जिसके द्वारा वे अज्ञ जनों को परमार्थ के सोपान पर उनकी क्षमता के

1. स्वप्नोपघातवत् कृत्य क्रिया।—विंशतिकाकारिका, 4
2. यदन्तर ज्ञेयरूपं नु बहिर्वदवभासते।—आलम्बनपरीक्षाकारिका, 6
3. सन्तानान्तरसिद्धिकारिका, 55
4. अथास्ति सत्त्व उपपादुक इत्युक्तं भगवता।—विंशतिकाकारिकाप्रकरणवृत्ति, पृ० 8

अनुसार ले जाते हैं। जिस प्रकार एक बालक को चन्द्रमा का दर्शन उँगली की सहायता से कराया जाता है किन्तु वह उँगली चन्द्रमा नहीं है, उसी प्रकार रूप, धातु, आयतन आदि की शिक्षा उपायभूत है, उपेयभूत नहीं।[1]

(4) ज्ञानेंद्रियों द्वारा ज्ञेय जगत् यदि कल्पना मात्र है तो विज्ञप्तिमात्रता का सत्ता को कैसे स्वीकार किया जाए जो ज्ञान के किसी भी साधन द्वारा ज्ञेय नहीं है। विज्ञानवादी के अनुसार 'संसार में कोई वस्तु नहीं है' अर्थात् धर्मनैरात्म्य का यह अर्थ नहीं कि सर्वथा कोई भी धर्म नहीं है। इसका अर्थ केवल यह है कि सविकल्प बुद्धि द्वारा कल्पित जितने भी धर्म हैं वे नहीं हैं। साधारण जनबुद्धि की कोटियों में फँसकर ग्राह्य और ग्राहक, विषय और विषयी, जगत् और जीव, इस द्वैत की कल्पना कर लेते हैं और इस प्रपंच को ही सत्य मान लेते हैं। धर्म-नैरात्म्य उनके इसी प्रपंच का निराकरण करता है, विशुद्ध निर्विकल्प विज्ञप्तिमात्रता का नहीं। वह कल्पित जीवात्मा का निराकरण करता है, बुद्धों के निर्विकल्प साक्षात्कार के विषयभूत अनिर्वचनीय विशुद्ध विज्ञप्तिमात्र-रूपी आत्मा का नहीं, क्योंकि स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश विज्ञप्तिमात्र ही तो इस सब प्रपंच का अधिष्ठान है। विज्ञप्तिमात्र का निराकरण असम्भव है, क्योंकि इसका निराकरण भी विज्ञप्ति के द्वारा ही हो सकता है, इसलिए कि जो निराकर्ता है वही उसका स्वरूप है।[2] अतः इसका निराकरण वदतोव्याघात है। इसके निराकरण की चेष्टा वैसी ही हास्यास्पद है जैसे द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप।[3]

प्रश्न उठता है कि क्या लोकनायक बुद्ध का मोहक व्यक्तित्व, आँखों के सामने फैला हुआ अनन्त आकाश, नक्षत्रों की अपरिमित राशि, दूध सी धुली चाँदनी रात, पूर्णिमा का चन्द्रमा, ग्रीष्म के मध्याह्न का प्रचण्ड मार्तण्ड, वसन्त ऋतु का विमुग्धकारी प्रभात, शिशिर का हिमकण-मिश्रित पवन, जगत् को मिथ्या कहनेवाले दार्शनिक को फुफकार मात्र में काल-कवलित करनेवाले विषधर सर्प, आकाश-कुसुम, वन्ध्या-पुत्र और शश-शृंग समान रूप से असत् हैं? विज्ञानवादी उत्तर है, नहीं। लोकोत्तर

1. रूपाद्यायतनास्तित्वं तद् विनेयजनं प्रति।
अभिप्रायवशादुक्तमुपपादुक सत्त्ववत्॥—विंशतिकाकारिका, 8
2. त्रिस्वभावनिर्देशकारिका, 1
3. वही, कारिका 2 तथा त्रिंशिकाकारिका, 20

ज्ञान प्राप्त होने पर इस अनुभवसिद्ध जगत् और उसके प्रपंच का पूर्ण रूप से विनाश हो जायगा किन्तु जब तक हम अनादि वासना की प्रगाढ़ निद्रा में सो रहे हैं तब तक प्रपंच का उसी प्रकार अस्तित्व है जिस प्रकार स्वप्न के समय स्वप्न-जगत् की वस्तुओं का था। अतः लोकोत्तर ज्ञान की प्राप्ति के पूर्ववर्ती जगत् की त्रिविध सत्ता है। इसे वसुबन्धु ने 'त्रिस्वभाव' सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित किया है। ये हैं : परिकल्पित, स्वतन्त्र और परिनिष्पन्न।

परिकल्पित—ये वे पदार्थ हैं जिनका बाह्य अस्तित्व नहीं है, किन्तु भ्रम या कल्पना के कारण अस्तित्व प्रतीत होता है, जैसे रस्सी में साँप, मरुभूमि में जल, द्विचन्द्र अथवा आकाश-कुसुम, वन्ध्या-पुत्र और शश-श्रृंग इत्यादि।

परतन्त्र—हेतु-प्रत्यय-सामग्री-जन्य समस्त पदार्थ इस कोटि में आते हैं, जैसे कुर्सी, मेज, वृक्ष, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि।[1]

परिनिष्पन्न—यह परतन्त्र अर्थात् अनुभवसिद्ध जगत् का अधिष्ठान है। इसी के कारण जगत् की प्रतीति होती है। किन्तु जिस रूप में जगत् की प्रतीति होती है उससे यह भिन्न है। इसकी स्वतन्त्र सत्ता है।[2] यही तथता, धर्मधातु और विज्ञप्ति-मात्रता है।

किन्तु सत्ता के त्रिविध विभाजन से हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि वसुबन्धु तीन प्रकार की सत्ताओं में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार वस्तुतः सत्ता एक ही है जो त्रिविध रूप में प्रतीत होती है। इसीलिए वे परम सत् को अभूत-परिकल्पित कहते हैं। जिस प्रकार शून्यवादियों ने शून्यता सिद्धान्त की सहायता से सत्य-द्वय की कल्पना से उद्भूत द्वैतवाद का खण्डन कर व्यवहार और परमार्थ के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया, उसी प्रकार विज्ञानवादियों ने अभूत-परिकल्पित की सहायता से त्रिविध सत्ता के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करने का प्रयत्न किया।

अभूत-परिकल्पित—इस शब्द का प्रयोग उपर्युक्त तीनों ही सत्ताओं के लिए किया गया है। निरपेक्ष सत्ता के लिए प्रयुक्त होने पर यह परिनिष्पन्न है, जो समस्त जगत् का आधार है[3] और उसके कण कण में विद्यमान है। यही वह परात्पर अद्वय

---

1. वही, कारिका 2 तथा त्रिंशिकाकारिका, 21
2. वही, 3
3. अभूतस्य परिकल्पो यस्मिन् सः।

शिव तत्त्व है, जिसकी अनुभूति साधक को लोकोत्तर सम्यक् सम्बोधि की अवस्था में होती है। व्यवहार के लिए प्रयुक्त होने पर यह अनुभवगोचर जगत् और उसका आश्रय आलय विज्ञान है।[1] हेतु प्रत्यय द्वारा संचालित होने के कारण आलय को परतन्त्र भी कहते हैं। संसार की वस्तुएँ भी हेतु-प्रत्यय-सामग्री-जन्य हैं। ये आलय की अभिव्यक्ति ही हैं। अतः इन्हें भी परतन्त्र कहते हैं। सामान्यतः अभूत-परिकल्पित शब्द का प्रयोग परतन्त्र (आलय) के लिए ही किया जाता है। परिनिष्पन्न की तरह यह भी अनिर्वचनीय है। इसे हम सत्, असत् कुछ भी नहीं कह सकते। संसार की वस्तुएँ आलय की ही अभिव्यक्ति हैं अतः आलय की भाँति वे भी अनिर्वचनीय हैं। इन्हें भी हम सत्, असत् कुछ भी नहीं कह सकते। यदि अविद्या के कारण स्वयं परिनिष्पन्न ही परतन्त्र के रूप में भासित होता है तो उसे परिनिष्पन्न से भिन्न कैसे माना जाए? दूसरे शब्दों में, उसे असत् कैसे माना जाए और यदि परिनिष्पन्न परतन्त्र से सदैव अस्पृष्ट रहता है तो उसे परिनिष्पन्न से अभिन्न कैसे माना जाय? दूसरे शब्दों में, उसे सत् कैसे माना जाए? अतः परिनिष्पन्न से भिन्न और अभिन्न कुछ भी न होने के कारण वह सदसद्विलक्षण है।[2] परिकल्पित तो अभूत-परिकल्पित है ही[3], क्योंकि यह शुद्ध कल्पना की सृष्टि है। इसकी व्यावहारिक जगत् में भी सत्ता नहीं है। इसके अस्तित्व की प्रतीति मानसिक और ऐन्द्रिक रोगों तथा भौतिक कारणों से होती है। उदाहरण के लिए, अन्धकार के कारण हमें रस्सी में साँप दीख पड़ता है। रेलगाड़ी से यात्रा करते समय वृक्ष और अन्य वस्तुएँ भागती हुई नजर आती हैं। दूरी के कारण रेत में जल का आभास होता है और मानसिक उद्विग्नता के कारण विभ्रम[4] की प्रतीति होती है।

वसुबन्धु के त्रिस्वभाववाद पर यह आक्षेप है कि यह भगवान् बुद्ध की देशना के विपरीत है क्योंकि उन्होंने स्पष्ट रूप से धर्मों की निःस्वभावता का उपदेश किया

---

1. अभूतस्य परिकल्पो यस्मात् सः।
2. त्रिशिकाकारिका, 22
3. अभूतश्चासौ परिकल्पितः।
4. विभ्रम उस भ्रम को कहते हैं जिसका कोई आधार नहीं होता। रस्सी में साँप की प्रतीति भ्रम है क्योंकि इस भ्रम का कारण रस्सी है। किन्तु यदि हमें बिना किसी कारण के आकाश में लटकती हुई तलवार दीख पड़े या चारों ओर शस्त्र-धारी शत्रु दीख पड़ें, जबकि वहाँ कुछ भी नहीं है, तो इसे विभ्रम कहेंगे।

था और कहा था कि 'संसार के जितने भी धर्म हैं वे निःस्वभाव हैं'। किन्तु विज्ञानवादी के अनुसार त्रिस्वभाव और निःस्वभाव में विरोध नहीं है। वस्तुतः दोनों एक हैं। परिकल्पित के अस्तित्व का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, अतः वह निःस्वभाव ही है। परतन्त्र की अपनी सत्ता ही नहीं, अतः वह भी निःस्वभाव है। बुद्धि द्वारा जितनी भी विशेषताएँ कल्पित की जा सकती हैं वे सभी परिनिष्पन्न का वर्णन करने में असमर्थ हैं, अतः वह भी निःस्वभाव है। इस प्रकार ये तीनों सत्ताएँ किसी न किसी प्रकार की निःस्वभावता से युक्त हैं। परिकल्पित लक्षण निःस्वभावता से युक्त है, परतन्त्र उत्पत्ति निःस्वभावता से और परिनिष्पन्न परमार्थ निःस्वभावता से।

विज्ञप्तिमात्रता से जीव और जगत् की उत्पत्ति

विज्ञानवाद के अनुसार इसी विज्ञप्तिमात्रता से आत्मा (जीव) और पदार्थयुक्त निखिल जगत् की सृष्टि होती है। यह अनुभवसिद्ध जगत् इसी का परिणाम है। सृष्टि की प्रक्रिया में यह तीन रूप धारण करती है—(1) आलय विज्ञान[1], (2) मनोविज्ञान और (3) विषय विज्ञान[2]।

आलय विज्ञान—विज्ञप्तिमात्रता से सर्वप्रथम आलय विज्ञान की उत्पत्ति होती है। समस्त मानसिक और भौतिक क्रियाओं के बीजों का स्थान होने से इसे आलय विज्ञान कहते हैं अथवा सभी धर्म इसमें कार्य-रूप से निहित रहते हैं इसलिए भी इसे आलय कहते हैं और ज्ञान-रूप होने के कारण इसे विज्ञान कहते हैं। इसे विपाक भी कहते हैं क्योंकि इसमें सभी लोक, सभी गतियाँ, सभी योनियाँ तथा सभी शुभ और अशुभ कर्म संचित हैं[3]। सभी क्रियाओं के बीज इसमें विद्यमान हैं, अतः इसे सर्वबीजक भी कहते हैं[4]। यह सदैव स्पर्श, संस्कार (मनस्कार), सुख-दुःख (वेदना), संज्ञा

---

1. लंकावतारसूत्र के अनुसार विज्ञप्तिमात्रता और आलय दोनों एक हैं। किन्तु वसुबन्धु के अनुसार आलय विज्ञप्तिमात्रता की प्रथम अभिव्यक्ति है।
2. आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते।
   विज्ञानपरिणामोऽसौ, परिणामः स च त्रिधा।—त्रिंशिकाकारिका, 1
   विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च॥—वही, 2
3. तत्रालयाख्यं विज्ञानं विपाकः सर्वबीजकम्।—वही, 2
   सर्वधातुगतियोनिजातिषु कुशलाकुशल कर्मविपाकत्वाद् विपाकः।—विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, पृ० 36
4. वही।

और चेतना, इन पाँच प्रकार के धर्मों से युक्त रहता है।[1] यह विज्ञप्तिमात्रता की भाँति नित्य और शाश्वत नहीं है। यह क्षणिक है और सरिता की भाँति सतत प्रवाहशील है। इसे हम विज्ञान की सतत-प्रवाहिनी सरिता कह सकते हैं। जैसे नदी का प्रवाह तृण, काष्ठ, आदि को बहाता हुआ चलता है उसी प्रकार आलय भी शुभाशुभ कर्म-वासनाओं के साथ स्पर्श, मनस्कार आदि को बहाता हुआ निरन्तर चलता रहता है। अर्हत्त्व की प्राप्ति होने पर आलय की सरिता सूख जाती है। चूँकि इस अवस्था में समस्त शुभ और अशुभ कर्मों की वासना तथा अविद्या के क्षय से ज्ञेयावरण और क्लेशावरण (बाह्य वस्तु और चैतसिक वेदना—उद्वेग) का प्रहाण (अन्त) हो जाता है, अतः आलय विज्ञान की भी व्यावृत्ति हो जाती है।[2]

जगत् के विकास में आलय के दो कार्य-व्यापार हैं : यह सभी विज्ञानों को संचित करता है और इन संचित विज्ञानों को परिस्थितियों के अनुकूल होने पर बाह्य विषयों के रूप में प्रक्षिप्त करता है।[3] प्रथम क्रिया को हेतु-परिणाम कहते हैं क्योंकि यह अनुवर्ती विज्ञप्तियों का कारण है और दूसरे को फल-परिणाम कहते हैं क्योंकि यह पूर्ववर्ती विज्ञप्तियों का कार्य है। आलय बाह्य जगत् की उत्पत्ति अपनी शक्ति 'वासना' की सहायता से करता है।[4] यह दो रूपों में प्रयुक्त होती है—विपाक-वासना के रूप में यह भव-चक्र को जारी रखती है और निष्यन्द-वासना के रूप में यह आलय में संचित विज्ञानों को मनस् और प्रवृत्ति विज्ञानों के रूप में प्रकट करती है।

मनस्[5]—आलय के बाद मनस् की उत्पत्ति होती है। यह विकल्प शक्ति है। इसी से समरूप और अविभक्त आलय विषयी और विषय के रूप में व्यक्त होता है। इसकी सत्ता आलय से स्वतन्त्र नहीं है। आलय ही इसका आश्रय है।[6] यह सदैव

---

1. स्पर्श मनस्कार वेदना संज्ञा चेतनाख्यैः पञ्चभिः सर्वत्रगैर्धर्मैरचितम्।—त्रिंशिका-विज्ञप्तिभाष्य, पृ० 23
2. त्रिंशिकाकारिका, 5
3. आलय-विज्ञानं द्विधा प्रवर्तते। अध्यात्ममुपादान विज्ञप्तितो बहिर्धा परिच्छिन्नाकार भाजन विज्ञप्तिश्च।—त्रिंशिकाविज्ञप्तिभाष्य, पृ० 22
4. शक्तिरूपा हि वासना।—योगाचार आइडिएलिज्म, पृ० 163 पर उद्धृत। सामर्थ्यम्—तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृ० 367
5. लंकावतारसूत्र के अनुसार विज्ञप्तिमात्रता से सर्वप्रथम मनस् की उत्पत्ति होती है।
6. त्रिंशिकाकारिका 5; लंकावतारसूत्र सगाथकम्, 102

आत्मदृष्टि, आत्ममोह (आत्मा के विषय में अज्ञान), आत्मज्ञान और आत्मस्नेह (आसक्ति) से युक्त रहता है।[1] इसे क्लिष्ट मनोविज्ञान भी कहते हैं क्योंकि क्लेशों का प्रारम्भ यहीं से होता है। इसके दो कार्य हैं : यह आलय में स्थित मानसिक और भौतिक वस्तुओं के विज्ञानों को व्यवस्थित करता है तथा आलय को विक्षुब्ध कर जगत् को उद्भूत करता है।[2] अर्हत्व की प्राप्ति होने पर अथवा सतत समाधि और योगाभ्यास द्वारा इसका अन्त हो जाता है।

प्रवृत्ति विज्ञान—मनस् के बाद इसकी उत्पत्ति होती है। इससे रूप, धातु और आयतनों के अस्तित्व का बोध होता है। यह छह वर्गों में विभक्त है। प्रत्येक वर्ग में एक ही प्रकार के विज्ञान हैं और उनका एक ही इन्द्रिय द्वारा बोध होता है—

(1) **चक्षु विज्ञान**—इसका विषय रूप है। इसका ज्ञान चक्षु द्वारा होता है।
(2) **श्रोत्र विज्ञान**—इसका विषय शब्द है। इसका ज्ञान कानों द्वारा होता है।
(3) **घ्राण विज्ञान**—इसका विषय गंध है। इसका ज्ञान नासिका द्वारा होता है।
(4) **स्पर्श विज्ञान**—इसका विषय स्पर्श है। इसका ज्ञान त्वचा (शरीर) द्वारा होता है।
(5) **रस विज्ञान**—इसका विषय रस है। इसका ज्ञान जिह्वा द्वारा होता है।
(6) **मनोविज्ञान**—इसके विषय चैतसिक धर्म हैं। इसका ज्ञान मन द्वारा होता है। प्रवृत्ति विज्ञान और मनस् में मुख्य अन्तर यह है कि प्रवृत्ति विज्ञान ऐन्द्रिक है और मनस् अतीन्द्रिय है। अतः दोनों को एक समझने की भूल नहीं करनी चाहिए।

स्वतन्त्र विज्ञानवाद

दिङ्नाग[3] और उनके शिष्यों ने योगाचार विज्ञानवाद को एक नया मोड़ दिया। उन्होंने वसुबन्धु के नित्य शिव तत्त्व विज्ञप्तिमात्रता को एक सतत प्रवाह-

---

1. वही, 6
2. लंकावतारसूत्र, अनित्यतापरिवर्तकारिका, 39
3. दिङ्नाग तमिल प्रदेश के कांची (काञ्चीवरम्) जिले के सिंहवक्त्र नामक गाँव में एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। वात्सीपुत्रीय सम्प्रदाय के नागदत्त नामक भिक्षु से उन्होंने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। पुद्गल के स्वरूप के विषय में आचार्य से मतभेद होने के कारण उन्होंने उनका साथ छोड़ दिया और उत्तर भारत में आकर वसुबन्धु के शिष्य हो गये। वसुबन्धु का शिष्य होने के कारण इतिहास-

शील विज्ञान-सन्तान रूप में परिणत किया, यद्यपि उन्होंने वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्रता सिद्धान्त का खुलकर विरोध नहीं किया और यह घोषित किया कि वे आचार्य वसुबन्धु आदि द्वारा प्रतिपादित विज्ञप्तिमात्रता के सिद्धान्त का ही अनुसरण कर रहे हैं [1], तथापि वस्तुतः उन्होंने क्षणिक विज्ञानवाद का प्रतिपादन किया। सौत्रान्तिक नय का अत्यधिक प्रभाव होने के कारण इस निकाय को स्वतन्त्र विज्ञानवाद कहते हैं।

विज्ञप्ति (स्वलक्षण) का स्वरूप

वसुबन्धु की भाँति दिङ्नाग और उनके अनुयायियों ने भी विज्ञप्ति या चित्त को ही निरपेक्ष सत् माना किन्तु संशोधित रूप में। वसुबन्धु के दर्शन में क्षणिकवाद का क्षेत्र इन्द्रियगोचर जगत् तक ही सीमित था। दिङ्नाग ने उसे विज्ञप्ति पर भी लागू किया और यह घोषित किया कि विज्ञप्ति शाश्वत नहीं बल्कि विज्ञानों की प्रति क्षण परिवर्तनशील सन्तति मात्र है। क्षणिकत्व ही इसका स्वरूप है। वस्तुतः यह क्षण है। इस प्रकार उन्होंने विज्ञप्ति को बौद्ध दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त सर्व क्षणिकम् या यत् सत् तत्क्षणिकम् से सुसम्बद्ध किया। उनके अनुसार परमार्थ वह है जो कार्योत्पादन में सक्षम हो।[2] किसी नित्य वस्तु से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि उत्पत्ति का अर्थ है परिवर्तन। अतः शाश्वत-लक्षणा विज्ञप्तिमात्रता परमार्थ नहीं हो सकती। वस्तुतः वह क्षणिक है। उन्होंने क्षणिक विज्ञप्तिमात्रता को 'स्वलक्षण' नाम से अभिहित

वेत्ताओं ने पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध (425 ई०) को उनका काल माना है। उन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की—

अभिधर्मकोशमर्मप्रदीप (वसुबन्धु के अभिधर्मकोश का सारांश पिण्डार्थ (अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्र का सारांश), आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, हेतुचक्रसमर्थन हेतुचक्रडमरु) न्यायमुख (न्यायद्वार), न्यायप्रवेश, प्रमाणसमुच्चय और उसकी वृत्ति तथा न्यायबिन्दुसुभाषितसंग्रह। देखिये, दर्शनदिग्दर्शन, पृ० 740; हिस्ट्री आव् इण्डियन फिलॉसफी, भाग 1, पृ० 476 तथा इण्डियन फिलॉसफी भाग 1, पृ० 624

1. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिर्धीमद्भिर्विमलीकृता।
अस्माभिस्तद्दिशायातं परमार्थ विनिश्चये ॥—तत्त्वसंग्रहकारिका, 2084
2. अर्थक्रियाकारित्वलक्षणं परमार्थ सत्।—न्यायबिन्दु, 1/15

किया। उनके अनुसार स्वलक्षण ही परमार्थ सत् है। यह देश, काल, स्वभाव आदि बुद्धि की कोटियों से परे हैं।[1] इसकी सत्ता सबसे पृथक् है। यह स्वयंप्रकाश और स्वभाव से ही निर्मल है, किन्तु आगन्तुक गुणों के कारण मलिन प्रतीत होता है।[2] वस्तुतः यह निर्गुण है।[3] जिन गुणों की हम इसमें कल्पना करते हैं वे मानव बुद्धि द्वारा आरोपित हैं। यह प्रपंचातीत, सर्वलक्षणशून्य, अनिर्वचनीय और अनभिलाप्य है। बुद्धि द्वारा इसका निर्वचन सम्भव नहीं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यह अदृश्य और अज्ञेय है। यह प्रत्यक्षगोचर है[4] और प्रत्यक्ष (निर्विकल्प) की अवस्था में ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हम इसका साक्षात्कार कर सकते हैं तथा परिणाम को देखकर इसके अस्तित्व का अनुमान लगा सकते हैं।

[स्वलक्षण के अस्तित्व को सिद्ध करते समय दिङ्नाग ने आलम्बनपरीक्षा में जो तर्क दिये हैं वे वस्तुतः वसुबन्धु के ही तर्क हैं। उन्हें दिङ्नाग ने नए शब्दों में प्रस्तुत किया है। क्षणिक और अर्थक्रियाकारी कहने के अतिरिक्त विज्ञप्ति-मात्रता के स्वरूप के सम्बन्ध में उन्होंने कोई नई बात नहीं कही। वस्तुतः वसुबन्धु का विज्ञानवाद तत्त्व दर्शन के विकास के उच्चतम बिन्दु पर पहुँच चुका था। उसके आगे बढ़ना असम्भव था। दिङ्नाग ने इस बात का अनुभव किया अतः उन्होंने तत्त्व दर्शन के स्थान पर न्यायशास्त्र की ओर अपने को प्रवृत्त किया। उनका मुख्य कार्यक्षेत्र न्यायशास्त्र ही है। चूँकि उन दिनों न्याय का क्षेत्र बहुत ही व्यापक था, उसकी परिधि के अन्दर तत्त्व-मीमांसा; प्रमाण-मीमांसा और तर्क मीमांसा (न्याय), तीनों का ही विवेचन होता था, अतः आकस्मिक रूप से उन्होंने न्याय (तर्क) के अतिरिक्त तत्त्व के विषय में भी कुछ बातें कही हैं। न्याय के क्षेत्र में उनका योगदान अपूर्व है, इसीलिए उन्हें मध्ययुगीय न्याय या बौद्ध न्याय का जनक कहा जाता है। उन्होंने परम्परागत न्याय में क्रान्तिकारी परिवर्तन किए और नयी मान्यताएँ स्थापित कीं। उनके पूर्व वैदिक और बौद्ध दोनों ही विचार-धाराओं में न्यायशास्त्र का अच्छा विकास हो चुका था। गौतम, वात्स्यायन, प्रशस्तपाद, नागार्जुन,

---

1. देशकालस्वभावाननुगतं सर्वतोव्यावृत्तं स्वलक्षणं क्षणम्।
2. प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्यागन्तवो मलाः।—प्रमाणवार्त्तिक, 2/208
3. सर्वोपाधिविनिर्मुक्त वस्तु मात्र।
4. स्वलक्षणं हि प्रत्यक्षगोचरः तदेव परमार्थ सत्।

मैत्रेय, असंग और वसुबन्धु की कृतियाँ[1] इस बात की साक्षी हैं। किन्तु दिङ्नाग के पूर्व जो भी न्याय शास्त्र था वह वस्तुवादी था और बाह्य जगत् तथा उसकी वस्तुओं के अस्तित्व में विश्वास करता था। दिङ्नाग का न्याय के क्षेत्र में आविर्भाव एक विशुद्ध प्रत्ययवादी नैयायिक के रूप में हुआ। उन्होंने एक ऐसे न्याय शास्त्र का प्रतिपादन किया जो उनके विज्ञानवाद के अनुरूप था। उन्होंने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उनका समर्थन करनेवाले नैयायिकों की शृंखला अविच्छिन्न रूप से बौद्ध धर्म का भारत से अन्त होने तक चलती रही।[2] उनके बाद परमार्थ, धर्मपाल, शंकर स्वामी और शीलभद्र

---

1. गौतम न्यायसूत्र के रचयिता थे। वात्स्यायन ने न्यायभाष्य की रचना की। प्रशस्तपाद पदार्थधर्मसंग्रह के रचयिता थे। नागार्जुन ने न्याय पर (1) विग्रह-व्यावर्तनी विवादशमनशास्त्र, (2) वैदल्यसूत्र और प्रकरण (यह प्रमाणविहेटन और प्रमाणविध्वंसन के नाम से भी विख्यात है) तथा (3) उपायकौशल्यहृदय-शास्त्र की रचना की। मैत्रेय ने सप्तदशभूमिशास्त्रयोगाचार्य की रचना की। असंग ने प्रकरणार्यवाचाशास्त्र और महायानाभिधर्मसंयुक्त संगीतिशास्त्र तथा वसुबन्धु ने वादविधि, वादमार्ग (वादविधान), वादकौशल (वादहृदय) तथा तर्क-शास्त्र का प्रणयन किया। इन ग्रंथों का परिचय प्राप्त करने के लिए देखिए, डॉक्टर उमेश मिश्र कृत 'हिस्ट्री आव् इण्डियन फिलॉसफी, भाग 1, पृ०472-474

2. दिङ्नाग निकाय की ऐतिहासिक परम्परा संक्षेप में इस प्रकार है :—

धर्मकीर्ति—धर्मकीर्ति का जन्म चोल (उत्तर तमिलनाडु) जिले के तिरुमलै नामक ग्राम में एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। उनके पिता का नाम तिब्बती परम्परा में कोरुनन्द मिलता है। वे युवावस्था में नालन्दा जाकर वहाँ के प्रधाना-चार्य धर्मपाल के शिष्य हो गए। तर्क शास्त्र में अत्यधिक अभिरुचि होने के कारण वे दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन के पास भी तर्क शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गए। विद्वानों ने उनका समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना है। उन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की :—प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, सम्बन्धपरीक्षा, चोदनाप्रकरण, सन्तानान्तरसिद्धि और वादन्याय। प्रमाणवार्त्तिक इनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह दिङ्नाग के प्रमाण समुच्चय की टीका होते हुए भी एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

देवेन्द्रमति या देवेन्द्रबोधि (650ई०)—प्रमाणवार्त्तिकपञ्जिका।

आदि दार्शनिक बौद्ध न्याय की परम्परा को चलाते रहे। किन्तु इन लोगों का न्याय के क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं है। महत्त्व की दृष्टि से दिङ्नाग के बाद धर्मकीर्ति का नाम उल्लेखनीय है। उनकी बौद्धिक प्रतिभा को वाचस्पति मिश्र, जयन्तभट्ट, श्रीहर्ष, शालिकनाथ मिश्र और पार्थसारथि मिश्र आदि प्रख्यात नैयाकिकों ने भी स्वीकार किया

शाक्यबुद्धि (शाक्यबोधि या शाक्यमति नाम से विख्यात, 650 ई०)—प्रमाणवार्त्तिकपञ्जिकाटीका।

विनीतदेव (700ई०)—न्यायबिन्दुटीका, सन्तानान्तरसिद्धिटीका, हेतुबिन्दुटीका, सम्बन्धपरीक्षाटीका। आलम्बनपरीक्षाटीका।

प्रज्ञाकर गुप्त (700 ई०)—प्रमाणवार्त्तिकभाष्य (प्रमाणवार्त्तिकालंकार) तथा सहालम्बनिर्णय।

रविगुप्त (725 ई०)—प्रमाणवार्त्तिकवृत्ति।

जिनेन्द्रबुद्धि (725 ई०)—प्रमाणसमुच्चयटीका।

कल्याणरक्षित (725 ई०)—अन्यापोहविचार, ईश्वरभंगकारिका, सर्वज्ञसिद्धि-कारिका, बाह्यार्थसिद्धि और श्रुतिपरीक्षा।

धर्मोत्तर (725 ई०)—प्रमाणपरीक्षा, अपोहप्रकरण, परलोकसिद्धि, क्षणसिद्धि, न्यायबिन्दुटीका तथा प्रमाणविनिश्चयटीका।

शान्तरक्षित (740-780 ई०)—तत्त्वसंग्रह तथा धर्मकीर्ति के वादन्याय पर विपञ्जितार्थ नामक टीका।

कमलशील (760-800 ई०)—तत्त्वसंग्रहपञ्जिका तथा न्यायबिन्दुटीका।

मुक्ताकुम्भ (दसवीं शताब्दी)—क्षणभंगसिद्धिव्याख्या।

अर्चट (900 ई०)—हेतुबिन्दुविवरण (यह धर्मकीर्ति के हेतुबिन्दु की टीका है)

अशोक पण्डित (900 ई०)—अवयविनिराकरण और सामान्यदूषण।

जेतारि (940-980)—हेतुतत्त्वोपदेश, धर्मधर्मिविनिश्चय तथा बालावतार तर्क।

जिन (ग्यारहवीं शताब्दी)—प्रमाणवार्त्तिकभाष्यटीका।

रत्नकीर्ति (950 ई०)—अपोहसिद्धि एवं क्षणभंगसिद्धि।

जिनमित्र (1015 ई०)—न्यायबिन्दु पर पिण्डार्थ नामक टीका।

ज्ञानश्री मित्र (1025 ई०)—कार्यकारणभावसिद्धि।

ज्ञानश्री भद्र (ग्यारहवीं शताब्दी)—प्रमाणविनिश्चयटीका।

है। उनके बाद देवेन्द्रमति (देवेन्द्रबोधि), विनीतदेव, प्रज्ञाकर गुप्त, रवि गुप्त, जिनेन्द्रबोधि, कल्याणरक्षित और धर्मोत्तर ने न्याय की परम्परा को अक्षुण्ण रखा। उनमें धर्मोत्तर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। धर्मोत्तर के बाद शान्तरक्षित और कमलशील बौद्ध न्याय के क्षेत्र में उतरे। वे भारत के अन्तिम महान् बौद्ध दार्शनिक हैं। वे जम्बूद्वीप के सूर्य माने जाते थे। जीवन के अन्तिम दिनों में वे दोनों दार्शनिक तिब्बत चले गये। उसके बाद मुक्ताकुम्भ, अर्चट, अशोक पण्डित, जेतारि, रत्नकीर्ति, जिनमित्र, ज्ञानश्री मित्र, रत्नाकर शान्ति, यमारि, शंकरानन्द, शुभकर गुप्त और मोक्षाकर गुप्त आदि बौद्ध नैयायिकों की परम्परा ग्यारहवीं शताब्दी तक चलती रही।]

ज्ञान-मीमांसा

दिङ्नाग के अनुसार ज्ञान के केवल दो ही साधन हैं, प्रत्यक्ष और अनुमान[1]। विज्ञप्तिमात्रता या स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है और सामान्य लक्षण या वस्तुएँ अनुमान का।[2]

रत्नाकर शान्ति (1050)—अन्तर्व्याप्ति।

यमारि (ग्यारहवीं शताब्दी)—प्रमाणवार्तिकभाष्यटीका।

शंकरानन्द (ग्यारहवीं शताब्दी)—प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका, प्रतिबन्धसिद्धि तथा सम्बन्धपरीक्षानुसार। (विस्तृत विवरण के लिए देखिए, श्चेरवात्स्की कृत बुद्धिस्ट लॉजिक, भाग 1; डॉक्टर विद्याभूषणकृत हिस्ट्री आव् इण्डियन लॉजिक तथा डॉक्टर उमेश मिश्र कृत हिस्ट्री आव् इण्डियन फिलॉसफी, भाग 1, पृ० 482-489)।

1. प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम्।
   प्रमेयं तत्प्रयोगार्थं न प्रमाणान्तरं भवेत्॥—प्रमाणसमुच्चय, 1/2
2. दिङ्नाग के पूर्व ज्ञान के क्षेत्र में प्रमाण-संप्लव का सिद्धान्त प्रचलित था जिसके अनुसार एक ही वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा अन्य प्रमाणों द्वारा भी हो सकता है। दिङ्नाग ने प्रमाण-संप्लव के स्थान पर प्रमाण-व्यवस्था का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान के क्षेत्र पूर्ण रूप से पृथक् हैं। अतः प्रत्यक्ष का विषय न तो अनुमान का विषय हो सकता है और न अनुमान का विषय प्रत्यक्ष का विषय हो सकता है। वे इन दोनों के अतिरिक्त

प्रत्यक्ष—दिङ्नाग के अनुसार प्रत्यक्ष निर्विकल्प है और नाम, जाति, द्रव्य, गुण तथा क्रिया आदि बुद्धि-विकल्पों से असंपृक्त है।[1] उनके अनुसार यह ज्ञान की वह अवस्था है जहाँ वस्तु इन्द्रियगोचर तो होती है, किन्तु वह क्या है, इस बात का ज्ञान होने के पूर्व दृष्टि से ओझल हो जाती है। अतः इसके कार्य से हम यह अनुमान लगाते हैं कि दृष्ट वस्तु क्या थी। चूँकि प्रत्यक्ष ऐसी अवस्था है जहाँ, नाम, जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया आदि कोटियाँ, जिनके द्वारा हम किसी वस्तु के विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं, का अस्तित्व ही नहीं, अतः प्रत्यक्ष के विषय स्वलक्षण के सम्बन्ध में हम विध्यात्मक रूप से कुछ भी नहीं कह सकते। हम जो कुछ भी वर्णन करते हैं वह सामान्य लक्षण है अर्थात् स्वलक्षण का वह रूप जिसे हमने बुद्धि की कोटियों में आबद्ध कर लिया है। दिङ्नाग का प्रत्यक्ष नैयायिकों के प्रत्यक्ष से भिन्न है। नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष निर्विकल्प (अव्यपदेश्यम्) के साथ अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक भी है।[2] दिङ्नाग का कथन है कि चूँकि प्रत्यक्ष बुद्धि-विकल्पों के उद्‌भव के पूर्व की अवस्था है, अतः उसे हम व्यभिचारी और व्यवसायात्मक आदि बुद्धि-कल्पित विशेषणों से कैसे युक्त कर सकते हैं[3]।

अनुमान—किसी ज्ञात वस्तु के आधार पर किसी अज्ञात वस्तु के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। अनुमान में तीन पद होते हैं : पक्ष, हेतु या लिंग और साध्य। अनुमान के लिए यह आवश्यक है कि हेतु और साध्य के बीच सम्बन्ध हो और द्रष्टा को उस सम्बन्ध का पूर्वज्ञान हो। उदाहरण के लिए, किसी स्थान पर धुआँ देखकर अग्नि का अनुमान वही व्यक्ति लगा सकता है जो यह जानता है कि जहाँ-जहाँ धुआँ

अन्य प्रमाण नहीं मानते। उनके अनुसार प्रत्यक्ष के अतिरिक्त, उपमान, शब्द, अभाव, युक्ति और सम्भव आदि प्रमाण किसी न किसी रूप में अनुमान पर ही आधारित हैं।

1. प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।—प्रमाणसमुच्चय, 1.3
2. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्, अव्यपदेश्यम्, अव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।—न्यायसूत्र, 1.1.4
3. दिङ्नाग के प्रत्यक्ष का सम्प्रत्यय वस्तुवादी दार्शनिकों के निर्विकल्प प्रत्यक्ष से मिलता जुलता है—

   अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
   बालमूकादि विज्ञानसदृशं शुद्ध वस्तुजम्॥—श्लोकवार्तिकसूत्र, 4,112

होगा वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होगी। वात्स्यायन के अनुसार किसी हेतु या लिंग के पूर्वज्ञान के आधार पर किसी विषय के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।[1]

दिङ्नाग ने इस परिभाषा में संशोधन किया और कहा कि हेतु या लिंग त्रैरूप्ययुक्त[2] होना चाहिए। अर्थात् उसे पक्ष में होना चाहिए; सपक्ष (पक्ष के सदृश वस्तु) में होना चाहिए किन्तु विपक्ष में कदापि न होना चाहिए। उदाहरण के लिए अग्नि के साध्य होने पर पर्वत पक्ष है, रसोईघर सपक्ष है और जलाशय विपक्ष है। किन्तु दिङ्नाग यहीं नहीं रुके। उनके अनुसार वैध हेतु के लिए न केवल त्रैरूप्य आवश्यक है, प्रत्युत हेतु और साध्य के बीच अविनाभाव का सम्बन्ध भी आवश्यक है। इसके अभाव में हेतु के त्रैरूप्ययुक्त होने पर भी अनुमान की सभी घटनाओं की व्याख्या नहीं हो सकेगी। उदाहरण के लिए त्रैरूप्यात्मक हेतु से इस अनुमान की व्याख्या नहीं हो सकती कि 'क' 'ख' से पहले है, 'ख' 'ग' से पहले है; अतः 'क' 'ग' से पहले है, यद्यपि यह एक वैध अनुमान है। इस बात को ध्यान में रखकर उन्होंने अविनाभाव के नियम को अनुमान का अभिन्न अंग बनाया।[3] इसे ही अन्तर्व्याप्ति का नियम भी कहते हैं। अनुमान में इस सिद्धान्त की महत्ता को स्पेन्सर, जेवन्स, ब्रैडले तथा बोसांके आदि आधुनिक तर्कशास्त्रियों ने भी स्वीकार किया है। बौद्ध नैयायिकों को इस बात का श्रेय है कि ज्ञान के विकास के प्रारम्भिक युग में उनकी दृष्टि अनुमान के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पर पहुँची।

---

1. मितेन लिङ्गेन लिङ्गिनोऽर्थस्य पश्चान्मानम् अनुमानम्।—न्यायभाष्य, 1/1/13
2. अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये स्वभावो नास्तितासतीव्यनुमानम्। रैण्डिल कृत 'फ्रैग्मेण्ट्स फ्राम दिङ्नाग', पृ० 22 पर उद्धृत। न्याय-वैशेषिक दार्शनिक भी त्रैरूप्यवाद में विश्वास करते हैं। प्रशस्तपाद और शंकर मिश्र ने इसे इस श्लोक द्वारा व्यक्त किया है—

   यदनुमेयेन सम्बन्ध प्रसिद्धं च तदन्विते।
   तदभावे तु नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम्॥
   —न्यायकन्दली संवलित प्रशस्तपादभाष्य, पृ० 480

   दिङ्नाग के पश्चात् आनेवाले तर्कशास्त्रियों ने इसे हेतु की परिभाषा का अभिन्न अंग बना दिया—
   तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्।—न्यायबिन्दु, 2/3
3. नान्तरीयकार्थदर्शनं तद्विदोऽनुमानम्।—वादविधि।

अनुमान सम्बन्ध[1] पर आधारित है। अनुमान के लिए हेतु और साध्य के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान अनिवार्य है। बौद्ध नैयायिक हेतु और साध्य के बीच तीन[2] प्रकार के सम्बन्ध मानते हैं :

(1) हेतु साध्य का कार्य है। पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि वहाँ धुआँ है।[3]

(2) हेतु साध्य का अंश है (तादात्म्य)—यह वृक्ष है, क्योंकि यह शीशम है।[4]

(3) अनुपलब्धि—हेतु की अनुपस्थिति से यह ज्ञान प्राप्त करना कि साध्य भी अनुपस्थित होगा; जैसे, वृक्ष की अनुपस्थिति देखकर यह अनुमान लगाना कि वहाँ शीशम या आम आदि नहीं हैं।

दिङ्नाग के अनुसार हेतु के द्वारा हम न तो साध्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं और न साध्य और पक्ष के सम्बन्ध का, बल्कि साध्ययुक्त पक्ष का। उनके अनुसार, यदि हम यह मानें कि अनुमान का विषय हेतु (धुआँ) के माध्यम से साध्य (अग्नि) का ज्ञान प्राप्त करना है तो इससे अनुमान को आत्माश्रय दोष से ग्रस्त मानना पड़ेगा क्योंकि हेतु (धुआँ) और साध्य (अग्नि) के बीच अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण हेतु (धुआँ) को देखते ही साध्य (अग्नि) का भाव अनिवार्यतः उत्पन्न होता है अतः अनुमान से किसी नये ज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी और यदि यह मानें कि इससे साध्य (अग्नि) और पक्ष (पर्वत) के सम्बन्ध का ज्ञान होता है, तो भी ठीक नहीं क्योंकि सम्बन्ध के लिए दो वस्तुओं का होना अनिवार्य है, किन्तु साध्य (अग्नि) का ज्ञान होने के पूर्व केवल पक्ष (पर्वत) का ही अस्तित्व है। अतः अनुमान का विषय साध्ययुक्त पक्ष (अग्नियुक्त पर्वत) है।[5] किन्तु इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि अनुमान

---

1. बौद्धों के अनुसार सम्बन्ध मेज-कुर्सी की भाँति वास्तविक वस्तु नहीं है, जैसा नैयायिक मानते हैं। ये कल्पित प्रत्यय मात्र हैं।
2. त्रीणि एवं च लिङ्गानि, अनुपलब्धिः स्वभाव कार्ये चेति।—न्यायविन्दु, 2
3. पर्वतो वह्निमान् धूमत्वात्।
4. अयं वृक्षः शिंशपात्वात्।
5. केचिद् धर्मान्तरं मेयं लिङ्गस्याव्यभिचारतः। सम्बन्धं केचिदिच्छन्ति सिद्धत्वाद् धर्मधर्मिणोः लिङ्गं धर्मे प्रसिद्धं चेत किमन्यत् तेन मीयते। अथ धर्मिणि तस्यैव किमर्थं नानुमेयता॥ सम्बन्धोऽपि द्वयं नास्ति षष्ठी श्रुयेत् तद्वति। अवाच्योऽनुगृहीतत्वान्नचासौ लिङ्गसंगतेः॥ न हि सम्बन्धधर्मतया लिङ्गं प्रमीयते अपितु देश संगतम् इत्यर्थः। लिङ्गस्याव्यभिचारस्तु धर्मेणान्यत्र दृश्यते। तत्र प्रसिद्धं

द्वारा किसी बाह्य वस्तु का ज्ञान होता है। विज्ञानवादियों के अनुसार बाह्य वस्तु का अस्तित्व ही नहीं, अतः उसके ज्ञान का प्रश्न ही नहीं उठता। उनके अनुसार अनुमान का विषय बुद्धि-कल्पित सामान्य लक्षण है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि हेतु और साध्य (धर्म-धर्मी-सम्बन्ध) सम्बन्ध पर आधारित अनुमान का किसी बाह्य वस्तु के अस्तित्व या अभाव से सम्बन्ध नहीं है।[1]

अनुमान के दो भेद हैं : स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। उपर्युक्त विवेचित अनुमान को स्वार्थानुमान कहते हैं। जब व्यक्ति अपने अनुमान के निष्कर्ष को किसी व्यक्ति के समक्ष प्रदर्शित करता है तो उसे परार्थानुमान कहते हैं। न्याय दर्शन में परार्थानुमान को पंचावयवी भी कहा जाता है क्योंकि इसमें पाँच वाक्य होते हैं।[2] दिङ्नाग ने इसे संक्षिप्त कर तीन वाक्यों में निरूपित किया। उनके अनुसार किसी न्याय-वाक्य में तीन अवयव होते हैं : पक्ष, हेतु और दृष्टान्त। न्याय-वाक्य के रूप में यह निम्नलिखित ढंग से व्यक्त किया जाता है :

(1) **पक्षवचनम्**—शब्द अनित्य है।
(2) **पक्षधर्मवचनम्** (हेतु)—क्योंकि यह निर्मित वस्तु है।
(3) **सपक्षानुगमवचनम्** (दृष्टान्त)—और सभी निर्मित वस्तुएँ अनित्य होती हैं, जैसे घट, वस्त्र आदि।

(4) **व्यतिरेकवचनम्**—जो नित्य है उसकी उत्पत्ति नहीं होती, जैसे आकाश।[3]

तद्युक्तं धर्किणं गमयिष्यति ॥—प्रमाणसमुच्चय, अध्याय 2, वाचस्पति मिश्र कृत न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, 1. 1.5, तथा डॉक्टर उमेश मिश्र कृत 'हिस्ट्री आव् इण्डियन फिलॉसफी, भाग 1, पृ० 481 पर उद्धृत।

1. सर्वोऽयम् अनुमानानुमेय व्यवहारो बुद्ध्यारूढेनैव धर्मधर्मिभावेन न बहिः सदसत्त्व-मपेक्षते।—न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृ० 127 पर उद्धृत।
2. न्याय दर्शन में न्याय-वाक्य इस प्रकार है :
   (1) **प्रतिज्ञा**—पर्वत अग्निमान् है।
   (२) **हेतु**—क्योंकि वह धूमवान् है।
   (3) **उदाहरण**—जो धूमवान् है वह अग्निमान् है, जैसे रसोईघर।
   (4) **उपनय**—वैसे यह पर्वत है।
   (5) **निगमन**—अतः पर्वत अग्निमान् है—प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनय निगमनानि अवयवाः।—न्यायसूत्र, 1.1.32
3. न्यायप्रवेश, पृ० 2; हिस्ट्री आव् इण्डियन फिलॉसफी, भाग 1, पृ० 482

धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के न्याय-वाक्य में संशोधन किया। उनके अनुसार न्याय-वाक्य में दृष्टान्त की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह हेतु में समाविष्ट है। उदाहरण के लिए पर्वत अग्नियुक्त है, क्योंकि वह धूमयुक्त है, जैसे 'रसोईघर'। इस तर्क में रसोईघर तथा ऐसे ही अन्य स्थान 'धूमयुक्त' पद में समाविष्ट हैं। अतः रसोईघर का अलग से उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं। वे इसकी केवल एक ही उपयोगिता मानते हैं और वह यह कि यह (दृष्टान्त) एक सामान्य कथन को विशेष रूप में व्यक्त कर उसे अधिक स्पष्ट और बुद्धिगम्य बनाता है।[1]

दिङ्नाग ज्ञान के क्षेत्र में प्रमाण-व्यवस्था मानते हैं। उनके अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान एक दूसरे से अस्पृष्ट हैं। इस सिद्धान्त से हमारे सामने यह गम्भीर प्रश्न उत्पन्न होता है कि हमारे कार्य-कलाप का आधार क्या हो? तत्त्व (स्वलक्षण) का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष द्वारा ही हो सकता है, किन्तु प्रत्यक्षजन्य ज्ञान का निर्वचन ही सम्भव नहीं, अतः वह हमारे लिए व्यर्थ है। अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान ही भाषा द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। वही हमारे दैनिक कार्य-कलाप का आधार बन सकता है किन्तु तत्त्व से असम्बद्ध होने के कारण वह मिथ्या है। दिङ्नाग ने इस प्रश्न को अपोहवाद द्वारा हल करने का प्रयत्न किया। उनके अनुसार यद्यपि बुद्धि (कल्पना) की गति तत्त्व (स्वलक्षण) तक नहीं है, फिर भी वह अपोह की सहायता से तत्त्व की ओर संकेत करती है।

अपोहवाद

दिङ्नाग के अनुसार शब्द, संप्रत्यय और नाम किसी वस्तु के अस्तित्व का बोध नहीं कराते। हम मिथ्या धारणावश यह सोचते हैं कि उनसे किसी वस्तु का बोध होता है। वस्तुतः वे प्रतिषेध-मूलक हैं[2] और किसी वस्तु के अस्तित्व का संकेत उस वस्तु से भिन्न वस्तुओं का निषेध करते करते हैं। उदाहरण के लिए, जब हम 'गाय' शब्द कहते हैं तो उससे गाय का बोध नहीं होता प्रत्युत 'अगाय नहीं' (अनगाय) का बोध होता है। जिनेन्द्रबुद्धि के अनुसार अपोह का अर्थ प्रत्येक सत्ता का निषेध नहीं।[3] यह बुद्धि द्वारा कल्पित मानसिक प्रतिबिम्ब का निषेध करता है, न कि स्वलक्षण का, जो उसका आधार है। शान्तरक्षित और कमलशील भी जिनेन्द्र-

---

1. हिस्ट्री आव् इण्डियन लॉजिक, पृ० 117-118
2. प्रमाणसमुच्चय, 5/1
3. प्रमाणसमुच्चयवृत्तिटीका, पृ० 287; बुद्धिस्ट लॉजिक, भाग 1, पृ० 461-470

बुद्धि के इस अर्थ का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार एक अपोह उदाहरण के लिए गाय का तत्त्व एक दूसरे अपोह अर्थात् अश्व के तत्त्व से भिन्न है।[1] कमलशील के अनुसार वस्तु का मानसिक प्रतिबिम्ब अपोह का मुख्य अर्थ है और अन्य वस्तुओं के मानसिक प्रतिबिम्बों की व्यावृत्ति उसका गौण अर्थ है।[2] रत्नकीर्ति के अनुसार अपोह से किसी वस्तु के प्रतिबिम्ब की विध्यात्मक सत्ता और अन्य वस्तुओं के प्रतिबिम्बों के निषेध का बोध एक साथ होता है।[3]

बौद्धों के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से भिन्न है। ऐसी कोई भी दो वस्तुएँ नहीं बताई जा सकतीं जो पूर्णतया एकरूप हों। किन्तु कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जो अन्य वस्तुओं की अपेक्षा एक दूसरे से अधिक मिलती जुलती हैं। जब हम इन वस्तुओं की अन्य वस्तुओं से तुलना करते हैं तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि ये एक जाति की हैं अथवा कोई सामान्य तत्त्व है जो इन सभी सदृश वस्तुओं में विद्यमान है। इस सामान्य तत्त्व की कल्पना की उत्पत्ति वस्तुओं के भेद की उपेक्षा के कारण होती है। उदाहरण के लिए, हम गाय, अश्व, सिंह, वृक्ष, मकान इत्यादि देखते हैं। यद्यपि गाय, अश्व और सिंह एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं, तथापि वृक्ष और मकान आदि की तुलना में एक दूसरे से अधिक समानता रखते हैं। इसलिए हम इन्हें एक जाति—पशु—के अन्दर रखते हैं। इसे भेदाग्रह, अपोह, अन्यव्यावृत्ति या अतद्व्यावृत्ति का सिद्धान्त कहते हैं। यह न्याय दर्शन के जातिसिद्धान्त से मिलता है क्योंकि बौद्ध और नैयायिक दोनों यह मानते हैं कि अपोह या जाति के दो कार्य हैं। ये एक वर्ग की सभी वस्तुओं को उस वर्ग में समाविष्ट करते हैं और अन्य वर्ग की वस्तुओं को उस वर्ग से अलग करते हैं। दोनों में अन्तर इस बात में है कि नैयायिक के अनुसार जाति एक विध्यात्मक और वास्तविक सत्ता है जो समवाय सम्बन्ध के माध्यम से अपने वर्ग की प्रत्येक वस्तु में सामान्य के रूप में विद्यमान है। इसी गुण के आधार पर हम यह कहते हैं कि कोई वस्तु एक वर्ग-विशेष से सम्बद्ध है, अन्य वर्ग से नहीं। इसके विपरीत

---

1. तत्त्वसंग्रह, 1041
2. प्रतिबिम्ब लक्षणोऽपोहः साक्षाच्छब्दैरुपजन्यमानत्वात् मुख्यः शब्दार्थः।—तत्त्वसंग्रह-पञ्जिका, पृ० 319; तथा निषेध मात्रं नैवेह शब्दे ज्ञानेऽवभासते।—तत्त्वसंग्रह-पञ्जिका, पृ० 319 पर उद्धृत।
3. नास्माभिरपोह शब्देन विधिरेव केवलोऽभिप्रेतः, नाप्यन्यव्यावृत्तिमात्रम्, किन्तु अन्यापोह विशिष्टो विधिः शब्दानामर्थः।—अपोहसिद्धि, पृ० 3

अपोह प्रतिषेधात्मक और कल्पित प्रत्यय हैं जिनसे वस्तुओं के सादृश्य का बोध होता है और यह सादृश्य अधिक भिन्न वस्तुओं की तुलना में कम भिन्न वस्तुओं की भिन्नता की उपेक्षा में निहित है। इन्हें हम प्रतिषेधात्मक कह सकते हैं।

[इसकी तुलना हम हेगल के निषेध के प्रत्यय से कर सकते हैं। दोनों में अन्तर इस बात में है कि हेगल के अनुसार निषेध निरपेक्ष तत्त्व है। यह परमतत्त्व का स्वभाव है। विज्ञानवादी के अनुसार यह सापेक्ष है और स्वलक्षण इसका आश्रय है। पेलेगी, जॉन स्टुअर्ट मिल और कैम्पेनला आदि आधुनिक तर्कशास्त्री भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व अन्य वस्तुओं की व्यावृत्ति में है। पेलेगी के अनुसार जैसे ही हम चिन्तन प्रारम्भ करते हैं और अपने भावों को शब्दों द्वारा व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं, वैसे ही हमारा वर्ण्य विषय व्यावृत्त्यात्मक हो जाता है और विचार प्रतिषेधात्मक[1]। इसी प्रकार मिल के अनुसार विधि दर्शन में 'नागर' (सिविल) शब्द का उच्चारण करते ही अपराधी, सैनिक, राजनैतिक तथा धर्मशास्त्रीय अर्थों का निषेध हो जाता है।[2] थामस कैम्पेनला सुस्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि मनुष्य इसलिए है कि वह पत्थर, सिंह, गर्दभ आदि नहीं है।[3] आधुनिक युग के तार्किक भाववादियों के सामान्य सिद्धान्त से भी अपोहवाद की पुष्टि हुई है। दोनों में अन्तर इस बात में है कि विज्ञानवादी इस बात पर दृढ़ हैं कि अपोह प्रतिषेधात्मक है किन्तु तार्किक भाववादियों और पाश्चात्य नामवादियों के अनुसार सामान्य विध्यात्मक हैं। अपने इसी विध्यात्मक दृष्टिकोण के कारण वे वस्तुवाद का खण्डन करने में असफल रहे। यदि सामान्य विध्यात्मक सत्ताएँ हैं तो उनका खण्डन वदतोव्याघात है। विज्ञानवादी इस दोष से मुक्त हैं इसीलिए वे वस्तुवाद का सफलतापूर्वक खण्डन कर सके। अतः दिङ्नाग द्वारा प्रतिपादित अपोह सिद्धान्त ही एकमात्र सही सिद्धान्त है।]

अपोह के भेद

शान्तरक्षित के अनुसार अपोह के दो[4] भेद हैं : पर्युदास (सापेक्ष अभाव

---

1. बुद्धिस्ट लॉजिक, भाग 1, पृ० 487 पर उद्धृत।
2. लॉजिक, 1.43; वही, पृ० 487
3. वही, पृ० 490
4. तथा हि द्विविधोऽपोहः पर्युदास निषेधतः।
द्विविधश्च पर्युदासोऽपि बुद्ध्यात्मार्थात्मभेदतः॥—तत्त्वसंग्रह, 1004

और (2) निषेध या प्रसज्य प्रतिषेध (आत्यन्तिक अभाव)। पर्युदास के भी दो भेद हैं : (1) बुद्ध्यात्मन् (प्रत्यय-भेद पर आधारित है) और (2) अर्थात्मन् (वस्तु-भेद पर आधारित है)।

बुद्ध्यात्मन् ही वास्तविक अपोह है। यही किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब उत्पन्न कर वास्तविक वस्तु की भ्रान्ति को जन्म देता है। अप्रत्यक्ष रूप से इसी के द्वारा अन्य वस्तुओं की व्यावृत्ति भी हो जाती है।

अर्थात्मन् को हम वास्तविक अर्थ में अपोह नहीं कह सकते। इसे अपोह हम केवल इस अर्थ में कह सकते हैं कि यह सभी वस्तुओं से व्यावृत्त रूप में प्रकट होता है और अपोह का आधार है। वस्तुतः यह अनभिलाप्य है।

अपोह आचार्य दिङ्नाग की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। विज्ञान-वाद की ज्ञान-मीमांसा के लिए यह नितान्त आवश्यक है। बुद्धि इसी की सहायता से निर्विकल्प संवेदनों से एक वास्तविक जगत् की भ्रान्ति को जन्म देती है। एक वास्त-विक जगत् की भ्रान्ति तक पहुँचने के लिए बुद्धि को निम्नलिखित कार्य-व्यापार करने पड़ते हैं :

सर्वप्रथम हम किसी विशेष वस्तु, उदाहरण के लिए एक गाय, का प्रत्यक्षी-करण करते हैं। इससे हमारे मस्तिष्क में एक ऐसे प्रतिबिम्ब का आविर्भाव होता है जो उन प्रतिबिम्बों के समान है जो उस प्रकार की अन्य गायों को देखने से उत्पन्न हुए थे। चूँकि ये प्रतिबिम्ब एक ही साथ नहीं उत्पन्न होते, इसलिए बुद्धि इनके भेद को नहीं ग्रहण कर पाती और उन्हें एकरूप मान लेती है। तदनन्तर हम यह सोचने लगते हैं कि चूँकि प्रतिबिम्ब एकरूप हैं, अतः उनके आधार निर्विकल्प संवेदन भी एकरूप होंगे। और चूँकि निर्विकल्प संवेदन एकरूप हैं, अतः उनके मूल स्वलक्षण भी एकरूप होंगे। इस प्रकार जाति या सामान्य का जन्म और अनुभवसिद्ध जगत् की सृष्टि होती है।

●

अध्याय 9

न्याय दर्शन

वस्तुवादी भारतीय दर्शनों में न्याय दर्शन अन्यतम है। 'न्याय' शब्द की व्युत्पत्ति है—'नीयते विवक्षितार्थः अनेन इति न्यायः'। जिस साधन से हम अपने विवक्षित (ज्ञेय) तत्त्व के पास पहुँच जाते हैं, उसे जान पाते हैं, वही साधन 'न्याय' है।[1] 'न्यायसूत्र' में सोलह ज्ञेय पदार्थों की गणना की गयी है, जिनमें 'प्रमाण' प्रथम और मुख्य है। प्रमाण के अधीन ही सबका तत्त्व-ज्ञान है। न्याय शास्त्र के अनुसार प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इन सबमें अनुमान नैयायिकों की दृष्टि से सर्वप्रधान है, क्योंकि सब प्रमाणों का प्रामाण्य अनुमान पर ही निर्भर है। औपनिषद धारा में 'मनन' का महत्त्व भी अनुमान की महत्ता सिद्ध करता है, क्योंकि मनन अनुमान का ही दूसरा नाम है। अनुमान (परार्थानुमान) का स्वरूप पंचावयव वाक्य है। अतः यदि यह सत्य है कि अपवर्ग तत्त्व-ज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है, तत्त्व-ज्ञान प्रमाणों द्वारा ही सम्भव है और प्रमाणों में अनुमान सर्वप्रधान है तो यह भी सिद्ध है कि तत्त्व-ज्ञान और प्रमाण **'न्याय'** हैं एवं अनुमान—परार्थानुमान—पंचावयव वाक्य प्रमुख न्याय—'परम न्याय'[2] है। इस दृष्टि से अनुमान की विशेष व्याख्या करनेवाली विद्या (शास्त्र) न्याय विद्या (न्याय शास्त्र है)। इसके **'आन्वीक्षिकी'**[3] नाम से भी उपर्युक्त सत्य ही स्पष्ट होता है **'हेतु विद्या'**, **'हेतु शास्त्र'** आदि नाम भी इसी आधार पर प्रतिष्ठित हैं। अनुमान का, या यों कहिये, सभी प्रमाणों का, सबसे

---

1. तुलना कीजिए, प्रमाणैरर्थ-परीक्षणं न्यायः।—न्या० भा०, 1/1/1
2. सोऽयं परमो न्यायः।—न्या० सा०, पृ० 328
3. प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्तते इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्।—न्या० भा०, 1/1/1

बड़ा सहायक अंग है तर्क[1] (Hypothetical argument), इसलिए इस शास्त्र को 'तर्क शास्त्र' तथा 'तर्क विद्या' भी कहते हैं।

न्याय दर्शन एक वस्तुवादी दर्शन है। यह अनुभव के आधार पर दर्शन शास्त्र के विवेचनीय तत्त्वों—जीव, जीवन के लक्ष्य, जगत् आदि—की व्याख्या करता है। इसकी दृष्टि में जीव न तो अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त की तरह निष्क्रिय तथा भोगशून्य तत्त्व है और न बौद्धों की तरह क्षणभंगुर विज्ञान-परम्परा ही। इसका जीव कर्त्ता, भोक्ता, नित्य एवं ज्ञानादि-सम्पन्न तत्त्व है। जीवन का परम लक्ष्य अपवर्ग है। अपवर्ग दुःख की निश्चित और शाश्वत निवृत्ति है। इसमें भी न्याय दर्शन का दृष्टिकोण यथार्थवादी है। दुःख निवृत्ति का मानव-जीवन में जितना महत्त्व है उतना सुख-प्राप्ति का नहीं।

भारतीय चिन्तकों के अनुसार दर्शन का उद्भव दुःख सम्बन्धी विचारणा से होता है।[2] न्याय शास्त्र का लक्ष्य भी दुःख-निवृत्ति करना—अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति है।

यह जगत् न्याय शास्त्र के अनुसार सत्य है। यह मात्र माया-जाल नहीं है। इस विश्व का प्रत्येक प्राणी इसका प्रति क्षण अनुभव करता है। इसलिए यह मिथ्या नहीं हो सकता। हाँ, इसके आदि, अन्त हैं, किन्तु इसका अर्थ जगत् का मिथ्या होना कदापि नहीं है। यह तो नित्य एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुओं से बनी एक सत्य वस्तु है। जीव के अदृष्टों की सहायता से ईश्वर इसका निर्माण और नियंत्रण करता है। इसे परमाणुओं का अव्यवस्थित समूह-मात्र मानना भी ठीक नहीं है।

न्याय का इतिहास और साहित्य

न्याय शास्त्र का उदय कब से माना जाय, यह विवादास्पद है। छान्दोग्य उपनिषद् में पठनीय विषयों में 'वाकोवाक्य' नामक विद्या का उल्लेख है।[3] किन्तु उस 'वाकोवाक्य' का क्या रूप था, यह आज निर्णय करना कठिन है। इसलिए वर्तमान 'तर्क शास्त्र'—न्याय शास्त्र—पर उसके प्रभाव आदि के बारे में भी कुछ नहीं कहा जा सकता है। प्रस्तुत न्याय शास्त्र का इतिहास तो, स्पष्ट रूप में, गौतम के 'न्यायसूत्र' से ही प्रारम्भ होता है।

---

1. न्या० भा० 1/1/40
2. एवं हि शास्त्रविषयो न जिज्ञास्येत् यदि दुःखं नाम जगति न स्यात्।—सां० त० कौ०, का० 1
3. छा० उप०, 7/1/2

'न्यायसूत्र' के रचयिता के बारे में बहुत विचार-विमर्श किये गये हैं। प्राचीन ग्रन्थों में कहीं तो गौतम को और कहीं अक्षपाद[1] को न्यायसूत्र का निर्माता कहा गया है। यह एक बड़ी समस्या है कि दोनों एक ही व्यक्ति के नाम हैं या भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के। प्राचीन परम्परा दोनों नामों को पर्याय मानती है। नवीन विद्वानों में कुछ लोग गौतम और अक्षपाद को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं।

न्यायसूत्र के स्वरूप के बारे में भी मतभेद है। प्रो० जैकोबी आदि विद्वान् यह मानते हैं कि उसमें तत्त्वमीमांसीय अंश बाद में जोड़ दिया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि न्यायसूत्र मौलिक रूप में अभी उपलब्ध नहीं है। किन्तु यह कार्य कौटिल्य से पहले हो चुका होगा।[2]

इस विषय में भी निर्णय करना कठिन है कि न्यायसूत्र की रचना कब हुई। ईसा-पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक का सिद्धान्त विद्वानों ने प्रस्तुत किया है।[3] सबके पक्ष-विपक्ष में तर्क हैं। वर्तमान परिस्थिति में निश्चय करना असम्भव है।

न्यायसूत्र के बाद के उपलब्ध साहित्य में **न्यायभाष्य** का स्थान सर्वप्रथम है। वात्स्यायन के न्यायभाष्य का दिङ्नाग आदि बाद के दार्शनिकों ने इतना प्रबल खण्डन कर दिया था कि उद्योतकर को न्यायभाष्य पर **एक न्यायवार्त्तिक** नाम की टीका लिखनी पड़ी। यह ग्रन्थ न्याय शास्त्र के प्रमेयों को स्पष्ट रूप में समझने के लिए बहुत ही उपादेय है। इनका समय पाँचवीं-छठी शताब्दी (ईसा की) है।

उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक के बाद भी बौद्धों का प्रहार न्याय शास्त्र पर रुका नहीं। इसीलिए प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिक पर एक **न्याय-वार्त्तिकतात्पर्यटीका** लिखी। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका है। वाचस्पति मिश्र का समय ईसा की नवीं शताब्दी है।

---

1. आचार्य विश्वेश्वर : तर्कभाषा की भूमिका, पृ० 19-20
2. Dasgupta : History of Indian Phil., Vol. I, p. 278,
3. Umesh Mishra : History of Indian Phil., Vol. II, p. 27;
   Radhakrishnan : Indian Phil., Vol. II, pp. 36-38;
   N. C. Vedantatirtha; Introduction to the Nyaya System, PP. 69-82.

तात्पर्यटीका पर उदयनाचार्य ने **परिशुद्धि** नाम की एक टीका लिखी।[1] इनका समय ईसा की दसवीं शताब्दी है। बौद्धों का मुँहतोड़ जवाब देने के लिए इन्होंने दो स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे—(1) **आत्मतत्त्वविवेक** या **बौद्धाधिकार** अथवा **बौद्धधिक्कार**, और (2) **न्यायकुसुमांजलि**। न्यायसूत्र के 5वें अध्याय पर इन्होंने एक स्वतन्त्र टीका भी लिखी जिसका नाम **न्यायपरिशिष्ट** है। परन्तु **न्यायकुसुमांजलि** इनका सबसे प्रतिष्ठित ग्रन्थ है।

तात्पर्यपरिशुद्धि पर वर्धमान उपाध्याय का **न्यायनिबन्धप्रकाश** और शंकर मिश्र का **त्रिसूत्रीनिबन्ध** प्रसिद्ध व्याख्याएँ हैं। वर्धमान उपाध्याय का समय 14वीं शताब्दी और शंकर मिश्र का 15वीं शताब्दी है।

न्यायभाष्य के अतिरिक्त भी टीकाएँ या वृत्तियाँ न्यायसूत्र पर उपलब्ध हैं। इनमें जयन्त भट्ट (10वीं शताब्दी) की **न्यायमंजरी** प्रसिद्ध है। नवम शताब्दी के काश्मीरी विद्वान् भासर्वज्ञ का **न्यायसार** न्यायसूत्र पर निर्भर एक प्रकरण-ग्रन्थ है। इसपर इनकी अपनी ही **न्यायभूषण** नाम की अत्यन्त विशालकाय एवं पाण्डित्यपूर्ण टीका है।[2]

उपर्युक्त सब ग्रन्थ **प्राचीन न्याय** के साहित्य के अन्तर्गत हैं। 12वीं शताब्दी में मिथिला में गंगेश उपाध्याय का आविर्भाव हुआ। उन्होंने एक नई दृष्टि से न्याय शास्त्र के पदार्थों पर विचार किया। इस विचार का मुख्य विषय तो प्रमाणों की विशद व्याख्या करना था, किन्तु प्रसंगवश न्याय शास्त्र के सारे विषयों का विवेचन इसके अन्दर किया गया है। इनकी अमर कृति '**प्रमाणतत्त्वचिन्तामणि**' या '**तत्त्वचिन्तामणि**' अथवा '**चिन्तामणि**' नाम से प्रसिद्ध है। ऐतिहासिकों का कहना है कि इतना विशाल साहित्य किसी भी एक ग्रन्थ पर उपलब्ध नहीं होता जितना एक तत्त्वचिन्तामणि पर। इसकी व्याख्या करना विद्वानों के लिए एक आवश्यक कार्य था। यही विद्वत्ता का मानदण्ड माना जाता था। इसपर यज्ञपति उपाध्याय की **प्रभा**, जयदेव मिश्र '**पक्षधर**' का **आलोक** और रघुनाथ शिरोमणि की **दीधिति** आदि प्रमुख टीकाएँ हैं। गंगेश से लेकर परवर्ती यज्ञपति आदि तक की कृतियाँ '**नव्य न्याय**' नाम से प्रसिद्ध हैं। इसका

---

1. इसका प्रारम्भिक अंश कुछ वर्ष पूर्व एशियाटिक सोसाइटी (कलकत्ता) से प्रकाशित हुआ था। इधर मिथिला विद्यापीठ (दरभंगा) से पुनः उसका प्रथम अध्याय छपा है।
2. यह ग्रन्थ 1968 ई० में वाराणसी से प्रथम बार प्रकाशित हो चुका है।

इतिहास मिथिला और बंगाल से अधिक सम्बन्ध रखता है। पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना एक स्वतंत्र ग्रन्थ की अपेक्षा रखता है।

अब इस दर्शन के प्रमुख पदार्थों का विवेचन करना है। किन्तु इसके पूर्व इस दर्शन के 16 पदार्थों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

पदार्थ-परिचय

मानव के चरम लक्ष्य—निःश्रेयस्—की प्राप्ति के लिए न्याय शास्त्र में 16 पदार्थों (Topics) का तत्त्व-ज्ञान साधन माना गया है। ये 16 पदार्थ हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान।

प्रमाण—यथार्थ अनुभव के प्रमुखतम साधन को **प्रमाण** कहा जाता है।

न्याय दर्शन के अनुसार साधारण चार प्रमाण हैं—**प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान** और **शब्द**। किन्तु भासर्वज्ञ उपमान को गौतम-सम्मान प्रमाण नहीं मानते हैं।[1] अतः इनकी दृष्टि में न्याय दर्शन के तीन ही प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द। इन सबका बृहत् विवेचन हम आगे करेंगे।

प्रमेय—प्रमाण से जिस तत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है उसे **प्रमेय** कहते हैं। प्रमेयों की संख्या अनन्त है। किन्तु जिन प्रमेयों का तत्त्व-ज्ञान अपवर्ग के लिए अनिवार्य है उनकी संख्या, न्याय दर्शन के अनुसार 12 है। ये बारह प्रमेय—**आत्मा, शरीर, इन्द्रियाँ, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख** और **अपवर्ग** हैं। ज्ञान आदि गुणों का आधार-द्रव्य आत्मा है। इष्ट वस्तु की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के लिए की जानेवाली क्रिया (चेष्टा) का समवायिकारण अन्त्यावयवी—जिससे अन्य अवयवी का उत्पादन न हो—शरीर है। उपलब्धि का साधन **इन्द्रिय** है। इसके दो वर्ग हैं—बाह्य (External) और आभ्यन्तर (Internal)। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा (रसना) और नासिका (घ्राण), ये पाँच बाह्य इन्द्रियाँ हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध **अर्थ** हैं। यद्यपि इन्द्रिय-वेद्य अर्थ और भी हैं, तथापि शब्द-स्पर्श आदि के ही राग या आसक्ति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के कारण इन्हें ही अर्थ के रूप में गिना गया है[2]। इन अर्थों का आत्मा के समक्ष प्रकाशन **बुद्धि** है। इसे ही उपलब्धि तथा ज्ञान

---

1. न्या० सा०, पृ० 417-427
2. न्या० म०, भा० 2, पृ० 56

भी कहते हैं। सुख-दुःख आदि के प्रत्यक्ष का साधन अन्तःकरण **मन** है। यह अणु[1] है और प्रत्येक शरीर में आत्मा के साथ एक-एक मन सम्बन्ध बनाये रखता है। अपवर्ग की अवस्था में भी आत्मा के साथ इसका सम्बन्ध छूटता नहीं। शारीरिक, मानसिक और वाचिक कार्य **प्रवृत्ति** हैं। मानव के समस्त कार्य-कलाप के मूल में वर्तमान राग, द्वेष, लोभ, मोह आदि **दोष** हैं। अच्छे या बुरे कर्मों के फलस्वरूप होनेवाला पुनर्जन्म **प्रेत्यभाव** है। दोष के कारण कर्म के अच्छे-बुरे परिणामों का अनुभव **फल** है। दुःख का लक्षण है बाधा—बाधित होने—का अनुभव। आत्मा का कर्म-बन्धन और दुःख से छुटकारा पा लेना ही **अपवर्ग** है। यही निःश्रेयस् है।

संशय—एक ही वस्तु के बारे में परस्पर-विरोधी या परस्पर-भिन्न विशेषताओं का एक साथ ज्ञान **संशय** है। इसके अनेक भेद हैं।

प्रयोजन—जिस लक्ष्य को ध्यान में रखकर प्राणी कोई काम करता है वही **प्रयोजन** है। न्याय शास्त्र की दृष्टि में आध्यात्मिक प्रयोजन दो ही हैं—(क) पदार्थ-तत्त्व-ज्ञान (ख) निःश्रेयस्। इसमें भी निःश्रेयस् परम प्रयोजन है।

दृष्टान्त—अपने पक्ष के समर्थन में दिया गया उदाहरण **दृष्टान्त** है। इसे एक ऐसा सत्य होना चाहिए कि पूर्वपक्षी तथा उत्तरपक्षी के बीच इसके स्वरूप आदि के विषय में किसी प्रकार का मतभेद न हो।

सिद्धान्त—प्रमाणों द्वारा किसी वस्तु के बारे में 'इदमित्थम्' का स्वीकार **सिद्धान्त** है। इसके चार प्रकार हैं—**सर्वतन्त्र**, **प्रतितन्त्र**, **अधिकरण** और **अभ्युपगम सिद्धान्त**[2]। जो सिद्धान्त सर्वमान्य हो वह **सर्वतन्त्र सिद्धान्त** है; जैसे, 'पृथ्वी एक भौतिक तत्त्व है।' किसी एक शास्त्र का सम्मत और अन्य शास्त्रों का असम्मत सिद्धान्त **प्रतितन्त्र सिद्धान्त** है, जैसे, शब्द नित्य है। यह केवल मीमांसक मानते हैं, अन्य दार्शनिक नहीं। अतः उक्त सिद्धान्त प्रतितंत्र सिद्धान्त है। एक सिद्धान्त के मान लेने पर अपने आप जो सिद्धान्त मानना पड़ता है वह **अधिकरण सिद्धान्त** है। 'ईश्वर जगत्-कर्त्ता है', यह सिद्धान्त मान लेने पर यह भी मान लेना पड़ता है कि वह सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ है। **अभ्युपगम सिद्धान्त** वह सिद्धान्त है जिसका किसी शास्त्रकार (सूत्रकार) ने स्पष्ट उल्लेख न किया हो, किन्तु जो अभीष्ट हो। जैसे, 'मन एक इन्द्रिय है'। यह न्याय शास्त्र

1. न्या० वा०, 3/2/60 (63)
2. इनकी व्याख्या में आचार्यों में मतभेद है।

के लिए अभ्युपगम सिद्धान्त है, क्योंकि यद्यपि न्यायसूत्रकार ने मन को अपने सूत्र में कहीं भी इन्द्रिय कहा नहीं है, तथापि उसको यह स्वीकार है कि मन इन्द्रिय है।

अवयव—परार्थानुमान की पूर्ण अभिव्यक्ति करनेवाले **'न्याय'-वाक्य** का प्रत्येक सार्थक अंग **अवयव** है। इसके पाँच अंश होते हैं—**प्रतिज्ञा** (Proposition), **हेतु** (Reason), **उदाहरण** (Example), **उपनय** (Comparison), और **निगमन** (Conclusion)।

तर्क—तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति या स्वपक्ष-समर्थन के निमित्त की गई अनिष्ट-प्रसंगात्मक कल्पना तर्क है।

निर्णय—पक्ष और विपक्ष के वक्तव्यों पर निरपेक्ष भाव से विचार करने के पश्चात् किसी वस्तु के विषय में निश्चयात्मक धारणा बनना **निर्णय** है। यह प्रमाणों का फल है। सिद्धान्त को निर्णय के बाद का पदार्थ मानना चाहिए।

वाद—तत्त्व-निर्णय के लिए गुरु और शिष्य के बीच पूर्वाग्रह के बिना किया गया विचार **वाद** है। इसका फल निर्णय या तत्त्व-निर्णय है।

जल्प—**जल्प** वह विचार है जिसमें अपने अपने पक्ष की, अच्छे या बुरे तर्कों की सहायता से, स्थापना करने का पूर्वाग्रह वादी और प्रतिवादी दोनों में हो।

वितण्डा—वह विचार-विमर्श **वितण्डा है** जिसमें प्रतिपक्षी का सिद्धान्तवादी के मत का किसी तरह खण्डन करना ही लक्ष्य हो, उसका अपना कोई भी पक्ष न हो।

वाद, जल्प और वितण्डा इन तीनों को सामूहिक रूप में **'कथा'** कहते हैं।

हेत्वाभास—हेतु की कुछ विशेषता से युक्त और कुछ विशेषता से शून्य अनुचित हेतु **हेत्वाभास** है। इसके भेदों की व्याख्या अनुमान-प्रकरण में की जायेगी।

छल—वक्ता के वक्तव्य का विपरीत या भिन्न अभिप्राय मानकर अर्थ को अनर्थ में परिवर्तित कर देना **छल** है। उदाहरणार्थ हम 'वह स्वस्थ है' इस वाक्य को ले सकते हैं। संस्कृत में स्वस्थ शब्द के दो अर्थ हैं—नीरोग तथा मृत। यदि कोई किसी नीरोग व्यक्ति को ध्यान में रखकर कहता है कि 'वह स्वस्थ है' और अन्य व्यक्ति जान-बूझकर स्वस्थ का 'मरा हुआ' अर्थ मानकर कह रहा है कि 'वह तो अभी-अभी यहाँ से गया है, वह स्वस्थ (मृत) कैसे हो सकता है?' तो इसे हम छल कहेंगे। यह ध्यान देने की बात है कि छल सर्वदा ज्ञानपूर्वक होता है। यदि अज्ञानपूर्वक किसी व्यक्ति ने किसी वक्तव्य का दूसरा अर्थ समझ लिया हो तो उसे हम छल नहीं कह सकते। 'कथा' के प्रसंग में छल हम उस असत्य समाधान को कहेंगे जो प्रश्नकर्त्ता के वक्तव्य को जान-बूझकर भिन्न अर्थ मानकर किया गया हो। यह तीन तरह का है।

जाति—जाति भी मिथ्या उत्तर का ही दूसरा नाम है। किन्तु छल के विपरीत, इसका आधार है मिथ्या तुलना। तुलना दो प्रकार से की जाती है—सादृश्य या समता के आधार पर और विसादृश्य या विषमता के आधार पर। इन्हें ही क्रमशः साधर्म्य और वैधर्म्य भी कहते हैं। इसीलिए मिथ्या साधर्म्य या मिथ्या वैधर्म्य के आधार पर दिया गया गलत समाधान जाति है। मान लीजिये, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से पूछता है—'शब्द नित्य है या अनित्य ?' वह उत्तर देता है—'शब्द नित्य है, क्योंकि यह नित्य आकाश के समान अमूर्त्त है।' यह उत्तर जाति है, क्योंकि अमूर्त्त होना नित्यता का कोई लक्षण नहीं है। सुख-दुःख आदि अमूर्त्त होकर भी अनित्य हैं। अतः उक्त असत् उत्तर जात्युत्तर या जाति है। न्यायसूत्र में इसके 24 भेद कहे गये हैं।

निग्रहस्थान—'कथा' में पराजय के आधार को '**निग्रहस्थान**' कहते हैं। निग्रह शब्द का अर्थ है हटा देना—'कथा' करने के अधिकार से च्युत कर देना। 'वाद' या 'कथा' में दो का, वादी और प्रतिवादी का, होना अनिवार्य है। वादी और प्रतिवादी के अतिरिक्त एक मध्यस्थ—निर्णायक—की भी आवश्यकता होती है। वादी और प्रतिवादी में 'कथा' करने की योग्यता, शिष्टता, प्रतिभा आदि होनी चाहिए। जिस किसी भी व्यक्ति को 'कथा' का अधिकार नहीं है। मध्यस्थ का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि यदि वादी या प्रतिवादी में से कोई भी 'कथा' के नियमों का जान-बूझकर उल्लंघन करता है या अयोग्य है तो उसे 'कथा' से हटा दे—पदच्युत कर दे। यही पदच्युत कर देना निग्रह है। जिस कारण से पदच्युत किया जाता है उसे निग्रहस्थान कहते हैं। इसके (निग्रह के) आधारों में **विपरीत ज्ञान** (Misunderstanding) और **अज्ञान** (Want of Understanding) प्रमुख हैं। न्याय दर्शन में इसके '**न्यून**' आदि 22 भेद माने गये हैं।

उपर्युक्त पदार्थों का तत्त्व-ज्ञान साक्षात् या परम्परा रूप में, भावात्मक या अभावात्मक पद्धति से निःश्रेयस् की, जो मानव का न्याय-शास्त्र-सम्मत परम लक्ष्य है, प्राप्ति का साधन है। इनमें भी जल्प आदि की उपयोगिता विरोधियों का मुखमुद्रण है, यह तो सुस्पष्ट है।

16 पदार्थों का संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका। अब प्रमुख विषयों—ज्ञान और ज्ञान-साधन, आत्मा (जीव), अपवर्ग, परमाणुवाद, सृष्टि तथा प्रलय की विधियों और ईश्वर—के बारे में इस दर्शन के सिद्धान्त प्रस्तुत किये जायेंगे।

ज्ञान-मीमांसा

न्याय दर्शन का मुख्य विषय प्रमाणों के स्वरूप का विवेचन है। इसीलिए चिर-

काल से यह 'प्रमाण शास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध है। प्रमाण का सम्बन्ध प्रमा से है इसलिए प्रमा के स्वरूप को जाने बिना प्रमाण की चर्चा का कोई अर्थ नहीं है। प्रमा एक प्रकार का ज्ञान है। अतः प्रमा के स्वरूप की सही जानकारी भी ज्ञान के सामान्य स्वरूप की जानकारी पर निर्भर है।

न्याय दर्शन में, सांख्य-योग दर्शन के पक्ष के विपरीत, ज्ञान, उपलब्धि, बुद्धि आदि शब्दों को समानार्थक माना गया है।[1] ज्ञान का अर्थ है विषयों की अभिव्यक्ति या प्रकाशन।[2] जीव मात्र का समस्त व्यवहार ज्ञान पर ही निर्भर है। यह आत्मा का एक विशेष गुण है। अपने ज्ञान का मानस-प्रत्यक्ष होता है और दूसरे के ज्ञान का अनुमान क्रिया के प्रत्यक्ष से प्रयत्न का, प्रयत्न से इच्छा का और इच्छा से ज्ञान का अनुमान। अन्तरिन्द्रिय मन से प्रत्यक्ष होने के कारण ही यह आत्मा का विशेष गुण माना जाता है। ज्ञान स्वप्रकाश-आत्मसम्वेदन नहीं है।[3] इसका प्रकाश विषयों (Objects) पर निर्भर है।

निम्नांकित रेखा-चित्र में न्याय दर्शन के अनुसार ज्ञान के भेद-प्रभेदों का उल्लेख है :—

---
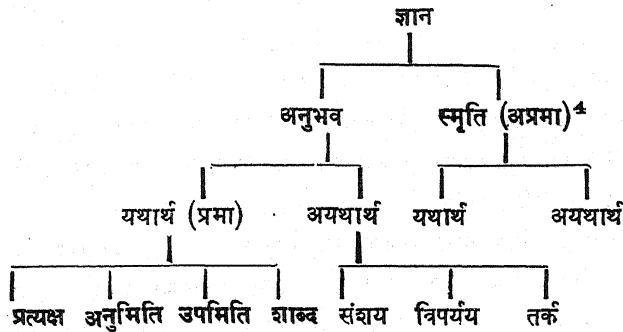
1. न्याय० सूत्र, 1/1/15
2. अर्थप्रकाशो बुद्धिः।—न्या० ली०, पृ० 760
3. विज्ञानमनात्मसम्वेदनम्।—ता० टी०, पृ० 4
4. डा० सतीशचन्द्र चटर्जी द्वारा 'Nyaya Theory of Knowledge' के पृ० 22 पर किये गये ज्ञान के वर्गीकरण में स्मृति को अप्रमा के बाहर रखना अनुचित और सम्प्रदाय विरुद्ध है।

स्मृति (Memory)

संस्कार मात्र से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान स्मृति है। यह अतीत में ज्ञात वस्तु का ज्ञान है। प्रत्यभिज्ञा (Recognition) से भिन्न इस अंश में है कि प्रत्यभिज्ञा एक इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है और इसमें संस्कार एक सहकारी कारण है, जबकि स्मृति में एकमात्र संस्कार ही प्रमुख कारण है, इसमें इन्द्रिय की कोई आवश्यकता नहीं होती। किन्तु वस्तु के अनुभव से ज्ञाता की आत्मा में एक संस्कार (Impression) पैदा होता है।[1] बाद में कदाचित् उस वस्तु के सदृश अन्य वस्तु के दर्शन या उस वस्तु के प्रति आग्रह[2] आदि के कारण वह निगूढ़ संस्कार उद्‌बुद्ध हो उठता है। तब स्मृति होती है। अतः यह आवश्यक है कि अनुभव करनेवाला और स्मरण करनेवाला व्यक्ति एक हो।

इस स्मृति के दो भेद हैं—यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ अनुभव से उत्पन्न संस्कार पर निर्भर स्मृति यथार्थ है। अयथार्थ अनुभव से उत्पन्न संस्कार पर आश्रित स्मृति अयथार्थ है।

स्मृति के यथार्थ होने पर भी नैयायिक इसे प्रमा नहीं मानते। इसके समर्थन में आचार्यों में मतभेद है। वाचस्पति मिश्र का कहना है कि चूँकि स्मृति के कारण संस्कार को प्रमाण नहीं कहा जाता, इसलिए स्मृति को भी प्रमा नहीं कहा जा सकता है।[3] जयन्त भट्ट का मत है कि स्मृति 'अनर्थज' (ज्ञेय वस्तु के अभाव में) उत्पन्न होती है, इसे अपनी उत्पत्ति में ज्ञेय पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती। अतः यह प्रमा नहीं है।[4] न्यायकन्दलीकार श्रीधराचार्य कहते हैं कि स्मृति की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता अनुभव की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता पर निर्भर है। इसीलिए अनुभव

---

1. न्याय शास्त्र में इस विषय में मतभेद है कि एक संस्कार से एक ही स्मृति होती है या अनेक। कुछ नैयायिकों का पक्ष है कि अनुभव से संस्कार और संस्कार से एक स्मृति के उत्पन्न हो जाने पर संस्कार नष्ट हो जाता है और वह स्मृति पुनः दूसरे संस्कार को पैदा करती है जिससे दूसरी स्मृति होती है। इसी क्रम से स्मृति-संस्कार-स्मृति की परम्परा चलती है। किन्तु बहुत से नैयायिक एक ही संस्कार से अनेक स्मृतियाँ मानकर स्मृति से संस्कार की उत्पत्ति नहीं स्वीकार करते। देखिये, मुक्तावली (स्मृति-प्रक्रिया)।
2. विशेष विवरण के लिए देखिये, न्या० सू०, 3/2/42
3. ता० टी०, पृ० 21
4. न्या० म०, भाग 1, पृ० 21

से पृथक् स्मृति को प्रमा कहने की कोई आवश्यकता नहीं है ।[1] किन्तु यह मन्तव्य कि स्मृति प्रमा नहीं है, केवल प्रमा शब्द की पारिभाषिकता को ध्यान में रखकर ही नैयायिकों में प्रसिद्ध है । जहाँ तक व्यवहार-निर्वाह की दृष्टि से स्मृति के विवेचन का प्रश्न है, यथार्थ स्मृति को प्रमा कहना ही उचित है ।[2]

न्याय शास्त्र के अनुसार स्वप्न-ज्ञान भी एक प्रकार की स्मृति है । यह सर्वदा अयथार्थात्मक ही होता है ।[3] कभी-कभी ऐसा होता है कि स्वप्न-ज्ञान बाह्य जगत् के अनुरूप होता है, किन्तु इसे यथार्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह उत्पत्ति के समय वस्तु की यथार्थता से कोई सम्बन्ध नहीं रखता ।

संशय (Doubt)

एक **'वस्तु'** में एक ही समय परस्पर विरोधी 'विशेषताओं' का ज्ञान संशय है । 'वस्तु को 'धर्मी' और प्रत्येक 'विशेषता' को **'कोटि'** कहा जाता है । इसलिए संशय में कम से कम दो कोटियाँ अवश्य होती हैं । इन दोनों कोटियों का परस्पर भिन्न अथवा परस्पर विरोधी होना भी अनिवार्य है । इसी पारस्परिक विरोध को ध्यान में रखकर कुछ आचार्यों का कहना है कि संशय में एक कोटि भावात्मक होती है और दूसरी अभावात्मक ।[4] किन्तु यह आवश्यक नहीं है । परस्पर भिन्न भावात्मक कोटियों को लेकर भी संशय सुप्रसिद्ध है । इसीलिए यथासम्भव कोटियों के अनेक स्वरूप हो सकते हैं ।

संशय प्रमा इसलिए नहीं है कि इसमें एक भी कोटि का वास्तविक होना अनिवार्य नहीं है । यदि किसी संशय में एक कोटि वास्तविक होती भी है तो भी ज्ञान निश्चयात्मक नहीं हो पाता, हम वास्तविकता की स्पष्ट जानकारी नहीं प्राप्त कर पाते । अतएव इसे प्रमा नहीं माना गया है ।

---

1. न्या० क०, पृ० 627
2. न्या०-कु० आ०, पृ० 295 (4/1)
3. त० भा०, पृ० 230
4, कारि०, 130

   इन कोटियों में साधारणतया एक कोटि वास्तविकता से सम्बन्ध रखती है, परंतु यह आवश्यक नहीं है । ऐसा भी संशय हो सकता है जिसकी सारी कोटियाँ वास्तविकता से दूर हों ।

विपर्यय[1] अथवा भ्रम (Error)

जिस वस्तु का जो स्वाभाविक रूप नहीं है उसे उस रूप में समझना विपर्यय है। स्वाभाविक रूप विशेषण-प्रकार बनकर ही उस वस्तु के साथ ज्ञान का विषय होता है। इसलिए यह विपर्यय ज्ञान को **'तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानम्'** भी कहा जाता है। इसी को दूसरे शब्दों में 'अतत्त्वानुभव' भी कहते हैं। उदाहरणार्थ रज्जु (Rope) में सर्प का ज्ञान विपर्यय है। यह ज्ञान रज्जु का उसके स्वाभाविक रूप—रज्जुत्व—के साथ सम्बन्ध न जोड़कर अस्वाभाविक रूप—सर्पत्व—के साथ सम्बन्ध जोड़ देता है। यह सर्पत्व के अभाव से युक्त पदार्थ—रज्जु में (तदभाववति) सर्पत्व को प्रकार—विशेषण—बनानेवाला (तत्प्रकारक) अनुभव है। रज्जुत्व या सर्पत्व आदि को दार्शनिक भाषा में 'उपाधि' कहा जाता है। रज्जु के लिए रज्जुत्व, सर्प के लिए सर्पत्व ऐसी उपाधियाँ हैं जिनके चलते ही हम एक को रज्जु और दूसरे को सर्प कहते हैं। इसीलिए ऐसी उपाधियों को 'पदार्थ-प्राणप्रद' उपाधियाँ कहते हैं।[2] चूँकि विपर्यय रज्जु के साथ सर्पत्व का सम्बन्ध जोड़ देता है, इसलिए ज्ञान का आकार 'यह सर्प है', ऐसा ही होता है।

संशय में चित्त दो पक्षों के बीच पड़ा रहता है, जबकि विपर्यय में वह एक ही पक्ष पर अवलम्बित रहता है। संशय में कदाचित् वास्तविक पक्ष भी विकल्प के रूप में आ जाता है, विपर्यय में प्रस्तुत पक्ष वास्तविक कभी हो ही नहीं सकता। संशय अनिश्चयात्मक होता है, विपर्यय निश्चयात्मक। इसी तरह प्रमा से भी यह भिन्न है, क्योंकि प्रमा में केवल वास्तविक पक्ष ही प्रस्तुत होता है, जबकि विपर्यय में केवल अवास्तविक। इसलिए विपर्यय अयथार्थ ज्ञान है।

यह कहा जा चुका है कि विपर्यय में वस्तु का अस्वाभाविक रूप के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है। विपर्यय एक अनुभव—प्रत्यक्ष अनुभव है। इसमें हम रज्जु को सर्प के रूप में देखते हैं। किन्तु सर्प वहाँ रहता नहीं है। फिर उसे देखना कैसे सम्भव है?

इस प्रश्न के उत्तर में भारतीय दार्शनिकों का बहुत मतभेद है। विपर्यय या भ्रम के सिद्धान्त को भारतीय दर्शन शास्त्र में **'ख्यातिवाद'** कहा जाता है। योगाचार

---

1. विपर्यय के नाम तथा परिभाषा की शब्दावली में अन्तर होने पर भी उसके स्वरूप के सम्बन्ध में सभी दार्शनिक एकमत हैं।
2. काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास, कारि॰ 8

'आत्मख्याति', माध्यमिक 'असत् ख्याति', रामानुज 'सत् ख्याति', प्रभाकर के अनुयायी मीमांसक 'अ-ख्याति', और न्याय-वैशेषिक के आचार्य 'अन्यथा-ख्याति' के समर्थक हैं। 'अन्यथा-ख्याति' को 'विपरीत-ख्याति भी कहते हैं। मीमांसकों में कुमारिल भट्ट और मुरारी मिश्र एवं जैन दार्शनिक भी 'अन्यथा-ख्याति' सिद्धान्त को ही मानते हैं। रामानुज ने भी वैकल्पिक रूप में 'अन्यथा-ख्याति' मानी है।

नैयायिकों ने अन्य सभी ख्यातिवादों का तर्कपूर्ण निराकरण कर 'अन्यथाख्याति' की स्थापना की है। एक वस्तु—रज्जु—की (अन्यस्य) अन्य रूप में—सर्प के रूप में (अन्यथा) प्रतीति (ख्यातिः) अन्यथा-ख्याति है। इनमें दो सत् पदार्थों का असम्भव संबंधी जोड़ दिया जाता है। यही इसकी सत्यता है। इसीलिए यह अयथार्थ ज्ञान है।

रज्जु का सर्प रूप में जो विपर्यय 'अन्यथा ख्यातिवाद' के अनुसार होता है उसकी पद्धति निम्नलिखित है :—

पहले द्रष्टा व्यक्ति की आँखों के सामने कुछ दूर मन्द ज्योति में पड़े रस्सी के टुकड़े के साथ संयोग होता है। लम्बाई आदि की दृष्टि से रज्जु और सर्प में समानता है; किन्तु दोनों में विषमता भी है। रज्जु मुँह, पूँछ आदि अंगों से रहित होता है, जबकि सर्प इन अंगों से सम्पन्न। रज्जु में रज्जुत्व है, सर्प में सर्पत्व। दूरी और मन्द प्रकाश आदि त्रुटियों के कारण रज्जु और सर्प दोनों के केवल लम्बाई आदि साधारण धर्मों का ज्ञान प्राप्त हो पाता है, दोनों के असाधारण धर्मों का नहीं। साधारण धर्मों के दर्शन से द्रष्टा की आत्मा में सर्प के पूर्वानुभाव से उत्पन्न निगूढ़ संस्कार जग उठता है जिससे सर्प का स्मरण हो जाता है। अब तक की स्थिति के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि सामने का पदार्थ, जिसे हम 'यह' कहते हैं, प्रत्यक्ष का और 'सर्प' स्मरण का विषय है। किन्तु 'यह सर्प है', यह ज्ञान एक है और साथ ही प्रत्यक्षात्मक भी है। इसलिए सर्प के साथ भी इन्द्रिय (आँखों) का सम्बन्ध (सन्निकर्ष) होना अनिवार्य है। उस स्थान में या वह पदार्थ सर्प नहीं है—यह सत्य है। ऐसी स्थिति में सर्प के स्मरणात्मक ज्ञान को ही नैयायिक सर्प और आँखों के बीच सन्निकर्ष मान लेते हैं। यह सन्निकर्ष एक अलौकिक सन्निकर्ष है और 'ज्ञानलक्षणा' के नाम से प्रसिद्ध है। जिसे हम 'यह' कहते हैं उनके साथ आँखों का संयोग और जिसे 'सर्प' कहते हैं उसके साथ 'ज्ञानलक्षणा' सन्निकर्ष होता है। इसकी व्याख्या प्रत्यक्ष की व्याख्या के प्रसंग में की जायेगी। इसलिए सन्निकर्ष में अन्तर अवश्य है, किन्तु दोनों का ज्ञान प्रत्यक्षात्मक ही है, यह अनुभवसिद्ध है। अपने आपमें 'यह' भी सत्य है और उसका प्रत्यक्ष भी, 'सर्प'

भी सत्य है और उसका प्रत्यक्ष भी। केवल 'यह' और 'सर्प' के बीच विशेषण-विशेष्य का सम्बन्ध मान लेना ही अनुचित है। यही विपर्यय की अयथार्थता का मूल है। इसका सारा उत्तरदायित्व दूरी आदि दोषों पर है।

तर्क (Hypothetical Argument)

उत्तरपक्षी (सिद्धान्ती) द्वारा स्थापित एक सत्य का स्वीकार न करनेवाले पूर्वपक्षी (विरोधी) को दूसरे प्रसिद्ध सत्य के अस्वीकार के लिए बाध्य कर देना ही तर्क है। उत्तरपक्षी पूर्वपक्षी के समक्ष तर्क द्वारा एक प्रकार के विरोध (Contradiction) की स्थिति प्रस्तुत कर देता है जिससे पूर्वपक्षी को बाध्य होकर उत्तरपक्षी के वक्तव्य को मानना ही पड़ता है। इस प्रकार तर्क से अपने वक्तव्य का, विरोध-प्रदर्शन द्वारा, उत्तरपक्षी समर्थन करता है। किन्तु समर्थन तक तर्क का कार्य नहीं है, इसकी सीमा मात्र विरोध-प्रदर्शन तक है; समर्थन तो तात्पर्य-विषय (Implied) है। चूँकि प्रसिद्ध सत्य को मानना पूर्वपक्षी का भी अभीष्ट होना चाहिए, इसलिए इसके अस्वीकार के लिये बाध्य हो जाना पूर्वपक्षी के लिये अनिष्ट है। इस अनिष्ट के स्वीकार के लिये पूर्वपक्षी को बाध्य कर देना ही तर्क का लक्ष्य है, इसलिए तर्क को 'अनिष्ट प्रसंग' भी कहा जाता है।[1]

यह कहा जा चुका है कि उत्तरपक्षी के वक्तव्य का समर्थन तर्क का तात्पर्य है। यह तभी सम्भव है जब उत्तरपक्षी द्वारा स्थापित सत्य और प्रसिद्ध सत्य के बीच कोई स्वाभाविक सम्बन्ध हो। इसलिए दोनों सत्यों के बीच व्याप्यव्यापक-भाव सम्बन्ध होना अनिवार्य है—उत्तरपक्षी द्वारा स्थापित सत्य को व्यापक होना चाहिए और प्रसिद्ध सत्य को व्याप्य। अतः यदि व्याप्य सत्य को मानना है तो व्यापक सत्य का मानना भी आवश्यक है, क्योंकि व्याप्य के रहने पर व्यापक का रहना स्वाभाविक है। यदि किसी स्थान में राम नामक व्यक्ति (व्याप्य) है तो वहाँ मनुष्य (व्यापक) है ही। यदि किसी स्थान पर मनुष्य (व्यापक) नहीं है तो वहाँ राम (व्याप्य) की सत्ता भी नहीं हो सकती। चूंकि तर्क में विरोध-प्रदर्शन ही प्रधान है, इसलिए इसकी अभिव्यक्ति भावात्मक (Positive) रूप में न होकर सर्वदा अभावात्मक (Negative) रूप में ही की जाती है—यदि व्यापक न होता तो व्याप्य भी नहीं हो सकता। अतएव **'व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः'** परिभाषा की आधुनिक नैयायिकों में प्रसिद्ध है।[2]

---

1. त० भा०, पृ० 242
2. त० सं०, पृ० 56

पर्वत में धुआँ देखकर आग के अनुमान के प्रसंग में हम इस प्रकार के तर्क का स्पष्ट उदाहरण देख सकते हैं। उत्तरपक्षी का वक्तव्य है—'पर्वत पर आग है, क्योंकि वहाँ धुआँ दिखाई दे रहा है।' धुआँ की सत्ता व्याप्य है और आग की सत्ता व्यापक है। इस वक्तव्य को अस्वीकार करते हुए पूर्वपक्षी यह कह सकता है—'पर्वत पर धुआँ तो दीख रहा है, इसलिए उसकी वहाँ सत्ता मानना ठीक है; किन्तु इससे आग की सत्ता नहीं मानी जा सकती।' अब उत्तरपक्षी को तर्क द्वारा अपने वक्तव्य—'पर्वत पर आग है'—का समर्थन करना पड़ता है। वह पूर्वपक्षी को व्यापक की सत्ता का अस्वीकार करने पर व्याप्य की सत्ता या उसे बतानेवाले सत्य—वहाँ धुआँ दिखाई दे रहा है'—के अस्वीकार के लिए बाध्य कर देता है। 'यदि पर्वत पर आग की सत्ता न होती तो धुआँ की सत्ता भी तुम नहीं मान सकते, क्योंकि आग के बिना धुआँ की सत्ता असम्भव है'—यही तर्क है। इसका तात्पर्यार्थ यह है कि चूँकि प्रत्यक्ष-सिद्ध धुआँ की सत्ता पर्वत पर मानना पूर्वपक्षी के लिए भी अनिवार्य है, इसलिए व्यापक आग की सत्ता भी उसे माननी है। (तर्क के 11 प्रकार सर्वदर्शनसंग्रह में कहे गये हैं।[1] किन्तु वृत्तिकार विश्वनाथ केवल पाँच ही भेद मानने के पक्ष में हैं।[2] अन्य प्रकारों को वास्तविक तर्क न कहकर औपचारिक तर्क कहते हैं)।

उपर्युक्त सभी ज्ञान—स्मरण और संशय, विपर्यय एवं तर्क प्रमा नहीं हैं। न्याय दर्शन प्रमा केवल उसी अनुभव को मानता है जो यथार्थ हो। यथार्थ होने का अर्थ है वस्तु के सत्य रूपों को प्रस्तुत करना। वस्तु के सत्य रूपों में तीन तो सर्वसाधारण हैं—जाति, आकृति और व्यक्ति। इसका वितरण शब्द-बोध की व्याख्या के प्रसंग में किया जायेगा। जाति और आकृधि व्यक्ति (Individual) के विशेषण—प्रकार—के रूप में आती हैं। इसीलिए परवर्ती नव्य नैयायिकों ने यथार्थता की यह परिभाषा की है कि ज्ञेय वस्तु का वह अनुभव यथार्थ है जो उस वस्तु में वर्तमान जाति तथा आकृति को ही प्रकार के रूप में प्रस्तुत करता हो। जैसे—'गो' एक व्यक्ति है। इसमें गोत्व जाति और आकृति जाति व्यक्ति का पारस्परिक समवाय सम्बन्ध या स्वरूप-संघटना विशेषण है। इसलिए गो का वही ज्ञान यथार्थ हो सकता है जो गोत्व जाति और गो की आकृति को प्रकार के रूप में प्रस्तुत करता हो। ऐंसे ज्ञान को हम 'इयं गौः अस्ति' इस वाक्य से अभिव्यक्त करते हैं।

---

1. स० द० सं०, पृ० 238-39
2. वि० पृ० 1/1/40

यथार्थ अनुभव की संख्या में बहुत मतभेद है। चार्वाक प्रत्यक्ष मात्र को; बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमिति को; सांख्य, योग, नैयायिकों में भी भासर्वज्ञ और जैन दार्शनिक प्रत्यक्ष, अनुमिति और शाब्द-बोध को; न्याय प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द-बोध को; प्रभाकर मीमांसक उक्त चार और अर्थापत्ति को एवं कुमारिल भट्ट उक्त पाँच तथा अनुपलब्धि या अभाव को प्रमा और इन्हीं के अनुसार प्रमाणों की भी संख्या मानते हैं। न्याय की प्रमा तथा प्रमाणों का स्वरूप निम्नलिखित है :—

प्रत्यक्ष प्रमा

इन्द्रिय तथा अर्थ (Objects) के सन्निकर्ष (Contact) से उत्पन्न, अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा है—यह न्यायसूत्रकार गौतम की परिभाषा है।[1] यह केवल उत्पन्न होनेवाले—जन्य प्रत्यक्ष[2] की परिभाषा है, अजन्य—नित्य प्रत्यक्ष (ईश्वर का अपरोक्ष ज्ञान) की नहीं, क्योंकि शास्त्र की आवश्यकता लौकिक पदार्थों की व्याख्या है।

(उक्त परिभाषा में प्रयुक्त अव्यपदेश्य, व्यवसायात्मक तथा ज्ञान की व्याख्या में भी न्यायाचार्यों में मतभेद है। वात्स्यायन तथा उद्योतकर और वैशेषिक आचार्यों में व्योमशिव ने भी 'अव्यपदेश्य' शब्द का प्रयोजन''उभयज ज्ञान' की व्यावृत्ति माना है।[3] जो प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के साथ साथ शब्द की भी अपेक्षा रखता है, वही 'उभयज ज्ञान' है। यह प्रत्यक्ष कथमपि नहीं हो सकता। वेदान्त के आचार्यों में विवरणकार तथा उनके अनुयायियों ने 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्य से प्रत्यक्ष ज्ञान की अभिव्यक्ति मानी है। वैयाकरण-सम्प्रदाय भी यह मानता है कि ज्ञान-मात्र शब्द को लिये बिना उत्पन्न हो ही नहीं सकता। इन सब पक्षों का खण्डन 'अव्यपदेश्य' पद द्वारा हो जाता है। किन्तु आचार्य वाचस्पति मिश्र उभयजन ज्ञान की सत्ता नहीं मानते। इनके अनुसार 'अव्यपदेश्य' पद प्रत्यक्ष ज्ञान की निर्विकल्पक अवस्था (Indetermi-

---

1. न्या॰ सू॰, 1/1/4
2. प्रत्यक्ष शब्द भिन्न भिन्न व्युत्पत्ति के अनुसार तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है—ज्ञान, ज्ञान-साधन और ज्ञेय पदार्थ। व्युत्पत्ति के लिए देखिए, वै॰ द॰ अ॰, पृ॰ 161-163
3. व्योम॰, पृ॰ 555

nate Stage) का सूचक है। न्यायभूषणकार भासर्वज्ञ ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।[1] इसी प्रकार 'व्यवसायात्मक' शब्द को निश्चयार्थक मानकर वात्स्यायन तथा उद्योतकर ने इसे संशयात्मक प्रत्यक्ष के वर्ग से बहिष्कृत किया है, जबकि वाचस्पति मिश्र आदि ने इसे सविकल्पक प्रत्यक्ष का पर्याय माना है। 'ज्ञान' पद का प्रयोजन यह है कि सुख-दुःख इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से जन्य होकर भी ज्ञान-स्वरूप न होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमा के वर्ग में नहीं आते—यह वात्स्यायन आदि का मत है। जयन्त भट्ट ने यह भी कहा है कि 'ज्ञान' पद केवल विशेष्य का उपस्थापक शब्द है।[2] 'अव्यभिचारी' पद का सर्वसम्मत अर्थ यही है कि प्रत्यक्ष प्रमा को व्यभिचार—भ्रमात्मक ज्ञान—से भिन्न होना चाहिए। उपर्युक्त प्रत्येक पद की विभिन्न व्याख्याएँ न्याय-मंजरी में जयंत भट्ट ने प्रस्तुत की हैं।

अतः, प्राचीन आचार्यों के अनुसार, "इन्द्रिय और ज्ञेय पदार्थ के बीच सन्निकर्ष होने से उत्पन्न, शब्द के सम्पर्क से शून्य, संशय और विपर्यय से भिन्न ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा है" और वाचस्पति मिश्र आदि नवीन आचार्यों के मत में "इन्द्रिय और अर्थ के बीच सन्निकर्ष से उत्पन्न भ्रम-भिन्न निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा है।" वात्स्यायन आदि ने सूत्र में निर्विकल्पक तथा सविकल्पक का उल्लेख यद्यपि नहीं माना है, तथापि प्रत्यक्ष ज्ञान के इन दोनों भेदों से वे असहमत नहीं हैं।

(इस प्रसंग में दो प्रश्न बहुत ही सहज रूप में उठ जाते हैं—(1) वाचस्पति मिश्र के अनुसार संशयात्मक प्रत्यक्ष का प्रमात्मक प्रत्यक्ष से बहिष्कार का क्या आधार है? और (2) परवर्ती आचार्यों ने केवल '**इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्**' कहा है; ऐसी स्थिति में संशय और भ्रमात्मक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष प्रमा न कहने में क्या युक्ति है? दोनों प्रश्नों के समाधान भी वाचस्पति मिश्र के अन्य ग्रन्थ में उपलब्ध तर्क से ही हो जाते हैं। प्रथम प्रश्न का समाधान यह है कि संशय और विपर्यय में ज्ञेय पदार्थ के स्वाभाविक रूप को ठीक-ठीक प्रस्तुत न करने का दुर्गुण समान है। अतएव व्यापक अर्थ में व्यभिचार—विपर्यय शब्द को लेकर 'अव्यभिचारी' पद द्वारा ही प्रत्यक्ष प्रमा का संशय और विपर्यय से भिन्न होना सिद्ध है।[3] दूसरे प्रश्न के

---

1. न्या० भू०, पृ० 99
2. न्या० म०, भाग 1, पृ० 70
3. नियतमनियततया गृह्लान् संशयोऽपि विपर्ययः। तेन 'अविपर्ययात्' इति संशय विपर्ययाभावा दर्शितः।—सां० त० कौ, कारि० 64

समाधान में यह कहना चाहिए कि विपर्यय ज्ञान में जिस किसी अर्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष यदि होता भी है तो उस अर्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष कदापि नहीं होता है जिसका हमें ज्ञान होता है। इसलिए परवर्ती आचार्यों ने अर्थ शब्द को ज्ञेय पदार्थ का पर्याय मानकर भ्रम-विपर्यय को इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-रहित ज्ञान होने के कारण और संशय को भी इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के अनिश्चित होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमा—इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाली प्रमा—से भिन्न मान लिया है।[1] यही कारण है कि इन आचार्यों ने संशय और भ्रम के पृथक्करण के लिए किसी शब्द का प्रत्यक्ष प्रमा की परिभाषा में प्रयोग नहीं किया।)

प्रत्यक्ष प्रमा की परिभाषा को समझाने के लिए इन्द्रिय, अर्थ और सन्निकर्ष शब्द के अर्थों का ज्ञान आवश्यक होने के कारण नीचे इसके अर्थ संक्षेप में दिये जा रहे हैं:—

(क) **इन्द्रिय**—प्रत्यक्ष प्रमा का मुख्य साधन—कारण—इन्द्रिय है।[2] नव्य नैयायिक इसे इन्द्रियत्व का आधार कहेंगे।[3] न्याय दर्शन में घ्राण (नाक), रसना (जिह्वा), चक्षु, त्वक् और श्रोत्र बाह्य इन्द्रियाँ—बाह्य पदार्थों के ज्ञान के साधन हैं। इनमें से केवल त्वक् ही एक इन्द्रिय है—ऐसी एक परम्परा, प्रायः प्राचीन सांख्य की थी; परन्तु न्याय शास्त्र में इसका खण्डन किया गया है।[4] इनमें से प्रथम चार इन्द्रियाँ क्रमशः पृथिवी, जल, तेज और वायु से उत्पन्न[5] हुई हैं और पाँचवीं श्रोत्रेन्द्रिय आकाश से उत्पन्न न होने पर भी कर्ण-विवर से परिच्छिन्न (Limited) आकाशात्मक होने के कारण औपचारिक रूप में आकाश से उत्पन्न मानी जाती है।[6] पृथिवी आदि पाँच द्रव्य न्याय दर्शन के अनुसार 'भूत' हैं। इसलिए इन इन्द्रियों को भौतिक—भूतों से उत्पन्न—कहा गया है। इन्द्रियाँ 'अहंकार' से उत्पन्न हुई हैं, इस सांख्य मत को न्याय दर्शन नहीं मानता।[7]

---

1. 'विषय'-ग्रहणेन च असद्विषयं विपर्ययम् अपाकरोति।—सां० त० कौ०, का० 5
2. न्या० म०, भा० 2, पृ० 48; इन्द्रिय की दूसरी परिभाषा के लिए देखिये, ता० टी०, पृ० 221
3. इन्द्रियत्व की परिभाषा के लिए देखिये, उप० 4/2/1
4. न्या० सू०, 3/1/53-60
5. वही, 1/1/12
6. ता० टी०, पृ० 223
7. न्या० वा०, ता० टी० 1/1/12

इनके अतिरिक्त एक अन्तरिन्द्रिय भी है, इसे मन कहते हैं। यद्यपि इन्द्रिय की गणना जिस सूत्र में गौतम ने की है उसमें मन का नाम नहीं लिया गया है, तथापि अपने समानतन्त्र—वैशेषिक दर्शन—में मन के इन्द्रिय मान लिये जाने और न्याय दर्शन में कहीं भी इस सिद्धान्त का खण्डन न किये जाने के कारण यह स्वीकार करना चाहिए कि गौतम ने भी मन को अन्तरिन्द्रिय माना है। इन्द्रिय की गणना करनेवाले सूत्र में इसका उल्लेख जो नहीं किया गया है उसका कारण है पाँच बाह्येन्द्रियों से इसकी महत्त्वपूर्ण भिन्नता। सब बाह्य इन्द्रियाँ भौतिक हैं, मन अभौतिक है; सब बाह्य इन्द्रियाँ अनित्य हैं, मन नित्य है; इत्यादि भिन्नताएँ मन और बाह्येन्द्रियों के बीच हैं।[1]

ये सब इन्द्रियाँ **'प्राप्यकारी'** या **'प्राप्य-प्रकाशकारी'** हैं। ज्ञेय पदार्थ के साथ सम्बन्ध (सन्निकर्ष) प्राप्त कर ज्ञान को उत्पन्न कराने के कारण इन्हें 'प्राप्यकारी' कहा जाता है। इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व के बारे से दार्शनिकों में मतभेद है। न्याय-साहित्य में केवल बौद्ध दर्शन के पक्ष—चक्षु, श्रोत्र और मन प्राप्यकारी नहीं हैं—का खण्डन किया गया है।[2] यही प्राप्यकारित्व (सन्निकर्ष) की आवश्यकता सिद्ध कर देता है।

प्राप्यकारित्व की भी दो दिशाएँ हैं—(क) चक्षु, मन ज्ञेय पदार्थों के पास जाकर उनसे सन्निकर्ष प्राप्त करते हैं, किन्तु (ख) अन्य इन्द्रियाँ अपने अपने स्थान पर ही ज्ञेय पदार्थों से सम्बन्ध प्राप्त करती हैं। इनमें भी चक्षु, त्वक् और मन द्रव्य तथा गुण आदि सब पदार्थों के तथा अन्य इन्द्रियाँ गुण, सामान्य, समवाय (केवल न्याय मत में, वैशेषिक मत में नहीं) और अभाव के प्रत्यक्ष के साधन हैं।

(ख) **अर्थ—'अर्थ'** शब्द न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों में **पारिभाषिक है।** वैशेषिक द्रव्य, गुण और कर्म को सामूहिक रूप में 'अर्थ' मानता है।[3] न्याय दर्शन **'पृथिव्यादिगुणाः'** का 'अर्थ' कहता है।[4] **'पृथिव्यादिगुणाः'** शब्द षष्ठी तत्पुरुष समास[5] (**पृथिव्यादीनां गुणाः**) के आधार पर गंध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द का और द्वन्द्व

---

1. न्या० वा० 1/1/4, पृ० 38-39
2. वही, पृ० 33-36
3. वै० सू०, 8/2/3
4. न्या० सू०, 1/1/14
5. न्या० म०, भा० 2, पृ० 56

समास[1] (**पृथिव्यादश्च तद्गुणाश्च**) के आधार पर युक्त गुणों के साथ-साथ पृथिवी, जल और तेज, इन तीनों द्रव्यों का भी वाचक है। इसी प्रकार मन के प्रसंग में आत्मा तथा उसके प्रत्यक्ष योग्य गुण 'अर्थ' है। किन्तु प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अर्थ' शब्द केवल पारिभाषिक रूप में नहीं लेना चाहिए। यह सामान्य रूप में ज्ञेय पदार्थ मात्र का वाचक है। अतः इसके अंतर्गत भावात्मक तथा अभावात्मक सभी पदार्थ आ जाते हैं।

(ग) **सन्निकर्ष**—इन्द्रिय और ज्ञेय पदार्थ का वह सम्बन्ध सन्निकर्ष कहलाता है जिससे ज्ञेय पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।[2] न्याय-वैशेषिक दर्शन में इसके छह प्रकार हैं—(1) **संयोग**, (2) **समवाय**, (3) **संयुक्तसमवाय**, (4) **संयुक्त-समवेत-समवाय** (5) **समवेत-समवाय** और (6) **विशेष्य-विशेषण-भाव**।[3]

चक्षु और त्वक् द्वारा पृथिवी, जल तथा तेज के और मन द्वारा आत्मा के प्रत्यक्ष के लिए संयोग सन्निकर्ष की; श्रोत्रेन्द्रिय, जो आकाश का ही एक परिच्छिन्न रूप है, से शब्द—आकाश के गुण—के प्रत्यक्ष के लिए समवाय सन्निकर्ष की; द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से वर्तमान गुण, कर्म जाति के प्रत्यक्ष के लिए संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष की; इन्द्रिय-संयुक्त द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से वर्तमान गुण और कर्म में भी समवाय सम्बन्ध से ही रहनेवाली गुणत्व, कर्मत्व आदि—जातियों के प्रत्यक्ष के लिए संयुक्त समवेत-समवाय सन्निकर्ष की; शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली शब्दत्व जाति के प्रत्यक्ष के लिए समवेत-समवाय सन्निकर्ष की आवश्यकता होती है। विशेषण-विशेष्य-भाव वस्तुतः दो सन्निकर्ष हैं—विशेषण-भाव तथा विशेष्य-भाव। इन्हें ही क्रमशः विशेषणत्व या विशेषणता और विशेष्यत्व या विशेष्यता सन्निकर्ष कहते हैं। आधारभूत पदार्थ का विशेषण बना हुआ अभाव विशेषणता सन्निकर्ष से और विशेष्य बना हुआ अभाव विशेष्यता सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष का विषय होता है। न्यायशास्त्र दोनों संबंधों के प्रत्यक्ष होने पर उनके बीच वर्तमान समवाय, जिसे वैशेषिक कदापि इन्द्रिय-वेद्य नहीं मानते, को भी प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय मानता है। इसलिए आधारभूत पदार्थ के साथ विशेषण अथवा विशेष्य के रूप में प्रस्तुत समवाय का भी विशेषणता या विशेष्यता सम्बन्ध से ही प्रत्यक्ष होता है।[4]

---

1. न्या० वा०, 1/1/14, पृ० 71-72
2. वही, 1/1/4, पृ० 31
3. वही, 1/1/4, पृ० 31; ता० टी० 1/1/4, पृ० 109-110
4. न्या० सा०, पृ० 167-168

प्रत्यक्ष के प्रसंग में निम्नलिखित ध्यान देना चाहिए—

(क) जिस द्रव्य, गुण, कर्म या सामान्य का जिस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है उस द्रव्य, गुण या कर्म में वर्तमान सामान्य (जाति), समवाय और उस (द्रव्य आदि) के अभाव का प्रत्यक्ष उसी इन्द्रिय से होता है। उदाहरणार्थ, पृथिवी का प्रत्यक्ष चक्षु से होता है इसलिए पृथिवी में वर्तमान पृथिवीत्व जाति का, उसमें वर्तमान रूप के समवाय का और पृथिवी के अभाव का भी प्रत्यक्ष चक्षु से ही होगा।

(ख) समवाय के प्रत्यक्ष के प्रसंग में यह विशेषता है : कदाचित् ऐसी स्थिति आ जाती है कि द्रव्य और उसमें समवाय सम्बन्ध से वर्तमान गुण का प्रत्यक्ष भिन्न भिन्न इन्द्रिय से होता है। जैसे—पृथिवी का प्रत्यक्ष चक्षु या त्वक् से होता है, किन्तु उसकी गन्ध का घ्राणेन्द्रिय से। ऐसी परिस्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि पृथिवी और गन्ध के बीच वर्तमान समवाय का प्रत्यक्ष किस इन्द्रिय से होगा—चक्षु या त्वक् से अथवा घ्राणेन्द्रिय से ? उत्तर में इतना कहना ही पर्याप्त है कि यदि पृथिवी समवाय के आधार रूप में प्रस्तुत है तब तो चक्षु या त्वक् द्वारा और यदि गन्ध उसके आधार के रूप में प्रस्तुत हो तो घ्राणेन्द्रिय द्वारा उस समवाय का प्रत्यक्ष होगा। किन्तु सामान्य एवं प्रसिद्ध परम्परा, ऐसी स्थिति में पृथिवी को ही आधार रूप में प्रस्तुत करने की है। अतः चक्षु या त्वगिन्द्रिय द्वारा ही ऐसे समवाय का साधारणतया प्रत्यक्ष माना जाता है।

(ग) केवल उसी अभाव का प्रत्यक्ष होता है जिसके प्रतियोगी[1] के बारे में यह वक्तव्य दिया जा सके[2]—'यदि वह होता तो उसका प्रत्यक्ष अवश्य होता'। उदाहरणार्थ, टेबुल पर पुस्तक के अभाव का प्रत्यक्ष हो सकता है। हम इस अभाव के प्रतियोगी—पुस्तक के बारे में यह कह सकते हैं कि यदि पुस्तक टेबुल पर होती तो उसे हम टेबुल की तरह अवश्य देखते। अन्य अभावों का परिस्थिति के अनुसार अनुमान आदि प्रमाणों से ज्ञान होता है।

(घ) विशेषणता या विशेष्यता अभाव का उसके आधार के साथ सम्बन्ध है। किन्तु

---

1. जिस पदार्थ का अभाव होता है वह उस अभाव का प्रतियोगी होता है। घट के अभाव का प्रतियोगी घट है। जिस स्थान में घट का अभाव रहता है वह स्थान (या वस्तु) अभाव का अनुयोगी कहलाता है।
2. कारि० 62

आधार और इन्द्रिय का सन्निकर्ष भी अनिवार्य है, क्योंकि इन्द्रिय का अभाव के साथ सम्बन्ध साक्षात् न होकर सर्वदा अभाव के आधार के माध्यम से ही होता है। इन्द्रिय और अभाव के आधार के बीच के सम्बन्ध यथासम्भव संयोग, समवाय आदि हो सकते हैं। इसलिए विशेषणता का स्पष्ट रूप संयुक्त-विशेषणता आदि समझना चाहिए।[1]

उपर्युक्त सन्निकर्ष 'लौकिक सन्निकर्ष' के नाम से प्रसिद्ध है। इसलिए इन सन्निकर्षों से होनेवाले प्रत्यक्ष को लौकिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। इसके छह प्रकार होते हैं। इनका आधार है इन्द्रियों की **संख्या**। चूँकि इन्द्रियों के दो वर्ग हैं—(क) बाह्य तथा (ख) आभ्यन्तर, इसलिए लौकिक प्रत्यक्ष के भी दो भाग हो जाते हैं—(क) बाह्येन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष और (ख) आभ्यन्तरेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष। ये सब जन्य प्रत्यक्ष के ही भेद-प्रभेद हैं।

छह प्रकार के सन्निकर्षों के अतिरिक्त न्याय-वैशेषिक शास्त्र में तीन अलौकिक सन्निकर्ष भी माने गये हैं—(क) **सामान्य-लक्षणा** (ख) **ज्ञान-लक्षणा**, और (ग) **योगज**।

(क) सामान्य-लक्षणा—विभिन्न तत्त्वों में समानता की प्रतीति के आधारभूत धर्म को सामान्य धर्म कहा जाता है। यह सामान्य धर्म द्रव्य, गुण आदि पदार्थों में कोई भी पदार्थ हो सकता है। जैसे, आम बेचनेवाले 50 व्यक्तियों में आम ही सामान्य धर्म है, जिसके चलते सबमें समानता की प्रतीति—ये सब आम बेचनेवाले हैं—होती है। अतएव यह सामान्य शब्द न्याय-वैशेषिक के पारिभाषिक सामान्य (Universal) से भिन्न अर्थ रखनेवाला है।[2]

सामान्य-लक्षणा शब्द के अनेक अर्थ न्याय शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। किन्तु सबसे प्रमुख तथा युक्तिसंगत अर्थ है 'सामान्य धर्म का ज्ञान'।[3] एक धुआँ को देखकर उसके सभी वैयक्तिक रूपों में समानता की प्रतीति के आधारभूत धूमत्व, सामान्य का ज्ञान—एक धुआँ के प्रत्यक्ष के साथ साथ उसमें समवाय सम्बन्ध से वर्तमान धूमत्व-सामान्य का संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष से प्रत्यक्षात्मक ज्ञान—सामान्य-लक्षणा प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) है। यह सन्निकर्ष चक्षु और सामान्यभूत धूमत्व के सभी आधारों—संयोग

1. त० भा०, पृ० 57
2. मुक्तावली, कारि० 63
3. वही, कारि० 64

सन्निकर्ष से चक्षु द्वारा देखे जानेवाले एक धुआँ को छोड़ अन्य सभी वैयक्तिक धुओं—के बीच कार्य करता है, जिससे चक्षु एक धुआँ को संयोग सम्बन्ध से प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय बनाने के साथ अन्य सभी वैयक्तिक धुओं को भी द्रष्टा के प्रत्यक्ष का विषय बना देता है। तात्पर्य यही है कि एक धुआँ को देखनेवाला व्यक्ति उसके सभी वैयक्तिक रूपों को देखता है—अन्तर इतना ही रहता है कि एक का प्रत्यक्ष संयोग सन्निकर्ष से होने के कारण लौकिक होता है और अन्य सबका सामान्य-लक्षणा सन्निकर्ष से होने के कारण अलौकिक होता है।

इस सन्निकर्ष की मुख्य उपयोगिता व्याप्ति-ज्ञान के लिए है। न्याय शास्त्र के अनुसार सहचार-दर्शन—दो तत्त्वों के एक साथ रहने की स्थिति का ज्ञान होने और व्यभिचारादर्शन—उन दोनों तत्त्वों में एक का दूसरे के बिना कहीं भी रहने का ज्ञान —न होने पर दो तत्त्वों के बीच व्याप्ति का निर्णय होता है। व्यभिचारादर्शन को लेकर बौद्धों ने प्रश्न उठाया है कि इसका निर्णय करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। उदाहरणार्थ, धूम और वह्नि को लिया जा सकता है। नैयायिकों के कथनानुसार धूम को वह्नि के बिना कहीं नहीं रहना चाहिए। किन्तु अल्पज्ञ तथा सीमित शक्तिवाला मानव यह कैसे जान सकता है कि इस समस्त जगत् में धुआँ न तो कभी किसी भी स्थान में वह्नि के बिना था, न कहीं है और न कहीं किसी समय होनेवाला ही है। इसलिए व्यभिचारादर्शन की बात कोरी कल्पना है। इसके विरुद्ध ही नैयायिकों के सामान्य-लक्षणा सन्निकर्ष के माध्यम से भूत, वर्तमान तथा भविष्य के सभी वैयक्तिक धुओं का वह्नि के साथ ही रहने और वह्नि के बिना कदापि न रहने का प्रत्यक्ष निश्चय हो जाता है। चूँकि इस तरह का प्रत्यक्ष स्वाभाविक नहीं लगता इसीलिए इसे अलौकिक सन्निकर्ष कहा जाता है।

(ख) ज्ञान-लक्षणा—ज्ञान-लक्षणा सन्निकर्ष भी एक अलौकिक सन्निकर्ष है। यह भी ज्ञान-स्वरूप है, किन्तु सामान्य धर्म का ज्ञान नहीं। यह इन दोनों की एक भिन्नता है। दूसरी भिन्नता यह है कि ज्ञान-लक्षणा सर्वदा स्मरणात्मक ज्ञान-स्वरूप होती है, जबकि सामान्य-लक्षणा प्रायः प्रत्यक्ष-ज्ञानात्मक। तीसरा अन्तर, जो सबसे महत्त्वपूर्ण है, यह है कि ज्ञान-लक्षणा सन्निकर्ष उसी पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष है जिसका स्मरणात्मक ज्ञान इसका स्वरूप है, जबकि सामान्य-लक्षणा इन्द्रिय और उन पदार्थों के बीच सन्निकर्ष का कार्य करती है, जिनमें आश्रित सामान्य का ज्ञान इसका स्वरूप है।[1]

---

1. मुक्तावली, कारि० 65

इस सन्निकर्ष की कल्पना नव्य नैयायिकों की देन है। यों तो सामान्य-लक्षणा का भी स्पष्ट रूप प्राचीन नैयायिकों के वक्तव्यों में नहीं मिलता, फिर भी अस्पष्ट संकेत तो मिलता ही है। ज्ञान-लक्षणा के स्वीकार का मूल आधार है विशेषण और विशेष्य का एक ही ज्ञान का विषय होने का सिद्धान्त। कुछ प्राचीन आचार्य इस सिद्धान्त से सहमत नहीं प्रतीत होते।[1] अस्तु, अब ज्ञान-लक्षणा सन्निकर्ष का एक उदाहरण दे दिया जाय। हम दूर से ही लँगड़ा आम देखकर अपने मित्र से कह बैठते हैं—देखो, वहाँ मीठा लँगड़ा आम बिक रहा है। यह एक प्रत्यक्ष ज्ञान है, इसमें सन्देह नहीं। बिकने के स्थान तथा आम के फल को आँखों से देखना तो सहज है, पर साधारण तौर पर उसके मीठेपन को आँखों से देखना सम्भव नहीं है, वह तो रसना द्वारा ही जाना जा सकता है। परन्तु विशेषण 'मीठा' तथा विशेष्य 'आम' के एक ही ज्ञान के विषय होने का सिद्धान्त और साधारण अनुभव भी यही कहता है कि आम और उसके मीठेपन का ज्ञान प्रत्यक्षात्मक है, और यदि वह प्रत्यक्षात्मक है तो उसकी उत्पत्ति आँखों से ही माननी होगी, क्योंकि रसना का तो दूरवर्ती आम के रस के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए चक्षु और मीठेपन के बीच ज्ञान-लक्षणा सन्निकर्ष मानकर नैयायिकों ने चक्षु से ही उसका प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। चक्षु से आम के फल को देखते ही उसके मीठेपन का स्मरणात्मक ज्ञान हो जाता है। यही ज्ञान मीठेपन और चक्षु के बीच ज्ञान-लक्षणा सन्निकर्ष है। चूँकि ज्ञान—मीठा आम बिक रहा है—प्रत्यक्षात्मक है, इसीलिए मीठेपन के स्मरणात्मक ज्ञान को ही सन्निकर्ष मानना पड़ता है।

(ग) **योगज**—अष्टांग योग के अनुष्ठान से साधकों की आत्मा में विलक्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यही **योगज** सन्निकर्ष है। इसके माध्यम से समस्त भूत, भविष्य और वर्तमान, स्थूल और सूक्ष्म, समीपस्थ और दूरस्थ पदार्थों का योगी प्रत्यक्ष करता है।[2]

प्रत्यक्ष ज्ञान का इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष एक मुख्य कारण है। इससे भिन्न अन्य कारण भी प्रत्यक्ष के हैं। पहले आत्मा का मन से संयोग होता है।[3] यह आत्म-मनः-संयोग न केवल प्रत्यक्ष ज्ञान का अपितु सब प्रकार के अपरोक्ष और परोक्ष ज्ञान का

---

1. न्या० क०, पृ० 276-277
2. न्या० सा०, पृ० 170
3. न्या० भा० आदि० 1/1/4

साधारण कारण है। आत्मा से संयुक्त मन का इन्द्रिय के साथ संयोग होता है। यह केवल प्रत्यक्ष ज्ञान का असाधारण कारण है। इसके बाद होने वाला इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष ही प्रत्यक्ष का अन्यतम साधन है।

प्रत्यक्ष प्रमा के क्रमिक रूप

प्रत्यक्ष प्रमा के तीन क्रमिक रूप हैं—निर्विकल्पक[1], सविकल्पक और त्याग-बुद्धि या ग्रहण-बुद्धि या उपेक्षा-बुद्धि। प्रथमतः इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष होने पर अर्थ का एक अस्पष्ट ज्ञान (Indeterminate Knowledge) होता है। इसमें अर्थ के सभी रूपों का अविविक्त (Indistinct) ज्ञान होता है, किन्तु यह पता नहीं लग पाता कि अर्थ के विभिन्न रूपों में कौन विशेषण-प्रकार है और कौन विशेष्य। इसीलिए निर्विकल्पक को निष्प्रकारक ज्ञान कहा जाता है। इस ज्ञान के समय ज्ञेय अर्थ का नाम भी स्फुरित नहीं हो पाता। अतएव नाम-जात्यादि-योजना-हीन ज्ञान भी इसे कहते हैं। यह ज्ञान इन्द्रियवेद्य नहीं होता।[2] इसकी सत्ता का सविकल्पक ज्ञान के आधार पर अनुमान किया जाता है।

निर्विकल्पक के बाद ज्ञेय अर्थ के वाचक शब्द (नाम) का भी स्मरण हो जाता है और अर्थ के रूपों में जाति और व्यक्ति (Universal and Individual) आदि का विवेक भी हो जाता है। जाति सर्वदा व्यक्ति के विशेषण-प्रकार के रूप में आती है। इसलिए सविकल्पक ज्ञान को नाम-जात्यादि-योजना-युक्त ज्ञान और सप्रकारक ज्ञान आदि कहा जाता है। प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का स्पष्ट रूप यही है। इसमें ज्ञेय पदार्थ के विभिन्न रूपों का विवेक हो जाता है।

सविकल्पक ज्ञान हो जाने पर ज्ञाता की प्रक्रियात्मक धारणा ज्ञेय पदार्थ के प्रतिकूल होने पर उसके परित्याग की, अनुकूल होने पर उसके ग्रहण की और न प्रतिकूल तथा न अनुकूल होने पर उसकी उपेक्षा की होती है। यह भी प्रत्यक्ष ज्ञान का ही अन्तिम रूप है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण का अन्तिम, वास्तविक फल है।

प्रत्यभिज्ञा (Recognition)

पहले जिस वस्तु का ज्ञान हो चुका है उसका पुनः प्रत्यक्षात्मक ज्ञान **प्रत्यभिज्ञा**

---

1. गंगेश उपाध्याय आदि नव्य नैयायिक निर्विकल्पक ज्ञान को भ्रम, संशय और प्रमा से सर्वथा भिन्न एक स्वतन्त्र प्रकार का ही ज्ञान मानते हैं। देखिये, कारि० 135-136
2. कारि० 58

है।[1] मान लिया जाय कि राम का इलाहाबाद में श्याम से परिचय हो चुका है। पुनः वह वाराणसी में उसे देखता है। देखते समय राम यही कहेगा—'यह वही श्याम है।' यही प्रत्यभिज्ञा है। न्यायभाष्यकार के कथन से ऐसा लगता है कि वे प्रत्यभिज्ञा को विशुद्ध ज्ञान (Simple Cognition) न मानकर इसे मिश्रित ज्ञान (Complex-Cognition) मानते हैं (**पूर्वापरयोर्विज्ञानयोः एकस्मिन् विषये प्रतिसन्धिज्ञानम् प्रत्यभिज्ञानम्**)[2] किन्तु परवर्ती नैयायिक इसे विशुद्ध प्रत्यक्षात्मक ज्ञान मानते हैं।[3] इसका प्रमुख साधन-करण केवल इन्द्रिय नहीं है, अपितु पहले के ज्ञान से उत्पन्न संस्कार (Impression) से सह-कृत इन्द्रिय। इसीलिए इसका स्वरूप साधारण प्रत्यक्ष से कुछ भिन्न होता है। इसकी एकता इस बात से भी सिद्ध है कि यह ज्ञान एक ही वस्तु को प्रस्तुत करता है, दो या अनेक वस्तुओं को नहीं। न्याय शास्त्र के अनुसार यह भी एक सविकल्पक प्रत्यक्ष का ही प्रकार है। इसमें संस्कार के कारण होने पर भी प्रधानता इन्द्रिय की है। इसलिए यह स्मरण और प्रत्यक्ष का मिश्रण नहीं है। साथ ही, दोनों का मिश्रण, परस्पर-विरोध के कारण, सम्भव भी नहीं है।[4]

प्रत्यक्ष प्रमाण[5]

प्रत्यक्ष प्रमा के मुख्यतम कारण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष प्रमा के तीन क्रमिक रूप बतलाये जा चुके हैं। इनमें यदि निर्विकल्पक को प्रमा मानकर प्रमाण का विचार किया जाय तब तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष-प्रमाण है और इन्द्रिय एवं ज्ञेय पदार्थ का सन्निकर्ष व्यापार[6] (Intermediate Operation) सविकल्पक ज्ञान को प्रमा

---

1. न्या० म०, भा० 2, पृ० 31
2. न्या० भा०, 3/1/7
3. न्या० कु०, 4/4; न्या० म०, भा० 2, पृ० 31-33
4. न्या० कु० 4/4
5. प्रत्यक्ष प्रमाण की गोतम-सम्मत परिभाषा प्राप्त करने के लिए न्या० सू० 1/1/4 में 'यतः' पद जोड़ देना चाहिए। देखिये, ता० टी०, पृ० 108।
6. 'व्यापार' को ही 'अवांतर व्यापार' भी कहते हैं। व्यापार वह कारण है जो मुख्य कारण (करण) से उत्पन्न भी हो और उससे उत्पन्न होनेवाले कार्य (फल) का उत्पादक भी हो। जैसे, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष मुख्य कारण—इन्द्रिय से उत्पन्न भी है और उसी इन्द्रिय से उत्पन्न होनेवाले फल—निर्विकल्पक ज्ञान का उत्पादन भी करता है। अतः वह व्यापार है। मुख्य कारण (करण) के लिए व्यापार-युक्त

मानकर विचार करने पर इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष प्रत्यक्ष प्रमाण और निर्विकल्पक ज्ञान व्यापार के रूप में प्रस्तुत होते हैं। किन्तु यदि त्याग-बुद्धि आदि में से किसी एक को प्रमा मान लिया जाय तब तो निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष प्रमाण और सविकल्पक ज्ञान को व्यापार मानना होगा।[1] यह पक्ष इस मान्यता पर निर्भर है कि व्यापार की संख्या एक ही होनी चाहिए, अनेक नहीं। किन्तु यह मान्यता किसी सुदृढ़ आधार पर आश्रित नहीं है। अतएव परवर्ती आचार्यों ने सभी प्रकार की प्रत्यक्ष प्रमा का करण प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रिय को ही मान लिया है।[2] न्यायवार्तिक में इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष को ही एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण माननेवाली एक परम्परा का उल्लेख है[3], किन्तु यह प्रचलित नहीं है।

अनुमिति या अनुमान प्रमा

प्रत्यक्ष ज्ञान के बाद न्याय शास्त्र में परोक्ष ज्ञान की व्याख्या की गई है। अनुमिति, उपमिति और शाब्द ज्ञान न्याय दर्शन के परोक्ष ज्ञान हैं। इनमें अनुमिति सबसे महत्त्वपूर्ण है।

अनुमान व्याप्ति-ज्ञान, पक्षधर्मता-ज्ञान, व्याप्ति-स्मरण और परामर्श के बाद उत्पन्न होनेवाला परोक्ष ज्ञान है। संक्षेप में, हेतु को किसी स्थान-विशेष में देखकर उसके व्यापक साध्य का परोक्ष ज्ञान अनुमान या अनुमिति है; जैसे, पर्वत पर धुआँ देखकर उसके व्यापक साध्य—आग का परोक्ष ज्ञान अनुमान है।

व्याप्ति-ज्ञान आदि प्रत्यक्ष भी हो सकते हैं और परोक्ष भी।[4] इनके प्रत्यक्ष होने की बात को ध्यान में रखकर गोतम ने इसे प्रत्यक्ष-पूर्वक ज्ञान (तत्पूर्वकम्) कहा है।[5] वास्तविकता तो यह है कि पक्षधर्मता आदि ज्ञान भले ही परोक्षात्मक हों,

---

होना आवश्यक है। किन्तु कुछ नैयायिकों ने इसकी उपेक्षा कर कारण के लिए इतना ही पर्याप्त माना है कि उसके उपयुक्त होते ही फल की उत्पत्ति होनी चाहिए। (फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्)।

1. त० भा०, पृ० 46-50
2. कारि०, 58
3. न्या० वा०, 1/1/3, पृ० 29
4. आगमेनानुमानेन तर्कव्युत्पादनेन वा।
   प्रत्येक्षण गृहीतो वा सम्बन्धो न विशिष्यते ॥—न्या० म०, भाग 1, पृ० 113
5. न्या० सू०, 1/1/5

व्याप्ति-ज्ञान का मौलिक रूप में प्रत्यक्षात्मक ही होना चाहिए, नहीं तो एक व्याप्ति-ज्ञान के लिए दूसरे अनुमान को, उस अनुमान के अंगभूत व्याप्ति-ज्ञान के लिए तीसरे अनुमान की कल्पना की अनन्त परम्परा में अनवस्था आ जाना सुस्पष्ट है।[1] प्रत्यक्षात्मक व्याप्ति-ज्ञान के बाद ही उत्पन्न होने के कारण ही इसे अनु + मान (अनु = पीछे होनेवाला, मान = ज्ञान) भी कहा जाता है।

अनुमान के प्रसंग में निम्नलिखित पारिभाषिक शब्दों से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है :—

हेतु—व्याप्ति के कारण किसी स्थान-विशेष में साध्य की सत्ता प्रमाणित करने-वाला साधन हेतु है। चूँकि यह लीन-परोक्ष साध्य का ज्ञान कराता है, इसलिए इसे 'लिंग' भी कहते हैं।

साध्य—वह परोक्ष तत्त्व, जिसका अनुमान करना है, साध्य है। इसे व्यापक तथा अनुमेय भी कहते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में आग साध्य है।

पक्ष—वह स्थान, जहाँ साध्य की सत्ता प्रमाणित की जाती है, पक्ष कहलाता है। अनुमान से पहले पक्ष में साध्य की सत्ता सन्दिग्ध रही है। इसलिए इसे साध्य-सन्देहयुक्त पदार्थ भी कहा जाता है। यही साध्य-सन्देह 'पक्ष' इस नामकरण का आधार (पक्षता या पक्षत्व) है, ऐसा प्राचीन नैयायिकों का मत है। किन्तु नव्य नैयायिक इस बात से सहमत नहीं हैं। इनके अनुसार पक्षता का स्वरूप कुछ भिन्न ही है।[2] पक्ष को धर्मी भी कहते हैं।[3]

सपक्ष—जिस स्थान में साध्य की सत्ता पहले से निश्चित हो उसे सपक्ष कहते हैं। व्युत्पत्ति के अनुसार इसे पक्ष के समान होना चाहिए। यह समानता इस दृष्टि से है कि दोनों साध्ययुक्त होते हैं। अन्तर भी समानता का एक अविभाज्य अंग है। अन्तर के बिना समानता अभिन्नता के रूप में बदल जाती है। अन्तर दोनों में यही है कि सपक्ष में अनुमान से पहले ही साध्य की सत्ता निश्चित होती है, जबकि पक्ष में अनुमान के बाद ही।

---

1. प्रतिबन्धग्रहे तस्य प्रत्यक्षमुपयुज्यते।
   कोऽन्यः सन्तरणे हेतुरनवस्था-महोदधेः ?,—न्या० म०, भा० 1, पृ० 9
2. तत्त्वचिन्तामणि (पक्षता प्रकरण)।
3. पाश्चात्य दर्शन में हेतु, साध्य और पक्ष को क्रमशः Middle Term, Major Term तथा Minor Term कहा जाता है।

विपक्ष—वह स्थान, जहाँ साध्य का अभाव सर्वदा निश्चित हो, **विपक्ष** है। पर्वत पर धूम से वह्नि के अनुमान में धूम हेतु, वह्नि साध्य, पर्वत पक्ष, रसोईघर आदि सपक्ष और नदी-समुद्र आदि विपक्ष हैं।

अनुमान के दो अंग हैं, **व्याप्ति और पक्षधर्मता**। व्याप्ति के कारण हेतु के साथ, सामान्य रूप में (Without any reference to a specific place—the Minor term), साध्य की सत्ता प्रमाणित होती है और पक्षधर्मता के प्रभाव से साध्य का पक्ष के साथ सम्बन्ध सिद्ध होता है।[1]

व्याप्ति (Invariable Concomitance)

व्याप्ति न्याय शास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय है। प्राचीन न्याय-साहित्य में तो इस पर बहुत विचार नहीं किये गये हैं, किन्तु नव्य न्याय के विशालतम साहित्य के 80 प्रतिशत अंश व्याप्ति के विचार में ही लिखे गये हैं। इसके अनेक लक्षण हैं। किन्तु नैयायिकों की नजर में आज भी व्याप्ति का कोई पूर्ण और व्यवस्थित लक्षण नहीं है। साधारण रूप में व्याप्ति हेतु का साध्य के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है।[2] इस सम्बन्ध के मूल में किसी प्रकार की शर्त नहीं लगी रहती। शर्त को न्याय दर्शन में **'उपाधि'** कहा जाता है। इसलिए उपाधिशून्य सम्बन्ध को भी व्याप्ति कहते हैं। धूम का वह्नि के साथ जो सम्बन्ध है वह स्वाभाविक है, क्योंकि यदि किसी स्थान पर धूम है तो वहाँ वह्नि को, बिना किसी शर्त के, रहना ही है—धूम बिना वह्नि के रह नहीं सकता। इसलिए धूम की वह्नि के साथ व्याप्ति है इसी के चलते धूम वह्नि का अनुमान करानेवाला हेतु है। इसके विपरीत, वह्नि की धूम के साथ व्याप्ति नहीं है, क्योंकि वह्नि का धूम के साथ जो सम्बन्ध है वह स्वाभाविक नहीं, अपितु औपाधिक (Conditional) है। वह्नि के रहने मात्र से धूम का रहना आवश्यक नहीं है; आग में तपे लोहे में अग्नि के रहने पर भी धूम नहीं रहता। धूम के साथ अग्नि का रहना इस शर्त पर निर्भर है कि वह्नि भीगी लकड़ी या किसी अन्य भीगे ईंधन में लगी है। इसे 'आर्द्रेन्धनवह्निसंयोग' या 'आर्द्रेन्धनसंयोग' कहते हैं। अतः धूम के साथ वह्नि की व्याप्ति नहीं है। इसीलिए वह्नि को हेतु मानकर धूम का अनुमान नहीं किया जा सकता है।

उपाधि—उपाधि की परिभाषा भी विवादग्रस्त है। सामान्य रूप में साध्य के साथ सर्वत्र उपलब्ध और साधन के साथ कदाचित् अनुपलब्ध और कदाचित् उपलब्ध

---

1. त० भा०, पृ० 88-89
2. ता० टी० 1/1/5, पृ० 165

होनेवाला पदार्थ उपाधि कहलाता है (**साध्यव्यापकः सन् साधनाऽव्यापक उपाधिः**)।[1] धूप को साध्य और वह्नि को हेतु मानकर किये जाने वाले अनुमान में व्याप्ति के अभाव के समर्थन के लिए जो पूर्वोक्त आर्देन्धन-संयोग उपाधि के रूप में दिखलाया गया है, उसके साथ इस परिभाषा का समन्वय हो जाता है, क्योंकि जहाँ कहीं भी साध्य धूम है वहाँ आर्द्रेन्धन-संयोग (साध्य व्यापक) आवश्यक है, किन्तु हेतु वह्नि (साधन व्यापक) के साथ वह सर्वत्र नहीं है; कहीं है भी (जैसे, कच्ची लकड़ी में) और कहीं नहीं भी (जैसे, तपे लोहे में)। अतएव इसे उपाधि मानने में आपत्ति नहीं है।

(इस उपाधि के दो रूप हैं—**शंकित** और **समारोपित** (निश्चित)। जिस उपाधि की साध्य-व्यापकता या साधन-व्यापकता अथवा दोनों संदिग्ध हों वह शंकित और जिसके दोनों रूप निश्चित हों वह समारोपित उपाधि है। दोनों प्रकार की उपाधियाँ व्याप्ति के विरोधी प्रतिबंधक हैं। इसलिए व्याप्ति-निश्चयार्थ उपाधि के दोनों रूपों का अभाव होने का निश्चय भी अनिवार्य है।

इनमें निश्चित उपाधि यदि किन्हीं तत्त्वों के सम्बन्ध में हो तो उसका निराकरण असम्भव हो जाता है। किन्तु शंकित उपाधि का निराकरण सम्भव है। इसके दो प्रभेद हैं—योग्य और अयोग्य। योग्य शंकित उपाधि का निराकरण व्याप्ति के अनुग्राहक तर्क द्वारा होता है। अयोग्य उपाधि की तो सम्भावना और निराकरण दोनों ही अनावश्यक हैं।)

व्याप्ति के प्रकार

व्याप्ति के दो प्रकार हैं—(क) **अन्वय** और (ख) **व्यतिरेक**। हेतु का साध्य के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध अन्वय व्याप्ति है; जैसे, धूम की वह्नि के साथ व्याप्ति। इस व्याप्ति की दृष्टि से हेतु धूम को व्याप्य और साध्य वह्नि को व्यापक कहा जाता है। किन्तु साध्याभाव की हेत्वभाव के साथ व्याप्ति व्यतिरेक व्याप्ति है। इसमें साध्यभाव व्याप्य हो जाता है और हेत्वभाव व्यापक; जैसे—वह्न्यभाव की धूमाभाव के साथ व्याप्ति।

'**हेतुः साध्यव्याप्यः**' (हेतु साध्य का व्यापक है—साध्य के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध रखता है), अन्वय व्याप्ति की सूत्रात्मक और '**यत्र तत्र हेतुः तत्र तत्र साध्यम्**' यह इस व्याप्ति की विश्लेपणात्मक या व्याख्यात्मक अभिव्यक्ति है। इसी तरह '**साध्याभावो हेत्वभावव्याप्यः**' और '**यत्र यत्र साध्याभावः तत्र तत्र हेत्वभावः**' ये दोनों वाक्य व्यतिरेक व्याप्ति की क्रमशः सूत्रात्मक और व्याख्यात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं।

---

1. कारि॰ 138

इसी प्रसंग में हेतु के बारे में कुछ कह देना भी आवश्यक है। व्याप्ति के आधार पर हेतु साध्य का अनुमान करता है। इसलिए इसे साधन, साधक, लिंग, व्याप्य, अनुमापक आदि कहा जाता है। हेतु अन्वय या व्यतिरेक या दोनों व्याप्तियों के आधार पर साध्य का अनुमापक होता हो, तो वस्तुस्थिति—अनुमान के मूल्य—में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। फिर भी हेतु-विशेष के स्वरूप के अनुसार यह तो सत्य है कि कुछ हेतु केवल अन्वय व्याप्ति, कुछ केवल व्यतिरेक व्याप्ति और कुछ दोनों ही व्याप्तियों के आधार पर अपने साध्य के अनुमान में समर्थ होते हैं। प्रथम वर्ग के हेतु को 'केवलान्वयी', दूसरे वर्ग के हेतु को 'केवल-व्यतिरेकी' और तीसरे वर्ग के हेतु को 'अन्वय-व्यतिरेकी' कहते हैं। न्याय-वैशेषिक के अनुसार ज्ञेयत्व (Knowability) तथा अभिधेयत्व (Nameability) आदि केवलान्वयी हेतु हैं। कोई भी छोटा या बड़ा, आध्यात्मिक या आधिभौतिक या आधिदैविक पदार्थ हो, न्याय-वैशेषिक उसे ज्ञेय और अभिधेय अवश्य मानता है। इसलिए ज्ञेयत्व आदि धर्म सर्वत्र वर्तमान हैं, इनका अभाव —अत्यन्ताभाव (Absolute absence) कहीं नहीं है। तभी यह सम्भव भी है कि इनकी एकमात्र अन्वय व्याप्ति बनती है। इसीलिए 'अत्यन्ताभावाऽप्रतियोगी'—जिसका अत्यन्ताभाव कहीं नहीं रहता है उस तत्त्व को न्याय शास्त्र में केवलान्वयी कहा गया है। जीवित शरीरों को आत्मयुक्त सिद्ध करने के लिए 'प्राणादि-सम्पन्नत्व' को हेतु मानते हैं। इस हेतु की एकमात्र व्यतिरेक व्याप्ति बन पाती है, अन्वय व्याप्ति का दृष्टान्त नहीं मिल पाता है। अतः इसे 'केवल-व्यतिरेकी' हेतु कहा जाता है। पर्वत पर अग्नि के अनुमान में साधन का कार्य करनेवाला धूम 'अन्वय-व्यतिरेकी' हेतु है, क्योंकि इसकी अन्वय व्याप्ति तथा व्यतिरेक व्याप्ति दोनों हो सकती हैं।

इस व्याप्ति के, दूसरी दृष्टि से भी, दो प्रकार हैं :—**सम व्याप्ति** और **विषम व्याप्ति**। जिस हेतु और साध्य की सत्ता का क्षेत्र शत-प्रतिशत समान होता है उनकी पारस्परिक व्याप्ति सम व्याप्ति है। ज्ञेयत्व की अभिधेयत्व के साथ व्याप्ति सम व्याप्ति है, क्योंकि दोनों के केवलान्वयी होने के कारण दोनों की सत्ता का क्षेत्र शत-प्रति-शत समान है। ऐसे प्रसंग में साध्य को हेतु के रूप में और हेतु को साध्य के रूप में, अनुमान करनेवाले की इच्छा के अनुसार, रखा जा सकता है। परन्तु जिस हेतु की सत्ता की सीमा साध्य की सीमा से छोटी होती है, दूसरे शब्दों में, जो साध्य हेतु के अभाव के आधार में भी वर्तमान रहता है, उसके साथ हेतु की **विषम व्याप्ति** है, जैसे, वह्नि के साथ धूम की व्याप्ति। विषम व्याप्ति के प्रसंग में हेतु और साध्य का विनिमय नहीं हो सकता है।

व्याप्ति-निश्चय का उपाय

व्याप्ति-ज्ञान[1] का एक साधन सहचार का ज्ञान (Knowledge of Agreement) है। यह सहचार हेतु का साध्य के साथ और साध्याभाव का हेत्वाभाव के साथ होना चाहिए। प्रथम सहचार को **अन्वय सहचार** (Agreement in Presence) तथा द्वितीय को व्यतिरेक सहचार (Agreement in absence) कहा जाता है। केवलान्वयी हेतु के लिए अन्वय सहचार, केवल-व्यतिरेकी हेतु के लिए व्यतिरेक सहचार और अन्वय-व्यतिरेकी हेतु के लिए दोनों सहचारों का ज्ञान अनिवार्य है। हेतु और साध्य के 99 प्रतिशत सहचार होने पर भी यदि 1 प्रतिशत व्यभिचार[2] निश्चित या सन्दिग्ध हो तो व्याप्ति नहीं मानी जा सकती है। इसलिए व्यभिचाराज्ञान—व्यभिचार का अग्रहण भी अपेक्षित है।[3] हमारी दृष्टि में ऐसा कोई भी दृष्टांत नहीं आना चाहिए जहाँ हेतु के रहने पर भी साध्य की सत्ता न हो (अन्वय-व्यभिचार) अथवा साध्याभाव के रहने पर भी हेतु का अभाव न हो (व्यतिरेक व्यभिचार)। केवलान्वयी हेतु के लिए अन्वय व्यभिचार का, केवल-व्यतिरेकी के लिए व्यतिरेक व्यभिचार का और अन्वय-व्यतिरेकी हेतु के लिए दोनों व्यभिचारों का ज्ञान न होना चाहिए। व्यभिचार उपाधि (Condition) पर आश्रित होता है। इसलिए व्यभिचाराज्ञानार्थ उपाधि के अभाव का निश्चय अनिवार्य है। यह कार्य **भूयोदर्शन** (Repeated realisation of Agreement in presence and absence) से या तर्क से सम्पन्न होता है। इस प्रकार व्यभिचार के ज्ञान के अभाव में भूयोदर्शन से उत्पन्न संस्कार (Impression) की सहायता से इन्द्रिय ही व्याप्ति-निश्चय करती है।[4] गंगेश उपाध्याय ने इसे और भी स्पष्ट तथा प्रौढ़ रूप में देने के लिए सामान्य-लक्षणा सन्निकर्ष से सभी धूमों और वह्नियों के साहचर्य का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान माना है। सब प्रकार

---

1. पाश्चात्य दर्शन शास्त्र में इसे Induction कहते हैं। यह पाश्चात्य दर्शन का एक स्वतन्त्र विषय है। किन्तु भारतीय दर्शन में इसे अनुमान का अंग माना गया है।
2. सहचार विरोधी व्यभिचार (Disagreement) है। इसके भी दो रूप हैं—अन्वय व्यभिचार (Disagreement in presence) तथा व्यतिरेक व्यभिचार (Disagreement in absence)। हेतु के रहने पर भी साध्य का न रहना अन्वय व्यभिचार है। और साध्याभाव के रहने पर भी हेत्वाभाव का न रहना व्यतिरेक व्यभिचार है।
3. कारि० 137

ता० टी०, पृ० 166-67, त० भा०, पृ० 76

से निष्कर्ष यही निकलता है कि व्याप्ति का निश्चय हेतु तथा साध्य के सहचार के कहीं प्रत्यक्ष होने पर प्रत्यक्ष-बाह्य अलौकिक प्रत्यक्ष (Extra-ordinary external Sense-perception) से ही होता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि अन्य प्रसंगों में अनुमान आदि प्रमाणों से व्याप्ति का निश्चय होता ही नहीं।[1]

(व्याप्ति-निश्चय के प्रसंग में अन्य दार्शनिकों के मत तथा उनके खण्डन के लिए 'The Nyaya Theory of Knowledge' का 12 वाँ अध्याय देखना चाहिए।)

पक्षधर्मता

धर्म शब्द का दर्शन शास्त्र में बड़ा ही व्यापक अर्थ है। पक्ष का धर्म होना, **विशेषण** होना, ही हेतु की **पक्षधर्मता** है। इसलिए संस्कृत में इसकी अभिव्यक्ति 'हेतुमान् पक्षः', धूमवान् पर्वतः' इस रूप में होती है। इसके ज्ञान से ही हेतु और साध्य की पूर्वानुभूत व्याप्ति का स्मरण होता है। यह अनुमान का दूसरा प्रमुख अंग है। इसी से साध्य का एक विशेष आधार-पक्ष के साथ सम्बन्ध निश्चित होता है।

परामर्श या लिंग-परामर्श

पक्षधर्मता-ज्ञान के बाद व्याप्ति का स्मरण होता है, यह कहा जा चुका है। **परामर्श** पक्षधर्मता-ज्ञान और व्याप्ति-ज्ञान का सम्मिश्रित रूप है।[2] व्याप्ति-ज्ञान **'साध्यव्याप्यो हेतुः'** और पक्षधर्मता-ज्ञान **'हेतुमान् पक्षः'** का सम्मिश्रण **'साध्यव्याप्यहेतुमान् पक्षः' वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः'** (साध्य के साथ व्याप्ति रखनेवाला जो हेतु है उससे सम्पन्न यह पक्ष है। इसीलिए इसे **'विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान**[3] व्याप्ति से विशिष्ट जो हेतु है, उससे विशिष्ट पक्ष का विषय बनानेवाला ज्ञान भी कहा जाता है।[4]

अन्य दार्शनिकों में सांख्य, मीमांसक आदि और वैशेषिकों में भी श्रीधराचार्य पक्षधर्मता-ज्ञान और व्याप्ति-स्मरण से ही अनुमिति की उत्पत्ति मानकर परामर्श की अपेक्षा नहीं मानते हैं, किन्तु नैयायिक तथा अन्य वैशेषिक इससे सहमत नहीं हैं।[5]

---

1. ता० टी०, पृ० 167
2. त० सं०, पृ० 34
3. मुक्तावली, कारि० 68
4. व्याप्ति तथा पक्षधर्मता के ज्ञान के रूप में दो बार हेतु ज्ञान हो जाने के बाद ही परामर्श होता है। इसीलिए इसे हेतु का, अनुमिति के प्रसंग में, तीसरा ज्ञान भी कहते हैं। देखिए, त० भा०, पृ० 77
5. मुक्तावली, कारि० 68

वे परामर्श को अनुमिति का आवश्यक साधन मानते हैं। 'सामान्य' तथा 'विशेष' की साथ-साथ प्रतीति के लिए इसकी आवश्यकता सुस्पष्ट है। इसके बाद ही अनुमिति होती है।

अनुमान-प्रमाण

ऊपर दिये गये विवरण के अनुसार अनुमिति की निम्न-निर्दिष्ट पद्धति स्पष्ट होती है :—

व्याप्ति-ज्ञान (अनुभवात्मक)
|
पक्षधर्मता-ज्ञान
|
व्याप्ति-ज्ञान से उत्पन्न संस्कार का उद्‌बोधन
|
व्याप्ति-स्मरण
|
परामर्श
|
अनुमिति
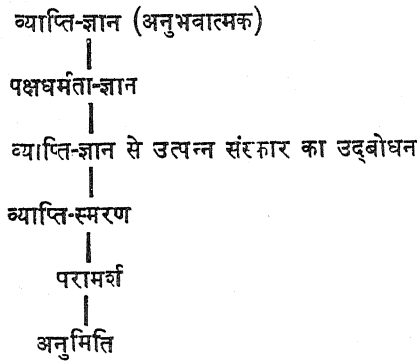
इनमें से व्याप्ति-स्मरण और परामर्श को अनुमान-प्रमाण मानने की दो प्रसिद्ध परम्पराएँ हैं।[1] इसका आधार कारण—प्रमा के मुख्यतम साधन की परिभाषा में मतभेद है।

अनुमिति के प्रकार

न्याय दर्शन में अनुमिति के कई दृष्टियों से विभाजन किये गये हैं। अनुमिति के उद्‌देश्य से साक्षात् सम्बन्ध जिनका हो सकता है उन्हें हम दो भागों में बाँट सकते हैं—स्व और पर। इस दृष्टि से अनुमिति के दो प्रकार हो जाते हैं—स्वार्थ और परार्थ। इसे मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण कहते हैं।

उपर्युक्त सब तत्त्व दोनों—स्वार्थ और परार्थ—अनुमितियों के लिए आवश्यक हैं। किन्तु अन्तर यह है कि अपने समझने की अपेक्षा दूसरों को समझाने में अधिक कठिनाई स्वाभाविक होने के कारण परार्थानुमिति में इन तत्त्वों को एक क्रमबद्ध तर्क-वितर्क-पूर्ण रूप में प्रस्तुत करना पड़ता है। इसी रूप को **'न्याय'—पंचावयव वाक्य'**

---

1. विशेष विवरण के लिए देखिये, वैशेषिक दर्शन, एक अध्ययन, पृष्ठ 173-74

(Five-membered Syllogism) कहते हैं। इसलिए परार्थानुमिति को 'न्याय' से प्रयोज्य अनुमिति भी कहते हैं।[1] 'न्याय' के पाँच अवयव निम्नलिखित हैं[2]—

प्रतिज्ञा—पक्ष के साथ साध्य का सम्बन्ध बतलाना **प्रतिज्ञा** है, ऐसी अभिव्यक्ति करनेवाला वाक्यांश प्रतिज्ञा-वाक्य कहलाता है, जैसे, "पर्वतः वह्निमान्' (पर्वत पर आग है या पर्वत आग से सम्पन्न है)।

हेतु—व्याप्ति के आधार पर साध्य की सत्ता प्रमाणित करनेवाला तत्त्व **हेतु** है। इसके तीन रूप बतलाये जा चुके हैं—**केवलान्वयी, केवल-व्यतिरेकी** और **अन्वय-व्यतिरेकी**। प्रथम हेतु की चार योग्यताएँ आवश्यक हैं—पक्ष में सत्ता, सपक्ष में भी सत्ता, असत्प्रतिपक्षित और अबाधित विषय होना।[3] दूसरे हेतु की भी चार—पक्ष में सत्ता, विपक्ष में अभाव, असत्प्रतिपक्षित और अबाधित-विषय होना एवं तीसरे हेतु की सब मिलाकर पाँच योग्यताएँ अपेक्षित हैं। प्रत्येक योग्यता एक-एक हेत्वाभास के निराकरणार्थ है। उक्त उदाहरण में '**धूमात्**' हेतु है।

उदाहरण—दृष्टान्त के साथ-साथ व्याप्ति का प्रतिपादन करना उदाहरण है; जैसे, '**यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः, यथा महानसम्**' अथवा '**यत्र यत्र वह्न्यभावः तत्र तत्र धूमाभावः**, यथा **समुद्रः**।' केवलान्वयी हेतु के दृष्टान्त को अन्वय-दृष्टान्त (Positive example) और केवल-व्यतिरेकी हेतु के दृष्टान्त को व्यतिरेक-दृष्टान्त (Negative example) कहते हैं।[4]

उपनय—दृष्टान्त की स्थिति से पक्ष की स्थिति की तुलना करना **उपनय** है। अन्वय-व्याप्ति के प्रसंग में सपक्ष और पक्ष की समता दिखलाई जाती है—"**तथा चायम्**' (वह्नि के साथ व्याप्ति रखनेवाले धूम से जिस प्रकार महानस सम्पन्न है उसी प्रकार यह पर्वत भी धूम से सम्पन्न है) और व्यतिरेक व्याप्ति के प्रसंग में विपक्ष और पक्ष की विषमता—'न चायं तथा' (वह्नि के साथ व्याप्ति रखनेवाले धूम से रहित समुद्र की तरह यह पक्ष—पर्वत नहीं है अपितु धूम से युक्त है)। इसलिए उपनय के भी अन्वयोपनय और व्यतिरेकोपनय नाम के दो भेद हैं। यह उपनय परामर्श का ही दूसरा नाम है।

---

1. न्या० बो०, पृ० 38
2. पंचावयव का विवरण जानने के लिए न्या० सू० 1/32 से 39 तक द्रष्टव्य हैं।
3. सत्प्रतिपक्ष और बाध नाम के दो हेत्वाभास हैं। इन दोनों से भिन्न हेतु को ही असत्प्रतिपक्षित तथा अबाधित-विषय कहा गया है।
4. अन्वय-दृष्टान्त सपक्ष का और व्यतिरेक-दृष्टान्त विपक्ष का पर्याय है।

निगमन—प्रतिज्ञा-वाक्य का उपसंहार (Conclusion) **निगमन** है। अन्वयोपनय से होनेवाला निगमन अन्वय-निगमन—'तस्मात्तथा' (इसलिए यह पर्वत भी महानस की तरह वह्निमान् है) और व्यतिरेकोपनय पर आश्रित निगमन व्यतिरेक-निगमन—'तस्मान्न तथा' (इसीलिए यह पर्वत समुद्र के समान वह्नि के अभाव से युक्त नहीं है) कहलाता है। किन्तु उदयनाचार्य आदि कुछ नैयायिक व्यतिरेक-व्याप्ति से भी अन्वय-व्याप्ति का संकेत मानकर व्यतिरेकात्मक निगमन के पक्ष में नहीं हैं।

(कुछ प्राचीन नैयायिक (1) **जिज्ञासा**, (2) **संशय**, (3) **शक्य-प्राप्ति**—प्रमाणों में पदार्थ-तत्त्व-ज्ञान की क्षमता, (4) **प्रयोजन**, (5) **संशय-व्युदास**—संशय का निराकरण, (6) **प्रतिज्ञा**, (7) **हेतु**, (8) **उदाहरण**, (9) **उपनय** और (10) **निगमन** नाम के 10 अवयव मानते थे[1]; किन्तु इसे अन्य नैयायिक नहीं मानते। इनके अतिरिक्त सांख्य, मीमांसक—प्राभाकर तथा भाट्ट दोनों ही—प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण को अथवा उदाहरण, उपनय और निगमन को; बौद्ध और कुछ जैन आचार्य हेतु मात्र अथवा हेतु एवं उदाहरण को ही अनुमान के आवश्यक अवयव मानते हैं।)

दूसरी दृष्टि से अनुमिति के तीन रूप हैं—(1) **पूर्ववत्**, (2) **शेषवत्** और (3) **सामान्यतोदृष्ट**।[2] कारण से कार्य की अनुमिति—घने काले बादल को देखकर वर्षा होने की अनुमिति—पूर्ववत् है। अथवा परस्पर व्याप्ति रखनेवाले दो तत्त्वों—वह्नि और धूम—में से व्याप्य (धूम) को देखकर परोक्ष व्यापक (वह्नि) की अनुमिति **पूर्ववत्** है। कार्य—मलिन नवीन प्रवाह—को देखकर कारण—भूतपूर्व वर्षा—की अनुमिति शेषवत् है। अथवा युक्तिपूर्वक प्रतिषेध (Elimination) के माध्यम से वास्तविकता की अनुमिति **शेषवत्** है; जैसे, शब्द एक गुण है, इसका समवायि कारण एकमात्र द्रव्य हो सकता है। द्रव्य नौ हैं। इनमें से युक्ति के आधार पर पृथिवी, जल, तेज, वायु, काल, आत्मा और मन, इन आठ द्रव्यों का जब शब्द के समवायि कारण होने का निराकरण हो जाता है तब अन्ततः यह अनुमिति हो जाती है कि शब्द का आधार कोई अन्य द्रव्य—आकाश है। यह अनुमिति शेषवत् अनुमिति है। ये दोनों ही अनुमितियाँ कार्य-कारण के सिद्धान्त पर आश्रित हैं (प्रथम व्याख्या के अनुसार)। किन्तु सामान्यतोदृष्ट अनुमिति कार्य-कारण-भाव के बिना, मात्र व्याप्ति के आधार पर, एक से दूसरे पदार्थ की अनुमिति है; जैसे, पृथिवीत्व से द्रव्यत्व की अनुमिति। अथवा

---

1. न्या० भा०, 1/1/32
2. न्याय० सू०, 1/1/5

सादृश्य-मूलक अनुमिति सामान्यतोदृष्ट है; जैसे, खाने-पीने आदि क्रियाओं के कारण को देखकर देखने-सुनने आदि क्रियाओं अर्थात् करण—इन्द्रियों की अनुमिति ।[1]

(सांख्यकारिका की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने **अनुमिति के दो भेद—वीत** तथा **अवीत** माने हैं ।[2] इनमें पूर्ववत् तथा सामान्यतोदृष्ट वीत के प्रभेद हैं और शेषवत् एवम् अवीत एक ही हैं ।)

तीसरी दृष्टि—व्याप्ति के स्वरूप के ऊपर आश्रित दृष्टि—से भी अनुमिति के तीन प्रकार हैं—(1) **केवलान्वयी**, (2) **केवल-व्यतिरेकी** और (3) **अन्वय-व्यतिरेकी** । अन्वय-व्याप्ति, व्यतिरेक-व्याप्ति तथा अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही व्याप्तियों पर आश्रित अनुमितियाँ क्रमशः केवलान्वयी, केवल-व्यतिरेकी और अन्वय-व्यतिरेकी हैं । कुछ लोग इन तीनों को क्रमशः पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट के पर्याय मानते हैं ।[3]

हेत्वाभास

हेतु का पूर्ण ज्ञान हेत्वाभास के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता । इसलिए हेत्वाभास की व्याख्या विस्तार के साथ न्याय दर्शन में की गई है । **'हेतुवत् आभासन्ते इति हेत्वाभासाः'** इस व्युत्पत्ति से दोषयुक्त हेतु और **'हेतोराभासाः'** इस व्युत्पत्ति से हेतु के दोष हेत्वाभास शब्द का अर्थ होता है । प्राचीन नैयायिक प्रसंगानुसार दुष्टहेतुवाचक हेत्वाभास की और नव्य नैयायिक हेतु-दोषवाचक हेत्वाभास की व्याख्या करते हैं ।

हेत्वाभास—दुष्ट हेतु—की सामान्य परिभाषा है, हेतु की पूर्वोक्त 4 या 5 योग्यताओं से हीन होना । हेतु में सभी योग्यताएँ पाई जाती हैं, हेत्वाभास में सब नहीं । ये हेत्वाभास अनुमिति के अथवा इसके कारण व्याप्ति-ज्ञान, पक्षधर्मता-ज्ञान या परामर्श के विरोधी होने से अनुमिति के प्रतिबन्धक हैं । इसकी संख्या साधारण दृष्टि से भी 2032 है और सूक्ष्म दृष्टि से तो अनन्त है ।[4] फिर भी व्यवहार-निर्वाह के लिए महर्षि गौतम ने (1) **सव्यभिचार**, (2) **विरुद्ध**, (3) **प्रकरणसम**, (4) **साध्यसम** और (5) **अतीतकाल** नाम के पाँच हेत्वाभास माने हैं ।[5] इनमें सव्यभिचार को अनैकान्तिक, प्रकरणसम को सत्प्रतिपक्ष, साध्यसम को असिद्ध और अतीतकाल को काला-

---

1. विशेष जानकारी के लिए न्या० वा०, 1/1/5 आदि ग्रन्थ देखने चाहिए ।
2. सां० का०, 5
3. वि० वृ० 1/1/5
4. न्या० वा०, 1/2/4
5. न्या० सू०, 1/2/4

त्ययापदिष्ट अथवा बाधित या बाधितविषय भी कहते हैं। नाम-भेद का आधार वास्तविक दृष्टि से तो कुछ अर्थ-भेद भी है। किन्तु इसे न्याय शास्त्र में विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है।

(1) **सव्यभिचार**—इसके दो उपभेद हैं—(1) **साधारण** और (2) **असाधारण**।[1] पक्ष और सपक्ष के साथ-साथ विपक्ष में भी रहनेवाला हेत्वाभास **साधारण** है। जैसे—'पर्वत पर धुआँ है, क्योंकि वहाँ आग है' इसमें आग हेतु के रूप आई है। यह पक्ष—पर्वत, सपक्ष—महानस और विपक्ष—सन्तप्त लौहखण्ड में वर्तमान होने से साधारण हेत्वाभास है। विपक्ष में रहने के कारण यह दुष्ट है। पक्ष मात्र में रहनेवाला हेत्वाभास **असाधारण** है। जैसे—'पृथिवी नित्य है, क्योंकि यह गन्धयुक्त है।' गन्ध हेतु है। यह सपक्ष—आत्मा आदि नित्य द्रव्यों में भी न रहने के कारण हेत्वाभास है।

(2) **विरुद्ध**—साध्य के किसी भी आधार—पक्ष और सपक्ष—में न रहनेवाला हेत्वाभास **विरुद्ध** है। जैसे, 'यह गाय है, क्योंकि इसमें अश्वत्व है।' यह अश्वत्व-साध्य, गोत्व के किसी भी आधार में समवाय सम्बन्ध से वर्तमान न होने के कारण, विरुद्ध हेत्वाभास है। उपर्युक्त परिभाषा में असाधारण और विरुद्ध के अन्तर का स्पष्ट रूप नहीं मिल पाता है। अतः साध्याभाव के साथ व्याप्ति रखनेवाला हेत्वाभास विरुद्ध है, यह दूसरी परिभाषा की गई है।

(3) **प्रकरणसम**—इसमें हेतु और प्रतिहेतु का संघर्ष होता है। संघर्ष दो प्रकार का होता है—समबल दो तत्त्वों में और विषमबल दो तत्त्वों में भी। प्रथम संघर्ष होने पर **सत्प्रतिपक्ष** हेत्वाभास और दूसरा संघर्ष होने पर **बाधित** हेत्वाभास होता है। इसीलिए साध्याभाव को सिद्ध करनेवाला दूसरा विरोधी समबल हेतु जिस हेतु का प्रस्तुत हो जाता है वह सत्प्रतिपक्ष है—ऐसी परिभाषा की जाती है। जैसे, एक पक्ष का कहना है—'शब्द नित्य है, क्योंकि इसमें अनित्यता का कोई चिह्न नहीं दीखता है'। इसपर दूसरे पक्ष का प्रतिवाद है—'शब्द अनित्य है, क्योंकि इसमें नित्यता का कोई चिह्न नहीं दीखता है'। इनमें से प्रथम हेत्वाभास सत्प्रतिपक्ष है और दूसरा प्रतिपक्ष। वक्तव्य को उलट देने पर, दूसरे को प्रथम और प्रथम को दूसरा वक्तव्य मान लेने पर, दूसरा ही सत्प्रतिपक्ष हो जाता है और अभी जो पहला है वह प्रतिपक्ष। इसीलिए इन दोनों में से किसी के आधार पर अनुमिति होना सम्भव नहीं है। इसमें

---

1. इसका अनुपसंहारी नाम का एक तीसरा भेद भी कुछ नैयायिकों ने माना है। किन्तु यह सर्वसम्मत नहीं है। हेत्वाभास का विशेष विवरण जानने के लिए न्या० सू०, 1/2/5 सें 1/2/9 सूत्रों से सम्बद्ध न्याय-साहित्य का मनन आवश्यक है।

अपने-अपने साध्य के साथ दोनों की व्याप्ति है अवश्य, परन्तु पक्ष का हेतु से सम्पन्न होना इतना अस्पष्ट है कि इसके आधार पर कुछ निर्णय लेना असम्भव है।

(4) **साध्यसम**—इसका प्रसिद्ध नाम **असिद्ध** है। इसके तीन उपदेश हैं—(1) **आश्रयासिद्ध**, (2) **स्वरूपासिद्ध** और (3) **व्याप्यत्वासिद्ध**। जिस हेतु का आश्रय (पक्ष) प्रमाण-सिद्ध न हो वह **आश्रयसिद्ध** है। जैसे—'आकाशकमल बड़ा ही सुगन्धित है, क्योंकि यह एक कमल का फूल है'। इसमें कमल का फूल होना आश्रयासिद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि इसका पक्ष—आकाश-कमल—मिथ्या पदार्थ है। **स्वरूपासिद्ध** वह हेत्वाभास है जिसका स्वरूप प्रमाण-सिद्ध न हो। जैसे, 'यह पर्वत बहुत मूल्यवान है, क्योंकि यह सुवर्णमय है'। पर्वत का सुवर्णमय होना प्रमाण-विरुद्ध है। अतः यह स्वरूपासिद्ध है। यदि किसी हेतु का निर्माण अनेक भागों से हुआ हो तो उसमें किसी या किन्हीं भागों का अप्रामाणिक होना भी स्वरूपासिद्ध है। इसे प्रसिद्ध शब्द में **भागासिद्ध** कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं। **व्याप्यत्वासिद्ध** वह हेत्वाभास है जिसकी साध्य के साथ व्याप्ति में कोई प्रमाण न हो या साध्य के साथ सम्बन्ध ही उपाधि पर निर्भर हो। जैसे, 'यह टेबुल क्षणभंगुर है, क्योंकि यह सत् है।' इस अनुमिति में सत्त्व हेतु है और क्षण-भंगुरता साध्य। इसकी व्याप्ति 'यत् यत् सत् सत् क्षणभंगुरम्' (जो जो सत् है वह क्षणिक है) प्रमाण-सिद्ध नहीं है; हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि टेबुल आदि सत् होने के साथ-साथ स्थिर हैं, क्षणभंगुर नहीं। इसी प्रकार 'यह पर्वत धूमवान् है, क्योंकि यह वह्निमान् है' इस वाक्य में प्रयुक्त वह्नि व्याप्यत्वासिद्ध है, क्योंकि इसका धूम के साथ सम्बन्ध आर्द्रेन्धनसंयोगस्वरूप उपाधि पर निर्भर है।

(इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि अनेक ऐसे हेत्वाभास हैं जिनमें कई प्रकार की त्रुटियाँ पाई जाती हैं। एक ही हेत्वाभास एक दृष्टि से व्याप्यत्वासिद्ध और दूसरी दृष्टि से साधारण हेत्वाभास भी हो सकता है; जैसे, यही वह्नि साधारण और व्याप्य-त्वासिद्ध दोनों है। किन्तु इससे कोई क्षति नहीं होती। जो कभी पहले नजर में आती है उसी के आधार पर हम उसका स्वरूप-निर्धारण करते हैं। यदि पहले विपक्ष में वह्नि की सत्ता नजर में आ जाय तो इसे साधारण मानेंगे और यदि इसके सम्बन्ध की औपाधिकता पर पहले ध्यान पड़ जाय तो इसे व्याप्यत्वासिद्ध कहेंगे। अनुमिति का विघटन तो सर्वथा हो ही जाता है।[1])

(5) **अतीतकाल**—जिस समय जो वस्तु पक्ष में वर्तमान न हो उस समय उसकी अनुमिति करने के लिए प्रयुक्त साधन **अतीतकाल** नामक हेत्वाभास हो जाता है। जैसे,

---

1. त० भा०, पृ० 246-247

न्यायसिद्धान्त के अनुसार उत्पत्ति के क्षण में द्रव्य—पृथिवी आदि को निर्गुण तथा निष्क्रिय माना जाता है। इसलिए 'उत्पत्तिकाल का घड़ा गन्धयुक्त है, क्योंकि यह एक पार्थिव पदार्थ है' में 'पार्थिव पदार्थ होना' हेतु न होकर अतीतकाल नाम का हेत्वाभास है, क्योंकि उत्पत्तिकाल में पक्ष—घड़ा, साध्य—गन्ध से रहित है। **बाधित** नाम से भी यही बात निकलती है, किन्तु इसका अर्थ, सूक्ष्म विवेचन पर, कुछ भिन्न-सा है। इसमें समय का नियंत्रण नहीं होता। प्रथम उदाहरण में उत्पत्तिकाल मात्र में पक्ष में साध्याभाव प्रमाण-सिद्ध है; किन्तु बाधित के उदाहरण—'अग्नि शीतल है, क्योंकि यह एक द्रव्य है' में अग्नि में शीतलता का अभाव एक त्रैकालिक सत्य है।

उपमिति

न्याय दर्शन का तीसरा अनुभवात्मक ज्ञान **उपमिति** है। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें उपमा-सादृश्य-साधर्म्य तुलना का बहुत महत्त्व है। अप्रसिद्ध, अपरिचित पदार्थ को समझना आवश्यक होता है। उपमा के आधार पर यह कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है जब उपमान (जिसकी उपमा दी जाती है) से वह व्यक्ति, जिसे समझाना है, सुपरिचित हो। अतएव प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य के आधार पर अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना उपमिति है।[1] निम्नलिखित उदाहरण से यह सुस्पष्ट हो जाता है—

मान लीजिये, राम नाम का एक व्यक्ति है। वह गाय को अच्छी तरह पहचानता है। वह यह भी जानता है कि जंगल में एक 'गवय' (Gayal) नाम का प्राणी होता है। किन्तु किस जीव को गवय कहा जाता है, यह ज्ञान उसे नहीं है। गवय की जानकारी प्राप्त करने की अपनी उत्सुकता को शान्त करने के लिए वह कदाचित् जंगली जीवों से सुपरिचित सज्जन से पूछ बैठता—गवय किस प्रकार का जीव होता है? वे सज्जन उत्तर देते हैं—गाय की तरह (**गोसदृशः गवयः**)। इस उत्तर को पारिभाषिक रूप में **'अतिदेश-वाक्य'** कहते हैं। यह उत्तर पाकर जब राम कभी जंगल जाता है और उसके सामने गाय के समान एक चतुष्पद प्राणी आ जाता है तो वह उसे देखकर 'अतिदेश-वाक्य' के अर्थ की याद (अतिदेश-वाक्यार्थ-स्मरण) करता है। अन्त में वह निर्णय कर लेता है कि इसी चतुष्पद प्राणी को 'गवय' कहते हैं। दूसरे शब्द में, यही प्राणी गवय शब्द का वाच्यार्थ है। गवय शब्द संज्ञा है और वह प्राणी संज्ञी। इसलिए इसी तथ्य को हम **'संज्ञा-संज्ञी-सम्बन्ध'** की प्रतीति भी कह

---

1. न्या० सू०, 1/1/6

सकते हैं ।[1] संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध को ही शक्ति (संकेत) भी कहा जाता है । अतः उक्त विषय को **शक्तिज्ञान, संकेतग्रह** आदि भी कहना उचित ही है । जंगल जाने के बाद राम के ये ज्ञान होते हैं—(क) गोसदृश जीव का प्रत्यक्ष[2] (गवय का और उसमें वर्तमान गोसादृश्य का प्रत्यक्ष); (ख) अतिदेश-वाक्यार्थ का स्मरण और (ग) संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध (शक्ति) का ज्ञान । इनमें अन्तिम ज्ञान प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सम्भव नहीं है । अतः इसके साधन के रूप में उपमान का स्वतंत्र प्रमाण मानना अनिवार्य है ।

उपमान प्रमाण

उपर्युक्त तीन ज्ञानों में प्रथम ज्ञान—गो-सादृश्य का प्रत्यक्ष **उपमान प्रमाण** है और उसके तथा उसके फल के बीच प्रस्तुत अतिदेश-वाक्यार्थ का स्मरण अवान्तर व्यापार है ।[3] सादृश्य-ज्ञान के अतिरिक्त भेद-ज्ञान—वैसादृश्यज्ञान—भी उपमान प्रमाण होता है ।[4] जैसे—'ऊँट घोड़े की तरह समतल पृष्ठ और छोटी गर्दनवाला नहीं होता ।' यह वैधर्म्य (घोड़े से ऊँट का) ऊँट शब्द के वाच्यार्थ के ज्ञापक—संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध (शक्ति) के ज्ञान का साधन—होने के कारण उपमान प्रमाण है । इसी तरह असाधारण धर्म का ज्ञान—असाधारणधर्म-विशिष्ट पदार्थ का ज्ञान भी, शक्ति ज्ञान का साधन—उपमान प्रमाण का एक प्रकार है ।[5] जैसे—'बहुत लम्बी गर्दनवाले, काँटेदार घास खानेवाले, विषम पीठवाले अधम पशु करभ (ऊँट) को धिक्कार है ।' यह वक्तव्य करभ के असाधारण धर्मों का ज्ञापक है । इससे करभ के असाधारण धर्मों के ज्ञान से करभ पद की शक्ति का ज्ञान होता है । इस प्रकार सादृश्य-ज्ञान—सादृश्यविशिष्ट पदार्थ का ज्ञान, वैधर्म्य-ज्ञान—वैधर्म्य-विशिष्ट पदार्थ का ज्ञान और असाधारण-धर्म-ज्ञान—असाधारणधर्म-विशिष्ट पदार्थ का ज्ञान उपमान प्रमाण है ।

(उपमिति तथा उपमान प्रमाण के स्वरूप तथा इसके स्वतन्त्र प्रमाण होने में दार्शनिकों का मतैक्य नहीं है । विशेष रूप में, वैशेषिक लोग इसके प्रबल विरोधी हैं । उनके अनुसार अनुमान से ही शक्ति-ज्ञान सम्भव है, उपमान स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है । किन्तु न्याय शास्त्र इससे सहमत नहीं है ।)[6]

---

1. न्याय० कु०, 3/10
2. इसे सादृश्ययुक्त जीव का ज्ञान और संक्षेप में सादृश्य-ज्ञान भी कहते हैं । सादृश्य-ज्ञान उपमान प्रमाण है, इस कथन का भी यही अर्थ है ।
3. कारि०, पृ० 79/80
4. न्या० कु०, हरिदासी वृत्ति, 3/12
5. सि० च०, पृ० 29
6. न्या० कु०, 3/10-12

शब्द-बोध या शब्द-ज्ञान

कर्णेन्द्रिय द्वारा जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वही गुण शब्द है। इसके दो रूप हैं---अव्यक्त और व्यक्त। इन्हीं को क्रमशः ध्वनि और वर्ण भी कहा जाता है। शास्त्रीय विवेचन सर्वदा व्यक्त शब्द का ही होता है। प्रमाण के रूप में व्यक्त शब्द ही लिया जाता है। इसके भी तीन रूप हैं---वर्ण, पद और वाक्य। चूँकि एक पूर्ण अर्थ की प्रतीति वाक्य से ही होती है, इसलिए शब्द का प्रमुख रूप वाक्य है---यही शब्द की आवश्यकता का पूरक---अपने अभिप्राय को दूसरों तक पहुँचाने के कार्य (Communication of ideas) का साधन है। इसलिए '**शब्द-बोध**' के अन्तर्गत आए 'शब्द' को वाक्य का पर्याय मानना चाहिए। यही कारण है कि शब्द-बोध को वाक्यार्थ-ज्ञान भी कहते हैं। यही शब्द-बोध---शब्द-वाक्य---से होनेवाला अर्थ-ज्ञान न्याय शास्त्र का चौथा अनुभव है। इसी का यथार्थ स्वरूप **शाब्दी प्रमा** है।

शब्द प्रमाण

ऊपर कहा गया है कि वाक्य से वाक्यार्थ-ज्ञान होता है। इसलिए वाक्य के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। वाक्य पदों का समूह है और पद वर्णों का सार्थक समूह है। पदों के समूह के बारे में यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि उससे शब्द के मुख्य उद्देश्य अभिप्राय-संक्रमण (Communication of ideas) की पूर्ति अनिवार्य है। घोड़ा, हाथी, बैल इन तीन पदों का भी एक समूह हो सकता है; किन्तु इसे हम वाक्य नहीं कह सकते हैं, क्योंकि यह समूह किसी पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं कर पाता। पूर्ण अर्थ को वही पद-समूह व्यक्त कर सकता है जिसमें **आकांक्षा, योग्यता** और **सन्निधि** हों।

आकांक्षा---इसकी परिभाषा में मतभेद है। कुछ लोग इसे इच्छा का पर्याय मानते हैं। वाक्य के अवयव पदों को (और पदों के अवयव वर्णों को भी) हम क्रम से सुनते हैं। जैसे, 'राम जा रहा है' इस वाक्य के 'राम' को पहले और अन्य को उसके बाद क्रमशः सुनते हैं। 'राम' पद सुनने के बाद हम उसके अर्थ---एक विशेष व्यक्ति ---का स्मरण करते हैं। पद सुनकर पदार्थ का स्मरण वही कर सकता है जो पद पदार्थ के सम्बन्ध को---'इस पद का यह अर्थ है' इस बात को जानता हो। पद-पदार्थ का सम्बन्ध ही वृत्ति है। इसलिए पद सुनने के बाद पदार्थ-स्मरण के लिए वृत्ति-ज्ञान आवश्यक है। यही कारण है कि तमिल या तेलगु आदि भाषा के किसी पद को सुनकर भी हम उसके अर्थ का स्मरण नहीं कर पाते हैं। अतः वृत्ति-ज्ञान की सहायता से जब हम एक पद के---'राम' पद के---अर्थ का स्मरण करते हैं तो उसके बारे में

और जानकारी प्राप्त करने की इच्छा हमारे मन (आत्मा) में होती है—वह क्या कर रहा है ? यही इच्छा आकांक्षा है। जिस पद के अर्थ को जानकर यह इच्छा उत्पन्न होती है वह पदार्थ और पद भी औपचारिक रूप में साकांक्ष कहा जाता है, यद्यपि वास्तविक दृष्टि से इस इच्छा के श्रोता की आत्मा को ही साकांक्ष कहना उचित है। चूँकि इस तरह की इच्छा पारस्परिक होती है, इसलिए 'जा रहा है' यह क्रियावाचक पद भी साकांक्ष है। संक्षेप में, वाक्य होने के लिए पद-समूह के प्रत्येक सार्थक अंग—पद को ऐसा होना चाहिए कि वह दूसरे पद के अर्थ के ज्ञान के बाद उत्पन्न होनेवाली आकांक्षा अपना अर्थ प्रस्तुत करके शान्त कर सके।[1] तभी पद-समूह परस्पर साकांक्ष हो सकता है एवं वाक्य कहा जा सकता है।

इस पक्ष में एक कठिनाई यह है कि इच्छा-स्वरूप आकांक्षा का जड़ पद के साथ औपचारिक सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है। दूसरी बात यह भी है कि एक तात्पर्य (Intention) भी होता है। वह भी इच्छात्मक है। इसलिए दोनों में अन्तर दिखलाने में भी कष्ट है। इसलिए अन्य नैयायिकों ने इसकी एक अभावात्मक परिभाषा प्रस्तुत की है—एक पद के बिना दूसरे पद में पूर्ण अर्थ को व्यक्त करने की अक्षमता (अननुभावकता) आकांक्षा है।[2] इस आकांक्षा का पदों के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है। कोई भी परिभाषा मानी जाय, यह तो सत्य है कि क्रिया साधारणतया कारक की और कारक-पद क्रिया-पद की आकांक्षा रखते हैं, यद्यपि यह अनिवार्य नहीं है, क्योंकि नैयायिक ऐसा भी वाक्य मानते हैं जो क्रिया-पद से सर्वथा शून्य हो।

इस प्रसंग में एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि एक पद के ज्ञान के बाद कई प्रकार की आकांक्षाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। ऐसी स्थिति में दूसरे पद के लिए उन सब आकांक्षाओं को पूर्ण करना आवश्यक भी नहीं है और सम्भव भी नहीं। किसी एक की पूर्ति कर देने से ही लक्ष्य सिद्ध हो जाता है।

योग्यता—एक पद में दूसरे पद के अर्थ के साथ सम्बन्ध प्राप्त करनेवाले अर्थ को प्रकट करने की क्षमता पदों की पारस्परिक योग्यता है।[3] उपर्युक्त वाक्य में प्रयुक्त पदों में यह क्षमता है—कारक-पद (राम) एक चेतन व्यक्ति को प्रकट करता है जिसमें क्रिया-पद (जा रहा है) के अर्थ—जाने की क्रिया के साथ सम्बन्ध प्राप्त करने का औचित्य है। इसी तरह क्रिया-पद में भी दूसरे पद—कारक-पद के अर्थ के साथ सम्बन्ध

---

1. त० भा०, पृ० 109
2. कारि०, 8
3. कारि०, 83

पाने योग्य अर्थ के प्रतिपादन की क्षमता है। अतः दोनों योग्य-योग्यता-सम्पन्न हैं। जिन पदों की ऐसी स्थिति नहीं होती है उनका समूह वाक्य नहीं हो सकता। जैसे—'आग से सींच रहा है।' यह भी एक पद-समूह है। किन्तु इसे हम वाक्य नहीं कह सकते, क्योंकि 'आग' पद से जो अर्थ निकलता है वह 'सींच रहा है' क्रियापद के अर्थ के साथ सम्बन्ध प्राप्त कर ही नहीं सकता है। आग से जलाना सम्भव है, सींचना कदापि नहीं।[1]

सन्निधि—पदों के उच्चारण में सामीप्य ही सन्निधि है।[2] एक पद के उच्चारण के बाद इतना विलम्ब नहीं होना चाहिए कि दूसरे पद के उच्चारण की स्वाभाविकता नष्ट हो जाय। उचित विलम्ब के बाद ही पदों का उच्चारण होना चाहिए। यही सन्निधि है। इसी को 'आसत्ति' भी कहते हैं। अभी 'राम' कहकर 2 घण्टे बाद यदि कोई 'जा रहा है' कहता है तो इन पदों का समूह आकांक्षा और योग्यता से सम्पन्न होकर भी वाक्य नहीं हो सकता। इसलिए पदों के उच्चारण में सन्निधि भी अत्यावश्यक है।

अतः आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से सम्पन्न पदों का समूह वाक्य है।

वाक्य एक सत्यवादी के मुँह से भी निकलता है और एक मिथ्यावादी के मुँह से भी। इनमें से प्रमाण का पद सत्यवादी व्यक्ति का वाक्य (आप्तोपदेश) ही ग्रहण कर सकता है। मिथ्यावादी व्यक्ति द्वारा कहा गया वाक्य यदि यथार्थ स्थिति का भी प्रतिपादन करता हो तो भी लोग उसपर विश्वास नहीं करते; वह वाक्य अपने आप प्रमाण नहीं हो सकता है—यह न्याय शास्त्र का ही नहीं, अपितु सभी शास्त्रों का सिद्धान्त है। इसलिए आप्तवाक्य प्रमाण है।[3]

न्यायसूत्र में इस वाक्य के दो भेद किये गये हैं—**दृष्टार्थ** और **अदृष्टार्थ**।[4] इस जगत् के पदार्थ का प्रतिपादन करनेवाला वाक्य दृष्टार्थ और परलोक के पदार्थ का

---

1. यदि सोचकर देखा जाय तो तो आकांक्षा से पृथक् योग्यता को रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो पद परस्पर साकांक्ष हैं वे योग्य अवश्य होंगे, अयोग्य पदों में आकांक्षापूर्ति का सामर्थ्य नहीं हो सकता है। नव्य न्याय में अयोग्यता-ज्ञान को शब्द-बोध का प्रतिबन्धक मानकर अयोग्यता-ज्ञानाभाव को शब्द-बोध का कारण मानने का प्रायः यही मूल है। देखिये, त० चि० (आकांक्षावाद)
2. कारि० 82
3. न्या० सू०, 1/1/7
4. वही, 1/1/8

प्रतिपादक वाक्य अदृष्टार्थ है अथवा, जिस वाक्य का वक्ता वाक्यार्थ का प्रत्यक्षदर्शी हो वह दृष्टार्थ और जिसका वक्ता वाक्यार्थ का परोक्षदर्शी हो वह अदृष्टार्थ है। किन्तु परिवर्ती नैयायिकों ने, प्रायः महाभाष्यकार पतंजलि से प्रभावित होकर, वाक्य को लौकिक और वैदिक भागों में विभक्त किया है।[1]

उपर्युक्त स्वरूप का वाक्य ही, गौतम के सूत्र के अक्षरानुसारी अर्थ के अनुसार, शब्द-प्रमाण है, ऐसा प्रतीत होता है। 'शब्द-प्रमाण' इस नाम से भी शब्द-वाक्य का ही प्रमाण होना सिद्ध होता है। किन्तु विचार करने पर इसमें त्रुटि दीखती है। वाक्य की सत्ता मात्र होने से वाक्यार्थ-ज्ञान नहीं होता। कोई हमसे कुछ कहता है, किन्तु उसके वाक्य को सुने बिना हम उसका आशय नहीं समझ पाते हैं। इसलिए शब्द-प्रमाण का स्थान वाक्य को न देकर वाक्य के ज्ञान को देना चाहिए।[2] यह ज्ञान कदाचित् प्रत्यक्ष—श्रावण प्रत्यक्ष—भी हो सकता है और कदाचित् स्मरण भी। केवल लिपियों को आँखों से देखकर, वाक्य का मानसिक उच्चारण किये बिना भी, हम वाक्य का स्मरण करते हैं और वाक्यार्थ-ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसलिए ज्ञायमान वाक्य, सुने गये वाक्य को शब्द-प्रमाण नहीं माना जा सकता है, अपितु वाक्य-ज्ञान को ही।[3] चूँकि वाक्य-ज्ञान में पद-ज्ञान का अन्तर्भाव स्वाभाविक है इसलिए कहीं-कहीं पद-ज्ञान को भी शब्द-प्रमाण कह दिया गया है।[4] किन्तु यह ज्ञातव्य है कि प्रमाणभूत पद-ज्ञान पद-समूह-ज्ञान या वाक्य-ज्ञान का नामान्तर है, क्योंकि किसी वाक्य के किसी एक या दो पदों के ज्ञान मात्र से वाक्यार्थ-ज्ञान नहीं होता है।

अब तक के वर्णन से यह सिद्ध है कि शाब्दी प्रमा—वाक्यार्थ-ज्ञान का मुख्यतम साधन (करण) **वाक्य-ज्ञान है**। किन्तु वाक्य-ज्ञान मात्र से वाक्यार्थ-ज्ञान नहीं होता है। हम तमिल या तेलगु भाषा नहीं जानते हैं। इसलिए इस भाषा के वाक्य को बारम्बार सुनकर भी इसके अर्थ का ज्ञान हमें नहीं हो पाता। अतः एक अन्य कारण भी वाक्यार्थ-ज्ञान का मानना अनिवार्य है। यह अन्य कारण है पदार्थ-ज्ञान। वाक्य के अंगभूत पदों के अर्थों को जाननेवाला व्यक्ति ही वाक्यार्थ को जान सकता है। अतः वाक्यार्थ-ज्ञान के कारणों में पदार्थ-ज्ञान की भी गणना की गयी है। चूँकि

---

1. त० भा०, पृ० 111; त० सं०, पृ० 53
2. ता० टी०, पृ० 201 (गौतम के 'उपदेश' शब्द का ही वाचस्पति मिश्र ने 'वाक्य-ज्ञान' अर्थ किया है)।
3. कारि० 81 तथा मुक्तावली।
4. कारि० 81

पदार्थ-ज्ञान वाक्य-ज्ञान और वाक्यार्थ-ज्ञान के मध्य में होता है और स्वयं वाक्य-ज्ञान से उत्पन्न होकर उसी में उत्पन्न होनेवाले वाक्यार्थ-ज्ञान का कारण भी है, इसलिए इसे **'अवान्तर व्यापार'** कहा जाता है।[1] इस पदार्थ-ज्ञान के लिए पद में वर्तमान **'वृत्ति'** (अर्थ को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य) का ज्ञान आवश्यक है, यह पहले ही कहा जा चुका है।

इस अवसर पर **'वृत्ति'** और **'पदार्थ'** के विषय में कुछ कह देना अप्रासंगिक न होगा।

वृत्ति—पद में रहनेवाला वह सामर्थ्य, जिससे पद पदार्थ की अभिव्यक्ति का प्रतिपादन करता है, 'वृत्ति' है।[2] प्राचीन नैयायिकों के अनुसार वृत्ति के तीन भेद हैं—(क) **संकेत**, (ख) **परिभाषा** और (ग) **लक्षणा**।

(क) **संकेत**—'इस शब्द से यह अर्थ समझना चाहिए' इस प्रकार की ईश्वरेच्छा संकेत है। इसे शक्ति, अभिधा, वाचकता, मुख्य वृत्ति आदि भी कहते हैं। कोई भी पद अपने सुप्रसिद्ध अर्थ—मुख्य अर्थ का प्रतिपादन इसी के बल से करता है। इस संकेत द्वारा प्रतिपादित अर्थ संकेतित, शक्य, अभिधेय, वाच्य और मुख्यार्थ तथा अर्थ-प्रतिपादक पद सांकेतिक, शक्त, अभिधायक, वाचक कहा जाता है।

(ख) **परिभाषा**—ईश्वरेच्छा से भिन्न इच्छा, शास्त्रकारों या समाज की इच्छा **परिभाषा** है। इस इच्छा का स्वरूप भी पूर्ववत् ईश्वरेच्छा के समान है। अन्तर इतना ही है कि ईश्वरेच्छा के अनादि और व्यापक होने के कारण इससे सम्पन्न पद का अर्थ अनादि और व्यापक होता है, जबकि अन्य इच्छाओं के अनित्य और अव्यापक होने के कारण इनसे सम्पन्न पदों के अर्थ आदिमान् और व्यापक होते हैं। उदाहरणार्थ, कणाद ने **'अर्थ'** शब्द को द्रव्य, गुण और कर्म, इन तीनों पदार्थों को समूहवात्रक संज्ञा मानी है। यह उनकी परिभाषा है। इस अर्थ में अर्थ शब्द का प्रयोग कणाद की परिभाषा के बाद होने लगा है और साथ ही, सर्वत्र प्रसिद्ध भी नहीं है। इसलिए 'अर्थ' शब्द को पारिभाषिक और इस परिभाषा के आधार पर प्रतिपादित पदार्थ को परिभाषित (या पारिभाषिक भी) कहा जाता है।

किन्तु इच्छा मात्र को शक्ति माननेवाले नव्य नैयायिक इन दोनों को पृथक् नहीं मानते। अतः इनके अनुसार वृत्ति के दो ही भेद हैं—शक्ति और लक्षणा।

---

1. वही।
2. शक्तिवाद, पृ० 1

(ग) **लक्षणा**––अप्रसिद्ध वा गौण अर्थ (Secondary meaning) का प्रतिपादन करनेवाली वृत्ति लक्षणा है। किसी मूर्ख को हम कोसते हुए कहते हैं—'तुम बैल हो'। मनुष्य बैल नहीं हो सकता है, यदि हम बैल शब्द के मुख्य अर्थ को ध्यान में रखें। इसलिए यह मानना पड़ता है कि बैल शब्द का मूर्ख मनुष्य के लिए प्रयोग एक अप्रसिद्ध अर्थ—गौण अर्थ में किया गया है। जिस वृत्ति के द्वारा यह कार्य सम्भव होता है वही लक्षणा है। मूर्ख मनुष्य में और बैल में मूर्खता की दृष्टि से साम्य है। इसलिए हम 'लक्षणा' के आधार पर मूर्ख मनुष्य के लिए बैल शब्द का प्रयोग किया गया है' इस वक्तव्य के बदले यह भी कह सकते हैं कि 'साम्य या सादृश्य के आधार पर मूर्ख मनुष्य के लिए बैल शब्द का प्रयोग किया गया है।' इससे साम्य या सादृश्य और लक्षणा का अर्थ एक है, यह सिद्ध हो जाता है। इस साम्य या सादृश्य को **'गुण'** भी कहते हैं। इसलिए यह लक्षणा **'गुणवृत्ति'** या **'गौणी वृत्ति'** भी कही जाती है।[1]

लक्षणा का दूसरा उदाहरण है 'गंगायां घोषः' (गंगा-तट पर अहीरों की टोली बसी है)। इस वाक्य में 'गंगा' पद लक्षणा (मुख्यार्थ—जलप्रवाह और अभिप्रेत लक्ष्यार्थ—गंगा-तट के बीच संयोग) के आधार पर अप्रसिद्ध अर्थ 'गगा-तट' का प्रतिपादन करता है। यह इसलिए मानना पड़ता है कि गंगा शब्द के मुख्यार्थ अर्थात् जलप्रवाह में अहीरों की टोली बसी हो, यह असम्भव है। अतः मुख्यार्थ की दृष्टि से वाक्य का अर्थ निकालना असम्भव हो जाता है।

लक्षणा द्वारा अर्थ का प्रतिपादक शब्द लक्षक या लाक्षणिक और अर्थ लक्ष्य या लक्ष्यार्थ कहा जाता है। लक्ष्यार्थ की अभिव्यक्ति लक्षणा के आधार पर होती है। प्रथम उदाहरण में यह लक्षणा सादृश्य का और दूसरे उदाहरण में गंगा नदी और गंगा-तट के बीच वर्तमान संयोग का नामान्तर है। सादृश्य तथा संयोग दोनों ही मुख्यार्थ या शक्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध हैं—प्रथम उदाहरण में बैल शब्द के मुख्यार्थ (एक पशु) और उसके लक्ष्यार्थ मुर्ख मनुष्य का और दूसरे उदाहरण में गंगा शब्द के मुख्यार्थ (एक नदी) और उसके लक्ष्यार्थ गंगा-तट का सम्बन्ध है। इसीलिए नैयायिकों ने लक्षणा को **'शक्य सम्बन्ध'**—शक्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का (या लक्ष्यार्थ के साथ शक्यार्थ का) सम्बन्ध कहा है।[2]

---

1. मीमांसक आदि कुछ दार्शनिक लक्षणा और गौणी वृत्ति को परस्पर भिन्न मानते हैं। किन्तु नैयायिक इन दोनों को एक ही वृत्ति के दो उपभेद स्वीकार करते हैं।
2. कारि० 82

इस लक्षणा के तीन भेद होते हैं—(क) **जहत्-लक्षणा**, (ख) **अजहत्-लक्षणा** और (ग) **जहत्-अजहत्-लक्षणा**। लक्ष्यार्थ के शक्यार्थ से पूर्णतः भिन्न होने पर जहत्-लक्षणा; लक्ष्यार्थ में शक्यार्थ का भी समावेश होने पर अजहत्-लक्षणा और लक्ष्यार्थ में शक्यार्थ के एक भाग का समावेश होने पर; दूसरे शब्दों में, शक्यार्थ के किसी अंश के ही लक्ष्यार्थ होने पर जहत्-अजहत्-लक्षणा होती है। इसे ही '**भागलक्षणा**' और '**भागत्याग-लक्षणा**' भी कहते हैं। किन्तु वही तीसरी लक्षणा अद्वैत वेदान्त आदि में प्रसिद्ध है, न्याय दर्शन में नहीं।

पदार्थ—वृत्ति द्वारा पद से प्रतिपादित तत्त्व **पदार्थ** है। पदार्थ के स्वरूप के बारे में शास्त्रकारों में मतभेद है। कुछ दार्शनिक केवल **व्यक्ति** (Individual) को, कुछ दार्शनिक **आकृति** (Individual Form) को और कुछ जाति (Universal) को पद का अर्थ मानते हैं।[1] किन्तु आकृति और जाति से विशिष्ट व्यक्ति को पदार्थ माननेवाले नैयायिक उपर्युक्त सभी पक्षों का खण्डन करते हैं।[2] हाँ, आकृति शब्द की व्याख्या में नैयायिकों में भी मतभेद अवश्य है। कुछ आचार्य आकृति को शरीर-संघटना (**Individual Form or Body-construction**) का और कुछ जाति एवं व्यक्ति के सम्बन्ध-समवाय का पर्याय मानते हैं। इनमें अनुभव के आधार पर प्रथम अर्थ अधिक अच्छा है, क्योंकि 'गाय' शब्द सुनकर श्रोता झट से उस जीव की शरीर-संघटना को याद कर बैठता है। यह अनुभव अत्यन्त स्वाभाविक है।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त वाक्यार्थ-ज्ञान का एक कारण वक्ता के तात्पर्य का ज्ञान भी है।[3] वक्ता का अभिप्राय ठीक-ठीक समझे बिना उसके वाक्य का अर्थ समझना कठिन या असम्भव है। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति एक सेवक से कहता है—'सैन्धव ले आओ'। सैन्धव पद के दो अर्थ होते हैं—(क) घोड़ा और (ख) सेंधा नमक। जब तक सेवक वक्ता का अभिप्राय नहीं समझ लेगा तब तक वह उक्त वाक्य का अर्थ कभी नहीं समझ सकेगा। इसलिए वक्ता का अभिप्रेत अर्थ क्या है, घोड़ा लाना है। या नमक लाना है, इसका ज्ञान सेवक के लिए अनिवार्य है। यही तात्पर्य-ज्ञान को शब्द-बोध का कारण सिद्ध करता है। लौकिक वाक्यों के प्रसंग में तात्पर्य-

---

1. न्या० सू०, 2/2/62-67
2. न्या० सू०,2/2/68; आकृति शब्द का प्रयोग मीमांसक आदि जाति के अर्थ में भी करते हैं। इसलिए उनका 'आकृति-पदार्थवाद' 'जाति-पदार्थवाद' का ही नामान्तर है।
3. कारि० 84

ज्ञान में प्रकरण (Context) आदि सहायक होते हैं। उक्त वाक्य यदि भोजन के प्रसंग में कहा गया हो तो सैन्धव पद का तात्पर्यार्थ नमक होगा और यदि यात्रा के प्रसंग में तो घोड़ा। किन्तु वैदिक वाक्यों के तात्पर्य-ज्ञान का सर्वप्रमुख साधन है तर्क। इसे ही 'मीमांसा' भी कहते हैं।

(यह तात्पर्य-ज्ञान केवल अनेकार्थक शब्द वाले वाक्य के अर्थ को समझने के लिए आवश्यक है, या सर्वत्र आवश्यक है तथा आकांक्षा में इसका अन्तर्भाव हो सकता है है या नहीं, इत्यादि पक्ष-विपक्ष इस विषय में शास्त्रकारों के बीच प्रचलित हैं। नैयायिकों में भी ऐकमत्य नहीं है[1])।

प्रामाण्यवाद

'प्रामाण्यवाद' भारतीय दर्शन का एक बहुत ही जटिल विषय है। मीमांसा और न्याय दर्शन में इसकी विशेष चर्चा है। अन्य दार्शनिकों ने भी इस विषय पर अपने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। 'प्रामाण्य' का अर्थ है ज्ञान का सत्य होना। अतएव 'अप्रामाण्य' शब्द का अर्थ ज्ञान का असत्य होना है। प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति एक वस्तु है और ज्ञान (=ज्ञप्ति) अन्य। इसलिए प्रामाण्यवाद के प्रसंग में प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति का दो दृष्टियों से विचार किया गया है। भारतीय दर्शन में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य के विषय में निम्नलिखित पक्ष हैं :—

(1) बौद्ध-मत	प्रामाण्य		स्वतः
,,	अप्रामाण्य		परतः
(2) जैन-मत	प्रामाण्य और	अप्रामाण्य	परतः (उत्पत्ति)
,,	,,	,,	स्वतः (ज्ञप्ति)
(3) सांख्य-मत	,,	,,	स्वतः
(4) मीमांसा-मत	प्रामाण्य		स्वतः
,,	अप्रामाण्य		परतः
(5) न्याय-वैशेषिक-मत	प्रामाण्य और अप्रामाण्य		परतः

उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति इन दोनों प्रसंगों में 'स्व' तथा 'पर' शब्द का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। जैसा कहा जा चुका है, उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति परस्पर भिन्न हैं। उत्पत्ति के भी कुछ साधन होते हैं और ज्ञप्ति के भी। इनमें उत्पत्ति के साधनों को

1. मुक्तावली, कारि० 84

'ज्ञानोत्पादक सामग्री' और ज्ञप्ति के साधनों को **'ज्ञान-ग्राहक सामग्री'** कहते हैं। ये ही दोनों सामग्रियाँ क्रमशः उत्पत्ति और ज्ञप्ति के प्रसंग में 'स्व' हैं तथा उनसे भिन्न 'पर'। इसलिए 'उत्पत्ति प्रामाण्य की स्वतः होती है' इस वक्तव्य का अर्थ है ज्ञानोत्पादक सामग्री मात्र से ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति और 'प्रामाण्य की ज्ञप्ति परतः होती है' इस कथन का ज्ञानग्राहक-सामग्री मात्र से प्रामाण्य की ज्ञप्ति। इस कथन को और पूर्ण बनाने के उद्देश्य से निषेधात्मक प्रकार अपनाया जा सकता है—ज्ञानोत्पादक सामग्री से भिन्न सामग्री से उत्पन्न न होना तथा ज्ञान-ग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री से ज्ञात न होना ही प्रामाण्य का उत्पत्ति और ज्ञप्ति के प्रसंग में क्रमशः, स्वतस्त्व है। इसके विपरीत होने पर परतस्त्व मानना चाहिए।

न्याय-साहित्य में प्रामाण्यवाद की चर्चा करते समय मीमांसक मत ही उल्लिखित हैं। मीमांसा की भी तीन परम्पराएँ हैं—(क) कुमारिल भट्ट की (भाट्ट मत), (ख) प्रभाकर की (प्रभाकर मत या गुरु-मत) और (ग) मुरारी मिश्र की (मिश्र-मत)। इन तीनों मतों के अनुसार ज्ञानोत्पादक सामग्री के विषय में कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। अतः नीचे ज्ञान-ग्राहक सामग्री का उल्लेख किया जा रहा है—

(1) **भाट्ट मत**—ज्ञान-ग्राहक सामग्री—**ज्ञातताऽन्यथानुपपत्तिमूलक अर्थापत्ति**,

(2) **गुरु-मत**— ,, ,, —**स्वयम् ज्ञान**,[1]

(3) **मिश्र-मत**— ,, ,, —**अनुव्यवसाय**

तीनों ही मीमांसा ज्ञान-ग्राहक सामग्री से ही ज्ञान के साथ-साथ उसके प्रामाण्य का भी ज्ञान मानते हैं। यही मीमांसकों का **'स्वतःप्रामाण्यवाद'** है।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार भी **अनुव्यवसाय**[2] ही ज्ञान-ग्राहक सामग्री है। किन्तु

---

1. प्रभाकर ज्ञान को स्वप्रकाश मानते हैं। इनके मत में प्रत्येक ज्ञान ज्ञाता, ज्ञेय पदार्थ के साथ-साथ अपने स्वरूप को भी प्रकाशित करता है। इसीलिए ज्ञान का स्वरूप होता है—अहम् (ज्ञाता) इदम् (ज्ञेय) जानामि (√ज्ञा = ज्ञान)। इसीलिए इस मत में 'त्रिपुटीभान' माना गया है।'

2. ज्ञान का मौलिक निश्चयात्मक रूप व्यवसाय है; जैसे, पुस्तक को आँखों से देखने के बाद उत्पन्न ज्ञान, जिसकी अभिव्यक्ति है 'यह पुस्तक है' (इदं पुस्तकम्)। इस व्यवसाय की उत्पत्ति हमारी आत्मा में होती है। किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, ज्ञान की आत्मा में उत्पत्ति एवं उसका आत्मा को साक्षात्कार एक ही चीज नहीं है। अतः उत्पत्ति के बाद आत्मा को उस ज्ञान—'यह पुस्तक है' का

अन्तर यह है कि यह सामग्री प्रामाण्य का ज्ञान नहीं करा पाती। तीनों मीमांसकों के विरोध में न्यायाचार्यों का कहना है कि स्वतः प्रामाण्यवाद मानने पर ज्ञान के साथ-साथ ज्ञान के प्रामाण्य का भी ज्ञान होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में ज्ञान होने के बाद जब तक हम उसके अनुसार कार्य कर परीक्षण नहीं कर लेते हैं तब तक जो एक संशय बना रहता है कि 'हमारी जानकारी ठीक है या नहीं', उसकी व्याख्या नहीं की जा सकेगी, क्योंकि प्रामाण्य के ज्ञान का निश्चय हो जाने पर उसकी प्रामाणिकता के बारे में सन्देह नहीं हो सकता। उपर्युक्त सन्देह बहुत ही सहज है, क्योंकि जैसे जल का ज्ञान एक जलाशय में होता है वैसे ही मृगतृष्णा में भी। ज्ञान होते समय दोनों ज्ञानों में कुछ अन्तर नहीं दीखता, ऐसी दशा में ज्ञान होने के साथ-साथ उसकी प्रामाणिकता का भी निश्चय मान लेना कितना अस्वाभाविक है, यह स्पष्टीकरण की अपेक्षा नहीं रखता। अतएव नैयायिकों ने प्रामाण्य का निश्चय अनुमान—जो ज्ञान-ग्राहक सामग्री से भिन्न है—से माना है। यह अनुमान ज्ञान के बाद तदनुसार हुई हमारी प्रवृत्ति की सफलता पर निर्भर है। जब हमें कहीं पानी का ज्ञान होता है, तद-नुसार हम वहाँ पानी पीने जाते हैं और हमें पानी मिल जाता है, तब हम यह अनुमान करते हैं कि पहले जो हमें 'वहाँ जल है', इस प्रकार का ज्ञान हुआ था, वह सर्वथा सत्य था। इसके विपरीत पानी का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् वहाँ पहुँचने पर जब हमें पानी नहीं मिलता, हमारी प्रवृत्ति विफल हो जाती है, तब हम अनुमान करते हैं कि हमें जो इस स्थान पर पानी रहने का ज्ञान प्राप्त हुआ था वह अप्रमाण था। इस प्रकार प्रवृत्ति की सफलता के आधार पर हुए अनुमान से प्रामाण्य का और विफलता के आधार पर हुए अनुमान से अप्रामाण्य का ज्ञान न्याय-वैशेषिक को अभीष्ट है। यही परतः प्रामाण्यवाद का सारांश है।

उपर्युक्त रीति से **अभ्यासदशापन्न ज्ञान**[1] के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निर्णय हो जाने पर सादृश्य के आधार पर **अनभ्यासदशापन्न ज्ञान** के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का भी निश्चय करना चाहिए।

ज्ञान, 'यह पुस्तक है इस प्रकार का ज्ञान मुझे हुआ है' ('इदं पुस्तकमिति ज्ञान-वान् अहम्' अथवा 'इदं पुस्तकम् अहं जानामि') होता है। यह ज्ञान का ज्ञान, व्यवसाय के बाद होने के कारण, अनुव्यवसाय है। यह सर्वदा मानस-प्रत्यक्षात्मक ही होता है।

1. जिस ज्ञान के बाद ज्ञाता की तदनुसार प्रवृत्ति हो चुकी हो उसे अभ्यासदशापन्न और जिस ज्ञान के बाद प्रवृत्ति न हुई हो, मात्र ज्ञान हुआ हो, उसे अनभ्यास-दशापन्न ज्ञान कहते हैं।

यह तो हुई ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य के ज्ञान (ज्ञप्ति) की बात। उत्पत्ति में भी न्याय-वैशेषिक परतःप्रामाण्यवाद मानते हैं। ज्ञान के उत्पादक साधनों से भिन्न साधन से ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की उत्पत्ति होती है। ज्ञान के उत्पादक इन्द्रिय-सन्निकर्ष, व्याप्ति-ज्ञान आदि हैं—यह विषय ज्ञानोत्पत्ति की व्याख्या के प्रसंग से स्पष्ट किया जा चुका है। किन्तु प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की उत्पत्ति के बारे में निम्नलिखित सिद्धान्त हैं :—

ज्ञान		प्रामाण्योत्पादक साधन
(1) प्रत्यक्ष	—	विशेषण-सम्पन्न विशेष्य के साथ (पुस्तकत्व-विशिष्ट पुस्तक के साथ) इन्द्रिय का सन्निकर्ष।
(2) अनुमिति	—	साध्य-सम्पन्न पक्ष में हेतु का परामर्श।
(3) उपमिति	—	गवय पदार्थ में गो-सादृश्य का यथार्थ ज्ञान।
(4) शाब्द-बोध	—	योग्यता अथवा तात्पर्य या यथार्थ अनुभव।

उपर्युक्त गुणों से भिन्न दूरी, इन्द्रिय की विकृति आदि त्रुटियाँ ज्ञान में अप्रामाण्य का उत्पादन करती हैं। इन्हें 'दोष' कहा जाता है। इसके विभिन्न रूप हो सकते हैं। इसलिए सारांश यही है कि उत्पत्ति की दृष्टि से भी प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य परतः है, क्योंकि ज्ञानोत्पादक इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष आदि सामग्रियों से भिन्न उपर्युक्त तत्त्वों—गुण तथा दोष—से ही क्रमशः ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति होती है।[1]

प्रमेय-विचार : आत्मा

प्रमाणों का विवेचन समाप्त हुआ। प्रमेयों में सबसे पहला स्थान आत्मा का है। वास्तव में भारतीय दर्शन की मुख्य रुचि आत्मा और उसकी मुक्ति में है। उपनिषद्-काल से ही भारतीय दार्शनिक आत्मज्ञान को महत्त्व देते आये हैं।

न्याय दर्शन में आत्मा की परिभाषा कई दृष्टियों से की गयी है। ज्ञान, इच्छा आदि गुणों का आधार आत्मा है, यह एक परिभाषा है।[2] प्रतिसन्धान—स्मरण और प्रत्यभिज्ञान—करनेवाला तत्त्व आत्मा है, यह दूसरी परिभाषा है।[3] इसी प्रकार अन्यान्य परिभाषाएँ भी हैं।

---

1. प्रामाण्यवाद की विशेष जानकारी के लिए तत्त्वचिन्तामणि का प्रामाण्यवाद प्रकरण देखना चाहिए।
2. त० सं०, पृ० 12
3. न्या० वा०, 1/1/10, पृ० 64

आत्मा के दो भेद हैं—जीवात्मा तथा परमात्मा। परमात्मा को ही ईश्वर, महेश्वर, शिव आदि कहा जाता है। इसकी व्याख्या हम बाद में करेंगे। जीवात्मा के भी दो उपवर्ग हैं—स्वात्मा और परात्मा।

परमात्मा के अस्तित्व के समर्थन में शब्द और अनुमान प्रमाण हैं। स्वात्मा की सत्ता के बारे में भी शब्द तथा अनुमान प्रमाण हैं; यह विषय नैयायिकों में विवादास्पद नहीं है। किन्तु इसका मानस-प्रत्यक्ष होता है या नहीं इस प्रश्न के समाधान में सब नैयायिक एकमत नहीं हैं। न्यायसूत्र में केवल आत्मा के अनुमान की चर्चा है, प्रत्यक्ष की नहीं।[1] **'प्रमाण-संप्लव'** की व्याख्या करते समय न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने सामान्य रूप में आत्मा को योगि-प्रत्यक्ष का विषय कहा है, लौकिक-प्रत्यक्ष का नहीं।[2] इससे ऐसा लगता है कि इन सबकी दृष्टि में स्वात्मा का मानस-प्रत्यक्ष नहीं होता। न्याय दर्शन के समानतन्त्र (Allied system) वैशेषिक[4] दर्शन के प्राचीन साहित्य पर, उसके अर्वाचीन व्याख्याकारों की अपेक्षा किए बिना ही, ध्यान देने से भी उपर्युक्त पक्ष का ही समर्थन होता है। किन्तु उद्योतकर[4] तथा वाचस्पति मिश्र[5] आदि व्याख्याकारों ने आत्मा का 'अहम्' पदार्थ के रूप में ज्ञान आदि विशेष गुणों के साथ-साथ मानस-प्रत्यक्ष माना है। जयन्त भट्ट ने भी **'स्वयूथ्य'** के मत के रूप में आत्मा को मानस-प्रत्यक्ष का विषय[6] कहा है, परन्तु बाद में अपनी दृष्टि से आत्मा को अनुमेय मान लेना ही उन्होंने अधिक अच्छा समझा।[7]

आत्मा के अनुमान के लिए हेतु के रूप में, उदाहरण के तौर पर, न्यायसूत्रकार, ने इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और निर्णयात्मक ज्ञान का उल्लेख किया है।[8] यद्यपि ज्ञानमात्र आत्मा का अनुमापक हो सकता है, तथापि प्रसंग के अनुरोध से गौतम ने निर्णयात्मक, तर्क-वितर्क के बाद सम्प्राप्त, ज्ञान को ही हेतु के वर्ग में रखा है।[9]

---

1. न्या० सू०, 1/1/10
2. न्या० भा०, 1/1/3
3. वै० सू०, 8/1/2
4. न्या० वा०, पृ० 341; न्या० सू०, 3/1/1
5. ता० टी०, पृ० 501
6. न्या० म०, भा० 2, पृ० 7
7. वही, पृ० 8
8. न्या० सू०, 1/1/10
9. न्या० म०, भाग० 2, पृ० 9; किर०, पृ० 366

इन हेतुओं के आधार पर आत्मा के अनुमान के सम्बन्ध में भी एक बात ध्यान में रखनी चाहिए : ये हेतु केवल स्वात्मा के अनुमान के लिए नहीं हैं, अपितु आत्मा मात्र के अनुमान के लिए हैं। ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न तो आत्मा—जीवात्मा और परमात्मा—के अनुमापक हेतु हैं, और अवशिष्ट तीन मात्र जीवात्मा के।[1] यदि जयन्त भट्ट के अनुसार ईश्वर में सुख की सत्ता भी मान्य[2] हो तो सुख को भी जीवात्मा तथा परमात्मा का अनुमापक माना जा सकता है।

उपर्युक्त हेतुओं के आधार पर किये गये आत्मा के अनुमान की विभिन्न व्याख्याओं में सरलतम व्याख्या का सारांश निम्नलिखित है :—

(1) **इच्छा**—पहले हम किसी चीज के माध्यम से सुख प्राप्त करते हैं। पुनः उस चीज को देखकर स्मरण करते हैं कि उसके माध्यम से हमें सुख मिल चुका है। इसीलिए हम उसे पुनः प्राप्त करने की इच्छा करते हैं। अतः सुखानुभव, सुख-स्मरण और इच्छा के बीच अविभाज्य सम्बन्ध है। इन तीनों का आधार किसी एक तत्त्व को होना चाहिए। शरीर या इन्द्रिय वह एक तत्त्व नहीं है, क्योंकि इन तीनों की उत्पत्ति की अवधि में शरीर, इन्द्रिय आदि का बदल जाना स्वाभाविक है। इसका स्पष्ट रूप हमें तब देखने को मिलता है जब अनुभव, स्मरण और इच्छा के बीच बहुत लम्बा, 25-50 वर्षों का व्यवधान हो। यह व्यवधान अत्यंत सम्भावित है। इस लम्बी अवधि में शरीर का बदल जाना प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता। इन्द्रियों का शिथिल या किसी इन्द्रिय का विनष्ट हो जाना भी असम्भव नहीं है। अतः इन सबसे भिन्न एक कोई ऐसा तत्त्व मानना होगा जो इस लम्बी अवधि में अपरिवर्तित रहकर उन तीन गुणों—अनुभव, स्मरण और इच्छा का आधार बन सके। वही तत्त्व आत्मा है।

इसी प्रकार द्वेष, प्रयत्न और सुख-दुःख आत्मा का अनुमान कराते हैं।

(2) **ज्ञान**—जैसा पहले कहा जा चुका है, यह ज्ञान शब्द तर्क-वितर्क के बाद लिये गये निर्णयात्मक ज्ञान का वाचक है, साधारण ज्ञान का नहीं। निर्णयात्मक ज्ञान के विश्लेषण से निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत होता है—पहले हम किसी वस्तु की साधारण जानकारी प्राप्त करते हैं; फिर उसकी विशेष जानकारी प्राप्त करने की इच्छा (विशेष जिज्ञासा) होती है। इसकी शान्ति के लिए जब हम विभिन्न विचारकों अथवा उनके ग्रन्थों को सुनते-पढ़ते हैं तो एक संशय पैदा हो जाना स्वाभाविक है कि वास्तविकता क्या है। अंत में तर्क आदि की सहायता से हम अपना निर्णय लेते हैं। यह विश्लेषण

---

1. वि० वृ०, 1/1/10
2. न्या० म०, भा० 1, पृ० 185

न्यायसूत्र में दी गयी निर्णय की परिभाषा से भी समर्थित है। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि निर्णय के लिए क्रमशः ज्ञान—इच्छा—परस्पर विरोधी-ज्ञान—संशय—तर्क-वितर्क की अनिवार्यता है। इन सबका आधार किसी एक तत्त्व को ही होना चाहिए; यह अधिक व्याख्या की आवश्यकता नहीं रखता। उपर्युक्त युक्तियों से यह भी सिद्ध है कि अल्प-समय में ही परिवर्तन प्राप्त करनेवाली शरीर-इन्द्रियाँ आदि नश्वर भौतिक पदार्थ इन सबके आधार नहीं हो सकते। अतः निर्णय तथा इसके पूर्वरूपों का एक स्थायी आधार मानना पड़ता है। वही आत्मा है।

आत्मा के अस्तित्व के समर्थन के बाद इसके स्वरूप के बारे में प्रश्न उठता है। भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि में आत्मा के अस्तित्व के समर्थन की अपेक्षा इसके स्वरूप का निर्धारण अधिक महत्त्व का विषय है, क्योंकि किसी न किसी रूप में आत्मा का अस्तित्व सभी दार्शनिकों द्वारा माने जाने के कारण यह विषय बहुत विवादास्पद नहीं है।

अन्यान्य तत्त्वों की तरह आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में भी न्याय दर्शन का स्वतन्त्र सिद्धान्त है। यह वैशेषिक दर्शन से प्रायः पूरी तरह समता रखता है। आत्मा नौ विशेष गुणों और पाँच सामान्य गुणों का आधार, नित्य, व्यापक, कर्त्ता, भोक्ता, जड़ और अनन्त है।

हेतुओं के रूप में ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दुःख, इन छह विशेष गुणों के नाम आ चुके हैं। अनुमान के लिए हेतु की सत्ता पक्ष में अनिवार्य होने से पक्ष-भूत आत्मा में ज्ञान आदि छह विशेष गुणों का अस्तित्व तो सिद्ध है ही। ज्ञान से ही भावना नामक संस्कार—एक विशेष गुण—की स्थिति आत्मा में प्रमाणित है, क्योंकि जिस आधार में ज्ञान उत्पन्न होता है उसी में वह अपने सूक्ष्म रूप—भावना—छोड़ सकता है, अन्यत्र नहीं। इस प्रकार सात विशेष गुण हुए। इनके अतिरिक्त धर्म और अधर्म, जिन्हें सामान्य रूप में न्याय शास्त्र में अदृष्ट कहा जाता है, आत्मा में वर्तमान हैं; क्योंकि जिस तत्त्व में ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न होंगे, वही तत्त्व क्रिया भी कर सकता है। चूँकि आत्मा में उक्त तीनों गुण हैं, इसलिए इसे ही कर्त्ता होना है। कर्त्ता ही कर्म-फल—धर्म और अधर्म— का आधार होता है। इसलिए न्याय दर्शन आत्मा या जीवात्मा को ज्ञान आदि 9 विशेष गुणों का आधारभूत द्रव्य मानता है। सामान्य गुणों में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग के वर्तमान होने से जीवात्मा को चौदह गुणों का आश्रय माना गया है।

यह आत्मा नित्य तत्त्व है। यह कहा जा चुका है कि इच्छा से पहले सुख-स्मरण और उससे पूर्व-सुख का अनुभव होना अनिवार्य है। अब हम नवजात शिशु

को माता का दूध पीने की सबसे पहली इच्छा को लें। इस इच्छा के पहले उक्त आधार पर दूध पीने से हुए सुख का स्मरण और उसके मूलभूत (दूध पीने से हुए) सुख का अनुभव उसे अवश्य हुआ होगा। इन दोनों से स्तन आदि को देखकर वह शिशु सुख का स्मरण तक तो कर ही सकता है, किन्तु सुखानुभव वर्तमान जन्म में मानना सम्भव नहीं है। इस प्रकार पूर्व-जन्म सिद्ध है। उस पूर्व-जन्म की प्रथम इच्छा या प्रथम प्रवृत्ति (कृति) को लेकर उससे भी पूर्व-जन्म की कल्पना के माध्यम से आत्मा की नित्यता का समर्थन हो जाता है।[1]

दूसरी महत्त्वपूर्ण युक्ति यह है कि आत्मा को नित्य न मानने पर 'कर्मवाद' का अन्त हो जाता है, क्योंकि आत्मा के विनाश के साथ-साथ उसमें आश्रित कर्म के विनाश के अनिवार्य हो जाने से अन्त में किए कर्मों का 'तत्त्व-ज्ञान' के बिना भी अपने आप अन्त हो जाएगा। फिर तो अब तक इस जगत् के सभी जीवों का अन्त हो जाना चाहिए था। किन्तु यह स्थिति नहीं है। अतः आत्मा को नित्य मानना ही पड़ता है।

नित्य होने के कारण ही आत्मा को एक अवयव-रहित द्रव्य मानना पड़ता है, क्योंकि सावयव द्रव्य कभी नित्य नहीं हो सकता। उसका तो कभी न कभी अन्त होता ही है। इसलिए नित्य आत्मा निरवयव है।

आत्मा नित्य-निरवयव होने के साथ-साथ एक व्यापक तत्त्व भी है। व्यापक होने का अर्थ परममहत्परिमाणवाला द्रव्य होना है। कोई भी द्रव्य यदि नित्य है तो वह या तो अणु-परिमाणवाला हो सकता है या परममहत्परिमाणवाला। इन दो विकल्पों के बीच आत्मा को अणु-परिमाण का द्रव्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर समस्त शरीर के विभिन्न अंगों के माध्यम से होनेवाले सुख आदि का अनुभव आत्मा नहीं कर सकेगा।[2] इसलिए इसे परममहत्परिमाण का द्रव्य माना गया है। किन्तु विचार करने पर यह तर्क उचित नहीं सिद्ध हो पाता। क्योंकि यदि नैयायिकों का मन अणु-परिमाण का एक नित्य-द्रव्य होकर समस्त शरीर के अंग-प्रत्यंगों के माध्यम से सुख आदि के अनुभव में साधन का कार्य कर सकता है तो अणु-परिमाण का आत्मा क्यों नहीं अनुभव कर सकता है? इसीलिए आत्मा की व्यापकता के लिए दूसरी युक्ति—अदृष्टाश्रित तर्क—दी गयी है।[3]

---

1. न्या० म०, भा० 2, पृ० 42
2. त० सं० दी, पृ० 13
3. त० भा०, पृ० 149

अदृष्टाश्रित तर्क का तात्पर्य यह है कि न्याय दर्शन के अनुसार जीवात्मा के किसी भी उपभोग के साधन का निर्माण उसके अदृष्ट के बिना नहीं हो सकता। यह अदृष्ट वहीं वर्तमान होना चाहिए जहाँ उपभोग्य पदार्थ का निर्माण होगा। ऐसी स्थिति में जब कोई व्यक्ति वाराणसी से लखनऊ पहुँचते ही वहाँ मिठाइयाँ आदि खाता है तो उन मिठाइयों के निर्माण में भी उस व्यक्ति के अदृष्ट का योगदान मानना होगा। मिठाइयों का निर्माण उस व्यक्ति के लखनऊ पहुँचने से पहले ही हो चुका है। इसलिए उस समय भी उस व्यक्ति का अदृष्ट वहाँ मानना होगा। अदृष्ट आत्मा में रहनेवाला एक गुण है। अतः उसकी सत्ता आत्मा की सत्ता के बिना नहीं हो सकती। इसलिए उस व्यक्ति के लखनऊ पहुँचने से पहले भी उसकी आत्मा की वहाँ सत्ता माननी होगी। इससे आत्मा की व्यापकता प्रमाणित हो जाती है।

यह आत्मा कर्त्ता है, ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न-क्रिया की एक अपरिवर्तनीय परम्परा है। यदि आत्मा प्रथम तीन का आधार है तो इसे क्रिया का भी आधार होना चाहिए। यह क्रिया प्रेरणात्मक क्रिया है।

कर्त्ता और धर्माधर्म का आश्रय होने के कारण आत्मा भोक्ता—सुख-दुःख का अनुभव करनेवाला—है। यह ज्ञानवान् है, इसलिए स्वतःप्रकाश न होकर एक जड़ तत्त्व है[1]

न्याय दर्शन प्रत्येक जीवित शरीर में उपलब्ध आत्मा को परस्पर भिन्न मानता है, अद्वैती की तरह एक नहीं। यह तथ्य ज्ञान आदि गुणों की एककालिक विषमता—किसी का ज्ञानी होना और किसी का नहीं—से स्पष्ट हो जाता है। हम देखते हैं कि एक ही समय एक जीवित शरीर के माध्यम से जिस प्रकार के ज्ञान आदि की अभिव्यक्ति होती है, उससे अत्यन्त भिन्न ज्ञान आदि की अभिव्यक्ति अन्य जीवित शरीर से होती है। एक ही समय कोई रो रहा है तो कोई हँस रहा है, कोई खा रहा है तो कोई दौड़ रहा है। सब शरीरों में प्रेरक आत्मा के एक होने पर इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

---

1. एक ओर आत्मा को ज्ञानवान् होने के कारण चेतन और दूसरी ओर जड़ कहना कुछ विचित्र-सा लगता है; किन्तु न्याय-वैशेषिक आत्मा को अचेतन के अर्थ में जड़ नहीं मानते। इस प्रसंग में जड़ शब्द का अर्थ है स्व-प्रकाश न होना। अतः कुछ असंगति नहीं है।

अपवर्ग

अन्य शास्त्रों के अनुसार न्याय दर्शन भी अपवर्ग को मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मानता है। बाह्य दृष्टिकोण से तो अन्यान्य विषयों की तरह अपवर्ग के बारे में भी नैयायिकों का मत, वैशेषिकों को छोड़कर, अन्य दार्शनिकों से भिन्न है। किन्तु जयन्त भट्ट का कहना है कि सूक्ष्मेक्षण करने पर सबका अपवर्ग (मोक्ष) एक ही रूप का है। उनका कहना है कि आत्मा का अपने स्वाभाविक रूप में अनन्त काल के लिए अवस्थान ही सर्वसम्मत मोक्ष है। इसलिए आत्मा के वास्तविक स्वरूप का विवेचन ही मोक्ष के स्वरूप के विवेचन का अर्थ है।[1]

जैसा कहा जा चुका है, न्याय दर्शन के अनुसार, जीवात्मा नित्य, विभु, जड़ (= ज्ञान-भिन्न), अनेक तथा शरीर एवं मन के संयोग आदि के कारण ज्ञान, इच्छा आदि गुणों से सम्पन्न द्रव्य है। इनमें से नित्यता, जड़ता, विभुता तथा अनेकता तो आत्मा के स्वाभाविक रूप हैं और ज्ञान आदि गुण शरीर-मन-संयोग से उत्पन्न होने के कारण आगन्तुक धर्म हैं। इसलिए नित्य, जड़, विभु तथा अनेक परस्पर भिन्न रूप में जीवात्मा का अनन्त काल के लिए अवस्थान ही, न्याय-दर्शन की दृष्टि में, आत्मा का मोक्ष—अपवर्ग है।

ऊपर स्वाभाविक रूप में आत्मा के अनन्त अवस्थान को अपवर्ग कहा गया है। इसका तात्पर्य यही है कि अपवर्ग के समय आत्मा के सभी आगन्तुक धर्म—विशेष गुण—सदा के लिए विनष्ट हो जाते हैं। इसीलिए मोक्ष की दूसरी परिभाषा '**अशेष-विशेषगुणोच्छेदो मोक्षः**' भी नैयायिकों में प्रसिद्ध है।[2]

न्यायसूत्र में दुःख के अत्यन्त उच्छेद को अपवर्ग कहा गया है।[3] दुःख का नित्य और निश्चित उच्छेद (विनाश) इसके कारण—मूल कारण—के उच्छेद के बिना असम्भव है। तर्क तथा आध्यात्मिक दृष्टियों के आधार पर दुःख का कारण आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध है। यही सम्बन्ध आत्मा का जन्म है। अतः जन्म आत्मा के दुःख का कारण है। यह इसीलिए कि शरीर के सम्बन्ध के बिना जीवात्मा को सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। यह शरीर ही इसके उपभोग का साधन है। शरीर की प्राप्ति जीव के शुभाशुभ कर्मों का परिणाम है। ये कर्म ही '**प्रवृत्ति**' कहलाते हैं।

---

1. न्या० म०, भाग 2, पृ० 80
2. वही, पृ० 77; ता० टी० 1/1/2, पृ० 96
3. न्या० सू० 1/1/22

इसलिए दुःख का उच्छेद जन्म के उच्छेद पर और जन्म का उच्छेद प्रवृत्ति के उच्छेद पर निर्भर है। प्रवृत्ति के तीन रूप हैं—**वाचिक, मानसिक** और **शारीरिककर्म**[1]। इनमें से मानसिक कर्म, मुख्य रूप में, प्रयत्न है। इसके दो रूप हैं—इष्ट वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न और अनिष्ट वस्तु के परित्याग का प्रयत्न। प्रथम प्रकार का प्रयत्न इच्छा से, दूसरे प्रकार का प्रयत्न द्वेष से होता है। इच्छा को ही राग कहते हैं। इसलिए राग, द्वेष और मोह मानसिक प्रवृत्ति के कारण है। राग, द्वेष और मोह को न्याय दर्शन में '**दोष**' कहा जाता है। अतएव मानसिक प्रवृत्ति का उच्छेद दोष—राग-द्वेष-मोह—के उच्छेद पर निर्भर है। कायिक और वाचिक प्रवृत्तियों का उच्छेद प्रयत्न के उच्छेद पर आश्रित है, क्योंकि ये प्रवृत्तियाँ प्रयत्न से उत्पन्न होती हैं। आत्मा का यदि वास्तविक ज्ञान हो जाय तो फिर किसी वस्तु की इच्छा या किसी से विद्वेष न हो। इच्छा आदि का कारण ज्ञान—मिथ्या ज्ञान—है। यह मिथ्या ज्ञान अनादि है। अतः इसका उच्छेद इसके कारण के उच्छेद की अपेक्षा नहीं रखता। कारण-परम्परा का अन्त मिथ्या ज्ञान में है। वस्तुतः मिथ्या-ज्ञान-दोष आदि की परम्परा अनादि है। इसलिए जब यह प्रश्न उठता है कि कहाँ से उच्छेद का प्रारम्भ किया जाय, तब युक्ति और प्रसिद्धि के आधार पर मिथ्या-ज्ञान से ही इसका प्रारम्भ माना जाता है।

उपर्युक्त रीति में कारण-कार्य की निम्नलिखित परम्परा प्रस्तुत होती है—आत्मा का मिथ्या ज्ञान (संस्कार, स्मरण), दोष (राग-इच्छा, द्वेष और मोह), प्रवृत्ति (मानसिक प्रवृत्ति और इससे शारीरिक और वाचिक प्रवृत्तियाँ), धर्माधर्म, जन्म, दुःख। इन्हीं के कार्य-कारण-भाव की परम्परा को '**संसार**' कहते हैं। इसलिए दुःख-निवृत्ति का अर्थ दुःख और उसके कारण की निवृत्ति है[2], क्योंकि जिस प्रकार की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति अपवर्ग हैं वह निवृत्ति दुःख के कारणों की निवृत्ति के बिना असम्भव है।

यह दुःखनिर्वृत्ति-स्वरूप अपवर्ग तत्त्व-ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है।[3] चूँकि दुःख की कारण-परम्परा के मूल में मिथ्या ज्ञान-अज्ञान—है, इसलिए तत्त्व-ज्ञान ही इसके विनाश का एकमात्र साधन हो सकता है। इसी तत्त्व-ज्ञान से मिथ्या ज्ञान

---

1. वही, 1/1/17
2. ता० टी०, पृ० 238, 1/1/22
3. इस विषय में विशेष विवरण के लिए देखिये, न्या० वा० 1/1/2, पृ० 25; ता० टी० 1/1/2, पृ० 95-96

के साथ-साथ उसकी वासना भी निवृत्त हो जाती है।[1] न्याय शास्त्र 'कर्मवाद' में विश्वास करता है, परन्तु यह कर्म को अज्ञान-नाश का साधन नहीं मानता। कर्म यदि फल-प्राप्ति की इच्छा के बिना ही किया जाता है तो इससे उच्च कुल में, ऐसे सुसंस्कृत परिवार में, जिसमें चिन्तन की परम्परा बनी हो, जीव जन्म लेता है।[2] इससे संगति के प्रभाव में आकर उसमें चिन्तन के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है, श्रद्धा से दुःख-निवृत्ति के साधन को जानने की इच्छा होती है। फिर अपनी जिज्ञासा की शान्ति के लिए वह गुरु के पास जाकर प्रधानतः आत्मा तथा सहायक रूप में अन्यान्य प्रमेयों और प्रमाण आदि पदार्थों का श्रवणात्मक ज्ञान प्राप्त करता है। इसके बाद मनन करता है। अन्त में निदिध्यासन-तत्त्वों का साक्षात्कार होता है। इसमें अष्टांग योग का अनुष्ठान भी सहायक होता है।[3] दीर्घ काल तक अविच्छिन्न रूप में श्रद्धा के साथ बद्धमूल तत्त्व साक्षात्कार से मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होती है। इस प्रकार कर्म—निष्काम कर्म—तत्त्व-साक्षात्कार में सहायक सिद्ध होता है, किन्तु स्वयं वह कर्म मिथ्या ज्ञान का विनाश नहीं कर सकता। मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति से समस्त सांसारिक पदार्थों से वैराग्य हो जाता है। वैराग्य से दोष—इच्छा, द्वेष, मोह—की निवृत्ति हो जाती है। इसलिए इस अवस्था में साधक का कर्म निष्काम हो ही जाता है। इसलिए इस क्रियमाण कर्म से भविष्य में फल—धर्माधर्म (प्रवृत्ति) की उत्पत्ति रुक जाती है। पूर्व कर्मों में से प्रारब्ध का तो एकमात्र भोग से ही क्षय होता है। रही बात संचित कर्मों की; इनका अन्त होता है ज्ञान—तत्त्व-ज्ञान—से या उपभोग और प्रतिरोधक कर्म से।[4] तत्त्वज्ञानी साधक अपने ज्ञानालोक के प्रभाव से—यौगिक शक्ति से—अपने सभी संचित कर्मों का परिज्ञान प्राप्त कर लेता है और फिर यथासम्भव **'कायव्यूह'** (एक ही समय अनेक शरीर धारण करना) द्वारा शीघ्र ही इनका भी उपभोग से ही नाश कर देता है।[5] प्रवृत्ति के अन्त से जन्म का और जन्म के अन्त से दुःख का अन्त सदा के लिए हो जाता है। यही अपवर्ग की प्राप्ति का साधन है।[6] अपवर्ग की प्राप्ति

---

1. ता० टी०, 1/1/2, पृ० 95
2. प० ध० सं० और न्या० क०, पृ० 679-682
3. न्या० सू०, 4/2/42-48 तथा न्या० भा० आदि।
4. न्या० क०, पृ० 686; न्या० वा० 1/1/2, पृष्ठ 25-26; ता० टी० 1/1/2, पृ० 96
5. ता० टी०, 1/1/2, पृ० 72
6. न्या० सू०, 1/1/2 तथा न्या० भा० आदि।

के लिए ईश्वर का मनन-चिन्तन भी आवश्यक है ।[1] दूसरे शब्दों में, ईश्वर की कृपा के बिना अपवर्ग पाना सम्भव नहीं है ।

कुछ आचार्य नित्य-सुख की प्राप्ति को अपवर्ग मानते हैं; किन्तु यह मत वात्स्यायन, उद्योतकर आदि आचार्यों को मान्य नहीं है ।[2] परवर्ती नैयायिकों में केवल भासर्वज्ञ मोक्ष में नित्य-सुख की प्राप्ति मानते हैं ।[3]

अपवर्ग, निःश्रेयस्, मोक्ष आदि शब्द पर्याय हैं । उद्योतकर ने न्या० सू०, 1/1/2 के भाष्य के अवतरणांश से संकेत प्राप्त कर निःश्रेयस् को अपर और पर-निःश्रेयस् के रूप में विभक्त किया है ।[4] अपरनिःश्रेयस् को ही जीवन्मुक्ति और परनिःश्रेयस् को विदेह-मुक्ति भी कहते हैं । दीर्घकाल तक अविच्छिन्न रूप में श्रद्धा के साथ बद्धमूल तत्त्व-साक्षात्कार से मिथ्या ज्ञान के निवृत्त हो जाने पर जब तत्काल साधक की अग्रिम प्रवृत्ति रुक जाती है तब वह जीवन्मुक्ति प्राप्त करता है ।[5] इससे यह भी स्पष्ट है कि पूर्वसंचित तथा प्रारब्ध कर्मों का फल अभी उस साधक को भोगना है । इसीलिए शरीर आदि के साथ उसका सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं हो पाता । हाँ, तत्त्व-साक्षात्कार हो जाने के कारण उसे इन सबमें आसक्ति या किसी प्रकार का व्यामोह नहीं रह जाता । परन्तु जब प्रतिरोधक कर्म के उपभोग से प्रारब्ध एवं संचित कर्मों का भी अन्त हो जाता है तब साधक का शरीर आदि के साथ सदा के लिए सम्बन्ध छूट जाता है । वह स्वरूप-प्रतिष्ठित हो जाता है । यही अवस्था पर-निःश्रेयस् या विदेह-मुक्ति है ।[6]

परमाणुवाद

न्याय-दर्शन एक बाह्यार्थवादी दर्शन है । यह बाह्य जगत् की सत्ता स्वीकार करता है । यह जगत् नित्य और अनित्य तत्त्वों से भरा है । इसका निर्माण भी नित्य तत्त्वों से ही हुआ है । ये नित्य तत्त्व पृथिवी, जल, वायु और तेज के परमाणु हैं ।

---

1. प० ध० सं०, पृ० 18, न्या० कु० प्र०, पृ० 12
2. न्या० भा०, 1/1/28 तथा इस सूत्र पर न्या० वा०; ता० टी०; न्या० म० और न्या० क०, पृ० 690
3. न्या० भू०, पृ० 595
4. न्या० वा०, 1/1/2, पृ० 23
5. ता० टी०, 1/1/2, पृ० 71
6. ता० टी०, 1/1/2, पृ० 72

इन चार द्रव्यों का सबसे छोटा रूप, जिसका विभाजन सम्भव नहीं है, परमाणु है। परमाणुओं की संख्या अनन्त है। ये परमाणु निरवयव हैं। स्वभाव से ये निष्क्रिय हैं। किन्तु ईश्वर की प्रेरणा और अदृष्ट आदि की सहायता से इनमें क्रिया उत्पन्न होती है जिससे इन परमाणुओं का परस्पर संयोग होता है। इसी क्रम से इस भौतिक जगत् का विकास हुआ।[1]

सृष्टि-प्रक्रिया (Process of Creation)

प्रलय और सृष्टि की परम्परा बीज-अंकुर की परम्परा के समान अनादि है। ऐसी कोई प्रलय नहीं जिसके पहले एक सृष्टि न हुई हो और ऐसी कोई सृष्टि भी नहीं है जिसके पूर्व प्रलय न रहा हो। इसलिए प्रलय की स्थिति को ध्यान में रखकर ही सृष्टि के विकास—उत्पादन—की पद्धति का परिचय देना और प्राप्त करना भी सम्भव है।

जब सभी जीवात्माओं का अदृष्ट फल देने से विमुख हो जाता है तब प्रलय होता है। प्रलय की अवधि में सब परमाणु नित्य, व्यापक आकाश में बिखरे पड़े रहते हैं। फिर महेश्वर में सृष्टि करने की इच्छा होती है। तब जीवात्माओं के अदृष्ट, जो प्रलय की अवधि में कुण्ठित होकर संस्कार—वासना—के रूप में जीवात्माओं में पड़े रहते हैं, फल देने के लिए उन्मुख हो उठते हैं। फल देने के लिए उन्मुख अदृष्ट, जीवात्मा और परमाणुओं के संयोग से पहले वायु के परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। इस क्रिया से दो दो परमाणुओं का परस्पर संयोग होता है। इससे वायु के द्वयणुकों की उत्पत्ति होती है, फिर उपर्युक्त रीति से सब द्वयणुकों में क्रिया और प्रतिक्रिया से परस्पर तीन-तीन द्वयणुकों के संयोग से एक एक त्रयणुक की, चार चार त्रयणुकों के संयोग से एक एक चतुरणुक की और पाँच पाँच चतुरणुकों के संयोग से एक एक पंचाणुक की उत्पत्ति होती है। इसी रीति से बढ़ते बढ़ते एक महावायु की उत्पत्ति हो जाती है। उपर्युक्त रीति से ही क्रमशः जल, पृथिवी तथा स्थूल तेज की भी उत्पत्ति परमाणुओं, द्वयणुकों और त्रयणुकों के माध्यम से होती है।

इस प्रकार चार महाभूतों के उत्पन्न हो जाने पर महेश्वर के संकल्प (Will) से ही एक 'अण्ड' की उत्पत्ति होती हैं। इसमें तेज के परमाणु उपादान कारण का

---

1. चूँकि न्याय दर्शन का **'परमाणुवाद'** वैशेषिक दर्शन से ही विशेष सम्बन्ध रखता है और दोनों के **'परमाणुवादों'** में कोई खास अन्तर नहीं है, इसलिए इसका विशद विवेचन वैशेषिक दर्शन की व्याख्या करते समय किया जायेगा।

कार्य करते हैं। पृथिवी के परमाणु इसके सहायक—निमित्त कारण हैं। इसी 'अण्ड' में इसके अधिपति के रूप में एक चतुर्मुख ब्रह्मा का उत्पादन कर वह महेश्वर सृष्टि के लिए उसे (ब्रह्मा) को नियुक्त करता है। इसीलिए यह 'अण्ड 'ब्रह्माण्ड' कहलाता है। यही ब्रह्मा विभिन्न जीवात्माओं के अदृष्टों को ठीक-ठाक जानकर असंख्य प्राणियों का उत्पादन करता, जीवात्माओं को भिन्न-भिन्न प्रकार का शरीर देता तथा उनके उपभोग के साधनों का निर्माण करता है। पीछे चलकर यह केवल निर्देशक का कार्य करता है और बाह्य कार्य करना जीवों को सौंप देता है। यही सृष्टि की प्रक्रिया है।

सृष्टि की प्रक्रिया में उत्पादन कारणों के गुणों से उनके कार्यों में गुणों की उत्पत्ति होती है। इस प्रसंग में विशेष ज्ञातव्य यह है कि न्याय शास्त्र पृथिवी के परमाणुओं और उनसे बने द्वयणुक आदि अनित्य स्वरूपों के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को अनित्य मानता है। **'पाक-प्रक्रिया'** (Chemical action) से पृथिवी के दोनों, नित्य तथा अनित्य स्वरूपों के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में परिवर्तन हो जाता है। इन दोनों रूपों में होनेवाली 'पाक-प्रक्रिया' के विषय में न्याय-वैशेषिक में महान् अंतर है। न्याय दर्शन परमाणुओं में भी 'पाक-प्रक्रिया' मानता है और द्वयणुक आदि में भी। परमाणु निरवयव पदार्थ हैं। ये द्वयणुक आदि के अवयव हैं, किन्तु इनका अवयव नहीं होता। इसलिए, दूसरे शब्दों में, यह कह सकते हैं कि न्याय दर्शन यथासम्भव अवयव और अवयवी दोनों में ही 'पाक-प्रक्रिया' मानता है। किन्तु वैशेषिक दर्शन अवयवी में 'पाक-प्रक्रिया' स्वीकार नहीं करता। इसका कहना है कि जब कुम्हार, उदाहरण के रूप में, कच्चे घड़े को आँवें में पकाता है तो पहले जीवात्माओं के अदृष्ट और ईश्वर की इच्छा आदि से उस घड़े के मूल रूपों अर्थात् परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। इससे परमाणुओं का परस्पर विभाग हो जाता है जिससे द्वयणुक नष्ट हो जाता है। इस क्रम से आगे बढ़ते-बढ़ते यह विभाग उस काष्ठा तक पहुँच जाता है कि वह घड़ा घड़ा न रहकर परमाणुओं के रूप में प्रस्तुत हो जाता है। फिर अग्नि-संयोग से सभी परमाणुओं के रूप आदि चार गुणों में परिवर्तन हो जाता है। अन्त में ईश्वरेच्छा, अदृष्ट के कारण पुनः सब परमाणु द्वयणुक-त्र्यणुक आदि के माध्यम से मिलकर घड़े का रूप धारण कर लेते हैं। परमाणुओं का दूसरा नाम 'पीलु' है। इसलिए वैशेषिक दर्शन की 'पाक-प्रक्रिया' **"पीलु-पाक"** कहा जाता है। किन्तु नैयायिक अवयवी में भी 'पाक-प्रक्रिया' मानते हैं। अवयवी के उदाहरण के लिए ये घट को ही प्रायः प्रस्तुत करते हैं। घट को 'पिठर' भी कहा जाता है। इसलिए नैयायिकों की 'पाक-प्रक्रिया' को **'पिठर-पाक'** कहा जाता है। यह कभी नहीं समझना चाहिए कि नैयायिकों के पिठर-पाकवादी होने का अर्थ यह है कि ये परमाणु में 'पाक-प्रक्रिया' मानते ही

नहीं। परिस्थिति के अनुसार परमाणुओं तथा द्वयणुक आदि अवयवी द्रव्यों में 'पाक-प्रक्रिया' नैयायिकों के मत की विशेषता है।

'पीलु-पाक' के विरुद्ध न्याय दर्शन की जो आपत्ति है वह अनुभव-सिद्ध है। नैयायिकों का कहना है कि हम आँवें में पकते समय यदि घड़े को आदि से अन्त तक देखते भी रहते हैं तब भी यह कभी देखने को नहीं मिलता कि घड़ा आँवें में है ही नहीं, प्रत्युत सर्वदा वह घड़ा नजर में ज्य का त्यों बना रहता है।[1] इसलिए 'पाक-प्रक्रिया' के समय घड़े का विनाश मानकर उसके आरम्भक परमाणुओं में पाक मानना अनुभव-विरुद्ध है। अतः 'पीलु-पाक' का सिद्धान्त ठीक नहीं है।

ईश्वर-विवेचन

न्याय दर्शन ईश्वरवादी है। किन्तु 'न्यायसूत्र' में ईश्वर का विशेष विवेचन नहीं है। न्यायभाष्यकार ईश्वर को आत्मा का ही एक विशेष रूप मानते हैं।[2] जिस प्रकार जीवात्मा में ज्ञान आदि गुण हैं, उसी प्रकार ईश्वर में भी ये गुण हैं। इसलिए जीव और ईश्वर दोनों ही आत्मा हैं।[3] हाँ, जीवात्मा और ईश्वर में यह अन्तर अवश्य है कि जीवात्मा के ज्ञान आदि गुण अनित्य होते हैं, जबकि ईश्वर के ये गुण नित्य हैं।[4] जीवात्मा बन्धन तथा मोक्ष का अधिकारी है, जबकि ईश्वर इन सबसे रहित है।[5] अतएव ईश्वर को 'नित्यमुक्त' कहा जाता है।[6] जीवात्मा अनेक हैं, ईश्वर एक है।[7] जीवात्मा परतंत्र है ईश्वर स्वतंत्र। इसी प्रकार शक्ति आदि की दृष्टियों से भी दोनों में अन्तर है। किन्तु दोनों आत्मा हैं। उक्त अन्तर के कारण ही ईश्वर को **'परमात्मा'** कहा जाता है। (किन्तु नवीन नैयायिक ईश्वर को आत्मा का प्रकार नहीं मानते।[8]) ईश्वर इस जगत् का निमित्त कारण और कर्मफलदाता भी है।

---

1. न्या० म०, भा० 2, पृ० 12
2. न्या० भा०, 4/1/21
3. न्या० वा०, 4/1/21, पृ० 464; ता० टी०, 4/1/21, पृ० 595; न्या० क०, पृ० 26; न्या० म०, भा० 1, पृ० 185
4. ता० टी, 4/1/21, पृ० 595
5. न्या० वा० 4/1/21, पृ० 466
6. न्या० क०, पृ० 142
7. न्या० वा०, 4/1/21, पृ० 464; न्या० क०, पृ० 141-42
8. मुक्ता०, कारि०, 47

वात्स्यायन मानते हैं कि ईश्वर में अधर्म, मिथ्या ज्ञान और प्रमाद का अत्यंताभाव है।[1] इसके विपरीत धर्म, नित्य-यथार्थज्ञान और समाधि-सम्पत् (Intuitiveness) ईश्वर में हैं। धर्म और समाधि-सम्पत् के परिणाम के रूप में ईश्वर में आठ प्रकार के ऐश्वर्य—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व और कामावसायित्व—भी हैं।[2] ईश्वर में संकल्प भी है और इसके चलते ही उसमें धर्म की सत्ता भी सिद्ध है। यह धर्म ईश्वर को कोई फल देता है, ऐसी बात नहीं है; यह तो केवल परार्थ—जीवात्मा को कर्मफल देने और उसके लिए आवश्यक जगत् का निर्माण करने—के लिए है। यही स्थिति ईश्वर के अन्य गुणों की भी है। इस तरह वात्स्यायन के अनुसार ईश्वर में ज्ञान और संकल्प, ये दो गुण एवम् धर्म आदि विशेषताएँ सिद्ध होती हैं। संकल्प प्रयत्न[3] का ही दूसरा नाम है, इसलिए ज्ञान और संकल्प के बीच इच्छा की सत्ता भी ईश्वर में निर्विवाद है। ये तीन गुण भी ईश्वर के ऐश्वर्य हैं।

भाष्यकार वात्स्यायन ने ईश्वर में एक **'निर्माण-प्राकाम्य'** भी माना है।[4] यह आठ प्रकार के ऐश्वर्यों में आनेवाला प्राकाम्य है या अन्य पदार्थ, यह बात स्पष्ट नहीं है। 'यह प्राकाम्य ईश्वर के संकल्पात्मक कर्म से उत्पन्न धर्म का परिणाम (**स्वकृत-कर्मफलम्**) है', इस कथन से तो यह प्राकाम्य आठ ऐश्वर्यों में परिगणित प्राकाम्य से भिन्न नहीं प्रतीत होता। इस सम्भावना का भी निराकरण नहीं किया जा सकता कि यह प्राकाम्य ईश्वर की जगन्निर्माण-शक्ति का ही दूसरा नाम हो। इस दृष्टि से इसे 8 ऐश्वर्यों की जातिवाचक संज्ञा माना जा सकता है। यद्यपि परवर्ती न्यायाचार्यों ने शक्ति को कारणता का ही नामान्तर माना है और इसलिए इस शक्ति को ईश्वर के ज्ञान, इच्छा और संकल्प से पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं दीखती, तथापि अनुभव इस पक्ष का समर्थन नहीं करता। सम्भव है, वात्स्यायन ने इस तथ्य को प्रायः ध्यान में रखा हो। व्याख्याकारों ने इस विषय में कुछ नहीं कहा है। अतः इस प्रसंग में इदमित्यम् कहना कठिन है।

इस प्रकार न्यायभाष्यकार के अनुसार ईश्वर के ऐश्वर्य के दो वर्ग हुए—(क) ज्ञान, इच्छा और संकल्प तथा (ख) अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ। प्रथम वर्ग का

---

1. न्या० भा०, 4/1/21
2. इन ऐश्वर्यों के विवरण के लिए देखिये, यो० भा०, 3/44; सां० त० कौ०, का० 23
3. संकल्प इति प्रयत्नः।—न्या० म०, भा० 1, पृ० 185
4. न्या० भा० 4/1/21

ऐश्वर्य नित्य है और द्वितीय वर्ग का अनित्य, क्योंकि यह वर्ग ईश्वर के धर्म और समाधि-सम्पत् का परिणाम है।

उद्योतकर ईश्वर के ज्ञान आदि गुण को नित्य मानते हैं। इस नित्यता को इन्होंने 'अतिशय' कहा है।[1] 'अतिशय' ऐश्वर्य का नामान्तर है। अतः प्रथम वर्ग का ऐश्वर्य तो नित्य प्रतीत होता है। दूसरे वर्ग के विषय में इनका मत स्पष्ट नहीं है। एक जगह ईश्वर के संकल्पजन्य धर्म को केवल परानुग्रहार्थ कहकर ऐश्वर्य को इन्होंने नित्य मान लिया है।[2] 'अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य धर्म और समाधि-सम्पत् के परिणाम हैं', न्यायभाष्य के इस वक्तव्य को ध्यान में रखकर यदि उद्योतकर के कथन का अभिप्राय निकाला जाय तब तो अणिमा आदि की, किन्तु प्रश्नवाक्यों के अध्ययन से अणिमा आदि से भिन्न किसी ऐश्वर्य की नित्यता ही उद्योतकर का अभिप्रेत प्रतीत होती है। वाचस्पति मिश्र के वक्तव्य से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान आदि ऐश्वर्यों को ही उद्योतकर के नित्य-ऐश्वर्य के रूप में लेना चाहिए, अणिमा आदि को नहीं।[3] किन्तु यह व्याख्या भाष्य की पंक्तियों से दूर है। साथ ही, ईश्वर के ज्ञानादि ऐश्वर्यों के धर्मजन्य होने का कोई प्रश्न भी नहीं है जिसके निराकरण के लिए उद्योतकर का यह प्रयास सार्थक हो सके। ऐसी परिस्थिति में क्या यह सम्भव है कि ज्ञान आदि तथा अणिमा आदि से भी भिन्न एक जगन्निर्माण-शक्ति नाम का ऐश्वर्य ईश्वर में वर्तमान है, जिसे उद्योतकर नित्य मानते हैं ?

जैसा पहले कहा जा चुका है, वात्स्यायन ने ईश्वर में, धर्म के अतिरिक्त ज्ञान और संकल्प (प्रयत्न) की सत्ता मानी है तथा इन दोनों के बीच नियमतः प्रस्तुत इच्छा भी ईश्वर में होना आवश्यक है। किन्तु न्यायवार्तिककार उद्योतकर ईश्वर की नित्य-बुद्धि को ही क्रिया-शक्ति—इच्छा और प्रयत्न—का प्रतिनिधि मानते हैं।[4] इसलिए इनके अनुसार ईश्वर में एकमात्र ज्ञान ही विशेष गुण है।[5] धर्म की सत्ता भी इनके अनुसार ईश्वर में नहीं है[6], यद्यपि भाष्यकार वात्स्यायन तथा जयन्त भट्ट[7] ईश्वर को

1. न्या॰ वा॰, 4/1/21, पृ॰ 464
2. वही।
3. ता॰ टी॰, 4/1/21, पृ॰ 597
4. न्या॰ क॰, पृ॰ 142 ('अन्ये तु' प्रतीक के अन्तर्गत)।
5. न्या॰ वा॰, 4/1/21, पृ॰ 464
6. वही।
7. धर्मस्तु भूतानुग्रहवतो वस्तुस्वाभाव्याद् भवन्न वार्यते।—न्या॰ म॰, भा॰ 1, पृ॰ 185

धर्मसम्पन्न मानते हैं। इस प्रकार उद्योतकर संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग, इन पाँच सामान्य गुणों के साथ एक विशेष गुण ज्ञान की सत्ता ईश्वर में मानते हैं।[1] न्यायकन्दली में भी यह मत 'अन्ये तु' इस प्रतीक के अन्दर रखा गया है।[2] पूर्वापर प्रसंग को देखने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रीधराचार्य भी इसी पक्ष के समर्थक हैं, क्योंकि अन्य स्थान में उन्होंने ईश्वर को छह गुणों का आधार कहा है।[3] किन्तु पीछे चलकर स्वयं उद्योतकर ने ईश्वर में नित्य, अप्रतिहत इच्छा की सत्ता को मान लिया है।[4] 'महेश्वर की इच्छा से सृष्टि और प्रलय होते हैं', इस आशय के प्रशस्तपाद के वक्तव्य[5] की व्याख्या करते समय श्रीधराचार्य भी चुप हैं, ईश्वर में इच्छा की सत्ता का कुछ विरोध नहीं करते। इससे ऐसा लगता है कि इच्छा का ज्ञान में अन्तर्भाव की प्रवृत्ति उद्योतकर और श्रीधर में प्रबल नहीं है। वाचस्पति मिश्र तो 4/1/21 सूत्र की तात्पर्यटीका में बारम्बार ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न को ईश्वर में स्वीकार करते ही हैं। अन्य आचार्यों का पक्ष भी यही है।[6]

आगम प्रमाण के आधार पर जयन्त भट्ट ईश्वर में नित्य-आनन्द की सत्ता भी मानते हैं[7], परन्तु अन्य आचार्य इसके विरोधी हैं।[1]

ईश्वर का उक्त ज्ञान नित्य[9], एक तथा अपरोक्षात्मक है।[10] इसलिए इस ज्ञान से संस्कार नहीं उत्पन्न होता। इसीलिए ईश्वर का ज्ञान स्मरणात्मक या अनुमानादि परोक्षात्मक नहीं है[11]। अधर्म के अभाव के कारण ईश्वर में दुःख भी नहीं है और

---

1. तत्र हि नित्या बुद्धिः, संख्यादयश्च सामान्यगुणाः, षड्गुण आकाशवदीश्वरः।
   —न्या० वा०, 4/1/21, पृ० 464
2. न्या० क०, पृ० 142
3. वही, पृ० 26
4. न्या० वा०, 4/1/21, पृ० 466
5. प० ध० सं०, पृ० 122-132
6. न्या० म०, भाग 1, कारि० 34, पृ० 185
7. न्या० म०, भाग 1, पृ० 185
8. न्या० क०, पृ० 142; मुक्ता०, कारि० 49
9. न्या० वा०, 4/1/21, पृ० 464; न्या० म०, भाग 1, पृ० 184
10. न्या० वा०, 4/1/21, पृ० 465; न्या० म०, भाग 1, पृ० 184
11. न्या० वा०, 4/1/21, पृ० 465-66, न्या० म०, भाग 1, पृ 185; न्या० क०, पृ० 142

इसलिए इसमें वैराग्य की सत्ता भी अनावश्यक है। द्वेष भी दुःख के अभाव के कारण ही ईश्वर में नहीं है, क्योंकि दुःखी व्यक्ति ही सुखी से द्वेष करता है।

इस प्रकार न्याय-सम्मत ईश्वर इस जगत् का निमित्त कारण, जीवात्माओं के अदृष्टों का उद्बोधन करनेवाला, ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि गुणों से सम्पन्न, नित्य-मुक्त, सर्वज्ञ, सर्व-शक्ति-सम्पन्न आत्मा है।

इस प्रकार का ईश्वर, जैसा पहले कहा गया है, अन्य ईश्वरवादी दार्शनिक, वैशेषिक को छोड़कर, नहीं मानते। इसलिए नैयायिकों पर इस रूप के ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने का एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। नैयायिक आगम-प्रमाण से ईश्वर की सत्ता सिद्ध कर सकते हैं, किन्तु आगम-प्रमाण में सब दार्शनिकों की आस्था नहीं है। इसलिए अनुमान की सहायता से ईश्वर का अस्तित्व न्याय शास्त्र में प्रमाणित किया गया है। इनमें प्रमुख अनुमानों का सारांश, न्यायकुसुमांजलि के अनुसार, नीचे दिया जा रहा है।

(1) **कार्य**—हम अपने जीवन में अनेक अंग-प्रत्यंगों से निर्मित बहुत से तत्त्व देखते हैं जिन सबकी उत्पत्ति किसी न किसी रूप में हुई है। इससे एक व्याप्ति बन जाती है कि जितने सावयव पदार्थ हैं वे सब उत्पन्न हुए हैं। जगत् भी एक सावयव पदार्थ है। अतः इसकी भी उत्पत्ति कभी न कभी अवश्य हुई होगी[1]। जिसकी उत्पत्ति होती है वही कार्य है। अतः जगत् भी एक कार्य है। कार्य के दो रूप हैं—भावात्मक और अभावात्मक। जगत् स्पष्ट रूप में भावात्मक कार्य है। भावात्मक कार्य की उत्पत्ति समवायि, असमवायि और निमित्त कारणों के अधीन है।[2] निमित्त कारण के अन्तर्गत एक कर्त्ता भी आता है। कार्य के उपादान--समवायि—कारणों के प्रत्यक्ष ज्ञान, उसके निर्माण की इच्छा (चिकीर्षा) और उसके निर्माण के लिए अपेक्षित प्रयत्न से सम्पन्न चेतन तत्त्व कर्त्ता कहलाता है।[3] इस जगत् के उपादान कारणों—परमाणुओं—के प्रत्यक्ष ज्ञान आदि से सम्पन्न जो चेतन तत्त्व है वही इसका कर्ता है, वही ईश्वर है।

(2) **अदृष्ट**—कर्म और फल के बीच कारण कार्य-भाव-सम्बन्ध सुप्रसिद्ध है। कारण के लिए यह आवश्यक है कि वह कार्य की उत्पत्ति से ठीक पहले वर्तमान हो।

---

1. ता० टी०, 4/1/21, पृ० 591; स० द० सं०, पृ० 252, न्या० म०, भा० 1 पृ० 178
2. त० भा०, पृ० 39
3. न्या० ली०, पृ० 241; न्या० म०, भा० 1 पृ० 185

जिस कर्म के अव्यवहित उत्तरकाल में फल की उत्पत्ति हो जाती है उसके साथ फल का कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करना सरल है। किन्तु बहुधा कर्म और उसके फल के बीच, विशेषतः वैदिक कर्मों तथा उनके फलों के बीच, बहुत बड़ा व्यवधान देखा जाता है, जिससे साक्षात् कार्य-कारण-भाव की स्थापना में कठिनाई आ जाती है। वैदिक कर्मों के फल परोक्ष या सुदूरवर्ती अवश्य होते हैं, किन्तु इन्हें निरर्थक नहीं माना जा सकता।[1] इस व्यवधान में कर्म और फल के बीच सम्बन्ध स्थापित करनेवाला एक कर्म-जन्य अदृष्ट मानना पड़ता है, जिसके माध्यम से कर्म फल का कारण बनता है।[2] यदि ऐसा न माना जाय तो बहुत पहले ही विनष्ट हुए कर्म को बहुत बाद मिलनेवाले फल का कारण नहीं कहा जा सकता। कार्य-कारण-भाव के अनिवार्य होने से यह भी कहना सम्भव नहीं है कि फल अपने आप उत्पन्न होता है, कर्म के साथ उसका कोई सम्बन्ध है ही नहीं। अदृष्ट के अस्तित्व में यह एक युक्ति है। साथ ही, एक ही प्रकार के साधनों--परमाणुओं--से असंख्य प्रकार के विश्वगत पदार्थों का निर्माण (वैचित्र्य) भी उपभोक्ता जीवों के विभिन्न अदृष्टों को माने बिना उत्पन्न नहीं हो पाता।[3]

इस अदृष्ट के अनुसार ही जीवों का उपभोग करना पड़ता है। यह अदृष्ट जड़ है। इसलिए अपने आप यह जागृत नहीं हो सकता। अतः इसका उद्बोधन करनेवाले या इसके अनुसार जगत् का निर्माण कर जीवों को उपभोग कराने वाले चेतन तत्त्व को अवश्य मानना है। यह ईश्वर ही हो सकता है, अन्य कोई प्राणी नहीं।

(3) (**आयोजन**)--आयोजन का अर्थ है दो अवयवों को मिलानेवाली क्रिया। दो परमाणुओं का संयोग परमाणुओं में संयोगानुकूल क्रिया के बिना नहीं हो सकता। इस संयोग के बिना सृष्टि का विकास ही रुक जायेगा। यह क्रिया परमाणुओं में तभी सम्भव है जब कोई चेतन तत्त्व उसका प्रेरक हो, क्योंकि परमाणुओं के स्वरूपतः जड़ होने के कारण उनमें स्वयं क्रिया उत्पन्न हो ही नहीं सकती।[4] यह प्रेरक तत्त्व ईश्वर है।

आयोजन का अर्थ संयोग भी किया जा सकता है। परमाणुओं का संयोग वही कर सकता है जो इन्हें देखना हो और इन्हें आपस में मिलाने की क्षमता रखता हो। इस तरह का संयोग करनेवाला और इसकी क्षमता रखनेवाला तत्त्व ईश्वर है।

---

1. न्या० कु०, 1/8
2. वही, 1/9
3. वही, 1/4
4. न्या० वा०, 4/1/21, पृ० 459-60; न्या० क०, पृ० 141

(4) **धृति**—धृति का अर्थ है धारण करना। यह जगत् अचेतन है। यदि कोई चेतन इसका कारण (Support) करनेवाला नहीं होता तो यह अब तक नष्ट हो गया होता। यह ईश्वर का ही **'विधारक प्रयत्न'**[1] है जिसके चलते यह जगत् अब तक अपने स्थान पर स्थिर है। धारण करने का काम जड़ अदृष्ट से तो हो ही नहीं सकता। अतः ईश्वर है।

(5) **विनाश**—जिस वस्तु—भावात्मक तत्त्व—का आदि होता है उसका अन्त भी अवश्य होता है। चूँकि जगत् का आदि है, इसलिए इसका अन्त भी होगा ही। यही प्रलय कहलाता है। जैसे जगत् का निर्माण वा सृष्टि एक चेतनकर्ता की अपेक्षा रखती है वैसे ही इसका अन्त भी। यह विनाशकारी तत्त्व ईश्वर है।

(6) **पद**—**'पद'** का अर्थ है व्यवहार। यह सीखने की चीज है। कोई भी कला बिना शिक्षा के कोई व्यक्ति सीखता नहीं है। इसके मूल में एक न एक शिक्षक अवश्य होता है। इस जगत् के समस्त व्यवहारों का भी एक शिक्षक होना चाहिए। सृष्टि के प्रारम्भ के बाद तो बहुत-से शिक्षक सुलभ हो सकते हैं। परन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में जब जीवों के शरीरों का निर्माण होता है, उस समय सबके सब व्यवहार से पूर्ण अपरिचित रहते हैं। उस समय यदि इन्हें व्यवहार की शिक्षा न दी जाय तो आगे की जीवन-यात्रा अवरुद्ध हो जायेगी। इसलिए सर्गादि में एक शिक्षक चाहिए। यह शिक्षक सर्वज्ञ ईश्वर है।[2]

(7) **प्रत्यय**—प्रत्यय शब्द का अर्थ है प्रामाणिकता। वेद की प्रामाणिकता के आधार पर भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध है। न्याय दर्शन प्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति (= ज्ञान) को परतः मानता है। इसीलिए इस दर्शन को परतःप्रामाण्यवादी कहा जाता है। वेद भी शब्द-प्रमाण है। इसकी प्रामाणिकता का ज्ञान तो इसके अनुसार किये गये कार्यों की सफलता पर निर्भर है। वैदिक कार्यों की सफलता में न्याय दर्शन सन्देह नहीं रखता।[3] जब वेद-वाक्यार्थ में प्रामाणिकता का ज्ञान—अनुमान—होता है तो उसमें प्रामाणिकता की सत्ता और इसलिए इसकी उत्पत्ति भी माननी ही पड़ती

---

1. जिस प्रयत्न के प्रभाव से ऊपर के पदार्थ का अधःपतन नहीं होता, उसे 'विधारक प्रयत्न' कहा जाता है। पक्षी का उड़ते समय आकाश से अधःपतन न होने का कारण पक्षी का 'विधारक प्रयत्न' है। देखिये, वै० सू० उप०, 5/1/7
2. न्या० कु०, 2/2
3. वही, 1/8

है। शब्द-प्रमाण में प्रामाणिकता की उत्पत्ति का मुख्य साधन है वक्ता का सत्यवादी अर्थात् आप्त होना। सत्यवादी वक्ता वही हो सकता है जो स्वयं वाक्यार्थ का यथार्थ ज्ञान वाक्य के उच्चारण से पहले से ही रखता हो। इसीलिए वेद का वक्ता वही हो सकता है जो वेद में प्रतिपादित अतीन्द्रिय वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान से सम्पन्न हो। ऐसे ज्ञान से सम्पन्न सत्यवादी वेदवक्ता ईश्वर है।

(8) **श्रुति**—श्रुति का अर्थ वेद है। वेद किसी चेतन व्यक्ति की रचना है, क्योंकि जो चेतन व्यक्ति की रचना नहीं है वह वेद भी नहीं है। विभिन्न अतीन्द्रिय पदार्थों के प्रतिपादक वेद का रचयिता ईश्वर है। इसीलिए न्याय शास्त्र की दृष्टि में वेद को **'पौरुषेय'** माना गया है।

सातवें और आठवें हेतुओं में अन्तर यही है कि सातवें के अनुसार वेद की प्रामाणिकता के निमित्त उसके रचयिता के लिए आवश्यक सत्यवादिता—आप्तता—के आधार के रूप में ईश्वर की सत्ता प्रमाणित होती है, जबकि आठवें हेतु द्वारा केवल वेद के रचयिता के रूप में।

आठवें हेतु की दूसरी व्याख्या भी रोचक है। इस व्याख्या के अनुसार वेद-वाक्यों से भी ईश्वर की सत्ता प्रमाणित होती है।[1]

इस प्रसंग में ईश्वर के आधार पर वेद की सत्ता और वेद के आधार पर ईश्वर की सत्ता को ध्यान में रखकर अन्योन्याश्रय दोष दिखलाना सम्भव नहीं है। अन्योन्याश्रय दोष दो दृष्टियों से होता है—उत्पत्ति की दृष्टि से और ज्ञान की दृष्टि से। सत्ता की दृष्टि से भी यह दोष हो सकता है। यदि 'एक वस्तु' की उत्पत्ति, स्थिति (सत्ता) या ज्ञप्ति (ज्ञान) 'दूसरी वस्तु' की उत्पत्ति, स्थिति या ज्ञप्ति पर निर्भर हो और उस 'दूसरी वस्तु' की उत्पत्ति, स्थिति या ज्ञप्ति 'एक वस्तु' की उत्पत्ति, स्थिति या ज्ञप्ति पर निर्भर हो तो यह दोष प्रस्तुत हो जाता है। एक की उत्पत्ति और दूसरे की स्थिति या ज्ञप्ति, एक की स्थिति और दूसरे की उत्पत्ति या ज्ञप्ति के परस्परापेक्षी होने पर यह दोष नहीं आता है। प्रस्तुत में ईश्वर का ज्ञान वेद पर निर्भर है और वेद की सत्ता या प्रामाणिकता ईश्वर पर निर्भर है, न कि दोनों की सत्ता दोनों पर निर्भर है। इसलिए अन्योन्याश्रय दोष की कुछ भी सम्भावना नहीं है।[2] साथ ही, एकमात्र वेद से ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान भी नहीं होता। इसलिए भी उक्त दोष देना अनुचित है।[3]

---

1. वही, 5/16
2. म० द० स०, पृ०, 256
3. न चेतरेतराश्रयम्, आगमैकशरणत्वाभावादीश्वरसिद्धेः।—न्या० म०, भा० 1, पृ० 183

(9) **वाक्य**—सातवाँ और प्रथम व्याख्या के अनुसार आठवाँ हेतु भी इस बात पर निर्भर है कि वेद पौरुषेय है। किन्तु मीमांसक वेद को नित्य अपौरुषेय मामते हैं। इसलिए उक्त दोनों हेतुओं के समर्थन में वेद को पौरुषेय सिद्ध करना नैयायिकों के लिए अत्यावश्यक है। यह हेतु यही कार्य करता है। अतएव इसे उक्त हेतुओं का पूरक माना जा सकता है।

इस हेतु का अभिप्राय यह है : हम जितने भी वाक्य सुनते-पढ़ते हैं वे सब पौरुषेय हैं। फिर वेद-वाक्य में कौन-सी अनोखी विशेषता है कि इसे पौरुषेय न माना जाय ? हाँ, अतीन्द्रिय वस्तुओं का प्रतिपादन वेद-वाक्य द्वारा होता है, यह बात सत्य है। किन्तु एक अतीन्द्रियार्थदर्शी की रचना इसे मानने में क्या आपत्ति है ? अतः वेद पौरुषेय अवश्य है। इसका रचयिता पुरुष ईश्वर है।

(10) **संख्या-विशेष**—न्याय दर्शन के अनुसार दो दो परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक और तीन तीन द्वयणुकों के संयोग से त्र्यणुक के निर्माण के माध्यम से इस जगत् की रचना हुई है। परमाणु द्वयणुक तथा त्र्यणुक द्रव्य हैं। परिमाण (Dimension) द्रव्य मात्र का साधारण गुण है। परमाणु का परिमाण अणु है। द्वयणुक का परिमाण भी अणु है। दोनों में अन्तर यही है कि परमाणु का अणु-परिमाण नित्य है और द्वयणुक का अनित्य। अनित्य परिणाम की उत्पत्ति होती है। इसके लिए इसके आधार-भूत द्रव्य के समवायि कारणों में वर्तमान गुण, साधारणतः परिमाण ही, अन्यतम कारण होता है। अब प्रश्न है द्वयणुक के अणु-परिमाण की उत्पत्ति का। द्वयणुक के समवायि कारण दो परमाणु हैं। यदि इन दोनों के नित्य अणु-परिमाणों से द्वयणुक के अणु-परिमाण की उत्पत्ति मान ली जाय, जैसा साधारण दृष्टि से प्रतीत होता है, तब तो द्वयणुक के परिमाण को अणु न होकर अणुतर हो जाना चाहिए, क्योंकि परिमाण का स्वभाव है कि वह उत्कृष्टतर सजातीय परिमाण का उत्पादन करता है।[1] किन्तु द्वयणुक का परिमाण अणु है, अणुतर नहीं। यह सम्भव भी नहीं है, क्योंकि तब तो जगत् के विकासक्रम में बाधा पड़ जायेगी। इसलिए न्याय-वैशेषिक का यह सिद्धान्त है कि द्वयणुक का परिमाण दो परमाणुओं की द्वित्व संख्या से उत्पन्न होता है।[2]

द्वित्व आदि संख्या की उत्पत्ति में ज्ञाता की **'अपेक्षा-बुद्धि'** (Relative notion) निमित्त कारण है। यह बुद्धि द्रष्टा ईश्वर की हो सकती है, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में अन्य कोई व्यक्ति रहता ही नहीं। अतः द्वयणुक के परिमाण के उत्पादक

---

1. मुक्ता०, कारि० 15; न्या० क० पृ० 328
2. प० ध० सं०, पृ० 327-329

दो परमाणुओं में वर्तमान द्वित्व संख्या की उत्पत्ति के निमित्त कारण अपेक्षा-बुद्धि के आधार के रूप में ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित होता है। इसी तरह त्र्यणुक के महत् परिमाण के आधार पर भी ईश्वर के अस्तित्व का समर्थन होता है।[1]

उपसंहार

ऊपर न्याय शास्त्र के अनुसार प्रमुख विषयों का विवेचन किया गया है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि तर्कपूर्ण विश्लेषण न्याय शास्त्र की सबसे बड़ी विशेषता है। इसे अपनाये बिना अन्य कोई भी भारतीय दर्शन अपने पक्ष को स्थिर नहीं कर सका है। वात्स्यायन का 'प्रदीपः सर्वविद्यानाम्' कथन अक्षरशः सत्य है। इस दर्शन का परमाणुवाद भी महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि प्राचीन दार्शनिकों ने इसका खण्डन किया है, तथापि किसी वैज्ञानिक उपकरण द्वारा परीक्षण किये बिना, मात्र तर्क के बल पर, स्थूल भूतों का परमाणुओं तक विश्लेषण का कार्य न्याय शास्त्र के लिए बहुत ही गौरवास्पद है। इसी प्रकार प्रमाणों की व्याख्या में भी इसका तार्किक रूप स्पष्ट दीखता है।

न्याय दर्शन में कुछ ऐसी भी बातें हैं जिनका तार्किक आधार सुदृढ़ नहीं है। ऐसी बातों में ईश्वरवाद अन्यतम है। ईश्वर को एक ओर जीवों को अदृष्ट की परतंत्रता से और दूसरी ओर परमाणुओं की, संसार-निर्माणार्थ, अनिवार्य आवश्यकता से न्याय शास्त्र ने इस तरह जकड़ दिया है कि उसकी सर्वशक्तिसत्ता ही खटाई में पड़ जाती है। इसलिए इस दर्शन के ईश्वरवाद की कटु आलोचना अन्य दार्शनिकों ने की है। साथ ही इस जगत् के निर्माण में ईश्वर की कारुणिकता का सिद्धान्त भी विचित्र-सा है।[2]

इस दर्शन का मोक्षवाद भी अन्य दार्शनिकों के उपहास का विषय रहा है। श्रीहर्ष ने तो गौतम को इसलिए 'गोतम' (अच्छा बैल) कहा है।[3] मोक्ष की अवस्था में आत्मा पत्थर-सा बना पड़ा रहता है। उनमें न तो चेतन रहती है और न किसी प्रकार का आनन्द ही। मन के अधीन इस समय भी वह पड़ा रहता है। इस वैष्णव भक्त ने तो इतना तक कहा है कि वृन्दावन में सियार बनकर रहना न्याय-वैशेषिक शास्त्रों के मोक्ष की प्राप्ति से अच्छा है।[4]

---

1. वही, पृ० 322-324
2. सां० त० कौ०, 57
3. नै० च०, 17/75
4. वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्।
   वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितात्॥
   —सर्वसिद्धान्तसंग्रह, नैयायिक-पक्ष-प्रकरण, श्लोक 41-42, पृ० 21-22

अध्याय 10

वैशेषिक-दर्शन

[अपने देश के उन दर्शनों में जिन्होंने समूचे विश्व की व्याख्या देने का प्रयत्न किया है, वैशेषिक दर्शन का स्थान अन्यतम है। यह दर्शन मनुष्य की सहज बुद्धि के निकट है। वैशेषिक दर्शन वस्तुवादी है, वह गोचर जगत् को सत्य मानता है। ज्ञान-मीमांसा में वस्तुवाद का अर्थ यह होता है कि हमारे ज्ञान का विषय हमसे अलग, अर्थात् ज्ञाता से स्वतन्त्र रूप में, अस्तित्व रखता है। इसके विपरीत प्रत्ययवादी दर्शन या तो ज्ञेय विषय को ज्ञाता का सापेक्ष मानते हैं, या प्रत्यय अथवा विज्ञान-रूप। इसके विपरीत वस्तुवादी वैशेषिक सामान्य (जाति) और अभाव जैसे पदार्थ को भी ज्ञाता से स्वतन्त्र अस्तित्ववाला मानता है।

वैशेषिक दर्शन सप्तपदार्थवादी है। द्रव्य, गुण, कर्म (गति), समवाय, सामान्य, विशेष और अभाव इन सात पदार्थों के अन्तर्गत विश्व की हर चीज आ जाती है। पाँच महाभूत, काल, दिक्, आत्मा और मन, ये नौ द्रव्य हैं। गुणों की संख्या चौबीस तक बतलायी गयी है। कर्म के चार भेद हैं, इत्यादि। वास्तव में भौतिक जगत् की व्याख्या वैशेषिक और सांख्य दो ही दर्शनों में मौलिक रूप से की गयी है। जैन दर्शन की भाँति वैशेषिक दर्शन भी परमाणु-वादी है। किन्तु वैशेषिक दर्शन विश्व के स्रष्टा के रूप में ईश्वर को भी मानता है—कम से कम वैशेषिक के अनुयायी वैसा मानने लगे।

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक कणाद ऋषि कहे जाते हैं, जिन्होंने वैशेषिक सूत्रों की रचना की। सम्भवतः ये ऋषि कटे खेतों से कण बीनकर अपना गुजर करते थे। उन्हें कणभुक्, कणभक्ष और कहीं कहीं उलूक या औलूक नाम से भी अभिहित किया गया है। इनके दर्शन को औलूक्य दर्शन भी

कहते हैं। सम्भवतः 'विशेष' नामक पदार्थ को मानने के कारण इस दर्शन का नाम वैशेषिक पड़ा। प्रायः उक्त दर्शन के अनुयायी शिव या पशुपति के भक्त रहे हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि भारत के परवर्ती दर्शनों पर वैशेषिक तथा सांख्य की व्याख्यात्मक अवधारणाओं का व्यापक प्रभाव दिखाई पड़ता है।—सम्पादक]

वैशेषिक का साहित्य

वैशेषिक साहित्य का प्रथम ग्रन्थ कणाद का 'वैशेषिकसूत्र' या 'वैशेषिक दर्शन' है। इस ग्रन्थ के सूत्र-पाठ के बारे में मतभेद है। इसका मुख्य कारण यह जान पड़ता है कि इसपर कोई प्राचीन भाष्य नहीं मिलता। वर्तमान 'वैशेषिक-सूत्र' में दस अध्याय हैं। 'उपस्कार' के अनुसार प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक हैं, किन्तु अन्य व्याख्याओं में आठवें अध्याय से लेकर आह्निकों में विभाजन नहीं मिलता।

'वैशेषिक सूत्रों' का समय निश्चित नहीं हो सका है। कुप्पूस्वामी आदि कुछ भारतीय विद्वान् सूत्रों का समय चतुर्थ शती ई० पू० मानते हैं, याकोबी के अनुसार उनका समय 200 ई० है। बौद्ध तथा जैन साहित्य से ज्ञात होता है कि 'वैशेषिक सूत्र' के ऊपर 'वाक्य', 'रावण-भाष्य', 'कटन्दी', 'भाष्य' तथा 'आत्रेय-भाष्य' आदि व्याख्याएँ लिखी गयी थीं, किन्तु आज ये उपलब्ध नहीं हैं। सातवीं शती में चन्दानन्द की एक 'वृत्ति' (बड़ौदा, 1861), तेरहवें शतक के आस पास एक अन्य 'वृत्ति' (मिथिला विद्यापीठ, 1957), तथा पन्द्रहवें शतक में शंकर मिश्र की 'उपस्कार' नामक वृत्ति लिखी गई; ये वृत्तियाँ उपलब्ध हैं। इनमें दरभंगा से प्रकाशित 'वृत्ति' अपूर्ण है।

प्रशस्तपाद का 'पदार्थधर्मसंग्रह' वैशेषिक का पुराना और प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह सूत्रों पर भाष्य नहीं है, अपितु एक स्वतंत्र ग्रन्थ है। महत्त्व की दृष्टि से यह दूसरे सम्प्रदायों के भाष्य-ग्रन्थों के समान है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर अनेक टीकाएं लिखी गई जिनमें कई अपूर्ण हैं। व्योमशिव (सातवीं शती) की 'व्योमवती', श्रीधर (दसवीं शती) की 'न्यायकन्दली', उदयन (दसवीं शती) की 'किरणावली', जगदीश (पन्द्रहवीं शती) की 'सूक्ति' तथा पद्मनाभ मिश्र (सोलहवीं शती) की 'सेतु' टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। श्रीवल्लभ का 'न्यायलीलावती' वैशेषिक दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसपर वर्धमान उपाध्याय (1300 ई०) और शंकर मिश्र की टीकाएँ ('प्रकाश' और 'कण्ठाभरण') प्रकाशित हैं। पक्षधर मिश्र (1500 ई०) की 'विवेक टीका' और रघुनाथ शिरोमणि (1600 ई०) की 'दीधिति, अभी प्रकाशित नहीं हुई हैं। श्रीवल्लभ का समय 1200

ई० है। शिवादित्य मिश्र (10वीं शती) का 'सप्तपदार्थी' भी प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसपर अनेक टीकाएँ (माधव सरस्वती की 'मितभाषिणी', शेषानन्त की 'पदार्थचन्द्रिका', बलभद्र का बलभद्र-सन्दर्भ' तथा जिनवर्धन सूरि की 'जिनवर्धनी') लिखी गयी है।

इनके अतिरिक्त उदयनाचार्य की संक्षिप्त 'लक्षणावलि' तथा शंकर मिश्र का 'कणादरहस्य' उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

अन्य भारतीय दर्शनों के समान वैशेषिक दर्शन का उद्देश्य भी मोक्ष या अपवर्ग-प्राप्ति के मार्ग का निर्देश है। कणाद के अनुसार द्रव्य आदि पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति संभव है। आगे हम इन पदार्थों का क्रमबद्ध वर्णन करेंगे।

द्रव्य (Substance)

महर्षि कणाद के अनुसार क्रिया का आश्रय, गुण का आश्रय अथवा समवायि कारण जो पदार्थ होता है वही द्रव्य है।[1] इनमें प्रथम दो परिभाषाएँ अपने आपमें अपूर्ण हैं। इसका कारण यह है कि वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार, कार्य-कारण-भाव की व्याख्या के लिए, यह माना जाता है कि जिस क्षण में द्रव्य की उत्पत्ति होती है उस क्षण में उसमें कोई गुण या क्रिया नहीं रहती (**उत्पन्नं द्रव्य क्षणमगुणं निष्क्रियं च तिष्ठति**)।[2] गुण अथवा क्रिया की उत्पत्ति तो द्रव्य की उत्पत्ति के क्षण के परवर्ती क्षण में ही सम्भव है। अतः उत्पत्ति के क्षण में वर्तमान द्रव्य के साथ पहले दो परि-भाषाओं के समन्वय के अभाव में इन्हें अपूर्ण माना जाता है। पहली परिभाषा में तो यह भी एक बड़ी त्रुटि है कि उसका समन्वय आकाश, काल, दिक् और आत्मा, इन चार व्यापक द्रव्यों के साथ कभी नहीं हो सकता, क्योंकि ये सब निष्क्रिय द्रव्य हैं। इनमें क्रिया कभी होती ही नहीं। दूसरी परिभाषा (गुण का आश्रय होना) की व्याख्या परवर्ती लेखकों ने यह की है कि गुण का आश्रय होने की योग्यता जिस पदार्थ में हो वह द्रव्य है। इसका तात्पर्य यह है कि द्रव्य में गुण का अत्यन्ताभाव, उत्पत्ति के क्षण में भी, नहीं है,[3] क्योंकि प्राचीन न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार ध्वंस और प्राग-भाव के साथ-साथ अत्यन्ताभाव नहीं रहता है।[4] अतः उत्पत्ति के क्षण में द्रव्य में गुण

---

1. वै० सू०, 1/1/15
2. त० भा०, पृ० 33
3. वही, पृ० 36
4. मुक्ता०, कारि०12–13

का प्रागभाव रहने के कारण गुण का अत्यन्ताभाव नहीं रह सकता। इसीलिए गुणाश्रय होने का अर्थ गुण के अत्यन्ताभाव के विरोधी तत्त्व से सम्पन्न होना भी किया जाता है।[1] किन्तु नव्य नैयायिक ध्वंस तथा प्रागभाव के साथ-साथ अत्यन्ताभाव के रहने में कोई विरोध नहीं मानते।[2] इसलिए यह व्याख्या भी बहुत अच्छी नहीं है। इन दोनों परिभाषाओं की अपेक्षा तीसरी परिभाषा—समवायि कारण होना, अधिक अच्छी है। परन्तु विनाश के क्षण से अव्यवहित-पूर्व क्षण (Immediately preceding moment) में द्रव्य समवायि कारण भी नहीं हो पाता, क्योंकि उसके परवर्ती क्षण में द्रव्य के विनष्ट हो जाने के कारण कोई कार्य ही उत्पन्न नहीं होता। अतः कारण होने की कोई बात नहीं उठती। फलतः यह परिभाषा भी यद्यपि सूक्ष्म परीक्षण में विशुद्ध नहीं है, फिर भी काम चलाने के लिए यह बहुत कुछ ठीक है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के अतिरिक्त द्रव्यत्व[3] जाति से सम्पन्न होना भी द्रव्य का एक लक्षण किया गया है। द्रव्यत्व जाति अनुमान-सिद्ध है। तर्क की दृष्टि से अत्यन्त शुद्ध होने पर भी यह परिभाषा ज्ञान की दृष्टि से अव्यावहारिक या कम से कम वक्र अवश्य है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य के नौ भेद हैं : पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन।[4]

पृथिवी

गन्ध के समवायि कारण को अथवा पृथिवीत्व जाति से सम्पन्न द्रव्य को पृथिवी कहते हैं। इसमें चौदह गुण—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण (Dimension), पृथक्त्व (Separateness), संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व (Liquidity) और संस्कार—उपलब्ध होते हैं।[5] पृथिवी के रूप के सात प्रकार

---

1. उप०, 1/1/15; न्या० ली० कण्ठाभरण, पृ० 753
2. मुक्ता०, कारि० 12–13
3. द्रव्यत्व जाति की सिद्धि के लिए देखिये, वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन, पृ० 20—23
4. इनमें कम या अधिक द्रव्य नहीं माने जाते। अन्धकार को द्रव्य माननेवाले मीमांसक-मत तथा इसके खण्डन के लिए देखिये, न्याय० ली०, पृ० 18–20, 36–37
5. प० ध० सं०, पृ० 71

हैं—शुक्ल, नील, पीला, लाल, हरा, कपिश (Brown) और चित्र अथवा मिश्रित। नील रूप से भिन्न काला रूप वैशेषिक दर्शन में नहीं माना गया है। किन्तु यह अस्वाभाविक है। इसमें छह प्रकार के रस पाये जाते हैं—मधुर आम्ल (Sour), लवण (Saline), कटु (Pungent), कषाय (Astringent) और तिक्त। पृथिवी की गन्ध को दो भाँगों में बाँटा गया है—सुगन्धि (सुरभि) और असुगन्धि (असुरभि)। असुगन्धि के अन्दर दुर्गन्ध और वह गन्ध भी आ जाती है जो न सुगन्धि हो और न दुर्गन्ध ही।[1] इसके स्पर्श की यह विशेषता है कि स्वभाव से यह गर्म भी नहीं होता है और शीतल भी नहीं (अनुष्णाशीत) तथा तेज—आग या सूर्य-किरण आदि—के सम्पर्क से बदल जाता है। इसे ही '**पाकज**' कहते हैं। पृथिवी का द्रवत्व भी पाकज है। ऐसे द्रवत्व को **नैमित्तिक द्रवत्व** कहते हैं। संस्कार के तीन उपभेद हैं—वेग, भावना (Impression) और स्थिति-स्थापक (Elasticity)। इनमें से वेग और स्थिति-स्थापक पृथिवी में उपलब्ध होते हैं।

पृथिवी के नित्य तथा अनित्य दो भेद हैं। नित्य भेद के अन्तर्गत पार्थिव **परमाणु** आते हैं जो पृथिवी के सूक्ष्मतम, अविभाज्य तथा शाश्वत स्वरूप हैं। अनित्य पृथिवी के अन्तर्गत द्वयणुक (Diad) से लेकर समस्त पार्थिव तत्त्व तक आ जाते हैं। चूँकि द्वयणुक आदि का उत्पादन भी होता है और विनाश भी, इसलिए ये सब अनित्य हैं। इन्हें '**कार्य**' भी कहते हैं। अनित्य पार्थिव तत्त्वों को तीन भागों में बाँटा गया है—शरीर, इन्द्रिय और विषय।[2]

जीवात्मा के सुख-दुःख के उपभोग का साधन अन्त्यावयवी (Final Composite Whole) **शरीर** है। भूमण्डल पर उपलब्ध मानव, पशु, पक्षी आदि के शरीर पार्थिव हैं।[3] इसका अर्थ केवल इतना है कि इन शरीरों का उपादान कारण (Material Cause) एकमात्र पृथिवी है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं समझना चाहिए कि पार्थिव शरीरों के निर्माण में जल आदि तत्त्वों का उपयोग होता ही नहीं। जल आदि का भी निमित्त कारण के रूप में उपयोग अनिवार्य है।[4] पार्थिव शरीर के भी योनिज, अयोनिज आदि भेद-उपभेद हैं।

---

1. न्या० क०, पृ० 77
2. वै० सू०, 4/2/1
3. न्या० सू०, 3/1/27; वै० सू०, 4/2/2-3
4. वै० सू०, 4/2/4

घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है ।[1] चूँकि घ्राणेन्द्रिय पृथिवी के विशेष गुण गन्ध के प्रत्यक्ष में ही समर्थ हो पाती है, अन्य किसी भी तत्त्व के प्रत्यक्ष में नहीं, इसलिए घ्राणेन्द्रिय और गन्ध के बीच बहुत अन्तरंग सम्बद्ध सिद्ध है । इसी कारण घ्राणेन्द्रिय को पृथिवी से उत्पन्न माना गया है । शरीर के साथ संयुक्त ज्ञान का मुख्यतम साधन—करण—इन्द्रिय है ।

शरीर और इन्द्रिय से भिन्न अनित्य पृथिवी के जितने भेद-उपभेद हैं सब पार्थिव विषय हैं । यद्यपि शरीर तथा इन्द्रिय भी विषय से बहिर्भूत नहीं हैं, तथापि शिष्यों को स्पष्ट रूप में पृथिवी के विभिन्न रूपों से परिचित कराने के उद्देश्य से ही पार्थिव विषय से पृथक् पार्थिव शरीर तथा इन्द्रिय की गणना की गई है । व्यापक दृष्टिकोण अपनाने पर यह भी स्पष्ट है कि नित्य पृथिवी परमाणु भी विषय है ।

पृथिवी की भाँति ही जल, तेज या अग्नि और वायु का वर्णन वैशेषिक साहित्य में मिलता है । स्वाभाविक शीतल स्पर्श से सम्पन्न द्रव्य जल है । पृथिवी की भाँति जल के भी नित्य और अनित्य दो भेद हैं । हमारी रसनेन्द्रिय, जो जीभ के अग्रभाग में रहती है, मुख्यतः जल से बनी है । स्वाभाविक उष्ण स्पर्श से युक्त द्रव्य तेज या अग्नि है । इनमें भास्वर शुक्ल रूप रहता है । चक्षु या आँख तेज से उत्पन्न इन्द्रिय मानी जाती है । वैशेषिक के अनुयायी सुवर्ण या सोने का तैजस द्रव्य मानते हैं । रूप-हीन किन्तु स्पर्श-युक्त द्रव्य वायु है । त्वक् या त्वचा वायु से उत्पन्न इन्द्रिय है; उसी से (नव्य नैयायिकों के अनुसार) वायु का प्रत्यक्ष होता है ।

आकाश

शब्द गुणवाला द्रव्य आकाश है । शब्द गुण का आश्रय दूसरा कोई द्रव्य नहीं हो सकता, इसलिए परिशेषानुमान से यह सिद्ध होता है कि शब्द आकाश का गुण है। शब्द आकाश का अनुमापक (अनुमान करनेवाला) भी है । आकाश विभु है, क्योंकि शब्द सर्वत्र उपलब्ध होता है । आकाश एक और नित्य है ।

काल

आकाश के समान काल भी वैशेषिक दर्शन का एक नित्य तथा व्यापक द्रव्य है । यह रूप या स्पर्श आदि गुणों से सम्पन्न न होने के कारण हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो पाता । इसलिए काल की सत्ता को सिद्ध करने के लिए अनुमान

---

1. वै० सू०, 4/2/5; प० ध० सं०, पृ० 82

प्रमाण की आवश्यकता है। अनुमापक हेतुओं के रूप में वैशेषिक दर्शन में परत्व और अपरत्व (Priority and Posteriority) की, योगपद्य (Simultaneity) की, अयोगपद्य—पौर्वापर्य (Succession) की, शीघ्रता—क्षिप्रत्व और विलम्ब—चिरत्व की धारणाओं को प्रस्तुत किया गया है। दिन, रात्रि, मास, ऋतु आदि के व्यवहारों को भी काल का अनुमापक माना गया है।

दिक्

इस जगत् के मूर्त्त द्रव्यों की आपेक्षिक स्थिति (Relative Position) की व्याख्या के लिए एक दिक् (Space) नाम का द्रव्य भी वैशेषिक दर्शन में माना गया है। यह भी काल के समान अप्रत्यक्ष है। अतः इसकी सत्ता का अनुमान करना पड़ता है। वैशेषिक दर्शन में दूरी और समीपता की व्याख्या के लिए इसकी सत्ता मानी गई है।

आत्मा

वैशेषिक का आत्मा-सम्बन्धी मत न्याय के समान ही है। आत्मा का मानस-प्रत्यक्ष होता है या नहीं, इस सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। कणाद और प्रशस्तपाद आत्मा का मानस-प्रत्यक्ष नहीं मानते, ऐसा जान पड़ता है। किन्तु बाद के लेखक और व्याख्याकार, जैसे शंकर मिश्र, आत्मा का मानस-प्रत्यक्ष मानते हैं। शेष बातों में वैशेषिक का मत प्रायः न्याय के समान है।

मन

वैशेषिक दर्शन का नवम द्रव्य है मन। यह प्रत्यक्ष के अयोग्य है। इसका अस्तित्व अनुमान-साध्य है। ज्ञान की उत्पत्ति में पौर्वापर्य (Succession) के आधार पर ही मन का अनुमान किया जाता है। इसे इस प्रकार स्पष्ट करना चाहिए—एक 'क' नामक व्यक्ति है। वह एक टेबुल पर बैठकर लिख रहा है। उसकी आँखें लिखी लिपियों से, हाथ कलम से, मुँह में-यदि पान आदि हों तो जिह्वा (रसना) पान आदि के रस से साथ-साथ सम्बद्ध हैं। इसे हम इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष कहते हैं। यह प्रत्यक्ष ज्ञान का अन्यतम साधन है। व्यापक होने के कारण 'क' की आत्मा का सभी इन्द्रियों—आँख, हाथ (इसका तात्पर्य त्वगिन्द्रिय से है, जिससे स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है) और रसना के साथ सम्बन्ध भी स्वाभाविक है। इस प्रकार आत्मा, इन्द्रियों और ज्ञेय पदार्थों के परस्पर सम्बद्ध होने पर भी, एक ही समय सब ज्ञान—चक्षु से चाक्षुष प्रत्यक्ष, त्वगिन्द्रिय से स्पर्श-प्रत्यक्ष और रसना से रस-प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं हो पाते।

कभी पहले चक्षु से तो कभी पहले त्वक् से तो कभी पहले रसना से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इससे सिद्ध है कि प्रत्यक्ष ज्ञान का आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के अतिरिक्त भी कोई अप्रत्यक्ष साधन है जिसके रहने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है और न रहने पर नहीं। यही अप्रत्यक्ष साधन मन है[1]। इसलिए जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ आत्म-सम्बद्ध मन का सम्बन्ध रहता है उस समय उसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष ज्ञान हो पाता है, अन्य इन्द्रिय से नहीं। मन के अनुमान में न्याय दर्शन की भी यही पद्धति है। वास्तविकता तो यह है कि न्याय दर्शन मन के सिद्धान्त के लिए वैशेषिक दर्शन का ऋणी है।

मन की सत्ता के समर्थन में दूसरे प्रकार से भी अनुमान प्रस्तुत किया जाता है। किसी भी वस्तु का ज्ञान प्रमाण—प्रमा-साधन—के बिना नहीं हो पाता। सुख आदि गुणों का प्रत्यक्ष तो सबको होता है। यह प्रत्यक्ष भी एक साधन—कारण—की अपेक्षा रखेगा ही। साधन मन है, क्योंकि चक्षु आदि अन्य इन्द्रियाँ इसके साधन नहीं हो सकतीं। इसीलिए 'सुख आदि के प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन अन्तःकरण को मन कहते हैं'—यह परिभाषा भी ग्रन्थकारों ने की है।[2]

अनेक ज्ञानों की साथ-साथ उत्पत्ति न होने के कारण ही यह अणु-परिमाण-वाला माना जाता है। यदि यह मध्यम परिमाण का—समस्त शरीर को व्याप्त करनेवाला—होता तो एक ही समय अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होने की व्याख्या असम्भव हो जाती। कदाचित् एक समय अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति प्रतीत होती है, किन्तु वह भ्रम है[3]। भ्रम का आधार है बड़ी शीघ्रता से एक के बाद दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति। अतः न्याय-वैशेषिक दर्शन **सांख्य** के **मध्यमपरिमाणवाद** और **योग दर्शन** के **विभुत्ववाद** को नहीं मानता। एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होने के आधार पर ही यह भी सिद्ध है कि एक शरीर में एक ही मन रहता है, अनेक नहीं[4]।

चूँकि इसके अवयवयुक्त होने का कोई प्रमाण नहीं है इसलिए यह नित्य है[5]। नित्य होने तथा व्यापक—विभु—न होने के कारण भी इसे अणु मानना

---

1. वै० सू०, 3/2/1; न्या० सू०, 1/1/16
2. प० ध० सं०, पृ० 216-218; त०सं०, पृ० 13 (दीपिका-सहित)
3. न्या० म०, भा० 2, पृष्ठ 68; और भी देखिये, न्या० क०, पृष्ठ 223-24
4. वै० सू०, 3/2/3
5. न्या० म०, भा० 2, पृ० 68

चाहिए ।[1] यह अचेतन भी है, क्योंकि यह ज्ञान का कारण—मुख्यतम साधन—है, कर्ता नहीं ।[2] कर्ता तो आत्मा है, वही चेतन है । साथ ही, मन तथा आत्मा दोनों को चेतन मानने पर जीवित शरीर में दो चेतन तत्त्वों की सत्ता माननी पड़ेगी । इससे सारे कार्यों में बाधा पड़ेगी । दो चेतनों का मतैक्य सर्वदा सम्भव नहीं है ।

इसमें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेग नामक संस्कार, ये आठ गुण हैं । मुक्तावस्था में भी एक मुक्त आत्मा को दूसरी मुक्त आत्मा से भिन्न सिद्ध करनेवाला यही मन है जो एक-एक आत्मा के साथ व्यक्तिगत रूप में अनादि अनन्त सम्बन्ध रखता है ।

गुण (Quality)

वैशेषिक का दूसरा पदार्थ गुण है । द्रव्यों में आश्रित, गुणरहित और संयोग एवं विभाग का निरपेक्ष कारण न होनेवाला अपितु सापेक्ष कारण होनेवाला पदार्थ गुण है—यह कणाद की परिभाषा है ।[3] कर्म से भिन्न, सामान्य-युक्त एवं गुण-शून्य पदार्थ गुण हैं—इस प्रकार की परिभाषाएँ भी मिलती हैं ।[4] कर्म (क्रिया) तथा गुण द्रव्य में रहते हैं । इसलिए गुण में कोई क्रिया या कोई गुण नहीं रहता ।[5] यह सर्वदा द्रव्य में ही उपलब्ध होता है, अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं ।

वैशेषिक दर्शन में चौबीस प्रकार के गुण माने गये हैं । ये गुण हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण (Dimension) पृथक्त्व (Separateness), संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व (Liquidity), स्नेह (Viscidity), शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार ।

(धर्म, अधर्म इन दो परस्पर-विरोधी तत्त्वों का न्याय-वैशेषिक दर्शन में एक समूहवाचक नाम है **'अदृष्ट'** । विरोधी तत्त्वों में वर्तमान होने के कारण प्राचीन आचार्य **अदृष्टत्व** को जाति नहीं मानते । अतएव गुण के विभाजन में धर्म तथा अधर्म को अलग अलग रखकर उन लोगों ने चौबीस गुण माने हैं । यद्यपि संस्कार के भी

---

1. व्योम०, पृ० 426; न्या० क०, पृ० 223
2. प० ध० सं०, पृ० 224; न्या० म०, भा० 2, पृ० 68; किर०, पृ० 166-67
3. वै० सू०, 1/1/16
4. उप०, 1/1/16
5. प० ध० सं०, पृ० 227

तीन भेद हैं और रूप आदि गुण के भी, तथापि इनके भेदों को अलग अलग नहीं गिना गया है, क्योंकि संस्कार आदि के सब भेदों में **संस्कारत्व** आदि जातियाँ वर्तमान हैं। यह प्राचीनों का पक्ष है। परन्तु नवीन आचार्य **अदृष्टत्व** को भी जाति मानते हैं। यदि **अदृष्टत्व** के परस्पर विरोधी तत्त्वों में वर्तमान होने के कारण इसे जाति नहीं माना जाता है तो संस्कारत्व को भी जाति मानना सम्भव नहीं है। अतः नवीन आचार्य केवल परम्परा को ही इसका आधार मानते हुए प्रतीत होते हैं कि क्यों धर्म तथा अधर्म को स्वतन्त्र स्थान देकर भी वेग, भावना और स्थिति-स्थापक को, जो संस्कार के भेद हैं, पृथक् पृथक् न गिना जाय। इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि गुण 24 हैं या 26, या कम या अधिक, यह पक्ष दृष्टिकोण-भेद से स्थापित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, सामान्य गुण और विशेष गुण के रूप में विभाजन करने पर 24 के बदले 2 ही प्रकार के गुण सिद्ध होते हैं।[1]

उपर्युक्त गुणों में महर्षि कणाद ने गुण के भेदों की गणना करनेवाले सूत्र में[2] केवल रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न, इन 17 गुणों का ही उल्लेख किया है। परन्तु आगे चलकर यत्र-तत्र अन्य गुणों की भी चर्चा है। अन्य गुणों के बारे में आचार्यों में मतभेद है। कुछ लोग सूत्र में प्रयुक्त 'च' (=भी) से एवं कुछ आचार्य **अभ्युपगम सिद्धान्त** के आधार पर 24 गुणों को कणाद-सम्मत मानते हैं। इनके अतिरिक्त शूरता, उदारता आदि नाम के गुणों की वैशेशिक दर्शन में स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी गयी है, क्योंकि ये सब इन्हीं 24 में आ जाते हैं; जैसे—शूरता एक प्रकार का प्रयत्न है, क्योंकि प्रबल शत्रु को जीतने के लिए हुआ उत्साह ही शूरता है। इसी प्रकार उदारता दूसरों को सहायता देने की भावना है—यह एक प्रकार की **बुद्धि** है।[3]

आँख से जिसका प्रत्यक्ष हो वह गुण रूप है। रूप सात प्रकार का है, सफेद, नीला, पीला, लाल, हरा, कपिश या भूरा और चित्र या मिश्रित। रूप पृथ्वी, जल और अग्नि में रहता है। सात प्रकार का रूप पृथिवी में ही पाया जाता है! जल का रंग बिना चमक का सफेद है, अग्नि में चमकदार सफेद रहता है। रसना द्वारा ग्रहण किया जानेवाला गुण रस है, जो मीठा, खट्टा, नमकीन, कटु या तीखा, कषाय और

---

1. देखिये, वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन, पृ० 87-88
2. वै० सू०, 1/1/6
3. देखिये, वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन, पृ० 88-89

तिक्त या कड़वा, छह प्रकार का होता है। रस पृथिवी और जल में रहता है। जल में सिर्फ मधुर रस है। नासिका द्वारा ग्रहण होनेवाला, पृथ्वी में रहनेवाला गुण गन्ध है। उसके सुगन्ध और दुर्गन्ध दो भेद हैं। त्वचा द्वारा ग्राह्य गुण स्पर्श है। स्पर्श पृथिवी, जल, तेज और वायु में रहता है। शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत, तीन प्रकार का स्पर्श होता है। जल में शीत (ठंडा), अग्नि में उष्ण और पृथिवी तथा वायु में अनुष्णता स्पर्श रहता है।

एकत्व (एक) आदि व्यवहार का हेतु संख्या है जो नव द्रव्यों में रहती है। अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व, चार प्रकार के परिमाण होते हैं; वे अणु, महत् आदि व्यवहार के कारण हैं। 'यह इससे पृथक् है', इस व्यवहार का कारण पृथक्त्व गुण है जो सब द्रव्यों में रहता है। इसी प्रकार संयुक्त व्यवहार का हेतु संयोग है, यह भी सब द्रव्यों में रहता है। संयोग का नाश करनेवाला गुण विभाग है जो सब द्रव्यों में रहता है। पर और अपर के व्यवहार का साधारण कारण परत्व और अपरत्व गुण हैं। ये गुण देशकृत और कालकृत, दो तरह के होते हैं। पर का अर्थ है दूरी और अपर का अर्थ है निकटता। काल के सन्दर्भ में हम ज्येष्ठ और कनिष्ठ शब्दों का प्रयोग करते हैं। पहले पतन (गिरना) का असमवायि कारण गुण गुरुत्व कहलाता है, जो पृथ्वी और जल में रहता है। बहने का असमवायि कारण गुण द्रवत्व है जो पृथिवी और जल में रहता है। स्नेह गुण, जिसके कारण चूर्ण किये गये पदार्थ का पिण्ड बनता है, जल में रहता है। कान द्वारा ग्रहण किया जानेवाला गुण शब्द है, यह आकाश में रहता है। शब्द ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक दो तरह का होता है। वर्णात्मक शब्दों से भाषा बनती है; अन्यत्र भेरी आदि में ध्वन्यात्मक शब्द रहता है। ज्ञान या बुद्धि आत्मा का गुण है। उसके दो भेद हैं, अनुभव और स्मृति। यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते हैं। वैशेषिक की ज्ञान-मीमांसा लगभग न्याय के समान है। वैशेषिक वाले शब्द और उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते।

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म आत्मा के दूसरे गुण हैं। संस्कार गुण तीन प्रकार का होता है, वेग (जो चार महाभूतों और मन में रहता है), भावना और स्थिति-स्थापक। अनुभवजन्य संस्कार, जो स्मृति के कारण हैं, भावना कहलाते हैं। भावना आत्मा में रहती है। स्थिति-स्थापक संस्कार वह है जो बदली हुई स्थिति को फिर वापस ले आता है—जैसे खींची हुई रबर का फीता छोड़ने पर पुनः पुरानी शक्ल में आ जाता है।

आगे वैशेषिक के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का परिचय दिया जायगा

कर्म (Activity)

वैशेषिक दर्शन का तीसरा पदार्थ कर्म है। यह द्रव्य तथा गुण आदि पदार्थों से भिन्न तत्त्व है। न्यायभूषणाकार भासर्वज्ञ इसे गुण से पृथक् नहीं मानते[1], किन्तु नैयायिक-वैशेषिक दार्शनिक इस पक्ष को नहीं स्वीकार करते। गुण द्रव्य में अधिक देर तक भी रहता है किन्तु कर्म थोड़ी देर तक ही। कर्म शब्द क्रिया का पर्याय है। कर्म की विशेषताएँ ये हैं। एक कर्म एक ही द्रव्य के साथ सम्बद्ध होता है; यह शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है; यह मूर्त्त द्रव्य में ही हो सकता है; यह संयोग, विभाग, गुरुत्व और द्रवत्व में से किसी से भी उत्पन्न हो सकता है; इसमें गुण की सत्ता नहीं होती है; स्व—कर्म—से ही उत्पन्न होनेवाले संयोग, से नष्ट हो जाता है, संयोग और विभाग को अन्य किसी कारण की अपेक्षा किए बिना ही उत्पन्न करता है और जब कभी भी कारण का स्थान ग्रहण करता है तो असमवायि कारण का ही, कदाचित् असमवायि और कदाचित् निमित्त कारण का नहीं। इनके अतिरिक्त भी कुछ विशेषताओं का प्रशस्तपाद आदि ने उल्लेख किया है।

कर्म के पाँच प्रकार हैं—**उत्क्षेपण** (Upward motion) **अपक्षेपण** (Downward motion), **आकुंचन** (Contraction), **प्रसारण** (Expansion) और **गमन** (Movement in general)। वैशेषिक दार्शनिक **भ्रमण** (Roaming), **रेचन** (Flowing), **स्यन्दन** (Dripping), **ऊर्ध्वज्वलन** (Blazing Upward) और **वक्रगमन** (Zigzag motion) को स्वतन्त्र प्रकार के कर्म न मानकर गमन के ही विभिन्न रूप मानते हैं।

उपर्युक्त सभी प्रकार के कर्म के तीन वर्ग हैं—**सत्प्रत्यय कर्म**, **असत्प्रत्यय कर्म** और **अप्रत्यय कर्म**।[2] शरीर के अवयवों में प्रयत्न से उत्पन्न होनेवाला कर्म सत्प्रत्यय कर्म है, बिना प्रयत्न के उत्पन्न होनेवाला कर्म असत्प्रत्यय कर्म है और शरीर के अवयवों से भिन्न तत्त्वों में उत्पन्न होनेवाला कर्म अप्रत्यय कर्म है। वैशेषिक दर्शन में कर्म की बहुत ही विशेष व्याख्या की गयी है। इसके परिज्ञानार्थ प्रशस्तपाद का पदार्थधर्मसंग्रह द्रष्टव्य है। शिवादित्य मिश्र ने इन सब कर्मों को विहित, प्रतिषिद्ध, उदासीन विषयों के आधार पर तीन तीन प्रकार का माना है।[3]

---

1. न्याय० भू०, पृ० 158
2. प० ध० सं०, पृ० 701
3. स० प०, पृ० 39

सामान्य (Universal)

सामान्य वैशेषिक दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण पदार्थ है। हम दस पुस्तकें पढ़ते हैं। प्रत्येक पुस्तक में कुछ न कुछ विशेषता अवश्य है। इस विशेषता के कारण एक पुस्तक दूसरी पुस्तक से, व्यक्तिगत रूप में, सर्वथा भिन्न है। किन्तु इस वैयक्तिक भिन्नता के बावजूद हम सभी को पुस्तक कहते हैं। इससे यह सिद्ध है कि जहाँ एक ओर सभी पुस्तकों में परस्पर भिन्नता है, वहीं दूसरी ओर सबमें पारस्परिक अभिन्नता भी है। तभी तो सबको हम 'पुस्तक' कहते हैं। इसे ही 'अनुवृत्ति प्रत्यय' कहा जाता है। जिसके आधार पर हमें यह अनुवृत्ति प्रत्यय होता है वही 'सामान्य' है।[1] इसे ही **जाति, सत्ता, भाव** आदि भी कहते हैं।

सामान्य के दो भेद माने गये हैं—**पर सामान्य और अपर सामान्य**।[2] वैशेषिक यह मानते हैं कि द्रव्य, गुण और कर्म में समान रूप से एक सामान्य—'सत्ता'—रहता है जिसके चलते ही **'द्रव्यं सत्', 'गुणाः सन्'** और **'कर्म सत्'** ऐसा अनुभव—अनुवृत्ति प्रत्यय होता है।[3] इस सत्ता के आधार पर हम द्रव्य, गुण और कर्म को परस्पर भिन्न सिद्ध नहीं कर सकते हैं।[4] इसलिए यह सत्ता मात्र अनुवृत्ति प्रत्यय के कारण होने से 'सामान्य' कहलाती है, 'विशेष'—एक वर्ग की दूसरे वर्ग से भिन्न सिद्ध करनेवाला तत्त्व—नहीं।[5] पारस्परिक भिन्नता का ज्ञान ही वैशेषिक शास्त्र में 'व्यावृत्ति प्रत्यय' कहलाता है। इसलिये 'सत्ता' अनुवृत्ति प्रत्यय का कारण है व्यावृत्ति प्रत्यय का नहीं, ऐसा कहा जाता है। इसके अतिरिक्त बहुत सी ऐसी सत्ताएँ भी हैं जो दोनों प्रत्ययों के कारण होती हैं। उदाहरणार्थ, सभी द्रव्यों में रहनेवाली सत्ता—द्रव्यत्व—को लिया जा सकता है। यह एक तो सभी द्रव्यों में व्यक्तिगत भिन्नता के बावजूद अनु-वृत्ति प्रत्यय—'यह भी द्रव्य है', 'वह भी द्रव्य है'—का भी आधार है और व्यावृत्ति

---

1. प० ध० सं०, पृ० 29
2. वही
3. वैं० सू०, 1/2/7-17
4. सामान्य आदि पदार्थों में सत्ता नहीं रहती। 'सामान्यं सत्', 'विशेषः सत्' आदि प्रतीतियाँ औपचारिक रूप में होती हैं, वास्तविक रूप में नहीं। देखिये, वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन, पृ० 218-19
5. प० ध० सं०, पृ० 29

प्रत्यय—'द्रव्य गुण नहीं है', 'कर्म नहीं है' आदि—का भी कारण है। अतएव ऐसी सत्ताओं को 'सामान्य-विशेष कहा जाता है।[1]

(कुछ पाश्चात्य विद्वानों का अन्धानुकरण करनेवाले भारतीय लेखक भी **'सामान्य विशेष'** को **बुद्ध्यपेक्ष**[2] कहनेवाले कणाद तथा उनके प्रामाणिक व्याख्याकारों को समझे बिना ही इस जाति रूप 'सामान्य' तथा पंचम पदार्थ विशेष' के बारे में एक भ्रान्त धारणा फैलाते आ रहे हैं। इनका मन्तव्य है कि कणाद ने सामान्य पदार्थ और विशेष पदार्थ को बुद्ध्यपेक्ष (Subjective) माना है, बाह्य पदार्थ (Objective) नहीं। परन्तु यह स्वीकार करना अनुचित है। कणाद ने अपर सामान्यों—द्रव्यत्व आदि—को इनके अनुवृत्ति प्रत्यय के कारण होने की दृष्टि से **'सामान्य'**, व्यावृत्ति प्रत्यय के कारण होने की दृष्टि से **'विशेष'** और दोनों के कारण होने की दो दृष्टियों को ध्यान में रखकर **'सामान्य-विशेष'** कहा है। इसीलिये इसके बाद स्वयम् कणाद ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अपर सामान्य स्वरूप विशेष, सामान्य-विशेष **अन्त्य विशेष** से, जो एक स्वतन्त्र पदार्थ है, सर्वथा भिन्न है।[3] यह सूत्रात्मक वक्तव्य वैशेषिकसूत्र की उपलब्ध सभी प्राचीन व्याख्याओं में मिलता है। अतः इसके मौलिक होने में जरा भी सन्देह नहीं होना चाहिए। प्रशस्तपाद आदि का वक्तव्य तो व्याख्यात्मक होने के कारण इस विषय में और भी स्पष्ट है। इतना होने पर भी सामान्य और विशेष पदार्थों को बुद्ध्यपेक्ष मानना कहाँ तक उचित है, यह विषय विशेष विचार की अपेक्षा नहीं रखता। हाँ, ये दोनों ही पदार्थ मूर्त्त न होकर भावात्मक (Abstract) हैं—यह तो सत्य है। किन्तु इतने से इनका बुद्ध्यपेक्षत्व नहीं सिद्ध हो पाता।

उपर्युक्त दो प्रकार की सत्ताओं के बीच प्रथम सत्ता—द्रव्य, गुण और कर्म में समान रूप से रहने वाली सत्ता—'पर सामान्य' है, क्योंकि इसका क्षेत्र अन्य सभी सत्ताओं की अपेक्षा व्यापक है, जबकि शेष सत्ताएँ प्रथम सत्ता की अपेक्षा व्याप्य होने के कारण 'अपर सामान्य' हैं। व्यवहार-निर्वाहार्थ अपर सामान्य के अन्तर्गत बहुत-से ऐसे सामान्य भी हैं जिन्हें **'परापर सामान्य'** भी कहा जाता है। उदाहरणार्थ, द्रव्यत्व को देखा जा सकता है। यह पृथिवीत्व, जलत्व आदि अपर सामान्यों की तुलना में व्यापक होने से 'पर' और द्रव्यादि-त्रय में वर्तमान सत्ता की अपेक्षा व्याप्य होने

---

1. वही, पृ० 30
2. वै० सू०, 1/2/3; प० ध० सं०, पृष्ट 746-47
3. वै० सू०, 1/2/6

के कारण **'अपर'** और दोनों तुलनाओं को एक साथ ध्यान में रखने पर **'परापर सामान्य'** है।[1]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कम से कम अनुवृत्ति प्रत्यय सभी सामान्यों का असाधारण कर्त्तव्य है। यह तभी आवश्यक और सम्भव है जब व्यक्तियों की संख्या अनेक हो। वैयक्तिक दृष्टियों से परस्पर भिन्न अनेक व्यक्तियों के होने पर ही उन सबमें अनुवृत्ति प्रत्यय की सम्भावना है। इसीलिए सामान्य की एक यह भी विशेषता है कि वह अनेक व्यक्तियों में वर्तमान होती है। इसी को **'अनेकसमवेतत्व'** कहा जाता है, क्योंकि सामान्य और व्यक्तियों के बीच वैशेषिक समवाय सम्बन्ध मानते हैं। व्यक्तियों की उत्पत्ति सर्वदा कहीं न कहीं होती ही रहती है। इसलिए यह भी आवश्यक है कि सामान्य व्यापक और नित्य हो। अतएव 'नित्य होने के साथ साथ अनेक व्यक्तियों में समवेतत्व सामान्य है', यह भी सामान्य की एक परिभाषा है।[2] अनुवृत्ति प्रत्यय में किसी प्रकार के अन्तर के अभाव और एक वर्ग के सभी व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न सामान्य स्थिति में प्रमाण के अभाव से भी यह सिद्ध है कि एक वर्ग के सभी व्यक्तियों के वर्तमान सामान्य एक हैं। यद्यपि व्यापक होने से सभी सामान्य सर्वत्र वर्तमान हैं, तथापि व्यक्ति-विशेष—अश्व के साथ एक विशेष प्रकार का सामान्य—अश्वत्व ही समवेत होता है, क्योंकि अश्व-शरीर की संघटना ही अश्वत्व का अभिव्यंजक है। अतः जहाँ वह संघटना रहेगी वहीं अश्वत्व का समवाय तथा उसका अभिव्यंजक होगा, अन्यत्र नहीं।[3]

इस प्रकार सामान्य के स्वीकार का एक प्रयोजन अनुवृत्ति प्रत्यय की व्याख्या सिद्ध हुआ। इसका दूसरा प्रयोजन है कार्य-कारण-भाव की सरल तथा अनुगत व्याख्या। सामान्य मानने पर ही यह कहना सम्भव है कि तन्तुत्व-विशिष्ट पदार्थ पटत्व-विशिष्ट पदार्थ का कारण है। इस प्रकार का सर्वसाधारण कार्य-कारणभाव सामान्य, तन्तुत्व, पटत्व आदि, के अभ्युपगम के बिना असम्भव है।

[न्याय-वैशेषिक के सामान्य के सिद्धान्त के विरुद्ध बौद्ध दार्शनिकों ने बहुत से तर्क-वितर्क किये हैं और अन्ततः इस सामान्यवाद का खण्डन भी कर दिया है। बौद्धों का कहना है कि अनुवृत्ति प्रत्यय के लिए भावात्मक सामान्य की कल्पना आवश्यक

---

1. कारि०, 9-10
2. न्यायबोधिनी, पृ० 61
3. प० ध० सं०, प० 753-754

है। यह कार्य तो बड़ी आसानी से **'अपोह'—तद्भिन्नभिन्नत्व**[1] (गाय से भिन्न वस्तुओं से भिन्न होना) के आधार पर हो सकता है। अपोह एक अभावात्मक कल्पना है। यह सत्य नहीं है, केवल व्यवहार-निर्वाहार्थ मान लिया गया है। 'अपोह' का सिद्धान्त बौद्धों ने शब्दार्थ-निर्णय के प्रसंग में स्वीकार किया है। अनुगत-कार्य-कारण-भाव की व्याख्या करने के लिए भी **'प्रतीत्य समुत्पाद'** के सिद्धान्त को माननेवाले बौद्ध दार्शनिक मात्र 'कुर्वद्रूपत्व' की कल्पना को ही पर्याय मानते हैं। ये नैयायिक-वैशेषिकों की तरह कार्य-कारण-भाव नहीं मानते। इन सब कारणों से बौद्धों ने सामान्य के सिद्धान्त का खण्डन कर दिया है।

बौद्ध मत के विपरीत न्याय-वैशेषिक का कहना है कि 'अपोह' का सिद्धान्त अनुभव और तर्क से भी विरुद्ध है। 'कुर्वद्रूपत्व' आदि का स्वीकार भी प्रमाण-शून्य है। इसलिए भावात्मक सामान्य को अवश्य मानना चाहिए।

सामान्य के सिद्धान्त के विरुद्ध बौद्धों की यह भी एक प्रमुख आपत्ति है कि व्यक्ति—गाय—के साथ सामान्य—गोत्व—का सम्बन्ध होना असम्भव है। बौद्धों का कहना है कि व्यक्ति और जाति के सम्बन्ध की सन्तोषप्रद व्याख्या नहीं की जा सकती। व्यक्ति के साथ सामान्य का सम्बन्ध कैसे होता है? इस प्रश्न का नैयायिक-वैशेषिक यह उत्तर कदापि नहीं दे सकते कि व्यक्ति की उत्पत्ति के बाद सामान्य वहाँ आकर व्यक्ति के साथ सम्बन्ध प्राप्त करता है, क्योंकि ऐसा मानने का अर्थ है कि वह सामान्य व्यक्ति की उत्पत्ति से पूर्व किसी अन्य स्थान पर था। ऐसी स्थिति में यदि वह सामान्य व्यक्ति—गाय के साथ सम्बन्ध प्राप्त कर उसे 'गाय' कहलाने में निमित्त बन सकता है, तो जिस स्थान में वह व्यक्ति की उत्पत्ति से पूर्व था उस स्थान को भी गाय कहलाना चाहिए था, क्योंकि वहाँ सामान्य यदि था, तो उसका उस स्थान के साथ संबंध भी अवश्य रहा होगा। साथ ही, निष्क्रिय सामान्य के लिए कहीं जाना सम्भव भी नहीं है। व्यक्ति—गाय—की उत्पत्ति के स्थान में ही सामान्य—गोत्व—था और गाय की उत्पत्ति के बाद वह सामान्य उस गाय के साथ सम्बन्ध प्राप्त कर लेता है—यह पक्ष भी न्याय-वैशेषिक का तर्कसंगत नहीं हो सकता, क्योंकि व्यक्ति की उत्पत्ति से पूर्व उस स्थान पर गोत्व सामान्य की स्थिति मानने पर उस स्थान को भी व्यक्ति

---

1. 'अपोहवाद' तथा 'प्रतीत्य समुत्पादवाद' आदि विषयों के स्वरूप तथा इनके खण्डन के लिए बौद्ध साहित्य और न्याय-वैशेषिक साहित्य का अवलोकन करना चाहिए। ये विषय इतने पारिभाषिक तथा जटिल हैं कि इस विवरण के प्रसंग में यहाँ इसका विचार करना सम्भव नहीं है।

की उत्पत्ति से पूर्व गाय कहलाना चाहिए था। किन्तु स्थान को गाय कोई नहीं कहता। यह मानना भी सामान्यवादी वैशेषिकों के लिए असम्भव है कि व्यक्ति की उत्पत्ति के साथ-साथ सामान्य भी उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि यह बात सामान्य की नित्यता का विघातक है। साथ ही, प्रत्येक व्यक्ति की उत्पत्ति के साथ एक-एक सामान्य की उत्पत्ति होनी चाहिए। इससे सामान्य की एकता भी समाप्त हो जाती है। यदि सामान्य—गोत्व—नित्य तथा एक है तो इसे अंशहीन होना चाहिए, क्योंकि न्याय-वैशेषिक के अनुसार पदार्थ का अंशवान् होना और फिर नित्य होना परस्पर विरुद्ध है। ऐसी स्थिति में एक नित्य-सामान्य—गोत्व—का सभी व्यक्तियों—गायों—के साथ सम्बन्ध नहीं बन पाता है; कारण, यदि गोत्व एक है, अखण्ड है, तो वह किसी एक ही व्यक्ति में रह सकता है, एक ही साथ सब व्यक्तियों—गायों—में नहीं। वह दूसरी गाय से तभी सम्बन्ध प्राप्त कर सकता है जब पहली गाय से सम्बन्ध तोड़ ले। यह सम्भव तथा न्याय-वैशेषिक को मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर दुनिया भर में किसी निश्चित समय में एक ही व्यक्ति के साथ गोत्व सामान्य के सम्बन्ध के आधार पर एक ही गाय होनी चाहिए थी, अनेक नहीं। यह बात सामान्य के 'अनेकसमवेतत्व'—अनेक व्यक्तियों के साथ एक ही समय समवाय सम्बन्ध रखना—रूप का विरोधी है। इसलिए सामान्य और व्यक्ति के सम्बन्ध की व्याख्या के असम्भव हो जाने से भी भावात्मक सामान्यवाद तर्कहीन कल्पना है। इन सब आपत्तियों के विषय में बौद्ध दार्शनिकों की निम्नलिखित कारिका बहुत ही प्रसिद्ध है :

नायाति न च तत्रासीत् न चोत्पन्नं न चांशवत्।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः॥

बौद्धों के उपर्युक्त सभी आक्षेपों का समाधान न्याय-वैशेषिक दार्शनिक सामान्य को व्यापक तथा विशेष प्रकार की शरीर-संघटना को, सामान्य का अभिव्यंजक होने के कारण, विशेष विशेष सामान्य का विशेष व्यक्ति के साथ सम्बन्ध का व्यवस्थापक मानकर बड़े सरल तरीके से कर देते हैं। जहाँ तक व्यक्ति और जाति—सामान्य—के सम्बन्ध के समय का प्रश्न है, वह समय है व्यक्ति की उत्पत्ति का समय।[1] अतः भावात्मक, नित्य, व्यापक, अनेक-समवेत सामान्य का सिद्धान्त सर्वथा निर्दुष्ट है, यही न्याय-वैशेषिकों के पक्ष का सारांश है।[2]]

---

1. न्या० वा०, 2/1/31 (जातः सम्बद्धश्च इत्येकः कालः)।
2. विशेष विवरण के लिए देखिये, उप०, 1/2/3; न्या० क०, पृ० 755-765

मात्र अनेक-पदार्थ-वृत्ती साधारण धर्म को सामान्य मानकर उसके दो रूप हो सकते हैं—(क) उपाधि और (ख) जाति।[1] अब तक जो विचार किया गया है वह केवल जाति-रूप सामान्य के विषय में, उपाधि-रूप सामान्य के विषय में नहीं। उपाधि साधारण धर्म का स्थूल रूप है और जाति सूक्ष्म, विशेष। किसी भी साधारण धर्म, सामान्य को जाति का स्थान ग्रहण करने के लिए कुछ योग्यताओं की अपेक्षा होती है। उदयनाचार्य ने अपनी किरणावली में यह बताया है कि किन परिस्थितियों में साधारण धर्म सामान्य जाति का स्थान प्राप्त नहीं कर पाता। ये परिस्थितियाँ 'जातित्वबाधक' कही जाती हैं। उदयन का वक्तव्य निम्नलिखित है :

व्यक्तेरभेदः, तुल्यत्वम्, संकरोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः[2] ॥

इसका तात्पर्य यह है—

(1) 'व्यक्तेरभेदः'—एक व्यक्ति में रहनेवाला धर्म जाति-रूप सामान्य न होकर उपाधि है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार आकाश, काल, दिक् एक-एक हैं, अनेक नहीं। इसलिए आकाशत्व, कालत्व और दिक्त्व उपाधियाँ हैं, जातियाँ नहीं।

(2) 'तुल्यत्वम्—किसी जाति के क्षेत्र से कम या ज्यादा क्षेत्र न रखनेवाला (समनियत साधारण धर्म) (जाति-तुल्य-धर्म) जाति नहीं होता; जैसे, घटत्व एक जाति है। इसका समनियत साधारण धर्म कलशत्व उपाधि है जाति नहीं। इसका कारण यह है कि अनुवृत्ति प्रत्यय का कार्य घटत्व से ही सम्पन्न हो जाता है।

(3) 'सङ्कर'—भिन्न भिन्न आधार में वर्तमान होकर भी कहीं एक आधार में उपलब्ध होनेवाले दो धर्मों का पारस्परिक 'सङ्कर' माना जाता है। ऐसे दोनों ही धर्म उपाधि हैं; जैसे, भूतत्व एवं मूर्त्तत्व आदि। न्याय-वैशेषिक मत में पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश भूत हैं। इसमें भूतत्व नाम का साधारण धर्म है। पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन मूर्त्त हैं। इनमें मूर्त्तत्व है। यह स्पष्ट कि मन (एक मूर्त्त) में नहीं रहनेवाला और आकाश में रहनेवाला भूतत्व एवं आकाश (एक भूत) में न रहनेवाला किन्तु मन में रहनेवाला मूर्त्तत्व पृथिवी, जल, तेज और वायु में साथ-साथ उपलब्ध है। इसलिए इन दोनों में कोई जाति नहीं है।

---

1. स० प०, पृ० 39
2. किरणावली, पृ० 161

(4) **'अनवस्था'** कल्पना का अनन्त हो जाना ही अनवस्था है। यदि किसी साधारण धर्म को जाति मानने में अनवस्था होती हो तो उसे जाति न मानकर उपाधि मानना चाहिए। द्रव्यत्व, गुणत्व आदि जाति-रूप सामान्य हैं। इन सबमें एक जातित्व या सामान्यत्व नामक साधारण धर्म है। यह जाति नहीं है, क्योंकि इसे जाति मान लेने पर कोई आधार नहीं रह जाता है जिसके बल पर हम जातित्वत्व सामान्यत्वत्व को जाति होने से रोक सकें। इसके जाति होने का यह भी परिणाम होगा कि जाति-त्वत्वत्व, जातित्वत्वत्वत्व आदि के रूप में जाति की कल्पना का अन्त होना असम्भव हो जायेगा—अनवस्था आ जायेगी। अतः जातित्व या सामान्यत्व को जाति न मानकर उपाधि मानते हैं।

(5) **'रूपहानि'** यदि किसी साधारण धर्म को जाति मानने पर उसके आश्रयों का स्वरूप ही नष्ट होने लग जाय तो उस साधारण धर्म को जाति नहीं माना जाता, जैसे विशेषत्व। न्याय-वैशेषिक में नित्य-पदार्थों—परमाणु आदि—को परस्पर भिन्न सिद्ध करनेवाला 'विशेष' नाम का पदार्थ माना गया है। इसे स्वतोव्यावृत्त (Self-distinguished) स्वीकार किया गया है। इसकी संख्या अनन्त है। इन सबमें एक विशेषत्व नाम का साधारण धर्म है। यह जाति नहीं है, क्योंकि वैसा मानने पर विशेष पदार्थ का स्वरूप—स्वतोव्यावृत्तत्व—विनष्ट हो जायेगा। जाति का काम अनुवृत्ति प्रत्यय के साथ-साथ यावृत्ति प्रत्यय भी है। यदि विशेषत्व को जाति माना जाय तब तो यह 'विशेष' का व्यावर्त्तक होकर 'विशेष' के स्वतोव्यावृत्त होने का ही खण्डन कर देगा। इसीलिए इस विशेषत्व को जाति नहीं मानते।

(6) **'असम्बन्ध'** किसी साधारण धर्म तथा उसके आधारों के बीच जाति-व्यक्ति के मध्य स्वीकृत सम्बन्ध—समवाय—का न होना भी उस साधारण धर्म के जाति होने में बाधक है। अभाव के सभी भेदों में वर्तमान एक अभावत्व नाम का साधारण धर्म है। चूँकि अभाव और अभावत्व के बीच समवाय सम्बन्ध न्याय-वैशेषिक नहीं मानता, इसलिए अभावत्व उपाधि है। समवाय में, अनवस्था के कारण, दूसरा समवाय न मानने से समवायत्व के जाति न होने में भी यही असम्बन्ध कारण है।

इन सबमें संकर जाति बाधक नहीं है, ऐसा नव्य नैयायिक का पक्ष है।[1]

उपाधि के भी दो भेद हैं—(अ) सखण्ड और (आ) अखण्ड। कई खण्डों से

---

1. दिनकरी, पृ० 58

सम्पन्न निर्वचन-योग्य उपाधियाँ सखण्ड हैं और इनसे भिन्न अखण्ड। प्रमेयत्व, अभिधेयत्व आदि सखण्ड और अभावत्व, आकाशत्व आदि अखण्ड उपाधियाँ हैं।[1]

विशेष (Particularity)

विशेष पदार्थ वैशेषिकों का स्वतन्त्र पदार्थ है। अन्य दार्शनिक इसे नहीं मानते। प्राचीन नैयायिकों ने जो इसे माना है वह वैशेषिकों से उधार लेकर ही। इसी विशेष के स्वीकार के कारण इस दर्शन को 'वैशेषिक' भी कहा जाता है, यह बहुमत है।

विशेष पदार्थ को सूत्रकार कणाद ने 'अन्त्य' कहा है।[2] यही इसका स्वरूप है। अन्त्य शब्द की व्याख्या में वैशेषिक आचार्यों में मतभेद है। प्राचीन भाष्यकार आत्रेय[3], प्रशस्तपाद[4] तथा वृत्तिकार[5] आदि अन्त्य शब्द के अन्तर्गत अन्त शब्द का अर्थ 'नित्य-द्रव्य' और अन्त्य शब्द का 'नित्य-द्रव्य में रहनेवाला' मानते हैं। किन्तु अन्त शब्द का उपर्युक्त अर्थ अत्यन्त अस्वाभाविक है। इसलिए उदयनाचार्य आदि ने इसका अर्थ अन्तिम (Ultimate) किया है[6]। इसका तात्पर्य यह है कि विशेष पदार्थ व्यावर्त्तक तत्त्वों (Distinguishing factors) में अन्तिम है। इसके बाद कोई दूसरा व्यावर्त्तक तत्त्व नहीं रह जाता, अतएव यह 'स्वतोव्यावृत्त' है[7]। समन्वयात्मक दृष्टि से 'नित्य-द्रव्य मात्र में वर्तमान स्वतोव्यावृत्त (Self distinguished) तत्त्व विशेष हैं', यह इसकी परिभाषा सिद्ध होती है।

इस पदार्थ के स्वीकार की आवश्यकता क्या है, यह एक प्रश्न है। इसके उत्तर में वैशेषिकों का कहना है नित्य-द्रव्यों की परस्पर भिन्नता सिद्ध करने के लिए इसकी आवश्यकता है। अभिप्राय यह है कि वैशेषिक का प्रत्येक तत्त्व अन्य तत्त्वों से किसी न किसी रूप में भिन्न अवश्य है। यह भिन्नता किसी कारण पर आश्रित होनी

---

1. सखण्ड और अखण्ड उपाधियों की विभाजक रेखा न्याय-वैशेषिक दर्शन में बहुत ही अस्पष्ट, संकीर्ण और मतद्वैध से जटिल है।
2. वै० सू०, 1/2/6
3. मि० वृ०, 1/2/6
4. प० ध० सं०, पृ० 765-766
5. उप०, 1/2/6
6. किरणावली, पृ० 129
7. मुक्ता०, कारि० 10

चाहिए। निराधार भिन्नता का कोई अर्थ नहीं होता है। जितने अनित्य द्रव्य हैं उनकी पारस्परिक भिन्नता तो उनके अवयवों, गुणों तथा कर्म आदि की भिन्नता के कारण मानना सहज है।[1] इसलिए अनित्य-द्रव्यों की पारस्परिक भिन्नता के लिए 'विशेष' की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु नित्य-द्रव्यों, खासकर परमाणुओं में पारस्परिक भिन्नता की व्याख्या किसी भी बाह्य आधार पर सम्भव नहीं है। अतः इन सब नित्य-द्रव्यों में एक-एक विशेष की सत्ता मानी जाती है।[2] ये विशेष आपस में भिन्न हैं। यह इनका स्वभाव है। इसीलिए तो इन्हें अन्त्य वा स्वतोव्यावृत्त भी कहा गया है। इन विषयों के आधार पर, नित्य-द्रव्यों के परस्पर भिन्न सिद्ध हो जाने से, उनमें वर्तमान गुण आदि का भेद अपने आप सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि विशेष को केवल नित्य-द्रव्यों में वर्तमान माना गया है, नित्य-गुण आदि में नहीं।

नवीन नैयायिक विशेष को स्वीकार करने में कोई युक्ति नहीं देखते।[3] इनका कथन है कि यदि विशेष को स्वतोव्यावृत्त मानना ही है तो क्यों नहीं उन नित्य-द्रव्यों, परमाणु आदि को ही स्वतोव्यावृत्त मान लिया जाय? अनावश्यक रूप में विशेष पदार्थ की कल्पना से क्या लाभ है? अन्य दार्शनिक भी इसे नहीं स्वीकार करते, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। प्रशस्तपाद ने यद्यपि एक तर्क प्रस्तुत कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि परमाणु अपने आप परस्पर भिन्न नहीं सिद्ध हो सकते, क्योंकि परमाणुओं का परस्पर व्यावृत होना स्वभाव नहीं है।[4], तथापि तर्क बड़ा ही शिथिल है। प्रशस्तपाद की यह मान्यता मात्र कल्पना पर निर्भर है। इसलिए नव्य नैयायिकों के उक्त मन्तव्य में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं प्रस्तुत हो पाता।

समवाय (Inherence)

परस्पर आधार तथा आधेय के रूप में सम्बद्ध दो 'अयुत-सिद्ध' (Inseparable) पदार्थों का सम्बन्ध समवाय है।[5] पदार्थों की नित्यता और अनित्यता के आधार पर आचार्यों ने अयुत-सिद्ध के दो अर्थ किये हैं। दो नित्य पदार्थों को हम अयुत-सिद्ध तभी कह सकते हैं, जब दोनों में से प्रत्येक दूसरे को छोड़कर अलग न हो सके। किन्तु

---

1. किरणावली, पृ० 129-30
2. मुक्ता०, कारि० 10
3. दिनकरी, पृ० 64
4. प० ध० सं०, पृ० 770-771
5. वही, पृ० 773

अनित्य अथवा अनित्य-नित्य पदार्थों को अयुत-सिद्ध तभी कहा जायेगा जब विनाश के क्षण से पूर्व क्षण तक एक दूसरे के ऊपर आश्रित होकर ही वर्तमान रहे। यह सर्वदा ध्यान में रखना चाहिए कि समवाय सम्बन्ध के लिए यह अनिवार्य है कि दोनों अयुत-सिद्ध पदार्थों में आधार और आधेय का सम्बन्ध अवश्य हो। इसीलिए धर्म तथा सुख के बीच कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध होने पर भी समवाय नहीं माना जा सकता, क्योंकि धर्म और सुख में से कोई किसी पर आधारित नहीं है, धर्म और सुख के बीच आधाराधेय-भाव-सम्बन्ध नहीं है।[1]

समवाय सम्बन्ध का क्षेत्र कणाद ने केवल उपादान कारण और कार्य तक माना था[2], परन्तु परवर्ती व्याख्याकारों ने कणाद के वक्तव्य को उदाहरण मात्र मान कर इसे **अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, नित्यद्रव्य-विशेष** के क्षेत्र तक स्वीकार किया है। इन क्षेत्रों के बाहर समवाय की सम्बन्ध रूप में स्थिति वैशेषिकों को मान्य नहीं है।[3]

समवाय की सत्ता के समर्थन में प्रमाण के बारे में न्याय-वैशेषिक मत परस्पर भिन्न हैं। न्याय दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष-योग सम्बन्धियों के बीच वर्तमान समवाय का संयुक्त-विशेषणता आदि सन्निकर्ष से, अभाव की तरह, प्रत्यक्ष भी हो सकता है।[4] किन्तु प्रत्यक्षायोग्य सम्बन्धियों के बीच का समवाय अनुमानगम्य होता है। वैशेषिक इस दृष्टि से सहमत नहीं हैं। इनके मत में समवाय का प्रत्यक्ष कदापि नहीं हो सकता, यह तो एक अतीन्द्रिय पदार्थ है। चूँकि समवाय के साथ इंद्रिय का साक्षात् या परम्परा सम्बन्ध नहीं बन सकता, इसलिए इसका प्रत्यक्ष असम्भव है। इसके मूल में यह रहस्य है कि सम्बन्धात्मक होने के कारण समवाय का सम्बन्धियों के साथ कोई दूसरा सम्बन्ध संयोग या समवाय नहीं हो सकता।[5] संयोग इसलिए नहीं हो सकता कि

---

1. न्या० क०, पृ० 37-38
2. वै० सू०, 7/2/26
3. प० ध० सं०, पृ० 773-775
4. मुक्ता०, कारि० 55
5. इस विषय में विशेष जानकारी के लिए देखिए, प० ध० सं०, पृ० 783-785; न्या० क०, पृ० 783-785; न्या० वा० 1/1/5, पृ० 52-53; ता० टी०, पृ० 111

संयोग विभाग की पूर्वकल्पना करता ही है; चूंकि विभाग दो द्रव्यों का ही सम्भव है इसलिए संयोग भी दो द्रव्यों के बीच ही होता है। समवाय द्रव्य नहीं है। अतः इसका सम्बन्धी के साथ संयोग नहीं हो सकता, यदि सम्बन्धी द्रव्य हो तो भी। समवाय का सम्बन्धी के साथ समवाय मानने में अनवस्था (Infinite regress) सुस्पष्ट है। अतएव यह सिद्धान्त है कि सम्बन्धात्मक—वृत्यात्मक—समवाय स्वतः अपने सम्बन्धी के साथ सम्बद्ध है, सम्बन्धान्तर के माध्यम से नहीं। हाँ, एक प्रश्न अवश्य है कि संयोग वृत्त्यात्मक होकर भी, समवाय की तरह, स्वतः अपने सम्बन्धियों से सम्बद्ध न होकर समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध क्यों होता है—दो द्रव्यों के बीच का संयोग सम्बन्ध, पदार्थ की दृष्टि से गुण होने के कारण, समवाय सम्बन्ध से अपने सम्बन्धियों के साथ सम्बद्ध क्यों माना जाता है, जबकि सम्बन्धात्मक समवाय दूसरे सम्बन्ध के बिना ही अपने सम्बन्धियों से सम्बद्ध हो सकता है। इसका समाधान आचार्यों ने यह दिया है कि संयोग उत्पन्न होनेवाला तत्त्व है; उत्पत्ति का अर्थ उपादान कारण में उत्पन्न होनेवाले कार्य का समवाय है; अतः संयोग का अपने सम्बन्धियों—उपादान कारणों—में समवाय होना अनिवार्य है। किन्तु समवाय **नित्य-पदार्थ** है। इसकी उत्पत्ति नहीं होती। अतः सम्बन्ध होने की दृष्टि से समान होने पर भी, संयोग का सम्बन्धियों के साथ समवाय होने पर भी, नित्य-समवाय का अपने सम्बन्धियों के साथ कोई दूसरा सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। समवाय की नित्यता मात्र इसी से सिद्ध है कि इसका उत्पादक कारण नहीं है। अतः इन्द्रियों का संयोग आदि सन्निकर्ष समवाय के सम्बन्धियों तक सीमित है, समवाय तक नहीं। सन्निकर्ष के बिना इन्द्रिय द्वारा समवाय का प्रत्यक्ष मानना तो सर्वथा असम्भव है। इसीलिए वैशेषिकों ने समवाय को अनुमेय माना है, प्रत्यक्ष नहीं।

जिस तरह स्वतः-विशेषण या विशेष्य के रूप में अपने आधार के साथ सम्बन्ध रखनेवाले योग्य अभाव का वैशेषिक भी संयुक्त-विशेषणता आदि से प्रत्यक्ष मानते हैं उसी तरह स्वतः-सम्बद्ध समवाय का भी संयुक्त-विशेषणता आदि सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष क्यों नहीं हो सकता ? प्रशस्तपाद के व्याख्याकार व्योमशिव ने इस प्रश्न का यह समाधान किया है कि पूर्वज्ञात अर्थात् पूर्वप्रत्यक्ष-विशेषण ही विशिष्ट ज्ञान यानी प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का विषय हो सकता है। चूंकि समवाय की ऐसी स्थिति नहीं है, 'द्रव्य रूप के समवाय से सम्पन्न है', इस विशिष्ट ज्ञान से पूर्व समवाय का स्वतन्त्र रूप में प्रत्यक्ष नहीं हुआ रहता है, इसलिए संयुक्त-विशेषणता आदि सन्निकर्ष से समवाय

का विशिष्ट प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता। अतः समवाय अतीन्द्रिय है। इसका अस्तित्व अनुमान-गम्य है।[1]

अनुमान इस प्रकार है : जब हम यह अनुभव करते हैं 'टेबुल पर पुस्तक है' तो टेबुल और पुस्तक के बीच आधाराधेय-भाव-सम्बन्ध ज्ञात होता है। इस आधाराधेय भाव के मूल में एक संयोग, टेबुल और पुस्तक के बीच, अवश्य है। इसी तरह जब हम 'तन्तुओं में पट (वस्त्र) है', 'आत्मा में सुख है', इत्यादि अनुभूतियों में तन्तु-पट तथा आत्मा-सुख के बीच आधाराधेय भाव का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो हमें यह मानना होगा कि इस आधाराधेय भाव के मूल में भी कोई सम्बन्ध काम करता ही होगा। वह सम्बन्ध संयोग नहीं हो सकता है, क्योंकि संयोग परस्पर विभक्त होने की क्षमता रखनेवाले तत्त्वों अर्थात् द्रव्यों के बीच ही हो सकता है जबकि तन्तु-पट, आत्मा-सुख परस्पर विभक्त नहीं किये जा सकते। पट को तन्तुओं से अलग करना तथा सुख को आत्मा से अलग करना सम्भव नहीं है। पट से तन्तुओं को और सुख से आत्मा को यदि अलग किया भी जाय तब भी संयोग की स्थिति नहीं आती है, क्योंकि संयुक्त पदार्थों अर्थात् टेबुल और पुस्तक को अलग अलग कर देने पर भी दोनों की सत्ता बनी रहती है; किन्तु तन्तुओ और आत्मा को पट और सुख से अलग कर दिये जाने पर पट और सुख का नाश अनिवार्य हो जाता है। इन सब कारणों से तन्तु-पट, आत्मा-सुख आदि के आधाराधेय भाव के मूल में संयोग-सम्बन्ध के अभाव के सुस्पष्ट हो जाने से एक अन्य सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ता है। यही सम्बन्ध वैशेषिक का समवाय है।[2]

यह समवाय सर्वत्र एक ही है। तन्तु-पट का समवाय आत्मा-सुख के समवाय से भिन्न नहीं है। रूप और द्रव्य का समवाय स्पर्श और द्रव्य के समवाय से भिन्न नहीं है। केवल सम्बन्धियों के भिन्न-भिन्न होने के कारण भिन्न-भिन्न रूप में एक ही समवाय अभिव्यक्त होता है।[3] वायु में स्पर्श का समवाय है, इसलिए रूप का समवाय भी है ही। किन्तु रूप के अभाव में वायु में रूप का समवाय अभिव्यक्त नहीं हो पाता। इसीलिए वायु में रूप का प्रत्यक्ष भी नहीं होता।[4] सत्ता के समान यह नित्य भी है।[5]

---

1. व्योम०, पृ० 699
2. मुक्ता०, कारि० 11
3. प० ध० सं०, पृ० 777–783
4. मुक्ता०, कारि० 11; उप०, 7/2/26
5. उप०, 7/2/26

किन्तु रघुनाथ शिरोमणि आदि कुछ नव्य नैयायिक एक समवाय के सिद्धान्त को नहीं मानते[1]। इनके मत में, प्रभाकर के[2] अनुसार ही, समवाय अनेक हैं तथा सम्बन्धी की नित्यता और अनित्यता के आधार पर नित्य एवम् अनित्य भी हैं। किन्तु अन्य दार्शनिकों ने समवाय नामक तत्त्व की बड़ी कटु आलोचना की है।[3] वे समवाय नहीं मानते।

अभाव (Non-existence)

अभाव पदार्थ कणाद मानते थे या नहीं, यह विषय विवादास्पद है।[4] प्रशस्तपाद की दृष्टि से यदि कणाद की स्थिति का विवेचन किया जाय तो यह मानना ही होगा कि कम से कम कणाद ने अभाव की पदार्थ के रूप में गणना नहीं की है। किन्तु वैशेषिक सूत्र के 9 वें अध्याय के प्रथम आह्निक में अभाव की व्याख्या मिलती है। इससे यह तो स्पष्ट है कि कणाद प्रभाकर की तरह अभाव के अस्तित्व के विरोधी नहीं थे। फिर भी पदार्थ के रूप में उन्होंने इसकी गणना क्यों नहीं की, यह एक प्रश्न है। परवर्ती आचार्यों ने विभिन्न तर्क दिये हैं। पदार्थ के रूप में अभाव की गणना शिवादित्य मिश्र की सप्तपदार्थी से प्रारम्भ हुई है।

अभाव के भेद-प्रभेद के विषय में आचार्यों में मतभेद है। न्या० सू०, 2/2/9 में एक पूर्वपक्ष के रूप में यह मत रखा गया है कि एकमात्र प्रध्वंस ही अभाव है। किन्तु न्या० सू० 2/2/12 में किये गये सिद्धान्त की न्यायभाष्यकार-समस्त व्याख्या प्रागभाव अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व उत्पन्न होनेवाले तत्त्व का अभाव तथा प्रध्वंस, इन दो रूपों को प्रस्तुत करती है। न्यायवार्त्तिक में भी यही कहा गया है। परन्तु वैशेषिक सूत्र में प्रागभाव, प्रध्वंस, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव की व्याख्या देखकर वाचस्पति मिश्र ने न्या० सू०, 2/2/12 की व्याख्या करते समय भाष्यकार आदि के वक्तव्य का प्रसंग-विशेष के साथ सम्बन्ध मानकर चार प्रकार के अभावों के सिद्धान्त को ही अपनाया है।[4] इन चार प्रकारों में प्रथम तीन को संसर्गाभाव और अन्तिम को तादात्म्याभाव के रूप में विभक्त किया है। इस विभाजन पर भी वैशेषिक सूत्र का

---

1. दिनकरी, पृ० 67
2. उप०, 7/2/28
3. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 2/2/13
4. विशेष विवरण के लिए देखिये, वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन, पृ० 228-31
5. ता० टी०, 2/2/12

स्पष्ट प्रभाव है। जयन्त भट्ट द्वारा उल्लिखित एक ऐसी भी परम्परा थी जो उक्त चार अभावों के साथ साथ अपेक्षाभाव और सामर्थ्याभाव नामक और दो अभाव मानती थी।[1] इनके अतिरिक्त एक **सामयिकाभाव** माननेवाला सम्प्रदाय भी था।[2] जयन्त भट्ट प्रागभाव मात्र या अधिक से अधिक प्रागभाव और प्रध्वंस को ही वास्तविक अभाव मानने के पक्ष में हैं।[3] किन्तु वैशेषिक सम्प्रदाय उपर्युक्त चार अभावों को ही मानता आया है।

प्रागभाव

उत्पत्ति से पूर्व कार्य (Effect) का अभाव **प्रागभाव** है। इस प्रसंग में एक बात ज्ञातव्य है कि जिस वस्तु का अभाव होता है उसे अभाव का 'प्रतियोगी' और जिस स्थान या वस्तु में अभाव होता है उसे अभाव का 'अनुयोगी' कहा जाता है। प्रागभाव के विषय में यह नियम है कि प्रतियोगी सर्वदा उत्पन्न होने वाला कार्य ही होता है और अनुयोगी उस कार्य का समवायि कारण वा उपादान कारण। इसलिए 'घर में घड़ा नहीं है', इस अभिव्यक्ति में जो अभाव है, वह घड़ा का प्रागभाव कदापि नहीं हो सकता।

प्रागभाव अनादि काल से रहता है, किन्तु कार्य की उत्पत्ति हो जाने पर वह विनष्ट हो जाता है। इसलिए इसे अनादि किन्तु अन्तवान् (**अनादि सान्तः**) अभाव कहा जाता है।

ध्वंस या प्रध्वंस

उत्पन्न वस्तु का विनाश **प्रध्वंस** है। इसका भी प्रतियोगी सर्वदा उत्पन्न पदार्थ ही होता है और अनुयोगी, यदि असमवायि कारण के नाश से कार्य का विनाश हुआ हो तो, उत्पन्न पदार्थ के समवायि कारण। किन्तु यदि उत्पन्न पदार्थ का नाश समवायि कारण के नाश से होगा तब तो इस ध्वंस के अनुयोगी अन्य तत्त्व भी हो सकते हैं।

यह अभाव सादि है, अर्थात् इसका प्रारम्भ है, किन्तु सान्त नहीं—ध्वंस का ध्वंस नहीं होता है। अतएव इसे '**सादिरनन्तः**' कहा जाता है।

अत्यन्ताभाव

यह अभाव उपर्युक्त दोनों अभावों से भिन्न है। इसे नित्य-अभाव कहा जाता है।

---

1. न्या० म०, भा० 1, पृ० 5
2. वै० सू० विवृत्ति, 9/1/5
3. न्या० म०, भा० 1, पृ० 59

इसका कारण एक रूप तो बड़ा ही स्पष्ट है—जहाँ किसी वस्तु-विशेष की कभी सत्ता न थी, न है, और न होनेवाली है; जैसे, वायु में रूप का अभाव, आकाश में स्पर्श का अभाव आदि। किन्तु इसका दूसरा भी एक रूप है, साधारण दृष्टि से जिसके आदि तथा अन्त दोनों ही प्रतीत होते हैं। 'इस कमरे में राम नहीं है' यह अनुभव राम के अभाव का प्रतिपादन करता है। यह अभाव न तो प्रागभाव है और न प्रध्वंस ही। इसे अन्योन्याभाव भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका अनुभव तो 'यह कमरा राम नहीं है' इस प्रकार का होता। अतः परिशेषात् इसे अत्यन्ताभाव ही मानना होगा। अत्यन्ताभाव नित्य-अभाव है। अतः इसका अनुभव सर्वदा होना चाहिए—कमरे में सर्वदा राम के अभाव का ज्ञान होना चाहिए। किन्तु यह सर्वथा सम्भावित है कि कुछ समय पूर्व राम उसी कमरे में रहा हो और पुनः कुछ देर बाद उसी कमरे में आ भी जाय। इसका तात्पर्य यह है कि अतीत तथा भविष्य में उस कमरे में राम का अभाव न था और न रहेगा ही। वह तो मात्र वर्तमान काल में है। ऐसी स्थिति में इसे नित्य कैसे माना जा सकता है?

उक्त प्रश्न के कई प्रकार के समाधान हो सकते हैं। एक तो यह कि कमरे में राम का अभाव कुछ समय के लिए है। इस अभाव की उस समय-विशेष के प्रारम्भ में उत्पत्ति भी हुई है और उसके बीत जाने पर—वहाँ राम के आ जाने पर—उस अभाव का अन्त भी हो जायेगा। अतः इस प्रकार अभाव नित्य-अत्यन्ताभाव से भिन्न ही मानना चाहिए। समय-विशेष के साथ सम्बद्ध होने के कारण इसे 'सामयिक अभाव' कहा जा सकता है।[1] दूसरा समाधान यह हो सकता है अत्यन्ताभाव के ही, पृथिवी आदि के समान, दो रूप मान लिए जायँ—नित्य तथा अनित्य। वायु में रूप का अत्यन्ताभाव नित्य-अत्यन्ताभाव का और कमरे में राम का अभाव अनित्य-अत्यन्ताभाव का उदाहरण है। किन्तु प्रखर तर्क करनेवाले न्याय-वैशेषिक आचार्य इन दोनों में से एक पक्ष को भी नहीं मानते। इन सबका कहना है कि जैसे भावात्मक वस्तु की सत्ता और उसका ज्ञान परस्पर भिन्न है उसी तरह अभाव का अस्तित्व और उसका ज्ञान भी भिन्न भिन्न है। यह आवश्यक नहीं कि अभाव के अस्तित्व मात्र से उसका ज्ञान हो ही या अभाव का ज्ञान न होने पर उसका अस्तित्व हो ही नहीं सकता। अस्तित्व के कारण भिन्न हैं और ज्ञान के भिन्न। अस्तित्व के बिना ज्ञान—यथार्थ ज्ञान—भले ही न हो, किन्तु ज्ञात के बिना अस्तित्व का न होना आवश्यक

---

1. वै० सू० विवृत्ति, 9/1/5, मुक्ता०, कारि० 12-13

नहीं है। कमरे में राम के आ जाने पर भी उसका अभाव बना ही रहता है। केवल उसके अभाव का ज्ञान नहीं हो पाता है। अतः राम के आ जाने पर कमरे में राम के अभाव का अन्त मानकर इस अभाव को 'सामयिक अभाव' के रूप में स्वतंत्र अभाव मानना या अत्यन्ताभाव को नित्य तथा अनित्य रूपों में बाँटना अनावश्यक है। रही बात यह कि अत्यन्ताभाव का राम के आगमन के बाद भी अस्तित्व होने पर उसके परिज्ञान के अभाव की। न्याय-वैशेषिक इस समस्या का यह समाधान प्रस्तुत करते हैं—अभाव का आधार अर्थात् अनुयोगी के साथ विशेषणता या विशेष्यता के कारण संयुक्त-विशेषता आदि सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष होता है, यह विषय न्याय-दर्शन की व्याख्या करते समय कहा जा चुका है। अभाव की विशेषणता या विशेष्यता संयोग या समवाय आदि सम्बन्ध के ऊपर निर्भर न होकर स्वरूपतः है; दूसरे शब्दों में, अभाव स्वरूप-सम्बन्ध से अपने अनुयोगी का विशेषण या विशेष्य होता है। यह स्वरूप-सम्बंध अनुयोगी से पृथक् नहीं है। विशेष यह है कि जिस समय कमरे में राम का अभाव है उस समय से और जिस प्रदेश में राम का अभाव है उस प्रदेश से भी विशिष्ट कमरा स्वरूप-सम्बन्ध का और मात्र कमरा जो विशेषण की भिन्नता से स्वरूप-सम्बन्ध का स्थान ग्रहण करनेवाले कमरे से, तार्किक दृष्टिकोण के आधार पर, भिन्न है। अभाव का अनुयोगी बना रहता है। चूँकि राम के आ जाने के बाद यह कमरा उस समय (जो उस कमरे के स्वरूप-सम्बन्धात्मक होने में विशेषण का कार्य करता था) से विशिष्ट नहीं रह जाता, इसलिए राम के आ जाने पर अभाव और कमरे के बीच का स्वरूप-सम्बन्ध ही समाप्त हो जाता है। फलतः अभाव न तो कमरे का विशेषण बन पाता है और न विशेष्य ही। ऐसी स्थिति में अभाव और इन्द्रिय के बीच संयुक्त-विशेषणता आदि किसी भी सन्निकर्ष के न होने से अभाव का ज्ञान यानी प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध हो पाता है कि राम के आ जाने पर कमरे में राम का अभाव ही नष्ट हो जाता है। यह अभाव ज्यों का त्यों बना रहता है, केवल उसका ज्ञान नहीं हो पाता। यही स्थिति अभाव से पूर्व राम के उस कमरे में वर्तमान होने पर भी है। अतः अत्यन्ताभाव से भिन्न 'सामयिक अभाव' या अत्यन्ताभाव के अनित्य रूप को मानने की आवश्यकता नहीं है।[1]

यह समाधान तार्किक दृष्टि से तो ठीक है, परन्तु स्वाभाविकता पहले दिये गये दो समाधानों में ही है।

---

1. मुक्ता०, कारि० 12-13

शंकर मिश्र का कहना है कि ऐसा अभाव या तो प्रागभाव होगा या प्रध्वंस।[1] किन्तु यह पक्ष भी व्यापक दृष्टिकोण पर निर्भर नहीं है, अतः उक्त प्रश्न का शत-प्रतिशत समाधान प्रस्तुत करने में असमर्थ है।

ईश्वर

वैशेषिक सूत्र में कणाद ने स्पष्ट रूप में ईश्वर का नाम कहीं नहीं लिया है। कणाद के व्याख्याकारों ने कुछ सूत्रों में (उदाहरणार्थ, 1/1/3, 2/1/18-19, 7/2 20 आदि) ईश्वर का संकेत ढूंढने का प्रयास किया है। किन्तु इन सूत्रों की व्याख्या ईश्वर को माने बिना भी की जा सकती है। अतः कणाद ईश्वरवादी थे या नहीं, इस प्रश्न का निश्चित समाधान वैशेषिक सूत्र के आधार पर देना सम्भव नहीं है। किन्तु कणाद की व्यक्तिगत जीवनी को साक्षी मानने पर यह भी मानना ही पड़ता है कि वे ईश्वरवादी थे।[2] वैशेषिक तथा अन्य सम्प्रदायों के अनेक आचार्यों द्वारा मान्य कणाद का जीवनचरित सर्वथा असत्य ही होगा, यह भी उचित नहीं प्रतीत होता है। अस्तु।

कणाद के बाद के आचार्यों में प्रशस्तपाद सर्वप्रथम उपलब्ध आचार्य हैं जिन्होंने ईश्वर की सत्ता मानी है। प्रशस्तपाद और कणाद के बीच 500-600 वर्षों का व्यवधान होने पर भी साहित्यिक दृष्टि से कोई लम्बा व्यवधान नहीं है। इसलिए ऐसा लगता है कि कणाद ईश्वरवादी अवश्य थे। नहीं तो एकाएक ईश्वर का वैशेषिक दर्शन में समावेश करनेवाले प्रशस्तपाद ईश्वर का उल्लेख या स्वीकार, बिना किसी तर्क-वितर्क के, नहीं कर लेते। अब रही बात यह कि कणाद यदि ईश्वरवादी थे तो उन्होंने अपने वैशेषिकसूत्र में ईश्वर की चर्चा क्यों नहीं की। इसके उत्तर में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि विचारणीय विषयों की सीमा से बाहर होने के कारण ही कणाद ने ईश्वर के बारे में कुछ विचार नहीं किया। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि पाशुपत दर्शन के प्रभाव से ही ईश्वरवाद वैशेषिक दर्शन के परवर्ती आचार्यों के ग्रन्थों

---

1. उप०, 9/1/10
2. प्रारम्भ में कणाद की जीवनी का उल्लेख करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि महेश्वर या शिव के प्रति इनकी अटूट श्रद्धा थी। वादीन्द्र ने तो कणाद-सूत्र-निबन्ध में यह भी लिखा है कि एक शिव-निर्मित वैशेषिकसूत्र था। देखिए, **Prof. Thakur : Introduction to the Vaisesika Darsana, Baroda, 1961, p. 10.**

में स्थान प्राप्त कर सका है; मूल में तो यह दर्शन स्पष्टतया निरीश्वरवादी था।[1] कुछ विद्वानों ने यह मत भी प्रस्तुत किया है कि शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य में जिस वैशेषिक मत का उल्लेख किया है उसमें ईश्वर की चर्चा नहीं है। इसलिए भी वैशेषिक दर्शन का मूलतः निरीश्वरवादी होना सिद्ध है।[2] परन्तु यह धारणा भ्रांत है। शंकराचार्य ने जिस वैशेषिक मत को प्रस्तुत किया है उसमें ईश्वर का स्थान स्पष्ट है। उन्होंने स्वयम् इस बात को स्पष्ट कर दिया है।[3]

वैशेषिक दर्शन मूल रूप में ईश्वरवादी था या नहीं, इस विषय के विवादास्पद होने पर भी यह सर्वसम्मत है कि ईश्वर के स्वरूप आदि के विषय में न्याय दर्शन और वैशेषिक दर्शन के (ईश्वरवादी) आचार्यों में कोई मतभेद नहीं है।

कार्य-कारण-सिद्धान्त

यह जगत् परमार्थ-दृष्टि से सत्य हो या मिथ्या, इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि इसका सबको अनुभव होता है। अतः सभी दार्शनिकों का यह एक आवश्यक विषय रहा है कि वे इस प्रत्यक्ष जगत् की तर्कसंगत व्याख्या करें। परिवर्तन, अर्थात् प्रति क्षण किसी वस्तु की उत्पत्ति और किसी का विनाश, इस जगत् का अनुभव-सिद्ध स्वभाव है। इसलिए यह प्रश्न बहुत ही सहज है कि इस जगत् में होने-वाला उक्त परिवर्तन कैसे होता है। दूसरे शब्दों में, यह परिवर्तन आकस्मिक है, बिना किसी कारण के हो जाता है, या इसका कुछ कारण है? चिरकाल से इस प्रश्न के विषय में विचार-विमर्श होते आ रहे हैं। विभिन्न विचारक अपने अपने दृष्टिकोण से समाधान प्रस्तुत करते रहे हैं। श्वेताश्वतर, उपनिषद् में इस प्रश्न के समाधान के रूप में '**कालवाद**', '**स्वभाववाद**', '**नियतिवाद**', '**यदृच्छावाद**', '**भूतवाद**', '**पुरुषवाद**' का उल्लेख मिलता है।[4] न्यायसूत्र में गौतम ने भी अनेक वादों का निर्देश किया है जिनमें कुछ तो उपनिषद् के वादों के ही नामान्तर हैं और कुछ अतिरिक्त वाद भी

---

1. Prof. Thakur : Introduction to the Vaisesika Darsana, Darbhanga, 1957, P. 16.
2. George Chemparathy : Theism and Early Vaisesika System, गोपीनाथ कविराज अभिनन्दन ग्रन्थ, लखनऊ, 1967
3. काणादस्तु एतेभ्य एव वाक्येभ्य ईश्वरं निमित्तकारणमनुमिमते अणूंश्च समवायि-कारणम्।—ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 1/1/5
4. श्वेताश्वतर, 1/2

हैं। उपर्युक्त वादों में 'स्वभाववाद', जिसे न्यायसूत्र में '**अनिमित्तवाद**' कहा गया है[1], चार्वाकों का सिद्धान्त है। इसके अनुसार उक्त परिवर्तन स्वभावतः, अपने आप हो जाता है, इसका कोई कारण नहीं है। अन्य वाद भी किसी न किसी रूप में कार्य-कारण-सिद्धान्त से दूर ही हैं। कार्य की उत्पत्ति में नियमितता को देखकर कार्य-कारण-सिद्धान्त की अनिवार्यता सुस्पष्ट है। इसलिये दार्शनिकों ने उपयुक्त सभी वादों की उपेक्षा कर कार्य-कारण-सिद्धान्त पर आश्रित पक्षों का अवलम्बन अपने-अपने तर्क के आधार पर किया है। उदयनाचार्य ने अपनी न्यायकुसुमांजलि नामक पुस्तक के प्रथम स्तवक में कार्य-कारण-सिद्धान्त की अनिवार्यता का प्रबल तर्कों द्वारा समर्थन किया है।

किन्तु दार्शनिक सम्प्रदायों में भी कार्य-कारण-सिद्धान्त की एकरूपता नहीं है। कार्य-कारण का सम्बन्ध क्या है ? क्या कार्य कारण से पूर्ण रूप में अभिन्न है या दोनों परस्पर भिन्न हैं ? कार्य किसी भावात्मक कारण से उत्पन्न होता है या अभावात्मक कारण से। कार्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया क्या है ? इत्यादि प्रश्नों के समाधान में मत-भेद के आधार पर दार्शनिकों के कार्य-कारण-सिद्धान्त में विभिन्नरूपता आ गई है। दार्शनिकों में भी सांख्य, वेदान्त, बौद्ध (माध्यमिक) और न्याय-वैशेषिक मुख्य हैं जिन्होंने इस जटिल समस्या का तर्कपूर्ण समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। सांख्य का सिद्धान्त '**परिणामवाद**', वेदान्त का '**विवर्त्तवाद**', बौद्ध का '**शून्यवाद**' और न्याय-वैशेषिक का '**आरम्भवाद**' नाम से प्रसिद्ध है।

परिणामवाद

परिणाम शब्द का अर्थ है वास्तविक परिवर्तन। यह वाद सत्त्व, रजस् और तमस्, इन तीन गुणों (प्रकृति) से इस जगत् का उत्पादन मानता है। प्रकृति भी सत्य है और जगत् भी। प्रकृति कारण है और जगत् कार्य। कारण और कार्य में तादात्म्य है, अर्थात् कुछ दृष्टियों से भिन्नता और कुछ मौलिक दृष्टियों से अभिन्नता। उत्पादन किसी असत् पदार्थ का नहीं हो सकता है। बालू से तेल कभी नहीं निकलता। हाँ, इतना तो सत्य है कि साधनों वा निमित्त कारणों के उपयोग के पूर्व तिल में तेल अव्यक्तावस्था (Unmanifest State) में रहता है और उपयोग के बाद व्यक्तावस्था में आ जाता है। इसलिये उत्पादन का अर्थ किसी असत् कार्य का उत्पादन नहीं है, अपितु

---

1. न्या० सू०, 4/1 22

सूक्ष्म रूप में पहले से ही वर्तमान सत् कार्य की मात्र अभिव्यक्ति (Manifestation) है। इसे **'सत्कार्यवाद'** भी कहते हैं।

विवर्त्तवाद

विवर्त्त मिथ्या परिवर्त्तन को कहा जाता है। अद्वैत वेदान्त का मत है कि यह जगत् वास्तविक नहीं है। यह तो माया के प्रभाव से ब्रह्म का ही अवास्तविक परिवर्त्तन अर्थात् विवर्त्त है।[1] जब तक माया का जाल बना रहता है तभी तक यह जगत् दीखता है। किन्तु जिस क्षण यह जाल समाप्त हो जाता है, इसका कहीं कुछ पता नहीं रह जाता।

परिणाम और विवर्त्त दोनों के अनुसार जगत् अपने मूल रूप में, अर्थात् परिणाम के अनुसार प्रलय के समय प्रकृति के रूप में और विवर्त्त के अनुसार नाश के बाद ब्रह्म के रूप में, प्रस्तुत हो जाता है। फिर भी दोनों में मुख्य अन्तर यही है कि परिणाम में जब तक जगत् अलग दीखता है तब तक भी उसकी सत्यता है जबकि विवर्त्त में यह स्थिति नहीं है।

शून्यवाद

यह माध्यमिकों का सिद्धान्त है। शून्य का अर्थ अभाव नहीं है। यह भावात्मकता, अभावात्मकता आदि कल्पनाओं से परे होने के कारण शून्य है। अविद्या की सहायता से इसी शून्य की कल्पना यह जगत् है।

आरम्भवाद

यह न्याय-वैशेषिक का सिद्धान्त है। यह पक्ष सांख्य की तरह कारण अर्थात् उपादान कारण में सूक्ष्म रूप में पहले से वर्तमान कार्य की स्थूल रूप में अभिव्यक्ति का विरोधी है। न्याय-वैशेषिक में प्रकृति नामक तत्त्व भी नहीं माना जाता। यह तो कार्य को कारण से भिन्न और निमित्त कारण के उपयोग से पूर्व उपादान कारण में सूक्ष्म रूप में भी असत् मानता है। कार्य पहले असत् है। फिर निमित्त कारण की क्रिया से उसकी उत्पत्ति होती है। उत्पन्न कार्य सत् है। इसलिए यह पक्ष **'असत्कार्यवाद'** नाम से भी प्रसिद्ध है। इसका मूल स्वरूप यही है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु

---

1. चूंकि सत् ब्रह्म में इस कार्य की (जगत् की) मिथ्या प्रतीति होती है, इसलिये इसे भी 'सत्यकार्यवाद' कहा जाता है। ब्रह्म रूप में जगत् सत् है, इस दृष्टि से इसे 'सत्कार्यवाद' कहना अनुचित नहीं है।

के नित्य-निरवय परमाणुओं से द्वयणुक आदि के क्रम से इस भौतिक जगत् की उत्पत्ति हुई है। **'परमाणु'** 'शून्य' नहीं है। इसलिए यह पक्ष **'शून्यवाद'** से भी भिन्न है। यह मात्र माया-जाल भी नहीं है, जैसा अद्वैत वेदान्त का मत है। सत् एवं नित्य परमाणुओं से उत्पन्न होनेवाला जगत् स्वभावतः सत् है। इसका आदि भी होता है और अन्त भी। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह मिथ्या है। मिथ्या होने का अर्थ प्रमाण से सिद्ध न होना है। इसके अर्थ में समय का कोई स्थान नहीं है। इस जगत् में सर्वदा कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य होता रहता है, किन्तु इसका भी मिथ्यात्व के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस पक्ष को 'आरम्भवाद' इसलिए कहा जाता है कि इसके अनुसार अवयवों का संयोग कार्य का असमवायि कारण होता है और उसे **'आरम्भक संयोग'** कहा जाता है। कार्य का आरम्भ अर्थात् उपादान करने के कारण इस संयोग को आरम्भक संयोग कहना भी उचित ही है।

जैसा कहा जा चुका है, 'आरम्भवाद' एक कार्य-कारण-सिद्धान्त पर आश्रित वाद है। अतः कार्य और कारण के स्वरूप का परिचय आवश्यक है।

कार्य

न्याय-वैशेषिक असत्कार्यवादी हैं, अर्थात् निमित्त कारण की क्रिया से पूर्व कार्य अपने उपादान कारण में किसी भी रूप में विद्यमान् नहीं रहता, वे इस सिद्धान्त को माननेवाले हैं। पीछे चलकर निमित्त कारण की क्रिया से कार्य की उत्पत्ति होती है। वह सत् हो जाता है। किसी वस्तु की उत्पत्ति से पहले जो अभाव होता है उसे प्रागभाव कहते हैं। कार्य की उत्पत्ति से पूर्व चूंकि उपादान कारण में अस्तित्व नहीं रहता है इसलिए उस समय उपादान में कार्य का प्रागभाव रहता है। जिसका अभाव होता है उसे अभाव का प्रतियोगी कहते हैं। इसलिए प्रागभाव के प्रतियोगी को न्याय-वैशेषिक दर्शन में **'कार्य'** कहा जाता है।[1] जो पदार्थ सत् है, अर्थात् नित्य है, उसका प्रागभाव या कोई अभाव होता ही नहीं। इसलिए वह कार्य नहीं है। इसी तरह जिसका अस्तित्व न कभी था, न है और कभी होनेवाला है, उसका अत्यन्ताभाव है या उसे अलीक यानी मिथ्या कह सकते हैं। अतः उसका प्रागभाव भी असम्भव है। जिसकी उत्पत्ति होती हो वह कार्य है, यह परिभाषा तो सुस्पष्ट है ही।

---

1. त० सं०, पृ० 26

कारण

किसी कार्य की उत्पत्ति जिसके बिना न हो सके (अन्यथासिद्ध), वही कारण है। कारण के लिए अनिवार्य है कि वह कार्य की उत्पत्ति से अव्यवहित पूर्व क्षण में विद्यमान हो। इसलिए कारण को अन्यथासिद्ध होने के साथ-साथ 'कार्य-नियत-पूर्व-वृत्ती' भी कहा गया है।[1]

अन्यथासिद्ध कौन-कौन से पदार्थ किसी कार्य के लिए हो सकते हैं, इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि जिस किसी के बिना कार्य की उत्पत्ति हो जाती हो वह अन्यथा सिद्ध है। विश्लेषण की दृष्टि से आचार्यों ने अन्यथासिद्ध के पाँच भेद माने हैं।[2]—

(1) किसी कार्य के कारण में रहनेवाला वह सामान्य धर्म अन्यथासिद्ध है जो कारण का स्वाभाविक धर्म, कारणतावच्छेदक हो। घड़ा का कारण कपाल (घड़ा का एक भाग) है। यह कपाल होने के नाते घड़ा का कारण है। इसी को संस्कृत में 'कपालत्वेन रूपेण' कहेंगे। यही कपालत्व कपाल में घट की कारणता का अवच्छेदक या नियामक है। यह अन्यथासिद्ध है, क्योंकि कपालत्व के बिना कपाल के अस्तित्व के असम्भव होने पर भी घट का अस्तित्व मात्र कपाल के बिना असम्भव है, कपालत्व के बिना नहीं।

(2) कारण के रूप आदि दूसरे प्रकार के अन्यथासिद्ध हैं। न्याय-वैशेषिक के अनुसार और तर्क से भी घट के निर्माण के लिए कपालों की आवश्यकता है, कपालों के रूप आदि की नहीं। जो व्यक्ति मात्र घड़ा बनाना चाहेगा वह केवल कपाल ढूँढ़ेगा, वे कपाल लाल हों या काले, इस विषय पर उसका विशेष ध्यान नहीं जायेगा। यह तो उसके लिए विशेष महत्त्व का होगा जो लाल या काला घड़ा बनाना चाहेगा। अतः कपाल का रूप घट के रूप के लिए आवश्यक है, घट के लिए नहीं। इसीलिए कपाल का रूप घट की उत्पत्ति में अन्यथासिद्ध है।

(3) जिस वस्तु को हम प्रस्तुत कार्य से भिन्न कार्य के कारण के रूप में जानने के बाद ही प्रस्तुत कार्य से पूर्ववृत्ती जान सकें, वह तत्त्व भी अन्यथासिद्ध है। न्याय-वैशेषिक आकाश को शब्द के समवायि कारण के रूप में अनुमेय मानते हैं, प्रत्यक्ष नहीं। जब घट की उत्पत्ति का प्रश्न उठता है तब आकाश अन्यथासिद्ध हो जाता

---

1. कारि० 16
2. कारि० 19-22

है, क्योंकि आकाश को घट से पूर्ववर्ती हम तभी समझ पाते हैं जब हम पहले शब्द के आश्रय के रूप में उसका अनुमान कर लेते हैं। इसलिए घट के लिए आकाश अन्यथासिद्ध है।

(4) कारण का कारण भी अन्यथासिद्ध है। घट का उत्पादक कुम्भकार है। कुम्भकार का उत्पादक उसका पिता है। किन्तु उसका पिता घट के लिए अन्यथासिद्ध है। तभी तो कुम्भकार के पिता के अभाव में भी घट का उत्पादन निर्विघ्न होता रहता है।

(5) संक्षेप में, वह अन्यथासिद्ध है जो निश्चित रूप में अनिवार्य तत्त्वों से अतिरिक्त तत्त्व हो, भले ही वह कार्य के पूर्व वर्तमान हो। घड़ा बनाने के लिए मिट्टी किसी भी साधन से लाई जा सकती है। कोई विशेष साधन अनिवार्य नहीं है। इसलिए मिट्टी लाने के सब साधन, सामान्य रूप में, घट के लिए अन्यथासिद्ध हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, यही पाँचवाँ प्रकार सभी अन्यथासिद्धों का मूल रूप है। इसमें सब प्रकारों का अन्तर्भाव सरल है। पाँच प्रकार केवल विश्लेषण की भावना से बताये गये हैं। इसीलिए गंगेश उपाध्याय ने अपनी तत्त्व-चिन्तामणि नामक पुस्तक में अन्यथासिद्ध के तीन ही प्रकार माने हैं।

कारण के भेद

अन्य दर्शनों में कारण के दो ही भेद किये गये हैं—**उपादान कारण** (Material Cause) एवम् **निमित्त कारण** (Efficient Cause)। किन्तु न्याय-वैशेषिक दर्शन में समवाय पदार्थ के स्वीकार के आधार पर कारण के तीन भेद माने गये हैं :—**समवायि कारण** (Inherent Cause), **असमवायि कारण** (Non-inherent Cause) तथा **निमित्त कारण** (Efficient Cause)।

(क) **समवायि कारण**—न्याय-वैशेषिक अवयवों तथा उनसे निर्मित अवयवी (Composite whole) के बीच समवाय सम्बन्ध मानता है। अवयव अवयवी के कारण होते हैं। चूँकि अवयवों और अवयवी के बीच समवाय है इसलिए अवयव अवयवी के समवायि कारण हैं। यह तो द्रव्य के समवायि कारण की बात रही। द्रव्य के अतिरिक्त गुण तथा कर्म भी उत्पन्न होते हैं। इनका समवायि कारण वह द्रव्य होता है जिसके साथ इनका समवाय होता है, अर्थात् जिसमें ये समवाय सम्बन्ध से वर्तमान होते हैं।

उपर्युक्त दृष्टान्तों से यह स्पष्ट है कि किसी भी कार्य का वह कारण समवायि

कारण है जिसके साथ कार्य का समवाय हो। समवायि कारण का स्थान सर्वदा द्रव्य को ही मिलता है, यह न्याय-वैशेषिक का सिद्धान्त है।

(ख) असमवायि कारण—समवायि कारण के साथ सम्बन्ध रखनेवाला कारण असमवायि कारण है। किसी कार्य के समवायि कारण के साथ असमवायि कारण का सम्बन्ध कभी तो (द्रव्य की उत्पत्ति में) साक्षात् (Direct) होता है और कभी (गुण तथा कर्म की उत्पत्ति में भी) परम्परया (Indirect)। प्रथम सम्बन्ध को वैशेषिक दर्शन में **लघ्वी प्रत्यासत्ति** और दूसरे को **महती प्रत्यासत्ति** कहते हैं।[1]

द्रव्य की उत्पत्ति में असमवायि कारण का स्थान अवयवों के आरम्भक संयोग को ही सर्वदा प्राप्त है। घट के निर्माण में असमवायि कारण होता है दो कपालों का संयोग। यह संयोग अव्यवस्थित अर्थात् उलटा-पलटा भी हो सकता है, किन्तु वह असमवायि कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह आरम्भक यानी कार्योत्पाद संयोग नहीं है। संयोग में जो द्रव्य की असमवायि-कारणता रहती है वह सर्वदा साक्षात् सम्बन्ध—समवाय—से ही। उदाहरणार्थ, घट के असमवायि कारण कपाल-संयोग को लीजिए। घट का समवायि कारण है कपाल-द्वय। कपाल-द्वय में समवाय सम्बन्ध से घट वर्तमान है। समवाय साक्षात्सम्बन्धों में अन्यतम है। घट का असमवायि कारण कपाल-संयोग भी, गुण होने के कारण अपने आधारभूत द्रव्य कपाल-द्वय में समवाय सम्बन्ध से ही वर्तमान है। इससे यह स्पष्ट है कि कार्य घट और असमवायि कारण कपाल-संयोग, दोनों ही साक्षात्सम्बन्ध—समवाय सम्बन्ध—से कपाल-द्वय में आश्रित हैं। इसे '**कार्यैकार्थ प्रत्यासत्ति**' भी कहते हैं[2], क्योंकि कार्य घट और असमवायि कारण कपालद्वय-संयोग की एक अर्थ—कपाल-द्वय—में प्रत्यासत्ति सन्निकर्ष—समवाय—है।

परम्परा-सम्बन्ध से असमवायि कारण के उदाहरण के रूप में गुण आदि के असमवायि कारण लिए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, घट के रूप के असमवायि कारण कपाल-रूप को लिया जा सकता है। कार्य तथा कारण का एक स्थान में रहना आवश्यक है। सोना प्रयाग में हो और आभूषण वाराणसी में बने, यह असम्भव है। इसलिए कारण (कपाल-रूप) और कार्य (घट-रूप) को किसी एक आधार में रहना चाहिए। यह साक्षात् सम्बन्ध से सम्भव नहीं है। कपाल-रूप समवाय सम्बन्ध से कपालों में और घट का रूप समवाय सम्बन्ध से घट में है। कपाल और घट परस्पर

---

1. उप०, 2/1/22, 10/2/3
2. मुक्ता०, कारि० 18

कारण-कार्य के रूप में सम्बद्ध होकर भी एक नहीं हैं। इसलिए कारण और कार्य का एकत्र अस्तित्व नहीं बन पाता। चूँकि जिस प्रकार का रूप कपालों में रहता है उसी प्रकार का रूप उनसे निर्मित घट में भी पाया जाता है, इसलिए कार्य-कारण-भाव मानना, इन दोनों रूपों के बीच, आवश्यक है। इसलिए न्याय-वैशेषिक मत में परम्परा सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। कारण अर्थात् कपालों का रूप समवाय सम्बन्ध से कपालों में आश्रित है; कार्य, घट का रूप, समवाय सम्बन्ध से घट में और घट समवाय मम्बन्ध से कपाल में आश्रित है। इसलिए कार्य (घट का रूप) अपने समवायि कारण के माध्यम से अपने असमवायि कारण (कपाल रूप) के आधार कपालों में वर्तमान माना जाता है। यही कारण है कि इस सम्बन्ध को परम्परा-सम्बन्ध कहते हैं। इसे **कारणैकार्थ प्रत्यासत्ति** भी कहा जाता है,[1] क्योंकि असमवायि कारण—कपाल का रूप—कार्य घट-रूप के साथ साक्षात् नहीं अपितु कार्य के समवायि कारण घट के साथ (माध्यम से) एक अर्थ—कपाल-द्वय—में समवाय सम्बन्ध से वर्तमान है अर्थात् कार्य और असमवायि कारण एकत्र समवेत नहीं हैं, किन्तु कार्य का समवायि कारण और असमवायि कारण एकत्र (कपाल-द्वय में) समवेत हैं।

(न्याय-वैशेषिक के समवायि कारण तथा असमवायि कारण के विभाजन का आधार समवाय का स्वीकार है। जैसे पहले कहा जा चुका है, समवाय सब दार्शनिक नहीं मानते। इसे स्वीकार करने में कई आपत्तियाँ हैं, जिनमें समवाय का समवाय मानने में अनवस्था प्रमुख है। इसके अतिरिक्त असमवायि कारण के सिद्धान्त भी कुछ दुर्बल हैं। इसकी कोई एक व्यापक परिभाषा देना सम्भव नहीं है। भिन्न-भिन्न कार्य के असमवायि कारण के लक्षण में विभिन्न प्रकार के संकोच (Reservations) आवश्यक हैं। साथ ही, आत्मा के विशेष गुण के असमवायि कारण की सामान्य परिभाषा में भी 'आत्मा के विशेष गुणों से भिन्न' यह अंश जोड़ना अनिवार्य है। यह पक्ष भी दुर्बल है। इसमें कोई तर्क नहीं है, मात्र दुराग्रह या रूढ़िवाद है[2])।

(ग) **निमित्त कारण**—उक्त दोनों कारणों से भिन्न कारण निमित्त कारण है। निमित्त कारण अनेक होते हैं। इन अनेक निमित्त कारणों के भी दो वर्ग हैं, एक

---

1. वही
2. इस विषय में हमारा निबन्ध 'Non-Inherent Causality and the Special Qualities of the Soul' (S. V. University Journal, Tirupati, 1968, Vol. XI) द्रष्टव्य है।

साधारण निमित्त कारण और दूसरा असाधारण निमित्त कारण। साधारण निमित्त कारण वे तत्त्व हैं जिनकी अपेक्षा प्रत्येक कार्य की उत्पति में हो। ये आठ या नौ हैं—(1) **बुद्धि**, (2) **इच्छा**, और (3) **कृति** (Effort), (4) **कार्य का प्रागभाव**, **जीवात्मा का अदृष्ट**, (5) **धर्म** और (6) **अधर्म**, (7) **काल**, (8) **दिक्** (Space) और (9) **प्रतिबन्धक का अभाव**। असाधारण निमित्त कारण उन्हें कहा जाता है जो किसी एक कार्य के उत्पादन में आवश्यक हों; जैसे घट के निमित्त कारण कुम्भकार, चक्र आदि।

(यह ध्यान में रखना चाहिए कि न्याय-वैशेषिक ने जो असमवायि कारण माना है वह भी अन्य दर्शनों की दृष्टि में निमित्त कारण का ही अंग है।)

उपर्युक्त तीन कारणों की अपेक्षा केवल भावात्मक कार्य की उत्पत्ति में होती है। किन्तु अभावात्मक कार्य अर्थात् ध्वंस के लिए एकमात्र निमित्त कारण आवश्यक है।[1]

प्रलय (Cosmic Dissolution)

समस्त जगत् की उत्पत्ति की बात तभी तर्कसंगत हो सकती है, यदि इसका पहले अभाव हो। यही तथ्य कार्य की पूर्वोक्त परिभाषा से भी प्रकट होता है। समस्त जगत् का अभाव ही प्रलय है।[2] अतः प्रलय की प्रामाणिकता के बिना जगत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त निराधार है। इसीलिए न्याय-वैशेषिक के आचार्यों को प्रलय-विरोधी मीमांसक के मत के विपरीत प्रलय का समर्थन करना पड़ा है।

मीमांसक दैनिक प्रलय मानते हैं। दैनिक प्रलय का अर्थ यह है कि प्रत्येक क्षण किसी न किसी पदार्थ का विनाश अवश्य होता है। किन्तु प्रत्येक क्षण किसी न किसी पदार्थ की उत्पत्ति भी अवश्य होती है। इसलिए विनाश—उत्पत्ति—विनाश—उत्पत्ति का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से चलता आ रहा है। समस्त भावात्मक कार्यों का एकाएक किसी समय में विनाश अर्थात् प्रलय मानना असम्भव है। मीमांसक के प्रलय-विरोधी तर्क निम्नलिखित हैं—

(1) प्रत्येक दिन के पूर्व रात, उसके पूर्व दिन, उसके पूर्व दूसरी रात की परम्परा अविच्छिन्न रूप में चलती आ रही है—यह तथ्य बार बार अपने जीवन में

---

1. त० भा०, पृ० 39
2. प्रलय के विषय में न्याय-वैशेषिक के पक्ष की विशेष जानकारी न्यायकुसुमांजलि के द्वितीय स्तबक से प्राप्त की जा सकती है।

दिन-रात-दिन-रात के प्रवाह से, बिना किसी अपवाद के, प्रमाणित होता है। दिन-रात की परम्परा प्रलय के समय नहीं रह सकती, क्योंकि सूर्य और चन्द्रमा आदि भी, जिनके आधार पर दिन और रात का विभाजन होता है, प्रलय में नहीं रहते। अतः दिन-रात की प्रामाणिक परम्परा से प्रलय का अभाव सिद्ध है।

(2) मानव-जीवन का एक भी क्षण कर्म-शून्य नहीं है। इन कर्मों का फल भी कर्ता को क्रमशः भोगना पड़ता है। यह सम्भव नहीं है कि एक ही साथ सभी जीवों के कर्म एक लम्बी अवधि के लिए फल देने से विमुख हो जायँ। ऐसी स्थिति में प्रलय मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रलय मानने पर सभी जीवों के समस्त कर्मों को एकाएक फल देने से विमुख मानना असम्भव है।

(3) जातिवाद के आधार पर भी प्रलय का अभाव सिद्ध है। ब्राह्मण से उत्पन्न व्यक्ति को ही ब्राह्मण कहा जाता है। प्रलय मानने पर प्रारम्भ में उत्पन्न व्यक्ति को ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में उसकी सन्तति के भी अब्राह्मण होने से जातिवाद का उच्छेद हो जायेगा।

(4) किसी शब्द का क्या अर्थ है, यह तथ्य गुरु और शिष्य के व्यवहार के आधार पर तटस्थ जिज्ञासु सीखता है। अन्य आधार भी हैं, पर मुख्य यही है। इसी को इन शब्दों में भी कहा जाता है— शब्दार्थ-सम्बन्ध (शक्ति) का ज्ञान व्यवहार से होता है। प्रलय मानने पर सृष्टि के प्रारम्भ में गुरु-शिष्य के अभाव में शब्दार्थ-सम्बन्ध का ज्ञान असम्भव हो जायेगा। साथ ही, विभिन्न कलाओं का ज्ञान भी प्राप्त न हो सकेगा, क्योंकि सृष्टि के आदि में शिक्षक की स्थिति प्रलयवादी दार्शनिक नहीं सिद्ध कर सकते। अतः प्रलय का सिद्धान्त अप्रामाणिक है।

मीमांसक के प्रलय-विरोधी उपर्युक्त मत का खण्डन न्याय-वैशेषिक के आचार्य अपने कर्कश तर्क तथा ईश्वरवाद के आधार पर करते हैं। प्रथम प्रलय-विरोधी युक्ति के उत्तर में न्याय-वैशेषिक के आचार्यों का कहना है कि प्रत्येक दिन-रात की और प्रत्येक रात-दिन की पूर्वकल्पना तभी सफल हो सकती है जब प्रलय के खण्डन में कोई अन्य अकाट्य तर्क मीमांसक प्रस्तुत कर सकें। प्रथम युक्ति से तो इतना ही सिद्ध किया जा सकता है कि सृष्टि की अवधि में रात-दिन की परम्परा चलती रहती है। किन्तु सृष्टि का प्रारम्भ है या नहीं, यह विषय परस्पर विरोधी मतों द्वारा संदिग्ध है। अतः प्रत्येक दिन-रात के पूर्व दूसरी दिन-रात की कल्पना में सन्देह है। इसे ही संदिग्ध व्यभिचार (प्रत्येक दिन-रात अन्य दिन-रात की पूर्व-कल्पना करती है, इस व्याप्ति में)

कहा गया है। मीमांसकों का दूसरा तर्क भी तुच्छ है। जिस प्रकार रात के मध्य-भाग में एक ही समय असंख्य जीव सुषुप्ति की अवस्था में पहुँच जाते हैं, उसी प्रकार ईश्वर की इच्छा से एक ही साथ निश्चित अवधि के लिए सभी जीवों के कर्म फल देने से विमुख हो सकते हैं। तीसरी युक्ति के विरोध में न्याय-वैशेषिक का कहना है कि प्रारम्भ में गोबर से और बाद में पुनः वृश्चिक (बिच्छू) से जिस तरह वृश्चिक की उत्पत्ति होती है उसी तरह सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर की इच्छा से अयोनिज—माता-पिता के बिना ही—ब्राह्मण आदि शरीरों की उत्पत्ति होती है और बाद में उन ब्राह्मण आदि शरीरों से। चौथी युक्ति के विरोध में प्रलयवादी न्याय-वैशेषिक के आचार्यों ने यह मान लिया है कि ईश्वर ही जीवों को अनुगृहीत करने के निमित्त माया के प्रभाव से गुरु-शिष्य के रूप में प्रस्तुत होकर शब्दार्थ-सम्बन्ध के परिज्ञान और विभिन्न कलाओं की शिक्षा का कारण बन जाता है। अतः मीमांसकों के उपर्युक्त तर्क-कुतर्क हैं। इसके अतिरिक्त जन्म, संस्कार तथा विद्या आदि में ह्रास के आधार पर भी प्रलय का अनुमान किया जा सकता है।

प्रलय के समय ईश्वरेच्छा और अदृष्ट से सम्पन्न आत्मा के संयोग से परमाणुओं में क्रिया होती है जिसके कारण दोनों परमाणु अलग हो जाते हैं। इससे द्वयणुकों का नाश हो जाता है जिसके फलस्वरूप त्र्यणुक आदि का भी क्रमशः नाश हो जाता है। नाश दो तरह से होता है—(क) समवायि कारण के नाश से और (ख) असमवायि कारण के नाश से।[1] द्वयणुक का नाश असमवायि कारण—दो परमाणुओं के संयोग के नाश से और त्र्यणुक आदि का नाश समवायि कारण—द्वयणुक आदि के नाश से होता है। सृष्टि की अवधि में भी इन्हीं दो तरीकों से कार्य का नाश होता है।

(प्रलय के विषय में दोनों पक्षों के तर्कों में कुछ न कुछ अस्वाभाविकता है। यहाँ केवल दोनों पक्षों का सारांश प्रस्तुत किया गया है। आलोचना पाठकों के ऊपर छोड़ दी जाती है, क्योंकि कोई भी आलोचना सर्वसम्मत नहीं होती; यह व्यक्ति की दृष्टि की देन है।)

परमाणु कारणतावाद (Atomic Theory)

प्रलय की अवधि समाप्त हो जाने पर दो दो परमाणुओं के संयोग से द्वयणुकों तथा तीन तीन द्वयणुकों के संयोग से एक एक त्र्यणुक की उत्पत्ति के माध्यम से स्थूल

---

1. त० भा०, पृ० 182-183

भूतों का प्रादुर्भाव होता है। अब प्रश्न यह है कि परमाणुओं के अस्तित्व का क्या प्रमाण है? यदि परमाणु हैं तो उनका स्वरूप क्या है?

प्रथम प्रश्न का उत्तर यह है : एक पुस्तक 500 पृष्ठों की है और दूसरी 200 पृष्ठों की। पहली पुस्तक को हर एक व्यक्ति बड़ी या मोटी पुस्तक कहेगा और दूसरी को छोटी। इसका एकमात्र आधार पन्नों की संख्या का महान् अन्तर है। यह अन्तर इसलिये स्पष्ट रूप में हम जान पाते हैं और अन्य व्यक्ति को समझा भी सकते हैं कि इन पुस्तकों की इकाई का रूप निश्चित है। हम इनकी इकाइयों अर्थात् पृष्ठों की गणना कर सकते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि बड़ी-छोटी चीजों के बीच का अन्तर उन चीजों के अवयवों अर्थात् इकाइयों की संख्या का जो अन्तर है उसपर निर्भर है। यह संख्या अवयवों के स्वरूप के स्पष्ट और निश्चित होने पर ही स्थिर की जा सकती है। अन्यथा अवयवों की संख्या के बारे में किये गये प्रश्न का उत्तर होगा—अनन्त। यह एक ऐसी अस्पष्ट और अनिश्चित संख्या है कि इसको आधार मानकर अन्तर की तर्क-पूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ सरसों का एक दाना और एक पहाड़ को लिया जा सकता है। दोनों के परिमाण (Dimension) में महान् अन्तर प्रत्यक्ष-सिद्ध है। यदि इस अन्तर की व्याख्या की बात उठे तो समाधान तभी दिया जा सकेगा जब हम दोनों के अवयवों का एक निश्चित रूप मान लें। उन निश्चित अवयवों की संख्या में जो महान् अन्तर है उसके आधार पर उक्त दोनों द्रव्यों के परि-माणों का अन्तर भी बतलाना सम्भव है। अवयवों की संख्या का अन्तर अन्ततोगत्वा मौलिक अवयवों (अन्त्य अवयवों) की संख्या के अन्तर के रूप में प्रस्तुत होता है। वह अन्तिम अवयव परमाणु है।[1]

यहाँ एक प्रश्न और उठ सकता है : पहले दो पुस्तकों का दृष्टान्त दिया जा चुका है। उन पुस्तकों के अन्तर की व्याख्या उनके पृष्ठों की संख्या के अन्तर के आधार पर की गई है और यह स्वाभाविक भी है। इसी प्रकार एक बड़ी एवं एक छोटी दीवालों के अन्तर की व्याख्या हम आसानी से दोनों दीवालों में लगी ईंटों की संख्या के अन्तर के आधार पर कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में पुस्तक के पृष्ठों और ईंटों से भी छोटे छोटे अवयवों के क्रम से परमाणु तक अवयवों की परम्परा को बढ़ाने में क्या

---

1. इन्हें परमाणु इसलिए कहा जाता है क्योंकि इनसे छोटा कोई तत्त्व नहीं है। अवयव-विभाजन की परम्परा का परमाणुओं में ही अन्त है।—न्या० भा०, 4/2/16

औचित्य है ? इसका उत्तर यह है कि यदि पृष्ठों में एक छोटा हो, एक बड़ा, ईंटों में एक छोटी हो, एक बड़ी, तो वहाँ भी उक्त प्रश्न उठ ही सकता है और इसलिए पृष्ठों आदि से भी छोटे अवयवों की कल्पना (=स्वीकार) अनिवार्य है।

उक्त प्रश्न की परम्परा में एक प्रश्न यह भी उठता है कि यदि पृष्ठों आदि को अन्तिम अवयव मानने से सारी समस्याओं का समाधान नहीं हो पा रहा है तो फिर त्र्यणुक या त्रसरेणु[1] (जिसे न्याय-वैशेषिक तीन द्व्यणुकों से उत्पन्न मानते हैं) को ही अन्तिम अवयव क्यों न मान लिया जाय, परमाणु तक अवयव-परम्परा को क्यों बढ़ाया जाय ? इसके उत्तर में न्याय-वैशेषिक के आचार्यों का वक्तव्य है कि चूँकि त्र्यणुक चक्षु से देखा जानेवाला एक पदार्थ है; इसलिए उसे भी अनेक अवयवों से निर्मित्त होना ही चाहिए, क्योंकि हमारे समक्ष एक भी ऐसा भौतिक तत्त्व नहीं आता जिसे एक ओर हम अपनी आँखों से देखते भी हों और दूसरी ओर वह निरवयव भी हो। इसलिए त्र्यणुक के भी अवयव मानने पड़ते हैं। अब यह प्रश्न उठ सकता है कि त्र्यणुक के जो अवयव होंगे उन्हें ही अन्तिम अवयव मान लेने में क्या आपत्ति है ? न्याय-वैशेषिक का कहना है कि उन्हें भी अन्तिम अवयव इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि आँखों द्वारा देखे जानेवाले द्रव्यों के अवयव कभी निरवयव नहीं होते। हम शरीर को आँखों से देखते हैं। इसके अवयव हाथ, पैर आदि भी कई अवयवों से बने हैं, यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष दृष्ट त्र्यणुक के अवयवों को भी अवयवों से निर्मित मानना ही आवश्यक है। अतः त्र्यणुक के अवयवों को अन्तिम अवयव नहीं स्वीकार किया जा सकता। त्र्यणुक के अवयवों के अवयव ही परमाणु हैं। ये स्वयं निरवयव हैं, नित्य हैं। इनके अवयव इसलिए नहीं माने जाते कि ऐसा मानने में अनवस्था (Infinite regress) दोष आ जाता है। जब कहीं अवयवों की परम्परा का अन्त मानना ही है तो त्र्यणुक के अवयव—द्व्यणुक—के अवयव में ही उसका अन्त मान लेना उचित है। द्व्यणुक के अवयवों को भी सावयव—अवयवयुक्त—मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है अतः द्व्यणुक के अवयव परमाणु निरवयव हैं।[2]

---

1. किसी छिद्र आदि के माध्यम से जब कमरे में सूर्य की किरण आती है तो उसकी रेखा में धूलियाँ दीखती हैं। एक-एक धूलि एक-एक त्र्यणुक के आधार की मानी जाती है।
2. मुक्ता०, कारि० 36-37

निरवयव होने के कारण ही परमाणु नित्य भी हैं।[1] इन परमाणुओं को नित्य इसलिए भी माना जाता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न होनेवाले भूतों के समवायि कारण मिल सकें; नहीं तो सृष्टि के प्रारम्भ में किसी भौतिक तत्त्व के अभाव में सभी भूतों की, समवायि कारण के बिना ही, उत्पत्ति माननी पड़ेगी। यह कार्य-कारण-सिद्धान्त का उल्लंघन होगा। अतः परमाणुओं को नित्य मानना आवश्यक है।

परमाणुओं के बारे में निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए :—

(1) परमाणु केवल चार भूतों—पृथिवी, जल, तेज और वायु—के हैं।

(2) ये नित्य तथा अविभाज्य हैं।[2]

(3) पृथिवी-परमाणु के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श तेज के संयोग से बदल जाते हैं। अन्य परमाणुओं के नहीं।

(4) पृथिवी-परमाणुओं के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के अतिरिक्त सभी परमाणुओं के सभी गुण नित्य हैं।

(5) इनका जनसाधारण को प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, किन्तु त्र्यणुक के अवयवों के रूप में द्व्यणुकों की और इसके अवयवों के रूप में परमाणुओं की अनुमिति होती है। हाँ, योगियों को परमाणुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान भी होता है।

(6) ये इस समस्त जगत् के मूल उपादान कारण हैं।

---

1. परमाणु के विषय में देखिये, सेतु, पृ० 218; व्योम०, पृ० 224; उप०, 4/1/2 आदि।

2 बौद्ध आदि दार्शनिक परमाणुओं के निरवयव होने के सिद्धान्त के प्रबल विरोधी हैं। इनका कहना है कि जब परमाणुओं का परस्पर संयोग होता है तो इन्हें अंशयुक्त अवश्य होना चाहिए, नहीं तो संयोग की व्याख्या नहीं की जा सकती। यदि अंशहीन हैं तो एक परस्पर संयोग का अभाव तथा कथंचित् संयोग होने पर भी इनसे बने तत्त्वों के परिमाण में परमाणुओं के परिमाण से भिन्नता का अभाव अनिवार्य है। ऐसी दशा में सृष्टि का विकास असम्भव है। अतः निरवयव-परमाणुवाद तर्कशून्य पक्ष है। इसके उत्तर में न्याय-वैशेषिक का कथन है कि नित्य-पदार्थ का संयोग काल्पनिक अंश को लेकर ही माना जा सकता है। इसलिए उक्त आपत्तियाँ निराधार हैं। देखिये; न्या० भा०, 4/2/20; न्या० वा०, 4/2/25; न्या० क०, पृ० 262-263

(7) ये 'अन्त्य विशेष' के कारण परस्पर भिन्न हैं।

(8) परमाणु में नित्य—प्रकृष्ट—अणु-परिमाण भी है। इसके परिमाण को **परिमण्डल**[1] एवं **पारिमाण्डल्य** परिमाण भी कहते हैं। पारिमाण्डल्य का अर्थ यद्यपि गोलाकार होता है, तथापि इसे मात्र परम-अणु-परिमाण का पर्याय मान लेना पर्याप्त है।

(9) ईश्वर की इच्छा तथा जीवात्मा के अदृष्ट आदि के प्रभाव से ये गतिमान् भी होते हैं।

सृष्टि-प्रक्रिया (Process of Creation)

प्रलय की अवधि समाप्त हो जाने पर विभिन्न प्राणियों को कर्म-फल का उपभोग करने के उद्देश्य से परमेश्वर में सृष्टि करने की इच्छा होती है। उसके बाद उस इच्छा के प्रभाव से ही सभी आत्माओं के फल-दान से विमुख अदृष्ट फल देने के लिए उन्मुख हो जाते हैं। तब फल देने के लिए उन्मुख अदृष्ट से युक्त आत्मा और वायु के परमाणुओं के संयोग से वायु-परमाणुओं में परस्पर मिलने के लिए अपेक्षित क्रिया उत्पन्न होती है। इस क्रिया के वायवीय परमाणु समवायि कारण, अदृष्टयुक्त आत्मा तथा इन परमाणुओं का संयोग असमवायि कारण और ईश्वरेच्छा एवं अदृष्ट आदि निमित्त कारण होते हैं। इस क्रिया के कारण दो-दो वायवीय परमाणु मिलकर एक एक द्वयणुक का उत्पादन करते है। परमाणु इन द्वयणुकों के समवायि कारण, परमाणुओं का संयोग असमवायि कारण तथा अदृष्ट आदि निमित्त कारण होते हैं। पुनः उक्त रीति से ही सभी द्वयणुकों में क्रिया होती है जिससे तीन तीन द्वयणुकों का आपस में संयोग होता है। इससे एक एक त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार त्र्यणुकों की उत्पत्ति हो जाने पर पुनः उनमें क्रिया तथा उससे चार-चार त्र्यणुकों के संयोग से एक-एक चतुरणुक और पाँच पाँच चतुरणुकों के संयोग से एक एक पंचाणुक की उत्पत्ति के माध्यम से विकसित होकर एक महावायु नाम का स्थूलभूत उत्पन्न हो जाता है। यह नित्य-व्यापक आकाश में अप्रितहत रूप में अत्यन्त वेग के साथ बहता रहता है। इसके बाद इसी महावायु को आधार बनाकर उपर्युक्त रीति से ही महान् जल, स्थूल भूतात्मक जल, की उत्पत्ति होती है। यह भी प्रवाहित होता रहता है। इस प्रकार स्थूल जल की उत्पत्ति हो जाने के पश्चात् उपर्युक्त क्रम से ही स्थूल जल में महापृथ्वी की उत्पत्ति होती है। पृथिवी के उत्पादन के बाद उक्त पद्धति से महान् तेज—स्थूल तेज—का प्रारम्भ होता है। इन सब भूतों में वायु का आकाश, जल का

---

1. वै० सू०, 7/1/20

वायु, पृथिवी और तेज का जल आधार माना गया है। जल और अग्नि का स्वाभाविक विरोध यद्यपि प्रसिद्ध है, तथापि सृष्टि के प्रारम्भ में यह विरोध शान्त हो जाता है। इसका कारण है जीवात्मा का अदृष्ट, जिसके फल का उपयोग तेज की उत्पत्ति के बिना पूर्ण नहीं हो सकता।[1] बड़वानल और समुद्र में आधाराधेय भाव की बात भी प्राचीन परम्परा में आस्था रखनेवाले न्याय-वैशेषिक के आचार्यों में सुप्रसिद्ध थी।[2] इसलिए भी यह सम्भव है कि जल में तेज की उत्पत्ति हो। बिजली-रूपी तेज की उत्पत्ति तो आज भी जल से होती ही है। इस प्रकार महाभूतों की उत्पत्ति हो जाने पर परमेश्वर की इच्छा से ही तैजस परमाणुओं से एक महान् अण्ड (Cosmic egg) उत्पन्न होता है। इसमें पृथिवी के परमाणु भी लगे रहते हैं। यही कारण है कि यह अण्ड अग्नि की तरह नहीं हो पाता। इसी अण्ड में ईश्वरेच्छा से ही समस्त विश्व के उत्पादक (**पितामह**) चतुर्मुख ब्रह्मा का, सभी भुवनों—भूः, भुवः आदि सात ऊर्ध्व तथा **अतल**, **वितल** आदि सात अधोलोकों—के साथ साथ उत्पादन होता है। ब्रह्मा का आधार होने के कारण इस अण्ड को '**ब्रह्माण्ड**' भी कहा जाता है। ब्रह्मा ईश्वर की इच्छा से ही अतिशय ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से सम्पन्न होकर विभिन्न जीवों के कर्म के तत्त्व को जान लेता है। तत्पश्चात् कर्म के अनुसार भोग करनेवाले समस्त जीवों का वह उत्पादन करता है और अपने अपने कर्म के अनुसार उन्हें फल भी देता है। यही वैशेषिक शास्त्र में वर्णित सृष्टि-प्रक्रिया है।[3]

दो परमाणुओं से द्व्यणुक और तीन द्व्यणुकों से एक त्र्यणुक की उत्पत्ति को स्वीकार करनेवाला यह न्याय-वैशेषिक-पक्ष 'आरम्भवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। यह वाद प्रशस्तवाद और परवर्ती उदयन, श्रीधर आदि के ग्रन्थों में स्पष्ट रूप में उल्लिखित तथा युक्तियों से समर्थित है।

(किन्तु एक प्राचीन वैशेषिक का सिद्धान्त '**आरभ्यारम्भकवाद**' नाम का भी था।[4] दोनों में मौलिक अन्तर यही है कि आरम्भवाद के अनुसार साक्षात् अवयव

---

1. न्या० क०, पृ० 129
2. व्योम०, पृ० 300
3. सृष्टि-प्रक्रिया की विशेष जानकारी के लिए देखिये, प० ध० सं०, पृ० 127-131
4. यह मत रावण का था जिसने वै० सू० पर एक भाष्य लिखा था—ऐसा ज्ञान हमें ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य की टीका 'प्रकटार्थविवरण' से प्राप्त होता है। प्रो० उई प्रशस्तपाद को भी इसी मत का समर्थक मानते हैं। देखिये, Prof. Ui: Vaisesika Philosophy, pp. 128-129

ही किसी भी कार्य के समवायि कारण होते हैं जबकि आरम्यारम्भकवाद के अनुसार अन्त्य अवयव ही मध्यवर्ती अवयव-अवयवी का उत्पादन करते हुए उस विशेष परम्परा में उत्पन्न सब कार्यों के समवायि कारण होते हैं। उदाहरणार्थ, आरम्भवादी के अनुसार त्र्यणुक के समवायि कारण हैं उसके संघटक तीन द्व्यणुक जबकि आरम्यारम्भकवादी के अनुसार परमाणु ही द्व्यणुक का निर्माण करते हुए त्र्यणुक के भी समवायि कारण हैं। इस मत में यह निर्णय करना कठिन है कि छह परमाणुओं में प्रत्येक दो दो परमाणु एक एक द्व्यणुक का निर्माण कर पुनः त्र्यणुक का निर्माण करते हैं या कुल तीन ही परमाणुओं में से कोई दो मिलकर एक द्व्यणुक का निर्माण (आरम्भ) करके तीसरे के साथ चिपक जाते हैं जिससे एक त्र्यणुक उत्पन्न हो जाता है। द्व्यणुक का निर्माण किये बिना ही तीन परमाणु मिलकर त्र्यणुक का रूप धारण कर लेते हैं, यह मत भी प्राचीन काल में कुछ वैशेषिकों में प्रचलित था, किन्तु यह मत आरम्यारम्भकवाद कथमपि नहीं माना जा सकता। वर्त्तमान परिस्थिति में आरम्यारम्भकवाद के विषय में बहुत कुछ कहना कठिन है।[1]

आरम्भवादी वैशेषिक आरम्यारम्भकवाद को, संक्षेप में, इसलिए नहीं मानते हैं कि यह वाद बहुत ही वक्र है। परमाणुओं को ही सभी कार्यों का उपादान मानना ठीक नहीं है।

दो ही परमाणुओं से द्व्यणुक का आरम्भ

आरम्भवाद के अनुसार दो परमाणुओं से द्व्यणुक का आरम्भ माना गया है। इस विषय में यह स्वाभाविक है कि दो ही परमाणुओं से द्व्यणुक का आरम्भ क्यों माना जाता है? विश्लेषण करने पर इस प्रश्न के दो रूप हो जाते हैं—(क) एक ही परमाणु से अथवा (ख) दो से अधिक परमाणुओं से एक द्व्यणुक का आरम्भ क्यों होता है? प्रथम प्रश्न के उत्तर में आरम्भवादी का वक्तव्य है कि चूँकि अवयवों का संयोग कार्य द्रव्य का असमवायि कारण होता है और संयोग कम से कम दो अवयवों का ही सम्भव है, इसलिए एक परमाणु से एक द्व्यणुक का आरम्भ नहीं माना जा सकता। चूँकि दो परमाणुओं से एक द्व्यणुक का आरम्भ मान लेने पर प्रथम पक्ष मानने में आई आपत्ति अर्थात् असमवायि कारण की असम्भावना का निराकरण भी हो जाता

---

1. इसके विशेष विवरण के लिए डा० भादुड़ी का ग्रन्थ Studies in Nyaya-Vaisesika Metaphysics, pp. 82-88 देखना चाहिए।

है और दो से अधिक परमाणुओं के एक द्व्यणुक के आरम्भक होने में कोई प्रमाण भी नहीं है, इसलिए दूसरे प्रश्न का समाधान भी सहज है।[1]

एक त्र्यणुक का आरम्भ तीन द्व्यणुकों से

अब प्रश्न है, यदि दो परमाणुओं से एक द्व्यणुक की उत्पत्ति हो सकती है तो दो द्व्यणुकों से एक द्व्यणुक की उत्पत्ति क्यों नहीं मानी जाती ?[2] न्याय-वैशेषिक का उत्तर यह है कि त्र्यणुक के प्रत्यक्ष के लिए आवश्यक महत्परिणाम के उत्पादन के निमित्त तीन द्व्यणुकों से ही एक त्र्यणुक की उत्पत्ति मानी जाती है। तात्पर्य यह है कि त्र्यणुक का चक्षु से होनेवाला प्रत्यक्ष यह सिद्ध करता है कि उसमें महत् परिमाण है, क्योंकि उसके बिना द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष कथमपि नहीं होता। त्र्यणुक के उत्पन्न होने के कारण उसके महत् परिमाण को भी उत्पन्न मानना ही है। महत् परिमाण की उत्पत्ति उपादान कारण के महत् परिमाण से, उपादान कारण—अवयवों—की बहुत्व संख्या से और शिथिल संयोग से होती है। चूँकि द्व्यणुक अपकृष्ट अणु-परिमाण वाला द्रव्य है इसलिए प्रथम आधार पर तो त्र्यणुक के महत् परिमाण की उत्पत्ति स्वीकार करना असम्भव है। तीसरा आधार भी माना नहीं जा सकता, क्योंकि द्व्यणुकों का संयोग शिथिल नहीं होता। यह बात त्र्यणुक के अवलोकन से ही स्पष्ट है। अतः एकमात्र दूसरा आधार बचा रह जाता है जिसको लेकर त्र्यणुक के महत् परिमाण की व्याख्या की जा सकती है। इसलिए कम से कम तीन द्व्यणुकों को एक त्र्यणुक का समवायि कारण कहा गया है।[3] तीन से अधिक की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि बहुत्व संख्या का प्रयोजन तीन द्व्यणुक मान लेने पर पूर्ण हो जाता है। अतः तीन द्व्यणुकों से ही एक त्र्यणुक या आरम्भ माना गया है।[4] उपादान कारणों के गुण से कार्य में गुण की उत्पत्ति भी होती है (**कारणगुणाः कार्यगुणान् आरभन्ते**)।

---

1. त० भा०, पृ० 185; विशेष जानकारी के लिए देखिये, न्या० क०, पृ० 79-80
2. जिस कारण से एक परमाणु से एक द्व्यणुक का आरम्भ नहीं माना गया है उसी कारण से एक द्व्यणुक से एक त्र्यणुक का आरम्भ भी नहीं माना जा सकता। अतएव एक द्व्यणुक से एक त्र्यणुक के उत्पादन का प्रश्न नहीं उठाया गया है।
3. त० भा०, पृ० 185-86
4. न्यायकन्दलीकार तीन द्व्यणुकों से और चार-पाँच आदि द्व्यणुकों से भी कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। ऐसा लगता है कि चतुरणुक आदि को ये 4 त्र्यणुकों से उत्पन्न न मानकर चार द्व्यणुकों से ही उत्पन्न मानते हैं। देखिये, न्या० क०, पृ० 80

ही किसी भी कार्य के समवायि कारण होते हैं जबकि आरम्यारम्भकवाद के अनुसार अन्त्य अवयव ही मध्यवर्ती अवयव-अवयवी का उत्पादन करते हुए उस विशेष परम्परा में उत्पन्न सब कार्यों के समवायि कारण होते हैं। उदाहरणार्थ, आरम्भवादी के अनुसार त्र्यणुक के समवायि कारण हैं उसके संघटक तीन द्व्यणुक जबकि आरम्या-रम्भकवादी के अनुसार परमाणु ही द्व्यणुक का निर्माण करते हुए त्र्यणुक के भी समवायि कारण हैं। इस मत में यह निर्णय करना कठिन है कि छह परमाणुओं में प्रत्येक दो दो परमाणु एक एक द्व्यणुक का निर्माण कर पुनः त्र्यणुक का निर्माण करते हैं या कुल तीन ही परमाणुओं में से कोई दो मिलकर एक द्व्यणुक का निर्माण (आरम्भ) करके तीसरे के साथ चिपक जाते हैं जिससे एक त्र्यणुक उत्पन्न हो जाता है। द्व्यणुक का निर्माण किये बिना ही तीन परमाणु मिलकर त्र्यणुक का रूप धारण कर लेते हैं, यह मत भी प्राचीन काल में कुछ वैशेषिकों में प्रचलित था, किन्तु यह मत आरम्यारम्भकवाद कथमपि नहीं माना जा सकता। वर्त्तमान परिस्थिति में आरम्यारम्भकवाद के विषय में बहुत कुछ कहना कठिन है।[1]

आरम्भवादी वैशेषिक आरम्यारम्भकवाद को, संक्षेप में, इसलिए नहीं मानते हैं कि यह वाद बहुत ही वक्र है। परमाणुओं को ही सभी कार्यों का उपादान मानना ठीक नहीं है।

दो ही परमाणुओं से द्व्यणुक का आरम्भ

आरम्भवाद के अनुसार दो परमाणुओं से द्व्यणुक का आरम्भ माना गया है। इस विषय में यह स्वाभाविक है कि दो ही परमाणुओं से द्व्यणुक का आरम्भ क्यों माना जाता है? विश्लेषण करने पर इस प्रश्न के दो रूप हो जाते हैं—(क) एक ही परमाणु से अथवा (ख) दो से अधिक परमाणुओं से एक द्व्यणुक का आरम्भ क्यों होता है? प्रथम प्रश्न के उत्तर में आरम्भवादी का वक्तव्य है कि चूँकि अवयवों का संयोग कार्य द्रव्य का असमवायि कारण होता है और संयोग कम से कम दो अवयवों का ही सम्भव है, इसलिए एक परमाणु से एक द्व्यणुक का आरम्भ नहीं माना जा सकता। चूँकि दो परमाणुओं से एक द्व्यणुक का आरम्भ मान लेने पर प्रथम पक्ष मानने में आई आपत्ति अर्थात् असमवायि कारण की असम्भावना का निराकरण भी हो जाता

---

1. इसके विशेष विवरण के लिए डा० भादुड़ी का ग्रन्थ Studies in Nyaya-Vaisesika Metaphysics, pp. 82-88 देखना चाहिए।

है और दो से अधिक परमाणुओं के एक द्वयणुक के आरम्भक होने में कोई प्रमाण भी नहीं है, इसलिए दूसरे प्रश्न का समाधान भी सहज है।[1]

एक त्र्यणुक का आरम्भ तीन द्वयणुकों से

अब प्रश्न है, यदि दो परमाणुओं से एक द्वयणुक की उत्पत्ति हो सकती है तो दो द्वयणुकों से एक द्वयणुक की उत्पत्ति क्यों नहीं मानी जाती ?[2] न्याय-वैशेषिक का उत्तर यह है कि त्र्यणुक के प्रत्यक्ष के लिए आवश्यक महत्परिणाम के उत्पादन के निमित्त तीन द्वयणुकों से ही एक त्र्यणुक की उत्पत्ति मानी जाती है। तात्पर्य यह है कि त्र्यणुक का चक्षु से होनेवाला प्रत्यक्ष यह सिद्ध करता है कि उसमें महत् परिमाण है, क्योंकि उसके बिना द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष कथमपि नहीं होता। त्र्यणुक के उत्पन्न होने के कारण उसके महत् परिमाण को भी उत्पन्न मानना ही है। महत् परिमाण की उत्पत्ति उपादान कारण के महत् परिमाण से, उपादान कारण—अवयवों—की बहुत्व संख्या से और शिथिल संयोग से होती है। चूँकि द्वयणुक अपकृष्ट अणु-परिमाण वाला द्रव्य है इसलिए प्रथम आधार पर तो त्र्यणुक के महत् परिमाण की उत्पत्ति स्वीकार करना असम्भव है। तीसरा आधार भी माना नहीं जा सकता, क्योंकि द्वयणुकों का संयोग शिथिल नहीं होता। यह बात त्र्यणुक के अवलोकन से ही स्पष्ट है। अतः एकमात्र दूसरा आधार बचा रह जाता है जिसको लेकर त्र्यणुक के महत् परिमाण की व्याख्या की जा सकती है। इसलिए कम से कम तीन द्वयणुकों को एक त्र्यणुक का समवायि कारण कहा गया है।[3] तीन से अधिक की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि बहुत्व संख्या का प्रयोजन तीन द्वयणुक मान लेने पर पूर्ण हो जाता है। अतः तीन द्वयणुकों से ही एक त्र्यणुक या आरम्भ माना गया है।[4] उपादान कारणों के गुण से कार्य में गुण की उत्पत्ति भी होती है (**कारणगुणाः कार्यगुणान् आरभन्ते**)।

---

1. त० भा०, पृ० 185; विशेष जानकारी के लिए देखिये, न्या० क०, पृ० 79-80
2. जिस कारण से एक परमाणु से एक द्वयणुक का आरम्भ नहीं माना गया है उसी कारण से एक द्वयणुक से एक त्र्यणुक का आरम्भ भी नहीं माना जा सकता। अतएव एक द्वयणुक से एक त्र्यणुक के उत्पादन का प्रश्न नहीं उठाया गया है।
3. त० भा०, पृ० 185-86
4. न्यायकन्दलीकार तीन द्वयणुकों से और चार-पाँच आदि द्वयणुकों से भी कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। ऐसा लगता है कि चतुरणुक आदि को ये 4 त्र्यणुकों से उत्पन्न न मानकर चार द्वयणुकों से ही उत्पन्न मानते हैं। देखिये, न्या० क०, पृ० 80

द्वयणुक आदि का उत्पादक विजातीय (Heterogeneous) परमाणु नहीं

दो परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक तथा तीन द्वयणुकों के संयोग से त्र्यणुक की उत्पत्ति के माध्यम से स्थूल भूत के आरम्भ की बात कही जा चुकी है। द्वयणुक आदि की उत्पत्ति दो विजातीय परमाणुओं से, एक पृथिवी के और एक जल के परमाणुओं से, नहीं होती। न्याय-वैशेषिक का यह सिद्धान्त इस सिद्धान्त से सम्बन्ध रखता है कि उपादान कारण के गुणों से कार्य में गुणों की उत्पत्ति होती है। कारण के गुण कार्य के गुणों के असमवायि कारण होते हैं या निमित्त कारण। यह स्वाभाविक है। उजले धागे से बना कपड़ा उजला होता है, पीला या नीला नहीं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि दो विजातीय परमाणुओं से एक द्वयणुक की उत्पत्ति नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, यदि एक पृथिवी और एक जल के परमाणु से एक द्वयणुक की उत्पत्ति मान ली जाय तो द्वयणुक के एक अंग जलीय परमाणु के, स्वाभाविक रूप में, गन्धहीन होने से वह द्वयणुक गन्धमुक्त न हो सकेगा और ऐसे द्वयणुकों से बने त्र्यणुक में भी गन्ध की सत्ता नहीं मानी जा सकेगी। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि पृथिवी और जल के परमाणुओं से एक द्वयणुक की उत्पत्ति स्वीकार करने पर इसके सभी परवर्ती रूप गन्ध-शून्य हो जाएँगे। इसलिए ऐसा मानना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार पृथिवी और तेज के परमाणुओं से बने द्वयणुक में गन्ध और रस की; पृथिवी और वायु के परमाणुओं से निर्मित द्वयणुक में गन्ध, रस और रूप की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। अतः सजातीय परमाणुओं से ही द्वयणुक की उत्पत्ति नहीं माननी चाहिए।[1]

इस प्रसंग में एक समस्या है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार मानव-शरीर पृथिवी के परमाणुओं से द्वयणुक-त्र्यणुक आदि के माध्यम से बना है। इसके उपादान कारण पार्थिव तत्त्व हैं। किन्तु शरीर में जल, तेज आदि भूतों के भी गुण पाये जाते हैं; इसलिए न्याय-वैशेषिक को पार्थिव शरीर में भी जल आदि के परमाणुओं का सम्बन्ध या संयोग मानना पड़ा है[2]। अन्तर इतना ही है कि पार्थिव शरीर में लगे जलीय परमाणु आदि इस शरीर के मात्र निमित्त कारण हैं, पार्थिव परमाणुओं की तरह उपादान कारण नहीं। यह विजातीय परमाणुओं का मिश्रण भूत के विकास की

---

1. न्या० वा०, 3/1/28 तथा ता० टी०, 3/1/28; और भी देखिये, वै० सू०, 4/2/2 तथा उपस्कार
2. वै० सू०, 4/2/4

प्रक्रिया में किस अवस्था में सम्भव है, त्र्यणुक की अवस्था में या उससे पश्चात् की अवस्था में, यह विषय वैशेषिक शास्त्र में, मेरी जानकारी जहाँ तक है, स्पष्ट नहीं किया गया है।

अवयव तथा अवयवी

दो परमाणुओं से एक द्वयणुक बनता है और तीन द्वयणुकों से एक त्र्यणुक। परमाणु द्वयणुक के और द्वयणुक त्र्यणुक के आरम्भक अवयव (Constituent Parts) हैं। अवयव ही अवयवी के समवायि कारण होते हैं। समवायि कारण होना इस बात पर निर्भर है कि अवयवी का अपने अवयवों के साथ समवाय सम्बन्ध है जिसका अर्थ है कि अवयव और अवयवी परस्पर **अयुत-सिद्ध हैं**—अवयवी को अवयवों से अलग नहीं किया जा सकता। इस तरह का घनिष्ठ सम्बन्ध अवयव और अवयवी के बीच सभी मानते हैं, नाम इस सम्बन्ध का अलग-अलग हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि अवयवी अवयवों से भिन्न एक नवीन पदार्थ है या नहीं, अर्थात् अवयवों और अवयवी में तादात्म्य है या नहीं। न्याय-वैशेषिक का मत है कि अवयवों से अवयवी भिन्न है। कारण और कार्य में निकटतम सम्बन्ध हो सकता है, परन्तु दोनों एक नहीं हो सकते। किन्तु बौद्ध दार्शनिक (वैभाषिक) यह नहीं मानते। उनका मत है कि अवयवों का समूह ही अवयवी है, समूह से अतिरिक्त अवयवी मानने की कोई आवश्यकता तथा ऐसा मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है।

न्याय-वैशेषिक के आचार्यों ने उक्त बौद्ध मत का प्रबल विरोध किया है। इनका कहना है कि यदि अप्रत्यक्ष परमाणुओं का समूह ही द्वयणुक, त्र्यणुक आदि नामों से कहा जाता है तो त्र्यणुक आदि का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि अप्रत्यक्ष वस्तु के समूह का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। चूँकि अवयवी का प्रत्यक्ष होता है, इसलिये यह अवयवों के समूह से बना एक भिन्न पदार्थ है।[1]

बौद्धों का कहना है कि जिस तरह केश का एक टुकड़ा दूर से नहीं दीखता, किन्तु उसका समूह दीखता है, उसी तरह एक परमाणु का प्रत्यक्ष भले ही न हो, किन्तु उसके समूह का प्रत्यक्ष हो ही सकता है। इसलिये पूर्वकथित दोष देना उचित नहीं है। किन्तु न्याय-वैशेषिक इसका भी प्रबल प्रतिवाद करता है। केश का टुकड़ा अतीन्द्रिय नहीं है, समीपस्थ होने पर उसका भी प्रत्यक्ष होता ही है। इसलिये उसके समूह को

---

1. न्या० वा०, 2/1/34

अप्रत्यक्ष वा अतीन्द्रिय तत्त्वों का समूह नहीं कहा जा सकता। किन्तु परमाणु अतीन्द्रिय हैं। अतः केश के साथ परमाणु की तुलना अयुक्त है।[1]

अवयवी इसलिये भी अवयवों से भिन्न हैं कि हम घट के मुँह को पकड़कर उठा लेते हैं। यदि घट परमाणुओं का समूह मात्र होता तो एक स्थान पर उसे पकड़कर उठाना असम्भव हो जाता। 'संग्रह' (संयुक्त द्रव्यों को आपस में चिपकानेवाला गुण) के आधार पर समाधान देना भी बौद्धों के लिए असम्भव है।[2]

'यह एक घड़ा है', यह अवयवी--घड़ा—में एकत्व संख्या की यथार्थ अनुभूति भी यही सिद्ध करती है कि अवयवी अवयवों के समूह से भिन्न है। जिस समूह की प्रत्येक इकाई अतीन्द्रिय है उसे एक कहना असम्भव है। तात्पर्य यह है कि अतीन्द्रिय तत्त्वों के समूह के भी अतीन्द्रिय होने के कारण उसके विषय में 'यह एक है', इस प्रकार का प्रत्यक्षात्मक एकत्व ज्ञान नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में यह कहना है कि एकत्व संख्या की प्रत्यक्षात्मक प्रतीति उसी पदार्थ में होती है जिसमें महत्त्व हो, महत् परिमाण हो। चूँकि परमाणु या उसके समूह में महत् परिमाण नहीं है, इसलिये परमाणु-समूह को 'एक' नहीं कहा जा सकता। अतः 'एक घड़ा' को समूह से भिन्न होना चाहिए।[3]

उपर्युक्त तर्क-वितर्कों तथा कुछ अन्य युक्तियों के आधार पर न्याय-वैशेषिक का सिद्धान्त है कि अवयवी अवयवों के समूह से भिन्न पदार्थ है, दोनों के बीच तादात्म्य नहीं है।

अवयवी के भेद

इन अवयवियों के चार भेद हैं—पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय। प्रत्येक अवयवी के 3-3 उपभेद हैं—शरीर, इन्द्रिय और विषय (Objects)। इनका विवरण पृथिवी, जल, तेज और वायु की व्याख्या करते समय दिया जा चुका है।

इन अवयवियों में पार्थिव अवयवी के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाक-प्रक्रिया (Chemical action) से बदल जाते हैं। बदलने के प्रसंग में वैशेषिक परमाणुओं में और नैयायिक अवयवियों में ही पाक मानते हैं, यह विषय भी न्याय-दर्शन की व्याख्या करते समय स्पष्ट किया जा चुका है। यह परिवर्तन कितने क्षणों (Moments) में

---

1. न्या० सू०; न्या० भा० आदि, 4/2/13-14
2. न्या० सू०; न्या० भा०; न्या० वा०, 2/1/36
3. न्या० भा०, 2/1/37

होता है, इस विषय में, दृष्टिकोण की भिन्नता से, 5 से लेकर 11 क्षणों तक के सिद्धान्त, 'पीलु-पाक' के अनुसार, माने गये हैं। इन सबका स्पष्ट विवरण मैंने अपने ग्रन्थ वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन में (पृ० 94-105) पर प्रस्तुत किया है।

प्रलय और सृष्टि की अवधि

ब्रह्मा के सौ वर्षों तक प्रलय और उसके बाद सौ वर्षों तक सृष्टि की अवधि मानी गई है।[1] प्रलय और सृष्टि, सृष्टि और प्रलय की परम्परा अनादि काल से चलती आ रही है। किन्तु इसका अन्त कभी होगा या नहीं, यह विषय न्याय-वैशेषिक के आचार्यों के लिए विवादास्पद है। यदि महाप्रलय हो तब तो उसके बाद सृष्टि नहीं होगी। किन्तु महाप्रलय के बारे में इन आचार्यों में मतभेद हैं। प्रलय के समर्थन में पहले जो तर्क दिये गये हैं वे सब खण्ड-प्रलय से सम्बन्ध रखते हैं।

जिस नियम से प्रलय और सृष्टि की अवधि का निर्णय किया जाता है वह निम्नलिखित है[2] :

2 क्षण	=	1 लव
2 लव	=	1 निमेष
18 निमेष	=	1 काष्ठा
30 काष्ठा	=	1 कला
30 कला	=	1 मुहूर्त्त
30 मुहूर्त्त	=	1 अहोरात्र (दिन-रात)
15 अहोरात्र	=	1 पक्ष
2 पक्ष	=	1 मास
2 मास	=	1 ऋतु
3 ऋतु	=	1 अयन
2 अयन	=	1 वर्ष (मानवीय वर्ष)
1 वर्ष	=	1 दिव्य अहोरात्र (देवताओं का दिन और रात)[3]

---

1. प० ध० सं०, पृ० 122
2. न्या० क०, पृ० 123-124; किर०, पृ० 313
3. मानव का उत्तर अयन (उत्तरायण) देवताओं का एक दिन और दक्षिणायन देवताओं की एक रात है।

360 दिव्य अहोरात्र	=	1 दिव्य वर्ष
12,000 दिव्य वर्ष	=	4 युग (सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग)
1,000 चतुर्युग	=	1 ब्राह्म[1] दिन } 2,000 चतुर्युग = 1 ब्राह्म अहोरात्र
1,000 चतुर्युग	=	1 ब्राह्म रात्रि }
360 ब्राह्म अहोरात्र	=	1 ब्राह्म वर्ष
100 ब्राह्म वर्ष	=	1 सृष्टि की अवधि
100 ब्राह्म वर्ष	=	1 प्रलय की अवधि

सृष्टि और प्रलय का उद्देश्य

न्याय दर्शन में ईश्वर के विषय में विचार करते समय यह कहा जा चुका है कि ईश्वर ने इस जगत् का निर्माण जीवों को कर्म-फल का उपभोग कराकर उनपर अनुग्रह करने के लिए किया है। यही बात प्रलय के बारे में भी है। जब भोग करते-करते जीव थक जाते हैं तो उन्हें विश्राम दिलाने के लिए ईश्वर प्रलय भी करता है। यह भी जीवों के ऊपर ईश्वर का अनुग्रह है।

उपसंहार

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैशेषिक दर्शन अत्यन्त उपयोगी और स्वाभाविक दर्शन है। इसके पदार्थ ऐसे अनुभवसिद्ध हैं कि हम अपने दैनन्दिन व्यवहार में भी सहज रूप में इन्हीं पदार्थों का उपयोग करते हैं। व्यावहारिक होने के साथ साथ इसकी दूसरी विशेषता है तर्क के आधार पर वैज्ञानिक स्थिति का उद्भावन। **'परमाणुवाद'** की स्थापना वैशेषिकों ने उस समय की थी जिस समय इस देश में वैज्ञानिक परीक्षण का कोई साधन उपलब्ध नहीं था। कुछ दिनों तक यह विभ्रम लोगों में अवश्य था कि वैशेषिकों का परमाणुवाद ग्रीस देश की देन है; किन्तु दोनों परमाणुवादों के तुलनात्मक अध्ययन से अब यह बात सिद्ध हो चुकी है कि ग्रीस देशीय परमाणुवाद का वैशेषिकों के परमाणुवाद पर कोई प्रभाव नहीं है।[2] हाँ, वैशेषिकों के परमाणुवाद में आज के विज्ञान की दृष्टि से कुछ कमी अवश्य है, किन्तु मात्र तर्क के द्वारा भूतों का परमाणु तक विश्लेषण कर देना एक असाधारण बौद्धिक उत्कर्ष

---

1. 43,20,00,000 मानव-वर्ष ब्रह्मा के एक दिन का मान है।
2. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, pp. 202-203

है। इसका अपलाप कोई नहीं कर सकता। यही स्थिति शब्द-सन्तान (Sound-wave) आदि सिद्धान्तों की है। इस दर्शन की महत्ता इससे भी सिद्ध है कि देश-विदेश के अनेक दार्शनिक किसी न किसी रूप में इसके चिन्तन की पद्धति से प्रभावित हैं। यह प्रभाव कहीं अस्पष्ट है और कहीं स्पष्ट, कदाचित् प्रतिक्रियात्मक परिणाम को भी यह प्रस्तुत कर चुका है। यों तो कोई भी बात ऐसी नहीं है जिसकी प्रतिकूल आलोचना असम्भव हो, फिर भी वैशेषिकों के मार्ग में दो बातें आज के विवेचकों को अधिक विचित्र लगती हैं—(क) ईश्वर को अत्यधिक महत्त्व देना और (ख) सर्वत्र अदृष्ट का साम्राज्य मानना। किन्तु कर्मवाद नाम की यदि कोई भी वस्तु इस विश्व की चिन्तन-भूमि में है तब तो अदृष्टवाद भी मानना ही होगा। इसके अतिरिक्त वैशेषिक के मोक्ष की स्थिति भी अस्वाभाविक होने के कारण अन्य दार्शनिकों की कटु आलोचना का विषय रही है। यही कारण है कि भासर्वज्ञ आदि न्याय-वैशेषिक के विद्वानों ने भी वात्स्यायन आदि के खण्डन के बावजूद पुराने नैयायिक-वैशेषिक आचार्यों की इस मान्यता की पुनः स्थापना की है कि मुक्तावस्था में आत्मा को नित्य-अखण्ड-सुख का अनुभव होता है।

●

अध्याय 11

सांख्य दर्शन

विषय-प्रवेश

हिन्दुओं के षड्दर्शनों में सांख्य का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण रहा है। मैक्स-मूलर के मत में अद्वैत वेदांत के बाद हिन्दुओं का प्रमुख दर्शन सांख्य है। शंकराचार्य ने 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' में सांख्य का खण्डन करते हुए उसे 'प्रधान मल्ल' कहकर संकेतित किया है। सांख्य के प्रवर्तक कपिल मुनि कहे जाते हैं। कपिल का नाम उपनिषद् (श्वेता०, 5/2) भगवद्गीता (10/6) और महाभारत के शांतिपर्व में तथा अन्यत्र आदर के साथ उल्लिखित हुआ है। गीता में सांख्य शब्द का प्रयोग जगह जगह हुआ है; वहाँ वह ज्ञान-निष्ठा का वाचक है। गीता के ही अनुसार सिद्धों में कपिल मुनि भगवान् की विभूति हैं। भागवत पुराण (3/24-25) में कपिल को चौबीस अवतारों में गिना गया है।

भारतवर्ष में भौतिक जगत् की वैज्ञानिक व्याख्या के प्रयत्न कम ही हुए हैं। इस प्रयत्नों में जैनों तथा वैशेषिक का परमाणुवाद भौतिक जगत् की एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण व्याख्या सांख्य दर्शन के प्रकृति-परिमाण-वाद में पायी जाती है। सांख्य की व्याख्या का एक महत्त्वपूर्ण पहलू प्रकृति के परिणाम या क्रमिक विकास (अथवा उत्क्रांति) की धारणा है। प्राचीन दार्शनिक सम्प्रदायों में यह धारणा कम ही मिलती है। आधुनिक योरप में डार्विन ने अपना विकास का संप्रत्यय प्रस्तुत किया। सांख्य के अनुसार प्रकृति सत्त्व, रजस् और तमस् नाम के तीन गुणों की साम्यावस्था है; इस साम्यावस्था के भंग होने से सृष्टि की प्रक्रिया शुरू होती है। प्रकृति नितान्त सूक्ष्म है, इसीलिए उसे अव्यक्त भी कहते हैं। उसके विकास-क्रम में उद्भूत होने वाले तत्त्व व्यक्त कहलाते हैं। प्रकृति का प्रथम विकार बुद्धि या महत्तत्त्व है; यह भी बहुत सूक्ष्म है। इसके बाद क्रमशः अधिक स्थूल तत्त्व उद्भूत होते हैं। अहंकार

से (जिसके वैकारिक, तैजस और भूतादि तीन रूप होते हैं) पाँच तन्मात्राएँ और एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। तन्मात्राओं से पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं।

प्रकृति और उसके परिणामस्वरूप तत्त्व मिलकर कुल चौबीस होते हैं। सांख्य का पच्चीसवाँ तत्त्व है पुरुष, जो विशेष महत्त्वपूर्ण है। पुरुष चैतन्य-स्वरूप, निष्क्रिय और निर्गुण है। सांख्य का एक क्रांतिकारी सिद्धान्त यह है कि बुद्धि, अहंकार आदि, जिनमें ज्ञान आदि कियाएँ होती हैं, वास्तव में प्रकृति के कार्य हैं। बुद्धि में होनेवाले सुख, दुःख आदि को पुरुष अविवेक के कारण अपने में घटित हुआ मान लेता है। यह मान लेना ही बन्धन है। इस अविवेक से छुटकारा पाना ही मुक्ति है। वास्तविक दृष्टि से पुरुष में न बन्धन होता है, न मोक्ष; पुरुष का पुनर्जन्म भी नहीं होता। पुनर्जन्म या देहान्तर-प्राप्ति वास्तव में लिंग-शरीर की होती है। लिंग-शरीर अठारह तत्त्वों का बना हुआ है, अर्थात् बुद्धि, अहंकार, ग्यारह इन्द्रियाँ (मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ) तथा पाँच तन्मात्राएँ।

सांख्य का मोक्ष-सिद्धान्त बड़ा ही क्रान्तिकारी है। मोक्ष का अर्थ पुरुष द्वारा किसी बाह्य वस्तु या लोक की प्राप्ति नहीं है। पुरुष की अपने स्वरूप में अवस्थिति ही मोक्ष है। इस प्रकार का मोक्ष इस विवेक-रूप ज्ञान से होता है कि पुरुष प्रकृति से भिन्न है, उसका प्रकृति से किसी तरह का लगाव नहीं है। पुरुष वास्तव में असंग है, उसमें प्रकृति के संसर्ग की प्रतीति उसमें अज्ञान या अविवेक के कारण है। इस प्रकार सांख्य दर्शन विवेक या ज्ञान को विशेष महत्त्व देता है। सांख्य का रास्ता ज्ञान-मार्ग है। बाद में अद्वैत वेदान्त ने भी ज्ञान-मार्ग को गौरव दिया। ज्ञानी व्यक्ति अपने को न कर्त्ता मानता है, न भोक्ता। ऐसा ज्ञानी जीवित रहते हुए भी मुक्त होता है।

सांख्य दर्शन का तीसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त ज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में है जिन्हें हम मनोदशाएँ कहते हैं, जैसे जानना, सुखी होना, दुःखी होना आदि, वे वस्तुतः पुरुष की दशाएँ नहीं हो सकतीं, क्योंकि पुरुष निष्क्रिय और विकारहीन है। किन्तु बुद्धि जड़ है। शुद्ध जड़ तत्त्व में ज्ञान आदि की सम्भावना नहीं है। सांख्य का मत है कि बुद्धि की वृत्तियाँ पुरुष की चैतन्य से आविष्ट या अभिज्वलित होकर ज्ञान, राग, द्वेष आदि का रूप धारण कर लेती हैं। बुद्धि के ये विकार पुरुष भ्रमवश अपने में देखने और मानने लगता है। इस प्रकार सांख्य पुरुष को निर्विकार मानते हुए भी विभिन्न मनोदशाओं की सम्भावना की व्याख्या कर देता है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि संख्य के पुरुष और अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म में विशेष समानता है, भेद मुख्य यह है कि सांख्य पुरुषों की अनेकता मानता है। अद्वैत वेदांत

में मनोदशाएँ अन्तःकरण की वृत्तियाँ होती हैं। अद्वैत का मोक्षवाद भी सांख्य के विशेष निकट है। कार्य-कारण का सिद्धान्त भी दोनों दर्शनों में प्रायः समान है। वैदिक दर्शन के ज्ञान-काण्ड के प्रबल समर्थक होने से दोनों में काफी समानता पायी जाती है। बौद्ध दर्शन के विरोध में सांख्य और अद्वैत वेदान्त, दोनों शाश्वत आत्मवाद की क्रमशः द्वैत-वादी और अद्वैतवादी व्याख्याएँ हैं। न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद और मीमांसा के कर्मवाद का भी ये दोनों समान रूप से विरोध करते हैं तथा संन्यास पर जोर देते हैं। इस प्रकार सांख्य वेदान्त के नजदीक है, फिर भी द्वैतवादी होने के नाते सांख्य से वेदा-न्तवादियों का काफी मतभेद रहा है।

सांख्य का साहित्य

सांख्य दर्शन की व्यवस्थित व्याख्या ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' (तीसरी शती ई०) में की गयी है, जो उस दर्शन का सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें 70 (या 72 ?) कारिकाएँ हैं। 'सांख्यकारिका' पर सबसे प्रसिद्ध टीका वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्वकौमुदी' है, जिसके मंगलाचरण में महामुनि कपिल, उनके शिष्य आसुरि तथा पंचशिख नाम के आचार्य की वन्दना की गयी है। किन्तु इन आचार्यों की कृतियाँ अब उपलब्ध नहीं हैं। सांख्यकारिका' पर अन्य कई टीकायें मिलती हैं, जिनमें अज्ञात लेखककृत 'युक्तिदीपिका', गौड़पाद का 'भाष्य', 'माठरवृत्ति', 'जयमंगला' और नारायणस्वामीकृत 'सांख्यचन्द्रिका' उपलब्ध हैं। एक छोटी प्राचीन पुस्तक 'तत्त्वसमास' है जिसका समय एवं लेखक अनिश्चित हैं। 'सांख्यसूत्र' 14वीं शती की रचना मानी जाती है जिसपर चार व्याख्या-ग्रन्थ मिलते हैं, अर्थात् अनिरुद्धकृत 'वृत्ति', महादेव वेदान्ती कृत 'सांख्यवृत्तिसार', विज्ञानभिक्षुकृत 'सांख्यप्रवचनभाष्य' और नागेशभट्ट रचित 'लघुसांख्यसारवृत्ति'। इनमें अनिरुद्ध की वृत्ति सबसे प्राचीन और विज्ञानभिक्षु का भाष्य सबसे महत्त्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त 'सांख्यतत्त्वविवेचन', 'सांख्यतत्त्व-याथार्थ्यदीपन' (जो तत्त्वसमास पर टीका है), 'सांख्यतत्त्वप्रदीप', 'सांख्यपरिभाषा' आदि कतिपय लघु पुस्तकें मिलती हैं, जो सांख्य-संग्रह नाम से चौखम्बा द्वारा प्रकाशित हुई हैं। वास्तव में सांख्य का साहित्य परिमाण में थोड़ा ही है। यहाँ सांख्य दर्शन के प्रतिपादन में ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं और तत्त्वकौमुदी आदि टीकाओं को ही आधार बनाया गया है।

सांख्य के सिद्धांत

सांख्य दर्शन का लक्ष्य तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्ति करना है। दुःख तीन

प्रकार का है, आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। जिन दुःखों का उद्गम मनुष्य के व्यक्तित्व में होता है वे आध्यात्मिक कहलाते हैं। उनके शारीरिक (रोग आदि) और मानसिक (चिन्ता, विषाद आदि) दो भेद हैं। दूसरे जीवों (मनुष्य, पशु, सर्प आदि) से प्राप्त दुःख आधिभौतिक कहलाता है। भूत-प्रेत ग्रहों आदि से होनेवाला दुःख आधिदैविक है। इन दुःखों का थोड़ा बहुत उपचार लौकिक प्रयत्नों से सम्भव है, किन्तु उनसे पूर्ण मुक्ति ज्ञान या विवेक द्वारा ही साध्य है। वास्तव में उक्त दुःख से मुक्ति की कामना ही दार्शनिक जिज्ञासा को जन्म देती है। सांख्य के मत में दुःख-निवृत्ति तत्त्व-ज्ञान से सम्भव है, अर्थात् प्रकृति (अव्यक्त), पुरुष और व्यक्त (प्रकृति के विकारों) के ज्ञान से (व्यक्ताव्यक्तविज्ञानात्)। इन तीनों के परस्पर भेद और अभेद का ज्ञान दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति का उपाय है। ज्ञान ही मुक्ति का साधन है, यह श्रुति-सम्मत भी है।

पच्चीस तत्त्वों का स्वरूप

सांख्य दर्शन पच्चीस तत्त्वों का ज्ञान देता है। इनमें प्रकृति और उनके तेईस विकारों (जिन्हें व्यक्त कहते हैं) तथा पुरुष का समावेश है। व्यक्त तत्त्वों को विकृति भी कह सकते हैं। वास्तव में प्रकृति और विकृति दोनों सापेक्ष शब्द हैं। प्रकृति कारण होती है और विकृति उसका कार्य। कोई तत्त्व अपने कारण की अपेक्षा से विकृति और अपने परिणामभूत कार्य की अपेक्षा से प्रकृति कहलाता है। जिसे मूल प्रकृति कहते हैं, वह किसी की विकृति नहीं है। महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ, ये प्रकृति एवं विकृति दोनों हैं। पाँच महाभूत, दस इन्द्रियाँ और मन केवल विकृति हैं। ये नये तत्त्वों को उत्पन्न नहीं करते, इसलिए प्रकृति नहीं कहलाते। पुरुष न प्रकृति है; न विकृति। अब हम सांख्यकारिका के अनुसार व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष का सामान्य वर्णन (स्वरूप-निर्देश) करेंगे। दसवीं कारिका इस प्रकार है :—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥१०॥

इस कारिका में व्यक्त की विशेषताएँ बतलायी गयी हैं। प्रकृति के परिणाम से उद्भूत तत्त्व व्यक्त कहलाते हैं। व्यक्त हेतुवाला अतएव अनित्य है, अव्यापी अर्थात् अपने सम्पूर्ण कारण को (जैसे महत् का कारण प्रकृति है), जिसका वह स्वयं परिणाम है, व्याप्त न करनेवाला है। प्रकृति महत् को पूर्णतया व्याप्त करती है, किन्तु महत् पूरी प्रकृति को व्याप्त नहीं करता। व्यक्त सक्रिय है, अनेक है (महत् या बुद्धि भी प्रत्येक

पुरुष की अलग होने से अनेकात्मक है), अपने कारण में आश्रित है और कारण में अनुमान करानेवाला (लिंग या हेतु) है, अवयववाला है, परतन्त्र अर्थात् अव्यक्त पर निर्भर रहनेवाला है। प्रकृति इन सब बातों में व्यक्त से विरुद्ध धर्मवाली है। अगली कारिका में व्यक्त और अव्यक्त के सामान्य गुण बतलाये गये हैं :—

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद् विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥

व्यक्त और अव्यक्त दोनों सत्त्व, रजस् और तमस् गुणवाले हैं। वे अविविक्त हैं (अर्थात् वे पृथक् नहीं किये जा सकते, व्यक्त तत्त्व अव्यक्त से अलग नहीं है और अव्यक्त या प्रधान अथवा प्रकृति भी स्वयं में विविक्त नहीं है। दूसरा अर्थ यह है कि ये सब सम्मिश्रित होकर ही क्रियाशील होते हैं। प्रकृति भी सत्त्व, रजस् और तमस् का मिश्रित रूप है।) व्यक्त और अव्यक्त दोनों (ज्ञान के) विषय हैं, सामान्य हैं अर्थात् अनेक पुरुषों द्वारा ग्रहण-योग्य हैं अचेतन हैं और प्रसवधर्मी हैं, अर्थात् निरन्तर सरूप या विरूप, समान या विषम परिणाम (कार्य) उत्पन्न करते रहते हैं। इन सब बातों में पुरुष व्यक्त और अव्यक्त दोनों से विपरीत या भिन्न है।

दसवीं कारिका में यह बतलाया गया है कि कुछ बातों में व्यक्त और अव्यक्त भिन्न या विपरीत गुणोंवाले हैं। कुछ बातों में पुरुष और प्रकृति में भी साम्य है। पुरुष भी हेतु-हीन, नित्य, निरवयव और अनाश्रित एवं अपरतन्त्र या स्वतन्त्र है। त्रिगुणादि धर्मों में ही वह व्यक्त और अव्यक्त दोनों से विपरीत है। आगे तीन गुणों की विशेषता बतलायी गई है :—

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥१२॥
सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरुवरणकमेव हि तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥१३॥

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण क्रमशः प्रीति, अप्रीति और विषादात्मक हैं। सत्त्व गुण हल्का और प्रकाशक है, रजोगुण प्रेरक (प्रवर्तक, प्रोत्साहक) और क्रियाशील है, तमोगुण गुरुत्वधर्मी (भारीपन लानेवाला), कार्य का प्रतिबन्धक अर्थात् आलस्योत्पादक और कार्य से रोकनेवाला है। इस प्रकार तीनों गुण परस्पर भिन्न एवं विरोधी भी हैं। फिर भी जैसी बत्ती, तेल और दीपक परस्पर भिन्न होते हुए भी एक प्रयोजन

को पूरा करते हैं, वैसे ही तीनों गुण भिन्न होते हुए भी एक स्थान में रहकर कार्य-सम्पादन करते हैं।

प्रकृति का परिणाम : विकास-क्रम

सांख्य के अनुसार जगत् का मूल कारण अचेतन है, न कि ब्रह्म या ईश्वर। यद्यपि सांख्य एक आस्तिक (अर्थात् श्रुति को माननेवाला) दर्शन है, फिर भी वह अपने प्रमेयों की सिद्धि प्रमाणों या तर्कों द्वारा करता है। यहाँ तर्क का अर्थ अनुमान समझना चाहिए। सांख्य प्रकृति और पुरुष दोनों की सिद्धि अनुमान से करता है, क्योंकि मूल प्रकृति और पुरुष दोनों ही प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं। इन अनुमानों या युक्तियों का वर्णन हम बाद में करेंगे। पहले हम परिणामवाद की चर्चा करेंगे।

परिणामवाद

कार्य-कारण के सम्बन्ध में सांख्य का मत सत्कार्यवाद कहलाता है। यह सत्कार्यवाद परिणामवाद भी है। परिणाम का अर्थ है एक तत्त्व का दूसरे तत्त्व के रूप में वास्तविक परिवर्तन (तात्त्विक अन्यथा-प्रथा या अन्यथा-भाव)। परिणाम का अर्थ यहाँ उत्पत्ति नहीं, अपितु आविर्भाव या प्राकट्य है। कारणभूत तत्त्व में जो अन्तर्निहित है और प्रकट नहीं है, कार्यभूत तत्त्व में वही प्रकट हो जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि परिणाम क्रिया द्वारा अमूर्त्त से मूर्त्त का, अस्पष्ट से स्पष्ट का, अव्यक्त से व्यक्त का या सूक्ष्म से स्थूल का आविर्भाव होता है। अवस्थित (स्वरूपतः स्थिर या अक्षुण्ण) द्रव्य के एक धर्म की निवृत्ति (तिरोधान) और दूसरे धर्म के प्रादुर्भाव (प्रकट होने) का नाम ही परिणाम है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी कार्य सूक्ष्म रूप में अपने कारण में विद्यमान रहता है। जब उसका आविर्भाव होता है तब उसे घटित या उत्पन्न कहा जाता है। वस्तुतः उसकी नयी सृष्टि नहीं होती, क्योंकि द्रव्य के गुणों या धर्मों में ही कुछ अन्तर हो जाता है। गुण और द्रव्य में भेद भी है और अभेद भी, अतः कार्य भी अपने कारण से सर्वथा भिन्न नहीं होता। धर्म और धर्मी, अवयव और अवयवी परस्पर सम्बद्ध हैं, उन्हें न तो सर्वथा अलग माना जा सकता है और न एक। इसी प्रकार सामान्य और विशेष में भी भेदाभेद सम्बन्ध है; शक्ति ही सामान्य है और उस शक्ति की प्रवृत्ति ही विशेष या कार्य है।

---

1. परिणामो नामावस्थितस्य द्रव्यस्य धर्मान्तरनिवृत्तिः धर्मान्तर प्रवृत्तिश्च।—युक्ति-दीपिका, का० 9

शक्ति परिणामिनी इसलिए है कि उसमें पूर्वधर्मों का तिरोभाव होकर अन्य धर्मों या विशेषों का आविर्भाव होता है; जैसे, पलाश का पत्ता जब धूप लगने से अपनी श्यामता का तिरोभूत करके पीतता को प्राप्त हो जाता है तब भी वह स्वरूपतः पलाश बना रहता है, केवल हरे के बदले अब वह पीला पत्ता कहा जाता है, धूप आदि के निमित्त से। परिणाम क्या है, इस सम्बन्ध में एक कारिका 'युक्तिदीपिका' में पायी जाती है :

जहद् धर्मान्तरं पूर्वमुपादत्ते यदा परम्।
तत्त्वादप्रच्युतो धर्मी परिणामः स उच्यते ॥

—युक्तिदीपिका, सां० का०, 16

वास्तव में एक ही द्रव्य में अनेक गुण होते हैं। धर्मों में फेर-बदल के पूर्व धर्मी सामान्य होता है, जैसे पृथ्वी सामान्य है और घट आदि विशेष, और ये घट आदि उसके धर्म कहलाते हैं। यह पृथ्वी-सामान्य की बुद्धि और घट-विशेष की बुद्धि धर्मान्तर परिणाम के कारण है। वही पृथ्वी-बुद्धि तन्मात्राओं रूप-द्रव्य या सामान्य की अपेक्षा सामान्य न होकर विशेष ही कहलायेगी। इस प्रकार सभी विशेषों का अभाव जिस तत्त्व में हो वह मूल प्रकृति है।

अब हम प्रकृति के परिणाम या विकास की प्रक्रिया का संक्षिप्त वर्णन करेंगे। निम्न कारिका सृष्टि के विकास या प्रकृति के परिणाम-क्रम को समझाती है :

प्रकृतेर्महान्स्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंच भूतानि ॥22॥

प्रकृति से महत्तत्त्व (बुद्धि), उससे अहंकार, उससे सोलह का समूह (अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और पाँच तन्मात्राएँ) उत्पन्न होता है, पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत उद्भूत होते हैं। उनका क्रम इस प्रकार है : शब्द तन्मात्र से आकाश, जिसका गुण शब्द है; शब्द तन्मात्र सहित स्पर्श तन्मात्र से वायु, जिसमें शब्द और स्पर्श दोनों गुण हैं; शब्द-स्पर्श तन्मात्र सहित रूप तन्मात्र से तेजस् या अग्नि, जिसमें शब्द, स्पर्श और रूप, तीनों गुण हैं; शब्द, स्पर्श, रूप तन्मात्र सहित रस तन्मात्र से जल, जिसमें शब्द स्पर्श, रूप, रस, चार गुण हैं; और शब्द, स्पर्श, रूप, रस तन्मात्र सहित गन्ध तन्मात्र से पृथिवी, जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, पाँच गुण हैं, उद्भूत होते हैं। ये सब तत्त्व नवीन हैं। पंचभूतों से कोई नवीन तत्त्व, उत्पन्न नहीं होता। इसलिए महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ प्रकृति-विकृति कहलाती

हैं, जबकि ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच महाभूत केवल विकृति हैं। मूल प्रकृति केवल प्रकृति है, वह किसी ज्यादा मौलिक तत्त्व की विकृति नहीं है। पुरुष न प्रकृति है, न विकृति, वह न किसी ज्यादा मौलिक तत्त्व का परिणाम है, न स्वयं किसी तत्त्व को उत्पन्न करता है। वस्तुतः पुरुष तीनों गुणों से रहित, निष्क्रिय, असंग और परिवर्तन-हीन है। वह विशुद्ध चैतन्य-रूप है।

अब हम बुद्धि का विशेष लक्षण बतलाएँगे। बुद्धि का विशिष्ट धर्म है अध्यवसाय (निश्चय करना); इसके अतिरिक्त धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य सत्त्वगुण-प्रधान बुद्धि के धर्म हैं। तमोगुण-प्रधान बुद्धि में इनके विपरीत धर्म रहते हैं। धर्म, ज्ञान आदि मोक्ष की ओर ले जानेवाली विशेषताएँ हैं; अणिमा आदि ऐश्वर्य भी बुद्धि के धर्म हैं।

अहंकार अभिमान को कहते हैं। गुण-भेद से अहंकार तीन प्रकार का होता है। सत्त्वगुण-प्रधान अहंकार को **वैकृत** कहते हैं। रजोगुण-प्रधान अहंकार **तैजस** कहलाता है और तमोगुण-प्रधान अहंकार **भूतादि** कहलाता है। सात्त्विक (वैकृत) अहंकार तैजस के साथ ग्यारह इन्द्रियों को उत्पन्न करता है। तामस अहंकार या भूतादि तैजस के साथ मिलकर पंचतन्मात्राओं को उत्पन्न करता है। राजस अहंकार अकेला कुछ उत्पन्न नहीं करता। वस्तुतः रजोगुण सब प्रकार की क्रियाओं का सामान्य कारण होता है।

यहाँ पाठकों को एक बात लक्ष्य करनी चाहिए। जिन्हें हम मन या चित्त की दशाएँ कहते हैं, वे अन्तिम विश्लेषण में प्राकृतिक अर्थात् प्राकृति का विकार हैं। चेतन पुरुष के संयोग या सन्निधि मात्र से वे सचेतन बन जाती हैं।

प्रकृति और पुरुष दो ही तत्त्वों को स्वीकार करने के कारण सांख्य एक द्वैत-वादी दर्शन है। यह दर्शन किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर को स्वीकार नहीं करता।

सत्कार्यवाद

सांख्य के तात्त्विक सिद्धान्तों को समझने के लिए यह जरूरी है कि हम उसका कार्य-कारण-सिद्धान्त ठीक से समझें। सांख्य के मूल तत्त्व, यानी प्रकृति का अनुमान सत्कार्यवाद पर निर्भर है। न्याय-वैशेषिक उत्पत्ति से पहले कार्य को असत् मानते हैं। 'सांख्यकारिका' इस असत्कार्यवाद का खण्डन करके सत्कार्यवाद का समर्थन करती है :—

असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥९॥

उक्त कारिका में कारण के व्यापार से पहले कार्य सत् होता है, यह सिद्ध करने के लिए पाँच हेतु दिये गये हैं :—

(1) **असदकरणात्**—यदि कारण के व्यापार से पहले कार्य को असत् माना जाय तो उसे सत् बनाना किसी के लिए सम्भव न होगा। वास्तव में अविद्यमान घट को (जो नैयायिकों के अनुसार बाद में उत्पन्न होता है) हम असत् भी नहीं कह सकते। जब घट है ही नहीं तो उसमें असत् धर्म कैसे रह सकता है। धर्मी के बिना धर्म नहीं रह सकता। तात्पर्य यह है उत्पत्ति से पहले घड़े को असत् यानी असत्त्व धर्मवाला नहीं कहा जा सकता। वैसे धर्मवाले घट को किसी न किसी रूप में उत्पत्ति से पहले मौजूद रहना चाहिए। यह सिद्धान्त गीत से इस वक्तव्य के अनुकूल है कि असत् का कभी भाव नहीं होता और सत् का कभी अभाव नहीं होता—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (2/16)

(2) **उपादानग्रहणात्**—उपादान के ग्रहण से भी। वाचस्पति मिश्र ग्रहण का अर्थ सम्बन्ध करते हैं। कार्य (घट) का अपने उपादान कारण (मिट्टी) से सम्बन्ध होता है। कोई भी सम्बन्ध दो सत्पदार्थों में रह सकता है, सत् और असत् में सम्बन्ध नहीं हो सकता।

(3) **सर्वसंभवाभावात्**—यदि कहा जाय कि उत्पन्न होनेवाले कार्य का उत्पादक कारणों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, तो ठीक नहीं; क्योंकि उस दशा में घट एक विशेष कारण मिट्टी से ही उत्पन्न हो, यह जरूरी नहीं रह जायगा।

यदि घट मिट्टी और नदी के जल, दोनों से समान रूप से सम्बद्ध है, तो प्रश्न उठता है कि वह मिट्टी से क्यों बनाया जाता है, जल या हवा से क्यों नहीं? यदि कार्य सचमुच असत् हो तो प्रत्येक चीज प्रत्येक दूसरी चीज से उत्पन्न हो सकती है, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। सब वस्तुओं से दूसरी सब वस्तुओं की उत्पत्ति असम्भव होना यह सिद्ध करता है कि कार्य असत् नहीं होता।

(4) **शक्तस्य शक्यकरणात्**—देखा यह जाता है कि जो पदार्थ जिस चीज को उत्पन्न करने की शक्ति रखता है, उसी को उत्पन्न करता है। यह तर्क इससे पहले के तर्क का दूसरा रूप या पूरक है।

(5) **कारणभावात्**—कार्य वास्तव में कारणात्मक होता है, कारण से भिन्न नहीं। चूँकि कारण सत् होता है इसलिए कार्य को भी सत् मानना चाहिए। सांख्य के अनुसार कार्य और कारण दोनों अभिन्न होते हैं।

यदि तेल उत्पत्ति से पहले असत् हो तो तिल से ही क्यों निकले, रेत से क्यों न निकले ? कार्य-कारण में कुछ न कुछ सम्बन्ध मानना ही पड़ेगा। यदि कार्य को कारण से बिलकुल भिन्न माना जाय तो उनमें कार्य-कारण-सम्बन्ध क्यों हुआ, यह बतलाना असम्भव हो जाता है। इसलिए किसी न किसी रूप में कार्य की उत्पत्ति से पहले सत्ता माननी चाहिए।

श्री शंकराचार्य ने अपने वेदान्तभाष्य में न्याय के असत्कार्यवाद का खंडन किया है। उनकी युक्तियाँ सांख्यकारिका से मिलती-जुलती हैं। यदि घट को उत्पत्ति से पहले असत् मानें तो घट की उत्पत्ति-क्रिया 'अकर्तृक' या बिना कर्ता के हो जायगी। कार्य और कारण में अश्व और महिष (भैंसे) के समान भेद नहीं प्रतीत होता। इसलिए उन्हें एक मानना चाहिए। (देखिये, ब्रह्मसूत्र, 2/1/18)

अपने बृहदारण्यकभाष्य में श्री शंकराचार्य ने सत्कार्यवाद का बड़ा सुन्दर निरूपण किया है :

> सर्वं हि कारणं कार्यमुत्पादयत् पूर्वोत्पन्नस्य कार्यस्य तिरोधानं कुर्वत् कार्यान्तरमुत्पादयति, एकस्मिन् कारणे युगपदनेककार्यविरोधात्। न च पूर्वकार्योपमर्दे कारणस्य स्वात्मोपमर्दो भवति, पिण्डादि पूर्वकार्योपमर्दे मृदादि कारणं नोपमृद्यते, घटादि कार्यान्तरेऽप्यनुवर्तते। कार्यस्य चाभिव्यक्तिलिंगत्वात्।....अभिव्यक्तिः साक्षाद्विज्ञानालम्बनत्व प्राप्तिः। न ह्यविद्यमानो घट उदितेऽप्यादित्य उपलभ्यते।....प्राङ्मृदभिव्यक्तेर्मृदवयवानां पिण्डादि कार्यान्तर रूपेण संस्थानम्। तस्मात्प्रागुत्पत्तेः विद्यमानस्यैव घटादिकार्यस्यावृतत्वादनुपलब्धिः।—बृहदारण्यक उप० भाष्य, 1/2/1

भावार्थ—जब कारण एक कार्य को उत्पन्न करता है तो वह दूसरे कार्य का तिरोधान कर देता है, एक कारण में अनेक कार्य एक साथ नहीं रह सकते। एक कार्य के नष्ट हो जाने पर मिट्टी (अर्थात् कारण) घट के रूप में प्रतीत होती है। अभिव्यक्ति होना ही कार्य की उत्पत्ति है। अभिव्यक्ति का अर्थ है ज्ञान का विषय हो जाना। अविद्यमान घड़ा सूर्य के उदित होने पर भी नहीं दीख सकता। इसी प्रकार असत् कार्य की कभी प्रतीति नहीं हो सकती। जब तक मिट्टी की अभिव्यक्ति नहीं होती तब तक मिट्टी के अवयव घटादि के आकार में रहते हैं। इसलिए उत्पत्ति से पहले घट मौजूद रहता है, सिर्फ उसके स्वरूप पर आवरण चढ़ा रहता है, ऐसा मानना चाहिए।

कार्य का आवरण या आच्छादन करनेवाला कौन है ? उत्तर है, दूसरा कार्य।

एक कारण के अनेक कार्य हो सकते हैं, जिनमें से एक को छोड़कर एक समय में और सब अव्यक्त रूप में रहते हैं। अभिव्यक्त कार्य दूसरे कार्यों के आच्छादन के कारण होता है। एक ही धातु-खण्ड में अनेक मूर्तियाँ खोदकर बनायी जा सकती हैं, परन्तु एक समय में एक ही मूर्ति दिखायी जा सकेगी। इसी प्रकार हर एक कारण एक काल में एक ही कार्य का रूप धारण कर सकता है।

ईश्वर की कारणता का खण्डन

सांख्य दर्शन जगत् का मूल कारण प्रकृति को मानता है, ईश्वर को नहीं। क्योंकि जड़ जगत् त्रिगुणात्मक है, वह किसी अचेतन त्रिगुणात्मिका प्रकृति का ही कार्य हो सकता है, चेतन ईश्वर का नहीं। स्वर्गीय श्री लोकमान्य तिलक ने सांख्यकारिका की एक लुप्त कारिका का उद्धार करने का प्रयत्न किया है। 71 वीं कारिका के गौडपादभाष्य में प्रकृति के अतिरिक्त जगत्कारण माननेवाले कई विचारकों के मतों का उल्लेख है। इन उल्लेखों का 71वीं कारिका में कहीं संकेत नहीं है। भाष्य के संकेतों के आधार पर श्री लोकमान्य तिलक ने निम्न कारिका गठित की है :

कारणमीश्वरमेके पुरुषं कालं परे स्वभावं वा
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च

इस कारिका में कहा गया है कि कुछ लोग ईश्वर को विश्व का कारण बतलाते हैं, कुछ पुरुष को, दूसरे लोग काल या स्वभाव को। काल या स्वभाव व्यक्त होने के कारण विश्व का कारण नहीं बन सकते, सांख्य मत में वे प्रकृति के कार्य हैं। ईश्वर और पुरुष वस्तुतः निर्गुण हैं, प्रकृति के तीन गुणों से असम्पृक्त हैं, इसलिए उनसे जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[1]

अनेक चिन्तकों ने यह मत प्रकट किया है कि विश्व की वस्तुओं में तरह तरह की प्रयोजनवती रचना पायी जाती है; यह रचना चेतन रचयिता की ओर संकेत करती है।[2] इसके उत्तर में 'युक्तिदीपिका' (का० 15-16) का कहना है कि यदि यह माना जाय कि जगत् सर्वज्ञ ईश्वर की रचना है तो प्रश्न यह उठेगा कि यहाँ दुःख

---

1. दे० सांख्यकारिका, गौडपादभाष्य, हेनरी टॉमस कोलब्रुक द्वारा सानुवाद सम्पादित, बम्बई 1924, परिशिष्ट, पृ० 261-271
2. अंग्रेजी में (तथा योरोपीय दर्शन में) इसे प्रयोजनमूलक युक्ति (Teleological Argument) कहते हैं।

क्यों पाया जाता है ? इसके उत्तर में ईश्वरवादी कहते हैं कि दुःख-सुख का कारण जीवों का धर्म और अधर्म है। यहाँ प्रश्न उठता है कि सर्वज्ञ ईश्वरकृत जगत् में अधर्म की उपस्थिति का अर्थ क्या हो सकता है ? यूरोपीय दर्शन में इस स्थिति को 'अशुभ की समस्या' (Problem of Evil) कहते हैं। किसी भी कोटि के अशुभ की उपस्थिति सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न, करुणाशील ईश्वर के अस्तित्व से विसंगत है। दुःख और अधर्म दोनों अशुभ हैं।

अपने 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' में शंकराचार्य ने सूत्र 'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्' (2/2/1) की व्याख्या करते हुए सांख्य के प्रकृतिकारणवाद का खण्डन किया है। अचेतन-प्रधान या प्रकृति रचना-सम्पन्न जगत् का कारण नहीं हो सकती, किन्तु 2/2/37 (पत्युरसामजस्यात्) सूत्र पर भाष्य करते हुए उन्होंने उन मतों का भी खण्डन किया है जो ईश्वर को जगत् का केवल अधिष्ठाता कारण मानते हैं, जैसे न्याय-वैशेषिक और पाशुपत मत। वहाँ उन्होंने ईश्वर--कारणवाद की अनेक कठिनाइयों का संकेत किया है। उनमें एक यह है कि ईश्वर हीन, मध्यम, उत्तम अनेक प्रकार की सृष्टि करते हुए राग-द्वेष आदि दोषों से संपृक्त माना जायगा। यदि यह कहा जाय कि जीवों के कर्मानुसार ईश्वर हीन, मध्यम, उत्तम आदि भेद उत्पन्न करता है, तो कर्म और ईश्वर एक दूसरे के आश्रित या परतंत्र बन जायँगे।[1]

दूसरे, अधिष्ठाता कारण सशरीर ही देखा गया है, अतः सृष्टि से पहले ईश्वर को सशरीर ही मानना पड़ेगा। किन्तु यह सम्भव नहीं, क्योंकि शरीर का प्रादुर्भाव सृष्टि के बाद होता है। ईश्वर को सशरीर माना जाय तो संसारी जीवों की भाँति उसमें भी भोग आदि की सम्भावना हो जायेगी जिससे उसका ईश्वरत्व भंग हो जायेगा।[2]

सांख्य की ज्ञान-मीमांसा

भारतीय दर्शन के अनुसार तत्त्व को जानने का साधन प्रमाण हैं, इसलिए प्रत्येक दर्शन अपनी प्रमाण-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा का प्रतिपादन करता है। न्याय-

---

1. हीनमध्यमोत्तमभावेन हि प्राणिभेदान्विदधत ईश्वरस्य रागद्वेषादि दोष प्रसक्तेरस्मदादिवदनीश्वरत्वं प्रसज्येत। प्राणिकर्मापेक्षितत्वादिति चेत्, न, कर्मेश्वरयोः प्रवर्त्य प्रवर्तयितृत्वे इतरेतराश्रयदोषप्रसंगात्।—ब्र० सू०, 2/2/37।
2. सृष्ट्युत्तरकालभावित्वाच्छरीरस्य प्राक्सृष्टेस्तदनुपपत्तेः। निरधिष्ठानत्वे चेश्वरस्य प्रवर्तकत्वानुपपत्तिः।—सशरीरत्वे हि सति संसारिवद् भोगादि प्रसंगादीश्वरस्याप्यनीश्वरत्वं प्रसज्येत।—वहीं।

वैशेषिक की भाँति सांख्य दर्शन श्रुति पर विशेष निर्भर नहीं करता, वह अपने प्रमेयों की सिद्धि के लिए मुख्यतः अनुमान पर निर्भर करता है। यों, सांख्य ने कभी खुलकर वेद का विरोध नहीं किया। वह श्रुति को मानता है और इसीलिए आस्तिक दर्शन कहलाता है।

सांख्य के अनुसार प्रमाण तीन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त वचन। प्रमेय का ज्ञान किसी प्रमाण से ही होता है। गोचर वस्तुओं को हम प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं, किन्तु जो वस्तुएँ इन्द्रिय-सम्वेद्य नहीं हैं उन्हें हम श्रुति अथवा आप्त वचन से जानते हैं। सांख्य की प्रकृति अथवा पुरुष दोनों अपरोक्ष तत्त्व हैं, उनकी सिद्धि के लिए सांख्य अनुमान का प्रयोग करता है।

यहाँ प्रश्न उठता है, प्रमाण किसे कहते हैं ? 'सांख्यकारिका' में प्रमाण का लक्षण नहीं दिया गया है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार प्रमाण की व्युत्पत्ति से ही उसका लक्षण प्राप्त हो जाता है। जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान उत्पन्न किया जाता है, अथवा जो प्रमा या यथार्थ ज्ञान का कारण (साधन या जनक) है, वह प्रमाण है। सांख्य दर्शन में प्रमा या यथार्थ ज्ञान बुद्धि या चित्त का धर्म है। ज्ञान उत्पन्न होता है; यह उत्पन्न होना इस बात का द्योतक है कि ज्ञान का आश्रय विकारशील है। यह विकारशीलता पुरुष में सम्भव नहीं है, क्योंकि सांख्य का पुरुष निर्विकार और एकरस है, वह शुद्ध चैतन्य-रूप है। उसकी चेतना नित्य है, वह उत्पन्न या नष्ट होनेवाली नहीं है। इस दृष्टि से सांख्य का पुरुष अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म के समान है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार आत्मा में इच्छा, द्वेष, ज्ञान आदि गुण उत्पन्न होते हैं, मुक्ति-दशा में उन गुणों का उत्पन्न होना बंद हो जाता है, किन्तु सांख्य के पुरुष में किसी तरह का विकार नहीं होता।

ऐसी दशा में उत्पन्न होनेवाले ज्ञान की परिभाषा क्या होगी ? सांख्य के मत में यथार्थ ज्ञान और भ्रांत ज्ञान आदि बुद्धि या चित्त की वृत्तियाँ हैं। वाचस्पति मिश्र यथार्थ ज्ञान की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—

वह चित्तवृत्ति जिसका विषय असन्दिग्ध अर्थात् निश्चित है, अविपरीत है और नवीन है, प्रमा कहलाती है। विकल्पात्मक ज्ञान का विषय विपरीत होता है, यानी अवस्तु-रूप; विपरीत का उलटा विषय अविपरीत है, यानी यथार्थ वस्तु। इस लक्षण में चित्तवृत्ति को ज्ञान या प्रमा कहा गया है, किन्तु वास्तव में चित्त या बुद्धि की वृत्ति जड़ है, उसे ज्ञान नहीं कह सकते। सांख्यसूत्र (1/87) में प्रमा को दो तरह से परिभाषित किया गया है। वाचस्पति मिश्र भी प्रमा को दो प्रकार से परिभाषित

करते हैं। ऊपर हमने चित्तवृत्ति को प्रमा कहा है, दूसरी दृष्टि से पुरुष का बोध ही प्रमा है।

योगसूत्रों के 'व्यासभाष्य' में प्रमा की दूसरी परिभाषा को स्वीकार किया गया है। उक्त भाष्य के अनुसार अर्थ या वस्तु के विशेष या सामान्य रूप को ग्रहण करनेवाली वृत्ति प्रमाण है और पुरुष में उस **चित्तवृत्ति का बोध** प्रमा है।[1]

इस सम्बन्ध में सांख्य के व्याख्याकारों के तीन मत जान पड़ते हैं। वाचस्पति के मत में मुख्य अर्थ बुद्धि-वृत्ति प्रमा है और गौण अर्थ में पुरुष का बोध। व्यास-भाष्य का मत हम ऊपर दे ही चुके हैं। सांख्य का सामान्य सिद्धान्त यह है कि पुरुष निष्क्रिय, निर्गुण और असंग है। उस दृष्टि से वाचस्पति का मत उपयुक्त है। सुख, दुःख, ज्ञान आदि परिणाम बुद्धि में होते हैं, अविवेक के कारण पुरुष उन्हें आत्मसात् करता प्रतीत होता है। इस प्रतीति के कारण ही प्रमा या बोध (ज्ञान) पुरुष का कहा गया है।

सांख्यसूत्र और 'सांख्यप्रवचनभाष्य' का मत कुछ अधिक जटिल है। तर्कशास्त्री प्रमाण और प्रमा में अन्तर करते हैं; प्रमा प्रमाण-व्यापार के फल को कहते हैं। विज्ञानभिक्षु की परिभाषा इस प्रकार है : यदि प्रमा-रूप फल को केवल पुरुषनिष्ठ माना जाय, तो बुद्धि-वृत्ति को प्रमाण कहा जायगा। यदि प्रमा को केवल बुद्धिनिष्ठ माना जाय तब इन्द्रिय-सन्निकर्ष को ही प्रमाण मानना होगा और (उस दशा में) पुरुष प्रमा का साक्षी होगा, प्रमाता नहीं होगा। यदि पुरुष के बोध और बुद्धि-वृत्ति दोनों को प्रमा कहा जाय तब प्रमा-भेद से उक्त दोनों (बुद्धि-वृत्ति और इन्द्रिय-सन्निकर्ष आदि) प्रमाण कहे जाएँगे। तात्पर्य यह है कि यदि प्रमा पुरुषनिष्ठ है तो बुद्धि-वृत्ति प्रमाण है, और यदि प्रमा को बुद्धिनिष्ठ माना जाय तो इन्द्रिय-सन्निकर्ष को प्रमाण माना जायगा। यहाँ श्री विज्ञानभिक्षु ने व्यासदेव (योगभाष्य) के इस मत का उल्लेख

---

1. इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्। फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तबोधः। —यो० भा०, 1/17, हरिभद्रसूरिकृत।

षड्दर्शनसमुच्चय के टीकाकार मणिभद्र सांख्य के पुरुष को भोक्ता मानते हैं। उन्होंने निम्न श्लोक उद्धृत किया (या लिखा) है : अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः, अकर्ता निर्गुणः, सूक्ष्म आत्मा कपिलदर्शने।—दे०, चौखम्बा संस्करण, 1957, पृ० 31

किया है कि बोध पुरुषनिष्ठ होता है। आगे वे कहते हैं कि यही सांख्य का भी मुख्य सिद्धान्त समझना चाहिए।[1]

कारिकाओं की 'युक्तिदीपिका' टीका के अनुसार बुद्धि-वृत्ति ही प्रमाण है। इसलिए सांख्य को अध्यवसायप्रमाणवादी कहा जाता है।[2] यह मान लेने पर प्रमाण-फल या प्रमा पुरुषनिष्ठ कही जायगी। यह प्रमा अध्यवसाय-रूप प्रमाण से भिन्न है।

प्रत्यक्ष

अब हम अलग अलग प्रमाणों का सांख्य-सम्मत विवरण देंगे। सांख्य तीन प्रमाण मानता है—प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त वचन। प्रत्यक्ष की परिभाषा इस प्रकार है—प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्। 'तत्त्वकौमुदी' की व्याख्या के अनुसार जो इस-उस विषय से सम्बन्धित होती है, अर्थात् इन्द्रिय, उसके आश्रित होनेवाले अध्यवसाय (जो बुद्धि का व्यापार या क्रिया है) को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। इन्द्रिय का विषय से सन्निकर्ष होता है। इस सन्निकर्ष से बुद्धि में, तमोगुण के अभिभव द्वारा, जो सत्त्व गुण का उद्रेक होता है उसे अध्यवसाय वृत्ति या ज्ञान कहते हैं। चूँकि यह ज्ञान इन्द्रिय द्वारा होता है, इसलिए प्रत्यक्ष कहलाता है। यहाँ अध्यवसाय पद का अर्थ है बुद्धि-व्यापार; ज्ञान उसी की संज्ञा है। विषय से सन्निकर्ष करती हुई इन्द्रियाँ उस विषय के आकार को या विषय के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती हैं, यह प्रतिबिम्ब विषय के आकारवाली बुद्धि-वृत्ति को उत्थित करता है। यह बुद्धि-वृत्ति ही (प्रत्यक्ष) ज्ञान कहलाती है। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष ज्ञान में बुद्धि या चित्त का विषयाकार परिणाम होता है।

अनुमान

अब हम अनुमान की चर्चा करेंगे। अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञान करानेवाला

---

1. सांख्यसूत्र, 1/87, इस प्रकार है—द्वयोरेकतरस्य वाऽप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविधं प्रमाणम्॥ इस पर सांख्यप्रवचनभाष्य है—अत्र यदि प्रमारूपं फलं पुरुषनिष्ठमात्रमुच्यते तदा बुद्धिवृत्तिरेव प्रमाणम्। यदि च बुद्धिनिष्ठमात्रमुच्यते तदा तूक्तेन्द्रिय सन्निकर्षादिरेव प्रमाणम्। पुरुषस्तु प्रमासाक्ष्येव न प्रमातेति। यदि च पौरुषेयः बोधो बुद्धिवृत्तिश्चोभयमपि प्रमोच्यते तदा तूक्तमुभयमेव प्रमाभेदेन प्रमाणं भवति।....पातंजल भाष्ये तु व्यासदेवैः पुरुषनिष्ठबोधः प्रमेत्युक्तः अतोऽत्रापि स एव मुख्यः सिद्धान्तः।
2. तस्मात् सिद्धमध्यवसायप्रमाणवादिनः प्रमाणात्फलमर्थान्तरमिति।—सांख्य-कारिका, 6

प्रमाण या तो अनुमान है या आगम। अनुमान का प्रत्यक्ष से अन्तर यह है कि अनुमान ज्ञान में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष नहीं होता। लिंग या हेतु (व्याप्य) द्वारा लिंगी (व्यापक) का ज्ञान अनुमिति या अनुमान ज्ञान है; जैसे, धूम से अग्नि का ज्ञान। इस उदाहरण में धूम व्याप्य है और अग्नि व्यापक। धूम की उपस्थिति अग्नि की उपस्थिति से व्याप्त रहती है। यहाँ तक न्याय और सांख्य के अनुमान-निरूपण में समानता है।

कारिका के अनुसार अनुमान तीन प्रकार का होता है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। यह वर्गीकरण भी न्यायभाष्य में दिया गया है।

अनुमान का पहला विभाग वीत और अवीत, दो प्रकार का है। अन्वय व्याप्ति पर आधारित अनुमान वीत कहलाता है; इस व्याप्ति का रूप है, 'इसके होने पर वह होता है' (तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्)—जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है।

व्यतिरेक व्याप्ति पर आधारित अनुमान अवीत कहलाता है। इस व्याप्ति का रूप है, 'इसके न होने पर उसका न होना' (तदसत्त्वे तदसत्त्वम्), जैसे, अग्नि के अभाव में धूम का अभाव होना। केवल व्यतिरेक व्याप्ति पर आधारित अनुमान अवीत है। उदाहरणतः, पृथ्वी इतर महाभूतों से भिन्न है, गंधवती होने के कारण। इस अनुमान का आधार निम्न व्यतिरेक व्याप्ति है, जो अन्य महाभूतों—आकाश, वायु, अग्नि, जल—से भिन्न नहीं है, वह गन्धवाला नहीं है। यहाँ कोई अन्वय व्याप्ति उपलब्ध नहीं है।

अवीत अनुमान का दूसरा नाम शेषवत् है।

वीत अनुमान दो प्रकार का होता है—पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। जहाँ विशेष उदाहरण उपलब्ध होता है, यानी जहाँ स्वलक्षण का साक्षात्कार होता है और उसके आधार पर सामान्य से विशेषित विशेष का अनुमान किया जाता है, वहाँ पूर्ववत् अनुमान होता है। धूम को देखकर हम वह्नित्व सामान्य से विशेषित अग्नि का (अग्नि-विशेष) का अनुमान करते हैं। यहाँ धूम से समन्वित अग्नि (जो स्वलक्षण-रूप हैं, यानी इन्द्रियों का साक्षात् विषय) प्रत्यक्ष अनुभव का विषय होती है। चूँकि यहाँ स्वलक्षण या विशेष देखा जाता है, इसलिए यह पूर्ववत् अनुमान है, जिसका विषय स्वलक्षण सामान्य है, अर्थात् ऐसा सामान्य जिसका विशेष उदाहरण देखा गया है। किन्तु वीत अनुमान का एक दूसरा विभाग भी है जिसे सामान्यतोदृष्ट कहते हैं। इस अनुमान में किसी स्वलक्षण (विशेष) का साक्षात्कार नहीं होता, जिसके आधार पर तत्संबंधी सामान्य से विशेषित विशेष का अनुमान किया जाय। धूम से वह्नि के

अनुमान में हम धूम और वह्नि को साथ देखते हैं और वह्नित्व सामान्य से विशेषित विशेष का अनुमान करते हैं । सामान्यतोदृष्ट अनुमान में कोई विशेष हमारे अनुभव का विषय नहीं होता; ऐसे अनुमान का विषय **अदृष्ट स्वलक्षण सामान्य** होता है । यहाँ वाचस्पति मिश्र ने, उदाहरण के रूप में, इन्द्रिय सम्बन्धी अनुमान दिया है । रूप, रस आदि का ज्ञान एक प्रकार की क्रिया है, प्रत्येक क्रिया का कोई करण होता है, जिसकी मदद से कर्त्ता क्रिया को सम्पन्न करता है । प्रत्यक्ष या देखना नाम की ज्ञान-क्रिया का भी कोई करण होना चाहिए । उत्तर है—ज्ञान की क्रिया का करण चक्षु इन्द्रिय है । इसी प्रकार दूसरी इन्द्रियों की सिद्धि होती है । जिस प्रकार पेड़ या लकड़ी काटने की क्रिया कुल्हाड़ी जैसे औजार (करण) की अपेक्षा करती है, उसी प्रकार रूप, रस, गंध आदि के ग्रहण या जानने की क्रिया नेत्र, जिह्वा (रसना), नासिका आदि करणभूत इन्द्रियों की अपेक्षा करती है । चूँकि इन्द्रियाँ अप्रत्यक्ष मानी जाती हैं, इसलिए यहाँ अनुमान का विषय अदृष्ट स्वलक्षण (विशेष उदाहरण के दर्शन से वंचित) सामान्य विशिष्ट विशेष है । इन्द्रिय को किसी ने देखा नहीं है, फिर भी हम इन्द्रियत्व सामान्य से विशिष्ट नेत्र आदि इन्द्रियों का अनुमान करते हैं । यह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है । **सांख्य के मत में अतीन्द्रिय पदार्थों का अनुमान सामान्यतोदृष्ट से होता है ।**

वाक्य से जनित ज्ञान को शाब्दी प्रमा कहते हैं; आप्त श्रुति को आप्त वचन कहते हैं । सांख्य के अनुयायी वेद या श्रुति को स्वतःप्रमाण मानते हैं, वे वेद को अपौरुषेय भी मानते हैं । कपिल आदि की स्मृति भी वेदमूलक होने के कारण प्रमाण है ।

जो परोक्ष (अतीन्द्रिय) पदार्थ सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी सिद्ध नहीं होता उसकी सिद्धि आप्त, आगम या श्रुति से होती है । यहाँ सिद्धि शब्द का अर्थ बोध या ज्ञान समझना चाहिए ।

सांख्य का भ्रम सिद्धान्त

प्रत्येक भारतीय दर्शन में भ्रम की अलग व्याख्या दी गयी है । सांख्य दर्शन में भ्रान्त ज्ञान के लिए अविवेक शब्द का प्रयोग होता है । सांख्य के प्रमुख ग्रन्थ 'सांख्यकारिका' और उसकी टीका 'तत्त्वकौमुदी' में भ्रांत ज्ञान या भ्रम का सम्यक् विवेचन नहीं पाया जाता । वास्तव में सांख्य की अभिरुचि का केन्द्र प्रकृति और पुरुष से सम्बन्धित अविवेक है जो बन्धन का हेतु है । लौकिक धरातल पर जिसे भ्रम कहा जाता है, उसकी व्याख्या में कारिका के प्रणेता की विशेष रुचि नहीं है । वैसे, यह

माना जाता है कि सांख्य का भ्रम सिद्धान्त मीमांसक प्रभाकर के अख्यातिवाद के समान है। इसके समर्थन में सांख्यतत्त्वविवेचन में लिखा है :—

> अविवेकात् संसारः, विवेकात् कैवल्यम् । अर्थतः अख्यातिवादांगीकारः । अतएव इदं रजतमिति ज्ञानं न भ्रमः, किन्तु स्वरूपतः अर्थतश्च अविविक्तं ज्ञानद्वयम् अस्य यादृशमिदंरजतमिति रजतज्ञानविषयीभूतं तस्य यादृशमेव जगदिति निर्णयः ।—सांख्यसंग्रह, चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, पृ० 32 ।

अर्थात् अविवेक से संसार है और विवेक से कैवल्य होता है। यहाँ अभिप्राय रूप में अख्यातिवाद का अंगीकार है। जब शुक्ति में रजत के ज्ञान के उदाहरण में वस्तुतः भ्रम नहीं होता, वहाँ स्वरूप से और अभिप्राय से विविक्त न किये गये दो ज्ञान होते हैं। 'यह रजत है' इस ज्ञान में जिसके सामने जैसा रजत ज्ञान का विषय होता है, वैसा ही उसके लिए (ज्ञान का विषयभूत) जगत् रहता है।

सांख्य का भ्रम या ख्याति-विषयक सिद्धान्त इस प्रकार है : विश्व के सब पदार्थ तीन गुणों से निर्मित हैं, वे सुख-दुःख-मोहात्मक हैं। ज्ञान का विषय बनानेवाली प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म होते हैं, उन्हें सुख-दुःख-मोहात्मक कहना उन गुणों के अनुरूप स्थूल वर्गीकरण है। वस्तुएँ अपने विविध धर्मों के कारण सुखात्मक, दुःखात्मक और मोहात्मक होती हैं। उन्हें देखने या जाननेवाला पुरुष भी विभिन्न राग-विरागों से युक्त होता है। अपनी वासनाओं और प्रयोजनों के अनुरूप वह वस्तु-विशेष के कुछ पहलुओं या धर्मों को देखता है और कुछ को नहीं। उदाहरण के लिए, वह सीप के सफेद रंग और चमक को देखता है, किन्तु वह उसके हल्केपन को नहीं देखता। इसलिए उसे सीप में चाँदी का भ्रम होता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि भ्रांत ज्ञान वास्तव में वस्तु का अपूर्ण ज्ञान है।

यहाँ पाठक यह बात नोट करें कि सांख्य एक वस्तुवादी दर्शन है। ऐसे दर्शन के अनुसार देखने पर या दूसरे ज्ञान के अवसर पर हम बाह्य वस्तु में अपनी ओर से किसी धर्म का आरोप नहीं करते। इस दृष्टि से कोई भी ज्ञान निरालम्बन (विषयहीन) या भ्रांत नहीं है। वास्तव में सांख्य के अनुसार, भ्रान्त ज्ञान अपूर्ण ज्ञान है। सांख्य की यह अख्याति प्रभाकर की अख्याति की व्याख्या से कुछ भिन्न है।

सांख्यकारिका 13, की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि एक सुन्दर स्त्री अपने पति में सुख उत्पन्न करती है और सपत्नी या सौत में दुःख। वही स्त्री तीसरे व्यक्ति अर्थात् अन्य पुरुष में मोह उत्पन्न करती है। यही बात प्रत्येक वस्तु के

विभिन्न गुणों के बारे में कही जा सकती है। निष्कर्ष यह है कि भ्रान्त ज्ञान आंशिक या अपूर्ण ज्ञान होता है।[1]

सांख्य की तत्त्व-मीमांसा

प्रकृति की सिद्धि—सांख्य की प्रकृति प्रत्यक्षगम्य नहीं है। प्रत्यक्ष ज्ञान में अनेक बाधाएँ होती हैं; जैसे, विषय की अत्यन्त सूक्ष्मता, विषय की अत्यधिक दूरी या निकटता, इन्द्रिय-दोष, मन का अनवधान तथा इन्द्रिय और विषय के बीच व्यवधान। प्रकृति की उपलब्धि इसलिए नहीं होती कि वह नितान्त सूक्ष्म है, उसका ज्ञान उसके कार्यों से होता है जो प्रकृति के लिंग या अनुमापक हैं। 'सांख्यकारिका' प्रकृति की सिद्धि के लिए पाँच युक्तियाँ देती हैं :—

> भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च
> कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य
> कारणमस्त्यव्यक्तम्। 15/16

(1) **भेदानां परिमाणात्**—महत्, अहंकार, पंचमहाभूत आदि कार्य परिमित या सीमित हैं। वाचस्पति के शब्दों में वे अव्यापी हैं। प्रत्येक कार्य अपने कारण की तुलना में परिमित या सीमित होता है और ऐसे कारण की ओर संकेत करता है जिसमें वह अव्यक्त रूप में वर्तमान है। इसीलिए बुद्धि (महत्), अहंकार आदि परिमित या सीमित कार्य अपने से अधिक व्यापक अव्यक्त कारण की ओर संकेत करते हैं। यह कारण अव्यक्त या प्रकृति है। चूँकि परिमित या सीमित पदार्थ सबके सब कार्य होते हैं इसलिए अहंकार, महत् आदि को विश्व का चरम कारण नहीं माना जा सकता। चरम कारण प्रकृति ही है।[2]

---

1. सांख्य योग के अन्य ग्रन्थों में ख्याति सम्बन्धी दूसरे मत भी पाये जाते हैं। सांख्य-सूत्र, 5/56 में सदसत्ख्याति का समर्थन किया गया है। सांख्यसूत्र, 2/33 के भाष्य में विज्ञानभिक्षु अख्याति को अस्वीकार करके विवेकाग्रह को ही भ्रांत ज्ञान का मूल तत्त्व मानते हैं। ऐसी दशा में देखनेवाली शुक्ति से भिन्न बुद्धिस्थ रजत को स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार के अभिमत (वक्तव्य) में वस्तुवाद की विशुद्धता नहीं रह पाती।
2. युक्तिदीपिका ज्यादा सीधे ढंग से कहती है कि जो परिमित वस्तु है उसकी उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिए महत् आदि कारणपूर्वक हैं। (यत् परिमितं तस्य सत उत्पत्तिर्दृष्टा)।

(2) **समन्वयात्**—संसार के सब पदार्थ त्रिगुणमय हैं, उनमें यह एकता या समानता सर्वत्र पायी जाती है। सत्त्व, रजस् या तमस्, इन तीन गुणों के समान रूप से समन्वित होने के कारण सब पदार्थ प्रीति, अप्रीति एवं विषाद उत्पन्न करने में समर्थ हैं। अतः उनकी इस समानता का मूल किसी एक मूल कारण में होना चाहिए। वह कारण प्रकृति है।

(3) **शक्तितः प्रवृत्तेश्च**—शक्तियुक्त कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक कार्य का उद्गम एक कारण से होता है जिसमें उसे उत्पन्न करने की शक्ति निहित होती है। **यहाँ शक्ति का अर्थ यही है कि कार्य कारण में अनभिव्यक्त रूप में वर्तमान होता है।** विश्व के त्रिगुणात्मक पदार्थों का एक चरम कारण होना चाहिए; वह कारण प्रकृति है।

(4) **कारण कार्य विभागाद्**—कारण और कार्य का विभाग होने से पहले कहा जा चुका है कि उत्पत्ति से पहले कार्य का सत् होता है और अपने कारण में अनभिव्यक्त रूप में वर्तमान रहता है। इस प्रकार विद्यमान कार्य ही कारण से आविर्भूत होकर विभक्त रूप में (कारण से भिन्न रूप में) प्रतीत होते हैं। यहाँ वाचस्पति मिश्र ने कछुए का उदाहरण दिया है। जैसे कछुए के शरीर में पहले से ही मौजूद अंग (जो उसके भीतर समेटे हुए हैं) बाद में अलग अलग निकले हुए दीखते हैं, वैसे ही विभिन्न कार्य कारण से विभक्त होकर अलग प्रतीत होते हैं। इस प्रकार विभिन्न कार्यों में अव्यक्त कारण की कल्पना होती है।[1]

(5) **अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य**—विश्व के कार्य पदार्थ संहार-काल में अविभक्त हो जाते हैं अर्थात् अपने कारण में लय होकर अव्यक्त बन जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि उनका अव्यक्त कारण है। यह कारण प्रकृति है।

चौथी युक्ति में यह कहा गया है कि उत्पत्ति के समय कार्य का कारण से आविर्भाव होता है अर्थात् पहले से कारण में मौजूद कार्य अभिव्यक्ति पाता है। पाँचवीं युक्ति में कहा गया है कि अपने विनाश के समय कार्य का कारण में तिरोभाव हो जाता है। इन दोनों युक्तियों का आधार सत्कार्यवाद का सिद्धान्त है। वाचस्पति मिश्र ने

---

1. युक्तिदीपिका ने उक्त तर्क की ज्यादा सरल व्याख्या दी है। यह कारण है, वह कार्य है, इस प्रकार का बुद्धि द्वारा विभाग कार्य-कारण-विभाग है। कारण और कार्य निर्वर्तक और निर्वर्त्य होते हैं, कारण से कार्य की निर्वृत्ति या सिद्धि होती है, इस प्रकार कार्य कारण का अनुमापक होता है।

अपनी टीका में सबसे पहले इन दो युक्तियों की व्याख्या की है और बाद में बाकी तीन युक्तियों की। सत्कार्यवाद का सिद्धान्त हम पहले ही समझ चुके हैं; वही ऊपर की युक्तियों का मूल आधार है। चौथी एवं पाँचवीं युक्तियों का भाव यह है कि पहले से मौजूद कार्य के विभाग (विभक्त रूप में आविर्भाव) और अविभाग (विनाश के समय कारण में तिरोभाव) से अव्यक्त कारण की सत्ता सिद्ध होती है। बाकी तीन युक्तियाँ त्रिगुणात्मक विश्व के आधार पर अव्यक्त प्रकृति को सिद्ध करती हैं।

एक होने पर भी प्रकृति त्रिगुणमयी है। प्रकृति की एकता उस रस्सी की एकता के समान है जो तीन डोरियों के मिलाने से बनती है। पाठकों को यह याद रखना चाहिए कि सांख्य के तत्त्व, रजस् और तमस् न्याय-वैशेषिक के अर्थ में गुण नहीं हैं। वैशेषिक की परिभाषा में तो उन्हें द्रव्य कहना अधिक उपयुक्त होगा। सांख्य के अनुयायी गुण एवं गुणी में भेद नहीं मानते। गुण और गुणवान् में तादात्म्य सम्बन्ध होता है। उत्तरकालीन सांख्य में इन तीनों में से प्रत्येक गुण को अनन्त कहा गया है। प्रकृति की असीमता गुणों की अनन्तता के कारण है। यह सिद्धान्त वैशेषिक के परमाणुवाद के समीप आ जाता है।

प्रो० हिरियन्ना ने सांख्य की प्रकृति की एक विशेषता की ओर संकेत किया है। प्रायः संसार के विचारकों ने विश्व के मूल कारण को देश और काल में रहनेवाला माना है। सांख्य की प्रकृति देश और काल की सीमा के बाहर है। या यों कहिए, देश और काल प्रकृति के ही दूरवर्ती परिणाम हैं। प्रकृति देश काल को जन्म देती है, वह स्वयं इनमें नहीं है।

सृष्टि के पहले प्रकृति के तीनों गुण साम्यावस्था में होते हैं। इस साम्य के भंग का ही नाम सृष्टि है। वैषम्य या विषमता जगत् के मूल में वर्तमान है। प्रकृति की साम्यावस्था का भंग कैसे होता है, यह सांख्य की समस्या है। वास्तव में सांख्य ने प्रलय और सृष्टि के सिद्धान्त को मानकर अपने को कठिनाई में डाल लिया है। सांख्य का कथन है कि पुरुष के सान्निध्य या सामीप्य मात्र से प्रकृति की साम्यावस्था भंग हो जाती है। परन्तु सांख्य का पुरुष तो निष्क्रिय है, वह प्रकृति को गति देने का हेतु कैसे हो सकता है? उत्तर में कहा जाता है कि जैसे चुम्बक पत्थर स्वयं गतिमान हुए बिना भी लोहे में गति पैदा कर देता है, वैसे ही पुरुष की सन्निधि मात्र से प्रकृति चंचल हो उठती है। पुरुष को मुक्त करने के लिए ही प्रकृति की सारी परिणमन क्रिया या विकास होता है। गाय के थनों से दूध अपने लिए नहीं बल्कि बछड़े के लिए प्रस्रवित होता है।

प्रकृति का परिणाम होने से जितने पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे सब अव्यक्त-रूप में प्रकृति में वर्तमान थे। सांख्य नैयायिकों के आरम्भवाद का समर्थक नहीं है। संसार में कोई वस्तु नयी उत्पन्न नहीं होती। कारण में जो छिपा है वही (कार्य में) उत्पत्ति में प्रकट हो जाता है। इस दृष्टि से सांख्य का परिणामवाद आधुनिक विकासवाद से भिन्न है, आधुनिक विकासवादी नवीन की उत्पत्ति और कुछ हद तक, प्रगति भी मानते हैं। सांख्य उन्नति और अवनति, सृष्टि और प्रलय दोनों का समर्थक है। जिस क्रम से प्रकृति सृष्टि करती है उससे उलटे क्रम में विश्व को अपने में लय भी कर लेती है।

प्रलयावस्था में भी प्रकृति निःस्पन्द और क्रियाहीन नहीं हो जाती, किन्तु उस समय उसमें सजातीय परिणाम होता है। सृष्टि-रचना विजातीय परिणाम का फल है। पानी से जो बर्फ बनता है वह सजातीय परिणाम है, पानी और बर्फ में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। इसके विपरीत विजातीय परिणाम का अर्थ है कारण वस्तु से ऐसे कार्य की उत्पत्ति जिसकी कुछ विशेषताएँ उसे कारण से भिन्न-जातीय बनाती हैं। इस प्रकार का कार्य कुछ बातों में कारण के समान (सरूप) और कुछ में कारण से भिन्न गुणों वाला (विरूप) होता है। प्रकृति से उद्भूत होनेवाले महत्, अहंकार आदि तत्त्व विजातीय परिणाम के उदाहरण हैं। जब प्रलय का प्रारम्भ होता है तब सत्त्व आदि गुणों में सजातीय परिणाम होने लगता है।

सांख्य के विकासवाद या परिणामवाद की एक विशेषता यह है कि यह विकास निरुद्देश्य नहीं होता, बल्कि पुरुष के मोक्ष-साधन के लिए होता है। प्रकृति पुरुष की प्रयोजन-सिद्धि के लिए क्यों प्रवृत्त होती है, उसके भोग और मोक्ष को क्यों उपलब्ध कराती है, इसका ठीक उत्तर सांख्य में नहीं मिलता। पुरुष की उद्देश्य-पूर्ति प्रकृति का स्वभाव है।

पुरुष की सिद्धि

सांख्य का दूसरा मूल तत्त्व पुरुष है। जैसा पहले कहा जा चुका है, पुरुष न कारण है, न कार्य; उसका परिणाम नहीं होता। वह न प्रकृति है, न विकृति। पुरुष के अस्तित्व की सिद्धि के लिए सांख्यकारिका पाँच युक्तियाँ देती हैं :—

> संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
> पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थप्रवृत्तेश्च ॥ 17 ॥

(1) **संघातपरार्थत्वात्**—जितनी चीजें संघात-रूप होती हैं, अर्थात् अनेक विशेषों के मिश्रण से बनती हैं, वे दूसरों के लिए होती हैं। खाट शयन करनेवाले के लिए

होती है, इसलिए खाट को देखकर शयन करनेवाले का अनुमान किया जा सकता है। सुख-दुःख-मोहात्मक होने के कारण त्रिगुणमयी प्रकृति और उसके समस्त कार्य संघात-रूप हैं, वे जिस दूसरे के लिए हैं वह पुरुष है। तो क्या पुरुष संघात-रूप नहीं है? नहीं; क्योंकि पुरुष तीनों गुणों से मुक्त है। पुरुष त्रिगुण पदार्थों से भिन्न है। सांख्य के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में संसार की रचना को देखकर ईश्वर की सत्ता का अनुमान किया जाता है। विश्व की विचित्र रचना उसके रचयिता की ओर संकेत करती है। यह युक्ति योरोपीय दर्शनों में भी मिलती है। प्रसिद्ध सन्देहवादी ह्यूम भी इसे ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण समझता था। किन्तु सांख्य ने इस युक्ति का दूसरे ही रूप में प्रयोग किया है। **'रचना' रचयिता की ओर नहीं, बल्कि अपना उपभोग करनेवाले की ओर इंगित करती है।** पलंग सोनेवाले की सिद्धि करता है, पलंग बनाने वाले नहीं।

(2) **त्रिगुणादिविपर्ययाद्**—तीनों गुणों से भिन्न होने से। इसकी एक और विशेषता भी बतलायी गयी है। भारतीय नाम तभी सार्थक है जब भारतीयों से भिन्न लोग भी मौजूद हों। यदि सब मनुष्यों का एक ही राष्ट्र होता तो विभिन्न राष्ट्रवाची शब्द व्यर्थ हो जाते। इसी प्रकार संसार के पदार्थों का त्रिगुणमय होना, गुणहीन पुरुष को सिद्ध करता है। पुरुष को त्रिगुणमय मानने से अनवस्था दोष भी आता है। यदि पुरुष संघात है तथा और किसी के लिए है तो उस और किसी को भी और किसी दूसरे के लिए मानना पड़ेगा एवं इस प्रकार 'दूसरे के लिए' का कभी अन्त न होगा।

(3) **अधिष्ठानात्**—सुख–दुःखमय जितने पदार्थ हैं उनका कोई न कोई अधिष्ठाता होता है, ऐसा देखा गया है। इसलिए बुद्धि, अहंकार आदि का कोई अधिष्ठाता होना चाहिए। अधिष्ठाता पुरुष के बिना अनुभूतियों में एकता या अलग व्यक्तित्व नहीं आ सकता।

(4) **भोक्तृभावात्**—सुख-दुःख आदि का कोई भोक्ता या भोगनेवाला होना चाहिए। यदि कोई भोक्ता न हो तो अनुकूल और प्रतिकूल अनुभव किसे हो? दूसरी व्याख्या यह भी है कि बुद्धि आदि सारे पदार्थ दृश्य हैं, उनके द्रष्टा का होना आवश्यक है। **दृश्य से द्रष्टा का अनुमान किया जाता है।** यहाँ भोक्ता होने का अर्थ है द्रष्टा होना। बुद्धि, अहंकार आदि दृश्य हैं, सुख-दुःख-मोहात्मक होने से, जैसे पृथिवी, इस अनुमान से बुद्धि आदि का दृश्य होना सिद्ध होता है।

(5) **कैवल्यार्थम् प्रवृत्ते :**—मनुष्य में कैवल्य के लिए प्रवृत्ति पायी जाती है, जो पुरुष के अस्तित्व का द्योतक है। बुद्धि, मन आदि सुख-दुःख इत्यादि गुणों से युक्त हैं, उनसे दुःख-निवृत्ति या कैवल्य की इच्छा नहीं हो सकती। इसलिए कैवल्य की इच्छा पुरुष का अस्तित्व सिद्ध करती है। कैवल्य जैसी ऊँची चीज की आकांक्षा हमारे व्यक्तित्व के मूल में किसी चेतन तत्त्व की उपस्थिति को सिद्ध करती है।

यहाँ पाठक इस बात को लक्षित करें कि पुरुष की सिद्धि के लिए उक्त सारे प्रमाण बुद्धि की उपाधि से युक्त पुरुष की सत्ता ही सिद्ध करते हैं। यदि पुरुष को बुद्धि या प्रकृति से सम्पृक्त न माना जाय तो उसका अनुमान नहीं हो सकता। **स्वयं सांख्य के अनुसार प्रकृति लिंग या अनुमापक नहीं है, बुद्धि प्रकृति का लिंग है, न कि पुरुष का। इसी प्रकार अहंकार आदि का अपने-अपने कारणों का अनुमान करा सकते हैं, पुरुष का नहीं।** अगली कारिका में पुरुष की अनेकता सिद्ध की गयी है। उसके लिए दी गयी युक्तियाँ भी उपाधि-संयुक्त पुरुष पर ही लागू होती हैं।

पुरुष अनेक हैं। प्रत्येक पुरुष का जन्म, मरण और इन्द्रियाँ अलग-अलग होती हैं। सबकी प्रवृत्तियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं, एक काम में सबकी प्रवृत्ति एक साथ नहीं होती। विभिन्न पुरुषों में तीन गुणों का विपर्यय पाया जाता है। किसी की प्रकृति सत्त्व-प्रधान है, किसी की रजोगुण और तमोगुण-प्रधान।

ग्यारहवीं कारिका में व्यक्त और अव्यक्त (प्रकृति) के कतिपय सामान्य धर्म बतलाये गये थे। वहीं यह भी बतलाया गया था कि पुरुष उन सब धर्मों की अपेक्षा से विपरीत है। तात्पर्य यह हुआ कि पुरुष त्रिगुण-हीन है, विवेकी (विविक्त), अविषय है, असामान्य (असाधारण, अनेकों द्वारा अग्राह्य), चेतन, और अप्रसवधर्मी अर्थात् अपरिणामी है। पुरुष की इन विशेषताओं से उसकी दूसरी विशेषताएँ अनुगत होती हैं। पुरुष चेतन है, इसलिए द्रष्टा है; वह विषय नहीं है, अपितु विषयभूत प्रकृति और उसके कार्य उसके सम्मुख दर्शित होते हैं—उसके देखने के लिए होते हैं, इसलिए पुरुष साक्षी है। चूँकि पुरुष स्वभावतः सत्त्व, रजस् आदि तीन गुणों से रहित है, इसलिए उसका कैवल्य स्वतः सिद्ध है। सुख-दुःख आदि में लिप्त न होने के कारण पुरुष मध्यस्थ अथवा उदासीन है। चूँकि पुरुष महत्तत्त्व आदि की तरह अन्य वस्तुओं से मिश्रित होकर क्रियाशील नहीं होता (क्योंकि पुरुष विविक्त और अपरिणामी है), इसलिए सिद्ध होता है कि वह अकर्ता है। (कारिका० 19)।

सांख्यतन्त्र में वास्तव में पुरुष असंग, उदासीन और अकर्ता है। वास्तविक कर्तृत्व बुद्धि में रहता है जो उपचारवश पुरुष में आरोपित कर दिया जाता है। यहाँ हमें सांख्य

की अभिमत लिंग-शरीर की अवधारणा समझ लेनी चाहिए। लिंग-शरीर या लिंग-देह अठारह तत्त्वों से निर्मित है, अर्थात् बुद्धि या महत्तत्त्व, अहंकार ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्राएँ। ग्यारह इन्द्रियों में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन (जो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों है) सम्मिलित हैं। सांख्य कारिका के अनुसार :

> तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम् ।
> गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ।।२०।।

पुरुष के संयोग से अचेतन लिंग-शरीर भी चेतना-युक्त जान पड़ता है। कर्तृत्व (कर्तापन) प्रकृति के गुणों में है, फिर भी उदासीन पुरुष कर्ता जैसा दिखायी पड़ता है। भगवद्गीता में कहा गया है कि सारे कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं, पर अहंकार से विमूढ़ चित्तवाला पुरुष 'मैं करता हूँ', ऐसा मान लेता है। **वास्तव में सांख्य सिद्धांत में बन्धन, मोक्ष और पुनर्जन्म पुरुष के नहीं होते।** विभिन्न पुरुषों से सम्पृक्त प्रकृति ही पुनर्जन्म, बन्धन और मोक्ष की भागिनी होती है। **बन्धन, मोक्ष और संसार पुरुष में आरोपित किये जाते हैं; वे पुरुष में दीखते हैं, पर वास्तव में वहाँ होते नहीं।** जैसे सेवकों (सेना आदि) का जय-पराजय स्वामी (राजा) में उपचरित होता है, वैसे ही भोग और अपवर्ग प्रकृतिगत होते हुए भी अविवेक (विवेकाग्रह) के कारण पुरुष से सम्बद्ध किये जाते हैं।

प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध

द्वैतवादी दर्शन की सबसे बड़ी कठिनाई स्वीकृत दो तत्त्वों के बीच सम्बन्ध का निरूपण है। सांख्य दर्शन भी इस कठिनाई से मुक्त नहीं है। जैसा कि कहा जा चुका है, सांख्य दर्शन किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर को नहीं मानता। पुरुष की सन्निधि मात्र से किसी तरह प्रकृति की साम्यावस्था का भंग और उससे परिणाम द्वारा तत्त्वों की सृष्टि होती है। इस प्रकार पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध लँगड़े-अन्धे के सम्बन्ध के समान है। निष्क्रिय होने से पुरुष लँगड़ा या गतिहीन है, उसी प्रकार प्रकृति अचेतन या अन्धी है। दोनों के मिल जाने से सृष्टि-कर्म होता है। प्रकृति का उद्देश्य है पुरुष द्वारा देखा जाना, पुरुष का उद्देश्य है कैवल्य। परस्पर दोनों एक दूसरे का उद्देश्य पूरा करते हैं (का० 21)। जैसे ज्ञान या चेतनाशून्य दूध बछड़े के पोषण के लिए गाय के शरीर से प्रस्रवित होता है, वैसे ही ज्ञानशून्य (अचेतन) प्रकृति की विकृति (परिणमन क्रिया) पुरुष की मुक्ति के लिए है (कारिका 57)। इस प्रश्न के उत्तर में कि निष्क्रिय पुरुष प्रकृति के परिणमित होने या सृष्टि करने की प्रेरणा कैसे दे सकता

है, कहा जाता है कि जैसे चुम्बक पत्थर (अयस्कान्त मणि) स्वयं गतिमान हुए बिना ही लोहे में गति पैदा कर देती है, वैसे ही पुरुष की सन्निधि मात्र से प्रकृति क्रियाशील हो जाती है। इस प्रकार सांख्य ने प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध बताने के लिए आलंकारिक भाषा का सहारा लिया जाता है।

पुरुष का विशेष सम्पर्क बुद्धि से रहता है। लेकिन इस सम्पर्क या सम्बन्ध का स्वरूप स्पष्ट करना कठिन है। ग्यारह इन्द्रियाँ, अहंकार और बुद्धि मिलकर सांख्य-सम्मत तेरह कारण (विषय-ज्ञान के साधन) बनती हैं। इनमें मन और अहंकार सहित बुद्धि, जो समस्त विषयों का अवगाहन करती है, या ज्ञान करती है, मुख्य है, बाकी इन्द्रियाँ गौण या अप्रधान हैं (का० 35)। बुद्धि, अहंकार और मन की अपेक्षा से भी प्रधान है। बुद्धि सबसे सूक्ष्म है और इसलिए पुरुष की छाया उसके चैतन्य के आवेश को ग्रहण करती है। जैसे स्फटिक पत्थर समीप रखे हुए जपा कुसुम के रंग को ग्रहण कर लेता है, वैसे ही बुद्धि पुरुष-चैतन्य की छाया ग्रहण करके पुरुष जैसी बन जाती है (पुरुष-स्वरूपा)। ऐसी बुद्धि पुरुष के भोग को उत्पन्न या दर्शित करती है, पुरुष के भोग को साधती है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि के माध्यम से पुरुष त्रिगुणात्मक जगत् से भोक्ता या साक्षी के रूप में सम्बद्ध होता है, वैसे ही जैसे राजा सेनाध्यक्षों आदि के माध्यम से विजेता या भोक्ता होता है। बाद में बुद्धि ही प्रकृति और पुरुष के भेद को पुरुष में साधती है। एक प्रकार से पुरुष और प्रकृति में भिन्नता हमेशा से सिद्ध है। दूसरी दृष्टि से कहा जाता है कि बुद्धि इस अन्तर को जानती या दर्शित करती है। जैसा पहले कहा जा चुका है, पुरुष के बन्धन और मोक्ष दोनों ही अवास्तविक अर्थात् अविवेक-रूप या अविवेक द्वारा कल्पित हैं, इस अविवेक को हटाना ही बुद्धि का कार्य है। इस कार्य द्वारा बुद्धि पुरुष को उपकृत या कृतार्थ करती जान पड़ती है।

बुद्धि और पुरुष के सम्बन्ध को किस प्रकार निरूपित किया जाय, यह सांख्य की समस्या है। पुरुष और लिंग-शरीर अथवा पुरुष और बुद्धि का सम्बन्ध देश-काल में घटित होनेवाला संयोग नहीं है। बीसवीं कारिका में संयोग शब्द का प्रयोग हुआ है। वाचस्पति मिश्र **संयोग** का अर्थ **सन्निधान** (समीपता) करते हैं। योगभाष्य (2/23) पर टीका करते हुए वाचस्पति मिश्र ने संयोग का अर्थ **योग्यता** किया है। तात्पर्य यह कि बुद्धि और पुरुष के बीच और प्रकृति एवं पुरुष के बीच भी एक प्रकार का पूर्वस्थापित सामंजस्य-सा पाया जाता है, जिसके कारण वे एक दूसरे का उपकार करते हैं। योग दर्शन में पुरुष और बुद्धि के संयोग का कारण अविद्या बतलायी गयी है और अविद्या को विपर्यय ज्ञान की वासना से समीकृत किया गया है। पाठक देखेंगे कि यहाँ सांख्य की स्थिति में एक तरह की दुविधा पायी जाती है। एक ओर वह

पुरुष को असंग मानता है और दूसरी ओर पुरुष और प्रकृति एवं पुरुष और बुद्धि के बीच सम्बन्ध देखना चाहता है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि योग की अविद्या कोई अलग तत्त्व नहीं है। वह बुद्धि की ही वृत्ति या धर्म है। सांख्य-योग की दुविधापूर्ण स्थिति से बचने के लिए अद्वैत वेदान्त ने माया, अविद्या एवं अध्यास के सम्प्रत्ययों का सहारा लिया। उससे यह स्पष्ट घोषित किया कि आत्मा का बन्धन उसमें अनात्मा के अध्यास के कारण है, स्वयं अध्यास अविद्याजन्य है। इस भेद के अतिरिक्त सांख्य और वेदान्त दोनों ही मानते हैं कि पुरुष या आत्मा के बन्धन और मोक्ष वास्तविक नहीं है।

कर्म-सिद्धान्त, पुनर्जन्म और मोक्ष

अन्य आस्तिक दर्शनों की भाँति सांख्य भी कर्म-सिद्धान्त, पुनर्जन्म और मोक्ष को मानता है, किन्तु इन सबमें सांख्य की अपनी मौलिक दृष्टि है। सांख्य अच्छे बुरे कर्मों का सम्बन्ध सत्त्व, रजस् आदि गुणों से जोड़ता है। भगवद्गीता ने सात्त्विक, राजस और तामस आहार एवं यज्ञ, दान आदि कर्म बतलाये गये हैं। ये सारे वर्णन सांख्य का प्रभाव दरशाते हैं, इसी प्रकार पुनर्जन्म की प्रक्रिया पर सांख्य ने यह नवीन विचार दिया कि एक स्थूल शरीर के दूसरे स्थूल शरीर में जानेवाली आत्मा नहीं, अपितु लिंग-देह या लिंग-शरीर है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सांख्य के तात्त्विक मतानुसार पुरुष के बन्धन और मोक्ष वास्तविक नहीं हैं, वे एक प्रकार से पुरुष में आरोपित हैं। मेरा प्रकृति से वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, मैं वस्तुतः बद्ध नहीं हूँ, यह तत्त्व-ज्ञान ही मोक्ष है। एक प्रकार से यह तत्त्व-ज्ञान भी बुद्धि की वृत्ति है, किन्तु यह बुद्धि-वृत्ति बुद्धि का अन्तिम व्यापार है जिसे अनुष्ठित करके बुद्धि और उसके साथ प्रकृति का सारा पसारा अपने को पुरुष से अलग कर देता है। वैसे, सांख्य मानता है कि प्रत्येक पुरुष के साथ बुद्धि, अहंकार, मन आदि से गठित लिंग-शरीर अनादि काल से संबंधित है। यह संबंध अविवेक-मूलक है और विवेक से विघटित (समाप्त) हो जाता है।

देखने में लगता है कि जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष अत्यन्त भिन्न हैं, किन्तु सांख्य-योग के मत में सत्त्वगुण-प्रधान बुद्धि पुरुष से, प्रकाश गुण की अधिकता के कारण उतनी भिन्न नहीं रह जाती। दोनों में स्वच्छता-मूलक समानता हो जाती है जिसके कारण वे एक दूसरे को प्रतिबिम्बित करते हैं। सत्त्वगुण-प्रधान बुद्धि में ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि गुणों की प्रतिष्ठा होती है। अणिमा आदि सिद्धियाँ भी बुद्धि का धर्म हैं। विवेक ज्ञान बुद्धि में ही उत्पन्न होता है। 'योगसूत्र' में कहा गया है,

सत्त्व पुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्। (3/55)।

जब रजस् और तमस् के हटने से बुद्धि-सत्त्व शुद्धता में पुरुष के समान हो जाता है तब कैवल्य होता है। इस प्रकार की शुद्धि बुद्धि में सत्त्व और पुरुष की अन्यता (खिन्नता) का प्रत्यय मात्र रहता है और सारे क्लेश दग्ध (जले हुए) बीजों जैसे बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार की बुद्धि केवल विवेक-ख्याति की वाहक होती है। यहाँ सांख्य-योग प्रकृति और पुरुष के द्वैत को काफी मृदुल बना देता है। मुक्त होने पर पुरुष के लिंग-शरीर का, जो अनादि काल से उससे सम्बद्ध रहा है, विनाश हो जाता है।

समीक्षात्मक दृष्टि

भारतीय दर्शन में सांख्य का विशिष्ट स्थान है। उसकी विचार-पद्धति में निहित प्रकृति और उसके परिणाम द्वारा सृष्टि की धारणाएँ नितान्त मौलिक और क्रान्तिकारी हैं। सांख्य मत में अन्तःकरण, बुद्धि या चित्त प्रकृति के ही परिणाम हैं; एक प्रकार से हमारी तथाकथित मानसिक क्रियाएँ मुख्यतया भौतिक तत्त्व हैं। यह सिद्धान्त आधुनिक फिजियालॉजिकल साइकॉलॉजी (शरीरक्रिया मनोविज्ञान) के बहुत समीप है।

सांख्य के समीक्षकों में अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठापक शंकराचार्य का स्थान विशिष्ट है। उन्होंने सांख्य को अपना प्रधान प्रतिपक्षी माना है; इसका मतलब यह है कि वे सांख्य को विशेष महत्त्व देते हैं। इस महत्त्व का कारण सांख्य का मोक्षसिद्धान्त है। सांख्य की भाँति अद्वैत वेदान्त भी ज्ञान से मोक्ष मानता है। ज्ञान बन्धन को काट सकता है, क्योंकि बन्धन वास्तविक नहीं है। ज्ञान किसी वस्तु का विनाश नहीं कर सकता, वह वस्तु का प्रकाशक होता है। अद्वैत वेदान्त बन्ध या बन्धन को अविद्या-कृत मानता है। चूँकि अविद्या ज्ञान द्वारा हटायी या नष्ट की जा सकती है, इसलिए ज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् कारण है। यहाँ शंकर को सांख्य से मुख्य शिकायत यह है कि वह प्रकृति को नित्य मानता है। जब कि शंकर की माया (जो विश्व का कारण है) सदसद्विलक्षण, अनिर्वचनीय अथवा मिथ्या है। सांख्य के अनुसार पुरुष के बन्धन का कारण उसका प्रकृति या बुद्धि से तादात्म्य अनुभव करना है, बुद्धिगत सुख-दुःख आदि की वृत्तियों का पुरुष में आरोप ही बन्धन है। किन्तु यदि प्रकृति नित्य है तो बन्धन की आशंका सदैव बनी रहेगी।

चूँकि प्राचीन भारतीय मोक्षवाद को दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग मानते थे, इसलिए उन्होंने सांख्य और अद्वैत वेदान्त को विशेष महत्त्व दिया।

शंकर (और 'ब्रह्मसूत्र') का दूसरा आक्षेप प्रकृति की जगत्कारणता के विरुद्ध है। इस आक्षेप के दो रूप हैं। प्रथमतः प्रकृति, अचेतन होने के कारण, जीवों के शरीर आदि में पायी जानेवाली रचना (डिजाइन) की व्याख्या नहीं कर सकती। जीव-शरीरों की रचना ऐसी है कि वह उनके अनेक प्रयोजनों की पूर्ति करती है, इस रचना का श्रेय जड़ प्रकृतिको नहीं दिया जा सकता। वह रचना एक बुद्धि-सम्पन्न चेतन कर्ता की ओर इंगित करती है।

दूसरे-सांख्य का यह कहना कि प्रकृति पुरुष के भोग और मुक्ति के लिए प्रवृत्त होती है, समझ में आने योग्य नहीं है। सांख्य का यह प्रयोजनवाद उसके दर्शन का सबसे कमजोर अंश है। जिस प्रकार बछड़े की शरीर-वृद्धि के लिए अचेतन दूध गाय के थनों से प्रस्रवित होने लगता है, उसी प्रकार अचेतन प्रकृति अज्ञात भाव से पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है, यह दृष्टान्त युक्ति का काम नहीं दे सकता और सांख्य के प्रयोजनवाद में विश्वास उत्पन्न कराने में नितान्त असमर्थ है।

सांख्य निद्धान्त का तीसरा कमजोर अंश उसकी प्रकृति और पुरुष, अथवा बुद्धि और पुरुष के सम्बन्ध की धारणा है। यहाँ भी सांख्य उपमाओं या दृष्टान्तों का सहारा लेता है—स्वच्छ स्फटिक अपने समीप के जपाकुसुम के रंग ग्रहण करता जान पड़ता है, इसी प्रकार बुद्धि पुरुष के चैतन्य से उज्ज्वलित होकर चेतन जैसा व्यवहार करती है। यह स्थिति तर्क-बुद्धि द्वारा समझ में आने योग्य नहीं है। वैसे ही, सांख्य का सिद्धान्त कि पुरुष की सन्निधि मात्र से प्रकृति क्रियाशील हो जाती है और सृष्टि करने लगती है, स्वीकार के योग्य नहीं है। किन्तु यह आक्षेप कम महत्त्वपूर्ण है। 'सांख्य के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह सृष्टि और प्रलय के सिद्धान्त को स्वीकार करे।' चूंकि सृष्टि और प्रलय की मान्यताएँ उन दिनों प्रचलित थीं, इसलिए सांख्य के आचार्यों को उन्हें मान लेना स्वाभाविक जान पड़ा; अन्यथा जैनों की भाँति सांख्य भी सम्पूर्ण प्रलय और सृष्टि के मन्तव्यों को छोड़ सकता था। इस दशा में उसे मूल प्रकृति की साम्यावस्था की कल्पना भी नहीं करनी पड़ती।

अध्याय 12

योग दर्शन

विषय प्रवेश

भारतीय दर्शन मूल रूप से दो वर्गों में विभाजित हैं, आस्तिक दर्शन तथा नास्तिक दर्शन। वेद के दृष्टि-बिन्दु से जीवन दर्शन की व्याख्या करनेवाले दर्शन आस्तिक कहे जाते हैं तथा तदितर दर्शनों की नास्तिक संज्ञा पड़ी।[1] योग शास्त्र आस्तिक दर्शनों के अन्तर्गत है। वैदिक वाङ्मय में योग के तत्त्व बिखरे पड़े हैं। जिस योग शास्त्र का हम आगे प्रतिपादन करेंगे उसे व्यवस्थित, दार्शनिक रूप प्रदान करने का श्रेय महर्षि पतञ्जलि को है।

व्याकरण शास्त्र में 'युजिर् योगे' तथा 'युज् समाधौ', ऐसी दो धातुएँ मिलती हैं। यहाँ 'युज् समाधौ' से निष्पन्न योग शब्द गृहीत है। पतञ्जलि द्वारा उपदिष्ट वृत्तिनिरोधवाली योग-साधना वियोग-प्रधान होने से यहाँ संयोगात्मक योग को नहीं लिया गया है।

योग का साहित्य

पातञ्जल योग-सूत्र पर दो प्रकार की टीकाएँ लिखी गयीं; कुछ व्याख्या-प्रधान हैं और कुछ वृत्ति-प्रधान। व्याख्या-प्रधान टीकाएँ वे हैं जिनमें प्रसंगानुसार पर-मत के खण्डन के साथ उदाहरण-सहित, सूत्रों के गूढ़ आशय को युक्तियों सहित हृदयंगम कराया गया है। व्याख्याकार सूत्रार्थ की सीमा में बँधा नहीं होता। वह पूर्वापर सूत्रों से सङ्गति बैठाते हुए सूत्रनिष्ठ सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार की विशद व्याख्यान-शैली से यह लाभ होता है कि जिज्ञासु को शास्त्र के पद-पदार्थ सरलता से स्फुरित होते हैं और वह सिद्धान्तों को आत्मसात् करने में समर्थ होता है। दूसरे प्रकार के वृत्ति-प्रधान टीका-ग्रंथों में वृत्तिकार सूत्रगत प्रत्येक शब्द

---

1. नास्तिको वेदनिन्दकः।—मनुस्मृति, 2/11

के अर्थ को स्पष्ट करने में ही अपनी कृतकृत्यता समझता है। वह लम्बी-चौड़ी योजना बनाकर परमत के खण्डन में अभिरुचि नहीं रखता। उसका लक्ष्य शास्त्र की गुत्थियों को सुलझाना नहीं रहता। इस प्रकार की अति संक्षिप्त टीकाओं से जिज्ञासु शास्त्र के मूल सिद्धान्तों मात्र को सुगमता से पकड़ (समझ) पाता है। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि सूत्र के व्याख्यान के लिए दोनों प्रकार की प्रणालियाँ उपादेय एवं संग्राह्य हैं।

योगसूत्र पर सर्वप्रथम अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण 'व्यासभाष्य' लिखा गया। यह अति विस्तृत एवं दुरूह ग्रन्थ है। महर्षि पतञ्जलि के अति संक्षिप्त सूत्रों में छिपी हुई उनकी व्यापक दृष्टि को परख पाने का वैदुष्य आचार्य व्यासदेव में था। यदि इस चतुर पारखी को योगशास्त्र का प्रमुख व्याख्याता कहें तो अत्युक्ति न होगी। इनकी पैनी बुद्धि ने योग के प्रत्येक सिद्धान्त को ऊहापोह के साथ प्रस्तुत किया है। आगे चलकर आचार्य वाचस्पति तथा विज्ञानभिक्षु सरीखे विद्वानों ने 'व्यासभाष्य' पर विस्तृत व्याख्याएँ लिखीं। 'व्यासभाष्य' पर आचार्य वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्व-वैशारदी' नामक टीका मिलती है। परवर्ती विद्वानों में 'तत्त्ववैशारदी' ने उतना ही समादर प्राप्त किया जितना 'व्यासभाष्य' ने। वाचस्पति मिश्र का एकमात्र उद्देश्य महर्षि व्यास के योग-सम्बन्धी दार्शनिक मन्तव्यों की प्रामाणिक व्याख्या करना था। उन्होंने 'तत्त्ववैशारदी' में कहीं भी व्यासदेव के विरुद्ध व्याख्यान नहीं किया है। इसी लिए 'तत्त्ववैशारदी' व्यासभाष्य के अधिक निकट समझी जाती है। 'व्यासभाष्य' पर दूसरी व्याख्या आचार्य विज्ञानभिक्षु की उपलब्ध है। इनके 'योगवार्तिक' में जहाँ एक ओर भाष्यार्थ का स्पष्टीकरण दृष्टिगोचर होता है, वहाँ दूसरी ओर वाचस्पति मिश्र कृत व्याख्यान की यत्र-तत्र अप्रौढ़ता, अप्रामाणिकता अर्थात् भाष्य-विरुद्धता की चर्चा भी मिलती है। इनका 'योगवार्तिक' आलोचना-प्रधान ग्रन्थ है, विशुद्ध व्याख्या-प्रधान ग्रन्थ नहीं। 'योगवार्तिक' में सांख्य-योग-वेदान्त दर्शनों के समन्वय का प्रयत्न भी है। इस समन्वयात्मक कोण से उन्होंने भाष्य की पंक्तियों का सामञ्जस्य स्थापित किया है। इन दोनों टीकाओं का निष्पक्ष भाव से पर्यवेक्षण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य वाचस्पति मिश्र की दार्शनिक बुद्धि कहीं भी व्यासदेव के भाष्य को समझने में चूकी नहीं है। वैसे, व्यक्तिगत बुद्धि-वैभव से दोनों टीकाओं में अपनी अपनी विशेषता परिलक्षित होती है। 'तत्त्ववैशारदी' पर राघवानन्द ने 'पातञ्जल-रहस्य' नाम की टीका लिखी। इन्होंने आचार्य वाचस्पति मिश्र के मन्तव्य को सुस्पष्ट करने का भरसक प्रयास किया है। और 'तत्त्ववैशारदी' की पंक्तियों का ठीक ठीक अर्थ लगाया है। अपने उद्देश्य को पूर्ण करने में ये सफल भी हुए हैं। इन तीन व्याख्या-ग्रंथों

के अतिरिक्त 'व्यासभाष्य' पर हरिहरानन्द आरण्यक की 'भास्वती' टीका है। अत्यन्त प्रवाहपूर्ण तथा सरल भाषा में व्यासभाष्य की पंक्तियों का स्पष्टीकरण 'भास्वती' टीका में मिलता है। यद्यपि ये आचार्य मिश्र एवं भिक्षु के बाद के व्याख्याकार हैं, तथापि भिक्षु तथा मिश्र का नामोल्लेख करते हुए इन्होंने अपने ग्रन्थ को खण्डन-मण्डन-परक बनने नहीं दिया है। फिर भी वे मौन रूप से मिश्र की विचार-शैली से अधिक प्रभावित दिखलायी पड़ते हैं। इस प्रकार ऊपर वर्णित व्यासभाष्य तथा तदाधारित चार ग्रन्थों को आधुनिक इतिहासकारों ने व्याख्या-प्रधान टीकाएँ कहा है।

दूसरी तरफ पातञ्जल योग पर सूत्रार्थ-प्रधान वृत्ति-ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। आज का पाठकवर्ग केवल भोजदेव के 'राजमार्तण्ड', रामानन्द यति की 'मणिप्रभा' तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती के 'योगसुधाकर' के नामों से परिचित है। आचार्य नारायणतीर्थ सरीखे प्रकाण्ड विद्वान् योग साहित्य में उचित स्थान न पा सके तथा उनके द्वारा प्रतिपादित योग के नवीन सिद्धान्तों से पाठकगण अब तक लाभान्वित नहीं हो सके। इन विद्वानों ने वामपंथी (उलटी-सीधी) विचारधारा को प्रवाहित किया हो, ऐसी बात भी नहीं है। उन्होंने पूर्वाचार्यों के महत्त्वपूर्ण सन्देश को नवीनता का जामा पहनाकर मुखरित किया है; योग-परम्परा की रक्षा के साथ-साथ वे नवीन सिद्धान्तों की स्थापना करने में सफल हुए हैं। आचार्य नारायणतीर्थ का यह वैदुष्य उनकी 'योगसिद्धान्तचन्द्रिका' में विकसित हुआ है। इनका योग का दूसरा ग्रन्थ 'सूत्रार्थबोधिनी' है। 'योगसिद्धान्तचन्द्रिका' की अपेक्षा यह अत्यन्त लघु है। आचार्य नागेश भट्ट ने योगसूत्र पर लघु एवं बृहत् दो टीकाएँ लिखीं। इनकी 'बृहद्योगसूत्रवृत्ति' 'योगवार्तिक' पर आधारित है और 'लघुयोगसूत्रवृत्ति' पर 'तत्त्ववैशारदी' का प्रभाव परिलक्षित होता है। इतना सब होते हुए भी विषयप्रतिपादन की शैली उनकी निजी है। भावागणेशकृत 'योगदीपिका', 'भावागणेशीय योगसूत्रवृत्ति' के नाम से प्रसिद्ध है। भावागणेश विज्ञानभिक्षु के शिष्य थे। योगसूत्र पर अनन्तदेव पण्डित की 'पदचन्द्रिका' नाम की वृत्ति भी मिलती है। योग की टीकाओं में 'पदचन्द्रिका' लघुतम है। इसमें कुछ नवीन सूत्र उपलब्ध होते हैं, जो अन्य टीकाओं में नहीं हैं। योग साहित्य की सेवा करनेवालों में आचार्य बलदेव मिश्र का नाम भी अविस्मरणीय है। इनका 'योगदीपिका' नामक ग्रन्थ है। ये वाचस्पति मिश्र के अनुयायी प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त प्रकाशित टीकाओं के अतिरिक्त योग की कुछ अप्रकाशित टीकाएँ भी प्राप्त हुई हैं; जैसे, महामहोपाध्याय गोपाल मिश्र का 'पातञ्जलसूत्रविवरण', आचार्य सुरेन्द्रतीर्थ की 'कारिकामयी' टीका, षिमानन्द की 'योगसूत्रवृत्ति' तथा भवदेव मिश्र

की योगसूत्र की व्याख्या आदि । योग की इन अमुद्रित टीकाओं पर अनुसन्धान किया जा रहा है । अभी तक पातञ्जल योग पर इतना ही साहित्य उपलब्ध हो सका है ।

योग के आचार्यों का काल-निर्णय

इस छोटे से अध्याय में योग के व्याख्याकारों के काल को सप्रमाण प्रस्तुत करना असम्भव है । यह इतिहास का विषय है । यहाँ मैं टीकाकारों के पौर्वापर्य का निदर्शन मात्र कर रही हूँ । महर्षि पतञ्जलि का सम्भावित समय दूसरी शती ई० और व्यास-भाष्य का चौथी शती माना जाता है ।[1] वाचस्पति मिश्र का नवीं शताब्दी, भोजदेव का 1019 ई०, रामानन्द यति, विज्ञानभिक्षु और भावागणेश का सोलहवीं शताब्दी, नागेश भट्ट का 1660 ई०, नारायणतीर्थ का सत्रहवीं शताब्दी, सदाशिवेन्द्र सरस्वती का अठारहवीं शताब्दी, हरिहरानन्द आरण्यक का उन्नीसवीं शताब्दी का अन्तिम तथा बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ, अनन्तदेव पण्डित का बीसवीं शताब्दी तथा बलदेव मिश्र का काल भी बीसवीं शताब्दी माना जाता है । योग के अन्य आचार्यों का काल अभी निश्चित नहीं हो पाया है । योग के आचार्यों के काल का निदर्शन मात्र इसलिए किया गया कि योग के सिद्धान्तों का अध्ययन करते हुए पाठकों को यह जानना सुकर हो जाय कि किसका किसपर प्रभाव पड़ा है ।

सांख्य और योग का सम्बन्ध

यह विचारणीय है कि न्याय-वैशेषिक की भाँति 'समान तन्त्र' के निर्वाहक सांख्य एवं योग का कैसा संबंध है । सांख्य एवं योग, दोनों समान विद्या के प्रतिपादक शास्त्र हैं । सांख्य अध्यात्म विद्या का सैद्धान्तिक रूप है, योग उसका व्यावहारिक रूप । सांख्य दर्शन में यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ कि 'विवेक-ज्ञान' से कैवल्य प्राप्त होता है । योग दर्शन 'विवेक-ज्ञान' किस प्रकार प्राप्त हो सकता है, इस व्यावहारिक पक्ष का व्याख्यान करता है । दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । दोनों दर्शनों की ज्ञान-मीमांसा, कर्म-मीमांसा, प्रमाण मीमांसा, सृष्टि-मीमांसा, तत्त्व-मीमांसा, संसार-मीमांसा तथा कैवल्य-मीमांसा तुल्य हैं ।

बहुत से विद्वान् 'ईश्वर' को लेकर योग को सांख्य से पृथक् बतलाते हैं । उनका वक्तव्य है कि सांख्य निरीश्वरवादी और योग ईश्वरवादी है । लेकिन यह धारणा निर्मूल प्रतीत होती है । योग का 'ईश्वर' सांख्य के 'पुरुष' तत्त्व से भिन्न नहीं है अपितु पुरुषों

1. यह मत श्री राधाकृष्णन् का है (दे० इण्डियन फिलॉसफी, भाग 2, 1931, पृ०-341-42)

में सर्वोत्कृष्ट अर्थात् पुरुष-विशेष है। जिस प्रकार नील घट घटत्व-जाति-विशिष्ट अनंत घटों से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार पुरुष-विशेष (ईश्वर) पुरुषत्व-जाति-विशिष्ट अनंत पुरुषों से भिन्न नहीं हैं। अर्थात् जाति की तुल्यता से पुरुष-विशेष एवं पुरुष एक ही हैं। दूसरी बात यह ध्यातव्य है कि योग दर्शन भी, सांख्य की भाँति, ईश्वर को सृष्टि का कर्ता या कारण नहीं मानता। योग दर्शन में ईश्वर-प्रणिधान को एकाग्रता-प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है।

योग

चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। चित्त त्रिगुणात्मक है, क्योंकि उसकी कारणभूत प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। सत्त्व, रजस् एवं तमस्, ये तीन गुण हैं। चित्त के विषयाकार परिणाम को वृत्ति कहते हैं। चित्त एक महासमुद्र है जिसमें वृत्ति-रूपी उद्दाम तरंगें उठती एवं लीन होती रहती हैं। चित्त की पाँच वृत्तियाँ हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति। वृत्ति-विरोध का अर्थ वृत्तियों का अभाव अर्थात् नाश करना नहीं है, क्योंकि योग सत्कार्यवादी है। सत्कार्यवाद के अनुसार किसी भी सत् पदार्थ का नाश नहीं होता। 'निरोध' शब्द अभिभव एवं तिरोभाव के अर्थ में आया है। चित्त की पाँच भूमियाँ हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध। चित्त की इन पाँचों भूमियों में वृत्तिनिरोध देखा जाता है। चित्त एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय को ग्रहण करता है। इस प्रकार पहलेवाले विषय की वृत्ति का रुकना निरोध है। लेकिन योग शास्त्र में इस प्रकार से वृत्ति-निरोध को मान्यता नहीं मिली है। चित्त की पहली तीन भूमियाँ योग के लिए उपयोगी नहीं हैं। एकाग्र एवं निरुद्ध भूमि में होनेवाला वृत्तिनिरोध ही योग कहा जाता है। चित्त की क्षिप्त आदि तीन अवस्थाएँ प्रयत्न-निरपेक्ष अर्थात् स्वाभाविक हैं। चित्त को क्षिप्त आदि भूमियों से ऊपर उठाकर एकाग्र एवं निरुद्ध भूमियों से प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयत्न अपेक्षित है। वृत्ति-निरो; धात्मक योग दो प्रकार का है : (1) सम्प्रज्ञात और (2) असम्प्रज्ञात।

सम्प्रज्ञात योग

जब तक पुरुष शरीर से संबन्धित है तब तक चित्त की वृत्तियाँ या उनके संस्कार बने ही रहते हैं। असम्प्रज्ञात योग या समाधि चित्त की संस्कार-शेष अवस्था है; उस अवस्था में चित्त की वृत्तियाँ उद्बुद्ध या अनुभव का विषय नहीं होतीं। किन्तु सम्प्रज्ञात योग में सूक्ष्म विषयों से सम्बन्धित वृत्तियाँ रहती हैं। सम्प्रज्ञात योग के चार भेद बताये गये हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत। किसी

भी योग की अवस्था में संशय और विपर्यय से रहित ध्येय-विषयक प्रज्ञा या ज्ञान होता है। भोजवृत्ति में समाधि का अर्थ भावना-विशेष किया गया है, यह परिभाषा सम्प्रज्ञात योग पर लागू होती है। सवितर्क आदि योग के भेदों का कारण भाव्य (भावना का विषय) या ध्येय (ध्यान का विषय) की भिन्नता है। सवितर्क समाधि में महाभूत आदि स्थूल विषय भाव्य होते हैं, इन विषयों का ज्ञान शब्दार्थ के उल्लेख से संयुक्त रहता है, अतएव वहाँ पूर्वापर का अनुसन्धान भी रहता है। उसी आलम्बन के रहते हुए जब शब्दों का उल्लेख तथा पूर्वापर का अनुसन्धान नहीं रहता तब निर्वितर्क समाधि होती है। निर्वितर्क योग में अर्थ का साक्षात्कार शब्दों के उल्लेख के बिना होता है। इसी प्रकार सविचार योग में, जिसका विषय तन्मात्राएँ और अन्तःकरण होते हैं, जब भाव्य विषय को देश-काल-धर्म आदि से संबद्ध करके देखा जाता है तब सविचार योग या समाधि होती है। उसी विषय को जब देश-काल और धर्म के अवच्छेद से अलग रखकर भावित किया जाता है तब निर्विचार योग सिद्ध होता है। उक्त दोनों (वितर्कानुगत और विचारानुगत) प्रकार की समाधि को **ग्राह्य समापत्ति** कहते हैं। यहाँ उनमें भावना का विषय द्रष्टा या ज्ञाता के बाहर होता है। जिस योग या समाधि में रजस् और तमस् से अनुबिद्ध अन्तःकरण का सत्त्व (सत्त्वगुणी अंश) भावना का विषय होता है, उसे सानन्द (आनन्दानुगत) समाधि कहते हैं। इस समाधि में भाव्य के रूप में सुख एवं प्रकाशमय सत्त्व मुख्य होता है और चिति शक्ति गौण। चूँकि चित्त का सत्त्व अंश सुखमय है इसलिए आनन्दानुगत योग में सुख का अनुभव प्रधान होता है। इस योग में प्रधान-पुरुष-रूप तत्त्व भावना का विषय नहीं होता, इसलिए इसे **ग्रहण समापत्ति** कहते हैं। चौथा सम्प्रज्ञात योग सास्मिता समाधि कहलाती है। इसमें रजोगुण और तमोगुण से अनभिभूत शुद्ध सत्त्व (चित्त का सत्त्व अंश) का आलम्बन करके भावना की जाती है, किन्तु यहाँ ग्राह्य (भावना का विषय) सत्त्व दब जाता है और चिति शक्ति का उद्रेक रहता है, इसलिए इसे अस्मितानुगत (सास्मित) योग कहते हैं।

ऊपर हमने सम्प्रज्ञात योग के चार भेदों की परिभाषाएँ भोजवृत्ति के अनुसार दी हैं। इस स्थल में व्यासभाष्य के दो प्रमुख व्याख्याकारों, वाचस्पति मिश्र और विज्ञानभिक्षु, के बीच मतभेद भी है। यहाँ इस सबका उल्लेख आवश्यक नहीं। उल्लेख-योग्य बात केवल यह है कि निर्वितर्क योग की अवस्था में योगी को पदार्थों का जो साक्षात्कार होता है वह श्रुति, अनुमान आदि का सापेक्ष नहीं होता। इसके विपरीत, व्यासभाष्य के अनुसार, श्रुत ज्ञान तथा अनुमान का आधार योगी का प्रत्यक्ष ही है। निर्वितर्क योग में होनेवाला प्रत्यक्ष निर्विकल्पक कोटि का होता है, साथ ही वह चक्षु आदि

इन्द्रियों का अपेक्षी नहीं होता। इस प्रत्यक्ष को योगज पर-प्रत्यक्ष कहते हैं। इसी प्रकार निर्विचार समाधि में योगी की जो प्रज्ञा होती है उसे ऋतम्भरा कहते हैं। उस अवस्था में सूक्ष्म विषयों का यथार्थ एवं परिपूर्ण साक्षात्कार होता है। योग की ये सब अवस्थाएँ सबीज समाधि कहलाती हैं।

असम्प्रज्ञात योग

यह योग वस्तुतः निर्बीज समाधि है। इस समाधि में सब प्रकार की वृत्तियों का विराम हो जाता है, केवल वृत्ति-संस्कार मात्र रह जाते हैं। चित्त का परिणाम चार प्रकार का होता है। जिसे हम साधारण व्युत्थान या जागृति की अवस्था कहते हैं उसमें क्षिप्त और मूढ़ चित्तवृत्तियाँ रहती हैं। दूसरी अवस्था समाधि-प्रारम्भ है जो सत्त्वगुण के उदय से सम्भव होती है। इन दोनों से उत्कृष्ट अवस्थाएँ एकाग्रता और निरोध की हैं। इन दशाओं में प्रत्येक बाद की दशा पूर्वदशा से श्रेष्ठ और उस पूर्वदशा के संस्कारों को नष्ट करने या दबा देनेवाली होती है। उदाहरण के लिए, व्युत्थान-जनित संस्कार समाधि-प्रारम्भ से उत्पन्न संस्कारों द्वारा नष्ट किये या दबा दिये जाते हैं। इसी प्रकार एकाग्र दशा से उत्पन्न संस्कार समाधि-प्रारम्भवाले संस्कारों को दबा देते हैं। वैसे ही निरोधज (निरोधदशा से उत्पन्न संस्कार) एकाग्रता-जनित संस्कारों को दबा देते या नष्ट कर देते हैं।

असम्प्रज्ञात समाधि किसी वस्तु का ध्यान करने से सिद्ध नहीं हो सकती, उसके लिए विराम प्रत्यय का अभ्यास करना चाहिए। यह विराम प्रत्यय क्या है? ऊपर कहा गया है कि वितर्कानुगत, विचारानुगत आदि योगों में कोई न कोई भाव्य विषय उपस्थित रहता है, इन विषयों का निषेध अपेक्षित है, विषयों की चिन्ता या भावना का त्याग ही विराम प्रत्यय है। विराम प्रत्यय निर्वस्तुक अर्थात् वस्तु के आलम्बन से शून्य होता है। इस प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त निरालम्बन जैसा होता है। इसीलिए यह निर्बीज समाधि कहलाती है।

व्यासभाष्य के अनुसार यह असम्प्रज्ञात समाधि या योग दो प्रकार का होता है, उपाय प्रत्यय और भव प्रत्यय। उपाय प्रत्यय समाधि योगियों को होती है। इसका वर्णन बाद में करेंगे। भव प्रत्यय विदेह तथा प्रकृति-लय जीवों का होता है। जिनके शरीर की निरपेक्षता (शरीर के बिना) में बुद्धि-वृत्तियाँ रहती हैं वे (देवयोनि-विशेष) विदेह कहलाते हैं। इनका असम्प्रज्ञात योग जन्मतः सिद्ध होता है, क्योंकि उनमें सहज (औत्पत्तिक) ज्ञान रहता है। प्रकृति-लय भी देवयोनि-विशेष होते हैं; ईश्वर अथवा प्रकृति (अहंकार, बुद्धि आदि) की उपासना द्वारा अधिकार प्राप्त करके स्वेच्छा से

प्रकृतिलीन रहते हैं। अधिकार-समाप्ति के बाद वे मुक्त हो जाते हैं।[1] दूसरे योगियों को उपाय प्रत्यय नाम का असम्प्रज्ञात योग श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा द्वारा प्राप्त होता है। ये श्रद्धादि परस्पर उपाय-उपेय-भाव से सम्बद्ध हैं; अर्थात् श्रद्धा वीर्य का उपाय है, वीर्य स्मृति का उपाय है और ऐसे ही आगे।

वृत्ति-विचार

योग के अनुसार तेरह करण हैं—बुद्धि, अहंकार तथा ग्यारह इन्द्रियाँ। 'वृत्ति' करणों का ज्ञानात्मक परिणाम है। बुद्धि की निश्चयात्मिका वृत्ति, अहंकार की अभिमानात्मिका वृत्ति, मन की संकल्प-विकल्पात्मिका वृत्ति तथा इन्द्रियों की आलोचनात्मिका वृत्ति कही गई है। करणों की ये विशिष्ट वृत्तियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति नाम की पाँच सामान्य वृत्तियों से युक्त हैं।[2] प्रमाण आदि वृत्तियाँ 'क्लिष्ट' एवं 'अक्लिष्ट' के भेद से दो प्रकार की हैं। कर्माशय की संग्राहक वृत्तियाँ, अविद्या आदि क्लेश के कारण उत्पन्न होने से 'क्लिष्ट' कही जाती हैं। दूसरी तरफ कर्माशय को उत्पन्न न करनेवाली अर्थात् गुणाधिकार की विरोधिनी वृत्तियाँ, विवेक-ज्ञानपूर्वक होने से, 'अक्लिष्ट' कही जाती हैं। सर्वप्रथम अक्लिष्ट वृत्तियों के द्वारा क्लिष्ट वृत्तियों को अभिभूत किया जाता है। तदनन्दर अक्लिष्ट वृत्तियों का निरोध करना पड़ता है। क्लिष्ट वृत्ति की अपेक्षा अक्लिष्ट वृत्ति श्रेष्ठ है, फिर भी पुरुष के स्वस्वरूपावस्थान-रूप कैवल्य के लिए अक्लिष्ट वृत्ति का भी निरोध कर चित्त को वृत्ति-शून्य बनाना आवश्यक है। अतः मोक्ष-प्रतिबन्धिका अक्लिष्ट वृत्ति निरोध-योग्य है।

प्रमाण—'प्रमीयतेऽनेन इति प्रमाणम्', इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसे 'प्रमाण' कहते हैं। प्रमाण तीन प्रकार का है[3]—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम। योग शास्त्र में प्रत्यक्ष आदि तीन से कम

---

1. देखिये, यो० सू०, 1-19 पर विज्ञानभिक्षु का योगवार्तिक। यहाँ भोजदेव की व्याख्या व्यासभाष्य तथा उसके व्याख्याताओं से भिन्न है। भोजदेव के अनुसार विदेह-प्रकृति-लयों का योग योगाभास मात्र है—वह असम्प्रज्ञात का भेद नहीं है। वस्तुतः असम्प्रज्ञात समाधि के भेद मानना उसकी तात्त्विक परिभाषा के विरुद्ध ठहरता है।
2. प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।—योगसूत्र, 1/6
3. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।—वही, 1/7

तथा उनसे अधिक प्रमाणों को माननेवाले दार्शनिकों की 'प्रमाण-मीमांसा को आलोच्य श्रेणी में रखा गया है। योग में प्रमाण के द्वारा प्रमा की उत्पत्ति जिस पद्धति से मानी गयी है, वह अन्य दर्शनों से भिन्न है। यहाँ इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष, लिंग-ज्ञान तथा पद-ज्ञान के माध्यम से परिणमित चित्तवृत्ति-रूप प्रमाण के द्वारा 'पौरुषेय-बोध' (पुरुष को होनेवाला ज्ञान) होता है। पौरुषेय-बोध की पद्धति आगे स्पष्ट की जायेगी।

प्रत्यक्ष—जिस प्रकार तड़ाग आदि में भरा हुआ जल, नालिका के द्वारा खेत में पहुँचकर, क्यारियों के आकार को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार इन्द्रिय-रूप नालिका की सहायता से चित्त बाह्य पदार्थ से संयुक्त होकर विषय को ग्रहण करता है अर्थात् उसका विषयाकार परिणाम होता है। चित्त की इसी विषयाकारता को 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहते हैं।[1] प्रत्यक्षात्मिका चित्तवृत्ति पदार्थ के सामान्य एवं विशेष दो रूपों में से विशेष रूप को मुख्यतः ग्रहण करती है। प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। इसे योग शास्त्र में 'पौरुषेय-बोध' कहते हैं। ज्ञान का स्वरूप 'मैं अमुक विषय (घटादि) को जान रहा हूँ, इस प्रकार का है।'

अब यह प्रश्न उठता है कि पुरुष को किस प्रकार ज्ञान होता है? इस विषय में योग के व्याख्याकारों में वैमत्य है। आचार्य वाचस्पति मिश्र, रामानन्द यति, नारायणतीर्थ, सदाशिवेन्द्र सरस्वती तथा बलदेव मिश्र का एक मत है। इन विद्वानों का वक्तव्य है कि जिस प्रकार मल-रहित अत्यन्त स्वच्छ दर्पण तथा स्फटिक मणि में प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की सामर्थ्य है, उसी प्रकार राजस-तामस मल से रहित सत्त्वगुण-प्रधान बुद्धि में प्रतिबिम्ब-ग्राहिका शक्ति है। जब बुद्धि का विषयाकार परिणाम होता है तब विषयाकारित बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस प्रतिबिम्ब-रूप घटना का प्रभाव बुद्धि (जिसपर प्रतिबिम्ब पड़ता है) तथा पुरुष (जिसका प्रतिबिम्ब पड़ता है) दोनों पर पड़ता है। अर्थात् बुद्धि अपने को चेतन समझने लगती है और पुरुष अपने को बुद्धि से संयुक्त विषय का ज्ञाता समझने लगता है। इस प्रकार विषयाकारित बुद्धि के माध्यम से **पुरुष में जिस ज्ञातृत्व धर्म का आरोप होता है, वही 'पौरुषेय-बोध' अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमा है और बुद्धि-वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है।** इस पक्ष के अनुसार यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ना आवश्यक भी नहीं है।

---

1. इन्द्रियप्रणालिकया हि चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्....वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्।—व्यासभाष्य, पृ० 28

'बिम्ब और उसका कार्य प्रतिबिम्ब अभिन्न होता है', इस सिद्धान्त के अनुसार पुरुष के प्रतिबिम्ब में प्रतिफलित बुद्धि के विषयाकार रूप में ही बिम्बभूत पुरुष अपने को विषय का ज्ञाता तथा सुख-दुःख आदि का भोक्ता समझने लगता है। वाचस्पति आदि आचार्यों का यह मत 'प्रतिबिम्बवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरी तरफ आचार्य विज्ञान-भिक्षु, भावागणेश तथा नागेश भट्ट बुद्धि एवं पुरुष दोनों में एक दूसरे के प्रतिबिम्ब की कल्पना करते हैं। इन आचार्यों का कहना है कि यदि चेतन पुरुष में विषयाकार बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ना न माना जाय तो पुरुष को सर्वदा सभी वस्तुएँ ज्ञात रहने की अव्यवस्था उत्पन्न होगी, क्योंकि नित्य एवं विभु पुरुष का समस्त पदार्थों के साथ सर्वदा संयोग-सम्बन्ध बना रहता है। इस अव्यवस्था को हटाने के लिए बिम्बभूत पुरुष में विषयाकार बुद्धि का प्रतिबिम्ब मानना आवश्यक है। इससे पुरुष को तभी विषय का ज्ञान होगा जब उसमें बुद्धि-वृत्ति का प्रतिबिम्ब पड़ेगा। विज्ञानभिक्षु आदि आचार्यों का उपर्युक्त मत 'परस्पर प्रतिबिम्बवाद' के रूप में जाना जाता है। इस प्रकार पौरुषेय-बोध की पद्धति समझ में आ जाती है।

अनुमान—अनुमान व्याप्तिमूलक है। व्याप्ति दो वस्तुओं के नियत सम्बन्ध को कहते हैं; जैसे अग्नि एवं धूम की व्याप्ति है, अर्थात् जहाँ धूम रहता है वहा वह्नि अवश्य रहती है। पाकशाला, यज्ञशाला आदि में अग्नि के बिना धूम की सत्ता नहीं देखी गयी है। इस प्रकार धूम एवं अग्नि के व्याप्ति सम्बन्ध को जाननेवाला व्यक्ति जब दूर से पर्वत आदि पर धूम-रेखा को उठता हुआ देखता है तब उसकी 'यह पर्वत वह्निवाला है', इस प्रकार की चित्तवृत्ति बनती है। इसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। तदनन्तर पुरुष को पहले बतलायी गयी प्रतिबिम्ब-प्रणाली से 'मैं वह्नि का अनुमान कर रहा हूँ', इस प्रकार का अनुमिति-ज्ञान होता है। अनुमान से पदार्थ के सामान्य रूप का ज्ञान होता है। अनुमान तीन प्रकार का है—पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट। योगसिद्धान्तचन्द्रिका में अनुमान के भेदों पर प्रकाश डाला गया है।[1]

आगम—भ्रम, प्रमाद, प्रवञ्चना तथा इन्द्रियों के असामर्थ्य आदि दोषों से रहित आप्त पुरुष के शब्द को सुनकर श्रोता की जो शब्दार्थ-विषयिणी चित्तवृत्ति बनती है, उसे आगम प्रमाण कहते हैं। तदन्तर प्रतिबिम्बविधया शब्दाकार वृत्ति से अभिन्न हुए पुरुष को शाब्दबोध होता है। इसे शाब्दी प्रमा कहते हैं।

---

1. योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ० 9

'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि'[1] अर्थात् प्रमाण द्वारा प्रमेय की सिद्धि होती है, इस उक्ति से प्रमाणवाद की उपयोगिता समझ में आ जाती है।

विपर्यय—विपर्यय-वृत्ति मिथ्या ज्ञान पर आधारित है। तद्रूप में प्रतिष्ठित न होनेवाला ज्ञान मिथ्या है।[2] शुक्ति का शुक्ति के रूप में ज्ञान न होकर रजत के रूप में जो ज्ञान होता है, उसे 'विपर्यय' कहते हैं। आचार्यों ने उभयकोटिक संशयात्मक ज्ञान—यह स्थाणु है अथवा पुरुष है—को भी विपर्यय के अन्तर्गत रखा है।[3] योग में विपरीत ज्ञान की अवस्थाएँ—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश के रूप में कही गई हैं। विपर्यय और प्रमाण में बाध्य-बाधक-भाव-सम्बन्ध है। 'यह रजत नहीं है', इस प्रकार के उत्तरकालिक यथार्थ ज्ञान से शुक्ति में होनेवाला 'यह रजत है', इस प्रकार का पूर्वकालिक भ्रम-ज्ञान बाधित हो जाता है। आरोपित वस्तु का स्वरूप क्या है, इस सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों का एक मत नहीं है। न्याय-वैशेषिक तथा भाट्ट मीमांसकों ने 'अन्यथाख्यातिवाद', प्राभाकर मीमांसकों ने 'अख्यातिवाद'; वेदान्तियों ने 'अनिर्वचनीय ख्यातिवाद', माध्यमिक बौद्धों ने 'असत्ख्यातिवाद' तथा योगाचार बौद्धों ने 'आत्मख्यातिवाद' का समर्थन किया है। बौद्धों की भाँति योगाचारों में भी मतभेद दिखायी पड़ता है। भ्रम-ज्ञान के स्थल में आचार्य विज्ञानभिक्षु, भावागणेश एवं नागेश भट्ट ने 'अन्यथाख्यातिवाद' की स्थापना की है।[4] आचार्य नारायणतीर्थ ने आरोपित वस्तु को सदसद्रूप मानकर 'सदसत्ख्यातिवाद' का समर्थन किया है।[5]

नैयायिकों के अन्यथाख्यातिवाद से योग के अन्यथाख्यातिवाद में अन्तर बतलाते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु ने लिखा है—नैयायिकों के समान हट्ट आदि स्थानों में पहले से विद्यमान 'रजत' भ्रम-ज्ञान का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए विषय का सन्निकृष्ट रहना आवश्यक है। दूसरा हेतु यह है कि सन्निकृष्ट शुक्त्यादि को त्यागकर दूरस्थ 'रजत' की कल्पना करने में गौरव दोष आता है। तीसरा हेतु यह है कि 'स्वप्न में देखे हुए रजत को इस समय नहीं देख रहा हूँ', इस प्रकार की

---

1. सांख्यकारिका, 4।
2. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।—योगसूत्र, 1/8
3. संशयस्याप्यत्रैवान्तर्भावः।—योगवार्तिक, पृ० 36।
4. अत्र च शास्त्रेऽन्यथाख्यातिः सिद्धान्तः।—वही, पृ० 33
5. स्वप्नशुक्तिरजतादयोऽपि चित्तपरिमाणा एव बाधाबाधाभ्यां सदसद्रूपा इति सदसत्ख्यातिः। योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ० 8

स्वरूपतः बाध-बुद्धि नहीं बन पायेगी, क्योंकि जाग्रत् अवस्था में रजत का स्वरूपतः बाध नहीं हो सकता। ज्ञानाकार को भ्रम का विषय मानने पर उपर्युक्त दोष नहीं आते हैं। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु आदि ने योगदर्शन में अन्यथाख्यातिवाद को प्रतिष्ठित किया। आचार्य नारायणतीर्थ का वक्तव्य है कि जिस प्रकार जपाकुसुम का लौहित्य बिम्ब-रूप से 'सत्' है और स्फटिक में प्रतिबिम्ब-रूप से 'असत्' है, उसी प्रकार सुवर्ण-कार की दूकान में स्थित रजत 'सत्' है और शुक्त्यादि में अध्यस्त रजत 'असत्' है। इस प्रकार पदार्थ के सदसद्रूप होने से 'सदसत्ख्यातिवाद' सिद्ध होता है। अपने आशय को प्रकारान्तर से स्पष्ट करते हुए इन्होंने लिखा है : यदि शुक्ति में अध्यस्त रजत सर्वथा अलीक (असत्) होता तो असत् नृश्रृंग, खपुष्प, वन्ध्यापुत्र आदि के समान उसका कभी भी प्रत्यक्ष न होता। लेकिन स्थिति इससे भिन्न है, अर्थात् वह वास्तविक रूप में दिखलायी पड़ती है। इस प्रकार शुक्ति में अध्यस्त रजत को 'असत्' नहीं कह सकते हैं। उसे 'सत्' भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि 'यह रजत नहीं है', इस प्रकार के उत्तर-कालिक ज्ञान से कल्पित रजत का बाध देखा जाता है। अतः पदार्थ सदसद्रूप सिद्ध होता है। सांख्य ने भी 'सदसत्ख्यातिवाद' को माना है।[1] अन्यथाख्यातिवाद की अपेक्षा सदसत्ख्यातिवाद योग के सिद्धान्तों के अधिक निकट है।

योग में विपर्यय को संसार का कारण कहा गया है। लेकिन शुक्ति में होने-वाला रजत-भ्रम, रज्जु में होनेवाला सर्प-भ्रम, एक चन्द्र में होनेवाला द्विचन्द्र-विषयक भ्रम-ज्ञान संसार का कारण नहीं है, क्योंकि उत्तरकालिक यथार्थ ज्ञान से इन दैनन्दिन भ्रमों की निवृत्ति हो जाती है। शरीर में होनेवाला आत्माभिमान ही संसार का कारण है, क्योंकि 'शरीर आत्मा नहीं है', ऐसा शाब्द-बोध रहने पर भी व्यक्तियों की शरीर के प्रति आत्मत्व-बुद्धि बनी रहती है।

विकल्प—तीसरी विकल्प-वृत्ति भी मिथ्या-ज्ञान की जनक है। शब्दज्ञान के माहात्म्य से यह बाधित-विषय-विषयक होती है। महर्षि पतंजलि ने बाधित विषय को 'वस्तुशून्य' शब्द के द्वारा व्यक्त किया है।[2] 'पुरुष का चैतन्य', 'राहु का सिर', 'पुरुष का अनुत्पत्ति धर्म' आदि विकल्प के उदाहरण हैं। इन उदाहरणों में षष्ठी विभक्ति के द्वारा पुरुष और चैतन्य, राहु और सिर, पुरुष और अनुत्पत्ति धर्म में जो भेद की प्रतीति हो रही है, वह वास्तविक नहीं है। ऐसा ज्ञान रहने पर भी इन वाक्यों

---

1. सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधाभ्याम्। सांख्यसूत्र, 5/56
2. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।—योगसूत्र, 1/9

के श्रवण के अनन्तर जो तदाकार वृत्ति बनती है उसे 'विकल्प' कहते हैं। विकल्प-वृत्ति से होनेवाला भ्रम-ज्ञान बाध-बुद्धि से प्रतिबध्य नहीं होता, अर्थात् बाध-बुद्धि के बाद भी विकल्प-व्यवहार चलता रहता है, लेकिन विपर्यय ज्ञान का बाध-बुद्धि से प्रतिबन्ध देखा जाता है। विकल्प का विषय 'अलीक' होता है और विपर्यय का विषय 'सत्य' होता है। अतः विकल्प को बाधित-विषय-विषयक वृत्ति तथा विपर्यय को बाधित-ज्ञान-विषयक वृत्ति कहा जाता है। इस प्रकार विपर्यय एवं विकल्प के अन्तर से स्पष्ट है कि विपर्यय का विकल्प में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। व्यासभाष्य की अपनी बंगला टीका में हरिहरानन्द आरण्यक ने विकल्प के तीन भेद बतलाये हैं—वस्तु-विकल्प, क्रिया-विकल्प तथा अभाव-विकल्प। इनमें उन्होंने महर्षि व्यासदेव द्वारा प्रदत्त उदाहरणों को घटित किया है। 'पुरुष का चैतन्य' तथा 'राहु का सिर', ये वस्तु-विकल्प के उदाहरण हैं। 'बाण रहता है', क्रिया-विकल्प का उदाहरण है। 'पुरुष अनुत्पत्ति धर्मवाला है', यह अभाव-विकल्प का उदाहरण है। इस प्रकार वस्तुत्व, क्रियात्व तथा धर्मत्व रूप से अलीक (मिथ्या) पदार्थ-विषयक विकल्प-वृत्ति होती है।

निद्रा—चौथी वृत्ति 'निद्रा' का सम्बन्ध सुषुप्ति-काल से है। जाग्रत् काल सुषुप्ति-कालिक स्मृति का स्मारक है। अर्थात् जाग्रत् अवस्था में चित्त सुषुप्ति में हुए अनुभव का स्मरण करता है। किसी वस्तु के अभाव-ज्ञान का आलम्बन करनेवाली वृत्ति निद्रा कही जाती है।[1] तमोगुण की अधिकता रहने से इस समय सात्त्विकी एवं राजसी वृत्तियों का अभाव रहता है। चित्त की जाग्रत् एवं स्वप्नकालिक वृत्तियों के समान निद्रा-वृत्ति का विषय बाह्य पदार्थ नहीं होता। तमोमयी निद्रा चित्त के सत्त्वादि को ही विषय बनाती है। विषय के आधार पर व्याख्याकारों ने निद्रा के तीन भेद किये हैं—सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी। सात्त्विकी निद्रा का अनुभव करनेवाला जाग्रत् काल में 'मैं सुखपूर्वक सोया', इस प्रकार का स्मरण करता है। राजसी निद्रा से व्यापृत पुरुष जागने पर 'मैं दुःखपूर्वक सोया', ऐसा कहना सुनाई पड़ता है। तामसी निद्रा से प्रबुद्ध व्यक्ति अपने को मोहयुक्त (आलस्य-युक्त) पाता है। इसमें व्यक्ति का 'मैं मोहपूर्वक सोया', ऐसा स्मरणात्मक ज्ञान प्रमाण होता है। सुषुप्ति में यदि पुरुष को सुख, दुःख अथवा मोह का अनुभव न हो तो जाग्रत् काल में सुखादि का स्मरण होना अत्यन्त असम्भव रहता है, क्योंकि स्मृति-पथ में अनुभूत विषय ही आते हैं। स्मरण एवं अनुभव में कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध है। अतः योगशास्त्रियों ने 'निद्रा' को वृत्ति-रूप से स्वीकार किया

---

1. अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।—योगसूत्र, 1/10

है। निद्रा, प्रमाणादि वृत्तियों की भाँति चित्त की ही वृत्ति है। वेदान्तियों ने निद्रा को साक्ष्याश्रित अविद्या की वृत्ति माना है। न्याय-वैशेषिकों ने तो सुषुप्ति को ज्ञानाभाव की अवस्था घोषित किया है। 'योगवार्तिक' तथा 'योगसिद्धान्तचन्द्रिका' के ऊपर निर्दिष्ट इन दोनों मतों की आलोचना की गयी है।

स्मृति—पाँचवीं वृत्ति 'स्मृति' है। यह पहली चार वृत्तियों पर आधारित है। प्रमाणादि वृत्तियों द्वारा ज्ञात विषय को स्मृति अपना विषय बनाती है। इसका स्वस्मृत विषय भी पुनः-पुनः आलम्बन बना करता है। अतः वृत्तियों में सबसे अन्त में इसे रखा गया है। यह अनुभूत विषय को 'संस्कार' की प्रणाली से ग्रहण करती है। संस्कार अनुभव की उत्तर-दशा है। नष्ट हुआ अनुभव संस्कार रूप में अपनी छाया चित्त में छोड़ता है। समय आने पर ये उद्बोधक से उद्बुद्ध होकर वृत्ति के माध्यम से स्मरणात्मक ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। ज्ञान-विषयिणी स्मृति अनधिगत-विषयिणी कभी भी नहीं हो सकती। अधिगत विषय का पुनर्बोध कराने के ही दर्शन-जगत् में उसने महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। यह अपने जनक 'अनुभव' के द्वारा अर्जित सम्पत्ति का ही उपयोग करती है। पर-सम्पत्ति के सम्प्रमोष (चुराने) की तृष्णा इनमें नहीं है। उपर्युक्त वर्णन से महर्षि पतंजलिकृत स्मृति का लक्षण[1] स्पष्ट हो जाता है।

'स घटः' अर्थात् वह घट है, इस ज्ञान के पश्चात् होनेवाले 'घटः' अर्थात् घट है, इत्याकारक ज्ञान को, जिसे प्रमुष्टतत्ताक कहते हैं, विज्ञानभिक्षु एवं भावागणेश को छोड़कर अन्य सभी व्याख्याकारों ने स्मरणात्मक माना है। इन दोनों आचार्यों ने इसे 'अनुभव' कोटि का बतलाया है।[2] स्मृति दो प्रकार की है—भावितस्मर्तव्या तथा अभावितस्मर्तव्या। स्वप्नावस्था में होनेवाली स्मृति 'भावितस्मर्तव्या' तथा जाग्रत् अवस्था में होनेवाली स्मृति 'अभावितस्मर्तव्या' कही जाती है। स्वप्न में मनःकल्पित पदार्थ ही ज्ञान का विषय होता है, इसलिए इस काल की स्मृति को 'भावितस्मर्तव्या' कहा गया है। इससे भिन्न जाग्रत्कालिक स्मृति को 'अभावितस्मर्तव्या' कहा गया है। आचार्य व्यासदेव ने अनुभव एवं स्मरण के अन्तर को 'ग्रहणाकारा पूर्वा बुद्धिः' तथा 'ग्राह्याकारा पूर्वा स्मृतिः', इन शब्दों द्वारा स्पष्ट किया है।

इस प्रकार महर्षि पतञ्जलि ने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' सूत्र के द्वारा यह माना

---

1. अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।—योगसूत्र, 1/11
2. प्रमुष्टतत्ताकं तु संस्कारमात्रजन्यमपि ज्ञानमनुभवमध्ये प्रवेशनीयम्।—योगवार्तिक, पृ० 41

है कि ऊपर उल्लिखित चित्त की वृत्तियों का निरोध मुमुक्षु के लिए आवश्यक है। अब विचारणीय यह है कि जन्म-जन्मान्तर से विषय-वाटिका में विचरण करनेवाले चित्त की वृत्तियों का किस प्रकार निरोध किया जाय ?

वृत्ति-निरोध के उपाय

प्रत्येक प्राणी की अर्जित शक्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक का अपना-अपना अस्तित्व, जीने का मापदण्ड एवं साधना-क्षेत्र पृथक्-पृथक् होता है। योगशास्त्र में साधकों की तीन श्रेणियाँ की गयी हैं—उत्तम, मध्यम एवं अधम। इन्हें योगरूढ, युञ्जान तथा आरुरुक्षु भी क्रमशः कहा जाता है। उत्तम साधक वह है, जिसे अपने पूर्वजन्म में ही योग की सर्वोत्कृष्टता का बोध हो चुका है तथा मोक्ष-प्राप्ति की तीव्र इच्छा से जिसकी आधी योग-साधना पूर्वजन्म में ही पूर्व हो चुकी है। ऐसे बहिरङ्ग-योग-सिद्ध उत्तम साधक अदृष्टवशात् देहपात के पश्चात् वर्तमान जीवन में उससे आगे साधना प्रारम्भ करते हैं। जड़भरत आदि परमहंस संन्यासियों की उत्तम साधकों में गणना की जाती है। महर्षि पतञ्जलि ने उत्तम साधकों के चित्तवृत्ति-निरोध के लिए 'अभ्यास-वैराग्य' उपाय बतलाया है। वर्तमान जीवन में योग-साधनारत वानप्रस्थियों को मध्यम साधक कहा जाता है। 'क्रिया-योग' से इनकी योगसाधना का श्रीगणेश होता है। वे कृपापात्र हैं जिनमें आत्म-बोध की जिज्ञासा जाग्रत् ही नहीं हुई है। केवल घुटन-भरी निःश्वासें भरते हुए जन्म-जन्मान्तर पर्यन्त कालयापन करते हैं। ऐसे दीन-हीन अधम साधक योग-साधना के महत्त्व को क्या समझें ? जौहरी ही हीरे को परख सकता है। लेकिन किसी प्रबल अदृष्टवशात् योग-साधना की ओर आकृष्ट हुए अधम साधक भी, जिनका चित्त अभी पूर्ण रूप से मलिन एवं अपरिष्कृत है, योग-मार्ग के पथिक बन सकें, इस सार्वभौम मंगल की कामना से महर्षि पतञ्जलि ने उनके लिए 'अष्टाङ्ग-योग' की साधना बतलाई है। जिस प्रकार पहली बार पाठशाला भेजा गया शिशु दसवीं कक्षा में नहीं चल पाता है, उसी प्रकार इनके लिए प्रारम्भ से ही उत्तम एवं मध्यम साधकों के मार्ग से चलना असम्भव होता है, क्योंकि इनकी चित्त-भूमि वृत्ति-निरोध के लिए अनुकूल नहीं रहती है।

अभ्यास और वैराग्य

जीवन के किसी भी क्षेत्र में परिपूर्णता प्राप्त करने के लिए 'अभ्यास' एवं 'वैराग्य' दोनों की आवश्यकता पड़ती है। वैराग्यपूर्वक ही अभ्यास किया जाता है और अभ्यास के स्तर एवं उसकी गति के अनुसार वैराग्य होता है। अतः दोनों अन्यो-

न्याश्रित हैं। कैवल्य के लिए 'योग' की आवश्यकता, योग के लिए 'अभ्यास' की आवश्यकता तथा अभ्यास के लिए 'वैराग्य' की अपेक्षा है। अतः सभी एक दूसरे से शृंखलाबद्ध हैं। 'यत्न-विशेष' को अभ्यास कहते हैं।[1] आचार्य व्यासदेव के अनुसार 'यत्न' शब्द का अर्थ उत्साह एवं वीर्य है।[2] 'अभ्यास' पद के अर्थ को स्पष्ट करते हुये आचार्य नारायणतीर्थ लिखते हैं[3]—उत्साह, साहस एवं धैर्य के साथ अध्यात्मविद्या का अध्ययन, महत्सेवा तथा यम आदि का पालन करना 'अभ्यास' है। बाहरी विषयों की ओर स्वभावतः दौड़नेवाले चित्त पर सर्वदा नियंत्रण रखूँगा', इस प्रकार का उद्यम 'उत्साह' है। साध्य-असाध्य पर विचार किये बिना ही तत्काल कार्य में प्रवृत होना 'साहस' है। 'इस जन्म में अथवा किसी आगामी जन्म में मेरा प्रयत्न सफल हो ही जायगा', इस आकांक्षा से कार्य में आनन्दपूर्वक संलग्न रहना 'धैर्य' है। माण्डूक्यकारिका में आया टिटहरी का उपाख्यान धैर्य का सटीक उदाहरण है।[4] संसार के प्रति निस्सारता की भावना को दृढ़ रखने तथा विषयों के संग से चित्त को हटाये रखने के लिए योग के अभ्यास-काल में साधक को अध्यात्म-प्रधान शास्त्रों का अध्ययन करना भी आवश्यक है। श्रद्धेय सद्‌गुरु तथा संन्यासियों की सेवा-शुश्रूषा करना 'महत्सेवा' है। यम-नियम आदि को आगे बतलाया जायगा। इस प्रकार का 'अभ्यास' थोड़े समय तक रुक-रुककर अनिच्छा के साथ करने से फलवान् नहीं होता है। वही 'अभ्यास' मुमुक्षु के लिए आचरणीय है, जो जन्म-जन्मान्तर पर्यन्त, अविरल गति से उत्साह के साथ किया जाता है।[5]

'राग' का विरोधी 'विराग' है और विराग का भाव 'वैराग्य' है। राग किसी विषय के प्रति किया जाता है, इसलिए उसके विरोधी वैराग्य का आधार भी विषय होता है। विषय दो प्रकार का है—ऐहिक विषय तथा पारलौकिक विषय। ये ही क्रमशः 'दृष्ट' हैं, क्योंकि इनका प्रत्यक्ष होता है। वेद-प्रतिपादित स्वर्ग आदि 'आनुश्रविक' विषय हैं। मुमुक्षु के लिए दोनों प्रकार के विषय त्याज्य अर्थात् वैराग्य के योग्य हैं। आचार्यों

---

1. यत्नोऽभ्यासः।—योगसूत्र, 1/13
2. प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः।—व्यासभाष्य, पृ० 46
3. उत्साहसाहसधैर्याध्यात्मविद्याऽध्ययनमहत्सेवनयमनियमाद्यनुष्ठानलक्षणोभ्यासः।
   —योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ० 16
4. माण्डूक्यकारिका, 1/41
5. स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः।—योगसूत्र, 1/14

ने वैराग्य के उत्तरोत्तर विकास की चार श्रेणियाँ की हैं—यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय तथा वशीकार। निर्मल चित्त में ही वैराग्य का शिलान्यास हो सकता है। अतः चित्त का मल-शोधक यत्न वैराग्य की प्रथम सीढ़ी है। राग, द्वेष आदि चित्त के मल हैं। ये व्यक्ति के चित्त को उसी प्रकार मलीन करते हैं जिस प्रकार मंजीठ से अत्यन्त उज्ज्वल वस्त्र दूषित (मलीन) हो जाता है। 'मैत्री', 'करुणा', 'मुदिता' तथा 'उपेक्षा' भाव में चित्त-रूपी मल के प्रक्षालन की शक्ति है।[1] सुखी व्यक्तियों के प्रति मैत्रिभाव का विनियोग किया जाता है। करुणा भाव के प्रदर्शन का क्षेत्र दुःखी व्यक्ति है। पुण्यशील आत्माओं के प्रति मुदिता भाव का विकास किया जाता है। पापी व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा-वृत्ति अपनायी जाती है। इस प्रकार उचित-उचित स्थान पर मैत्री आदि भावनाओं के विकास का सतत प्रयास करते रहने से साधक के मानस शत्रु—राग, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध आदि नष्ट हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप आत्मतोष के स्फुरणपूर्वक साधक का विषय-सम्बन्ध सीमित हो जाता है। विषय-संकोच का यह प्रारम्भ ही 'यतमान' संज्ञक वैराग्य है। 'इतने मल दूर हो चुके और इतने दूर होने हैं', चिकित्सक की भाँति इस प्रकार की विवेचना करते हुए बचे हुए मलों के प्रक्षालनार्थ जो प्रयास किया जाता है, उसे 'व्यतिरेक' संज्ञक वैराग्य कहते हैं। पहले दो वैराग्यों के द्वारा इन्द्रियों की विषयोन्मुखता रुक जाने पर भी अनियन्त्रित मन में विषयोपभोग की तृष्णा बनी ही रहती है। मन पर विजय प्राप्त करने के लिए 'एकेन्द्रिय' संज्ञक वैराग्य किया जाता है। 'एकेन्द्रिय' वैराग्य की पराकाष्ठा 'वशीकार' है। इसी अवस्था में दृष्ट एवं आनुश्रविक सभी विषयों के प्रति पूर्ण रूप से वैराग्य जाग्रत होता है।[2] व्याख्याकारों ने वैराग्य का ठीक-ठीक स्वरूप बतलाने के लिए लिखा है—'विषय-सङ्ग शास्त्र-विरुद्ध हैं', इतना ज्ञान होने मात्र से वास्तविक वैराग्य का उदय नहीं होता अपितु समाधि द्वारा बाह्य विषयों में विद्यमान दुःख का साक्षात्कार होने पर ही वास्तविक वैराग्य का उदय होता है। अन्यथा वैराग्य चिरस्थायी नहीं होता। यतमान आदि चारों वैराग्यों की सामूहिक संज्ञा 'अपर वैराग्य' है। 'अपर' के ऊपर 'पर वैराग्य' है। सत्त्वादि गुणों के प्रति होनेवाला वैतृष्ण्य 'पर वैराग्य' है।[3] प्रकृति-पुरुष का भेद-ज्ञान

---

1. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।—योगसूत्र, 1/33
2. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।—वही, 1/15
3. तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।—वही, 1/16

होने पर साधक को विवेक ख्याति के प्रति परिणामित्व, वृत्तित्व तथा संसार-बन्धकत्व का ज्ञान होता है। पर वैराग्य द्वारा इस वृत्ति का भी निरोध किया जाता है। पर वैराग्य साधना की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है, क्योंकि यह असम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात मोक्ष का साक्षात् साधन है। उत्तम साधक किस प्रकार अपने चित्त की वृत्तियों का निरोध कर सकते हैं, यह बतलाया गया।

क्रिया-योग—मध्यम अधिकारियों के वृत्ति-निरोध का उपाय 'क्रिया-योग' से प्रारम्भ होता है। ये उत्तम अधिकारियों के मार्ग से योग-साधना प्रारम्भ नहीं कर सकते, क्योंकि इनके चित्त में वैसी गम्भीरता नहीं रहती जैसी उत्तम अधिकारियों में पायी जाती है। अतः उत्तम अधिकारियों के मार्ग तक पहुँचने से पूर्व इन्हें 'क्रिया-योग' की साधना द्वारा चित्त को एकाग्र बनाना पड़ता है। क्रिया-योग तीन क्रियाओं की समष्टि का नाम है। ये तीन क्रियाएँ हैं—तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान।[1] कार्य-कारण में अभेद होने से योग की साधनभूत तपादि क्रियाएँ 'योग' कही गयी-- अर्थात् 'क्रियैव योगः क्रियायोगः'। योग शास्त्र में शरीर को अत्यधिक कृश करनेवाले कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतों को मान्यता नहीं मिली है। यहाँ वे ही व्रत संग्राह्य एवं आचरणीय हैं जो वात आदि धातुओं में सन्तुलन रखते हुए योगाभ्यास में सहायता पहुँचाते हैं। इस प्रकार युक्ताहार को 'तप' कहते हैं। तप शारीरिक क्रिया है। इसका साक्षात् सम्बन्ध शरीर से है, फिर भी मन की स्वस्थता के लिए शरीर की स्वस्थता आवश्यक रहती है, इसलिए तप को अभ्यसनीय बतलाया गया है। मल-शोधक अग्नि के समान यह तप क्लेश एवं कर्म-वासना से मलिन हुए चित्त का शुद्धिकरण करता है। अतः योगाभ्यासी को तपस्वी होना आवश्यक है। चित्त-रूपी नदी की बाह्य विषयाभिमुख धारा को अवरुद्ध करने तथा आन्तर धारा को उद्घाटित करने के लिए आत्मज्ञान के प्रतिपादक शास्त्र वेद, उपनिषद्, पुराण, दर्शन आदि का अध्ययन तथा पुरुष-सूक्त, रुद्रमण्डल, ब्राह्मण आदि वैदिक तथा ब्रह्मपारायण आदि पौराणिक भगवान् का पौनः पुन्येन (बार-बार) जप करना 'स्वाध्याय' क्रिया-योग है। विहित अथवा अविहित सभी प्रकार के कर्मों को फलाकांक्षा के बिना परम गुरु परमात्मा में समर्पित करना 'ईश्वर-प्रणिधान' है। क्रिया-योग के दो प्रयोजन हैं; पहला—क्रिया-योग चित्त को समाधि की ओर उन्मुक्त करता है; दूसरा—वह उदार अवस्था के क्लेशों की शक्ति को क्षीण करता है, अर्थात् उन्हें 'तनु' बनाता है।[2] इस प्रकार 'क्रिया-योग' पर विजय

---

1. तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।—योगसूत्र, 2/1
2. समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।—वही, 2/2

प्राप्त करके मध्यम साधक अपने में उत्तम साधक की विशिष्टता लाता है और इसके बाद 'अभ्यास-वैराग्य' की साधना प्रारम्भ करता है।

अष्टांग-योग—अब तीसरे प्रकार के अधम साधक को अपनी चित्त-वृत्तियों का निरोध करने के लिए क्या करना होता है, यह बतलाया जा रहा है। 'अष्टांग-योग' शब्द से ही स्पष्ट है कि यह योग आठ अंगोंवाला है। आठ अंग हैं[1]—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि।

यम—'यमयन्ति निवर्तयन्तीति यमाः', इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अवांछनीय कार्यों से निवृत्त कराते हैं, वे यम कहलाते हैं। निवृत्तिमूलक यम पाँच हैं[2]—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। अहिंसा-व्रत साधक को अत्यन्त निन्दित कार्य हिंसा से निवृत्त करता है। प्राणिमात्र के प्रति किसी भी समय, किसी भी प्रकार का (कायिक, वाचिक या मानसिक) हिंसात्मक व्यवहार न करना 'अहिंसा' है। हिंसा—स्वकृत, कारित एवं अनुमोदित भेद से तीन प्रकार की है। योग के विद्वानों को इसके प्रभेद सहित तीन सौ तितालीस प्रकार मान्य हैं। सर्वोत्कृष्टता के कारण यमांगों में अहिंसा का सर्वप्रथम स्थान है। मोक्षधर्म में सत्य आदि धर्मों को अहिंसा में गतार्थ बतलाया गया है।[3] सत्य का पालन करने से असत्य निवृत्त होता है। मन एवं वचन की एकरूपता को 'सत्य' कहते हैं। सन्देहपरक एवं प्रवञ्चनायुक्त वाक् असत्य कहलाता है। सत्य के अभ्यासी को अप्रिय सत्य से दूर रहना चाहिए। 'अस्तेय' से स्तेय की निवृत्ति होती है। 'स्तेय' का अर्थ चोरी करना है, इसके विरोधी 'अस्तेय' का अर्थ चोरी न करना है। इस प्रकार धन का संग्रह करते हुए शास्त्रीय विधान का उल्लंघन न होना 'अस्तेय' है। ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा काम-वासना को उद्दीप्त होने से बचाया जाता है। उपस्थेन्द्रिय-विषयक संयम को 'ब्रह्मचर्य' कहा जाता है। अपरिग्रह व्रत से पदार्थ-संग्रह की सनक का दमन किया जाता है। आवश्यकता से अधिक द्रव्य का ग्रहण न करना 'अपरिग्रह' है। आपाततः एक प्रतीत होते हुए अस्तेय एवं अपरिग्रह में सूक्ष्म अन्तर यह है—अस्तेय में अवांछनीय पद्धति से पर-द्रव्य के अपहरण का निषेध किया गया है और अपरिग्रह में संग्रह-वृत्ति का निषेध किया गया है। इस प्रकार 'यम' की निवृत्तिमूलकता स्पष्ट हो जाती है।

---

1. वही, 2/29
2. वही, 2/30
3. मोक्षधर्म, 245/18-19

नियम—'नियमयन्ति प्रेरयन्तीति नियमाः', इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो शुभ कार्यों में प्रवृत्त कराते हैं, वे 'नियम' कहलाते हैं। प्रवृत्तिमूलक 'नियम' पाँच प्रकार का है[1]—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान। शौच के दो भेद हैं—बाह्य तथा आभ्यन्तर। मृज्जलादि से बाह्य शुचिता तथा मैत्री अ दि उदात्त भावनाओं से आन्तर शुचिता लायी जाती है। पहला शारीरिक शुद्धि तथा दूसरा मानस शुद्धि के लिए है। बाह्य शौच का धर्म मुख-मण्डल की तेजस्विता तथा शरीर की लघुता है। इसका निरन्तर अभ्यास करते रहने से साधक में स्व-शरीर एवं पर-शरीर के प्रति घृणा-बुद्धि उत्पन्न होती है। 'आभ्यन्तर शौच' मन एवं इन्द्रियों को प्रसन्नता प्रदान करता हुआ उन्हें आत्म-दर्शन के योग्य बनाता है। 'सन्तोष' की साधना व्यक्ति को निष्कर्मण्य नहीं बनाती, अपितु भौतिक पदार्थों को चाहने की क्रियाशीलता अपना रुख अध्यात्म पदार्थों की ओर मोड़ लेती है, जिसके फलस्वरूप साधक को अनुत्तम सुख की अनुभूति होती है। नियम के अवशिष्ट तीन भेद—तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान को 'क्रिया-योग' के प्रसंग में बतलाया जा चुका है।

जिस प्रकार क्रिया-योग एवं नियम में आया ईश्वर-प्रणिधान एक है उसी प्रकार प्रथम पाद में वर्णित ईश्वर-प्रणिधान इसके तुल्य नहीं है। वह इनसे भिन्न है। आचार्य विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में प्रथम पाद में कहा हुआ ईश्वर-प्रणिधान 'ध्यान-योग'-प्रधान है और द्वितीय पाद में आया हुआ ईश्वर-प्रणिधान 'कर्म-योग'-प्रधान है।[2] यही ईश्वर सम्बन्धी दोनों प्रणिधानों में सूक्ष्म अन्तर है। यदि दोनों प्रणिधानों को एक माना जाय तो चिन्तन के ध्यान-रूप होने से 'नियम' में आये ईश्वर-प्रणिधान को धारणा-ध्यान-समाधि की भाँति 'अन्तरंग' साधन कहना पड़ेगा। लेकिन यह उचित नहीं है क्योंकि महर्षि पतंजलि ने यम से प्रत्याहार तक को 'बहिरंग' साधन कहा है।

आसन—'आस्यतेऽनेनेति आसनम्', इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस अवस्था में शरीर अपेक्षित समय तक सुख से रह सके, उसे 'आसन' कहते हैं। 'जितने प्रकार की जीव-जातियाँ हैं उतने ही प्रकार के आसन हैं',[3] आचार्य विज्ञानभिक्षु के इन शब्दों से स्पष्ट है कि 'आसन' की निश्चित संख्या नहीं है। व्यासभाष्य, तत्त्ववैशारदी, योगवार्तिक आदि की अपेक्षा योगसिद्धान्तचन्द्रिका में सबसे अधिक आसनों का वर्णन

---

1. शौचसन्तोषतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।—योगसूत्र, 2/32
2. योगवार्तिक, पृ० 249
3. वही, पृ० 267

उपलब्ध होता है। वे आसन इस प्रकार हैं—पद्मासन, सिद्धासन, भद्रासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, सिंहासन, दण्डासन, सोपाश्रयासन, पर्यङ्कासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, उत्तानकुक्कुटासन, पश्चिमोत्तानासन, मत्स्येन्द्रपीठासन, चक्रासन, गोमुखासन, कूर्मासन, धनुरासन, मृगस्वस्तिकासन, अर्द्धचन्द्रासन, अंजलिकासन, पीठासन, वज्रासन, मुक्तासन, चन्द्रोद्धासन, प्रसारितासन, शवासन, कपालासन, गरुडासन, अर्द्धासन, कमलासन, क्रौञ्चनिषदनासन, योगासन, योन्यासन तथा समसंस्थानासन। यम नियम का जयी ही आसन का अभ्यास कर सकता है। इसलिए यम तथा नियम के पश्चात् 'आसन' का स्थान है। प्राणायाम के अभ्यासी को आसनजयी होना आवश्यक है। इसलिए प्राणायाम से पहले आसन की साधना बतलायी गयी है।

आचार्य नारायणतीर्थ ने 'आसन' से 'प्राणायाम' की ओर बढ़ते हुए दोनों के मध्य में 'कर्म-योग' का स्थान सुनिश्चित किया है। 'कर्म-योग' में धौती, बस्ती आदि षट्कर्म तथा महाबन्ध आदि मुद्राएँ आती हैं। हो सकता है, आधुनिक विद्वान् नारायणतीर्थ के इस विचार पर नाथ सम्प्रदाय एवं हठयोग सम्प्रदाय का प्रभाव दिखलाकर इसे पातञ्जल योग के अनुकूल न समझें; इस आलोचना से बचने के लिए स्वयं नारायणतीर्थ ने योगसिद्धान्तचन्द्रिका में कर्मयोग की उपयोगिता बतलाते हुए विद्वानों की उक्त धारणा को निर्मूल सिद्ध कर दिया है। उनका वक्तव्य है[1]—महर्षि पतञ्जलि ने अष्टांग योग के सूत्र में कर्म-योग का स्पष्टतः उल्लेख इसलिए नहीं किया कि यह राज-योग अर्थात् असम्प्रज्ञात योग का साक्षात् अङ्ग नहीं है, अपितु गौण (अप्रधान) अङ्ग है। 'कर्म-योग' की आवश्यकता प्राणायाम-जय के लिए है। इसका अभ्यास करने से दैहिक सम्पत्ति प्राप्त होती है। अतः प्राणायाम का अङ्गभूत 'कर्म-योग' अभ्यसनीय है। हठयोगप्रदीपिकाकार के भी मत में धौती आदि कर्म के बाद प्राणायाम आसानी से सिद्ध होता है। हठयोग का दूसरा नाम प्राणायाम है। योगसिद्धान्तचन्द्रिका में छह कर्म बतलाये गये हैं—धौती, बस्ती, नेती, त्राटक, नौली और कपालभाति। विशिष्ट आकार-प्रकार की बनी पट्टी को मुख के रास्ते से उदर में पहुँचाकर अन्त्र-समूह के प्रक्षालन को 'धौती-कर्म' कहते हैं। नाभि-प्रदेश तक जल से भरे टब में उत्कटासन लगाकर एक नली-विशेष से गुदा-मार्ग के द्वारा जल को उदर में भरने और निकालने को 'बस्ति-कर्म' कहते हैं। शास्त्रीय विधि से बने अत्यन्त स्निग्ध सूत्र को नासिका से अन्दर प्रवेश

---

1. हठयोगाङ्गत्वेन देहसिद्धमात्रफलत्वेन साक्षाद्राजयोगाऽनङ्गत्वात् कण्ठस्वरेण सूत्रकृता नोक्तमिति।—योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ० 73

करने तथा मुख से बाहर निकालने को 'नेति-कर्म' कहते हैं। किसी भी सूक्ष्म पदार्थ का निर्निमेष अवलोकन करना—जब तक आँखों में पानी न भर जाये—'त्राटक-कर्म' है। घुटनों के बल झुककर उदरवर्ती नाड़ियों को अत्यन्त शीघ्रता से दायें-बायें घुमाना 'नौलि-कर्म' है। लोहार की धौंकनी की भाँति नासिका के छिद्रों से वायु को भरना और निकालना 'कपालभाति-कर्म' है। शरीर के विशिष्ट-विशिष्ट भागों से सम्बन्धित ये छह कर्म उस उस स्थान के शुद्धिकरण एवं रोग-निवारण के लिए विहित हैं। कर्म-योग के द्वितीय भागवाली मुद्राओं की संख्या बतलाना कठिन है, क्योंकि योग के ग्रन्थों में प्रायः भिन्न-भिन्न मुद्राओं का वर्णन उपलब्ध होता है। आचार्य नारायणतीर्थ ने नौ-मुद्रायें बतलाई हैं—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, शक्तिचालन, मूलबन्ध, उड्डीयान, जालन्धर तथा विपरीतकरणी। 'मुद्रा' शरीर से सम्बन्धित क्रिया है। इसके अभ्यासी को शरीर की भिन्न भिन्न आकृतियाँ बनानी पड़ती हैं, इसलिए इस विशिष्ट क्रियाओं की 'मुद्रा' संज्ञा पड़ी।

प्राणायाम—सरल शब्दों में श्वास-प्रश्वास की अत्यन्त स्वाभाविक गति के नियन्त्रण को प्राणायाम कहते हैं। शास्त्रीय शब्दों में श्वास-प्रश्वास का गतिविच्छेद 'प्राणायाम' है।[1] महर्षि पतंजलि ने प्राणायाम के चार भेद किये हैं—बाह्यवृत्तिरेचक, आभ्यन्तरवृत्तिपूरक, स्तम्भवृत्तिकुम्भक तथा बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी कुम्भक। रेचक प्राणायाम में नासिका-पुटों के द्वारा हृदय में भरी प्राणवायु को अत्यन्त मन्द गति से बाहर निकालकर श्वास-प्रश्वास की क्रिया को अवरुद्ध किया जाता है। पूरक प्राणायाम में नासिका के छिद्रों से श्वास को भीतर की ओर खींचकर उसे नियन्त्रण में रखा जाता है। कुम्भक प्राणायाम में प्राणवायु को जहाँ का तहाँ रोक देना होता है। चौथे प्राणायाम में रेचक और पूरक को अपेक्षा न करते हुए सुखपूर्वक वायु को धारण किया जाता है। तीसरा और चौथा भेद कुम्भक प्राणायाम का है। व्याख्याकारों ने 'सहितकुम्भक-प्राणायाम' तथा 'केवलकुम्भकप्राणायाम' के द्वारा कुम्भक के भेदों को स्पष्ट किया है। प्रायः सभी व्याख्याकारों ने प्राणायाम के चार ही भेदों पर प्रकाश डाला है।

आचार्य नारायणतीर्थ ने अपने व्यापक शास्त्रीय ज्ञान के कारण प्राणायाम के प्रतिपादन में विशेष रुचि प्रदर्शित की है। उन्होंने सहितकुम्भक प्राणायाम के आठ भेद किये हैं। सूर्यभेदी, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा तथा

1. स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।—योगसूत्र, 2/50

मुख्यसहित। उन्होंने प्रकारान्तर से भी कुम्भक प्राणायाम के भेदों को उल्लिखित किया है, जो निम्नांकित प्रकार से है। सर्वप्रथम, कुम्भक प्राणायाम के 'सोत्कर्ष' एवं 'साप-कर्ष' दो भेद हैं। तदनन्तर इन दोनों के साथ अवान्तर भेद हैं—रेचिककुम्भक, पूरित-कुम्भक, शान्तकुम्भक, प्रत्याहारकुम्भक, उत्तरकुम्भक, अपरकुम्भक तथा समकुम्भक। इसके पश्चात् उन्होंने दूसरे प्रकार से प्राणायाम का वर्गीकरण किया है। प्राणायाम दो प्रकार का है—अगर्भ एवं सगर्भ। सगर्भ प्राणायाम के तीन भेद हैं—सधूमक, सज्वाल तथा प्रशान्त।

ऊपर वर्णित प्राणायाम की देश, काल एवं संख्या द्वारा परीक्षा करते हुए उसे 'दीर्घ-सूक्ष्म' बनाया जाता है।[1] साधक को प्राणायाम पर विजय प्राप्त करने के लिए शास्त्र विहित पद्धति का अनुसरण गुरु के सम्मुख करना चाहिए, अन्यथा थोड़ी सी असावधानी से मृत्यु तक होने की आशंका रहती है। इसके अभ्यासी की चार अवस्थायें हैं—आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था तथा निष्पत्ति अवस्था।

प्रत्याहार—शरीर-प्रधान 'आसन' तथा प्राणवायु-प्रधान 'प्राणायाम' की साधना पूरी हो जाने के पश्चात् अभ्यासी के लिए इन्द्रिय-प्रधान 'प्रत्याहार' की साधना प्रशस्त हुई है। 'इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रत्याह्रियन्ते विमुखीक्रियन्तेऽनेनेति प्रत्याहारः', इस व्युत्पत्ति के अनुसार इन्द्रियों को अपने अपने विषयों से हटाकर उन्हें अन्तर्मुखी बनाना 'प्रत्याहार' है। आचार्य नारायणतीर्थ को छोड़कर पातञ्जल-योग के सभी व्याख्याकारों ने प्रत्याहार को इन्द्रिय का धर्म बतलाया है। लेकिन योगवासिष्ठ एवं योग के उपनिषदों से प्रभावित आचार्य नारायणतीर्थ ने प्रत्याहार को इन्द्रिय तथा प्राणवायु दोनों का धर्म कहा है। इस प्रकार उन्होंने प्रत्याहार की द्विविध-मार्गीय साधना उपन्यस्त की है।

ऊपर कहे यम से प्रत्याहार तक के साधनों का सामूहिक नाम 'बहिरङ्ग' है क्योंकि इनका लक्ष्य चित्त को भौतिक बाह्य पदार्थों की ओर जाने से रोकना होता है। इसके बाद धारणा आदि तीन क्रियाओं द्वारा चित्त की एकाग्रता के विभिन्न रूपों की साधना प्रारम्भ होती है। उन्हें 'अन्तरङ्ग' साधन कहा गया है क्योंकि पदार्थचिन्तन अन्तर्मुखी होता है।

धारणा—किसी देश-विदेश में चित्त के स्थिरीकरण को 'धारणा' कहते हैं। धारणा के नाभिचक्र, हृदयकमल, कण्ठ, मुख आदि आन्तरिक देश हैं। धारणा

---

1. योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ० 99

आध्यात्मिक देशों में निम्नांकित क्रम से आगे बढ़ती है—नाभि, हृदय, वक्षस्थल, कण्ठ, मुख, नासिकाग्र, नेत्र भ्रू का मध्य भाग, मूर्धा और सबसे अन्त में बारह अंगुल परिमित प्रदेश । सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि धारणा के बाह्य देश हैं । योगासिद्धान्तचंद्रिका में महाभूत-विषयक धारणा का भी उल्लेख मिलता है[1]; जैसे पार्थवीय धारणा, जलीय धारणा, तैजसीय धारणा, वायवीय धारणा तथा नाभसी धारणा । इनका दूसरा नाम क्रमशः—स्तम्भिनी, प्लाविनी, दहनी, भ्रामणी तथा शमनी है ।

धारणा के ऊपर निर्दिष्ट आध्यात्मिक देशों के आधार पर आचार्य नारायण-तीर्थ ने योगसिद्धान्तचन्द्रिका में 'षट्चक्रवाद' की मान्यता को पुनः स्थापित किया है। 'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्'[2] आदि सूत्रों पर गम्भीरता के साथ विचार करने से यह विदित होता है कि महर्षि पतंजलि को षट्चक्र का सिद्धान्त मान्य था । कारण समझ में नहीं आ रहा है कि व्यासभाष्य आदि ग्रन्थों में इसकी चर्चा क्यों नहीं हुई ? चक्र छह हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञाचक्र । मूलाधार से प्रारम्भ होकर धारणा स्वाधिष्ठान आदि चक्रों की ओर क्रमशः बढ़ती है । शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों पर चक्रों की स्थिति है । मणिपूरक चक्र नाभि-प्रदेश में है, इसलिए यह नाभिचक्र भी कहा जाता है ।

ध्यान—धारणा के देश-विदेश में जब ध्येय वस्तु का ज्ञान एकाकार रूप से होने लगता है, तब उसे 'ध्यान' कहते हैं । अर्थात् वृत्यन्तर-शून्य चित्त का ध्येय-विषयक सदृश प्रवाह 'ध्यान' है । योगसिद्धान्तचन्द्रिका में 'सगुण' एवं 'निर्गुण' दो प्रकार के ध्यानों का वर्णन मिलता है । ध्यान और धारणा में अन्तर यह है—'धारणा' में ध्येयाकार-वृत्ति विच्छिद्य-विच्छिद्य होती है और 'ध्यान' में ध्येयाकार-वृत्ति की एक-तानता रहती है । धारणा आधार-विषयिका वृत्ति और ध्यान आधेय-विषयिका वृत्ति है । अर्थात् नाभि आदि आभ्यन्तर देशों और सूर्य आदि बाह्य देशों में चित्त की स्थापना करना 'धारणा' है और इन्हीं देशों में ईश्वर, देवता आदि का चिन्तन करना 'ध्यान' है ।

समाधि—जब ध्यान ध्येय मात्र का प्रकाशक तथा अपने ध्यानाकार रूप से रहित के जैसा हो जाता है तब उसे 'समाधि' कहते हैं । चित्त की एकाग्रता की इस सर्वोत्कृष्ट अवस्था में ध्याता-ध्यान-ध्येय का त्रिपुटीमान नहीं रहता है । बारह प्राणा-याम का परिच्छिन्न काल 'धारणा', बारह धारणा का परिच्छिन्न काल 'ध्यान' तथा

---

1. योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ० 105
2. योगसूत्र, 3/29

बारह ध्यान का परिच्छिन्न काल 'समाधि' है। चित्तैकाग्रता की यह न्यूनतम अवधि है। धारणा आदि तीन का सामूहिक नाम 'संयम' है। इस प्रकार मन्द अधिकारियों के चित्त की वृत्तियों का निरोध करने के लिए उपदिष्ट 'अष्टाङ्गयोग' का स्वरूप समझ में आ जाता है। वस्तुतः यह अष्टाङ्गमार्गीय साधना केवल मन्द अधिकारियों के लिए नहीं है अपितु प्रत्येक साधक को इस रास्ते से चलना होता है। यह व्यापक एवं परिपूर्ण मार्ग है। अधिकारियों का वर्गीकरण तो पूर्व जन्मों में योगाभ्यास किये रहने अथवा न किये रहने के कारण किया गया है।

वृत्ति-निरोध का उपदेश जिस चरम फल (कैवल्य) को प्राप्त करने के लिए दिया गया है उसका स्वरूप जानने से पूर्व संसार एवं संसार के कारण को जान लेना आवश्यक है। अतः संसार एवं उसके कारण पर विचार प्रस्तुत हो रहा है।

संसार एवं अविद्या

हमारे आपके चक्षुओं के दृष्टि-पथ में आनेवाला प्रत्येक जड़ पदार्थ संसार के अन्तर्गत है। जड़ पदार्थों का मूल कारण प्रकृति है। प्रकृति से महत्, महत् के अहंकार, अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ एवं पञ्चतन्मात्र तथा पञ्चतन्मात्र से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होता है। बुद्धि (महत्) आदि से पुरुष का भोगायतन सूक्ष्म शरीर तथा सूक्ष्म शरीर का अधिष्ठानभूत स्थूल शरीर, दोनों निर्मित हैं। योग की 'प्रतिबिम्बाख्या' पद्धति से इन जड़ पदार्थों के साथ चेतन पुरुष का होनेवाला अभेद सम्बन्ध संसार है। यह अनादि तथा अनन्त है, क्योंकि असंख्य जन्तु हैं, एक का संसारोच्छेद होने पर भी अन्य का संसार कायम रहता है।[1]

संसार का कारण

जड़-चेतन के अभेद-निबन्धनक संसार को घटित करने की शक्ति अविद्या में है।[2] जड़ होते हुए भी यह अपनी संमोहिनी शक्ति से चेतन पुरुष को संमूर्छित करती है। पुरुष की संमूर्छना 'अपने स्वरूप के विस्मरणपूर्वक दूसरे के स्वरूप का यथोचित बोध न होना' है। यथार्थ ज्ञान का अभाव ही दुःख का मूल है। अतः योग में 'अविद्या' को 'क्लेश' शब्द से व्यक्त किया गया है। शक्तिशाली अविद्या से चार क्लेशदायिनी शक्तियों का आविर्भाव होता है। ये पुरुष के सांसारिक बन्धन को सुदृढ़

---

1. तत्त्ववैशारदी, यो० सू०, 4/33
2. तस्य हेतुरविद्या।—योगसूत्र, 2/24

रखने में अविद्या को सहायता पहुँचाती हैं। अविद्या की चार शक्तियाँ हैं[1]—अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश। इनमें से प्रत्येक की चार चार अवस्थाएँ हैं[2]—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार। अस्मिता आदि की अकार्यावस्था को 'प्रसुति' तथा कार्यावस्था को 'उदार' कहते हैं, अर्थात् कार्यव्यापृत अवस्था उदार है और इसके विपरीत प्रसुप्ति है। अष्टाङ्ग-योग, क्रिया-योग आदि के द्वारा इनकी होनेवाली शिथिल अवस्था 'तनु' तथा उपमर्द्योपमर्दक-भावापन्न अस्मिता आदि की उपमर्दित अवस्था 'विच्छिन्न' कही जाती है। इस प्रकार अस्मिता आदि की पहली, तीसरी तथा चौथी अवस्था में उनका स्वभाव एवं दूसरी अवस्था में प्रतिपक्ष-भावना कारण है।

योग में 'अविद्या' (विपर्यय ज्ञान-वासना) को विद्या का अभाव-रूप नहीं माना गया है। वह ज्ञान-विरोधी भाव-पदार्थ है। अविद्या न तो प्रमाण है, न प्रमाणाभाव, अपितु विद्या से विपरीत अन्य ज्ञान है। पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को आवृत्त करना अविद्या का काम है। अविद्या-ग्रस्त प्राणी को अनित्य पदार्थों में नित्यता की भ्रान्ति, अशुचिपूर्ण पदार्थों में शुचिता की भ्रान्ति, दुःख से युक्त पदार्थों में सुखप्रदातृता की भ्रान्ति तथा अनात्म में आत्मत्व की भ्रान्ति होती है।[3] इस प्रकार की भ्रान्ति से 'अन्धेन नीयमानाऽन्धा इव' की भाँति अज्ञानी का संसार की ओर अभियान (प्रस्थान) होता है। दृक्शक्ति 'पुरुष' एवं दर्शन-शक्ति 'बुद्धि' में एकत्व की स्थापना (अपादान) करनेवाली 'अस्मिता' है।[4] 'अविद्या' से भेदाभेद-घटित भ्रम-ज्ञान होता है और 'अस्मिता' से अत्यन्त अभेद-घटित भ्रम-ज्ञान होता है। आपाततः सुख-रूप प्रतीत होनेवाले पदार्थों के प्रति जो आसक्ति है, उसे 'राग' कहते हैं।[5] दुःख देनेवाले पदार्थों के प्रति होनेवाले क्रोध या घृणा को 'द्वेष' कहते हैं।[6] राग एवं द्वेष में क्लेषप्रदातृता इस प्रकार है—व्यक्ति जिस पदार्थ से 'राग' करता है, आपाततः रमणीय वह पदार्थ अन्ततोगत्वा दुःख देता है, अतः 'राग' को क्लेषात्मक कहा गया है। द्वेष के विषय में बने पदार्थ का नाश करने के लिए व्यक्ति अवांछनीय पदार्थ का आलम्बन लेता है, इससे दुःख का संग्रह

1. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। वही, 2/3
2. अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।—वही, 2/4
3. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।—वही, 2/5
4. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।—वही, 2/6
5. वही, 2/7
6. वही, 2/8

होता है। यही 'द्वेष' की क्लेशमूलकता है। प्राणिमात्र को होनेवाला अत्यन्त स्वाभाविक मरण-भय 'अभिनिवेश' क्लेश है।[1] यहाँ सूत्रगत 'विदुषः' पद का अर्थ व्याख्याकारों ने दो प्रकार से किया है। वाचस्पति मिश्र आदि के अनुसार 'विदुषः' पद का अर्थ शास्त्रज्ञ है। विज्ञानभिक्षु आदि ने 'विदुषः' से शास्त्रज्ञ एवं तत्त्व-ज्ञानी दोनों को लिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रथम पक्ष के अनुसार तत्त्वज्ञानी-भिन्न शास्त्रीय पण्डित में ही मूर्ख की भाँति मरण-भय दिखलायी पड़ता है। द्वितीय पक्ष के अनुसार साधना-सिद्ध ज्ञानी को भी मरण-भय त्रास पहुँचाता है, अर्थात् अत्यन्त धृष्ट मरण-भय किसी को भी नहीं छोड़ता; सभी इसके ग्रास बनते हैं।

उपर्युक्त वर्णन से संसार के मूल कारण अविद्या का स्वरूप समझ में आ जाता है। अब व्यक्ति का संसार में बार-बार आवागमन क्यों होता है, इस जिज्ञासा के समाधानार्थ कर्मवाद को प्रस्तुत किया जा रहा है।

कर्मवाद

योग का कर्मवाद पुनर्जन्मवाद की भित्ति पर स्थित है। यदि दोनों को पर्याय कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। उपनिषदों में कर्म के सिद्धान्त का विशेष रूप से उल्लेख मिलता है। प्रत्येक क्रिया किसी न किसी कारण से संबन्धित रहती है। जन्म-क्रिया का साक्षात् सम्बन्ध कर्म से है। यह सम्बन्ध कोई आकस्मिक घटना नहीं है, अपितु दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है। प्राणियों में विद्यमान सुख-दुःख का वैषम्य उनके द्वारा किये शुभाशुभ कर्मों की याद दिलाता है। छान्दोग्य उपनिषद् में स्पष्ट शब्दों में लिखा है[2]—सुन्दर चरित्रवाले व्यक्ति अच्छी योनि को प्राप्त करते हैं; जैसे, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य योनि और निंद्य चरित्रवाले व्यक्ति नीच योनियों में जन्म लेते हैं; जैसे, कुत्ते, सुअर, चाण्डाल आदि। इस प्रकार कर्म और जन्म का अटूट सम्बन्ध है।

महर्षि पतञ्जलि ने प्राणियों द्वारा किये जानेवाले कर्मों की चार श्रेणियाँ की हैं। वे इस प्रकार हैं—कृष्ण कर्म, शुक्ल कर्म, शुक्ल-कृष्ण अर्थात् मिश्रित कर्म तथा अशुक्ल-अकृष्ण कर्म। तमोगुण की प्रचण्ड अवस्था में मनुष्य पाप कर्म करता है। तमस् आवरक-स्वरूप है।[3] इसलिए उसके कार्य को 'कृष्ण' कहा गया है। सत्त्वगुण की उत्कट

---

1. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।—वही, 2/9
2. तद्य इह रमणीयचरणा....रमणीयां योनिमापद्येरन्....कपूयचरणा कपूयां योनिमापद्येरन्....।—छान्दोग्य उपनिषद्, 5/10/7
3. गुरु वरणकमेव तमः।—सांख्यकारिका, 13

अवस्था में व्यक्ति शुभ कर्म करता है। सत्त्वगुण प्रकाशक[1] अर्थात् शुभ्र होता है, इसलिए उसके कार्य को 'शुक्ल' कहा जाता है। इस प्रकार कृष्ण एवं शुक्ल शब्द पाप एवं पुण्य अर्थ में परिभाषित हैं। अधम कोटि की पापी दुरात्माएँ 'कृष्ण कर्म' ही किया करती हैं। सात्त्विक चित्तवाले तपस्वी, स्वाध्यायी तथा योगाभ्यास-निरत पुरुष 'शुक्ल कर्म' ही किया करते हैं। मध्यम कोटि के व्यक्ति, अवसर के अनुसार, जिसमें गुणों की मात्रा घटती-बढ़ती रहती है, 'शुक्ल' तथा 'कृष्ण' दोनों प्रकार के कर्म करते हैं। सर्वोच्च कोटि को जीवन्मुक्त आत्माएँ, जो पूर्ण रूप से निःस्पृह हैं, अशुभ कर्म करती ही नहीं हैं और जो शुक्ल कर्म करती भी हैं, वे कर्म फल-भावना से रहित होकर किये जाने से 'अशुक्ल' माने जाते हैं। इस प्रकार इनको कर्म-राशि 'अशुक्ल-अकृष्ण' कही जाती है। पहले तीन प्रकार के कर्मों से कर्माशय सञ्चित होता है। चौथे प्रकार का कर्म-कर्माशय का हेतु नहीं है। अर्थात् प्रथम तीन प्रकार के कर्मों से ही फल की उत्पत्ति होती है। अशुक्ल-अकृष्ण कर्म का फल नहीं होता। व्यक्ति को अपने द्वारा किये कर्मों का फल तुरन्त प्राप्त हो, यह आवश्यक नहीं है अपितु निकट भविष्य से लेकर जन्मजन्मान्तर पर्यन्त वह कभी भी फलोन्मुख हो सकता है। कर्ता को फलोपभोग कराये बिना कर्म का क्षय भी नहीं होता। इस प्रकार भोग द्वारा ही कर्म का क्षय होने से तथा उसके फल-दान की अवधि निश्चित न रहने से सभी भारतीय दार्शनिकों ने एक मध्यवर्ती व्यापार की कल्पना की है। योग शास्त्र में इसे 'कर्माशय' कहा गया है। अन्य दर्शनों में यह 'अदृष्ट', 'अपूर्व', 'आश्रव' तथा 'अविज्ञप्ति' आदि नामों से अभिहित किया गया है। 'कर्माशय' पद का अर्थ है—कर्मजनित शुभाशुभ संस्कार। कर्म क्षणिक है, किन्तु उससे उत्पन्न होनेवाला संस्कार अपना फल देने तक स्थायी रहता है। 'संस्कार' चित्त-भूमि में पड़े रहते हैं। संस्कारों की यह 'प्रसुप्त' अवस्था कही जाती है। संस्कार अपनी 'उदार' अवस्था में फल प्रदान करता है। अच्छे-बुरे कर्मों से तीन प्रकार का फल प्राप्त होता है[2]—जाति, आयु तथा भोग। 'जाति' पद से जन्म अथवा मनुष्य, पशु आदि योनियों को लिया जाता है। निश्चित अवधि तक देह तथा प्राण का संयोग रहना 'आयु' है। सुख-दुःख की अनुभूति होना 'भोग' है। व्यक्ति अपने द्वारा किये कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का भोग तभी कर सकता है, जब उसके पास आयु हो। व्यक्ति आयु

---

1. सत्त्वं लघु प्रकाशकम्।—वही, 13
2. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।—योगसूत्र, 2/13

तभी धारण कर सकता है जब उसने 'जन्म' लिया हो। इस प्रकार कर्म से मिलनेवाले तीनों फल परस्पर सम्बद्ध हैं।

पीछे संकेत किया गया है कि कर्म अविलम्ब या विलम्ब से अपना फल देता है।[1] योग शास्त्र में वर्तमान जीवन में अपना फल देनेवाले कर्मों को 'दृष्ट जन्म-वेदनीय कर्माशय' तथा आगामी जीवन में फल-दान के व्यापार से युक्त होनेवाले कर्मों को 'अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय' कहा गया है। इन दोनों अविलम्बित तथा विलम्बित कर्माशयों में एक महान् अन्तर यह है कि प्रथम प्रकार के कर्माशय से दो ही प्रकार का फल (आयु और भोग) प्राप्त हो सकता है। यह कर्म के स्वरूप पर निर्भर करता है कि उससे आयु एवं भोग-रूप दोनों प्रकार का फल प्राप्त होता है। अथवा दोनों में से कोई एक। इसी आधार पर दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय को 'एक विपाकारम्भी' तथा 'द्विविपाकारम्भी' कहा गया है।[2] अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय 'त्रिविपाकारम्भी' ही होता है[3], अर्थात् उससे जाति, आयु तथा भोग-रूप तीनों प्रकार का फल प्राप्त होता है। यह दो प्रकार का है—नियतविपाकारम्भी तथा अनियतविपाकारम्भी। जो निश्चित रूप से विपाकोन्मुख होता है, उसे 'नियतविपाकारम्भी' कहते हैं। जिसकी फलाभिमुखता कई कारणों से अवरुद्ध हो जाती है उस अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय को 'अनियतविपाकारम्भी' कहते हैं। योग के आचार्यों ने इसकी अनियतविपाकारम्भिता में जो तीन हेतु प्रस्तुत किये हैं[4]; वे निम्नलिखित हैं—

(1) पुराणों में ऐसी कथा आयी है कि नन्दीश्वरकुमार ने महादेव की उपासना करके जिस प्रचुर पुण्यराशि को संचित किया है वह पूर्वजन्मीय अल्प पाप-राशि को नष्ट करने में समर्थ हुई। अर्थात् नन्दीश्वर को पूर्व जन्म के पाप कर्म के कारण जो आठ वर्ष की अत्यल्प आयु तथा मनुष्य योनि प्राप्त हुई थी, वह वर्तमान जीवन के पुण्य कर्म के कारण दीर्घायु तथा देवकोटि के सुखानुभव में परिणत हुई। इस उपाख्यान से स्पष्ट है कि अप्रधान कृष्णादि कर्माशय अपने विरोधी प्रबल शुक्लादि कर्माशय से सदा के लिए अभिभूत हो जाता है। अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय की अनियतता में यह पहला हेतु है।

---

1. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।—वही, 1/12
2. व्यासभाष्य, पृ० 162
3. वही।
4. वही।

(2) प्रधान कर्म (जैसे ज्योतिष्टोम याग) की अङ्गभूत क्रिया (जैसे पशु-हिंसा) में स्वतंत्र रूप से अपना फल देने की सामर्थ्य नहीं है। जिस समय प्रधान कर्म (ज्योतिष्टोम याग) अपना फल (स्वर्ग) दे रहा होता है उसी समय गौण कर्म (पशु-हिंसा) अपना फल (दुःख) दे पाता है। इस प्रकार प्रधान कर्म से उत्पन्न अपरिमित सुख का अनुभव करते समय व्यक्ति को गौण कर्म के कारण प्राप्त हुए अत्यल्प दुःख की अनुभूति नहीं हो पाती। इसी कारण अङ्गभूत क्रिया-जनित कर्माशय को 'अनियतविपाकारम्भी' कहा है। यह द्वितीय हेतु है।

(3) नियत विपाकवाले प्रधान कर्माशय से अभिभूत हुआ अप्रधान कर्माशय चिर-काल तक प्रसुप्त रहता है। कर्माशय की अनियतविपाकारम्भिता में इस प्रकार की 'प्रसुप्ति' को भी हेतु माना गया है। यह तृतीय हेतु है।

अब यह जिज्ञासा होती है कि क्या एक कर्म एक जन्म का कारण है, अथवा एक कर्म अनेक जन्मों का कारण है, अथवा अनेक कर्म युगपत् अनेक जन्मों के कारण हैं, अथवा अनेक कर्म एक जन्म के कारण हैं? इन चार विकल्पों में से पहले तीन में शास्त्रीय एवं लौकिक असंगतियों की गवेषणा करके व्याख्याकारों ने चौथे पक्ष को ही सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया है। एक ही समय में बहुत से जन्मों का होना सम्भव नहीं है, इसलिए तीसरा विकल्प त्याज्य है। पहले दो विकल्पों के अनुसार फल-प्राप्ति में अत्यन्त विलम्ब जानकर व्यक्तियों की शुभ कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति न हो सकेगी, जिसके फलस्वरूप समाज में अनुशासनहीनता फैलेगी। अतः पहले दो विकल्प भी संग्राह्य नहीं हैं। निष्कर्ष यह निकला कि जन्म और मरण के मध्य में व्यक्ति द्वारा किये गये कर्मों से संचित हुआ कर्माशय आगामी एक जन्म का कारण होता है। इस प्रकार योग शास्त्र की 'कर्म-मीमांसा' अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होती है।

उपर्युक्त वर्णन से, वृत्ति-निरोध के पूर्व की अवस्था (संसार) को जान लेने के पश्चात् अब इसके बाद की अवस्था (कैवल्य) के विषय में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है।

कैवल्य

योग-साधना के अभ्यासी की कृतकृत्यता 'कैवल्य' प्राप्त करने में है। जीवन की सफलता एवं परिपूर्णता इसी में है। प्रत्येक व्यक्ति प्रतिकूल-वेदनीय दुःख से छुटकारा चाहता है। 'कैवल्य' ही ऐसी अवस्था है जिसमें निश्चित रूप से तथा पूरी तरह से दुःख का नाश करने की सामर्थ्य है। मोक्ष, मुक्ति आदि इसके पर्याय हैं। योग

के अनुसार पुरुषार्थशून्य गुणों का प्रतिप्रसव (अपने कारण में लय) तथा पुरुष का स्वरूपावस्थान मोक्ष है। तात्पर्य यह है कि पुरुष के स्वरूप में अवस्थित हो जाने पर उससे सम्बन्धित बुद्धि (प्रकृति) भी मुक्त हो जाती है और पुरुष भी।[1]

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार त्रिगुणात्मक सृष्टि के दो प्रयोजन हैं—भोग एवं मोक्ष। पुरुष के भोग के लिए पहले त्रिगुणात्मिका प्रकृति इसके समक्ष विषय उपस्थापित करती है। भोग के बाद उसका काम है पुरुष के लिए मोक्ष का सम्पादन करना। बुद्धि पुरुष के लिए प्रतिबिम्बिविधया भोग का सम्पादन करती है। सुख-दुःख आदि विषयाकार बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष भ्रमवश बुद्धि से तादात्म्य स्थापित करता है और बुद्धिगत धर्मों को अपना समझकर सुखी-दुःखी होता है। बुद्धि-पुरुष के इस अनुचित सम्बन्ध के उच्छेदार्थ योग-साधना की जाती है। बुद्धि पुरुष के लिए कैवल्य का सम्पादन भी प्रतिबिम्बविधया करती है। जिस समय बुद्धि में सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति का उदय होता है उस समय इस वृत्ति से विशिष्ट पुरुष अपने को बुद्धि से पृथक् समझने लगता है। सम्प्रज्ञात का अभ्यास बढ़ते बढ़ते अन्त में विवेक ख्याति के प्रति भी हेय बुद्धि जागरित होती है। इस जाग्रति से, निरुद्ध होने से बची हुई, विवेक ख्याति भी निरुद्ध हो जाती है। इस प्रकार निरुद्ध भूमि को प्राप्त समस्त वृत्ति-रहित चित्त के साथ पुरुष का भोगात्मक सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। इसे ही जीवित योगी की 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। प्रारब्ध कर्म का भोग द्वारा क्षय होने पर देहपात के पश्चात् 'विदेह मुक्ति' होती है। इस प्रकार 'केवलस्य भावः कैवल्यम्' अर्थात् पुरुष की केवलता अथवा स्वस्वरूपावस्थिति[2] की पद्धति समझ में आ जाती है। पुरुष को मुक्त करके बुद्धि भी निवृत्त हो जाती है।[3]

अब योग के कुछ प्रमुख वादों के विषय में कहा जा रहा है।

सप्तप्रज्ञावाद

सामान्यतः 'प्रज्ञा' शब्द का अर्थ ज्ञान होता है। योगशास्त्र में ज्ञान को चित्त का वृत्त्यात्मक परिणाम माना गया है। इस सन्दर्भ में चित्त की प्रमाण आदि पाँच वृत्तियों पर विचार करना हमारा लक्ष्य नहीं है। यहाँ उस विशिष्ट प्रज्ञा के बारे में

---

1. दे० तत्त्ववैशारदी, अन्तिम अनुच्छेद।
2. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।—योगसूत्र, 1/3
3. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।
—वही, 4/33

हम बतलाना चाहते हैं, जिसका विवेकख्याति-सम्पन्न योगी में उदय होता है। इसे 'प्रान्तभूमिप्रज्ञा' भी कहते हैं।[1] ज्ञान की यह सर्वोत्कृष्ट अवस्था बन्धनस्वरूप सांसारिक ज्ञान के अवसान (समाप्ति) की ओर संकेत करती है। यह पुरुष के औपाधिक ज्ञान के अन्त तथा उसके वास्तविक स्वरूप-ज्ञान के आरम्भ का काल है। सात प्रकार की प्रज्ञाएँ निम्नांकित हैं :

प्रकृति से आविर्भूत संसार में परिणाम, ताप, संस्कार एवं गुणवृत्तिविरोध, इन चार कारणों से दुःख का ही साम्राज्य रहता है। 'दुःख' संसार का पर्याय है। इस प्रकार के संसार की हेयता का परिज्ञान (अपरोक्ष ज्ञान) मुझे पूर्ण रूप से हो चुका है। अब जानने के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं है। यह पहली 'ज्ञेयशून्य' अवस्था है। प्रसंख्यान-रूप अग्नि से संसार के कारण का दाह कर चुका हूँ, अब मेरे लिए कुछ भी क्षेतव्य नहीं है। यह दूसरी 'हेयशून्य' अवस्था है। प्राप्तव्य सर्वोत्तम अवस्था में पदार्पण कर चुका हूँ। अर्थात् मैं सम्प्रज्ञात में ही 'हान' अर्थात् जीवन्मुक्ति को प्राप्त कर चुका हूँ। देहपात के अनन्तर मेरी विदेह-मुक्ति भी निश्चित है। अतः मेरे लिए कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रहा है। यह तीसरी 'प्राप्यप्राप्त' अवस्था है। ये तीनों कार्य-विमुक्ति प्रज्ञाएँ कही जाती हैं, क्योंकि ये प्रयत्न-साध्य हैं। इनके आगे की अन्तिम तीन प्रयत्न-निरपेक्ष प्रज्ञाएँ चित्तविमुक्ति कही जाती हैं। अब मेरे लिए कुछ भी भवनीय या करणीय नहीं है। मैं कृतकृत्य हो चुका हूँ। यह चौथी 'चिकीर्षाशून्य' अवस्था है। भोग एवं अपवर्ग दोनों पुरुषार्थ निष्पादित हो जाने से मेरी बुद्धि (प्रज्ञा) चरिताधिकारवाली अर्थात् कृतकृत्य हो चुकी है। यह पाँचवी अवस्था है। पर्वत-शृङ्ग से स्खलित पत्थर की भाँति आधार-रहित, लयाभिमुख गुण बुद्धि के साथ अस्तंगत हो चले हैं। प्रयोजनाभाव के कारण लीन हुए गुणों का पुनः आविर्भाव नहीं होगा। यह छठी अवस्था है। गुणातीत अवस्था में स्वरूपमात्र ज्योति, अमल केवली हुआ मैं जीवन्मुक्त कहलाऊँगा। यह सातवीं अवस्था है। इस प्रकार विवेक ख्याति के वैशारद्य-काल में ऊपर वर्णित सात प्रान्तभूमि प्रज्ञाओं का अनुभव करता हुआ साधक 'केवल' कहा जाता है।

दुःखवाद

जगत् में दुःख का साम्राज्य देखकर मानव की बुद्धि क्रान्ति कर उठी। दुःख से मुक्ति पाने के लिए वह क्रियाशील हो गयी और चिन्तन-धारा में गतिमयी

---

1. तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।—वही, 2/27

होने लगी, जिसके फलस्वरूप दुःख के निवारण के लिए दर्शन शास्त्र का आविर्भाव हुआ। दुःखवाद किसी एक दर्शन का मुख्य सिद्धान्त नहीं, अपितु सभी दर्शनों का सामान्य विषय है। महर्षि पतञ्जलि ने जगत् को दुःख-रूप सिद्ध करने के लिए चार हेतु उपन्यस्त किये; वे हैं—परिणाम, ताप, संस्कार एवं गुणवृत्तिविरोध। आपाततः रमणीय विषयोपभोग अन्ततोगत्वा दुःख का कारण बनता है। विषय-सेवन से इन्द्रियों की कुशलताएँ बढ़ती हैं, न कि कम होती हैं। इससे अतृप्त रहना इन्द्रियों का स्वभाव बन जाता है। अतृप्ति ही दुःख है। इस प्रकार पदार्थों में विद्यमान 'परिणाम-दुःख' समझ में आ सकता है। लोभ एवं मोह के वशीभूत होकर ही व्यक्ति स्वार्थ-सिद्धि के लिए दूसरों को कष्ट पहुँचाता है। दुःख देने से दुःख मिलता है, इस सिद्धान्त के अनुसार पदार्थों को ताप-दुःख से युक्त बतलाया गया है। मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार सुख या दुःख का अनुभव करता है। सुख तथा दुःख के अनुभव से तदनुरूप संस्कार सञ्चित होते हैं। ये संस्कार चित्त-रूपी भूमि में पड़े रहकर अग्रिम संसार के दुःखस्रोत को उद्घाटित करते हैं। यही 'संस्कार-दुःख' है। त्रिगुणवादियों के अनुसार प्रत्येक पदार्थ के तीन पहलू हैं—सुखरूपता, दुःखरूपता तथा मोहरूपता। पदार्थ का मोहरूप तो दुःखरूप का ही पोषक है। इसका सुखरूप भी स्थाई नहीं, अपितु सामयिक है क्योंकि पदार्थगत प्रत्येक गुण अपनी-अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने की होड़ में लगा है। इस प्रकार गुणवृत्तिविरोध के कारण पदार्थों को दुःखरूप कहा गया है। अतः दुःखपूर्ण संसार हेय कोटि में आता है।

चतुर्व्यूहवाद

संसार की हेयता सिद्ध करते हुए योग शास्त्र में 'चतुर्व्यूह' का प्रकरण आया है। दुग्ध के सारभूत अंश नवनीत की भाँति यह योग शास्त्र का सार है। योग में प्रवेश करने का यह मुख्य द्वार है। आयुर्वेद में भी 'चतुर्व्यूह' की पद्धति अपनायी गयी है। वहाँ रोग, रोग-हेतु, आरोग्य (भैषज्य) तथा आरोग्योपाय (भैषज्योपाय) संज्ञक चार व्यूहों में और यहाँ हेय, हेय-हेतु, हान (मोक्ष) तथा हानोपाय (मोक्षोपाय) संज्ञक चार व्यूहों में अपने-अपने शास्त्र का मर्म प्रतिपादित हुआ है।

हेय—जगत् में सबसे अप्रिय वस्तु 'दुःख' है। दुःख का वरण करना कोई नहीं चाहता। इसके प्रति सभी का बलवद्द्वेष दिखलायी पड़ता है। दुःख तीन प्रकार का है—आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक। 'हेय' व्यूह में महर्षि पतञ्जलि यह बतलाना चाहते हैं कि भूत, वर्तमान तथा भविष्य, सभी काल से सम्बन्धित दुःख

हेय नहीं है। भोग द्वारा नष्ट हुए अतीत दुःख तथा भोगारूढ़ (भोगा जाता हुआ) वर्तमान दुःख के प्रति हेय-बुद्धि व्यर्थ है। उसी पदार्थ के प्रति द्वेषपरक हेय-बुद्धि करना उचित है जो द्वेष्य के कारण का क्षय करने में समर्थ हो। मनुष्य अनागत-कालीन दुःख के ऊपर ही विजय पा सकता है।[1] अन्य दो कालों के दुःखों के समक्ष वह पराजित है। संसार में आते ही उसे दुःख के अथाह सागर से जूझना पड़ता है। इस प्रकार दुःख से पूर्ण संसार की हेयता समझ में आ जाती है।

हेय हेतु—व्यक्ति तभी दुःख को त्याग सकता है जब उसे दुःख का मूल कारण ज्ञात रहे। अतः दूसरे व्यूह की अवतारणा हुई। चेतन तत्त्व पुरुष एवं जड़ तत्त्व बुद्धि का होनेवाला भावाख्य संयोग-विशेष हेय संसार का मूल कारण है।[2] अविद्या-निबन्धनक इस संयोग से अत्यन्त भिन्न पुरुष तथा बुद्धि अपने को दूसरे से पृथक् नहीं समझ पाती है अतः एक दूसरे के धर्मों में स्वत्व बुद्धि करती है।

हान—जिस प्रकार चिकित्सा शास्त्र में रोग एवं रोग-हेतु को बतलाने के पश्चात् आरोग्य पर विचार किया गया है, उसी प्रकार यहाँ हेय एवं हेय-हेतु इन दो व्यूहों के पश्चात् क्रमप्राप्त 'हान' व्यूह का प्रतिपादन हुआ है। कुछ व्याख्याकारों ने 'हान' को 'मोक्ष' व्यूह कहा है। इस व्यूह में, प्रथम व्यूह में प्रतिपादित त्यक्तव्य संसार के लिए क्या छोड़ना है, अर्थात् किससे मुक्ति पाना है, यह बतलाया गया है। बुद्धि एवं पुरुष के संयोग की कारणभूत अविद्या का क्षय होना 'हान' है। अविद्या का भली भाँति नाश हो जाने पर इनकी पुनः मित्रता (संयोग) स्थापित नहीं होती। इनका सर्वथा एवं सर्वदा के लिए वियोग (असंयोग) हो जाता है। बुद्धि से पुरुष की यही वियुक्तावस्था अर्थात् केवलावस्था 'मोक्ष' कही जाती है।[3]

हानोपाय—'हान' का स्वरूप जानने के पश्चात् हानस्थानीय अविद्या के क्षय के साधन के सम्बन्ध में जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है। अतः चौथे व्यूह की अवतारणा हुई। महर्षि पतञ्जलि ने 'अविप्लुत विवेकख्याति' को अविद्या के नाश का अचूक उपाय बतलाया है। इनकी दृष्टि में (अविद्या का नाश करने के लिए) प्रकृति-पुरुष का भेद-ज्ञान ही अनुपम साधन है।[4] दूसरे उपाय अपूर्ण होने से संग्राह्य नहीं हैं। यह

---

1. हेयं दुःखमनागतम्।—योगसूत्र, 2/16
2. दृष्टदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।—वही, 2/17
3. तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशे कैवल्यम्।—वही, 2/25
4. विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।—वही, 2/26

परिपूर्ण उपाय सहज प्राप्त होनेवाला नहीं है। इसकी प्राप्ति के लिए अष्टांग-योग की साधना अपेक्षित है।

नवविधकारणवाद

अविद्या और विवेक ख्याति के प्रति अष्टांग-योग किस प्रकार का कारण है; यह बतलाने के लिए व्याख्याकारों ने योग के कारणवाद को प्रस्तुत किया है। दर्शन के अधिकांश पाठक दो प्रकार (उपादान एवं निमित्त) या तीन प्रकार (समवायि, असमवायि तथा निमित्त) के कारणों से ही परिचित होंगे। योग-शास्त्रियों ने नौ प्रकार के कारणों की गवेषणा की है। इस अनुसंधान का पूरा श्रेय आचार्य व्यासदेव को है। वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु, नागेश भट्ट तथा हरिहरानन्द आरण्यक आदि ने आचार्य व्यासदेव द्वारा अनुसन्धित कारण-सिद्धान्त का स्पष्टीकरण तथा विशदीकरण किया है। नौ प्रकार के कारण इस प्रकार हैं[1]—उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्ति, विकार, प्रत्यय, आप्ति, वियोग, अन्यत्व तथा धृति। विज्ञान को अतीत अवस्था से हटाकर वर्तमान अवस्था में लानेवाला मन विज्ञान का 'उत्पत्ति-कारण' कहा जाता है। शरीर का 'स्थिति-कारण' आहार तथा मन का 'स्थिति-कारण' पुरुषार्थ है। मन तब तक ही रहता है जब तब वह भोग एवं मोक्ष-रूप पुरुषार्थ को निष्पन्न नहीं कर लेता। आलोक एवं रूप-ज्ञान दोनों पदार्थगत रूप के प्रति 'अभिव्यक्ति-कारण' हैं। अभिव्यक्ति शब्द से बुद्धि-वृत्ति तथा पौरुषेय-बोध दोनों गृहीत हैं। लेकिन दोनों में अन्तर यह है कि बुद्धि-वृत्ति के प्रति आलोक तथा पौरुषेयबोध के प्रति बुद्धिनिष्ठ रूप-ज्ञान 'अभिव्यक्तिकारण' है। ध्येय से अतिरिक्त विषय का चिन्तन मन का 'विकार-कारण' है, जिस प्रकार मृकण्ड मुनि का समाहित चित्त उम्लोचा नामक अप्सरा को देखते ही विकार को प्राप्त हुआ था। इसमें प्रमाण है उनकी समाधि का भङ्ग होना। अग्नि सुवर्ण आदि का 'विकार-कारण' है, क्योंकि अग्नि-संयोग से सुवर्ण आदि धातुओं का अवयवसंगठन शिथिल हो जाता है। अग्नि-ज्ञान के प्रति धूम-ज्ञान 'प्रत्यय-कारण' है। योगाङ्गानुष्ठान विवेक-ख्याति का 'आप्ति-कारण है। 'आप्ति' पद का अर्थ है प्राप्ति। यही योगाङ्गानुष्ठान अशुद्धि-क्षय के प्रति 'वियोग-कारण' है। सुवर्ण-पिण्ड को कटक, कुण्डल, केयूर आदि अनेक रूपों में ढालनेवाला सुवर्णकार सुवर्ण के प्रति 'अन्यत्व-कारण' है। शरीर इन्द्रियों का 'धृति-कारण' तथा इन्द्रियाँ शरीर का 'धृति-कारण' कही गई हैं। इस प्रकार योगशास्त्र में कारण के नौ भेदों पर विचार किया गया है।

---

1. व्यासभाष्य, पृ० 236

सत्कार्यवाद के अनुसार असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती और सत् पदार्थ का नाश नहीं होता। कारण-व्यापार से पूर्व भी कार्य कारण में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है। कारण-व्यापार के द्वारा कार्य की अभिव्यक्ति होती है, न कि उत्पत्ति। इस प्रकार प्रकृति आदि अपने अपने बुद्धि कार्यों के प्रति 'अभिव्यक्ति-कारण' सिद्ध होती हैं। अब योग के अभिव्यक्ति कारण के मूल आधार परिणामवाद पर विचार किया जायगा।

परिणामवाद

परिणामवाद योग दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। यह योग के सृष्टि के सिद्धान्त की ओर संकेत करता है। सृष्टि के सम्बन्ध की यह मान्यता सांख्य को छोड़कर अन्य किसी दर्शन में पल्लवित नहीं हुई है। बौद्ध 'संघातवादी', न्याय-वैशेषिक 'आरंभवादी' तथा अद्वैत वेदान्ती 'विवर्तवादी' कहे जाते हैं। इस मतभेद का मूल स्रोत जगत् के मूल कारण की भिन्नरूपता में दिखलायी पड़ता है, जैसे योग के अनुसार 'प्रकृति' बौद्ध के अनुसार 'धर्म', न्याय-वैशेषिक के अनुसार 'परमाणु' एवं वेदान्त के अनुसार 'माया' जगत् का मूलकारण है। सृष्टि सम्बन्धी इस अन्तर ने दर्शनों के अन्य सिद्धान्तों में भी मतभेद का सूत्रपात किया है।

योग की जड़ 'प्रकृति' परिणामशीला है। 'परिणाम' शब्द का सामान्य अर्थ 'परिवर्तन' तथा पारिभाषिक अर्थ 'अवस्थान्तर' है; अर्थात् एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त करना ही परिणामी का 'परिणाम' है[1]। सत्त्व, रजस् तथा तमस् प्रकृति' के घटक हैं। सत्त्व आदि गुणों से अतिरिक्त प्रकृति नहीं है।[2] अर्थात् सत्त्व आदि से प्रकृति का निर्माण होता है, ऐसी बात नहीं है। सत्त्वादि में प्रकृति की निर्मातृता नहीं, अपितु तद्रूपता है।

योग के आचार्यों ने त्रिगुण-स्वरूप प्रकृति के परिवर्तन (परिणाम) की दो विधाओं का उल्लेख किया; वे हैं—सरूप एवं विरूप। प्रकृति के सरूप परिणाम का सम्बन्ध प्रलयावस्था से है, जिसके फलस्वरूप प्रकृति का सृष्टि-काल से सम्बन्धित 'विरूप परिणाम' रुक जाता है और 'सरूप परिणाम' चलने लगता है। प्रकृति के 'सरूप परिणाम' का स्वरूप है—तुल्य मात्रा में वर्तमान सत्त्वादि गुणों का अपने अपने में अवस्थान्तरण होते रहना, अर्थात् एक 'सत्त्व' व्यक्ति का अभिभव तथा दूसरे 'सत्त्व' व्यक्ति

1. अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः।—वही, पृ० 262
2. सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्।—सांख्यसूत्र, 6/39

का उद्भव होना। इसी प्रकार रजोगुण एवं तमोगुण का व्यक्तिप्रधान परिणाम होता है। प्रकृति की अकार्योपलक्षित यह अवस्था प्रलय के अन्तिम क्षण तथा सृष्टि के प्रथम क्षण के मध्य-बिन्दु पर आकर समाप्त हो जाती है। सृज्यत इति सृष्टिः', अर्थात् सृजन का नाम सृष्टि है। सृजन तत्त्वों का होता है। इस प्रकार जिसमें तत्त्वों की सर्जना हो, वही सृष्टि है। ऊपर सृष्टि-काल में प्रकृति का 'विरूप परिणाम' कहा गया। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति का 'विरूप परिणाम' महत् अहंकार आदि तत्त्वों की सृष्टि से सम्बन्धित है।

त्रिगुणात्मिका 'प्रकृति' का साक्षात् परिणाम 'बुद्धि', बुद्धि के द्वारा परम्परया परिणाम 'अहंकार', अहंकार के द्वारा परम्परया परिणाम ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्राएँ तथा तन्मात्राओं के द्वारा परम्परया परिणाम पाँच महाभूत हैं। सर्ग की इतिश्री पञ्चमहाभूत तक ही नहीं है। पञ्चमहाभूत से आगे उसके परिणाम-स्वरूप गो, घट, पट आदि असंख्य पदार्थ भी दृष्टि-पथ में आते हैं। लेकिन सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण तथा योगसूत्रकार महर्षि पतञ्जलि महत् से महाभूत पर्यन्त प्रकृति का परिणाम बतलाकर चुप हो जाते हैं। व्याख्याकार उनके मौन का कारण यह बतलाते हैं कि महाभूत से आगे का गो, घट, पट आदिवाला जो परिणाम है वह तत्त्वान्तर परिणाम न होकर धर्म, लक्षण एवं अवस्था का परिणाम है। ये तीन प्रकार के परिणाम सर्वत्र (बाह्य जड़ जगत् तथा आन्तरिक चित्त-जगत्) में पाये जाते हैं।[1]

धर्म परिणाम—'धर्म' (कार्य) के 'धर्मी' में होनेवाला रूपान्तरण धर्मी का 'धर्म परिणाम' कहलाता है। यद्यपि सांख्य, योग दर्शन में धर्म-धर्मी शब्द 'कार्य' एवं 'कारण' के अर्थ में सामान्य रूप से आये हैं, तथापि यहाँ 'कार्य' शब्द से कारण का तत्त्वान्तर-रूप गृहीत नहीं है तथा 'कारण' शब्द तत्त्वान्तरोपादानक नहीं है; अन्यथा 'धर्म परिणाम' तथा 'तत्त्वान्तर परिणाम' दोनों ही कारण की समान कार्यावस्था के वाचक होंगे, लेकिन यह शास्त्र के विरुद्ध है। कारण से होनेवाली तत्त्वान्तर-भिन्न कार्योत्पत्ति ही धर्मी का 'धर्म परिणाम' है। उदाहरण के रूप में, पृथ्वी आदि भूतों का गो, घट, वृक्ष आदि तथा इन्द्रियों का आलोचन-रूप 'धर्म परिणाम' है। जो अपने कारण की दृष्टि से धर्म है, वह अपने कार्य की दृष्टि से धर्मी भी कहा जाता है। मृत्तिका के घटाकार परिणाम के मध्य होनेवाले अवान्तर परिणामों में धर्म-धर्मी-सम्बन्ध परिवर्तित होता हुआ इस प्रकार द्रष्टव्य है—मृत्तिका का चूर्णाकार परिणाम,

1. एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः।—यो० सू०, 3/13

चूर्ण मृत् का पिण्डाकार परिणाम, पिण्ड मृत् का कपालाकार परिणाम तथा कपाल मृत् का घटाकार परिणाम होता है। इस उदाहरण में क्रमशः पहला धर्मी है तथा दूसरा धर्म। यह धर्म परिणाम धर्मी के भावान्यथात्व का हेतु है, द्रव्यान्यथात्व का हेतु नहीं[1]; अर्थात् सुवर्ण रुचक, स्वस्तिक, कुण्डल आदि रूप से अनेक प्रकार का धर्म परिणाम होता है, उससे सुवर्ण अर्थात् धर्मी का स्वरूप-नाश नहीं होता, यानी सुवर्ण असुवर्ण नहीं हो जाता।

लक्षण परिणाम 'लक्ष्यते भिद्यतेऽनेन इति लक्षणम्', इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'लक्षण परिणाम' के द्वारा उस काल की वस्तु का अन्य काल की वस्तुओं से भेद लक्षित होता है।[2] जिस प्रकार धर्म परिणाम धर्मी का होता है उसी प्रकार लक्षण परिणाम धर्मी का नहीं होता। यह धर्मनिष्ठ परिणाम है।[3] इस प्रकार अवस्थित धर्म के 'अनागत' आदि लक्षण के परित्यागपूर्वक जिस 'वर्तमान्' आदि लक्षण की प्राप्ति होती है, उसे 'लक्षण परिणाम' कहते हैं। काल-घटित लक्षण परिणाम तीन प्रकार का है—अनागत, वर्तमान तथा अतीत। लक्षण परिणाम 'अनागत' आदि क्रम से ही होता है। उपर्युक्त वर्णन का आशय यह है—मृत्तिका आदि धर्मी में घटादि धर्म छिपे रहते हैं। जब मृतिका का घटाकार परिणाम (धर्म परिणाम) होता है तब घट अपने 'अनागत' लक्षण को छोड़कर 'वर्तमान' लक्षण को प्राप्त करता है। तदनन्तर 'वर्तमान' लक्षण-विशिष्ट घट दण्ड-प्रहार द्वारा 'अतीत' लक्षण में चला जाता है। धर्म अपने एक लक्षण के परिणाम-काल में अन्य दो लक्षणों से सम्बद्ध रहता है[4], क्योंकि सत्कार्य-वाद के अनुसार असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती और सत् का कभी नाश नहीं होता।

अवस्था परिणाम—'लक्षण परिणाम' की भाँति 'अवस्था परिणाम' भी धर्म का ही होता है, धर्मी का नहीं; धर्म (कार्य) का एक काल से दूसरे काल में प्रस्थान जिस लक्षण परिणाम द्वारा होता है, उसे 'अवस्था परिणाम' सहायता प्रदान करता है। यदि घट आदि कार्य (धर्म) का अवस्था परिणाम न माना जाय तो किसी बाह्य निमित्त के

---

1. तत्र तेषु परिणामेषु....धर्मिणो....धर्मान्यथात्वमेव भवति न द्रव्यान्यथात्वम्। —योगवार्तिक, पृ० 298
2. लक्ष्यतेऽनेन लक्षणं कालभेदः। तत्त्ववैशारदी, पृ० 294
3. धर्माणां चातीतानागतवर्तमानरूपता लक्षणपरिणामः।—वही, पृ० 297
4. अत्र एकैकलक्षणाभिव्यक्तिकालेऽपि धर्मो लक्षणान्तराभ्यां सूक्ष्माभ्यां वियुक्तो न भवति।—योगवार्तिक, पृ० 301

बिना ही कार्य की जो भग्नावस्था दिखलायी पड़ती है, वह उत्पन्न न हो सकेगी। अतः मानना चाहिए कि नूतन घटादि धर्मों में पुरातनता लानेवाला 'अवस्था परिणाम' है। कार्य (धर्म) में यह 'अवस्था परिणाम' प्रतिक्षण होता है। अन्य दो परिणाम प्रतिक्षण नहीं होते। इस प्रकार जड़ पदार्थों में विद्यमान धर्मादि परिणामों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि परिणामवाद के अनुसार जगत् का प्रत्येक जड़ पदार्थ प्रतिक्षण परिणाम को प्राप्त हो रहा है। अब यह विचारणीय है कि क्या समाधि-प्राप्त चित्त का भी परिणाम होता है। योग शास्त्र में समाधि-सम्पन्न चित्त के तीन परिणाम बतलाये गये हैं—निरोध परिणाम, समाधि परिणाम तथा एकाग्रता परिणाम। साधना-क्रम से समाधि-प्राप्त चित्त का पहले समाधि परिणाम, मध्य में एकाग्रता परिणाम तथा सबसे अन्त में निरोध परिणाम होता है।

समाधि परिणाम—जब साधक चित्त को क्षिप्त आदि भूमियों से प्रयत्नपूर्वक ऊपर उठाकर एकाग्र-भूमि में प्रवेश करता है, तब चित्त का सार्वविषयाभिमुख धर्म (प्रतिक्षण नये नये विषय को ग्रहण करने का स्वभाव), क्रमशः शिथिल होता जाता है और एकविषयाभिमुख धर्म (एक ही विषय में चित्त को एकाग्र करने का स्वभाव) क्रमशः प्रबल होता है। इस प्रकार व्युत्थान-स्वरूप वृत्तिरूपधर्म के अभिभव तथा एक विषयाकार वृत्तिरूप-धर्म के प्रादुर्भाव से अन्वित चित्तधर्मी का 'समाधि परिणाम' माना गया है।[1]

एकाग्रता परिणाम—जब चित्त समाधि को पूर्ण रूप से प्राप्त कर लेता है तब चित्त की व्युत्थान-स्वरूप वृत्तियाँ पूर्णरूप से अभिभूत हो जाती हैं। इस समय चित्त में केवल ध्येयाकार वृत्ति ही उठती तथा अस्त (लीन) होती है। इस प्रकार ध्येयाकार वृत्ति के उदय और लय से अन्वित चित्तरूपी-धर्मी का 'एकाग्रता परिणाम' कहा गया है।[2]

निरोध परिणाम—एकाग्र-वृत्ति के निरुद्ध हो जाने पर तज्जन्य व्युत्थानस्वरूप संस्कार तथा व्युत्थान-संस्कार के निरोध-स्वरूप संस्कार के क्रमशः तिरोभाव एवं आविर्भाव से अन्वित चित-धर्मी का 'निरोध परिणाम' कहा गया है।[3]

---

1. सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।—योगसूत्र, 3/11
2. ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः।—वही, 3/12
3. व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः।
—वही, 3/9

इस प्रकार योग के सभी व्याख्याकारों ने समाधि-विशिष्ट चित्त के तीन प्रकार के परिणाम स्वीकार किये हैं। लेकिन योग की किस किस अवस्था में चित्त इन तीन प्रकार के परिणामों से युक्त होता है, इस बिन्दु पर आकर व्याख्याकारों में मतभेद दिखलायी पड़ता है। आचार्य वाचस्पति मिश्र आदि के अनुसार चित्त का सम्प्रज्ञात समाधि की प्रारम्भिक अवस्था में 'समाधि परिणाम' सम्प्रज्ञात से सुदृढ़ होने पर 'एकाग्रता परिणाम' तथा असम्प्रज्ञात में 'निरोध परिणाम' होता है। आचार्य विज्ञानभिक्षु आदि ने अष्टाङ्ग-योगवाली समाधि के अभ्यास-काल में चित्त का 'समाधि परिणाम', इसी समाधि की परिपक्व अवस्था में चित्त का 'एकाग्रता परिणाम' तथा सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात की दशा में चित्त का 'निरोध परिणाम' माना है। इस प्रकार योग दर्शन में आये परिणामवाद के प्रत्येक पहलू पर विचार किया गया।

स्फोटवाद

व्यासदेव, वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु तथा नागेश भट्ट आदि आचार्यों ने स्फोटवाद के स्पष्टीकरण एवं विशदीकरण में पर्याप्त रुचि प्रदर्शित की है। शब्दप्रमाण के प्रसंग में कहे गये वक्ता के शब्द को सुनकर श्रोता को जो अर्थावबोध होता है उसे शब्द-प्रमाण कहते हैं। प्रश्न है, शब्द आशु-विनाशी है, वह किस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय का विषय बनकर अर्थावबोध करा सकता है? इसी समस्या को हल करने के लिए दर्शन में स्फोटवाद की अवतारणा हुई।

'स्फुटति व्यक्तीभवति अर्थोऽस्मादिति स्फोटः' अथवा 'स्फुटयते = अभिव्यज्यते वर्णैरिति स्फोटः', इन दो व्युत्पत्तियों के अनुसार जिससे अर्थ स्फुट होता है अथवा जिससे वर्ण अभिव्यङ्ग्य होकर अर्थप्रतीति का जनक होता है उसे स्फोट कहते हैं। शब्द तीन प्रकार का है—वर्ण, ध्वनि एवं पद। ये भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से ग्रहण होने योग्य हैं। वर्ण' वागिन्द्रिय का ही विषय है। वागिन्द्रिय से पद गृहीत नहीं होता। 'अ' कारादि शब्द वर्ण कहे जाते हैं। उर, कण्ठ आदि आठ स्थानों से वर्ण की अभिव्यक्ति होती है। दूसरे प्रकार का ध्वन्यात्मक शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। ध्वनि (नाद) के वर्ण तथा अवर्ण दो रूप हैं। शब्द का तीसरा भेद बुद्धिग्राह्य है, अर्थात् वर्णों के एकत्व की संयोजना करनेवाली बुद्धि पद को ग्रहण करती है। कहने का तात्पर्य यह है, 'गोः' इत्यादि शब्द से होनेवाले अर्थज्ञान के समय बुद्धि 'ग्', 'ओ' तथा विसर्ग (:) के क्रम से प्रत्येक वर्ण को ग्रहण करके पीछे से " 'गो' यह एक पद है", इस प्रकार वर्णों के एकत्व का आपादान करती है, जिससे अर्थावबोध (सास्नादिविशिष्ट गो व्यक्ति का ज्ञान)

होता है।[1] निष्कर्ष यह निकला—वर्णव्यतिरिक्त, एकप्रयत्नजन्य, नादाभिव्यङ्ग्य, अन्तःकरणग्राह्य ध्वनिविशेष ही वाचक है और यह अर्थ-प्रत्यायन का हेतु होने से 'स्फोट' कहा जाता है। जिस प्रकार पद-स्फोट होता है उसी प्रकार वाक्य-स्फोट भी होता है।

ईश्वरवाद

योग शास्त्र में 'ईश्वर' तत्त्व की अवतारणा जगत् के मूल कारण (उपादान कारण) के रूप में नहीं हुई, अपितु योग-साधना के सन्दर्भ में ईश्वर का महत्त्वपूर्ण स्थान प्रतिपादित हुआ है।

योग दर्शन में जड़ और चेतन दो प्रकार के पदार्थों का वर्णन उपलब्ध होता है। ईश्वर चेतन वर्ग के अन्तर्गत है। चेतन तत्त्व पुरुष है, अतः ईश्वर भी पुरुष है। लेकिन यह सर्वसाधारण पुरुष नहीं है, अपितु 'पुरुष-विशेष' है। बद्ध, मुक्तसम (विदेह और प्रकृतिलय), मुक्त तथा सदामुक्त, चार प्रकार के पुरुषों में वह 'सदामुक्त' है। पुरुषों की बद्धादि श्रेणियों में असंख्य (अनेक) पुरुष आते हैं, लेकिन 'सदामुक्त' श्रेणी में एक ही पुरुष-विशेष है, अनेक नहीं। अर्थात् पुरुष-विशेष ईश्वर अद्वितीय है। अन्य पुरुषों की अपेक्षा ईश्वर में विलक्षणता इस कोण से है कि वह अविद्या आदि पाँच क्लेश, शुभाशुभ कर्म, कर्मजनित जाति, आयु तथा भोग-रूप विपाक (फल) तथा कर्म-संस्कार (कर्माशय) से सर्वदा एवं सर्वथा असंस्पृष्ट रहता है। यद्यपि 'पुरुष असङ्ग है'[2] इस श्रुति के अनुसार प्रत्येक पुरुष असङ्ग है, तथापि अविद्या से ग्रसित पुरुष की औपाधिक संगता मानने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। यहाँ ईश्वर में औपाधिक सङ्ग का भी निषेध किया जा रहा है। यदि यह कहा जाय कि मुक्तावस्थापन्न पुरुष भी तो औपाधिक भोग से शून्य होते हैं, अतः वे ही ईश्वर मान लिये जायँ, तो यह धारणा उचित नहीं है, क्योंकि मुक्त पुरुष पहले बद्ध रहते हैं। इनमें 'सदामुक्त' अवस्था का अत्यन्ताभाव रहता है। इस प्रकार महर्षि पतञ्जलि ने असंख्य पुरुषों में से एक पुरुष में क्लेशादि का आत्यन्तिक रूप से अभाव रहने के कारण उसे 'पुरुष-विशेष ईश्वर' कहा है। ईश्वर के इस नाम की अन्वर्थता किसी एक कल्प के लिए नहीं, अपितु अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के सभी कल्पों के लिए है। ईश्वर काल की सीमा से परे है।

---

1. पदं पुनर्वाचकं नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यं यथा प्रतीतिसिद्धान् नादान् वर्णान् प्रत्येकं गृहीत्वाऽनु = पश्चात् या संहरति = एकत्वमापादयति गौरित्येतदेकं पदमिति तया पदं गृह्यते।—तत्त्ववैशारदी, पृ० 320
2. असङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतात्।—बृहदारण्यक उप०, 4/3/15/16

इसी आशय को योगसूत्र में 'कालानवच्छिन्न' शब्द से कहा है।[1] ईश्वर की अप्रतिहत शक्ति का कभी भी विघात नहीं होता। वह किसी भी समय और किसी भी पदार्थ पर अपनी प्रभुत्वशक्ति का प्रयोग करता है। ईश्वर की गुरुता भी अविस्मरणीय है। वह अनादि काल से 'परमगुरु' की उपाधि धारण किये है। ईश्वर में ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति एवं क्रियाशक्ति तीनों परम उत्कर्ष को प्राप्त हैं। अर्थात् ईश्वर में ही इन तीनों शक्तियों की निरतिशयता है, अन्यत्र सातिशयता है। श्रुति आदि ग्रन्थों में ईश्वर 'ॐकार' नाम से पुकारा गया है। ॐकार का दूसरा नाम प्रणव है। ईश्वर एवं प्रणव में वाच्य-वाचक-भाव-सम्बन्ध है।[2] ईश्वर प्रणव का वाच्य है और प्रणव ईश्वर का वाचक है। दोनों का यह सम्बन्ध अनादि है। अर्थात् वर्तमान सर्ग में ही नहीं, अपितु समस्त अतीत सर्गों में ईश्वर 'प्रणव' नाम से जाना गया और अनागत सर्गों में भी ईश्वर 'प्रणव' का वाच्य रहेगा।

चित्त को एकाग्र बनाने के लिए महर्षि पतञ्जलि ने योग के अभ्यासियों को 'प्रणव' का जप करने का परामर्श दिया है।[3] उनका आदेश एवं उपदेश है कि अन्य-मनस्क भाव से 'प्रणव'-जप की साधना व्यर्थ है। अर्थानुसन्धान के साथ 'प्रणव-साधन' अभ्यसनीय है। जिसने अपने चित्त-रूपी मन्दिर में ईश्वर की मूर्ति प्रतिष्ठित कर ली है, अर्थात् जिसने अपने ध्यान का केन्द्रबिन्दु एकमात्र ईश्वर को बना लिया है, उसके अविचल ध्यान से द्रवीभूत हुआ ईश्वर उसपर कृपा की वर्षा करता है। ईश्वर की इस कृपा से साधक योग की अन्तिम अवस्था 'असम्प्रज्ञात' को प्राप्त करता है।[4] कहने का तात्पर्य यह है, अन्य साधकों की अपेक्षा ईश्वर के कृपापात्र को यह लाभ होता है कि उसके लिए असम्प्रज्ञात से पूर्व की वितर्क आदि अवस्थाओं पर विजय प्राप्त करना आवश्यक नहीं रहता। लेकिन साधारण साधक साधना-क्रम का उल्लंघन नहीं कर सकता। यदि वह धृष्टतावश, पूर्व-भूमि को विजित किये बिना ही, योग की अन्तिम भूमि में प्रवेश पाने का प्रयास करता भी है तो वह निरर्थक हो जाता है, क्योंकि व्याधि आदि आठ विक्षेपों[5]

---

1. स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।—योगसूत्र, 1/26
2. तस्य वाचकः प्रणवः।—वही, 1/27
3. तज्जपस्तदर्थभावनम्।—वही, 1/28
4. तदभिध्यानमात्रादपि योगिनः आसन्नतरः समाधिलाभः समाधिफलं च भवति।—व्यासभाष्य, पृ० 65
5. व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।— योगसूत्र, 1/30

से युक्त चित्त सर्ववृत्तिनिरोध के प्रांगण में प्रवेश नहीं पा सकता । ईश्वरानुग्रह के व्याधि आदि अन्तराय, जो चित्त की एकाग्रता के बाधक तत्त्व हैं, स्वतः नष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं, उसके सुख के साम्राज्य में दुःख की क्रान्ति भी नहीं रहती । उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि ईश्वर ध्यान का सर्वश्रेष्ठ विषय है । यही कारण है कि महर्षि पतंजलि से उत्तम, मध्यम तथा अधम, तीनों प्रकार के साधकों को ईश्वर-ध्यान का उपदेश दिया है ।

ईश्वर प्रकृष्ट सत्त्व-प्रधान चित्त को धारण करके ही भक्तों के उद्धारार्थ अपनी शक्ति का प्रयोग करता है। ईश्वर का उपाधिभूत 'प्रकृष्ट-चित्त' प्रकृति का कार्य है। महाप्रलय की अवस्था में ईश्वर अपनी उपाधि से संयुक्त रहता है अथवा नहीं, इस प्रश्न को लेकर योग के व्याख्याकारों में मतभेद है। वाचस्पति एवं उनके मतानुयायी महाप्रलय में ईश्वरोपाधि का लय बतलाते हैं। अपने पक्ष के समर्थन में हेतु देते हुए ये लिखते हैं, सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध का नियामक है कारण से कार्य का आविर्भाव होना तथा उसी में कार्य का तिरोभाव होना । ईश्वर का प्रकृष्ट सत्त्वप्रधान चित्त प्राकृतिक अर्थात् प्रकृति का कार्य होने से लयशील है[1], अतः महाप्रलय की अवस्था में, जिस समय सभी जड़ पदार्थ लयाभिमुख होते हैं, उस समय ईश्वर के उपाधिभूत चित्त की ज्यों की त्यों स्थिति बनी रहनी स्वाभाविक नहीं है। इस प्रकार महाप्रलय में अपने कारण में लीन हुआ चित्त, 'अग्रिम सृष्टि में पुनः जीवों के उद्धारार्थ उपाधि धारण करूँगा' ईश्वर के इस संकल्प की वासना से वासित होने के कारण, अग्रिम सर्ग में पुनः ईश्वर से संयुक्त होता है। विज्ञानभिक्षु एवं उनके मतानुयायियों का इस सम्बन्ध में दूसरा मत है। ये महाप्रलय में ईश्वरोपाधि का लय नहीं मानते।[2] अपने मत के समर्थन में इन आचार्यों ने बहुतेरी युक्तियाँ भी दी हैं। इस प्रकार योग शास्त्र में ईश्वर को लेकर उसके प्रत्येक पहलू पर विचार किया गया है।

विभूति

योग-साधना की जाती है कैवल्य-प्राप्ति के लिए और कैवल्य से पूर्व का आनुषङ्गिक फल है विभूति । 'विभूति' पद का अर्थ है सिद्धि और 'सिद्धि' का अर्थ है सामर्थ्य-विशेष । योगसूत्र के तृतीय पाद का नाम ही 'विभूतिपाद' है। वैसे, योग के अन्य पादों में भी विभूतियों का प्रसङ्गतः उल्लेख हुआ है। योग-साधन की तैयारी की उपयुक्तता

1. यस्य हि न कदाचिदपि प्रधानसाम्यं न तत्प्राधानिकम् ।—तत्त्ववैशारदी, पृ० 69
2. ईश्वरोपाधेर्ज्ञानलक्षणावृत्तिः प्रलयेऽप्यस्ति ।—योगवार्तिक, पृ० 98

का संकेत देती हुई विभूतियाँ साधक में योगाभ्यास के प्रति उत्साह एवं आत्मविश्वास जागरित करती हैं। साधक भी योग-साधना के दुर्गम पथ में बीच-बीच में प्राप्त विभूतियों से शक्ति का अर्जन करता हुआ अपने गन्तव्य स्थल तक पहुँच जाता है। विभूतियाँ योग-साधना की साध्य नहीं, अपितु साध्य की प्राप्ति के लिए टानिक स्वरूप हैं। लेकिन जो साधक इन्हें प्राप्त करके अपने योगाभ्यास की परिपूर्णता समझ बैठते हैं, उनके लिए विभूतियाँ विष-तुल्य हैं। इसीलिए योग शास्त्र में विभूति-सम्पन्न साधकों के मिथ्याभिमानित्व की परीक्षा लेने के लिए देवतागणों द्वारा किये जानेवाले निमन्त्रण का भी उल्लेख मिलता है। किसी भी वस्तु के अच्छे और बुरे दो पहलू होते हैं, इस सिद्धान्त के अनुसार मुमुक्षुओं को विभूतियों के उचित स्वरूप का बोध रहना आवश्यक है।

साधन की दृष्टि से हम विभूतियों को दो भागों में बाँट सकते हैं—बहिरङ्ग-साधन-साध्य विभूतियाँ तथा अन्तरंग-साधन-साध्य विभूतियाँ। बहिरङ्ग साधनों से प्राप्त होनेवाली विभूतियाँ द्वितीय पाद में वर्णित हैं। तीसरे पाद में अन्तरंग-साधन-साध्य विभूतियाँ बतलाई गई हैं। क्रिया-प्रधान अहिंसा, सत्य आदि साधनों की परिपक्व अवस्था में बहिरंग सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। अन्तरङ्ग सिद्धियों के धारणादि तीन साधन चिन्तन-प्रधान हैं। चिन्तन किसी विषय का किया जाता है। यहाँ, विशिष्ट-विशिष्ट विषय में धारणा-ध्यान-समाधि का अभ्यास करने से उस-उस विषय से सम्बन्धित सिद्धि प्राप्त होती है। महर्षि पतञ्जलि ने प्रत्येक अन्तरङ्ग-साधन-साध्य विभूति के लिए एक एक विषय निर्धारित किया है। इससे स्पष्ट है कि तत्तत् विषयक संयम में ही उस उस विभूति को प्राप्त कराने की सामर्थ्य है। अतीत-अनागत का ज्ञान, सर्वभूतरुतज्ञान, पूर्वजातिज्ञान, परचित्तज्ञान, अरिष्टज्ञान, भुवनज्ञान, ताराव्यूहज्ञान, ध्रुवगतिज्ञान, कायव्यूहज्ञान, पुरुषज्ञान, अन्तर्धान, हस्ती आदि के सदृश बल-प्राप्ति, परशरीरावेश, जलपङ्ककण्टकादि से असंगता, आकाशगमन, भूतजय, इन्द्रियजय, प्रधानजय आदि योग की प्रमुख विभूतियाँ हैं। बहिरंग साधना में अहिंसा आदि में से क्रमशः पहले सोपान के विजित होने पर अगले सोपान पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास किया जाता है। इस प्रकार पाँच बहिरंग साधन यम आदि के विजित होनें पर तीन अन्तरंग साधन धारणा आदि के अभ्यास का क्रम आता है। इससे स्पष्ट है कि योग दर्शन में प्रतिपादित बहिरंग-साधन-साध्य सभी विभूतियाँ प्रत्येक बहिरंग साधन के जयी को उपलब्ध होती हैं। लेकिन अन्तरंग साधन का विजयी अन्तरंग साधन से सिद्ध होनेवाली जिस विभूति की कामना करता है, उसको वही विभूति प्राप्त होती है। उसके लिए समस्त अन्तरंग-साधन-साध्य विभूतियों को प्राप्त करना आवश्यक नहीं रहता।

अध्याय 13

मीमांसा दर्शन

विषय-प्रवेश

[वेद के दो भाग माने जाते हैं, एक को कर्मकाण्ड और दूसरे को ज्ञानकाण्ड कहते हैं। जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, ऋक्संहिता का प्रमुख विषय देवताओं की स्तुतियाँ हैं। वहाँ अग्नि की प्रशंसा करते हुए कहा गया है, वह देवताओं तक हविष् पहुँचानेवाले हैं। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ-यजन आदि का महत्त्व बढ़ गया। वहाँ याज्ञिक क्रियाओं का विशेष विवरण दिया गया। वास्तव में कर्मकाण्ड ब्राह्मण ग्रन्थों का विशिष्ट विषय है; वैसे ही उपनिषदों को ज्ञानकाण्ड कहा जाता है। उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य ब्रह्मज्ञान और आत्मज्ञान है।

बादरायण के ब्रह्मसूत्र उत्तरमीमांसा कहलाते हैं; उनमें उपनिषदों की शिक्षाओं को व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न है। इसके विपरीत जैमिनि के सूत्र पूर्व-मीमांसा कहलाते हैं। इनका उद्देश्य वैदिक कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में निर्णय देना है। मीमांसा दर्शन में, जिसके प्रतिष्ठाता महर्षि जैमिनि हैं, वैदिक कर्मकाण्ड का विशद विवेचन है। सूत्रों में दर्शन के कुछ प्रमेयों का, जैसे, 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' का उल्लेख है, किन्तु व्याख्याकारों ने उसमें प्रमाण आदि विषयों का विस्तृत समावेश कर दिया। इसलिए छह आस्तिक दर्शनों में मीमांसा दर्शन की भी गणना होती है।—सम्पादक]

भारतीयों, अर्थात् भारतीय हिन्दुओं का धर्म-ग्रन्थ वेद है। परम्परा के अनुसार वेद की कई परिभाषाएं प्रसिद्ध हैं। एक परिभाषा के अनुसार इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहार के अलौकिक उपाय बतानेवाले ग्रन्थ को वेद कहते हैं। वेद जिस धर्म को बतलाता है, वह प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा गम्य नहीं है। प्रत्यक्ष और अनुमान

उस वस्तु-तत्त्व को प्रकाशित करते हैं जो है, अर्थात् जो अस्तित्ववान् है; इसके विपरीत धर्म-शिक्षा का सम्बन्ध उस चीज से है, जो होनी चाहिए। जो है नहीं, अपितु होना चाहिए, वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय नहीं हो सकता। हमें जो करना चाहिए, और उसके द्वारा जिस 'होना चाहिए' को अस्तित्व में लाना चाहिए, उसका निर्देश धर्मशास्त्र या वेद ही कर सकता है। इसलिए मीमांसा दर्शन के अनुसार धर्म का ज्ञान वेद से ही हो सकता है।

दूसरी परिभाषा के अनुसार 'वेद' शब्द, जो ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से निष्पन्न होता है, ज्ञान का पर्याय है। 'विदन्ति अनेन', इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेद ज्ञान का साधन है; किन्तु, जैसा ऊपर संकेत किया गया, वेद उसी पदार्थ का (अर्थात् धर्म का) बोध कराता है जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय नहीं है। इसीलिए मीमांसक विद्वान् वेद की सार्थकता अज्ञात रहस्य के प्रतिपादन में मानते हैं।[1]

जैसा ऊपर संकेत किया गया है, मीमांसा अथवा पूर्वमीमांसा की गणना छह दर्शनों में होने का एक कारण यह भी है कि सूत्रों के व्याख्याकारों ने उसमें प्रमाण-मीमांसा, ज्ञान-मीमांसा आदि विषयों का विशद विवेचन किया। दर्शन युक्तिप्रधान होता है। प्रायः युक्ति का आधार लौकिक अनुभव होता है। किन्तु मीमांसा दर्शन में युक्तियों का प्रयोग मुख्यतः आप्त वचनों के समर्थन तथा उनकी पुष्टि के लिए हुआ है।

अन्य दर्शनों की भाँति मीमांसा दर्शन के विचारों का सुव्यवस्थित तथा क्रमबद्ध रूप सर्वप्रथम सूत्रों के रूप में पाया जाता है। मीमांसा-सूत्र महर्षि जैमिनि द्वारा प्रणीत माने जाते हैं। मीमांसक लोग वेद को अपौरुषेय तथा नित्य मानते हैं। उनका कोई रचयिता नहीं है। किसी ग्रन्थ में दोष रचयिता की कमियों से आते हैं। चूँकि वेद अपौरुषेय हैं, किसी पुरुष द्वारा रचित नहीं हैं, इसलिए वे दोष-रहित हैं। वेद या वेदों का प्रकाश ऋषियों द्वारा हुआ है। मीमांसा दर्शन में प्रमाण सम्बन्धी चिन्तन मुख्यतः यह सिद्ध करने के लिए किया गया है कि वेद या श्रुतियाँ प्रामाणिक हैं। विशेषतः मीमांसकों का स्वतःप्रामाण्यवाद वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए अपनाया गया।

वेद जिसका विधान करें वह धर्म है और जिसका निषेध करें वह अधर्म है।[2] अन्य दर्शनों की भाँति मीमांसा दर्शन भी आत्मा को शरीर से भिन्न और अमर मानता

---

1. 'अप्राप्ते तु शास्त्रमर्थवत्' इति न्यायविदः—मीमांसाभाष्य, विधिनिरूपण।
2. तु० की०, वेद प्रणिहितो धर्मः अधर्मस्तद्विपर्ययः।—मनुस्मृति।

है किन्तु वेदान्तियों की तरह यहाँ आत्मा को चैतन्य-रूप स्वीकार नहीं किया गया। चैतन्य की उत्पत्ति शरीर के साथ आत्मा के संयोग से होती है। विशेषतः जब किसी विषय का ज्ञानेन्द्रियों के साथ संयोग होता है तब चैनन्य की उत्पत्ति होती है। मुक्त आत्मा विदेह तथा चेतना-शून्य होती है, तथापि उसमें चेतना की शक्ति रहती है। आत्मा जब देह-युक्त रहती है तब उसे अनेक प्रकार के ज्ञान प्राप्त हो सकते हैं।

मीमांसा दर्शन जगत् को मिथ्या नहीं मानता। यह दर्शन वस्तुवादी या बाह्यार्थसत्तावादी है। जगत् की सृष्टि करने की शक्ति कर्म में है। उसमें ईश्वर का अधिकार नहीं है। कर्म की अपनी स्वतन्त्र शक्ति है। जिसे अदृष्ट या अपूर्व कहते हैं, वही जगत् का संचालन करती है। कर्म स्वयं अपना फल देता है; कर्म-फल की प्राप्ति ईश्वर से नहीं होती।

वेदान्त दर्शन का मत है कि मुक्ति का साक्षात् साधन आत्मज्ञान है। यह आत्म-ज्ञान कर्मत्याग के अनन्तर होता है। इसके विपरीत मीमांसा दर्शन के अनुसार मुमुक्षु लोगों को भी कर्म करते रहना चाहिए। वेद-विहित कर्मों के अनुष्ठान से बंधन नहीं होता, केवल काम्य या सकाम कर्म बन्धन का हेतु होते हैं। निष्काम भाव से वेद-विहित नित्य कर्म करते हुए मनुष्य मुक्तिलाभ करता है।

मीमांसा का साहित्य

पूर्वमीमांसा का मूल ग्रन्थ जैमिनि के सूत्र हैं, जिनकी संख्या 2,745 है। मीमांसासूत्र बारह अध्यायों में विभक्त हैं। इस दर्शन की रचना बारह अध्यायों में होने से इसे द्वादशाध्यायी या द्वादशलक्षणी मीमांसा भी कहते हैं। महर्षि जैमिनि ने अन्य चार अध्यायों की रचना भी की है, जिन्हें संकर्ष (संकर्षण) काण्ड या देवताकांड कहते हैं। इसमें 436 सूत्रों की रचना की गयी है। इस प्रकार जैमिनि ने 16 अध्यायों की रचना कर उक्त दर्शन को पूर्ण किया है। यज्ञ से सम्बन्धित विचार प्रायः द्वादश अध्यायों में ही पाये जाते हैं।

जैमिनि-सूत्र शबर स्वामी (200 ई०) का प्रसन्न-गम्भीर भाष्य है, जिसे शाबर-भाष्य कहा जाता है। उक्त भाष्य के पूर्व और पश्चात् भी सूत्रों पर उपवर्ष, भर्तृहरि, भवदास, देवस्वामी, भर्तृमित्र आदि विद्वानों द्वारा वृत्तियाँ रची गयीं, किन्तु वे सब अब उपलब्ध नहीं हैं।

मीमांसा के दो सम्प्रदाय

शाबरभाष्य के व्याख्याकारों में कुमारिल भट्ट और प्रभाकर (गुरु) प्रमुख हैं,

इन दोनों के नाम से मीमांसा के दो सम्प्रदाय ('भाट्टमत' और 'गुरुमत') विशेष प्रसिद्ध हुए। मुरारि मिश्र नाम के एक तीसरे व्याख्याता भी हुए, पर उनके व्याख्याग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। कुमारिल भट्ट ने शाबर भाष्य पर अपना प्रसिद्ध वार्तिक लिखा, जिसके तीन खण्ड हैं, अर्थात् श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और टुप्टीका। प्रभाकर ने भाष्य पर दो व्याख्याएँ लिखीं, एक को 'बृहती' नाम दिया गया है और दूसरी को 'लघ्वी' अथवा 'विवरण'। बृहती को 'निबन्धन' भी कहते हैं।

भाट्ट मत के अनुयायियों में अनेक लेखकों ने कुमारिल के मत की व्याख्या और प्रचार किया। पार्थसारथि मिश्र (1050-1120) ने श्लोकवार्तिक पर 'न्यायरत्नाकर' और टुप्टीका पर 'तन्त्ररत्न' लिखा 'न्यायरत्नमाला' और 'शास्त्रदीपिका' उनके मौलिक ग्रन्थ हैं। माधवाचार्य (14वीं शती) ने 'न्यायमालाविरत' ग्रन्थ में अधिकरण-विवेचन किया। मण्डन मिश्र (680-750 ई०) ने 'विधिविवेक', 'भावनाविवेक', 'विभ्रमविवेक' और 'मीमांसानुक्रमणी' ग्रन्थ लिखे। उम्बेक भट्ट (670-750 ई०) ने श्लोकवार्तिक पर 'स्वल्पाक्षरा' व्याख्या रची। प्रसिद्ध वाचस्पति मिश्र (सन् 841) ने मण्डन मिश्र के 'विधिविवेक' पर 'न्यायकणिका' नाम की टीका और शाब्दबोध के विषय को स्पष्ट करने के लिए 'तत्त्वबिन्दु' नाम के मौलिक ग्रन्थ की रचना की।

खण्डदेव (17वीं शती) ने भाट्ट मत को परिष्कृत करने के उद्देश्य से मीमांसा-सूत्रों की 'भाट्टकौस्तुभ' नामक विस्तृत व्याख्या लिखी और शाब्दबोध विषय के प्रति-पादन में अधिकरण शैली में 'भाट्टदीपिका' तथा 'भाट्टरहस्य' नामक दो मौलिक ग्रन्थों की भी रचना की। 'भाट्टदीपिका' पर खण्डदेव के शिष्य शम्भु भट्ट कविमण्डन (1640-1700 ई०) ने 'प्रभावती' नाम की विस्तृत व्याख्या की।

अप्पय दीक्षित (1520-1593 ई०) ने भाट्ट मत के समर्थन में 'विधिरसायन' की रचना कर उसपर व्याख्या भी की तथा 'उपक्रमपराक्रम', वादनक्षत्रावली' और 'चित्रकूट' नामक तीन मौलिक ग्रन्थों की रचना की।

भाट्ट मत के समर्थन में आपदेव (1580-1650 ई०) ने 'मीमांसान्यायप्रकाश' ग्रन्थ लिखा जिसपर उनके पुत्र अनन्तदेव (1600-1670 ई०) ने 'भाट्टालंकार' नामक विस्तृत व्याख्या लिखी। इसके अतिरिक्त 'मीमांसान्यायप्रकाश' पर महामहोपाध्याय चिन्नस्वामी शास्त्री (20वीं शती) की 'सारविवेचिनी' तथा वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर (20वीं शती) की 'प्रभा' नामक व्याख्याएँ भी उपलब्ध हैं।

भाट्ट मत के ही समर्थन में लौगाक्षिभास्कर (16वीं शती) ने 'अर्थसंग्रह' तथा केशव भट्ट (16वीं शती) ने 'मीमांसार्थप्रकाश' और शंकर भट्ट (1550-1620 ई०) ने 'मीमांसाबालप्रकाश' नामक मौलिक ग्रन्थ लिखे।

स्वामी केवलानन्द सरस्वती (20वीं शती) ने 'मीमांसाकोष' नामक एक संग्रह-ग्रन्थ लिखा जो मीमांसा सम्बन्धी शोध के लिए विशेष उपयोगी है।

मीमांसा के सिद्धान्त

मीमांसा दर्शन का प्रधान विषय धर्म है।[1] धर्म का ज्ञान केवल वेद से या वेद-मूलक स्मृतियों तथा वेदमूलक आचार-परम्परा से होता है।[2] प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उसका ज्ञान होना कभी सम्भव नहीं।[3] इसी प्रसंग में प्रत्यक्षादि प्रमाणों पर भी अच्छी तरह विचार किया गया है। वेद का प्रामाण्य प्रतिपादन करने के लिए इस दर्शन में ज्ञान का विवेचन विशद रूप से किया गया है। मीमांसा का ज्ञान-विषयक विचार बहुत ही सूक्ष्म और गम्भीर है। मीमांसा के ज्ञान-विचार को वेदान्त दर्शन ने भी मान्यता दी है।

ज्ञान के दो भेद—अन्यान्य दर्शनों के समान इस दर्शन में भी प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से ज्ञान के दो भेद माने गये हैं। यथार्थ ज्ञान का ही दूसरा नाम 'प्रमा' है। यथार्थ ज्ञान उसे कहते हैं जिससे किसी विषय में नवीन बात ज्ञात होती है,[4] जो अन्य किसी प्रमाण से बाधित नहीं होता और जिसके मूल में कोई दोष नहीं रहता।[5] तात्पर्य यह है कि अज्ञात तथा सत्य पदार्थ के ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि स्मृति तथा संशय-ज्ञान को अथवा अनुवाद को 'प्रमा' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्मृति और अनुवाद का विषय पहले से ही ज्ञात रहता है। प्रमा कहलाने के लिए उसका विषय (पदार्थ) वास्तविक होना चाहिए। इससे भ्रम तथा संशय का निरसन हो जाता है क्योंकि भ्रम तथा संशय-ज्ञान का विषय वास्तविक नहीं होता।

---

1. धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्।—श्लो० वा०, 11
2. श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
   सम्यक् संकल्पजः कामोधर्ममूलमिदं स्मृतम्॥—या० स्मृ०, 7
3. श्लोकवार्तिक, चो० सू०, 14
4. कारणदोषबाधकज्ञानरहितगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्।—शा० दी०, 1/1/5
5. मी० बालप्र०, पृ० 8

प्रमाण-विमर्श

प्रमाण की परिभाषा—प्रमा (अनधिगत अर्थ के यथार्थ ज्ञान) को उत्पन्न करने-वाला साधन (करण) 'प्रमाण' कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि जिस ज्ञान में अज्ञात वस्तु का अनुभव हो तथा जो किसी दूसरे ज्ञान से बाधित न हो और दोषरहित हो, उसे हीं 'प्रमाण' कहते हैं।

भाट्ट मत के अनुसार प्रमाण के भेद—भानुमत में 'प्रमाणों' की संख्या छह है—(1) प्रत्यक्ष, (2) अनुमान, (3) शब्द, (4) उपमान, (5) अर्थापत्ति और (6) अनुपलब्धि।[1]

मीमांसा दर्शन की दृष्टि में यह जगत् वास्तविक है; शांकर वेदान्तियों की तरह मिथ्या नहीं। इसलिए इस दर्शन को वास्तववादी दर्शन कहते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण का परिचय—प्रत्यक्ष का विषय केवल सत् पदार्थ ही हो सकता है। किसी ज्ञानेन्द्रिय के साथ जब सत् (विद्यमान) पदार्थ (विषय) का सम्बन्ध होता है तभी उस विषय (वस्तु पदार्थ) का प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मा को होता है। इन्द्रिय के साथ विषय का संयोग होने पर सर्वप्रथम विषय की प्रतीति मात्र होती है, अर्थात् 'वह है' इतना ही ज्ञान होता है; 'वह क्या है' इसका ज्ञान नहीं होता। इस निर्विशेष ज्ञान को निर्विकल्प' ज्ञान अथवा 'आलोचन' ज्ञान कहते हैं।

इसके अतिरिक्त दूसरा प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जिससे पुर्वानुभव के आधार पर विषय के स्वरूप का निर्धारण किया जाता है, अर्थात् वह वस्तु किस प्रकार की है, उसमें कौन गुण, कौन सी क्रिया है तथा उसका नाम क्या है, इत्यादि बातों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इस विशेष ज्ञान को 'सविकल्प' प्रत्यक्ष कहते हैं। मीमांसक इन दोनों प्रत्यक्षों को मानते हैं। वैयाकरण 'निर्विकल्प' ज्ञान को नहीं मानते,[2] तथा बौद्ध लोग 'सविकल्पक' ज्ञान को नहीं मानते।

प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रक्रिया में नैयायिकों से मतभेद—मीमांसकों ने प्रत्यक्ष के लक्षण और उसकी प्रक्रिया को नैयायिकों के समान ही प्रायः स्वीकार किया है, तथापि प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रक्रिया में मीमांसकों का नैयायिकों से कुछ मतभेद है। किसी मूर्त्त वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए उस वस्तु के साथ इन्द्रियों का जो सम्बन्ध अपेक्षित होता है, उस सम्बन्ध को 'सन्निकर्ष' कहते हैं। लौकिक, अलौकिक भेद से वह सम्बन्ध दो

---

1. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, 123; वाचस्पति की तात्पर्यटीका भी, पृ० 125
2. न्यायबिन्दु, धर्मकीर्ति, पृ० 11-13

प्रकार होता है। उनमें लौकिक सन्निकर्ष संयोग, संयुक्ततादात्म्य, संयुक्ततादात्म्य-तादात्म्य भेद से तीन प्रकार का है। संयोग-सन्निकर्ष से द्रव्य का ज्ञान होता है, **द्रव्य के** जाति-गुण-कर्म का ज्ञान संयुक्ततादात्म्य से होता है, क्योंकि **भाट्टमत में** जाति-गुण-कर्म का द्रव्य के साथ तादात्म्य माना जाता है, **नैयायिकों** की तरह 'समवाय' नहीं, किन्तु वह (तादात्म्य) **नैयायिकों** की तरह अत्यन्त अभेदरूप[1] न होकर भेद-सहिष्णु अभेद-स्वरूप होता है। उसी तरह गुणत्व और क्रियात्व का ज्ञान संयुक्त-तादात्म्य-तादात्म्य सन्निकर्ष से होता है। **भाट्ट मीमांसक** 'समवाय' सम्बन्ध को नहीं मानते। यदि शुक्लादि गुणों में भी नित्यत्व, एकत्व का स्वीकार कर उसपर किसी जाति-रूप धर्म का स्वीकार न किया जाय तो दो सन्निकर्षों से ही काम चल सकता है, तीसरे सन्निकर्ष की कोई आवश्यकता नहीं।

अलौकिक सन्निकर्ष भी 'सामान्य-लक्षणा' और 'ज्ञान-लक्षणा' भेद से दो प्रकार का होता है। इन्द्रिय से सम्बद्ध वस्तु की जाति का ज्ञान होने पर उस जाति की समस्त वस्तुओं का ज्ञान 'सामान्य-लक्षणा' सन्निकर्ष से होता है और चन्दन की लकड़ी में सौरभ का जो ज्ञान (सुरभिश्चन्दनखण्डः) होता है, वह ज्ञान-लक्षणा सन्निकर्ष से होता है। **योगज सन्निकर्ष को मीमांसक लोग स्वीकार नहीं करते**। अतः अलौकिक सन्निकर्ष दो प्रकार का ही है।[2]

नैयायिक लोग संयोग, संयुक्त-समवाय, संयुक्त-समवेत-समवाय, समवाय, समवेत-समवाय और विशेषण-विशेष्य-भाव—छह सन्निकर्ष मानते हैं। किन्तु **भाट्ट मीमांसक** उक्त सन्निकर्षों में से **प्रथम** तीन को ही मानते हैं। अन्तर उसमें इतना ही है कि 'समवाय' के स्थान पर **मीमांसक** (भाट्ट मत के) 'तादात्म्य' शब्द का व्यवहार करते हैं। **भाट्ट मत में** 'श्रोत्र' दिक्स्वरूप और 'शब्द' को द्रव्य माना गया है, तब दोनों में संयोग-सन्निकर्ष से ही काम बन जाता है। अतः शब्द का ज्ञान प्राप्त करने के लिए **भाट्ट मीमांसकों** को 'समवाय' सन्निकर्ष मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसी प्रकार शब्दवृत्ति-सामान्य (शब्दत्व) का ग्रहण संयुक्त-तादात्म्य[3] से ही हो जाने से 'समवेत-समवाय' सन्निकर्ष मानने की भी आवश्यकता नहीं होती, तथा 'अभाव'

---

1. विवरणप्रमेयसंग्रह, अच्यु० ग्रं० मा० सम्पादित, पृ० 44
2. भाट्टचिन्तामणि, गागाभट्ट।
3. न्यायसुधा, तंत्रवार्त्तिक का आकृत्यधिकरण, पृ० 319; श्लोकवार्त्तिक, पृ० 835

पदार्थ का ज्ञान 'अनुपलब्धि' नामक प्रमाण से होता है,[1] अतः उसके ज्ञान के लिए 'प्रत्यक्ष' प्रमाण का उपयोग ही न होने से 'विशेषण-विशेष्य-भाव' सन्निकर्ष को भी **मीमांसकों** ने नहीं माना। उद्भूत-रूप को चाक्षुष प्रत्यक्ष में ही कारण माना है और स्पार्शन प्रत्यक्ष में उद्भूत-स्पर्श को ही कारण माना है। अतः **मीमांसकों** ने 'वायु' को त्वाच प्रत्यक्ष का ही विषय माना है, अनुमान का नहीं।

प्रभाकर का मत

प्रभाकर **सम्प्रदाय** के अनुयायियों का कथन है कि **भाट्ट मत** के अनुयायियों ने प्रमाण का जो लक्षण 'कारणदोषबाधकज्ञानरहितम् अगृहीतग्राहि ज्ञानम्' किया है, वह दीर्घ काल तक होनेवाले एक-विषयक धारावाहिक ज्ञान में अव्याप्ति होने के कारण ठीक नहीं है, क्योंकि किसी भी लक्षण को अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असंभवादि तीनों दोषों से रहित होना आवश्यक है।

अतः **प्रभाकर** ने 'अनुभूतिः प्रमाणम्' को 'प्रमाण' का लक्षण बताया।[2] प्रभाकर ने ऐसे ज्ञान को 'अनुभूति' शब्द से व्यक्त किया है, जो 'स्मृति' से भिन्न हो। 'स्मृति' उस ज्ञान का नाम है, जो केवल संस्कार से उत्पन्न हुआ हो। 'स्वप्न' और 'संशय' भी स्मृति के ही अन्तर्गत है। स्मृति को यथार्थता रहने पर भी उसे प्रमाण नहीं माना जाता, क्योंकि प्रामाण्य का प्रयोजक 'यथार्थत्व' न होकर 'अनुभूतित्व' है। **प्रभाकर** के मत से सभी 'ज्ञान' यथार्थ हैं, तथापि प्रमाण की कोटि में 'अनुभूति' ज्ञान ही माना गया है।

प्रभाकर मत में प्रमाणों की संख्या—इनके मत में प्रमाणों—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और शब्द—की संख्या पाँच है, **भाट्ट मत** के समान छह नहीं। इन प्रमाणों में से 'प्रत्यक्ष' को **प्रभाकर** 'त्रिपुटीप्रत्यक्ष' कहते हैं। इनके मत में 'साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षम्' अर्थात् साक्षात् अनुभव-रूप 'ज्ञान' को ही प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान में 'मेय', 'माता' और 'प्रमा' तीनों रहते हैं; जैसे 'मैं घट को देखता हूँ' यहाँ पर 'मैं' प्रमाता, 'घट' प्रमेय और 'देखना' प्रमा (ज्ञान), तीनों की प्रतीति एक साथ ही होती है, इस कारण इसे, 'त्रिपुटीप्रत्यक्ष' कहते हैं। प्रमेय और प्रमाता की प्रतीति के लिए प्रकाश की अपेक्षा रहती है, किन्तु 'प्रमा' स्वयंप्रकाश होती है, उसकी प्रतीति स्वयं होती है। सुषुप्ति में 'प्रमाता' और 'प्रमेय' स्वयंप्रकाश न होने के कारण प्रकाशित

---

1. श्लोकवार्त्तिक, पृ० 473
2. प्रमाणमनुभूतिः।—प्रकरणपञ्चिका, हिन्दू विश्वविद्यालय, 1961, पृ० 124

नहीं हो पाते। उन्हें प्रकाशित करने के लिए दूसरे की अपेक्षा होती है। किन्तु 'प्रमा' स्वयंप्रकाश होने से उसके प्रकाशित होने में दूसरे की सहायता अपेक्षित नहीं होती। इन्द्रिय और पदार्थ के साक्षात् सम्बन्ध से 'प्रत्यक्ष' ज्ञान होता है। इन्द्रिय का विषय के साथ संयोग सम्बन्ध से और उसमें रहनेवाले धर्म के साथ समवाय सम्बन्ध से तथा तन्निष्ठ धर्म के साथ 'समवेत-समवाय' सम्बन्ध से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।[1] इनके मत में सब प्रकार के ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है; **भाट्ट मत** की तरह यहाँ ज्ञान अनुमेय नहीं है। द्रव्य के ज्ञान के बिना भी रूप आदि का ज्ञान और कहीं रूप आदि के ज्ञान के बिना भी द्रव्य का ज्ञान होता है। इसके ज्ञान में **न्याय-वैशेषिकों** की तरह सापेक्षता नहीं है। **प्रभाकर** भी निर्विकल्पक और सविकल्पक दो प्रकार का प्रत्यक्ष मानते हैं। उनमें निर्विकल्पक स्वरूप-विषयक होता है। इन्द्रिय का सम्बन्ध होने के पश्चात् द्रव्य, गुण, जाति का प्रथमतः स्वरूप मात्र का ज्ञान होता है। केवल द्रव्य ही उसका विषय नहीं बल्कि जाति, गुण का भी अवभास होता है। सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान, विशिष्ट-विषयक होता है। निर्विकल्पक ज्ञान की अवस्था में दूसरी किसी वस्तु की अवगति न होने से जाति की अनुवृत्ति या व्यावृत्ति की प्रतीति नहीं होती। सविकल्पक अवस्था में वस्त्वन्तर का अनुसन्धान रहने से पूर्वाकारावमर्श के साथ जाति की अनुवृत्ति प्रतीति होती है। यह घट है; यह भी घट है, पट नहीं, ऐसी विशिष्ट प्रतीति होती है, उसी तरह गुण-प्रतीति में भी। निर्विकल्पक में द्रव्य और गुण में व्यावर्त्य-व्यावर्तक-भेद की प्रतीति नहीं हो पाती। लेकिन सविकल्पक में गुण का गुणी के साथ अन्वय और अन्य से व्यतिरेक प्रतीत होता है। यह लाल घट है, काला नहीं है, ऐसी विशिष्ट प्रतीति होती है। इसलिए सविकल्पक, विशिष्ट-विषयक होता है। इनके मत में कर्म का प्रत्यक्ष नहीं होता 'कर्म' नित्य अनुमेय रहता है। संयोग-विभाग-परम्परा से गति आदि कर्म का अनुमान किया जाता है। अनुमान करने के पश्चात् उसमें विशिष्ट प्रतीति होती है। नामकल्पना में भी वाच्य के दर्शन से स्मर्यमाण शब्द विशेषण समझा जाता

---

1. **प्रभाकर** मत में संयोग, संयुक्त-समवाय और समवाय, तीन ही सन्निकर्ष हैं। रूपत्वादि का निराकरण करने से इन्हें संयुक्त-समवेत-समवाय-सन्निकर्ष मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती। 'शब्दत्व' का निराकरण करने से समवेत-समवाय-सन्निकर्ष की भी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। 'अभाव' का अभाव होने से तथा समवाय का प्रत्यक्ष न होने से विशेषण-विशेष्य-भाव-सन्निकर्ष भी स्वीकृत नहीं है।

है । विशेषण प्रत्यक्षोपात्त (प्रत्यक्ष से प्राप्त या उपस्थापित) ही हो, ऐसा कोई नियम नहीं है । प्रमाणान्तरोपात्त भी विशेषण हो सकता है । इसलिए नाम और कर्म स्वयं अप्रत्यक्ष रहने पर भी प्रमाणान्तरोपात्त होने पर विशिष्ट ज्ञान कराने में समर्थ रहते हैं ।[1]

अनुमान-निरूपण

अनुमान का लक्षण नैयायिकों के ही समान है । 'अनुमिति करणम् अनुमानम्' अर्थात् अनुमिति के कारण (साधन) को अनुमान प्रमाण कहते हैं । स्वाभाविक रूप से नियत सम्बन्धवाले दो व्याप्य पदार्थों (वस्तुओं) को देखकर दूरस्थित पदार्थ के होनेवाले ज्ञान को अनुमिति कहते हैं;[2] जैसे, संयोग के द्वारा नियत-सम्बन्धवाले धूम और अग्नि में से व्याप्य धूम को पर्वत पर देखने से अप्रत्यक्ष व्यापक अग्नि का जो ज्ञान होता है, उसे अनुमिति कहते हैं । स्वल्प देश और काल में रहनेवाली वस्तु को व्याप्य कहते हैं और अधिक देश तथा काल में रहनेवाली वस्तु को व्यापक कहते हैं । वार्त्तिककार **कुमारिल भट्ट** ने 'सम व्याप्ति' और 'विषम व्याप्ति', दो व्याप्तियाँ बताई हैं । साध्य और हेतु का समान देश, काल में रहना सम व्याप्ति है । जहाँ साध्य अधिक देश-काल में रहे और हेतु न्यून देश-काल में रहे, वहाँ विषम व्याप्ति होती है ।

व्याप्ति-निरूपण

सम्बन्ध-नियम को व्याप्ति कहते हैं । प्रत्यक्ष जगत् (देशकालादि) में लिंग (हेतु) और लिंगी (साध्य) का जो सहभाव है, उसे 'नियम' कहते हैं । जिस वस्तु का जिस वस्तु के साथ प्रत्यक्ष इष्ट देशकालादि में जिस किसी सम्बन्ध से नियत-रूप से उपलब्ध हुआ हो, उसी सम्बन्ध से देशान्तर-कालान्तर में उन दोनों के साहचर्य-नियम के कारण जो ज्ञान होता है, वह अनुमिति होती है, व्याप्ति, नियम, अव्यभिचार, अविनाभाव, ये सब पर्याय हैं । नियम्य, गमक, लिंग, साधन, हेतु ये सब भी पर्याय हैं ।[3]

व्याप्ति के दो प्रकार हैं, एक अन्वय व्याप्ति और दूसरी व्यतिरेक व्याप्ति । साधन के रहने पर साध्य का भी रहना अन्वय प्राप्ति है; जैसे, जहाँ जहाँ धूम हो वहाँ वहाँ अग्नि का भी होना अन्वय व्याप्ति हुई । साध्य के न रहने पर साधन का भी न रहना व्यतिरेक व्याप्ति है । जैसे, जहाँ अग्नि न हो वहाँ धूम का भी न होना व्यतिरेक व्याप्ति हुई । व्यतिरेक व्याप्ति में व्याप्य-व्यापक भाव अन्वय व्याप्ति के

---

1. प्रकरणपंचिका, अमृतकला प्रकरण ।
2. श्लोकवार्त्तिक, पृ० 348
3. वही, पृ० 349

विपरीत हुआ करता है। व्याप्ति-विशिष्ट हेतु तीन प्रकार का होता है—अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी। जिसमें दोनों प्रकार की (अन्वय-व्यतिरेक) व्याप्ति हो वह 'अन्वयव्यतिरेकी' कहा जाता है। जैसे, यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः, और 'यत्र यत्र वह्न्यभावः तत्र तत्र धूमाभावः'। जिस हेतु में केवल अन्वय व्याप्ति ही हो, व्यतिरेक व्याप्ति न हो; उस हेतु को 'केवलान्वयी' कहते हैं। जैसे 'घटः अभिधेयः प्रमेयत्वात्'। यहाँ पर 'यत्र यत्र प्रमेयत्वं, तत्र तत्र अभिधेयत्वम्' इस अन्वय व्याप्ति का होना तो सम्भव है, किन्तु 'यत्र अभिधेयत्वाभावः तत्र प्रमेयत्वाभावः' इस व्यतिरेक व्याप्ति का होना तो संभव नहीं, क्योंकि सभी वस्तुमात्र प्रमेय और अभिधेय है। जहाँ केवल व्यतिरेक व्याप्ति ही हो, अन्वय व्याप्ति न हो, उसे 'केवलव्यतिरेकी' हेतु कहते हैं; जैसे 'पृथिवी इतरभेदवती गन्धवत्वात्'। यहाँ पर सम्पूर्ण पृथ्वी को ही पक्ष की कोटि में रखा गया है, अतः 'यद् यद् गन्धवत् तत्तदितरभेदवत्' इस अन्वय व्याप्ति में दृष्टान्त के रूप में पृथिवी के किसी भी अंश को नहीं लिया जा सकता क्योंकि दृष्टान्त सदैव पक्ष से भिन्न हुआ करता है।

मीमांसकों के मत में अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति की अनुमिति के प्रति समुच्चित्य (मिली-जुली) कारणता नहीं है, दोनों की पृथक्-पृथक् कारणता मानी गयी है। कहीं अन्वय व्याप्ति से अनुमिति होती है तो कहीं व्यतिरेक व्याप्ति से ही।[1]

कुछ मीमांसक अर्थापत्ति प्रमाण में ही व्यतिरेक व्याप्ति को गतार्थ (समावेशित) मानते हैं। स्वार्थ और परार्थ भेद से अनुमान दो प्रकार का है। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, इन पाँच अवयवों से युक्त पञ्चावयव वाक्य को **नैयायिक लोग** पदार्थानुमान कहते हैं।[2] किन्तु **मीमांसकों** का कहना है कि 'प्रतिज्ञा' में 'निगमन' का और हेतु में उपनय का अन्तर्भाव होने से 'त्र्यवयव' वाक्य को ही पदार्थानुमान कहना उचित है। ये तीन अवयव प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय, निगमन हो सकते हैं।[3]

शाब्द-प्रमाण-निरूपण

तार्किकों ने अनुमान-प्रमाण-निरूपण के पश्चात् उपमान प्रमाण का निरूपण किया है, किन्तु **मीमांसक** लोग अनुमान प्रमाण के पश्चात् उपमान का निरूपण न कर

---

1. वही, पृ० 383
2. न्या० सू०, 1/1/32
3. दे० मानमेयोदय, पृ० 64; 'वेदान्त परिभाषा' (अद्वैत वेदान्त) का भी यही मत है।

शाब्द प्रमाण का निरूपण करते हैं, क्योंकि **मीमांसकों** ने उपमान की अपेक्षा शब्द के प्रामाण्य को मुख्य माना है और वह अनुमान के समीपतर भी प्रतीत होती है।

शब्द सुनने के पश्चात् शब्दार्थ संगतिग्रह हुए व्यक्ति को पदार्थ का स्मरण होने पर, उन्हीं से अज्ञात और अबाधित अर्थ-विषयक जो विशिष्ट वाक्यार्थ-ज्ञान होता है, उसे शाब्दी प्रमा कहते हैं और उसे करानेवाले शब्द को प्रमाण कहते हैं। उस शाब्दी प्रमा में पद-ज्ञान कारण (साधन) है, पदार्थ-स्मृति अवान्तर-व्यापार और शाब्द बोध को फल माना गया है।[1] पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध-रूप वाक्यार्थ का मान तो संसर्ग-मर्यादा से ही हो जाता है। एवञ्च, **नैयायिकों** का कहना है कि शाब्द बोध के प्रति ज्ञानमय पद या पद-ज्ञान ही कारण (साधन) होते हैं।

किन्तु **मीमांसक** कहते हैं—पद तो स्वार्थ-समर्पण कर देने मात्र से ही शक्तिहीन हो जाते हैं, इसलिए पद यद्यपि अपने अपने अर्थ को बतलाकर अपना कार्य (व्यापार) समाप्त किये हुए रहते हैं, तथापि स्मरण किये जानेवाले (स्मृत हुए) गो आदि पदार्थ यदि परस्पर अन्वित हुए बिना सामान्य रूप से ही 'अवस्थित' रहें तो पदों की व्युत्पत्ति के समय विशिष्ट अर्थ में ज्ञात होनेवाला उनका तात्पर्य विरुद्ध प्रतीत होगा, अतः सामान्य में वाच्यार्थता की उपपत्ति न हो सकने से विशेष में ही पदार्थों का पर्यवसान माना जाता है। उसी को वाक्यार्थ कहते हैं। उस वाक्यार्थ की प्रतीति लक्षणा से होती है। तात्पर्य यह है कि स्मृत हुए पदार्थ ही लक्षणा के द्वारा वाक्यार्थ के बोधक होते हैं[2], **नैयायिकों** की मान्यता की तरह पद नहीं। वाक्यार्थ की प्रतीति कराने में आकांक्षा, आसक्ति, योग्यता भी पदार्थ की सहायता करती हैं; अर्थात्, वे सहकारी कारण हैं। पदों की स्वार्थ-बोधकता को 'वृत्ति' कहते हैं। वह अभिधा, लक्षणा और गौणी भेद से तीन प्रकार की है। उनमें बिना व्यवधान के शब्दजन्य प्रतीति करानेवाली वृत्ति को 'शक्ति' कहते हैं। वह (शक्ति) **नैयायिकों** की तरह ईश्वरेच्छा-रूप नहीं हैं, बल्कि **मीमांसकों** के मत में 'शक्ति' को स्वतन्त्र पदार्थ माना गया है। इस शक्ति को 'संकेत' शब्द से व्यक्त करते हैं। उसका ज्ञान व्याकरणादि के द्वारा किया जाता है। केवल शक्य-सम्बन्ध को 'लक्षणा' कहते हैं और शक्यनिष्ठ-गुणसजातीय-गुणवत्व को गौणी कहते हैं, इसलिए लक्षणा और गौणी को एक नहीं समझना चाहिए।

शक्यसम्बन्ध-रूप लक्षणा भी जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था के भेद से दो प्रकार

---

1. कारिकावलि, विश्वनाथ न्यायपञ्चानन, श्लो० सं० 8
2. शाबरभाष्य का वाक्याधिकरण, श्लोकवार्तिक, पृ० 876

की है । **आलंकारिकों** ने अजहत्स्वार्था को 'उपादान' और जहत्स्वार्था को 'लक्षणलक्षणा' कहा है । **कुछ मीमांसक** लक्षणा में बीज (कारण) शक्यार्थान्वयाऽनुपपत्ति को ही बताते हैं, क्योंकि वेद में तात्पर्य का होना सम्भव न होने से तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा करने में कारण नहीं बताते । किन्तु **कुछ मीमांसकों** का कहना है कि वेद में पुरुष न होने पर भी (वेद के अपौरुषेय होने पर भी) शब्द के ही तात्पर्य को मानकर, तात्पर्यानुपपत्ति को भी लक्षणा में कारण कहा जा सकता है । गौणी वृत्ति के बोधक तत्सिद्धि, जाति, सारूप्य, प्रशंसा,भूमा, लिङ्गसमवाय, ये छह निमित्त (कारण) माने गये हैं ।

रूढ़, यौगिक, योगारूढ़ के भेद से पद भी तीन प्रकार का है । वह शाब्द ज्ञान पौरुषेय, अपौरुषेय भेद से दो प्रकार का है । लौकिक आप्त वाक्य पौरुषेय है और वेद-वाक्य अपौरुषेय है । ये दोनों ही प्रमाण हैं । उनके सिद्धार्थबोधक और विधायक भेद से पुनः दो भेद हैं । विधायक के भी पुनः औपदेशिक और अतिदेशिक, दो भेद होते हैं ।

प्रभाकर के मत में—शब्द-विज्ञान के द्वारा आत्मा और मन के सन्निकर्ष से अदृष्ट (परोक्ष) विषयों के ज्ञान को शास्त्र (शब्द) प्रमाण कहते हैं । वैदिक वाक्यों से ही यथार्थ शब्द-ज्ञान हो सकता है । इसलिए वैदिक वाक्य ही एकमात्र शब्द-प्रमाण है । उनमें भी जो विधायक (विध्यर्थक) हों, उन्हें ही शब्द-प्रमाण समझना चाहिए ।

जिसे शब्द के रूप में कान से हम सुनते हैं, वह 'ध्वनि' है, उसे नित्य-शब्द का प्रतीक समझना चाहिए । वह (ध्वनि) शब्द से पृथक् है और अनित्य है । शब्द से उसके भिन्न होने में तर्क यह है कि किसी एक शब्द (घट, पट) के अनेक बार उच्चारण करने पर भी एक ही शब्द का बोध होता है, अनेक शब्दों का नहीं । इसलिए उच्चारण के द्वारा ध्वनि की उत्पत्ति होती है, शब्द की नहीं । अतः शब्द की नित्यता में कोई सन्देह नहीं है । जैसे शब्द नित्य है, वैसे ही अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध भी नित्य होता है ।

शब्द-प्रामाण्य में दोनों के मत—भाट्ट मत के अनुसार वैदिक शब्द और लौकिक शब्द, दोनों ही प्रमाण हैं किन्तु **प्रभाकर** के मतानुसार वैदिक शब्द का अपना स्वतः प्रामाण्य है और लौकिक शब्द का अनुमानविधया प्रामाण्य है, स्वतः नहीं ।

उपमान-प्रमाण-निरूपण

मीमांसकों ने नैयायिकों की तरह 'उपमान' को एक स्वतन्त्र प्रमाण माना है ।[1] तथापि दोनों में मतभेद है । **मीमांसा** के अनुसार उपमान से ज्ञान तब हो पाता है, जब

---

1. कुतूहलवृत्ति, 1/3/1/1; शाबरभाष्य, 1/1/5/5, पृ० 37

हम पूर्वदृष्ट वस्तु के समान किसी अन्य वस्तु को देखकर समझते हैं कि स्मृत वस्तु प्रत्यक्ष वस्तु के समान है। जैसे, किसी ने गाय को तो देखा है, लेकिन नीलगाय नहीं देखी। किसी समय वही व्यक्ति वन में गया और उसने पहले पहल नीलगाय को देखा और सोचने लगा कि यह देखने में ठीक अपने गाय के समान लगती है। तब वह समझता है कि 'गाय नीलगाय के सदृश होती है।' उक्त ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' के अन्तर्गत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नीलगाय के सदृश स्मृत वस्तु (अपनी गाय) उस समय प्रत्यक्ष नहीं है। गाय का ज्ञान पूर्व में हुआ था इसलिए उक्त ज्ञान को स्मृतिजन्य ज्ञान भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसका वर्तमान विषय (नीलगाय) से सादृश्य उस समय ज्ञात नहीं हुआ था। उक्त ज्ञान को अनुमान के अन्तर्गत भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'यह नीलगाय अपनी दृष्ट गाय के सदृश है' इस वाक्य से 'पूर्वदृष्ट गाय इस नीलगाय के सदृश है' ऐसा अनुमान करने के लिए व्याप्ति-सूचक वाक्य की आवश्यकता होगी कि 'सभी पदार्थ अपने सदृश पदार्थों के सदृश होते हैं।' किन्तु वह है नहीं। अतः उक्त ज्ञान (गाय नीलगाय के सदृश होती है) को अनुमान के अन्तर्गत नहीं कह सकते। तथा यह ज्ञान शब्द-प्रमाण के भी अन्तर्गत नहीं है, इसलिए इस उपमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि स्मर्यमाण पूर्वदृष्ट अर्थ (वस्तु) में दृश्यमान अर्थ (वस्तु) के सादृश्य का ज्ञान 'उपमिति' है और उसका जो करण (साधन) गवय-व्यक्ति-दर्शन है, उसे 'उपमान' कहते हैं।[1]

नैयायिकों की प्रक्रिया पूर्वोक्त प्रक्रिया से भिन्न है।[2] इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—आप्त वाक्य के द्वारा पहले से यह ज्ञात रहता है कि 'गाय के सदृश नीलगाय होती है।' पश्चात् वन में पहुँचकर गाय के आकारवाली किसी आकृति को जब वह देखता है तब उसे ज्ञात हो जाता है कि यह आकृति 'गाय' के सदृश है। इसके पश्चात् आप्त-वाक्यार्थ का स्मरण करता है। उसके बाद 'गवयो गवयपदवाच्यः' यह ज्ञान उसे होता है। इनके यहाँ 'गवयो गवयपदवाच्यः' यह उपमिति है, आप्त वाक्यार्थ का स्मरण अवान्तर व्यापार है और गवय में गो के सादृश्य का ज्ञान उपमान है।

किन्तु **नैयायिकों** के उक्त उपमान 'यह आकृति गाय के सदृश है', ऐसा ज्ञान, प्रत्यक्ष के द्वारा हो जाता है और 'गाय के सदृश आकृति गवय है' ऐसा ज्ञान शब्द प्रमाण के स्मरण से हो जाता है, अतः 'यह आकृति गवय है', इस ज्ञान की प्राप्ति

---

1. श्लो॰ वा॰, पृ॰ 449
2. अक्षपाद, 1/1/6

अनुमान से ही हो जाती है।[1] इसलिए **नैयायिक** जिसे स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं, वह यथार्थ रूप से स्वतन्त्र नहीं है। **मीमांसकों** की प्रक्रिया के अनुसार ही 'उपमान' की स्वतन्त्र प्रमाणता सिद्ध हो सकती है। **भाष्यकार शबरस्वामी** ने कहा है, 'ज्ञात वस्तु के सादृश्य के आधार पर अज्ञात वस्तु का ज्ञान' ही उपमान है। **मीमांसकों की दृष्टि में** 'सादृश्य' एक स्वतन्त्र पदार्थ है। उसे गुण के अन्तर्गत नहीं कह सकते, क्योंकि गुण में गुण नहीं रहता, किन्तु दो गुणों में सादृश्य रह सकता है। उसे 'सामान्य' (जाति) के अन्तर्गत भी नहीं कह सकते, क्योंकि सामान्य (जाति) सभी व्यक्तियों में एक ही रहता है, जैसे गौओं में गोत्व। सादृश्य में यह बात नहीं। सादृश्य का अर्थ पूर्ण ऐक्य (तादात्म्य) नहीं बल्कि अधिकांश विषयों में समानता रहना है।

प्रभाकर के अनुसार 'सादृश्य' के द्वारा अदृष्ट विषय का जो ज्ञान होता है उसे उपमान कहते हैं, अर्थात् सादृश्य के प्रत्यक्ष से अविद्यमान गाय में सादृश्य का जो ज्ञान होता है उसे उपमान कहते हैं।[2]

भाट्ट सम्प्रदाय में अविद्यमान गाय का 'स्मरण' और **प्रभाकर सम्प्रदाय** के अनुसार अविद्यमान गाय में 'सादृश्य-ज्ञान' ही उपमान है।

उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानने का फल—उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानने का फल है विकृति को देखकर तत्सदृश प्रकृतियाग का स्मरण हो पाना या उसके सादृश्य का प्रकृति में ज्ञान हो पाना और उससे अतिदेश-वाक्य को कल्पना कर पाना, जैसे 'सौर्ययागेन ब्रह्मवर्चसं भावयेत् आग्नेयवत्'।[3]

अर्थापत्ति-प्रमाण-निरूपण

ज्ञात अर्थ की व्याख्या के लिए अज्ञात अर्थ की कल्पना अर्थात् जिसकी सहायता के बिना उस ज्ञात अर्थ को उपपत्ति नहीं हो पाती उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं[4]; जैसे, किसी देवदत्त नामक व्यक्ति का जीवन प्रमाणान्तर (ज्योतिषादि) से निश्चित है, किन्तु घर में जब उसकी उपलब्धि (स्थिति) नहीं होती, तब उसके बहिर्भाव (बाहर होने) की कल्पना की जाती है। उसी कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं। यहाँ उपपाद्य जीवन करण है और उपपादक बहिर्भाव फल है। जिसके बिना जो अनुपपन्न हो उसे उपपाद्य

---

1. शाबरभाष्य, 1/1/5, पृ० 74
2. बृहती, पृ० 169; ऋजुविमला भी देखने योग्य है।
3, श्लोकवार्त्तिक, शास्त्रदीपिका, 1/1/5, प्रकरणपञ्चिका, शाबरभाष्य, 1/1/5
[illegible]ष्य, 1/1/5

कहते हैं; जैसे, 'जीवन'। और जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति हो उसे उपपादक कहते हैं; जैसे, 'बहिर्भाव'। जीवन और बहिर्भाव में प्रमाण-सिद्ध जो परस्पर प्रतिघात (विरोध) है वह अर्थापत्ति में करण होता है। देवदत्त घर में स्थित है या वह बाहर है, यह किसी प्रमाण से ज्ञात हो और अन्य किसी प्रमाण से यह भी ज्ञात हो कि—वह घर में नहीं है, ऐसी स्थिति में दोनों ही परस्पर प्रतिघाती (विरोधी) प्रतीत होते हैं। उस प्रतिघात (विरोध) का समाधान बहिर्भाव की कल्पना से किया जाता है। अतः दो प्रामाणिक अर्थों के बीच अर्थान्तर की कल्पना के द्वारा समाहित हो सकनेवाला पारस्परिक प्रतिघात अर्थापत्ति का कारण कहा गया है। उस प्रतिघात के समाधानार्थ जो अर्थान्तर-कल्पना होती है उसे अर्थापत्ति कहते हैं।

नैयायिक लोग उक्त अर्थापत्ति का अनुमान में ही अन्तर्भाव करते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है,[1] क्योंकि अर्थापत्ति में अनुपपद्यमान वस्तु 'गम्य' और उपपादक वस्तु 'गमक' होती है। किन्तु अनुमिति में उपपादक वस्तु ही गम्य होती है और अनुपपन्न वस्तु गमक कहलाती है; इसलिए अर्थापत्ति और अनुमिति में अत्यन्त स्पष्ट भेद है, दोनों एक नहीं हैं। दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति के भेद से अर्थापत्ति दो प्रकार की होती है। दृष्टार्थापत्ति का उदाहरण पहले दे चुके हैं। श्रुतार्थापत्ति का लौकिक उदाहरण 'द्वारम्' कहने पर उसे पूर्ण करने के लिए 'संव्रियताम्' इत्यादि शब्द को जोड़ देते हैं। वैदिक उदाहरण 'विश्वजिता यजेत' में 'स्वर्गकामः' पद की कल्पना कर जोड़ दिया जाता है।[2]

प्रभाकर के मत में श्रुतार्थापत्ति नहीं है। अपरिपूर्ण वाक्य की अन्वय-सिद्धि के लिए जहाँ शब्द का अध्याहार किया जाता है वहाँ श्रुतार्थापत्ति मानी जाती है। प्रभाकर का कहना है कि 'द्वारं संव्रियताम्' में आवरण-रूप अर्थ की ही कल्पना करने मात्र से भी काम बन जाता है, शब्द-कल्पना करने की आवश्यकता नहीं। इसलिए 'श्रुतार्थापत्ति' मानने की कोई आवश्यकता नहीं।[3]

अनुपलब्धि-निरूपण

उपलब्धि के अभाव को अनुपलब्धि कहते हैं। यह अनुपलब्धि प्रमाण वहाँ कार्य करता है, जहाँ प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों की प्रवृत्ति न हो रही हो। यह 'अनुपलब्धि' नाम का छठा प्रमाण है, इससे घट-पट आदि के अभाव का ज्ञान होता है। घट-

---

1. प्रभाकरविजय, पृ० 53-55; शाबरभाष्य, 1/1/5, पृ० 77
2. मी० बालप्रकाश, पृ० 8
3. बृहती, पृ० 89

पटादि के अभाव का ज्ञान, इन्द्रिय-व्यापार के बिना भी होता है। क्योंकि अभाव कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसका इन्द्रिय के साथ सम्पर्क हो सके। घट-पट आदि का तो चक्षुरिन्द्रिय के साथ संयोग हो सकता है, उनके अभाव का नहीं। इसलिए **मीमांसक** कहते हैं कि घटाभाव का ज्ञान घट की अनुपलब्धि के कारण होता है। अतः अनुपलब्धि का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार उसका अनुमान में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता। अनुमान में अनुपलब्धि का अन्तर्भाव तभी हो सकता है, जब अनुपलब्धि और अभाव में व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान हो। यदि अनुपलब्धि और अभाव में व्याप्ति सम्बन्ध मान लें तो आत्माश्रय उपस्थित होगा। आप्त वाक्य के न होने से शब्द-प्रमाण में भी उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता और सादृश्य ज्ञान के न होने से उपमान में भी नहीं। इसलिए **भाट्ट** और **वेदान्ती** 'अनुपलब्धि' को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं, जिससे 'अभाव' की प्रमिति (ज्ञान) हो पाती है। इस अनुपलब्धि को 'योग्यानुपलब्धि' समझना चाहिए। अनुपलब्धि मात्र से अभाव नहीं माना जाता। गाढ़ अन्धकार में वस्तु होती हुई भी नहीं सूझती। पाप, पुण्य, परमाणु आदि वस्तुएँ नहीं दीख पड़तीं, तथापि उनका अभाव नहीं माना जाता। जिस वस्तु की जिस परिस्थिति में उपलब्धि होनी चाहिए, उस परिस्थिति में उसकी उपलब्धि नहीं होने से ही उसका अभाव माना जाता है। अतः अभाव-प्रमिति में करण (साधन) योग्यानुपलब्धि को ही समझना चाहिए।

प्रभाकर के मत में 'अभाव' की प्रमिति कराने के लिए किसी नवीन स्वतन्त्र प्रमाण की कल्पना करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि अभाव जहाँ रहे, तद्रूप ही वह होता है, अर्थात् अभाव कोई पृथक् पदार्थ न होकर अधिकरण-स्वरूप ही है।[1] अधिकरण का प्रत्यक्ष से ही ज्ञान हो जाता है। इसलिए अभाव का ज्ञान कराने के निमित्त एक छठा नवीन प्रमाण (अनुपलब्धि) मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। पाँच प्रमाणों से ही समस्त प्रमितियाँ हो जाती हैं।[2]

भाट्ट मत में छह और **प्रभाकर मत में** पाँच प्रमाण माने गये हैं।[3]

---

1. तंत्ररहस्य, पृ० 16-19; प्रकरणपंचिका, पृ० 118
2. बृहती, पृ० 160
3. चार्वाकास्तावदेकं द्वितयमपि पुनर्बौद्धवैशेषिकौ द्वौ।
   भासर्वज्ञश्च सांख्यास्त्रितयमुदयनाद्याश्चतुष्कं वदन्ति ॥
   प्राहुः प्राभाकराः पञ्चकमपि च वयं तेऽपि वेदान्तविज्ञा।
   षट्कं पौराणिकास्त्वष्टकमभिदधिरे सम्भवैतिह्ययोगात् ॥

पौराणिकों के समस्त 'सम्भव' प्रमाण और ऐतिहासिकों के समस्त 'ऐतिह्य' प्रमाण की भी चर्चा भाट्टपाद ने की है, किन्तु उन्होंने सम्भव का अनुमान में और 'ऐतिह्य' का आगम में अन्तर्भाव कर दिया है। उसी तरह 'प्रतिभा' को अर्थात् 'प्रातिभ ज्ञान' को भी प्रमाण नहीं माना, क्योंकि वह सदैव सत्य नहीं होता।

प्रमेय-विमर्श

भाट्ट मत में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, शक्ति, अभाव, छह पदार्थ (प्रमेय) हैं।[1]

प्रभाकर मत में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, शक्ति, संख्या, सादृश्य, आठ पदार्थ (प्रमेय) हैं।[2]

द्रव्य का विभाग—परिमाण के आश्रय को 'द्रव्य' कहते हैं। 'परिमाणाश्रयो द्रव्यम्' यह द्रव्य का लक्षण है। अणुत्व, महत्त्वादि को परिमाण कहते हैं।

द्रव्य के भेद—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन, शब्द और तम, ग्यारह द्रव्य हैं।

पृथिवी—पृथिवी गन्धवती होती है। उसका स्वरूप मही, पर्वत, वृक्ष, शरीर, घ्राणेन्द्रिय आदि हैं। जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज भेद से चार प्रकार का शरीर है। जरायुज शरीर मनुष्य-पशु आदि का, अण्डज शरीर पक्षिसरीसृपादि का, स्वेदज शरीर मशक, मत्कुण, यूका, वृश्चिकादि का और उद्भिज्ज शरीर वृक्ष, गुल्मादि का होता है।[3]

प्रभाकर के मत में तीन ही प्रकार का शरीर होता है, चतुर्थ उद्भिज्ज शरीर को वे नहीं मानते।[4]

जल—सांसिद्धिक द्रवत्व के अधिकरण को जल कहते हैं। सरित्, समुद्र, सरोवर, करका, रसनेन्द्रिय उसका स्वरूप है। करका जलरूप रहने पर भी अदृष्ट के कारण या अत्यन्त शैत्य के सम्बन्ध से उसमें घनीभाव प्राप्त होता है।

तेज—उष्ण स्पर्श जिसमें हो उसे तेज कहते हैं। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि आदि और चक्षुरिन्द्रिय उसके रूप हैं। उद्भूत, अनुद्भूत और अभि[illegible] [illegible]द से

---

1. तं० सि० र०, म० म० चिन्नस्वामिशास्त्रिसम्पादित, [illegible]
2. वही
3. शास्त्रदीपिका।
4. प्रकरणपंचिका, शालिकनाथ।

उसके रूप और स्पर्श के भी **तीन प्रकार** हैं। तेज और अयःपिण्ड आदि में रूप, स्पर्श उद्भूत होते हैं। लेकिन **इन्द्रिय में** अनुद्भूत-रूप स्पर्श होते हैं। **सुवर्ण में** वे अभिभूत रहते हैं। सुवर्ण के **तैजस** रहने पर भी उसमें उष्ण स्पर्श का अनुपलंभ तो प्रबल पार्थिव अंश के द्वारा अवरोध होने से होता है, ऐसा **मानमेयोदयकार** का कहना है।[1] **सर्व-दर्शनकौमुदीकार** ने तो सुवर्ण को पार्थिव ही सिद्ध किया है।[2]

वायु—रूपरहित किन्तु स्पर्शवान् हो उसे वायु कहते हैं।[3] झंझा, मन्द निःश्वास, वात आदि और त्वगिन्द्रिय उसका स्वरूप है। पृथ्वी, जल, तेज की तरह वायु का भी प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि शीतादि स्पर्श-विशेषों से और वृक्षादि-कम्पनों से 'यह शीत वायु है', 'यह उष्ण वायु है', 'यह महान् वायु है', इस प्रकार जो अनुगत प्रत्यय होता है उसमें एक ही वायु द्रव्य की प्रत्यभिज्ञा होती है, जिसका अपलाप नहीं किया जा सकता। इससे वायु की प्रत्यक्षता स्पष्ट हो जाती है। त्वगिन्द्रिय से वायु का प्रत्यक्ष किया जाता है। अतः **नैयायिकों का** जो कहना है कि 'अनुष्णाशीतस्पर्शलिङ्गक अनुमान से वायु की प्रतीति होती है', वह **उचित नहीं** है। वायु की तिर्यक् गति स्वाभाविक या अदृष्ट-विशेष से होती है और उसका भ्रमण या ऊर्ध्वगमनादि पार्थिव द्रव्य के अभिघात से अथवा अन्य वायु के अभिघात से होता है। शरीरादिधारण में कारणीभूत वायु-विशेष को ही 'प्राण' कहते हैं। अपने अनेक व्यापारों (क्रियाओं) के कारण उसी के (प्राण के) पाँच या दस प्रकार होते हैं। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये पाँच प्रकार हैं और नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय, ये पाँच प्रकार हैं; दोनों को मिलाने से एक प्राण वायु के ही दस प्रकार कहे जाते हैं।

प्राणादि दस वायुओं का व्यापार (कर्म) ये हैं—निःश्वास, उच्छ्वास और कास, ये **प्राणवायु** के व्यापार हैं। विण्मूत्र आदि का विसर्जन करना **अपानवायु** का व्यापार है। सर्वसामीप्य करना **समानवायु** का व्यापार है। ऊर्ध्वगमन करना **उदानवायु** का व्यापार है। विवाद करना **व्यानवायु** का व्यापार है। उद्गार करना **नागवायु** का व्यापार है। शोभादि कर्म **धनंजयवायु** का व्यापार है। निमीलनादि **कूर्मवायु** का व्यापार है, क्षुधा **कृकरवायु** का व्यापार है। तन्द्रीकर्म **देवदत्तवायु** का व्यापार है।[4]

---

1. मानमेयोदय, पृ० 155
2. सर्वदर्शनकौमुदी, पृ० 92
3. तं० सि० र०, पृ० 40
4. त्रिशिखब्राह्मणोपनिषत्, 77-87; ध्यानबिन्दूपनिषत्, 56-57

आकाश—विशिष्ट अवकाश के आश्रय को 'आकाश' कहते हैं। वह नित्य है। वह एक ओर सर्वव्यापी होता हुआ भी अनेक उपाधियों के कारण घटाकाश, मठाकाशादि भेद-व्यवहार का विषय होता है। आकाश को नैयायिक लोग शब्दगुणक कहते हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द की द्रव्य-रूपता प्रमाण से सिद्ध है। शब्द का ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय से होता है। एक वर्ण-रूप शब्द और दूसरा ध्वनि-रूप शब्द है। आत्मा की तरह वर्णात्मक शब्द में द्रव्यत्व, विभुत्व और नित्यत्व होता है, गुणत्व नहीं। सर्वत्र ही गुण में साश्रयता प्रतीत होती है और शब्द की निराश्रयतया उपलब्धि होती है।

ध्वन्यात्मक शब्द को गुण और अनित्य मानते हैं; वही (ध्वन्यात्मक शब्द) वर्णात्मक शब्द का अभिव्यंजक माना गया है। उस ध्वनि-रूप शब्द को वायु का गुण मानना ही उचित है, क्योंकि वायु के अभिघात से उसकी उत्पत्ति होती है। वायु के संयोग-विशेष को ही ध्वनि या नाद कहते हैं।[1]

काल[2]—जो सबका आधार हो उसे काल कहते हैं। वह विभु और एक है। तथापि कला, काष्ठादि के भेद से औपाधिक भिन्नता उसमें पायी जाती है। अठारह निमेषों की एक काष्ठा तीस काष्ठा की एक कला, तीस कलाओं का एक मुहूर्त्त, पन्द्रह मुहूर्तों का एक अहोरात्र, तीस अहोरात्र का एक मास और बारह महीनों का एक वर्ष (संवत्सर) होता है। काल का प्रत्यक्ष नहीं होता।

दिक्—दिक् भी एक और नित्य है। लेकिन उपाधि के कारण पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण का व्यवाहर होता है। उसी तरह कर्णशष्कुलि के अवच्छेद से उसी को श्रोत्र कहते हैं। पृथिवी से लेकर वायु तक के द्रव्य साक्षात् प्रत्यक्षवेद्य हैं; लेकिन काल, आकाश, दिक् की विशेष्य के रूप में प्रत्यक्षवेद्यता न रहने पर भी विशेषण के रूप में प्रत्यक्षविषयता मानी गयी है; जैसे, प्रातःकाल देवदत्त को पूर्व दिशा में मैंने देखा, आकाश में उड़ते हुए पक्षियों को मैंने देखा।

आत्मा—चैतन्य जिसके आश्रय से रहता है, उसे आत्मा कहते हैं। वह देह, इन्द्रिय, ज्ञान और सुख के अतिरिक्त है। ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, क्रिया, आत्मा में स्थित है। क्रिया दो प्रकार की होती है—स्पन्द और परिणाम। किन्तु आत्मा में

---

1. शास्त्रदीपिका, तर्कपाद।
2. गगनापरपर्यायसंख्यानवाचित्वेन स्मृतात् कालयतेः धातोः घत्ति कृते काल शब्द व्युत्पत्तिः।—सुधा, पृ० 970-71

स्पन्द नहीं है[1], बल्कि परिणाम (रूप-परिवर्तन) होता है।[2] परिणामी वस्तु भी भाट्ट के मत में नित्य होती है। अतः आत्मा परिणामशील होने पर भी नित्य है। उसमें चित् और अचित्, दो अंश होते हैं। चिदंश से वह प्रत्येक ज्ञान का अनुभव करता है और अचित् अंश से वह परिणाम को प्राप्त होता है। इच्छा, प्रयत्नादि इनके मत में अचिदंश के परिणाम-रूप हैं, जिन्हें नैयायिक आत्मा के विशेष गुण कहते हैं। वेदान्तियों का अभिमत चैतन्य-स्वरूप न होकर यह चैतन्य-विशिष्ट है। अनुकूल परिस्थिति में उसमें चैतन्य का उदय होता है, प्रतिकूल परिस्थिति में चैतन्य नहीं रहता। अतः आत्मा जड़ तथा बोध-विशिष्ट भी है। वह अनेक, व्यापक तथा नित्य और भोग, स्वर्ग तथा अपवर्ग का अधिकारी है। वह वास्तविक जगत् में वास्तविक शरीर के साथ संयुक्त रहता है। मृत्यु के पश्चात् भी वह अपने इस जन्म के कर्मों का फल-भोग भुगतने के लिए विद्यमान रहता है। चैतन्य आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं किन्तु एक औपाधिक गुण है जो अवस्था-विशेष में उत्पन्न होता है। सुषुप्ति-अवस्था तथा मोक्षा-वस्था में उसका चैनन्य नहीं रहता, क्योंकि उसके उत्पादक इन्द्रिय, विषय-संयोग आदि कारणों का उस समय अभाव हो जाता है। जितने जीव हैं उतने ही आत्मा हैं अर्थात् प्रत्येक जीव में पृथक्-पृथक् आत्मा रहता है। जीवात्मा को बन्ध प्राप्त होता है और उससे वे मोक्ष भी पा सकते हैं।

भाट्ट मत के अनुसार आत्मा का ज्ञान कभी-कभी होता है। प्रत्येक विषय-ज्ञान के साथ आत्मा का ज्ञान नहीं होता। आत्म-ज्ञान और विषय-ज्ञान का नित्य-सम्बन्ध नहीं है। बल्कि आत्म-संवित्ति, अर्थात् जब हम आत्मा पर विचार करते हैं तब अपना बोध होता है कि 'मैं हूँ'; इसे 'अहंवृत्ति' कहते हैं। 'मैं अपने को जानता हूँ', इस ज्ञान में 'जानता हूँ' क्रिया का कर्म 'अपने को' है। इस कर्म पद के द्वारा आत्मा के ज्ञान का ही संकेत प्राप्त होता है। इस रीति से आत्मा ही ज्ञान का कर्ता और वही ज्ञान का कर्म भी है। अर्थात् लौकिक तथा 'आत्मानं विद्धि' इस शास्त्रीय व्यवहार से

---

1. यजमानत्वमप्यात्मा सक्रियत्वात् प्रपद्यते।
   न परिस्पन्द एवैकः क्रिया नः कणभोजिवत्॥—श्लो० वा०, पृ० 707
2. चिदंशेन द्रष्टृत्वं सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा, विषयत्वं च अचिदंशेन। ज्ञानसुखादि-रूपेण परिणामित्वम्। स आत्मा अहं प्रत्ययेनैव वेद्यः।—अद्वैतब्रह्मसिद्धि, काश्मीरक सन्दानन्द।

आत्मा ज्ञान का कर्ता तथा ज्ञान का विषय, दोनों ही होता है। अतः आत्मा मानस-प्रत्यक्षरूप अहंप्रत्ययगम्य है।[1]

किन्तु **प्रभाकर** उपर्युक्त मत से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि एक ही आत्मा ज्ञाता (कर्त्ता) और ज्ञेय (कर्म), दोनों एक साथ नहीं हो सकता। अर्थात् एक ही क्रिया में एक ही साथ एक ही वस्तु कर्त्ता और कर्म दोनों नहीं हो सकती। कर्त्ता और कर्म के व्यापारों में परस्पर विरोध रहता है। प्रत्येक विषय के ज्ञान में उसी ज्ञान के द्वारा आत्मा कर्ता के रूप में उद्भासित होता है। इसलिए जब हमें 'यह घड़ा है' ज्ञान होता है, तब हम कहते हैं, 'मैं घड़ा देख रख रहा हूँ' अथवा 'मुझे घड़े का ज्ञान हो रहा है'। यदि यहाँ पर मैं स्वयं ज्ञाता के रूप में प्रतीत न हुआ होता तो मेरे और दूसरे व्यक्ति के ज्ञान में अन्तर किस आधार पर किया जाता? अतः आत्मा अहंप्रत्ययवेद्य ('अहं' पद के द्वारा जानने योग्य) है। प्रत्येक ज्ञान में कर्ता के रूप में आत्मा की सत्ता रहती है। इनके मत में त्रिपुटीप्रत्यक्ष माना गया है, अर्थात् ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय तीनों एक साथ ही ज्ञान में प्रकाशित होते हैं। अतः आत्मा मानसप्रत्यक्षगम्य न होकर आश्रयविधया प्रकाशित होता है। उसमें क्रिया नहीं रहती, इसलिए वह जड़ है।[2]

तमोनिरूपण—प्रकाश के न होने पर दिखलायी देनेवाला काले रंग का (नील रूप का) जो द्रव्य पदार्थ है[3] उसे तम कहते हैं। वह नैयायिकों की तरह आलोकाभाव (प्रकाशाभाव) रूप न होकर भाव-रूप है। उसमें गुण, कर्म की प्रतीति होती है; जैसे, 'नीलं तमश्चलति'। 'तमः ससर्ज भगवान्', इस वचन से तम की पृथक् सृष्टि होना बताया गया है।

मन—मन अन्तरिन्द्रिय है। यह भौतिक है। **उपनिषद्** ने भी मन को भौतिक माना है। किन्तु **शास्त्रदीपिकाकार** ने कहा है कि 'मन' पृथ्वी आदि भूतों के स्वरूप का है अथवा भौतिक से विलक्षण भी हो सकता है। यह आत्मा और उसके गुणों का स्वतन्त्र रूप से ग्राहक है। बाह्य पदार्थों का ज्ञान बहिरिन्द्रियों के द्वारा मन और आत्मा के संयोग से होता है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि इन्द्रियों से ज्ञान होता है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं। ये भौतिक हैं। चक्षुरिन्द्रिय तैजस है। इससे रूप का ज्ञान होता है। घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है, यह संयोग के द्वारा गंध की ग्राहक है। वायु के द्वारा गन्ध

---

1. मानमेयोदय, पृ० 192-194
2. बृहती, ऋजुविमला; प्रकरणपञ्चिका।
3. न्यायकणिका, पृ० 73-79

घ्राणेन्द्रिय तक आती है। रसनेन्द्रिय जलीय है, इससे रस का ज्ञान होता है। त्वगिन्द्रिय वायवीय है, इसके द्वारा स्पर्श का ज्ञान होता है। श्रोत्रेन्द्रिय दिक् है, इससे शब्द का ज्ञान होता है।

शब्द—श्रोत्रेन्द्रिय से जिसका ग्रहण होता है उसे शब्द कहते हैं। वह वर्ण-रूप और ध्वनि-रूप, दो प्रकार का होता है। वर्ण-रूप शब्द द्रव्य है और व्यापक है तथा आत्मा की तरह नित्य भी है। **नैयायिकों की** तरह उसे गुण नहीं माना गया है, क्योंकि गुण बिना आश्रय के नहीं रहता। शब्द की उपलब्धि तो निराश्रय के रूप में होती है। साक्षात् इन्द्रिय सम्बन्ध से ग्राह्य होने के कारण शब्द को **मीमांसक** द्रव्य कहते हैं। उसी प्रकार वर्ण की अबाधित प्रत्यभिज्ञा होने से उसे नित्य कहते हैं। ध्वन्यात्मक शब्द को गुण और अनित्य माना है। वह वर्णात्मक शब्द का अभिव्यंजक होता है। यह ध्वनि-रूप शब्द वायु का गुण है, क्योंकि वायु के अभिघात से यह पैदा होता है।[1]

अभिहितान्वयवाद—इन शब्दों के द्वारा अभिहित हुए अर्थों का ही आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि के बल पर परस्पर अन्वय (संसर्ग) हो जाता है। यहाँ **नैयायिकों** का कहना है कि पदों (शब्दों) से पदार्थ का ज्ञान होने पर एक विशिष्ट अर्थज्ञान-रूप वाक्यार्थ का जो ज्ञान होता है, उसे पदार्थ कराते हैं, क्योंकि पदों की शक्ति तो पदार्थ-बोधन कराने में ही क्षीण हो चुकी होती है। वह वाक्यार्थ पदार्थों का संसर्ग-रूप ही तो है।

किन्तु **भाट्ट मीमांसक** कहते हैं, पदार्थ वाक्यार्थ का बोधन अवश्य कराते हैं, लेकिन लक्षणा से ही कराते हैं। लक्षणा तभी होती है, जब वाच्यार्थ अनुपपन्न रहता है। पदों के द्वारा बताये गये पदार्थ अगर अन्योन्य के साथ अन्वित हुए बिना सामान्य रूप से ही स्थित रहे तो पदों की व्युत्पत्ति के समय अवधृत एक विशिष्ट अर्थ के बोधन में उनका तात्पर्य विरुद्ध होगा। सामान्य-रूप वाच्य के अनुपपन्न हो जाने से अन्यो-न्यान्वय-रूप विशेष में ही पदार्थों का पर्यवसान होता है। तात्पर्य यह हुआ कि गाय वही है जो आनीयमान है, और आनयन वही है जो गौ से सम्बद्ध है। इस प्रकार परस्पर अन्वय का लाभ होने से 'गवानयन'-रूप वाक्यार्थ 'गामानय' वाक्य का ज्ञान होता है। 'अभिहितान्वय' में षष्ठी-तत्पुरुष समास है। अभिहितानां पदैः अभिहितानाम् पदार्थानाम् अन्वयः = **अभिहितान्वयः**।[2]

किन्तु **प्रभाकर** इससे सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि पदार्थों का अन्वय उनके विशेषण के रूप में होना सम्भव है और वह पदों का वाच्यार्थ ही है। इसलिए अभि-

---

1. शास्त्रदीपिका, पार्थसारथि मिश्र।
2. शास्त्रदीपिका, तर्कपाद।

हितान्वय को न मानकर 'अन्विताभिधान' को मानना चाहिए। 'अन्विताभिधान' में भी षष्ठी-तत्पुरुष समास है। अन्वितस्य अभिधानम् = अन्विताभिधानम्। जैसे, 'गाम् आनय', इन शब्दों को प्रथमतः सुनने पर गवानयन-रूप अन्वित अर्थ का ही शब्द से बोध होता है। इसलिए पदों को ही अन्वित अर्थ का बोधक समझना चाहिए, पदार्थों को नहीं। आवाप-उद्वाप के द्वारा पदार्थों का विवेचन करने पर भी वहाँ अन्वित हुए पदार्थ ही दिखलायी पड़ते हैं, अकेले पदार्थ अर्थात् अनन्वित पदार्थ, नहीं। इसलिए अपने अन्वित स्वार्थ में पदों की शक्ति कैसे न मानी जाय। अतः अन्वित-रूप वाक्यार्थ को पदों से अभिधेय ही समझना चाहिए अन्वित-रूप वाक्यार्थ को पदार्थगम्य समझना ठीक नहीं। यही प्रभाकर का अन्विताभिधानवाद है।[1]

उक्त दो प्रकार की भिन्न भिन्न दृष्टियों से शब्द-समूहात्मक वाक्य का अर्थ समझा जाता है।

गुण-निरूपण

गुण[2]—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्राकट्य, ध्वनि, संस्कार ये इक्कीस गुण हैं।

रूप[3]—केवल चक्षुरिन्द्रिय से जिसका ग्रहण हो उसे रूप कहते हैं। वह पृथ्वी, जल, तेज, अन्धकार में रहता है। शुक्ल, नील, पीत, रक्त के भेद से उसके चार प्रकार हैं। समस्त जगत् में रहनेवाला शुक्लादि एक ही है और वह नित्य है। संसर्ग-भेद से अति-शुक्ल, अति-नील आदि की प्रतीति होती है। इस कारण शुक्लत्व आदि जाति के मानने का कोई प्रमाण नहीं है। अवयवों के रूपों से ही चित्र-रूप की उपपत्ति हो जाने से उसे पृथक् नहीं मानते। **नैयायिक लोग** तेज में शुक्ल-भास्वर रूप मानते हैं, किन्तु मीमांसक लोग 'यदग्नेः रोहितं रूपम्' इस श्रुति के आधार पर तेज में रोहित-रूप ही मानते हैं।

रस[4]—केवल रसनेन्द्रिय से जिसका ग्रहण किया जाता है उसे रस कहते हैं। मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय भेद से उसके छह प्रकार होते हैं। वह पृथ्वी, जल में रहता है।

गन्ध[5]—केवल घ्राणेन्द्रिय से जिसका ग्रहण होता है उसे गन्ध कहते हैं। वह

---

1. प्रकरणपञ्चिका।
2, 3, 4, 5, तं० सि० र०, म० म० चिन्नस्वामिशास्त्रिरचित।

सुरभि, असुरभि भेद से दो प्रकार का होता है। वह केवल पृथिवी में ही रहता है। जल, वायु आदि में उसकी उपलब्धि गन्ध-द्रव्य के संसर्ग से होती है।

स्पर्श[1]—त्वगिन्द्रिय से जिसका ग्रहण होता है उसे **स्पर्श** कहते हैं। वह शीत, उष्ण, अनुष्णाशीत के भेद से तीन प्रकार का होता है। वह **पृथ्वी में** पाकज और तेज एवं **वायु** में अपाकज होता है।

संख्या[2]—एकत्वादि व्यवहार में जो हेतु हो, उसे संख्या कहते हैं। कुछ लोग उसे केवल द्रव्यनिष्ठ कहते हैं और **कुछ लोग** द्रव्य, गुण आदि समस्त पदार्थों में रहनेवाली बताते हैं। लेकिन **प्रभाकर शक्ति** पदार्थ की तरह **संख्या** को भी एक पृथक् पदार्थ मानते हैं।

परिमाण[3]—परिमाण प्रत्यय का जो विषय हो उसे **परिमाण** कहते हैं। अणु, महत्, ह्रस्व, दीर्घ के भेद से वह चार प्रकार का है। चौबीस गुणों में **काणाद-दर्शनकार** ने '**पृथक्त्व**' को गुण कहा है। किन्तु **मीमांसक** यह नहीं मानते। उनके मत में '**पृथक्त्व**' भेद के अतिरिक्त कुछ नहीं है। **भेद** का ही पर्याय **पृथक्त्व** है। यही कारण है कि **भेद** और **पृथक्त्व** का सह-प्रयोग कभी नहीं किया जाता।

संयोग[4]—'ये दो संयुक्त हैं', इस प्रत्यय का जो निमित्त हो उसे संयोग कहते हैं। नित्य और अनित्य के भेद से उसके दो प्रकार हैं; जैसे, आकाश, काल, आत्मा, मन आदि विभु पदार्थों का परस्पर संयोग नित्य रहता है और परिच्छिन्न परिमाणवाले द्रव्यों का उभय या अन्यन्तर की प्रेरणा से होनेवाला संयोग अनित्य रहता है। **मानमेयोदयकार ने नैयायिकों** की तरह 'संयोगज संयोग' को भी माना है, लेकिन यह **भाट्ट सिद्धान्त के** विरुद्ध है।

प्रभाकर ने 'संयोगज संयोग' को माना है।

विभाग[5]—विभक्त प्रत्यय का जो निमित्त हो, उसे विभाग कहते हैं। यह परिच्छिन्न द्रव्यों में ही रहता है। संयोग की तरह उसके भी दो भेद हैं।

परत्वापरत्व[6]—दिक् और काल की अपेक्षा कर पर-अपर ज्ञान के हेतुभूत गुण को परत्व, अपरत्व कहते हैं। दूर-स्थिति में प्रतीत होनेवाला परत्व और समीप-स्थिति में प्रतीत होनेवाला अपरत्व दिक्कृत है। उसी तरह वृद्ध पुरुष में प्रतीयमान परत्व और तरुण पुरुष में प्रतीयमान अपरत्व कालकृत है।

1, 2, 3, 4. वही।

5, 6. पदार्थसंग्रह, अनन्तशयन विश्वविद्यालय प्रकाशन।

गुरुत्व[1]—स्वतः-पतन में जो हेतु हो उसे गुरुत्व कहते हैं। वह पृथ्वी एवं जल में रहता है।

द्रवत्व[2]—द्रवत्व प्रत्यय के विषय को द्रवत्व कहते हैं। वह स्यन्दन का कारण होता है। सांसिद्धिक और पाकज भेद से उसके दो प्रकार हैं। जल में सांसिद्धिक द्रवत्व है और पृथ्वी, घृत, जतु आदि में पाकज-द्रवत्व होता है। तेज में द्रवत्व मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'सुवर्ण' तो पार्थिव है, तैजस नहीं।

स्नेह[3]—पांसु आदि के संग्रहण में जो हेतु हो उसे स्नेह कहते हैं। वह केवल जल में रहता है। कुछ लोगों का कहना है कि द्रवत्व से ही चूर्णादि का संग्रह (पिण्डीभाव) हो जाता है। करकादिकों में स्नेह-विशिष्टता (स्निग्धता) रहते हुए भी चूर्णादि संग्राहकता होती नहीं दिखलायी देती। लेकिन द्रवत्व-विशिष्ट (द्रुत) तैल में संग्राहकता दिखलायी पड़ती है। अतः अन्वय व्यतिरेक से द्रवत्व को ही पिण्डीभाव में कारण मानना उचित है। उसके लिए 'स्नेह' को मानने की आवश्यकता नहीं।

बुद्धि[4]—समस्त व्यवहार का जो हेतु हो, उसे बुद्धि कहते हैं। वह अनुमेय या अर्थापत्ति प्रमाण से जानी जाती है। उसका कार्य अर्थ-प्रकाशन या प्राकट्य है। ज्ञान सदैव सकर्मक होता है। वह अपने कर्मभूत पदार्थ में पाक की तरह फल को पैदा करता है। उसी फल को ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष कहते हैं और लिङ्ग (हेतु) आदि से पैदा होनेवाले फल को परोक्ष कहते हैं। उसी कार्यभूत फल से अपने कारणभूत ज्ञान की कल्पना की जाती है। अथवा ज्ञान से उत्पन्न हुए पदार्थगत किसी अतिशय-विशेष से ज्ञान की कल्पना की जाती है। प्रभाकर तो ज्ञान (संविद्) को अनुमानगम्य (अनुमेय) न मानकर प्रत्यक्ष कहते हैं। वे उसे स्वप्रकाश मानते हैं। नैयायिक तो ज्ञान को सुखादि की तरह मानस-प्रत्यक्षवेद्य कहते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति में प्राणन-क्रिया के निमित्त-भूत प्रयत्न के रहते हुए भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होता।

सुख-दुःख[5]—स्वतन्त्र इच्छा का जो विषय हो उसे सुख कहते हैं। उसी प्रकार स्वतन्त्र द्वेष के विषय को दुःख कहते हैं। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ये आत्मनिष्ठ होते हैं। सुख एवं दुःख दोनों ऐहिक और पारलौकिक भेद से दो प्रकार के हैं। मोक्ष-सुख इस सुख के अतिरिक्त है। ऐहिक दुःख भी आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक भेद से तीन प्रकार का होता है। आयुष्मिक दुःख महारौरवादिजन्य होता है।

1, 2, 3, 4, 5, वही।

इच्छा[1]—**'मुझे यह प्राप्त हो'**, इस प्रकार के संकल्प को इच्छा कहते हैं। **और 'मुझे यह न हो'**, इसे **द्वेष** कहते हैं। स्मरण होने में हेतुभूत और अनुभव से जन्य जो वासना है, उसे **संस्कार** कहते हैं। **'वेग'** और **'स्थिति-स्थापक'** को **मीमांसक लोग** संस्कार नहीं कहते, क्योंकि 'वेग' तो एक प्रकार का **कर्म-विशेष** है और 'स्थिति-स्थापक' **संस्थान-विशेष-रूप** है। लौकिक, वैदिक भेद से संस्कार-संज्ञक गुण के दो भेद मानना **उचित नहीं है**। क्योंकि प्रोक्षणादि संस्कार तो **क्रिया-रूप** है इसलिए उससे उत्पन्न होने-वाले अतिशय-विशेष का अपूर्व की तरह योग्यता-रूप शक्ति में ही **अन्तर्भाव हो जायगा**। अतः **वासना-संज्ञक एक ही संस्कार** है।

प्राकट्य[2]—ज्ञान से उत्पन्न होनेवाले और विषय में रहनेवाले गुण को **'प्राकट्य'** कहते हैं। ज्ञातता, विषयता, प्रकाश, ये सब उसके पर्याय हैं। उस प्राकट्य की विषय में प्रतीति होने से उसे **ज्ञान-स्वरूप नहीं कह सकते**, क्योंकि 'ज्ञान' तो 'आत्मा' **में रहता है**। 'प्राकट्य' को विषय-रूप भी नहीं कह सकते, क्योंकि-विशिष्ट-ज्ञान **और** समूहालम्बन-ज्ञान में विलक्षणता (भेद) रहती है। विषय-स्वरूप मानने पर दोनों ज्ञानों में भेद ही नहीं रहेगा। इसलिए **दोनों से पृथक् ही** उसे (प्राकट्य) स्वीकार करना चाहिए। अतएव 'ज्ञानजन्यज्ञाततावद्घटमहं जानामि' इत्यादि व्यावहारिक प्रयोग में 'घट' में **कर्म की उत्पत्ति हो पाती है**। अतः 'विषय' और 'ज्ञान' में **प्राकट्य अतिरिक्त** ही है। उस **प्राकट्य** से ही 'ज्ञान' का अनुमान किया जाता है।

प्रभाकर के मत में त्रिपुटीप्रत्यक्ष का स्वीकार किया गया है, अतः ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है, **अनुमान नहीं**।

कर्म[3]—'चलति', इस प्रत्यय का जो विषय हो उसे 'कर्म' कहते हैं। यह चलनात्मक कर्म एक और प्रत्यक्ष है।

प्रभाकर के मत में—कर्म का प्रत्यक्ष नहीं बलि[illegible] के द्वारा उसका अनुमान किया जाता है, इसलिए कर्म अनुमेय कहा ज[illegible]

जाति[4]—'यह गौ है', 'यह भी गौ है' [illegible]-विमर्श किया गया; अब मीमांस[illegible]
इस-प्रकार से सभी वस्तुओं का ज्ञान, जो सजा[illegible] है।
से व्यावृत्त, अर्थात् व्यावृत्ताकार तथा अनु[illegible] रहने पर जो ज्ञान होता है उसे यथार्थ
हुआ करता है, इसमें किसी के दो मत [illegible]ष-रहित नेत्रों से किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान

1., 2. वही।

4. तं० सि० र०, म० म०

किसी भी वस्तु को सामान्याकार और विशेषाकार में व्यवस्थित करता है। गोत्व आदि सामान्याकार हैं और तत्तद्-व्यक्ति विशेषाकार है, यह प्रत्यक्ष के बल पर ही ज्ञात होता है। उस प्रत्यक्ष का कभी बाध नहीं होता, इसी कारण उसे समस्त प्रमाणों में मूर्धन्य स्थान प्राप्त है। अन्य प्रमाण तो उसके उपजीवक हैं, अतएव उनमें से कोई भी उसका बाध करने में समर्थ नहीं हो पाता। अतः जाति सर्वलोक-प्रत्यक्ष है, उसका अपलाप नहीं किया जा सकता।

जाति को लेकर प्रश्न यह उठ सकता है कि वह (जाति) व्यक्तिमात्रावसायिनी है या सर्वत्र-व्याप्त है ? प्रथम पक्ष में, जाति के व्यक्त्यात्मक (व्यक्ति-रूप) होने से व्यक्ति मात्र में उसकी उपलब्धि होना उचित ही है। यदि उसे सर्वगत (सर्वत्र व्याप्त) कहें, तब व्यक्तियों को ही उसका अभिव्यंजक कहना होगा और जाति के व्यक्त्यात्मक होने से उसका ग्रहण (ज्ञान) संयुक्त-तादात्म्य-सन्निकर्ष से ही होगा। वह सम्बन्ध व्यक्ति-देश में ही होने से जाति की सर्वत्र उपलब्धि होने का कोई प्रसंग ही नहीं। जाति और व्यक्ति दोनों में अभेद रहने पर भी उनमें भेद भी विद्यमान रहता है। इसलिए नित्यत्व अनित्यत्व की तरह उसका सर्वगतत्व भी उत्पन्न हो जाता है। यदि दोनों में अत्यन्त भेद माना जाय तो 'इमौ घटपटौ' की तरह 'इदं गोत्वं' प्रतीति होती, किन्तु होती नहीं। यदि दोनों में अत्यन्त अभेद कहा जाय तो 'हस्तः', 'करः' की तरह 'इदं' और 'गो' शब्द को पर्याय कहना होगा। लेकिन कोई उन्हें पर्याय नहीं कहता। दोनों शब्दों का समानाधिकरण्य होने से भेदाभेदसमुच्चय का ही स्वीकार किया गया है।

'जाति' को सामान्य, आकृति शब्दों से भी कहा जाता है। महा-सामान्य और अवान्तर-सामान्य के भेद से जाति दो प्रकार की होती है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, चारों पर महा[illegible]सामान्य रहता है, उसे 'सत्ता' कहते हैं। अवान्तर-सामान्य द्रव्यादि पर द्रव्यत्वादि [illegible] में रहता है।

स्वतन्त्र [illegible] के

शक्ति[1] [illegible] विषय को हो पाता [illegible] में समर्थ है, तथापि चूहे यदि उसको सूँघ लें तो [illegible] होते हैं। सुख एवं दुःख [illegible] के नष्ट हो [illegible] उसी को [illegible] की जाती है कि बीज का को[illegible] मोक्ष-सुख इस सुख के अतिरिक्त है, वह लौकिक, [illegible] नहीं हो पाती। वह आधिदैविक भेद से तीन प्रकार का हो[illegible] शक्ति लौकिक है [illegible] की तरह होता है।

1, 2, 3, 4, 5, वही। [illegible] ंचिका।

स्वर्गादि-साधनता शक्ति। इन दोनों प्रकार की शक्तियों की कल्पना **अर्थापत्ति के बल पर** की जाती है। याग शक्ति को ही अपूर्व कहते हैं। कार्य-कारण के सम्बन्ध के विषय में मीमांसा दर्शन शक्तिवाद का सिद्धान्त स्थापित करता है। बीज में अंकुरोत्पादन शक्ति की तरह अग्नि में दाहकत्व शक्ति, शब्द में अर्थबोधकत्व शक्ति और प्रवर्तकत्व शक्ति, प्रकाश में भासकत्व शक्ति होती है। अदृष्ट रूप से रहनेवाली इस शक्ति को नैयायिक नहीं मानते, क्योंकि प्रतिबन्धक (बाधा) के न रहने पर कारण से कार्य पैदा होता है। इसपर मीमांसक कहते हैं कि नैयायिकों को कार्योत्पत्ति में कारण के अतिरिक्त 'प्रतिबन्ध का भाव' मानना आवश्यक होता है। अतः अभाव-पदार्थ में कार्योत्पादक शक्ति स्वीकार करने की अपेक्षा बीज आदि भाव-पदार्थ में ही शक्ति मान लेने में कौन सी हानि है? अतः भाव-रूप शक्ति पदार्थ की कल्पना आदि मीमांसकों ने की है। अपनी इस मौलिक सूझ के द्वारा मीमांसकों ने यज्ञादि कर्म और उसके दीर्घ दीर्घतर काल में मिलनेवाले फल, दोनों के बीच की गम्भीर खाईं को भर दिया गया है। यह अपूर्व नाम की शक्ति समय पाकर फलित होती है और कर्म का फल-भोग दिलाती है। लौकिक-वैदिक सभी कर्मों के फल संचित होते हैं। फल-प्राप्ति तक यह शक्ति कर्म-कर्त्ता यजमान की आत्मा में अक्षुण्ण रूप से स्थित रहती है।

अभाव[1]—'नास्ति' प्रत्यय का जो विषय हो उसे **अभाव** कहते हैं। वह प्रागभाव, ध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव के भेद से चार प्रकार का है। इस अन्योन्याभाव को ही 'पृथक्त्व' भी कहते हैं, किन्तु **नैयायिकों** ने पृथक्त्व को एक अलग गुण माना है। इन चारों अभावों का ज्ञान **अनुपलब्धि** नाम के प्रमाण से होता है।

प्रभाकर के मत में अभाव नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। अभाव की जो प्रतीति होती है, वह तो भूतल की प्रतीति से कोई भिन्न नहीं है। अतः अभाव नाम की कोई वस्तु, भूतल के अतिरिक्त न होने से उसके ग्रहण के लिए 'अनुपलब्धि' नाम के प्रमाण को मानने की भी **कोई आवश्यकता नहीं पड़ती**।

तत्त्व-विमर्श : प्रामाण्यवाद

मीमांसक-सम्मत प्रमाण-विमर्श तथा प्रमेय-विमर्श किया गया; अब मीमांसक-सम्मत तत्त्व-विमर्श का प्रारम्भ किया जा रहा है।

दोषरहित कारण सामग्री के पर्याप्त रहने पर जो ज्ञान होता है उसे यथार्थ ज्ञान कहते हैं। जैसे पर्याप्त प्रकाश में दोष-रहित नेत्रों से किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान

---

1. वही।

होता है, तो उस पर हमें पूरा विश्वास रहता है, हम उसे यथार्थ ज्ञान कहते हैं। उसी तरह किसी आप्त के द्वारा कुछ कहने पर जो शाब्द ज्ञान होता है उसे भी हम यथार्थ समझते हैं। इसी प्रकार अव्यभिचरित हेतु (सद्‌हेतु) से अनुमान करने पर जो अनुमिति ज्ञान होता है उसे भी हम यथार्थ (ठीक) समझते हैं। उपर्युक्त प्रकार के ज्ञानों में से किसी ज्ञान के होते ही उसके अनुसार मनुष्य काम करने लगता है, उसे किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं होती। यह देखकर **मीमांसकों** का यह कहना है कि ज्ञान की प्रामाणिकता (प्रामाण्य, यथार्थता) उस ज्ञान की उत्पादक सामग्री में ही विद्यमान रहती है, अर्थात् ज्ञान के साथ ही उसका प्रामाण्य (यथार्थता) भी पैदा होती है। ज्ञान और प्रामाण्य की उत्पत्ति में पौर्वापर्य नहीं है। मीमांसकों का यही स्वतः प्रामाण्यवाद है। ज्ञान का यथार्थ होना तो उसका स्वभाव है, उसकी यथार्थता को जानने के लिए किसी अन्य प्रमाण के अन्वेषण की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु उसके उत्पादक कारणों में यदि कोई दोष दिखलायी पड़ जाय तो हमें अपने पूर्व-निश्चय को छोड़ देना पड़ता है और हम ज्ञान को अयथार्थ (अप्रमाण) कहने लगते हैं, अर्थात् ज्ञान के उत्पादक कारणों के दोषपूर्ण रहने पर ज्ञान की अयथार्थता होती है। दोषों के कारण ज्ञान का अप्रामाण्य होने से मीमांसक कहते हैं कि ज्ञान का अप्रामाण्य परतः होता है। तात्पर्य यह है कि **मीमांसकों की दृष्टि** में ज्ञान का **प्रामाण्य स्वतः** और **अप्रामाण्य परतः** होता है।[1]

नैयायिक ज्ञान का प्रामाण्य परतः मानते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान होने पर भी उसकी यथार्थता को हमें अनुमान से जानना पड़ता है। ज्ञान होने पर तदनुसार होनेवाली प्रवृत्ति यदि सफल रहती है तब हम तर्क से पूर्वज्ञान को यथार्थ समझते हैं, अतः प्रामाण्य परतः है, स्वतः नहीं।[2]

मीमांसकों का कहना है नैयायिकों के अनुसार परतः प्रामाण्य मानने में जिस अनुमान के सहारे ज्ञान की यथार्थता समझी जाती है, उस अनुमान की यथार्थता के लिए तीसरा अनुमान करना होगा और उस तीसरे अनुमान की यथार्थता के लिए चौथा अनुमान। इस प्रकार अनवरत अनुमान करते ही रहना पड़ेगा तो अनवस्था दोष होगा। इसलिए नैयायिकों का परतःप्रामाण्य पक्ष स्वीकार करना उचित नहीं है। मीमांसकों का स्वतःप्रामाण्य पक्ष ही दोष-रहित होने से स्वीकार करने योग्य है।[3]

---

1. न्यायरत्नमाला।
2. न्यायकन्दली, पृ० 91
3. [illegible] 213-214

प्रभाकर के सिद्धान्त में भी ज्ञान स्वतःप्रमाण (यथार्थ) और स्वप्रकाश है। ज्ञान के स्वप्रकाश होने से ही उसका स्वतःप्रामाण्य स्वयंसिद्ध है।[1] **मुरारिमिश्र** का अपना मत इस सम्बन्ध में कुछ विशेषता रखता है।[2] **मथुरानाथ, तर्कवागीश**,[3] **प्रभाकर** के 'प्रामाण्य' सिद्धान्त को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

भ्रम-निरूपण

प्रमाणों (ज्ञानों) का स्वतः प्रामाण्य सुनिश्चित किये जाने पर प्रश्न यह पैदा होता है कि भ्रम की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए, किन्तु भ्रम सभी को हुआ ही करता है। वह क्यों होता है? इस प्रश्न के समाधानार्थ दार्शनिकों ने गम्भीर विचार किया है। **भाट्ट मीमांसक** कहते हैं, कभी कभी मिथ्या वस्तु, जैसे रस्सी में साँप या सीप को देखकर चाँदी का भी भान होने लगता है। आँख की पुतली को दबाकर देखने से दो चाँद दिखायी देते हैं। यह इसलिए दिखायी देता है कि जब हम रस्सी में साँप को देखते हैं और कहते हैं कि 'यह साँप है' तो यहाँ उद्देश्य और विधेय दोनों ही सत्य हैं। जो रस्सी है उसे साँप समझा जाता है। संसार में दोनों की सत्ता है। तथापि पृथक् पदार्थों में उद्देश्य-विधेय का सम्बन्ध जोड़ा जा रहा है। अतः भ्रम संसर्ग को लेकर हो रहा है, न कि विषयों को लेकर। द्विचन्द्र के भ्रम में भी आकाश के दो वास्तविक भागों का सम्बन्ध चन्द्रमा के साथ जोड़ा जाता है, जिससे एक ही चन्द्रमा दो स्थानों में भासित होने लगता है। तात्पर्य यह है कि जब किसी वस्तु का ज्ञान होता है, तब उस ज्ञान की विशेषता का सूचक धर्म भी उस वस्तु में रहता है, जिसे 'प्रकारकता' कहते हैं। जैसे, जब रजत का ज्ञान होता है तब रजत के ज्ञान में प्रकार होता है रजतत्व। इसलिए रजत का ज्ञान रजतत्वप्रकारक कहा जाता है। उसी प्रकार शुक्ति का ज्ञान शुक्तित्वप्रकारक होता है। रजतत्व और शुक्तित्व दो धर्म हैं, जो रजत और शुक्ति में समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं। यह तो है वास्तविक स्थिति। लेकिन जब हमें भ्रम होता है तब हम शुक्ति की चमक देखकर या मन्द अन्धकार में रस्सी के

---

1. तन्त्ररहस्य, पृ० 5–8; प्रकरणपञ्चिका, पृ० 38–53; न्यायरत्नमाला, पृ० 31–35, शा० दी०, पृ० 97–106; मा० मे० द०, पृ० 4–6
2. मनसैव ज्ञानस्वरूपवत् तत् प्रामाण्यग्रहः इति मुरारिमिश्राः।—वर्धमानकुसमांजलिप्रकाश, पृ० **219**
3. स्वतः स्वाश्रयजनकसामग्रीतः। स्वं प्रमात्वम्। एतच्च गुरुमते। परतः तदन्यसामग्रीतः, एतच्च मिश्रमत-भट्टमत-न्यायमतेषु।—चिन्तामणिरहस्य, पृ० **117**

टेढ़े-मेढ़ेपन को देखकर उस शुक्ति को रजत (चाँदी) कह देते हैं, रस्सी को साँप कह देते हैं; लेकिन वहाँ वस्तुतः शुक्ति होती है या रस्सी होती है, तथापि हमें शुक्ति में शुक्तित्वप्रकारक या रज्जु (रस्सी) में रज्जुत्वप्रकारक ज्ञान नहीं हो पाता। शुक्ति में रजतत्वप्रकारक ज्ञान, रज्जु में सर्पत्वप्रकारक ज्ञान होता है। जिस प्रकार के रूप में ज्ञान होना चाहिए था वैसा ज्ञान किसी दोष के कारण नहीं हो पाता, बल्कि अन्य प्रकार के रूप में होता है। इस विपर्यय (विपरीत ज्ञान) के कारण ही इस भ्रमज्ञान को **भाट्ट मीमांसक** 'विपरीत ख्याति' कहते हैं। ये मीमांसक 'व्यधिकरणधर्म-तादात्म्य-प्रतीति' को ही भ्रान्ति कहते हैं।[1] इस **विपरीत ख्याति** को ही **नैयायिक** 'अन्यथा ख्याति' कहते हैं। इनके मत में विषयों (वस्तुओं) को लेकर भ्रम नहीं होता, बल्कि उन वस्तुओं के संसर्ग को लेकर होता है। रज्जु-सर्प या शुक्ति-रजत में दोनों पदार्थ सत्य हैं, केवल दोनों का सम्बन्ध ही असत्य है।

प्रभाकर मीमांसक कहते हैं कि ज्ञान-मात्र यथार्थ (सत्य) है। कोई भी ज्ञान असत्य नहीं है। जिसे हम भ्रम कहते हैं, उसमें भी दो प्रकार के ज्ञानों का मिश्रण उपलब्ध होता है। शुक्ति में जो 'इदं रजतम्' भ्रम हो रहा है उसमें 'इदम्' अंश तो प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। चक्षुरिन्द्रिय 'इदम्' पदार्थ के अस्तित्व की सूचना देकर विरत हो जाती है। और रजत अंश, उस समय वहाँ रजत विद्यमान न होने से, प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। बाजार में देखे गये रजत का वहाँ स्मरण मात्र हो रहा है। दोनों अपनी अपनी जगह सत्य हैं। किन्तु स्मृति की गड़बड़ी से अनुभूयमान इदम् पदार्थ और स्मर्यमाण रजत पदार्थ, दोनों के भेद का ज्ञान न होने से ही यह भ्रम हो रहा है। दोनों के भेद का जो अज्ञान है उसे ही विवेकाग्रह कहते हैं। शुक्ति का ज्ञान तथा रजत का ज्ञान दोनों ही अपने अपने विषयों में यथार्थ (सत्य) हैं, परन्तु यहाँ अनुभव होता है चमक का और स्मरण होता है रजत का। स्मृति-दोष (स्मृति की गड़बड़ी) से हम भूल जाते हैं कि 'रजत' स्मृति का विषय है, प्रत्यक्ष का नहीं; अर्थात् प्रत्यक्ष और स्मृति के भेद का ज्ञान नहीं हो पाता। इसलिए हम शुक्ति में रजत का व्यवहार करते हैं। स्मृतिप्रमोष (स्मरण शक्ति के दोष) के कारण विवेकाग्रह (भेदज्ञान का अभाव) होता है।[2] यह दोष तो अभावात्मक (ज्ञान का अभाव मात्र) है। अतः इसे वह भ्रम नहीं कह सकते, जो भावात्मक अर्थात् वास्तविक प्रतीत हो। इनके इस **भेदाग्रह** या **विवेकाग्रह** को

---

1. शा० दी०, पार्थसारथि मिश्र, तर्कपाद।
2. ऋजुविमला, पृ० 19-20

'अख्यातिवाद' कहते हैं। इनके मत में भ्रम नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। **इनके यहाँ** भ्रान्ति (भ्रम) के स्थान पर ज्ञान का अभाव मात्र रहता है, कोई भावात्मक (भाव-रूप) वस्तु नहीं, जिसे हम भ्रम की संज्ञा दे सकें। दोनों सम्प्रदाय इस बात में सहमत हैं कि भ्रम का प्रभाव ज्ञान की अपेक्षा व्यवहार पर अधिक पड़ता है। दोनों ही भ्रम को अपवाद रूप मानते हैं। सामान्य नियम तो यही है कि प्रत्येक ज्ञान सत्य का दर्शन कराता है। इसी विश्वास पर मनुष्य मात्र का दैनिक जीवन में व्यवहार चलता है। कभी कभी इस नियम का अपवाद भी पाया जाता है, जिसे **'भ्रम'** की संज्ञा दी जाती है।[1]

जगत् और विषयों की सत्यता

बाह्य पदार्थों की प्राप्ति इन्द्रियों के द्वारा होती है, अतः जिस रूप में जगत् की उपलब्धि होती है, उसी रूप में उसकी सत्यता को स्वीकार किया गया है।[2] **मीमांसा दर्शन** जगत् और उसके सम्पूर्ण विषयों को **सत्य** समझता है। **बौद्धों के** शून्यवाद तथा क्षणिकवाद को और **अद्वैतियों के** मायावाद को मानने के लिए **वह** तैयार नहीं। प्रत्यक्ष होनेवाले विषयों के अतिरिक्त यह दर्शन 'स्वर्ग', 'नरक', 'आत्मा' तथा **'वैदिक यज्ञ'** के देवताओं के अस्तित्व को भी प्रमाणों के आधार पर स्वीकार करता है। संसार में त्रिविध वस्तुओं का ज्ञान हमें होता है। एक तो भोगायतन (शरीर) है, जिसमें रहकर आत्मा सुख-दुःख का अनुभव करता है। दूसरी वस्तु है भोग-साधन (इन्द्रियाँ), जिसके द्वारा आत्मा सुख-दुःख का भोग किया करता है। तीसरी वस्तु है भोग-विषय (पदार्थ), जिनका भोग आत्मा किया करता है। कर्म के नियम के अनुसार सृष्टि की रचना होती है। मूल जगत् की सृष्टि तथा प्रलय **नहीं हुआ करते**। केवल व्यक्ति उत्पन्न होते रहते तथा विनाश को प्राप्त होते रहते हैं। जगत् की नवीन सृष्टि तथा नाश **कभी नहीं होता**। कुछ **मीमांसक**[3] **वैशेषिकों** की तरह **परमाणुवाद** को भी मानते हैं। फिर भी दोनों में भेद यह है कि **मीमांसकों** के मत में परमाणु ईश्वर के द्वारा संचालित नहीं होते। कर्म के स्वाभाविक नियम के अनुसार ही वे इस तरह प्रवर्तित होते हैं, जिससे **जीवात्माओं को** कर्म-फल का भोग कराने योग्य संसार बन जाता है। **न्याय-वैशेषिक के मत में** परमाणु प्रत्यक्ष-योग्य न होकर अनुमेय माने गये हैं। किन्तु **मीमांसक के** मत

---

1. प्रकरणपञ्चिका, पृ० 43; नयविवेक, पृ० 86-93; तंत्ररहस्य, पृ० 2-5
2. तस्माद् यद् गृह्यते वस्तु येन रूपेण सर्वदा।
   तत्तथैवाभ्युपेतव्यं सामान्यमथवेतरत् ॥—श्लो० वा०, पृ० 404
3. प्रभाकरविजय, पृ० 43-46

में नेत्रगोचर होनेवाले कण ही परमाणु हैं, इनसे भी सूक्ष्मतर कणों की कल्पना के लिए कोई प्रमाण नहीं है। **न्याय-वैशेषिक** उन्हें योगियों के प्रत्यक्ष का विषय मानता है। किन्तु **मीमांसा दर्शन योगज प्रत्यक्ष को साधारण प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं मानता। मीमांसा दर्शन** की दृष्टि में जगत् का यही स्वरूप है। **तात्पर्य यह है कि** तत्त्व-विचार की दृष्टि से **मीमांसा दर्शन** वस्तुवादी दर्शन है अर्थात् यह दर्शन अनेक वस्तुवादी है। इस दर्शन की दृष्टि में **प्रत्यक्ष से भी बढ़कर वेद-वाक्य** का महत्त्व कहीं अधिक है।[1]

देवता—वेद-प्रतिपादित यागादि कर्म के स्वरूप की निष्पत्ति द्रव्य और देवता से ही होती है। दधि, पय, घृत आदि द्रव्य हैं और देवता शास्त्रैक-समधिगम्य हैं। देवता के विषय में तीन पक्ष हैं—अर्थ देवता, शब्द-विशिष्ट अर्थ देवता और शब्द देवता। इन तीनों पक्षों में अन्तिम पक्ष को सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया गया है, क्योंकि अर्थ का स्मरण शब्द के ही द्वारा होता है। दूसरे पक्ष में शब्द की ही उपस्थिति प्रथम होती है। इसलिए 'देवता' को **शब्दमयी** ही माना गया है; जैसे—'अग्नये स्वाहा', 'इन्द्राय स्वाहा' शब्दों में 'अग्नये' और 'इन्द्राय' ये **चतुर्थ्यन्त** पद ही देवता हैं। शब्द की उपेक्षा किसी भी पक्ष में न होने से शब्दमयी देवता का ही सिद्धान्त **मीमांसकों ने** माना है। यह देवता दो प्रकार की होती है। एक **कर्मांगभूत** देवता और दूसरी **उपासनांगभूत** देवता। उनमें कर्माङ्गभूत देवता तो **शब्दमयी** है और उपासनांगभूत देवता **विग्रहवती** होती है। विग्रह में पाँच वस्तुओं की सत्ता होती है—

> विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यं च प्रसन्नता।
> फलदातृत्वमित्येतत् पञ्चकं विग्रहादिकम्॥

मनुष्यों के समान ही देवता भी कर-चरणादि अवयवों से युक्त होते हैं। यह तो हुआ उनका विग्रह। हवि का वे भोग करते हैं, वे ऐश्वर्यशाली होते हैं, वे सन्तुष्ट होने पर कृत कर्म का फल देते हैं। यह उनका विग्रह-पञ्चकत्व है। **मीमांसा-दर्शनकार** यज्ञों में शब्दमयी देवता के सिद्धान्त को ही मानते हैं। **भाष्यकार शबरस्वामी** ने देवता-विग्रह का खण्डन किया है। उन्हीं का अनुसरण **पार्थसारथि** आदि मीमांसकों ने आगे चलकर किया है। सूत्रकार **जैमिनी ने** देवताओं के विग्रह का कहीं भी खण्डन नहीं किया है। **भाष्यकार** ने भी देवता-विग्रह का जो निराकरण किया है उसका प्रयोजन केवल इतना ही है कि **अनुष्ठाता** की मानसिक स्थिति **कर्मैकप्रवण हो जाय**। इसीलिए

---

1. मीमांसकैश्च नावश्यमिष्यन्ते परमाणवः।
   यद्बलेनोपलब्धस्य मिथ्यात्वं कल्पयेद् भवान्॥—श्लो० वा०, पृ० 404

कर्म की प्रधानता और देवता को उसके अंग-रूप में बताया गया है। कर्म में ही इतनी शक्ति होती है कि वह स्वयं अपनी शक्ति के बल पर फल देने में समर्थ है।[1]

ईश्वर—कर्म ही अपनी शक्ति से फल देने में समर्थ है, इस सिद्धान्त को सुनकर तथा सूत्रकार जैमिनि और भाष्यकार शबरस्वामी के द्वारा अपने ग्रन्थों में मंगलाचरण न किया हुआ देखकर कुछ लोग मीमांसा दर्शन को **निरीश्वरवादी** कहने लगते हैं किन्तु गहराई से विचार करने पर उक्त दर्शन को निरीश्वरवादी कहनेवालों की **अल्पज्ञता** स्पष्ट हो जाती है। सूत्रकार **जैमिनि** ने अपने सूत्रग्रन्थ का आरम्भ **'अथ'** शब्द से किया है, उसी तरह भाष्यकार **शबरस्वामी** ने अपने भाष्य का आरम्भ **'लोक'** शब्द से किया है। भूलना नहीं चाहिए कि **'अथ'** शब्द स्वयं **मंगलवाचक** है; उसी के सन्निहित 'धर्म' शब्द है, जो **परमेश्वर का** नाम है। **भाष्य के आरम्भ में 'लोक'** शब्द है, जो **परमेश्वर** का नाम है। इस तथ्य की पुष्टि 'विष्णुसहस्रनाम' से हो जाती है। उनके परवर्ती सभी ग्रन्थकारों ने उन्हीं दोनों को **मीमांसादर्शन** के मूल पुरुष मानकर और उनकी कृतियों को नितान्त प्रमाण समझकर अपने-अपने ग्रन्थों की रचनाएँ कीं तथा उनके आरम्भ में, अन्त में और कहीं-कहीं मध्य में भी मंगलाचरण पाये जाते हैं। यदि यह दर्शन **निरीश्वरवादी** होता तो इस दर्शन के प्रत्येक ग्रन्थ में मंगलाचरण कैसे किया गया होता ? **प्रभाकर मतानुयायी नन्दीश्वर ने** 'प्रभाकरविजय' में स्पष्ट कहा है कि ईश्वर के अस्तित्व में श्रेष्ठतम प्रमाण **वेद ही हैं। मीमांसा-ग्रन्थों में** जिसे ईश्वर का खण्डन समझा जाता है वह ईश्वर का खण्डन **न होकर** नैयायिकों के **अनुमान का खण्डन है।**[2] **नैयायिकों** ने वेद का आश्रय ग्रहण न कर अपने **कल्पित अनुमान** से ईश्वर की सिद्धि की थी। सम्भव है, कालान्तर में कोई अधिक बुद्धिमान् उस अनुमान का खण्डन कर दें, और अनीश्वरवाद को ही अपने अनुमान से पुष्ट कर उसका प्रचार कर दें, जिससे लोग पथभ्रष्ट होकर नास्तिकता की ओर अग्रसर होने लग जायें। इस भयंकर अनर्थ से समाज को बचाने के लिए **अनुमान का खण्डन करना पड़ा।** वेदसिद्ध (वैदिक) ईश्वर के खण्डन का कभी भी तात्पर्य नहीं रहा। अतः **इस दर्शन को निरीश्वरवादी कहना अपनी अल्पज्ञता का ही प्रकाशन करना है।** समाज को कर्मठ बनाने के लिए कर्म की प्रधानता बताना इस दर्शन का प्रधान लक्ष्य था, जिसे उसने पूर्ण रूप से निभाया।[3]

---

1. मीमांसादर्शन, 9/1/4, सू० 6–10, देवताधिकरण।
2. प्रभाकरविजय, पृ० 76--83; भाट्टचिन्तामणि, गागा भट्ट, पृ० 42-43
3. न्यायकणिका, पृ० 212–219

भावना—फल-प्राप्ति के लिए उसके साधनभूत याग का अनुष्ठान करने की प्रेरणा विधि-वाक्यों से प्राप्त होती है; जैसे, '**यजेत**' आदि विधायक पद हैं। इस पद में एक '**धातु**' का भाग है और दूसरा '**प्रत्यय**' का भाग है, दोनों को मिलाकर '**यजेत**' बना है। इस पद में '**त**' आख्यात प्रत्यय का अर्थ '**भावना**' है। **भावना** किसी व्यापार-विशेष को कहते हैं, जैसे 'यजेत' का अर्थ 'यागोत्पादक व्यापार' है। इसी तरह भिन्न-भिन्न धातुओं के साथ समझ लेना चाहिए। वह यागोत्पादक व्यापार-विशेष दो प्रकार का होता है, एक साक्षात् यागोत्पादक और दूसरा परम्परया यागोत्पादक। उनमें साक्षात् यागोत्पादक व्यापार प्रयत्न-रूप या सामग्री-सम्पादन ऋत्विग्वरणादि-रूप है, जो यजमान में स्थित रहता है। यजमान के इस व्यापार को ही '**आर्थी**' भावना या 'आर्थ भावना' कहते हैं, क्योंकि उक्त व्यापार, यजनकर्ता (यजमान) रूप अर्थ में रहता है। 'अर्थस्य यजनकर्त्रादिः इयम् आर्थी' और 'भावना' का व्यापार अर्थ है। इस कारण इस भावना को आर्थी कहा गया है।[1]

दूसरा परम्परा यागोत्पादक व्यापार तो 'इस प्रकार करो, **इस प्रकार करो**' इस तरह '**प्रेरणा-रूप**' होता है। वह प्रेरणा-रूप व्यापार, **प्रयोजक कर्ता** का होता है, अर्थात् प्रयोजक कर्ता में स्थित रहता है। **प्रयोजक कर्ता उसे कहते हैं**, जो यजनकर्ता (यजमान) को **प्रेरित** करता है। प्रयोजक कर्ता के इसी व्यापार को '**शाब्दी**' भावना या 'शाब्द भावना' कहते हैं, क्योंकि यह प्रेरणा-रूप व्यापार **शब्द में स्थिर रहता है।** 'शब्दस्य इयं शाब्दी' और भावना का व्यापार अर्थ है, इस कारण इस भावना को '**शाब्दी**' कहा गया है। 'यजेत स्वर्गकामः' यह **वेद शब्द** ही यहाँ **प्रयोजक कर्ता** है। यही यजन-कर्ता यजमान को याग के लिए प्रेरित करता है। वह 'वेद', **शब्द-रूप** है अतः प्रेरणा के शब्दनिष्ठ होने से इसे '**शाब्दी**' नाम दिया गया है। जिस '**त**' प्रत्यय का अर्थ '**भावना**' बताया गया है, उस '**त**' प्रत्यय में दो धर्मों के कारण दो अंश प्रतीत होते हैं। स्वरूप दोनों में एक सा ही है, उसमें कोई अन्तर नहीं। 'यजेत' रूप विधिलिङ् लकार में होता है। यहाँ लिङ् के स्थान में '**त**' आदेश किया जाता है। अतः स्थानी के द्वारा 'लिङ्त्व' धर्म की अनुवृत्ति '**त**' प्रत्यय-रूप आदेश में होती है। दूसरो '**आख्यातत्व**' रूप धर्म प्रत्यय '**त**' का अपना ही है। इस तरह 'प्रत्यय' में दो धर्म, एक '**लिङ्त्व**', दूसरे '**आख्यातत्व**' की प्रतीति होती है। अतः वह एक ही '**त**' प्रत्यय अपने **लिङ्त्व धर्म के माध्यम से** 'शाब्द भावना' को तथा अपने **आख्यातत्व धर्म के माध्यम से** 'आर्थ

---

1. मीमां० न्या० प्र०; श्लो० वा०, 2/1/1/1, पृ० 378

भावना' को व्यक्त करता है। एवंच; **मीमांसकों के मत में विधि-प्रत्यय का अर्थ 'भावना'** माना गया है।[1]

प्रभाकर के मत में—केवल लिङ्-लकार में ही **आख्यात प्रत्यय** का अर्थ **'कृति'** और लिङादिविधि-प्रत्यय का अर्थ **'नियोग'** माना गया है। उस **नियोग** को ही **'अपूर्व'**, **'कार्य'** भी कहते हैं। 'स्वर्गकामो यजेत', यहाँ पर **'स्वर्गकाम'** शब्द का अर्थ **'नियोज्य'** है। नियोज्य उसे कहते हैं, जो 'मम इदं कार्यम्' अर्थात् यह मेरा कार्य है, ऐसा जानता है। जो कृति से साध्य हो और कृति का उद्देश्य भी हो, उसे **कार्य** कहते हैं। उसी को **अपूर्व** इसलिए कहते हैं कि वह प्रमाणान्तर से ज्ञात नहीं है। और पुरुष को वही नियुक्त करना है, इसलिए उसे **'नियोग'** भी कहा गया है। **कार्य के** दो रूप हैं—एक **क्रिया-रूप** और दूसरा **नियोग-रूप**। क्रिया-रूप कार्य में **कर्ता गुणभूत** रहता है और **नियोग-रूप कार्य में नियोज्य गुणभूत** होता है। एक ही व्यक्ति की नियोज्य, अधिकारी और कर्ता, ये तीन **अवस्थाएँ क्रमशः होती हैं**। यह मेरा कार्य है, इस प्रकार कार्य के प्रत्येता को नियोज्य कहते हैं। मेरे कार्य का यह साधन होने से यह मेरा अनुष्ठेय है, इस प्रकार कर्म को अपने लिए समझनेवाला व्यक्ति उसका **अधिकारी** कहा जाता है। उसके पश्चात् कर्म का संपादक (अनुष्ठाता) **कर्ता शब्द से** व्यक्त किया जाता है।[2]

अपूर्व—क्षणिक कर्म का कालान्तर-भावी फल के साथ **कार्य-कारण-भाव के उपपत्त्यर्थ** एक **शक्ति नामक** ऐसे अपूर्व[3] (अदृष्ट) की कल्पना मीमांसकों ने की है जो कर्म से उत्पन्न होता है और फल की प्राप्ति होने तक यजमान की **आत्मा में रहता** है। उस **अपूर्व के चार प्रकार** हैं—(1) परमापूर्व, (2) समुदायापूर्व, (3) उत्पत्त्यपूर्व, और (4) अंगापूर्व।

साक्षात् फल-जनक अपूर्व को **परमापूर्व** कहते हैं। प्रधान कर्म से होनेवाले अपूर्व को उत्पत्त्यपूर्व। समुदाय से उत्पन्न होनेवाले अपूर्व को **समुदायापूर्व** कहते हैं। अंगों से उत्पन्न होनेवाले अपूर्व को **अंगापूर्व** कहते हैं।

परमापूर्व को ही **फलापूर्व** भी कहते हैं। उसकी उत्पत्ति सांग-प्रधान कर्म के अनुष्ठान के पश्चात् ही होती है। प्रधान कर्म से उत्पन्न होनेवाले अपूर्व को **उत्पत्त्यपूर्व**

---

1. मीमांसान्यायप्रकाश; शास्त्रदीपिका; तंत्रवार्तिक, 2/1/1
2. ऋजुविमला, पृ० 32; बृहती; तंत्ररहस्य।
3. यागादेव फलं तद्धि शक्तिद्वारेण सिद्धयति।
   सूक्ष्मशक्त्यात्मकं वा तत् फलमेवोपजायते ॥—तं० वा०, पृ० 395

कहते हैं। यहाँ अनेक याग मिलकर एक कर्म कहे जाते हैं वहाँ **समुदायापूर्व** होता है; जैसे, 'दर्शपूर्णमास' में। प्रधान कर्म के पूर्ववर्ती रहनेवाले अंगों से होनेवाला **अंगापूर्व**, प्रधानकर्मजन्य **उत्पत्त्यपूर्व पर** उपकार करता है और प्रधान कर्म के परवर्ती होनेवाले अंगों से उत्पन्न होनेवाला **अंगापूर्व** प्रधान कर्म से उत्पन्न हुए **उत्पत्त्यपूर्व के पुष्ट होने में** उपकार करता है। यह **सन्निपत्त्योपकारक** अंगों के सम्बन्ध में हैं। **आरादुपकारक** अंगों के अनुष्ठान मात्र से ही यजमान की आत्मा में अपूर्व उत्पन्न हो जाता है।[1]

अंगबोधक प्रमाण—कर्मानुष्ठान के समय कौन प्रधान है और कौन अंग है, यह ज्ञान आवश्यक है। इसलिए **छह प्रमाण**—श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या—बताये गये हैं। इन छह प्रमाणों में पूर्व पूर्व के प्रबल और उत्तर उत्तर के दुर्बल होते हैं।[2]

कर्मभेदक प्रमाण—विधि-वाक्यों से कर्मों का ज्ञान होने पर भी यह ज्ञान आवश्यक है कि क्या वे परस्पर भिन्न-भिन्न कर्म हैं या एक ही हैं। जैसे—'दर्शपूर्णमास' में 'दर्श' और 'पूर्णमास' नामक एक कर्म माना गया है, भले ही दर्श में तीन यागों का एक **त्रिक** है और पूर्णमास में भी तीन यागों का एक **त्रिक** है। किन्तु पाँच प्रयाजों में सर्वत्र 'यजति' शब्द ही सुनायी देता है, तथापि उन्हें एक कर्म न मानकर भिन्न-भिन्न कर्म माना गया है। अतः **कर्मभेदक प्रमाण भी छह** बताये गये हैं—(1) शब्दान्तर, (2) अभ्यास, (3) संख्या, (4) संज्ञा, (5) गुण, (6) प्रकरणान्तर। इन छह प्रमाणों की सहायता से कर्मों के भेद-अभेद का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।[3]

क्रमबोधक प्रमाण—सांग कर्मों का ज्ञान रहने पर भी उनके क्रम का यदि ज्ञान न रहे तो उनका अनुष्ठान अच्छी तरह नहीं हो सकेगा, इसलिए उनके क्रम का ज्ञान भी आवश्यक है। अतः **क्रम का ज्ञान** कराने के लिए श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य, प्रवृत्ति, ये **छह प्रमाण बताये गये हैं**। इन प्रमाणों के आधार पर अनुष्ठान के क्रम का ज्ञान अच्छी तरह हो जाता है।

मोक्ष—कुछ लोग कहते हैं कि मीमांसकों के मत में मोक्ष है ही नही, वे तो स्वर्ग को ही मोक्ष कहते हैं। परन्तु यह कथन केवल अपनी अल्पज्ञता का प्रकाशन मात्र

---

1. शाबरभाष्य, 3/2/40, ब्र० सू०, 3/2/40
2. मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० 26
3. वही, पृ० 90

है। मीमांसकों ने मोक्ष के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर विवेचनापूर्ण विचार किया है; वेदान्तियों अथवा अन्य दर्शनकारों के स्वर में स्वर न मिलाकर अपना स्वतन्त्र मत प्रकट किया है। वेदान्ती मोक्ष का स्वरूप 'प्रपञ्चविलय' बताते हैं लेकिन मीमांसक उनके लक्षण में संशोधन करते हुए कहते हैं कि मोक्ष का स्वरूप 'प्रपञ्चसम्बन्धविलय' है। इस दृश्यमान् जगत् के साथ आत्मा के सम्बन्ध का विनाश होना ही मोक्ष है, क्योंकि प्रपञ्च तो सत्य है, उसका विनाश कैसे सम्भव हो सकता है? प्रपञ्च के तीन प्रकार के बन्धन होते हैं, जिनसे आत्मा बद्ध होता है। आत्मा शरीर-स्थित होकर इन्द्रियों की सहायता से बाह्य विषयों (पदार्थों) का अनुभव करता है। अर्थात् 'शरीर' तो भोगायतन है, 'इन्द्रियाँ' भोग-साधन हैं और 'पदार्थ' भोग-विषय है। इन तीन प्रकार के बन्धनों के आत्यन्तिक नाश को मोक्ष कहते हैं।[1] अर्थात् उक्त तीन प्रकार के बन्धनों के साथ ही उनके उत्पादक धर्माधर्म का भी नाश होता है। पूर्वोत्पन्न शरीर, इन्द्रिय, विषयों का नाश हो जाता है और तदुत्पादक धर्माधर्मादि कारणों के न रहने से नवीन शरीर, इन्द्रिय और विषयों की उत्पत्ति नहीं होती। धर्माधर्म का उच्छेद उत्पन्न हुए धर्मों के फलोपभोग से और नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से (अधर्मों का) होता है। आत्मज्ञान से दोनों का उच्छेद होता है। काम्य कर्म का अनुष्ठान न करने, प्रतिषिद्ध कर्म न करने एवं केवल नित्य-नैमित्तिक कर्मों के करते रहने से प्रत्यवाय-परिहार होता है। इस प्रकार शरीरादि के आरंभक हेतुओं के न रहने पर और पूर्व-शरीर के नष्ट होने पर यह आत्मा अशरीर अर्थात् शरीर-रहित अवस्था में रहता है, तभी उसे मुक्त कहते हैं। वेदान्तियों की तरह केवल आत्मज्ञान से मोक्ष समझना उचित नहीं है। आत्मज्ञान का कथन तो कर्म में रुचि पैदा करने के लिए किया गया है। इसलिए मुमुक्षु को केवल आत्मज्ञान से या विवेकज्ञान से ही सन्तुष्ट होकर नहीं बैठ जाना चाहिए, बल्कि नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान तथा काम्य-प्रतिषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान करते हुए अशरीरत्व-सम्पादन करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए। श्लोक-वार्त्तिक में भट्टपाद कहते हैं—

> मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।
> नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिघांसया॥
> तत्र ज्ञातात्मतत्त्वानां भोगात्पूर्वक्रियाक्षये।
> उत्तरप्रचयाभावात् देही नोत्पद्यते पुनः॥

---

1. वही, पृ० 190; तं० सि० र०, म० म० चिन्नस्वामिशास्त्री।

कर्मजन्योपभोगार्थं शरीरं न प्रवर्तते।
तदभावे न कश्चिद्धि हेतुस्तत्रावतिष्ठते ।।
तस्मात्कर्मक्षयादेव हेत्वभावेन मुच्यते।

तात्पर्य यह है कि मोक्षावस्था को पाने के लिए **कर्म ही प्रधान कारण** है और **आत्मज्ञान सहकारी** कारण है। अतः **मीमांसा दर्शन ज्ञान-कर्म-समुच्चयवादी** है।[1]

प्रभाकर के मत में देह का आत्यन्तिक उच्छेद ही **मोक्ष** है—'आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो मोक्षः'। धर्माधर्म का निःशेष नाश होने से देह के आत्यन्तिक नाश को ही मोक्ष कहते हैं। धर्माधर्म के वशीभूत हुआ यह **जीव** अनेक योनियों में भटकता रहता है। धर्माधर्म का विनाश होने पर तदुत्पन्न देहेन्द्रियादि के सम्बन्ध से सर्वथा रहित होकर यह जीव **प्रापंचिक बन्धनों से** छुटकारा पाने पर 'मुक्त' हो जाता है। प्रापंचिक दुःखों से घबड़ाया हुआ यह जीव दुःख-मिश्रित सुख से भी **मुँह मोड़ लेता है**, क्योंकि वास्तविक विशुद्ध सुख तो संसार में है ही नहीं। इसलिए उनसे उद्विग्न होकर मुक्ति-लाभ के लिए वह तत्पर हो जाता है। तब वह अभ्युदय-साधक, बन्धन के हेतुभूत, काम्य-निषिद्ध कर्मों का परित्याग करता है और पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप धर्माधर्म के फलों का उपभोग लेकर उन्हें नष्ट कर देता है; फिर भी सञ्चित संस्कारों को नष्ट करने के लिए **वेदान्त या योगशास्त्र** द्वारा प्रतिपादित शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि का पालन करते हुए **आत्मज्ञान को प्राप्त करता** है, तब यह **जीव** मुक्तावस्था की उपलब्धि कर पाता है; अर्थात् पुनः संसार में **नहीं आता**। **मुक्तावस्था** में जीव की **सत्ता मात्र** रहती है, जो सत् और अकारण है। अतः **इनके मत में** भी **ज्ञान-कर्म-समुच्चय को ही स्थान प्राप्त** हुआ है।[2]

आचार-विमर्श

वैदिक धर्म में यज्ञ का वही महत्त्व है जो शरीर में प्राण का होता है। **यज्ञ को** वैदिक धर्म का प्राण या आत्मा ही कहना चाहिए। इसीलिए धर्म-रूप पुरुषार्थ के सम्पादनार्थ वेद-विहित यज्ञों का अनुष्ठान शिष्ट लोगों के सदाचार में स्थान प्राप्त कर सका है। वेद-विहित उन यज्ञों के ठीक-ठीक यथाविधि अनुष्ठान के लिए यह पूजित-विचार-रूप मीमांसा प्रवृत्त हुई है। अतः मीमांसा दर्शन के आचार-विमर्श के नाम पर वेद-प्रतिपादित यज्ञ-यागादि ही आ सकते हैं। उक्त आचार-विमर्श को ही कोई 'आचार-

---

1. श्लो॰ वा॰, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, 106-107; शास्त्रदीपिका, पृ॰ 125-128
2. भाट्टचिन्तामणि, गागा भट्ट, पृ॰ 55-59

मीमांसा' कहे या 'नीति-मीमांसा' या और किसी भी नाम से कह सकता है। यही कारण है कि देवताओं ने भी 'ध्यान-यज्ञ' से यज्ञ-पुरुष की अर्चना की।[1] यज्ञ को मुख्य धर्म कहा गया है।[2] 'यज्ञ' को ईश्वर और धर्म का साक्षात् प्रतीक कहा गया है।

वैदिक यज्ञ दो प्रकार के होते हैं—एक **श्रौत** और दूसरे **गृह्य**। **श्रौत यज्ञों का विवरण** श्रौत सूत्रों में और **द्वितीय गृह्य यज्ञों** का विवरण गृह्य सूत्रों में उपलब्ध है। यथाविधि दीक्षा ग्रहण करने पर ही मनुष्य श्रौतयज्ञानुष्ठान का **अधिकारी** होता है और केवल **उपनीत होने** पर ही वह गृह्य यज्ञ का **अधिकारी** हो पाता है।

श्रौत यज्ञ के दो भेद हैं—सोमसंस्था और हविःसंस्था। गृह्य-यज्ञ को पाकसंस्था भी कहते हैं। **निष्कर्ष यह** है कि तीन प्रकार के यज्ञ होते हैं। इन तीनों के पुनः **सात सात भेद हैं**।

सप्त सोमसंस्था में सात यज्ञ हैं—(1) अग्निष्टोम, (2) अत्यग्निष्टोम, (3) उक्थ्य, (4) षोडशी, (5) वाजपेय, (6) अतिरात्र और (7) आप्तोर्याम।

सप्त हविः संस्था में ये सात हैं—(1) अग्न्याधेय, (2) अग्निहोत्र, (3) दर्श, (4) पौर्णमास, (5) आग्रयण, (6) चातुर्मास्य और (7) पशुबन्ध।

सप्त पाकसंस्था में ये सात हैं—(1) सायंहोम, (2) प्रातर्होम, (3) स्थालीपाक, (4) नवयज्ञ, (5) वैश्वदेव, (6) पितृयज्ञ और (7) अष्टका। **लाट्यायन श्रौत सूत्रकार** ने दर्श और पौर्णमास को एक ही यज्ञ मानकर 'सौत्रामणि यज्ञ' को भी सप्त हविः संस्था के अन्तर्गत गिनाया है। **सोमसंस्था** को 'सोमयाग', 'ऋतु', 'ज्योतिष्टोम'; 'सुत्या' आदि कहते हैं। हवि संस्था को **हविर्यज्ञ** भी कहते हैं। कहीं कहीं इन तीनों संस्थाओं को **'सोम'**, **'इष्टि'** और **'होत्र'** भी कहा गया है।[3]

किन किन जातियों को किन किन यज्ञों के अनुष्ठान का अधिकार है? किन वेदमन्त्रों से कौन कौन यज्ञ किये जाते हैं? किस यज्ञ में तीव्र, मध्यम और मन्द्रादि किन स्वरों में मन्त्र पढ़े जाते हैं? इन प्रश्नों का समाधान श्रौत सूत्र तथा गृह्य सूत्रों में किया है। आर्त्विज्य (यज्ञ कराने) का अधिकार ब्राह्मण को ही है।[4]

उक्त श्रौत यज्ञों में अधिकार उसी को होता है, जिसने सपत्नीक **श्रौताग्नि का**

---

1. ऋ० वे०, 10. 90. 16
2. शत० ब्रा०, 1. 7. 4. 5
3. कात्यायन श्रौतसूत्र।
4. वही।

ग्रहण किया हो। अग्नि का ग्रहण '**आधान**' के द्वारा ही होता है। तत्तद्वर्णों को उद्देश्य कर तत्तत्काल में विहित कर्म को ही **आधान** संज्ञा दी गयी है। इस कर्म में तत्तत् आयतनों में मन्त्र-पुरःसर **गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि** और **सभ्य** नाम के चार अग्नियों की स्थापना की जाती है। इस **आधान के कर्म से** ही श्रौत अग्नियों की सिद्धि होती है। इन स्थापित किये गये अग्नियों का धारण **यावज्जीवन करना** होता है।

इस प्रकार आधान के द्वारा स्थापित **श्रौताग्नियों** में अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है। **सायं और प्रातः** अग्नि के उद्देश्य से किये जानेवाले होम को '**अग्निहोत्र**' कहते हैं। यह कर्म जहाँ तक सम्भव ही सके **यजमान स्वयं** ही करे। यजमान की असमर्थता में **अध्वर्यु नाम का ऋत्विक् करे।**

दर्शपूर्णमास याग—दर्शपूर्णमास नामक याग क्रमशः **अमावास्या** और **पूर्णिमा** के दिन किये जाते हैं। अमावास्या (दर्श), पूर्णिमा के दिन उनका अनुष्ठान होने से ही उन्हें '**दर्शपूर्णमास**' संज्ञा प्राप्त हुई है।

पूर्णमासी के दिन तीन याग—(1) अष्टाकपाल पुरोडाश-द्रव्यक 'आग्नेय याग', (2) अग्नीषोमीय आज्य-द्रव्यक 'उपांशु याग', (3) एकादशकपाल-पुरोडाश-द्रव्यक 'अग्नीषोमीय याग' होते हैं।

अमावास्या के दिन तीन याग—(1) पुरोडाशद्रव्यक 'आग्नेय याग', (2) दधि-द्रव्यक 'ऐन्द्र याग', (3) पयोद्रव्यक 'ऐन्द्र याग' होते हैं। दोनों दिनों के मिलकर **छह याग** होते हैं। इन **छह यागों को** मिलाकर '**दर्शपूर्णमास**' संज्ञक **एक कर्म** कहा जाता है। उपर्युक्त **छह याग** 'सान्नाययाजी' के लिए होते हैं। **अन्य के लिए** केवल अमावास्या के यागों में कुछ अन्तर कर दिया गया है। उसके लिए **अमावास्या के दिन** (1) आग्नेय याग, (2) विष्णु या अग्नीषोम-देवताक आज्य-द्रव्यक याग और (3) द्वादशकपाल-पुरोडाश-द्रव्यक ऐन्द्राग्न याग ये **तीन याग माध्यन्दिनीय शाखावालों** और **शांखायन शाखावालों** के लिए होते हैं। **अन्य शाखावालों** के लिए अमावास्या के दिन (1) आग्नेय याग और (2) ऐन्द्राग्न याग, ये दो ही होते हैं। और पूर्णमासी के याग तो यथापूर्व ही होते हैं। ये **छह याग** अन्य सभी **इष्टियागों के प्रकृतिभूत** हैं। अन्य सभी इष्टियाग उसके **विकृतिभूत** हैं। अपेक्षित समस्त अंगों का उपदेश जहाँ पर किया गया हो उसे **प्रकृति** कहते हैं और जहाँ पर दूसरी जगह से आकर अंग प्राप्त होते हैं उसे **विकृति** कहते हैं।[1]

---

1. कात्यायन श्रौत सू०, द० पू० प्र०

चातुर्मास्य याग—कुछ कर्म ऐसे हैं, जिन्हें चार चार महीनों पर किया जाता है, इसलिए उन कर्मों की **'चातुर्मास्य' संज्ञा** की गयी है। इस चातुर्मास्य याग के **चार पर्व** होते हैं—(1) वैश्वदेव, (2) वरुणप्रघास, (3) साकमेध, (4) शुनासीरीय। उनमें से **प्रथम पर्व** फाल्गुन पूर्णिमा के दिन अनुष्ठेय होता है। उसके चार महीने बीतने पर कार्तिक पूर्णिमा के दिन **द्वितीय पर्व**, उसके चार महीने बीतने पर फाल्गुन शुक्ल प्रतिपत् के दिन शुनासीरीय नामक **तृतीय पर्व** का अनुष्ठान किया जाता है।[1]

सोम याग—सोम नाम की एक लता होती है, उससे रस निकाला जाता है, वही रस इस याग में द्रव्य है। उस सोमलता को किसी पुरुष से खरीदा जाता है, पश्चात् उसका रस निकालकर उससे होम किया जाता है। इसी कारण इस याग को **सोमयाग** कहते हैं। इस याग का सांग अनुष्ठान पाँच दिनों में किया जाता है। **इस याग में 16 ऋत्विज्** होते हैं। उन **सोलहों को चार गणों में विभक्त किया जाता है।** वे चार गण इस प्रकार हैं—(1) अध्वर्युगण, (2) ब्रह्मगण, (3) होतृगण, (4) उद्गातृगण। एक एक गण में चार चार ऋत्विक् के क्रम से कुल मिलाकर 16 ऋत्विक् होते हैं।

(1) **अध्वर्युगण में**—अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेता।
(2) **ब्रह्मगण में**—ब्रह्मा, ब्रह्मणाच्छांसी, अग्नीध्र, पोता।
(3) **होतृगण में**—होता, मैत्रावरुण (प्रशास्ता), अच्छावाक, ग्रावस्तुत।
(4) **उद्गातृगण में**—उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता सुब्रह्मण्य।

अपने अपने गणों में जिसके नाम का गण हो उसी को प्रथम समझा जाता है; जैसे—**अध्वर्युगण** में अध्वर्यु प्रथम और प्रतिप्रस्थाता द्वितीय, नेष्टा तृतीय और चतुर्थ उन्नेता होता है। इसी प्रकार सभी गणों में समझना चाहिए।

इस संख्या के अनुसार ही उनकी दक्षिणा का क्रम निश्चित किया जाता है। जैसे, अध्वर्यु की दक्षिणा से आधी दक्षिणा प्रतिप्रस्थाता की, उससे आधी अर्थात् अध्वर्यु दक्षिणा की $\frac{1}{3}$ दक्षिणा नेष्टा की, उससे आधी अर्थात् अध्वर्यु-दक्षिणा की $\frac{1}{4}$ दक्षिणा उन्नेता की होती है। यही क्रम अन्यान्य गणों में भी समझना चाहिए।[2] इसीलिए प्रत्येक गण में द्वितीय से चतुर्थ तक के ऋत्विजों को 'अर्धी', 'तृतीयी', 'पादी' संज्ञा दी गयी है।

---

1. कात्यायन श्रौत सू०, चा० प्र०।
2. का० श्रौ० सू०, सो० प्र०।

सोमयाग का अनुष्ठान करने में तीनों वेदों का सम्बन्ध रहता है। इस कारण इस याग में तीनों वेदों के ऋत्विजों का वरण किया जाता है। **अध्वर्युगण यजुर्वेद** का, **होतृगण ऋग्वेद का उद्गातृगण सामवेद** का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तीन गणों के द्वारा अनुष्ठान किये जानेवाले कर्म का निरीक्षण करने के लिए **ब्रह्मगण** है। इस प्रकार इस याग में चारों गणों का उपयोग होता है। यह सोमयाग अन्य सभी सोमयागों का **प्रकृतिभूत** है, इस सोमयाग का ज्ञान होने पर अन्य सभी सोमयागों का ज्ञान प्रायः हो जाता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि **याग तीन प्रकार के** हैं—इष्टि, पशु और सोम। सांख्य की तरह इनमें भी कोई केवल **प्रकृति** याग हैं, कोई याग प्रकृति-विकृति एवं कोई याग केवल विकृति होता है; जैसे, '**दर्शपूर्णमास**' **केवल प्रकृति** ही है, **अग्नीषोमीयपशु याग प्रकृति-विकृति** उभयात्मक है, **सौर्यादि याग केवल विकृति** है और होमों में **दर्विहोम न किसी के प्रकृति हैं और न किसी के विकृति ही** हैं, अर्थात् **अनुभयात्मक** हैं।

ये अनुष्ठेय कर्म मंत्र पढ़कर सम्पन्न किये जाते हैं। वे मन्त्र चार प्रकार के होते हैं—करण मन्त्र, क्रियमाणानुवादी मंत्र, अनुमन्त्रण मंत्र और जप मन्त्र। कर्म करने के पूर्व जिन मंत्रों का उच्चारण किया जाता है, उन्हें 'करण मंत्र' कहते है; जैसे याज्या, पुरोनुवाक्या आदि। कर्मानुष्ठान के समय जो मंत्र पढ़े जाते हैं, उन्हें **क्रियमाणानुवादी मंत्र** कहते हैं, जैसे यूपपरिव्याण के समय 'युवा सुवासा' आदि मंत्र। कर्म करने के पश्चात् जिन मंत्रों को पढ़ा जा सकता है, उन्हें **अनुमंत्रण मंत्र** कहते हैं, जैसे यजमान के द्वारा द्रव्यत्यागात्मक याग करने के तत्काल पश्चात् 'एको मम एका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि' इत्यादि मन्त्र। इनके अतिरिक्त 'मयीदमिति यजमानो जपति' इत्यादि से विहित सन्निपत्योपकारक-रूप **जप मंत्र** होते हैं। जप मन्त्रों के अतिरिक्त पूर्वोक्त तीन प्रकार के मन्त्रों के अनुष्ठेयार्थ का स्मरण करा देना ही **दृष्ट प्रयोजन** है। किन्तु जप मन्त्रों का **अदृष्ट प्रयोजन** ही मीमांसकों ने निर्णीत किया है।[1]

वाक्यों को सुनने के पश्चात् जो अर्थबोध (**शाब्दबोध**) होता है, उसमें भी **मीमांसक, वैयाकरण, नैयायिकों** के अपने अपने **विभिन्न सिद्धान्त** हैं, यथा—

मीमांसक—'आख्यातार्थ-भावना-मुख्य-विशेष्यक शाब्द बोध' कहते हैं।

वैयाकरण—'भावप्रधानमाख्यातम्' इस नियम के अनुसार 'भावा (धात्व)र्थ-मुख्य-विशेष्यक शाब्द बोध' कहते हैं।

---

1. सारविवेचिनी; जै० न्या० वि०, मन्त्राधिकरण।

नैयायिक—'प्रथमान्तार्थ-मुख्य-विशेष्यक शाब्द बोध' कहते हैं। जैसे—'स्वर्गकामो यजेत' **वाक्य से मीमांसक को** शाब्द बोध इस प्रकार होता है—'स्वर्गभाव्य का यागादिकरणिका यत्किञ्चिदितिकर्तव्यता का शाब्द-भावना-प्रयोज्या अर्थ-भावना।

उसी वाक्य से नैयायिक को शाब्द बोध इस प्रकार होता है—'इष्टसाधनकृतिसाध्यबलवदनिष्ठाननुबन्धियागानुकूलकृतिमान् स्वर्गकामः।'

उसी वाक्य से वैयाकरण को शाब्दबोध इस प्रकार होता है—'स्वर्गकामाऽभिन्नकर्तृको विधिविषयो यागः।'

वेद की अपौरुषेयता

विधि, अर्थवाद मंत्र, नामधेय, निषेध के रूप में पंचधा विभक्त हुई इस शब्दात्मक वेद-राशि को **भारतीय परम्परा अपौरुषेय** कहती आ रही है। भारतीयों का वेद के सम्बन्ध में यह अपौरुषेयता का **सुदृढ़ एवं अकाट्य सिद्धांत** है। इस अपौरुषेयता को सिद्ध करने में **भारतीय विद्वानों के पास** अनेक अकाट्य तर्क हैं। मीमांसासूत्रकार **जैमिनि महर्षि ने** 'उक्तं तु शब्द पूर्वत्वम्' सूत्र के द्वारा वेद की **अपौरुषेयता को स्पष्ट** घोषित किया है। **इतिहासकार** पूर्वघटनाओं के सम्बन्ध में जैसे सन्, संवत्, शक आदि कालक्रम के अनुसार तत्तत्कार्यकर्ताओं के नामों का उल्लेख सप्रमाण करते हैं, उस प्रकार आज तक कोई भी वेद के कर्ता का नाम, सन्, संवत् आदि किसी प्रकार के काल **निर्देश नहीं कर सका है। मंत्रकार आदि शब्द-प्रयोग तो मणिकार,** सुवर्णकार की तरह प्रयुक्त किये गये हैं। अतः **वेद अपौरुषेय** हैं।[1] यही भारतीयों की **आचार-परम्परा** है।

---

1. **मीमांसादर्शन, 1/1/8, वेदापौरुषेयाधिकरण।**

अध्याय 14

शंकर-पूर्व वेदान्त

योगवासिष्ठ

विषय-प्रवेश

भारतीय दार्शनिक साहित्य में 'योगवासिष्ठ' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ में सामान्य लोगों के लिए अत्यन्त सरल रूप से और विद्वानों के लिए अत्यन्त गम्भीर रूप से विषय का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए यह ग्रन्थ सर्वमान्य हो चुका है। आकार में यह बहुत ही बड़ा ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का प्रभाव मध्य-कालीन वेदान्त के सभी ग्रन्थों पर पड़ा है। शंकराचार्य के पूर्व ही वेदान्त मत का साधारण विवेचन इस ग्रन्थ में हो चुका था। इसीलिए वेदान्त के विद्यारण्य जैसे परवर्ती लेखकों ने अपनी कृतियों में इस ग्रन्थ के श्लोकों को प्रचुर मात्रा में उद्‌धृत किया है। उदाहरण के लिए केवल विद्यारण्य के 'जीवन्मुक्तिविवेक' में इस ग्रन्थ के 353 श्लोक उद्‌धृत किये गये हैं।[1] वास्तव में योगवासिष्ठ दार्शनिक विचारों का एक महान् भण्डार है। इस ग्रन्थ पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है।

'योगवासिष्ठ' के रचना-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। परन्तु अधिकतर विद्वान् इसे शंकराचार्य से पूर्व का ग्रन्थ मानते हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ में अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है, तथापि शंकराचार्य के द्वारा प्रयोग किये गये अनेक शब्द इसमें नहीं मिलते। दार्शनिक चिन्तन भी स्पष्ट रूप से केवल अद्वैत दर्शन का संकेत नहीं करता। इसमें श्रुति-प्रमाण को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है जबकि शंकराचार्य के ग्रन्थों में इसका स्थान अधिक है। इन्हीं कारणों से यह स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ शंकराचार्य से पूर्व का है। इस ग्रन्थ के कल्पनावाद और अजातिवाद

---

1. योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, बी० एल० आत्रेय, पृ० 4

आदि शब्द 'गौड़पादकारिका' से मिलते हैं। परन्तु 'गौड़पादकारिका' के समान यह ग्रन्थ किसी एक सम्प्रदाय-विशेष का संकेत नहीं करता। 'गौड़पादकारिका' के समान इसमें पर-मत-खण्डन आदि नहीं हुआ है। इसमें वसिष्ठ मुनि का अपना स्वयं का चिन्तन है। इससे यह प्रतीत होता है कि 'योगवासिष्ठ' गौड़पादाचार्य से भी पहले का ग्रन्थ हो सकता है। इस प्रकार विद्वानों का मत है कि यह ग्रन्थ सातवीं शताब्दी में लिखा गया।

योगवासिष्ठ ग्रन्थ में 55 उपाख्यान हैं। इन सभी उपाख्यानों का संक्षिप्त विवरण डॉ० आत्रेय ने अपने ग्रन्थ में दे दिया है। यहाँ 'योगवासिष्ठ' के दार्शनिक सिद्धान्तों का दिग्दर्शन मात्र किया गया है।

योगवासिष्ठ के अनुसार यह सारा संसार अनित्य, असार, क्षणभंगुर और मायामय है। हर जगह संसार में दोष ही विद्यमान हैं।[1] संसार के सारे पदार्थ तरंग के समान हैं। मनुष्य-जीवन की दशा ठीक नहीं है। मनुष्य के भोग के पदार्थ महारोग के समान हैं।[2] सब मनुष्य मोह के वशीभूत हैं। समस्त भोग के विषय विष के समान दुःख देनेवाले हैं। सारी सम्पत्तियाँ और स्त्रियों का सौन्दर्य भी क्षणभंगुर है।[3] बाल, युवा और वृद्ध अवस्थाएँ भी दोषपूर्ण हैं। इस प्रकार संसार दुःखमय है। इस दुःख-निवृत्ति का मुख्य साधन ज्ञान है। बुद्धिमान लोग ज्ञान (युक्ति-रूपी) नौका द्वारा संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।[4] आत्मज्ञान से सम्पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है। प्रत्येक व्यक्ति को आत्मज्ञान के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। आत्मानुभव से ही सब दुःखों का नाश होता है। पुरुषार्थ ही सब दुःखों को दूर करता है। पुरुषार्थ के द्वारा सब कुछ प्राप्त हो सकता है।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
आत्मात्मना न चेत्त्रातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः॥

अर्थात्—आत्मा ही आत्मा का प्रिय मित्र है, आत्मा ही आत्मा का वैरी है। यदि आत्मा ही आत्मा की रक्षा नहीं करता तो दूसरा कोई उपाय नहीं है। अतः

---

1. कास्ता दृशो यासु न सन्ति दोषाः कास्ता दिशो यासु न दुःखदाहः।
   कास्ताः प्रजा यासु न भंगुरत्वं कास्ताः क्रिया यासु न नाम माया॥—1/27/30
2. भोगा भवमहारोगास्तृष्णाश्च मृगतृष्णिकाः।—1/26/10
3. सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्सङ्गभङ्गुराः।—6.2/93/78
4. ज्ञानयुक्तिप्लवेनैव संसाराब्धि सुदुस्तरम्।
   महाधियः समुत्तीर्णा निमेषेण रघूद्वह॥—2/11/36

आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए परमपुरुषार्थ करना चाहिये। इस परम पुरुषार्थ-प्राप्ति का पहला मार्ग चित्त-शुद्धि बतलाया गया है। चित्त-शुद्धि के बिना आत्मा का प्रकाश नहीं हो सकता। शास्त्रादि-श्रवण द्वारा मन को पवित्र करने का उपदेश दिया गया है। मन पवित्र होने पर ही उसमें गुरु की शुद्ध वाणी प्रवेश करती है। चित्त-शुद्धि के लिए साधक को चार साधनों का आश्रय लेना पड़ता है; वे हैं—शम, सन्तोष, साधु-सङ्ग और विचार।[1] इनका आश्रय लेने पर ही मोक्ष-रूपी राजमहल, साधक से लिए खुल जाता है।[2]

स्वानुभूति के द्वारा साधक आत्मज्ञान प्राप्त करता है। यह स्वानुभूति ही प्रत्यक्ष प्रमाण है।[3] वसिष्ठ के अनुसार आत्मा का ज्ञान अनुमान और शब्द-प्रमाण से नहीं होता। प्रत्यक्ष ज्ञान अनुभव-साध्य है।[4]

योगवासिष्ठ में जिस अद्वैतवाद का प्रतिपादन हुआ है अब उसका संक्षिप्त विवरण दिया जायगा।

जगत्

संसार के सब पदार्थ कल्पनामय हैं।[5] वस्तुओं में कल्पना के अतिरिक्त और कोई द्रव्य नहीं है। भौतिक वस्तुएँ शश-शृङ्ग के समान असत् हैं। द्रष्टा के भीतर ही दृश्य का उदय होता है। जाग्रत् अवस्था और स्वप्न अवस्था में कोई विशेष भेद नहीं है, अपितु उन दोनों में घनिष्ठ समानता है।[6] एक में स्थिर का अनुभव होता है और दूसरे में अस्थिर का। दोनों में बाह्य वस्तु की प्रतीति आदि बातें समान रूप से अनुभव

---

1. मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः।
   शमो विचारः सन्तोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥—2/16/58
2. द्वारमुद्घाटयन्त्येते मोक्षराजगृहे तथा।—2/12/60
3. अनुभूतेर्वेदनस्य प्रतिपत्तेर्यथाविधम्।
   प्रत्यक्षमिति नामेह कृतं जीवः स एव नः ॥—2/19/18
4. नात्मास्त्यनुमया राम न चाप्तवचनादिना।
   सर्वदा सर्वथा सर्वं सः प्रत्यक्षोऽनुभूतितः ॥—5/73/15
5. समस्तं कल्पनामात्रमिदम्....॥—6.2/210/11
6. जाग्रत्स्वप्नदशाभेदो न स्थिरास्थिरते विना।
   समः सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः॥—4/19/11

में आती हैं। जगत् का अनुभव स्वप्न के अनुभव के समान होता है।[1] प्रत्येक जीव का जगत् अलग-अलग है। जीव ही इस जगत् की सृष्टि करता है। सब जीव ब्रह्मा से उत्पन्न होते हैं। दृश्य जगत् संसृत, महत्तमस्, मोह, माया आदि अनेक नामों से कहा गया है।[2] प्रत्येक दृश्य वस्तु स्वयं द्रष्टा भी है। प्रत्येक सृष्टि में भी अनेक प्रकार की भिन्न भिन्न सृष्टियाँ हैं। इन सृष्टियों का सिलसिला निरन्तर चलता रहता है। प्रत्येक जीव को केवल अपनी सृष्टि का ज्ञान होता है। ब्रह्माण्ड की अनेक सृष्टियों का ज्ञान एक दूसरे को नहीं होता है। जीव चाहे तो समस्त पदार्थों का अनुभव कर सकता है, क्योंकि संसार के सभी पदार्थ ब्रह्ममय हैं। समुद्र की लहरों के समान ब्रह्म में अनन्त जगत् उत्पन्न और लीन भी होते रहते हैं।[3] कल्प के अन्त में द्रष्टा के नष्ट हो जाने पर सारा संसार और सारे प्राणी नष्ट हो जाते हैं।[4] प्रलय-काल में केवल ब्रह्म ही रह जाता है।[5] फिर संसार की सृष्टि उसी ब्रह्मा से होती है। वह ब्रह्म ही स्वयं को बाह्य जगत् के रूप में परिणत कर लेता है। इसी ब्रह्म से आकाशादि भूत-प्रपञ्च और जीव-प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है।

योगवासिष्ठ के अनुसार जगत् मनोमय है। जगत् को द्रष्टा से भिन्न मानने पर किसी प्रकार का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। ज्ञाता को ज्ञेय का अनुभव भी सम्बन्ध के बिना नहीं हो सकता। द्रष्टा और दृश्य दोनों को चैतन्य न मानने पर दार्शनिक कठिनाई उत्पन्न हो जाती है और द्रष्टा दृश्य को कभी जान नहीं सकता। यूरोप के दार्शनिक हेगल, ब्रैडले आदि अनेक विद्वानों ने इसी युक्ति को अपनाकर विश्व-तत्त्व की एकता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। योगवासिष्ठकार ने बहुत पहले ही इस बात की पुष्टि की थी। यह योगवासिष्ठकार की दार्शनिक उपलब्धि मानी जा सकती है।

---

1. पश्यत्यकृतमेवेदं जगत्स्वप्नं कृतं तथा।—6.2/62/44
2. अविद्या संसृतिर्बन्धो माया मोहो महत्तमः।
   कल्पितानीति नामानि यस्याः सकलवेदिभिः॥—3/1/20
3. अनन्तानि जगन्त्यस्मिन्ब्रह्मतत्त्वमहाम्बरे।
   अम्भोधिवीचिजलवन्निमज्जन्त्युद्भवन्ति च॥—4/17/14
4. यदिदं दृश्यते सर्वं जगत्स्थावर जङ्गमम्।
   तत्सुषुप्ताविव स्वप्नः कल्पान्ते प्रविनश्यति॥—3/1/10
5. शून्यं नित्योदितं सूक्ष्मं निरुपाधि परं स्थितम्।—3/2/37

जीव

जीवित और चेतन होने के कारण जीव कहलाता है। जीवों की संख्या अनन्त है। बीजजाग्रत्, जाग्रत्, महाजाग्रत्, जाग्रत्स्वप्न, स्वप्न, स्वप्नजाग्रत् तथा सुषुप्त कहकर जीव की सात अवस्थाएँ बतलायी गयी हैं।[1] इन्हीं अवस्थाओं के कारण जीव भी सात प्रकार के होते हैं। वे हैं—स्वप्नजागर, संकल्पजागर, केवलजागर, चिरजागर, घनजागर, जाग्रत्स्वप्न और क्षीणजागर।[2] संसार के सब जीवों को 15 जातियों में विभक्त किया गया है। जीव अनादि और अनन्त हैं। जिस प्रकार हिलते हुए जल से लहरों की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार सब जीवों की उत्पत्ति ब्रह्म से होती है।

योगवासिष्ठ में मन का ब्रह्म के साथ तादात्म्य बतलाया गया है। मन और ब्रह्म को दो अलग वस्तुएँ नहीं माना गया है। ब्रह्म ही जब मन का आकार धारण करता है तो मन की भी अनन्त अपार शक्तियाँ हो जाती हैं। मन जगत् का बीज-स्वरूप है और वह जगत् का निर्माण करनेवाला है।[3] अतः मन ही स्वयंपुरुष कहलाता है। मन स्वतन्त्र रूप से शरीर की रचना करता है। मन के शान्त होने पर ही जीव आनन्द का अनुभव करता है। शुद्ध मन में ही आत्मा का प्रतिबिम्ब होता है। मन का अज्ञान ही जीव का संसार-रूपी अन्धकार है। चित्त की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या नामक चार अवस्थाएँ हैं।[4]

योगवासिष्ठ के अनुसार आत्मा और शरीर का कोई सम्बन्ध नहीं है। वे दोनों अन्धकार और चाँदनी के समान दो विलक्षण पदार्थ हैं।[5] आत्मा शरीर की जनन,

---

1. बीजजाग्रत्तथाजाग्रन्महाजाग्रत्तथैव च।—3/117/11
   जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तकम्।—3/117/12
2. ते स्वप्नजागराः केचित्केचित्संकल्पजागराः।
   केचित्केवल जागराश्चिरजाग्रत्स्थिताः परे॥—6.2/50/2
   घनजाग्रत्स्थिताश्चान्ये जाग्रत्स्वप्नास्तथेतरे।
   क्षीणजागरकाः केचिज्जीवाः सप्तविधः स्मृताः॥—6.2/50/3
3. विश्वबीजमहत्त्वं त्वं विद्धि तस्माद्धि जायते।—6.2/7/11
4. जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं भयं रूपं हि चेतनः।—6.1/124/36
   यदसतं समं स्वच्छं स्थितं तत्तुर्यमुच्यते।—6.1/124/23
5. नात्मा शरीरसम्बन्धो शरीरमपि नात्मनि।
   मिथो विलक्षणावेतौ प्रकाशतमसी यथा॥—6.1/6/6

मरण आदि अवस्थाओं से परे है। एक शरीर को छोड़कर जीव दूसरे शरीर को धारण करता है। जब तक आत्मा का दर्शन नहीं होता तब तक जीव जन्म-मरण के चक्र में पड़ा रहता है। आत्मा के लिए जीवन और मरण नहीं हैं।

ब्रह्मा (मन)

योगवासिष्ठ के अनुसार ब्रह्मा जगत् की सृष्टि करते हैं। वह ब्रह्मा परब्रह्म की सर्जन-शक्ति का मूर्तिमान आकार है। मन को ब्रह्मा का स्वरूप और ब्रह्मा को मन का स्वरूप कहा गया है। मन का स्वरूप धारण करके ब्रह्मा सृष्टि करता है।[1] उस ब्रह्मा की उत्पत्ति परब्रह्म से होती है। सृष्टि के समय ब्रह्म का स्पन्दन होता है जो उसका स्वाभाविक रूप है।[2] उनमें वह स्पन्दन उनकी लीला से होता है। आत्मतत्त्व की संकल्प-शक्ति द्वारा निर्मित रूप को ब्रह्मा कहा जाता है।[3] ब्रह्मा कर्म-बन्धन से मुक्त होकर रहता है। ब्रह्मा से उत्पन्न जगत् मनोमय कहलाता है।[4] ब्रह्मा केवल सूक्ष्म शरीर से रहता है। उसी ब्रह्मा से कल्पना द्वारा सारे संसार का उदय होता है और उदय होकर वह सत्य के रूप में प्रतीत होता है।

परब्रह्म

योगवासिष्ठ में परब्रह्म का विस्तृत वर्णन है। उसे जगत् की उत्पत्ति और लय का कारण बतलाया गया है।[5] वह अनेक शक्तियों से सम्पन्न है। वह ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का तथा द्रष्टा, दर्शन और दृश्य का कारणीभूत है।[6] वह सत्, चित् और आनन्द-स्वरूप है। उसका ज्ञान केवल अनुभवजन्य है। ब्रह्म का वर्णन सम्भव नहीं है। वह न चेतन है और न जड़। उसे न सत् कहा जा सकता है, न असत्।[7]

---

1. विरिञ्चो मनसो रूपं विरिञ्चस्य मनो वपुः।—3/3/35
   मनस्तामिव यातेन ब्रह्मणा तन्यते जगत्॥—3/3/37
   मनोनाम्नो मनुष्यस्य विरिञ्च्याकारधारिणः।—3/3/33
2. चिद्रूपस्यात्मतत्त्वस्य स्वभाववशतः स्वयम्।—3/64/11
3. संकल्पशक्तिरचितं यद्रूपं तन्मनो विदुः।—3/96/3
4. मनोमात्रमतो विश्वं यद्यज्जातं तदेव हि॥—3/3/25
5. यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च।
   यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः॥—1/1/1
6. ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं द्रष्टादर्शनदृश्यभूः॥—1/1/2
7. न चेतनो न च जडो न चैवासन्न सन्मयः।—3/72/41

वह सभी भूतों का आत्मा है। ब्रह्म को शून्य या भावात्मक वस्तु भी कहना सम्भव नहीं है। वह ज्ञान और अज्ञान से परे है। वह अन्धकार और प्रकाश से भी परे है।[1] ब्रह्म को जिन नामों से पुकारा जाता है वे सब कल्पित हैं।[2] वह आत्मा, विज्ञान, शून्य, परब्रह्म, श्रेय, शिव, विद्या आदि अनेक शब्दों से वर्णित है। वह सर्वोत्तम तत्त्व है। उसे सबका अनुभव-रूप अन्तरात्मा कहा गया है। योगवासिष्ठ में ब्रह्म के विकास का वर्णन मिलता है। वह ब्रह्म अपने आप निरन्तर बढ़ता जा रहा है। वह स्वयं अपने द्वारा बुद्धि को प्राप्त होता रहता है। वह ब्रह्म ही ब्रह्म के रूप में प्रकाशित हो रहा है।[3] यहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरा पदार्थ नहीं है। देश और काल से अनवच्छिन्न ब्रह्म ही जगत् के रूप को धारण करते हुए द्वैत-भाव को प्राप्त होता है।[4] पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग-रूपी तीनों जगत् ब्रह्म के भीतर स्थित हैं। उस ब्रह्म में अनेक प्रकार की सृष्टि करने की शक्ति विद्यमान है। वह नाना प्रकार की सृष्टियाँ करता है, परन्तु वह उनसे प्रभावित नहीं होता। उसकी सत्ता मात्र से ही तीनों जगत् उत्पन्न होते हैं। उसमें कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों हैं। उसमें किसी प्रकार की इच्छा नहीं है, अतः वह अकर्ता है; उसी के कारण सृष्टि होती है, इसलिए वह कर्ता भी है।[5] प्रत्येक वस्तु का ब्रह्म के साथ तादात्म्य सम्बन्ध दिखलाया गया है। प्रकृति का आत्मा के साथ तादात्म्य, मन का ब्रह्म के साथ तादात्म्य और जगत् का ब्रह्म के साथ तादात्म्य सम्बन्ध दिखलाकर योगवासिष्ठकार ने अद्वैतवाद की पुष्टि की है।[6]

ब्रह्म ही एकमात्र सत् वस्तु है। जीव और जगत् को असत्य बतलाया गया

---

1. मुक्तं तमःप्रकाशाभ्यामित्येतदजरं पदम्।—3/10/18
2. कल्पिता व्यवहारार्थं तस्य संज्ञा महात्मनः।—2/1/12
3. तदिदं ब्रह्मणि ब्रह्मणा च विवर्तते।—3/100/28
4. दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमदृष्टोभय कोटिकम्।
   एकं ब्रह्मैव हि जगत्स्थितं द्वित्वमुपागतम्॥—6/11/40
5. अतः स्वात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम्।
   निरिच्छत्वादकर्ताऽसौ कर्ता सन्निधिमात्रतः॥—4/56/31
6. नात्मनः प्रकृतिर्भिन्ना····। 6. 1/46/29
   अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम्।—6.2/84/2
   यथा न संभवत्येवं न जगत्पृथगीश्वरात्॥—3/61/4

है ।[1] संसार का कारण अविद्या है । चित् को ही अविद्या का नाम दिया गया है ।[2] ब्रह्म की चित् शक्ति ही माया के रूप में प्रकट होती है । अज्ञान के कारण जगत् का अनुभव होता है । ज्ञान उत्पन्न होने पर जगत् का नाश होता है । तब एकमात्र ब्रह्म रह जाता है । वह सत्, चित् और आनन्द-स्वरूप है । आत्मानन्द ही अन्तिम गति है ।[3] उस महानन्द को प्राप्त करते ही जीव ब्रह्म-स्वरूप को प्राप्त करता है । इस प्रकार योगवासिष्ठकार जीव, जगत् और ब्रह्म का सम्बन्ध बतलाकर अद्वैत सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं ।

बन्धन और मोक्ष

योगवासिष्ठ में बन्धन और मोक्ष के बारे में भी विचार किया गया है । संसार के पदार्थों के प्रति वासना के प्रबल होने को बन्धन कहा गया है ।[4] वासना ही बन्धन का मुख्य कारण है । जीव अपने आत्मस्वरूप को भूलकर बन्धन में पड़ जाता है । उस बन्धन का मुख्य कारण अज्ञान है । सम्यक् ज्ञानपूर्वक शुद्ध चित्त में सभी इच्छाएँ नष्ट हो जाने पर चित्त की जो क्षय-दशा होती है उसे मोक्ष कहते हैं ।[5] उस अवस्था में

---

1. मायेयं स्वप्नवद्भ्रान्तिर्मिथ्यारचितचक्रिका ।—4/47/41
   असन्त इव दृश्यन्ते सर्वे ब्रह्मादयोप्यभी ॥—4/45/17
   आत्मैवानात्मवदिह जीवो जगति राजते ॥—3/100/35
2. चित्तमेव सकलाडम्बरकारिणीमविद्यां विद्धि ।—3/116/8
3. तत्पदं सा गतिः शान्ता तच्छ्रेयः शाश्वतं शिवम् ।—5/54/70
4. पदार्थवासनादार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते ।—2/2/5
5. न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले ।
   मोक्षो हि चेतो विमलं सम्यग्ज्ञानविबोधितम् ॥—5/73/35
   सकलशास्त्रसंसक्त्या यत्स्वयं चेतसः क्षयः ।
   स मोक्षनाम्ना कथितस्तत्त्वज्ञैरात्मदर्शिभिः ॥—5/73/36
   तु० की०, एतदेव परं ब्रह्म न विन्दन्तीह मोहिनः ।
   यत्तेतच्चित्तनैर्मल्यं रागद्वेषादिवर्जितम् ॥—सारसमुच्चय, 164 । यह देखने की बात है कि इस जैन ग्रन्थ के श्लोक में जो भाव व्यक्त किया गया है, लगभग वही 'योगवासिष्ठ' में भी मौजूद है । भारतीय दर्शनों में तत्त्व-मीमांसीय मतभेद होते हुए भी मोक्ष, विशेषतः जीवन्मुक्ति, के सम्बन्ध में विचारों की अद्भुत समानता है ।

किसी वस्तु के प्रति न इच्छा होती है, न किसी वस्तु के प्रति द्वेष। उस समय सब इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं। जीव ब्रह्म के गुणों को प्राप्त करता है। जीव सब प्राणियों में अपने आप को देखता है। वह कर्तृत्व और भोक्तृत्व से मुक्त हो जाता है।

जीवन्मुक्ति

योगवासिष्ठ में सदेह और विदेह नाम से दो मुक्तियों का वर्णन है।[1] सदेह-मुक्ति को जीवन्मुक्ति कहा गया है और शरीर त्यागने पर प्राप्त होनेवाली दशा को विदेह-मुक्ति कहते हैं।[2] योगवासिष्ठकार के अनुसार इन दोनों मुक्तियों में कोई विशेष भेद नहीं है।[3]

मोक्षोपाय

ज्ञान को मोक्ष-प्राप्ति का मुख्य उपाय कहा गया है।[4] ज्ञान ही मुख्य अनुष्ठान है जिसके द्वारा परमसिद्धि प्राप्त होती है। ज्ञानी ही परमानन्द को प्राप्त करता है। आत्मा को ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन बतलाया गया है। आत्मदेव की पूजा की विधि बतलायी गयी है। अन्य देवताओं की पूजा का भी वर्णन है, परन्तु वह गौण है। ज्ञान-प्राप्ति के साधन का विस्तारपूर्वक वर्णन है। योग के प्रति निष्ठा, योगाभ्यास, प्राणायाम आदि अनेक साधनों का भी वर्णन है।

गौड़पादाचार्य

[विषय-प्रवेश

अद्वैत-सिद्धान्त का विकास जानने के लिए शंकर के प्राचार्य (आचार्य के आचार्य) श्री गौड़पादकृत 'माण्डूक्यकारिका' का अध्ययन आवश्यक है। उप-निषदों में मायावाद का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं है, यद्यपि उक्त सिद्धान्त का

---

1. द्विविधा मुक्तता लोके संभवत्यनधाकृते।
   सदेहैका विदेहान्या विभागोऽयं तयोः श्रृणु ॥—3/42/11
2. नैषणा तत्स्थितिं विद्धि त्वं जीवन्मुक्ततामिह।—5/42/12
   सैव देहक्षये राम पुनर्जननवर्जिता।
   विदेहे मुक्तता प्रोक्ता तत्स्था ना यान्ति दृश्यताम् ॥—5/42/13
3. न मनागपि भेदोऽस्ति सदेहादेहमुक्तयोः।—2/4/5
4. ततो वच्मि महाबाहो यथाज्ञानेतरा गतिः।
   नास्ति संसारतरणे पाशबन्धस्य चेतसः ॥—5/67/2

पूर्वाभास वहाँ मिलता है। विश्व-प्रपञ्च की शून्यता का स्पष्ट प्रतिपादन बौद्ध सम्प्रदायों, विशेषतः, विज्ञानवाद और माध्यमिक दर्शन में, पाया जाता है। गौड़पाद भी जगत् को अविद्यात्मक या मायिक बतलाते हैं। माना जा सकता है कि शंकर का मायावाद गौड़पाद से प्रभावित है।

अपने 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' में शंकराचार्य ने दो स्थलों (1/4/14 और 2/1/9) में आचार्य गौड़पाद को सम्प्रदायविद् कहते हुए स्मरण किया है। उन्होंने उनकी दो कारिकाओं को भी प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है।

'माण्डूक्यकारिका' पर आचार्य शंकर के नाम से भाष्य प्रसिद्ध है। किन्तु इधर के कुछ विद्वानों ने, जैसे श्री विधुशेखर भट्टाचार्य ने, उक्त भाष्य की प्रामाणिकता पर, अर्थात् उसके शंकर की कृति होने पर, सन्देह प्रकट किया है। उक्त विद्वान् को इसमें भी सन्देह है कि कारिका के चारों प्रकरण एक ही लेखक की रचना हैं। उनके मत में कारिका पर बौद्ध दर्शन का विशेष प्रभाव है, वह संभवतः एक बौद्ध कृति है। जान पड़ता है, कारिका का चौथा प्रकरण बौद्ध कृति ही है। किन्तु कारिका पर भाष्य किसी वेदान्ती की कृति जान पड़ता है, क्योंकि उसमें कारिका के मन्तव्यों को वेदान्तीय रूप देने का प्रयत्न है। हमारी सम्मति में शुरू के तीन प्रकरणों को वेदान्त-ग्रन्थ मानने में कोई बाधा नहीं है। यह भी असम्भव नहीं कि उनपर लिखा हुआ भाष्य शंकराचार्य का हो। साथ ही, हम कहना चाहेंगे कि 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' के रचयिता शंकर का मत कहीं कहीं गौड़पाद का विरोधी है। गौड़पाद ने विश्व को स्वप्नवत् मिथ्या (वितथ) कहा है, जबकि विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए शंकर ने उक्त मन्तव्य का विरोध किया है।—संपादक]

शंकराचार्य के पहले भर्तृप्रपञ्च आदि कुछ आचार्य हुए थे, परन्तु उन्होंने उस अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन नहीं किया जो शंकराचार्य को अभीष्ट था। भर्तृप्रपञ्च को भेदाभेदवादी कहा जा सकता है, न कि अद्वैतवादी। इसी प्रकार द्रविड़ाचार्य को अद्वैत-वादी कहना कठिन हो जाता है क्योंकि अद्वैत और विशिष्टाद्वैतवादी दोनों उनको अपने सिद्धान्तों के समर्थक के रूप में उद्धृत करते हैं। इस प्रकार पूर्ववर्ती अद्वैतवादियों में गौड़पाद ही एक ऐसे आचार्य हैं जिनको शंकराचार्य अपना पूर्वाचार्य मानते हैं।

गौड़पाद के जीवन और काल के विषय में ऐतिहासिक विवरण देना कठिन काम है। भावविवेक, शांतरक्षित आदि बौद्ध आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में गौड़पाद-

कारिकाओं को उद्धृत किया है। भावविवेक का समय 6वीं शताब्दी माना जाता है। गौड़पाद का काल भी यदि पाँचवीं शताब्दी मानें तो उनको शंकराचार्य के गुरु का गुरु मानने में लगभग 200 वर्षों का अन्तर आ जाता है। अतः यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि गोविन्दपादाचार्य गौड़पाद के शिष्य और शंकराचार्य के गुरु थे।

गौड़पाद के समय में दर्शन-क्षेत्र में बौद्धों का अत्यधिक प्रभाव था। इसलिए इनके सामने मुख्य दो समस्याएँ थीं; एक उपनिषद् के अनुयायियों को वेदान्त दर्शन का औचित्य दिखलाना; दूसरे, बौद्ध में वेदान्त का प्रचार करना। अपने उदार विचारों के कारण गौड़पाद ने दोनों दर्शनों के सम्मिश्रण द्वारा अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया। गौड़पाद को अपने उद्देश्य में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। शंकराचार्य के उद्धरण से स्पष्ट है कि अद्वैतवाद के प्रवर्त्तक गौड़पाद ही थे। अद्वैत दर्शन के इतिहास में उनका नाम अमर हो गया है।

बौद्धों का सत्य अनिर्वचनीय और अपरिभाष्य है; गौड़पाद ने उसके स्थान पर आत्मा या ब्रह्म को रखकर उस अनिर्वचनीयता और अपरिभाषेयता का परिहार कर दिया। गौड़पाद के अनुसार अन्तिम तत्त्व परब्रह्म है। पर और अपर उसके दो रूप हैं। वास्तव में वह रूप-हीन, नित्य-चैतन्य-रूप है। उसी प्रणव या परब्रह्म को सबके हृदय में स्थित ईश्वर माना गया है। वह ब्रह्म प्रकाश-स्वरूप और सर्वव्यापक है। वह ब्रह्म सबका आदि है, मध्य है और उसी प्रकार अन्त है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में वह एकरूप रहता है। वह ब्रह्म अज है, अनिद्र है, अ-स्वप्न है, अनामक और अरूपक है। ब्रह्म ज्ञेय और नित्य है। वह सर्वदर्शी भी है।

गौड़पाद ने जगत् को मिथ्या मात्र बताया है। यह द्वैत-रूप प्रपञ्च माया मात्र है। परमार्थ-रूप से यह अद्वैत है। यथार्थ में भेद नामक कोई वस्तु नहीं है। यह सारा प्रपञ्च ब्रह्म का विवर्त मात्र है। वैतथ्य प्रकरण में चौथे श्लोक की टीका में शंकराचार्य लिखते हैं कि जाग्रत् अवस्था में दृश्यमान भाव-पदार्थ मिथ्या हैं; क्योंकि वे दृश्य हैं, स्वप्न में दीखनेवाले भाव-पदार्थों की तरह।[1] गौड़पाद की दूसरी युक्ति यह है कि जो आदि में नहीं है और अन्त में नहीं है, वह वर्तमान काल में भी वैसा ही है।[2] नागार्जुन के समान गौड़पाद किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं मानते। वे अजातिवाद के समर्थक हैं।

---

1. जाग्रद् दृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा, दृश्यत्वादिति हेतुः। स्वप्नदृश्यभाववदिति दृष्टान्तः। माण्डूक्यकारिकाभाष्य, 2/4
2. आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा।—4/31

गौड़पाद ने प्रपञ्च को मायामय बतलाकर माया का स्वरूप तो बतला दिया, परन्तु उन्होंने माया का प्रयोग कई अर्थों में कर दिया है। आगे चलकर शंकराचार्य को गौड़पाद के निष्कर्षों को केवल औपनिषद सत्य दिखाकर स्वीकार करना पड़ा। विज्ञानवाद और प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त से प्रभावित रहने के कारण गौड़पाद माया का स्वरूप स्पष्ट नहीं कर सके थे।

गौड़पाद ने जीव का स्वरूप बतलाकर उसे अजन्मा सिद्ध किया है।[1] जब जीव जीवाभास से मुक्त हो जाता है तो वह ब्रह्म-स्वरूप को प्राप्त करता है। संक्षेप में यह गौड़पादाचार्य का दार्शनिक विचार है। अब उनके ग्रन्थ गौड़पादकारिका पर कुछ विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा।

माण्डूक्योपनिषद् पर गौड़पादाचार्य द्वारा रची हुई माण्डूक्यकारिकाएँ अद्वैत-सिद्धान्त की आधार-शिला मानी जाती हैं। विश्व के अत्युत्तम दर्शन-ग्रन्थों में माण्डूक्य-कारिका की गणना होती है। इस ग्रन्थ के आगमशास्त्र, माण्डूक्यवार्तिक और वेदान्त-मूल आदि अनेक नाम हैं। इस ग्रन्थ में चार प्रकरण हैं। उनमें क्रमशः 29, 38, 48 और 100 कारिकाएँ हैं। कुछ विद्वान् इसे एक ही ग्रन्थ मानते हैं और अन्य इन्हें चार भिन्न भिन्न कृतियाँ मानते हैं। अब प्रश्न उठता है कि इस ग्रन्थ की रचना में गौड़पादा-चार्य का क्या उद्देश्य था और उन्हें इस शास्त्र की सामग्री कहाँ से प्राप्त हुई थी। उद्देश्य के बारे में हम पहले ही कह चुके हैं। जहाँ तक सामग्री का प्रश्न है, वह उन्हें उप-निषदों, पूर्वाचार्यों की कृतियों और बौद्ध ग्रन्थों से प्राप्त हुई थी। वैतथ्य प्रकरण के एक उल्लेख से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि गौड़पादाचार्य ने ज्ञान को मोक्ष-प्राप्ति का मुख्य साधन माना है, जो उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है।[2] वास्तव में अन्य वेदान्तियों की तरह गौड़पादाचार्य भी उपनिषद् के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन करना चाहते थे, परन्तु वे उस समय के बौद्धाचार्यों के विचारों से इतने अधिक प्रभा-वित थे कि परम्परा से उन्हें वैदिक मानने पर भी विचारों की दृष्टि से उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहा जा सकता है। हो सकता है, शंकराचार्य भी कुछ हद तक इसी विचार-सरणी के अनुयायी रहे हों। उन्हें अपने विचार की मूल सामग्री गौड़पादाचार्य की ही विचार-परम्परा से प्राप्त हुई होगी। इसीलिए शंकराचार्य को भी प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया है।

---

1. न विरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
   न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥—2/32
2. तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वाद प्रच्युतो भवेत्।—2/38

माण्डूक्यकारिका के पहले प्रकरण का नाम आगम प्रकरण है। इस प्रकरण में माण्डूक्योपनिषद् की व्याख्या के अतिरिक्त ॐकार की विस्तृत व्याख्या की गई है। ॐकार की मात्रा अ+उ+म् के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर के अभिमानी विश्व, तैजस, प्राज्ञ का वर्णन करते हुए उनका वैश्वानर, हिरण्यगर्भ एवं ईश्वर के साथ अभेद दिखलाया गया है। विभु, तैजस और प्राज्ञ का भेद स्पष्ट किया गया है।[1] जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में विश्व, तैजस और प्राज्ञ रूप से उपभोक्ता का निर्देश है। इन अवस्थाओं में जीव भिन्न भिन्न स्थानों पर रहता है। परमार्थ तत्त्व इन सब अवस्थाओं से विलक्षण है। वह तुरीय अवस्था में रहता है। वह नित्य, शुद्ध, ज्ञान-स्वरूप और सर्वसाक्षी है। यह विशेषणों का समूह स्वयं आत्मा के स्वरूप का भी निर्देशक है। माया से जागने पर जीव को यह अवस्था प्राप्त होती है। गौड़पादाचार्य कहते हैं—

> अनादिमायया सुप्तो यदाजीवः प्रबुध्यते।
> अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥—1/16

अर्थात् अनादिकालीन माया के प्रभाव से सोया हुआ जीव जब जागता है तब वह अजन्म, निद्रा-रहित, स्वप्न-रहित अद्वैत तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करता है।

इसी प्रकरण में जगदुत्पत्ति के विषय में विविध दार्शनिक विचारों का संकलन कर उनका खण्डन भी किया गया है। गौड़पादाचार्य के अनुसार भगवान् के लिए सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं है, वह तो उसका स्वभाव ही है। यह रचना स्वप्न-सदृश बताई गयी है। यहाँ पर माया का भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस प्रकरण में जीव और ब्रह्म की एकता तथा प्रपञ्च का मायामयत्व प्रतिपादित किया गया है।[2]

दूसरा प्रकरण वैतथ्य प्रकरण कहलाता है। सभी वस्तुओं की 'अयथार्थता' का कथन होने से, अर्थात् वैतथ्य की चर्चा होने से, इसका नाम वैतथ्य प्रकरण है। इस प्रकरण में स्वप्न-दृश्य का मिथ्यात्व दिखलाया गया है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में चित्त में कल्पना किये गये पदार्थ असत्य और बाहर देखे जानेवाले पदार्थ सत्य जान पड़ते हैं, उसी प्रकार जाग्रदावस्था में भी मानसिक और इन्द्रिय ग्राह्य दोनों ही पदार्थ असत्य हैं। माया के ही कारण आत्मदेव अव्यक्त वासना-रूप से स्थित भेद-समूह को व्यक्त करता है। यह सारा विश्व मायामय है। जैसे—

---

1. विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्।
   आनन्दभुक्तथा प्राज्ञस्त्रिधाभोगं निबोधत ॥—1/3
2. मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।—1/17

स्वप्नमये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥2/31

अर्थात्—जैसे स्वप्न दिखाई पड़ता है, जैसे माया दिखाई पड़ती है, जैसे गन्धर्व-नगर होता है, उसी प्रकार वेदान्त में निष्णात बुद्धिमानों को यह विश्व दिखाई पड़ता है। (स्वरूप-विस्मृति को माया कहा गया है।) गौड़पादाचार्य ने माया शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया है। जैसे, डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में, "(1) जगत् तथा आत्मा के मध्यगत सम्बन्ध की अव्याख्येयता के अर्थ में; (2) ईश्वर के स्वभाव और शक्ति के अर्थों में, तथा (3) जगत् की स्वप्न-सदृश प्रतीति के अर्थ में किया है"।[1] स्वप्न में दिखाई देनेवाले पदार्थों के समान बाह्य जगत् के पदार्थ भी जीव की एकमात्र कल्पना-सृष्टि ही हैं। संसार का अनुभव विषय-प्रतीति मात्र ही है और मिथ्या है। माया-मोहित जीव को भेद-प्रपञ्च की भ्रान्ति होती है। माया का पर्दा हटते ही एक मात्र अखण्ड, अद्वैत वस्तु रह जाती है। इस प्रकार इस प्रकरण में मायाजन्य प्रपञ्च की असत्यता (वैतथ्य) का प्रतपादन करके अद्वैत के सत्य रूप की स्थापना की गयी है।

तीसरे प्रकारण का नाम अद्वैत प्रकरण है। इसमें उत्पत्ति के पूर्व सारे जगत् को अजन्मा ब्रह्म बतलाया गया है। ब्रह्म से पृथक् किसी आत्मा या जीवात्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है। इसी प्रकरण में अजातिवाद का समर्थन करने के बाद चित्त की विशेष स्थिति को ब्रह्म कहकर उसकी प्रशंसा की गई है। आत्म-तत्त्व की अनुत्पत्ति को दिखलाकर उसकी अभेद-दृष्टि की प्रशंसा और भेद-दृष्टि की निन्दा की गयी है। आत्मा को अजन्मा कहा गया है। आत्मा ने अपनी ही माया से अपने चारों ओर कल्पित प्रपञ्च परिवेष्ठित कर रखा है। वस्तुतः आत्मा असंग है। गौड़पादाचार्य चित्त के रूप को और भी स्पष्टतः प्रतिपादित करते हैं। जैसे—

अजमनिद्रमस्वप्नमनात्मकमरूपकम्।
सकृद्विभातं सर्वतं नोपचारः कथञ्चन ॥–3/36

अर्थात्—अज है, अनन्त है, अनामक है, अरूपक है और एक बार ही प्रकाशित होता है। इस समाधि में किसी भी प्रकार का उपचार होने से समाधि शेष नहीं रह जाती है। अद्वैत-तत्त्व की उपलब्धि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। मनोनिग्रह के कई उपाय बतलाये गये हैं।[2] गौड़पादाचार्य के अनुसार साधन करते-करते जब चित्त

1. भारतीय दर्शन, भाग 2, पृ० 455
2. मनसो निग्रहायत्तमयं सर्वयोगिनाम्।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षयाशान्तिरेव च ॥—3/40

निरुद्ध हो जाता है तो बोध का उदय होता है। इन साधनों के विवेचन के बाद निम्न-लिखित कारिका से जीव का स्वरूप दिखलाकर प्रकरण की समाप्ति की गयी है—

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत् तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥—3/48

अर्थात्—कोई जीव जन्म ग्रहण नहीं करता क्योंकि उसका कोई कारण नहीं है। यह कहीं किसी का जन्म न होने की जो स्थिति है, वही उत्तम स्थिति है ।

अलातशान्ति नाम का चौथा प्रकरण सबसे बड़ा प्रकरण है। इस प्रकरण में सद्वाद, असद्वाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद आदि मतों का खण्डन करते हुए गौड़पादाचार्य ने विस्तारपूर्वक अजातिवाद को स्थापना की है। गौड़पादाचार्य की ख्याति इसी वाद से हुई है। अलात शब्द का अर्थ उल्का या मशाल है। मशाल को घुमाने पर अग्नि की तरह-तरह की आकृतियाँ दिखाई देती हैं। उसका घुमाना बन्द करते ही उनका दिखाई देना भी बन्द हो जाता है। उसकी प्रतीति केवल मशाल के स्पन्दन का ही फल है। इसी प्रकार यह दृश्य-प्रपञ्च मन के स्पन्दन के कारण प्रतीत होता है। मन का स्पन्दन समाप्त होते ही अदृश्य हो जाता है।[1] प्रपञ्च की प्रतीति और अप्रतीति, दोनों ही भ्रान्ति-जनित हैं। परमार्थ दृष्टि से न उसकी उत्पत्ति होती है न लय। इस भ्रान्ति का आधार परब्रह्म है। अतः रज्जु में सर्प के समान परब्रह्म में ही इस दृश्य-प्रपञ्च की प्रतीति होती है।

प्रायः सभी दार्शनिक कारण से कार्य की उत्पत्ति मानते हैं, परन्तु बौद्ध दर्शनकार अजातिवाद के समर्थक हैं। गौड़पादाचार्य के अनुसार न तो विद्यमान उत्पन्न होता है और न अविद्यमान उत्पन्न होता है।[2] वास्तव में अजाति ही सत्य है। इस तर्क को देते हुए वे अद्वैत स्थापित करते हैं। गौड़पाद की विशेषता यह है कि उन्होंने स्वयं वैदिक परम्परा का आचार्य होकर अजातिवाद को मान लिया था। जैसे—

ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम्।
विवदामो न तैः सार्धं अविवादं निबोधत ॥—4/5

---

1. ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा।
   ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा ॥—4/47
   अस्पन्दमानमलातमनाभासमजं यथा।
   अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा ॥—4/48
2. भूतं न जायते किञ्चिद् अभूतं नैव जायते।—4/4

अर्थात्—उनका (बौद्धों का) जो अजातिवाद विषयक कथन है उसका हम अनुमोदन करते हैं। हम उसके साथ विवाद नहीं करते हैं। आगे चलकर शंकराचार्य ने परमार्थ सत्य के रूप में इसको स्वीकार किया है। गौड़पादाचार्य अजातिवाद के समर्थन में अनेक तर्क प्रस्तुत करते हैं। जैसे—

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातोह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥—3/20
न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथञ्चिद् भविष्यति ॥3/21

अर्थात्—जन्म की सत्यता के पक्षपाती अजात तत्त्व का ही जन्म कथन करते हैं। किन्तु जो अजात है, वह अमर है। वह मरणशील कैसे बनेगा? अमृत मृत नहीं होता और मृत अमृत नहीं होता। गौड़पादाचार्य अजातिवाद के समर्थन में बौद्धों द्वारा दिये गये तीनों तर्कों को दुहराते हैं। जैसे—

अशक्तिरपरिज्ञानं क्रम-कोपोऽथवा पुनः।
एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता ॥—4/19

अर्थात्—अशक्ति होने से, अपरिज्ञान होने से, क्रम में गड़बड़ी होने से अजाति की देशना बौद्धों ने की है।

बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तः सदा साध्यसमो हि नः।—4/20

अर्थात्—(आपका) बीजाङ्कुर का दृष्टान्त हमारे लिए साध्य के ही समान है।

तीनों कारणों की व्याख्या के अनन्तर गौड़पादाचार्य इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते।
सद्सत् सदसद्वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते ॥—4/22

अर्थात्—न अपने में से कोई चीज उत्पन्न होती है, न सत् से कोई चीज उत्पन्न होती है, न असत् से कोई चीज उत्पन्न होती है। इस कारिका पर नागार्जुन की पंक्ति की पुनरावृत्ति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।[1] आगे चलकर गौड़पादाचार्य कार्य-कारण-भाव की भी अनुपपत्ति दिखलाते हैं। जैसे—

---

1. न स्वतो जायते भावः परतो नैव जायते।
न स्वतः परतश्चैव जायते जायते कुतः ॥—माध्यमिक कारिक, 21-13

नासत्यसद्धेतुकमसत्सदसद्धेतुकं तथा ।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति सद्धेतुकमसत्कुतः ।।—4/40

अर्थात्—ऐसा असत् नहीं जिसकी उत्पत्ति असत् से हुई हो; ऐसा सत् भी नहीं है जिसकी उत्पत्ति सत् से हुई हो। ऐसा असत् कहाँ होगा जिसकी उत्पत्ति सत् से हुई हो ? अभिप्राय यह है कि कार्य-कारण-भाव किसी प्रकार नहीं बन सकता।

ऐसा लगता है, गौड़पादाचार्य को विज्ञानवाद भी सम्मत नहीं है, क्योंकि उसमें भी उत्पत्ति विद्यमान है। जैसे—

तस्मान्न जायते चित्तं चित्त-दृश्यं न जायते ।
तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदम् ।।—4/28

अर्थात्—इसलिए न तो चित्त की ही उत्पत्ति होती है और न चित्त के विषयों की। जिन्हें चित्त की उत्पत्ति दिखाई देती है उन्हें आकाश में चिह्न दिखायी देता है। अजातिवाद ही इस प्रकरण का मुख्य विषय है, इसलिए गौड़पादाचार्य तृतीय प्रकरण की अन्तिम कारिका को फिर दुहराते हुए जीव को भी अजन्मा बतलाते हैं। इस प्रकार अजातिवाद की स्थापना करने के बाद भगवान् के स्वरूप को अत्यन्त दुर्दर्श दिखलाते हैं। जैसे—

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्तिनास्तीति वा पुनः ।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ।।—4/83

अर्थात्—कुछ लोग भगवान् को स्थिर मानने के कारण 'है' कहते हैं और कुछ चल मानने के कारण 'नहीं' कहते हैं; अन्य कोई स्थिर तथा चल दोनों मानने के कारण 'है—नहीं है' कहते हैं; दूसरे कोई दोनों का अभाव मानने के कारण 'नहीं है—नहीं है' कहते हैं। परन्तु भगवान् इन सभी भावों से विलक्षण हैं क्योंकि ये सभी व्यवहार-कोटि के अन्तर्गत हैं। उस सर्वभावातीत को जो जानता है वह सर्वज्ञ है। इस प्रकार समस्त वादों का खण्डन करके उन्होंने एक अद्वय अखण्ड को स्थापित किया है जो अज है, निद्रा और स्वप्न-रहित है, नाम और रूप-हीन है, सदैव प्रकाश-स्वरूप है, सर्वज्ञ है। इस शान्त कैवल्य-रूप अज या आनन्द की ही सर्वज्ञ संज्ञा है। आनन्द और ज्ञान ब्रह्म का ही स्वरूप है। साधक, ज्ञान प्राप्त होते ही इस स्वरूप को प्राप्त करता है। अन्त में गौड़पादाचार्य ने उसी अद्वय तत्त्व की वन्दना करते हुए ग्रन्थ का उपसंहार किया है।

दुर्दर्शमतिगम्भीरमजं शाम्यं विशारदम् ।
बुद्ध्वा पदमनानात्वं नमस्कुर्मो यथाबलम् ।।—4/100

जो ब्रह्म कठिनता से देखा जाता है, जो अतिशय गम्भीर है, जो अज, सम और विशारद है, जो अनेकताहीन है, उस परमार्थ तत्त्व को यथाशक्ति नमस्कार करते हैं।

मण्डन मिश्र

विषय-प्रवेश

अद्वैत दर्शन के इतिहास में श्री मण्डन मिश्र का स्थान बहुत ऊँचा है। शंकराचार्य के बाद अद्वैत दर्शन में जिन दो प्रस्थानों (भामती प्रस्थान और विवरण प्रस्थान) का उदय हुआ, उनमें भामती प्रस्थान के स्रोत दूर तक मण्डन मिश्र थे। वाचस्पति मिश्र ने भामती प्रस्थान में जो मत व्यक्त किया वही प्रायः मण्डन मिश्र का भी मत है। इस कारण से भी मण्डन मिश्र के विचारों का अध्ययन महत्त्व रहता है। वेदान्त के प्रवर्ता पद्मपाद, प्रकाशात्मान्, चित्सुख और मधूसूसन आदि आचार्यों ने मण्डन मिश्र का नाम आदर के साथ लिया है।

मण्डन मिश्र अपने समय के प्रतिष्ठित विद्वान् और मीमांसक थे। वे कुमारिल भट्ट के शिष्य थे। कुमारिल ने ही शंकराचार्य को मण्डन मिश्र के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए भेजा था। माहिष्मती नगरी में पहुँचने के बाद शंकराचार्य ने नदी के तट पर मण्डन मिश्र की दासी से उनके घर का पता पूछा। उस दासी ने श्लोकों में उत्तर दिया कि 'जिस घर के दरवाजे पर सारिकाएं प्रामाण्य विषय पर शास्त्रार्थ करती हैं वह मण्डन मिश्र का घर है'। अन्त में शङ्कराचार्य मण्डन मिश्र के घर पहुँचे और शास्त्रार्थ में उन्हें परास्त किया। इन शास्त्रार्थ में मण्डन मिश्र की पत्नी भारती मध्यस्था थी। किंवदन्ती है कि मण्डन मिश्र शङ्कराचार्य का शिष्यत्व ग्रहण करके संन्यासी हो गये और सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। बाद में शङ्कराचार्य ने सुरेश्वराचार्य को शृंगेरी मठ का आचार्य बनाया। इस प्रकार वेदान्त सम्प्रदाय में मण्डन मिश्र का नाम 'सुरेश्वर' और 'विश्वरूप' भी प्रचलित है। सुरेश्वर का गृहस्थाश्रम का नाम विश्वरूप था, इस विषय में कोई विवाद नहीं है। किन्तु सुरेश्वर का पूर्वनाम मण्डन मिश्र था, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। विवाद का यह सिलसिला अभी तक जारी है।

मण्डन और सुरेश्वर—मण्डन मिश्र और सुरेश्वर को भिन्न आचार्य बतलाते हुए प्रो० हिरियन्ना ने एक लेख प्रकाशित किया।[1] बाद में 'ब्रह्मसिद्धि' ग्रन्थ की

1, **Suresvara and Mandana Misra, J. R. A. S., April, 1923.**

अपनी भूमिका में स्वर्गीय पं० कुप्पुस्वामी शास्त्री ने हिरियन्ना के मत का औचित्य सिद्ध करते हुए दोनों के भिन्न भिन्न व्यक्ति होने का प्रमाण दिया[1] है।

यहाँ पर संक्षेप में उनके कारणों का संग्रह किया गया है—

(1) मण्डन मिश्र भर्तृहरि के स्फोटवाद के समर्थक थे, जबकि सुरेश्वराचार्य इस संबंध में मौन रहे। शंकराचार्य ने तो स्फोटवाद का खण्डन किया है।

(2) मण्डन मिश्र भ्रम विषय में भाट्ट-सम्मत विपरीत ख्याति के समर्थक हैं जबकि सुरेश्वर इसका खण्डन करते हैं।

(3) मण्डन मिश्र ब्रह्मसिद्धि में अग्रहण और अन्यथाग्रहण नाम की दो अविद्याओं का उल्लेख करते हैं, जबकि सुरेश्वराचार्य इस अविद्या-द्वैविध्य के विरोधी थे।

(4) मण्डन मिश्र दृष्टि-सृष्टिवाद को उपस्थित करते हुए जीव को अविद्या का आश्रय और ब्रह्म को अविद्या का विषय मानते हैं, जबकि सुरेश्वर को आश्रय और विषय दोनों मानते हैं। इसी विषय-भेद के कारण अद्वैत में दो प्रस्थानों का उदय हुआ।

(5) मण्डन मिश्र प्रसंख्यान विधि के समर्थक थे, परन्तु सुरेश्वराचार्य नैष्कर्म्यसिद्धि में इसका खण्डन करते हैं।

(6) ईशावास्य उपनिषद् के 'विद्याञ्चाविद्याञ्च' वाक्य की व्याख्या भी दोनों ने भिन्न प्रकार से की है।

(7) कर्म सिद्धान्त और जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में भी दोनों में मतभेद है।

(8) शंकर के प्रति दोनों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण थे।

इन भिन्नताओं के कारण कुप्पु शास्त्री जी मण्डन मिश्र और सुरेश्वर को दो भिन्न आचार्य मानते हैं। इसी प्रकार एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री भी कहते हैं[2] कि 'इन दोनों के एक होने की जो मान्यता है वह केवल कल्पना मात्र प्रतीत होती' है।

कुछ ही दिनों पूर्व स्वर्गीय पं० अनन्तकृष्ण शास्त्री ने 'ब्रह्मसिद्धिव्याख्ये' नामक ग्रन्थ की भूमिका में इस प्रश्न को उठाकर मण्डन मिश्र और सुरेश्वराचार्य को एक ही आचार्य बतलाते हुए उन दोनों के विचारों में अविरोध दिखलाने का प्रयत्न किया है।[3] ब्रह्मसिद्धि ग्रन्थ के प्राक्कथन में एस० पी० सुब्रह्मण्य शास्त्री ने भी कहा है कि

---

1. Introduction to Brahmasiddhi, 1937.
2. कल्याण, वेदान्ताङ्क, पृ० 413
3. 'ब्रह्मसिद्धिव्याख्ये', मद्रास, 1963, भूमिका।

सुरेश्वर और मण्डन के ग्रन्थों में पाये जानेवाले विचारों में साम्य के लिए भी पर्याप्त स्थान है।[1]

वास्तव में समस्या का समाधान करना बहुत कठिन है। इस विषय में ऐतिहासिक प्रमाण न होने के कारण किसी भी पक्ष को केवल विषय-प्रतिपादन के आधार पर निर्णायक मान लेना कठिन हो जाता है। केवल विचारों के आधार पर ही उन्हें दो भिन्न व्यक्ति मानना भी उचित तर्क नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही दर्शनकार के ग्रन्थों में काल के अवान्तर से भिन्न भिन्न विचार पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए विटगेन्स्टाइन ने अपने प्रथम ग्रन्थ में जो कुछ लिखा था उसके अधिकांश विचारों का अपने द्वितीय ग्रन्थ में खण्डन कर दिया था। हो सकता है, मण्डन मिश्र ने भी शंकराचार्य से परास्त होने पर अपने पूर्व विचारों को त्याग दिया हो। वेदान्त-परम्परा में तो इन दोनों को एक ही व्यक्ति माना जाता है। यहाँ पर इस विषय में कोई निश्चित मत प्रकट नहीं किया जा सकता। बिना ऐतिहासिक तथ्य के परम्परागत विवरण का खण्डन करना कठिन काम है। इस विषय में और भी ऐतिहासिक अनुसन्धान की आवश्यकता है। यहाँ पर मण्डन मिश्र के नाम से प्रतिपादित अद्वैत दर्शन का परिचय दिया जायगा।

मण्डन के ग्रन्थ—मण्डन मिश्र कई ग्रन्थों के रचयिता थे। वे मीमांसा-निष्णात् और वेदरहस्य आदि पदों से भी अभिहित किये जाते हैं। इन्होंने पूर्वमीमांसा विषयक तीन ग्रन्थ लिखे हैं—(1) 'मीमांसानुक्रमणिका',[2] (2) 'भावनाविवेक'[3] और (3) 'विधिविवेक'।[4] इनका चौथा ग्रन्थ व्याकरण-विषयक 'स्फोटसिद्धि' है।[5] पाँचवाँ ग्रन्थ ख्याति-विचार पर 'विभ्रमविवेक' है।[6] छठा ग्रन्थ 'ब्रह्मसिद्धि'[7] है, जो अद्वैत वेदान्त में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। 'ब्रह्मसिद्धि' पर चित्सुखाचार्य

1. Foreword to the Brahmasiddhi, p. X—XIII.
2. डा० गंगानाथ झा द्वारा सम्पादित, चौ० सं० सी०, बनारस से प्रकाशित।
3. सरस्वती भवन, ग० सं० कालेज, बनारस से प्रकाशित।
4. वाचस्पति मिश्र रचित न्यायकणिका के साथ तैलंग राम शास्त्री द्वारा सम्पादित, लाजरस प्रेस, बनारस से प्रकाशित।
5. मद्रास यूनिवर्सिटी से प्रकाशित।
6. मद्रास ओरिएण्टल सीरीज में प्रकाशित।
7. वही, 1937

और आनन्दपूर्ण ने क्रमशः 'अभिप्रायप्रकाशिका' और 'भावशुद्धि' व्याख्या लिखी है।[1] इसपर तीसरी व्याख्या शंखपाणि ने लिखी है।[2] 'ब्रह्मसिद्धि' पर वाचस्पति मिश्र ने 'तत्त्वसमीक्षा' नाम की व्याख्या लिखी है जिसे स्वयं मिश्र जी ने अपनी भामती में उद्धृत किया है। यह कृति अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है।

'ब्रह्मसिद्धि' में ब्रह्मकाण्ड, तर्ककाण्ड, नियोगकाण्ड और सिद्धिकाण्ड नाम के चार परिच्छेद हैं। ब्रह्मकाण्ड में ब्रह्म के स्वरूप का विचार किया गया है। तर्ककाण्ड में प्रत्यक्षादि प्रमाण-मीमांसा का विचार है। नियोगकाण्ड में विधि, युक्ति तथा जीवन्मुक्ति आदि विषयों पर विवेचन किया गया है। अन्तिम परिच्छेद में उपनिषद् के वाक्यों के प्रामाण्य के विषय में चर्चा की गयी है। अब संक्षेप में इसी ग्रन्थ के आधार पर मण्डन मिश्र द्वारा सम्मत अद्वैतवाद का परिचय दिया जायगा।

ब्रह्म—ग्रन्थ के प्रारम्भ में एक कारिका द्वारा मण्डन मिश्र ने ब्रह्म के स्वरूप का निर्देश किया है—

आनन्दमेकममृतमजं विज्ञानमक्षरम्।
असर्वं सर्वमभयं नमस्यामः प्रजापतिम् ॥१॥

अर्थात्—ब्रह्म आनन्द-स्वरूप, एक, अज, विज्ञान-स्वरूप, अक्षर-स्वरूप, निष्प्रपञ्च-रूप, सबका अधिष्ठाता, दुःखरहित और सब जीवों का स्वामी है। आनन्द पद से ब्रह्म के भाव-रूप आनन्द का निर्देश किया गया है। एक पद से दृश्य भेद-प्रपंच का मिथ्यात्व दिखलाया गया है। द्रष्टा और दृश्य के सम्बन्ध को दिखलाते हुए मण्डन ने ब्रह्म को द्रष्टा, शुद्ध, अपरिणामी बतलाया है। मण्डन के अनुसार परिवर्तनशील दृश्य से ब्रह्म का सम्बन्ध नहीं हो सकता। कोई भी अद्वैतवादी प्रपंच की व्यावहारिक सत्ता को अस्वीकार नहीं करता है और नाम-रूपों की निरपेक्ष सत्ता को भी नहीं मानता है। चराचर जगत् का नानात्व केवल भ्रम नहीं है। उसकी व्यावहारिक सत्ता तो है, परन्तु निरपेक्ष सत्य जो कुछ है वह एक ही है।

अविद्या—इसका सिद्धान्त दृष्टि-सृष्टिवादियों जैसा नहीं है, जिसमें नाम-रूपात्मक प्रत्येक पदार्थ केवल भ्रम है। चेतन और अचेतन के बीच भेद तो है ही, परन्तु यह भेद परम सत्य नहीं है। जीवों की अनेकता एक सत्य है, परन्तु उनकी बहुरूपता अविद्याकृत होने के कारण नहीं है। नाम-रूपों की भिन्नता से स्पष्ट होता

---

1. वही, 1963
2. वही, 1937

है कि अविद्या एक नहीं, अपितु अनेक हैं। अविद्या एक दोष है। अतः इसका आश्रय ब्रह्म नहीं बल्कि अपूर्ण जीव है। प्रत्येक जीव के साथ जो एक अविद्या अवस्थित है उसका आधेय ब्रह्म है। इस प्रकार मण्डन मिश्र जीव को अविद्या का आधार और ब्रह्म को उसका आधेय मानते हैं।

मण्डन के अनुसार अविद्या न ब्रह्म का स्वभाव है, न ब्रह्म से अर्थान्तर है। वह न सत् है और न अत्यन्त असत् (तुच्छ)। इस प्रकार यही अविद्या मिथ्या ज्ञान या माया कही जाती है।[1] अग्रहण और अन्यथा-ग्रहण के रूप में दो प्रकार की अविद्याओं का निर्देश मण्डन ने किया है। अविद्या एक मौलिक दोष है। उसका निराकरण करना ही मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य है।

भ्रम-सिद्धान्त—अद्वैत वेदान्त के अनुसार शुक्ति में जो रजत की प्रतीति होती है, वह न सत् है, न असत्। शुक्ति-रजत को सत् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बाद में शुक्ति के ज्ञान से उसका बाध होता है। उसे असत् भी नहीं कह सकते क्योंकि उसकी प्रतीति होती है। इसलिए अद्वैती उसे **अनिर्बचनीय** रजत मानते हैं। इस विषय में मण्डन मिश्र का भी यही विचार है। मण्डन मिश्र के द्वारा विपरीतख्याति पद का प्रयोग करने के कारण कुछ विद्वान् उन्हें भाट्ट-सम्मत विपरीतख्याति का समर्थक मानते हैं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। विपरीतख्याति पद का प्रयोग न केवल अन्यथा-ख्यातिवादी या असत्ख्यातिवादी ही करते हैं, अपितु अनिर्वचनीयख्यातिवादी भी करते आये हैं। यही कारण है कि मण्डन मिश्र भ्रमविवेक में असत्ख्याति का खण्डन करते हुए 'विपरीतख्याति' पद से अनिर्वचनीयख्याति ही कहते हैं। उन्होंने ब्रह्मसिद्धि में अन्यथा-ख्याति पद से भी अनिर्वचनीयख्याति का ही ग्रहण किया है।[2] पं० कुप्पु शास्त्री ने विपरीतख्याति को अनिर्वचनीयख्याति से भिन्न नहीं माना है।[3]

मोक्ष-सिद्धान्त—मण्डन के अनुसार अविद्या को दूर करना ही मुक्ति कहलाता है। मुक्ति कोई ज्ञानातीत वस्तु नहीं है, अपितु स्वयं ज्ञान ही है, अर्थात् आत्मा ही है। वे मुक्ति को अभावात्मक वस्तु नहीं मानते, अपितु भावात्मक चिदानन्द-स्वरूप मानते हैं।

---

1. नाविद्या ब्रह्मणः स्वभावः, नार्थान्तरम्, नात्यन्तमसती, नापि सती; एवमेवेयमविद्या माया मिथ्यावभास इत्युच्यते।—ब्रह्मसिद्धि, पृ० 9
2. प्रतिपादितमेतत् नाग्रहमात्रमेतम्, अन्यथाख्यातिस्तु।—ब्रह्मसिद्धि, पृ० 149
3. ब्रह्मसिद्धि, भूमिका, पृ० 27

भाव-स्वरूप मुक्ति की प्राप्ति का साधन ज्ञान ही है, क्योंकि ज्ञान ही अज्ञान को नष्ट करता है। यद्यपि नित्य या काम्य कर्मों का फल मोक्ष-प्राप्ति नहीं है, तथापि मुक्ति की प्राप्ति में उनका प्रयोजन है। निष्काम कर्म बड़े शुद्धिकारक होते हैं; उनसे चित्त एकाग्र होता है। चित्त का एकाग्र होना अनिवार्य है क्योंकि चित्त से ही औपनिषदिक सत्य का चिन्तन करना पड़ता है। चित्त के इसी सतत प्रसंख्यान के द्वारा ब्रह्मानुभव की प्राप्ति होती है। मण्डन मिश्र के अनुसार जीवन्मुक्त केवल साधक होते हैं, सिद्ध नहीं।[1] ये मुक्त इसलिए कहे जाते हैं कि मुक्ति इन्हें अपने अन्दर प्राप्त है। इस प्रकार मण्डन मिश्र प्रसंख्यानवादी थे, तथापि ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय के पक्षपाती थे। (अविद्याध्वंस या प्रपञ्चाभाव का उपस्तम्भन करने पर ब्रह्म के सदाद्वैत का निराकरण नहीं हो सकता।) देहपात के अनन्तर ही विपरीतख्याति का लोप होने से विदेह-मुक्ति होती है।

मण्डन मिश्र की विशेषता यह है कि वे अपनी साधारण बुद्धि की उपेक्षा कहीं भी नहीं करते। जीवों की अनेकता और कर्म की उपयोगिता वे मानते हैं, पर जीवन्मुक्ति नहीं मानते। एक प्रकार से मण्डन मिश्र शंकर की अपेक्षा विशुद्ध अद्वैतवादी हैं। शंकर ने ब्रह्म से न्यून किसी एकत्व को स्वीकार नहीं किया। परन्तु मण्डन मिश्र ने स्फोट को आहत ध्वनियों और शब्दों के रूप में क्रमशः प्रकट होनेवाले अर्थ का मूल एकत्व मानकर अद्वैत-सिद्धान्त और युक्तियुक्त न्याय का अधिक प्रामाणिक प्रतिपादन किया है।

भेदवाद का खण्डन—मिश्र ही पहले दार्शनिक हैं जिन्होंने व्यावहारिक द्रव्य का वर्गीकरण और उनका अति सूक्ष्म विश्लेषण किया है। ब्रह्मसिद्धि के तर्ककाण्ड में प्रदर्शित भेदभाव का खण्डन ही इसका प्रमाण है। वहाँ पर वादी 'भेद' को पदार्थों का स्वरूप बतलाता है, क्योंकि अर्थ-क्रिया में सर्वत्र भेद देखा जाता है; जैसे, 'अग्नि जलाती है, जल ठण्डा करता है', इत्यादि सिद्धान्त को बतलाते हुए मण्डन मिश्र इसका खण्डन करते हैं :—

अर्थक्रियाकृते भेदे रूपभेदो न लक्ष्यते।
दाहपाकविभागेन कृशानुर्नहि भेदवान् ॥—7/1.2

अर्थात्—अर्थक्रियाकृत भेद से भेद नहीं होता। दाह अग्नि की क्रिया है और

---

1. स्थितप्रज्ञस्तावन्न विगलितनिखिलाविद्यः सिद्धः, किन्तु साधक एवावस्थाविशेषं प्राप्तः स्यात्।—ब्रह्मसिद्धि, पृ० 130

पाक भी अग्नि की क्रिया है, परन्तु पाक करने से अग्नि में कुछ होता हो और दाह करने से कुछ और, ऐसा नहीं होता। यानी दाह करना पाक करना नहीं है; तथापि अर्थ-क्रिया में भेद होने पर भी हम दोनों क्रियाएँ करनेवाले को एक ही अग्नि कहते हैं। इस श्लोक की यह एक व्याख्या है। एक दूसरी व्याख्या से उन लोगों का उत्तर हो जाता है जो यह कहते हैं कि जगत् की अर्थ-क्रियाओं में न केवल भेद है, अपितु परस्पर विरोध भी है[1], जिसका होना अद्वैत दर्शन से विसंगत है। इसके उत्तर में भी यह कहा जा सकता है कि क्या दाह क्रिया पाक क्रिया के साथ असंगत और विरुद्ध नहीं है? फिर भी क्या ये दोनों क्रियाएँ अग्नि में एक साथ नहीं रहतीं? परस्पर विरोध क्या है? यह अन्योन्याभाव है। यदि ऐसा अन्योन्याभाव न होता तो इन दो क्रियाओं को दो समझ ही नहीं पाते। एक और व्याख्या यह हो सकती है कि यदि क्रिया-भेद भेदमूलक नहीं है तो किसी भी वस्तु से कोई भी दूसरी वस्तु उत्पन्न हो सकती है।[2] इसके आक्षेप का भी इसमें उत्तर मिलता है, क्योंकि एक ही अग्नि विभिन्न क्रियाओं का हेतु है। व्यवहार में यह देखा जाता है कि अग्नि जला सकती है और पका भी सकती है, परन्तु कुछ पदार्थों को ही पकाती है और कुछ को जलाती है।[3] इस प्रकार क्षमता और अक्षमता का एक साथ होना विरोध नहीं है। अतः अर्थक्रियाकृत भेद के कारण भेद को मूल तत्त्व मान लेना युक्ति-विरुद्ध है। पाठक ध्यान दें कि किस तरह एक पंक्ति द्वारा ही मण्डन मिश्र ने कितने प्रकार की शंकाओं का समाधान कर दिया है। इसी एक उदाहरण में यह बताया गया है कि किस प्रकार सब भेदों के मूल में रहकर एक अभेद ब्रह्म सब कर्मों को कर सकता है। इस प्रकार ब्रह्मसिद्धि में मण्डन मिश्र ने प्रबल प्रतिवादों को उपस्थित किया है। इसी कारण इन्हें अद्वैत दर्शन का प्रथम तार्किक कहा जाता है।

●

---

1. युगपद्विरुद्धार्थक्रियादर्शनाद्भेदावगतिः।—ब्रह्मसिद्धि, पृ० 52
2. तथा च पयसोऽपि तैलं तिलेभ्यश्च दधिस्यात्, तदैकस्मिन् जायमाने सर्वं जायेत्, नश्यति च नश्येत्, अन्यथा भेद एव शब्दान्तरेणोक्तः स्यात्।—ब्रह्मसिद्धि, पृ० ·3
3. तस्यापीदमेवोत्तरम् दाहपाक विभागेनेति।—वही।

अध्याय 15

अद्वैत वेदान्त

विषय-प्रवेश

अद्वैत वेदान्त हिन्दू धर्मविलम्बियों का सर्वप्रमुख दर्शन समझा जाता है, उसका भारतीय दर्शनों में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। विश्व के उन दर्शनों में भी, जिनकी प्रेरणा धर्मग्रन्थों से आयी है, भारतीय अद्वैत का ऊँचा स्थान माना जाता है। यों तो वेदों अथवा श्रुतियों के प्रामाण्य को माननेवाले न्याय, सांख्य आदि भी आस्तिक दर्शन कहलाते हैं; किन्तु वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदाय इस अर्थ में परम आस्तिक हैं कि वे अपने सिद्धान्तों को मुख्यतः उपनिषदों से प्राप्त करने का दावा करते हैं। यह मानना ही पड़ेगा कि अद्वैत अथवा शांकर वेदान्त उपनिषदों के बहुत निकट है, विशेषतः प्राचीनतम उपनिषदों अर्थात् बृहदारण्यक और छांदोग्य के। शंकराचार्य ने, जो अद्वैत मत के प्रमुख प्रतिष्ठाता माने जाते हैं, अपने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता) पर रचे गये भाष्यों में अपने अद्वैत का प्रतिपादन और समर्थन किया है। चूँकि प्रस्थानत्रयी हिन्दुओं के धर्मग्रन्थ भी हैं, इसलिए उनपर आधारित सभी सम्प्रदायों को धार्मिक मान्यता दी जाती है। अद्वैत वेदान्त की विशेष मान्यता का कारण उसकी दार्शनिक प्रौढ़ता भी है। एक अच्छी दर्शन-पद्धति की कई विशेषताएँ होती हैं। उसकी सैद्धान्तिक मान्यताएँ गिनती में कम होती हैं, उसका तर्कगत आधार पुष्ट होता है और वह महत्त्वपूर्ण समझी जानेवाली समस्याओं का सुसम्बद्ध, बुद्धिगम्य हल प्रस्तुत करती है। अद्वैत वेदान्त की मुख्य मान्यताएँ तीन या चार ही हैं, अर्थात् (1) एकमात्र तात्त्विक पदार्थ निर्गुण, कूटस्थ नित्य, सच्चिदानन्द ब्रह्म है; (2) जीव और ब्रह्म एक ही हैं; (3) जीव और ब्रह्म में जो भेद दिखायी देता है, अथवा जीव जो बन्धनग्रस्त दिखायी पड़ता है, उसका कारण अनादि अविद्या है। (4) यह दृश्यमान जगत् माया का कार्य अतएव मिथ्या है। इसके अतिरिक्त अद्वैत वेदान्त उपनिषदों के परा

और अपरा विद्याओं के भेद को पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्यों के भेद में रूपांतरित कर देता है। वह सांख्य के सत्कार्यवाद को विवर्तवाद के सिद्धान्त में बदल देता है। परमार्थ और व्यवहार का भेद अद्वैत मत को बौद्धों के महायानी सम्प्रदायों का समानधर्मा बना देता है। यह देखने की बात है कि हिन्दुओं के दूसरे दर्शन सत्यों के इस भेद को स्वीकार नहीं करते, वे जगत् को मिथ्या भी नहीं कहते। इसीलिए कतिपय हिन्दू लेखकों (जैसे प्रसिद्ध विज्ञानभिक्षु) ने शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध घोषित किया। पद्मपुराण में भी शंकर के मायावाद को असत् अर्थात् दुष्ट या कुत्सित शास्त्र कहकर त्याज्य बताया गया है।

एकतत्त्ववाद बनाम मायावाद

शंकर के विरुद्ध दूसरे हिन्दू दार्शनिकों की मुख्य शिकायत यह है कि वे (शंकर) मायावादी हैं। जहाँ तक एकतत्त्ववाद के सिद्धान्त का प्रश्न है वह ऋग्वेद (पुरुष-सूक्त, नासदीय-सूक्त), बृहदारण्यक, छान्दोग्य, मुण्डक आदि उपनिषदों, भगवद्गीता और मण्डन मिश्र की 'ब्रह्मसिद्धि' में भी (जो शंकर की कृतियों से पहले की रचना है) प्रतिपादित है। विष्णु पुराण, श्रीमद्भागवत जैसे पुराणों में भी विश्व के कारणभूत एक परमात्म तत्त्व की कल्पना है। इस दृष्टि से शंकर के अद्वैत की भेदक (व्यावर्तक) विशेषता मायावाद का सिद्धान्त है।

शाङ्कर वेदान्त में मोक्षवाद का निरूपण विशेष महत्त्वपूर्ण है। सांख्य की भाँति अद्वैत वेदान्त भी जीवन्मुक्ति की सम्भावना स्वीकार करता है। मोक्षवाद की दृष्टि से अद्वैत मत सांख्य से भी अधिक संगत और संतोषप्रद है।

यह माना जा सकता है कि शंकराचार्य पर महायानी बौद्ध दर्शनों का कुछ प्रभाव पड़ा था, विशेषतः उनकी दो सत्यों की कल्पना महायान सम्प्रदायों से ली गयी जान पड़ती है। शंकर के बौद्धों से प्रभावित होने के पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि उनके दादा-गुरु गौड़पादलिखित 'माण्डूक्यकारिका' पर बौद्ध चिन्तन की स्पष्ट छाप है। उक्त कारिकाओं पर शंकर के नाम से परिचित लेखक की टीका या भाष्य भी पाया जाता है। कुछ विद्वानों (जैसे श्री विधुशेखर भट्टाचार्य) के मत में यह भाष्य शंकर की कृति नहीं है।[1] किन्तु आचार्य शंकर के 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' में श्री गौड़पादाचार्य का सादर उल्लेख मिलता है।[2] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वे गौड़पाद की शिक्षाओं से प्रभावित थे।

---

1. दे० दि आगमशास्त्र आव् गौड़पाद।
2. दे० ब्रह्मसूत्रभाष्य, 1/4/14 तथा 2/1/9 पर

अद्वैत का साहित्य

अद्वैत वेदान्त का साहित्य विस्तृत और विशाल है, इस दृष्टि से उसकी तुलना न्याय के साहित्य से की जा सकती है। वास्तव में भारतीय दार्शनिकों की मोक्षशास्त्र और प्रमाणशास्त्र दोनों में समान रुचि रही है। मोक्षशास्त्र की दृष्टि से अद्वैत वेदान्त का विशेष महत्त्व है और प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से न्याय का। ऊपर हमने अद्वैत के प्रतिष्ठाता शंकर के भाष्यों का उल्लेख किया। उनके भाष्यों ने अनेक सूक्ष्मबुद्धि एवं मेधावी टीकाकारों को आकृष्ट किया। उनके सबसे पहले टीकाकार उनके शिष्य पद्मपादाचार्य हैं जिन्होंने ब्रह्मसूत्र के चतुःसूत्री भाष्य पर 'पंचपादिका' टीका लिखी है। शंकर का समय 788-820 ई० माना जाता है। शांकर भाष्य पर दूसरी प्रसिद्ध टीका वाचस्पति मिश्र (841 ई०) की 'भामती' है। अन्य टीकाओं में चित्सुखाचार्य की 'भाष्यभावप्रकाशिका' (13वीं शती), आनन्द गिरि (15वीं शती) का 'न्यायनिर्णय' गोविन्दानन्द (17वीं शती) की 'रत्नप्रभा' और नारायण सरस्वती का 'वार्तिक' प्रसिद्ध हैं। उपटीकाओं में सबसे प्रसिद्ध प्रकाशात्म यती (12वीं शती) का 'पंचपादिकाविवरण' है। भामती पर 'कल्पतरु' और उसपर 'परिमल' प्रसिद्ध टीकाएँ हैं। 'विवरण' और 'भामती' के नाम से अद्वैत के दो अलग प्रस्थान ही बन गये।

शंकर के समकालीन सुरेश्वराचार्य की 'नैष्कर्म्यसिद्धि', 'बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्यवार्तिक' और 'तैत्तिरीयवार्तिक' प्रसिद्ध हैं। विवरण पर अखण्डानन्द मुनि का 'तत्त्वदीपन' प्रसिद्ध टीका है। शंकर के निकटवर्ती लेखकों में सर्वज्ञात्म मुनि (9वीं शती) का 'संक्षेपशारीरक' उल्लेखनीय है। बाद के ग्रन्थों में श्रीहर्ष (12वीं शती) का 'खण्डन-खण्डखाद्य', चित्सुखाचार्य की 'प्रत्यक्तत्वप्रदीपिका', विद्यारण्य का 'विवरणप्रमेय-संग्रह' और 'पंचदशी', मधुसूदन सरस्वती (15वीं शती) की 'अद्वैतसिद्धि', प्रकाशानन्द (15वीं शती के आस पास) की 'वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावली', सदानन्द (16वीं शती) का 'वेदान्तसार' धर्मराजाध्वरीन्द्र (16वीं शती) की वेदान्तपरिभाषा, मुक्तात्मन् की 'इष्टसिद्धि', आदि प्रसिद्ध हैं। 12वीं शती की कृति 'प्रकटार्थविवरण' के लेखक का नाम अज्ञात है। 15वीं शती के नृसिंहाश्रम का 'भेदधिक्कार' एक विशिष्ट विषय पर रोचक पुस्तक है। 'कल्पतरुपरिमल' के लेखक अप्पय दीक्षित (17वीं शती) का 'सिद्धान्त-लेशसंग्रह' विभिन्न आचार्यों के मतभेदों का विवरण प्रस्तुत करता है। ऊपर के सभी ग्रन्थों पर अनेकानेक टीका-उपटीकाएँ उपलब्ध हैं।

ब्रह्म और आत्मा

अद्वैत वेदान्त का केन्द्रगत सम्प्रत्यय आत्मा या ब्रह्म है। इस प्रत्यय को ठीक

से समझे बिना न हम वेदान्त की ज्ञान-मीमांसा को ही सही रूप में हृदयंगम कर सकते हैं, न उसके मोक्ष-सिद्धान्त को। अद्वैत अपनी आत्मा या ब्रह्म की धारणा सीधे उपनिषदों से लेता है। कहने की जरूरत नहीं कि अद्वैत मत में आत्मा और ब्रह्म में अभेद है। इस अभेद के पक्ष में शंकराचार्य जगह-जगह निम्न श्रुतियाँ उद्धृत करते हैं—

अहं ब्रह्मास्मि (बृह० उप०, 1/4/10), तत्त्वमसि (छान्दोग्य, 6/8/7), अयमात्मा ब्रह्म (बृहदा० उप०, 2/5/19)

अद्वैत के अनुसार केवल ब्रह्म या आत्मा ही तात्त्विक पदार्थ है, इसकी पुष्टि में भी शंकर अनेक श्रुतियाँ उद्धृत करते हैं, जैसे—एकमेवाद्वितीयम् (छा० 6/2/2), सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छा०, 3/14/1), नेह नानास्ति किंचन (बृह०, 4/4/19), आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् (ऐत०, 2/1/1), इत्यादि।

श्रुति यह भी कहती है कि एक को जानने से सब कुछ जान लिया जाता है; यह तभी सम्भव है जब एकमात्र ब्रह्म ही, जो जगत् का कारण है, सत् पदार्थ हो। छान्दोग्य के छठे अध्याय में अपने पुत्र श्वेतकेतु को समझाते हुए आरुणि ने कहा कि कारण को जान लेने से उसके समस्त कार्य जान लिये जाते हैं, क्योंकि कार्य नामरूप-मात्र है।

अद्वैत वेदान्त ब्रह्म अथवा आत्मा को प्रमाणों का विषय नहीं मानता, वह उसे ज्ञान का विषय भी नहीं मानता। यह सिद्धान्त विशेष महत्त्वपूर्ण है। प्रमाण शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है—वह जिसके द्वारा ज्ञान के विषय का मापन किया जाता है, अथवा जिसके द्वारा ज्ञेय को सीमित या परिच्छिन्न किया जाता है। चूँकि आत्मा अपरिच्छिन्न है, इसलिए उसे प्रमाणों अथवा ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता।

पाठक इस मन्तव्य को ठीक-ठीक समझ लें। किसी चीज को जानने का अर्थ है उसे विशेषित करना, उसके सम्बन्ध में विशेषण का प्रयोग करना। विशेषण लगाने का क्या प्रयोजन है? उत्तर है, विशेषित वस्तु को दूसरी वस्तुओं से अलग करना। जब हम कहते हैं कि कोई वस्तु लाल है तो हम उसे दूसरे रंगों की वस्तुओं से अलग करते हैं। इस प्रकार विशेषण का प्रयोग वस्तु की सीमा का निर्देश और उसे दूसरी वस्तुओं से भिन्न करने के लिए होता है। वेदान्त मत में आत्मा को इस प्रकार नहीं जाना जा सकता, क्योंकि वह सीमित नहीं है, वह शब्द का विषय भी नहीं है।

फिर भी उपनिषदों में जगह जगह ब्रह्म या आत्मा का वर्णन है। ब्रह्म को, अपरोक्ष या साक्षात्कार-रूप कहा गया है (यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म; बृ० 3/4/1),

उसे सत्य, ज्ञान और अनन्त कहकर भी वर्णित किया गया है, उसे सच्चिदानन्द भी कहा गया है, वह भूमा भी है। आत्मा ऐसा द्रष्टा है जो स्वयं नहीं देखा जाता, उसके अलावा कोई द्रष्टा नहीं है। अद्वैत मत में आत्मा चैतन्यरूप है, चैतन्य उसका गुण मात्र नहीं है। इस दृष्टि से अद्वैत का ब्रह्म सांख्य के पुरुष के समान है।

श्री चित्सुखाचार्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका' में ब्रह्म को 'ज्ञान का विषय न होते हुए भी प्रत्यक्ष व्यवहार योग्य' (अर्थात् स्वप्रकाश) कथित किया है। उनके अनुसार उक्त वक्तव्य स्वप्रकाश की परिभाषा है—अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष व्यवहारयोग्यत्वम् स्वप्रकाशत्वम्।

प्रश्न है, यदि आत्मा के लिए कोई विशेषण नहीं लगाया जा सकता तो उसे सत्, चित्, आनन्द आदि कहने का क्या तात्पर्य है? उत्तर में शंकर का कहना है कि ये सब वर्णन यह बताने के लिए हैं कि आत्मा असत्, जड़ और दुःखात्मक जगत् से भिन्न है। वास्तव में आत्मा निर्गुण ही है। इसीलिए बृहदारण्यक के एक स्थल में उसे अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित आदि नकारात्मक विशेषणों द्वारा निरूपित किया गया है। शंकर के मत में ब्रह्म का यह वर्णन ही वास्तविक सिद्धान्त है।

स्वरूप-लक्षण और तटस्थ लक्षण

ऊपर ब्रह्म का जो वर्णन दिया गया वह उसके स्वरूप-लक्षण के अन्तर्गत आता है। अद्वैत के अनुसार ब्रह्म का पारमार्थिक रूप यही है। किन्तु माया की उपाधि से संयुक्त ब्रह्म, जिसे ईश्वर भी कहते हैं, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और भंग का कारण होता है। ब्रह्म का यह वर्णन या परिभाषा (जो ब्रह्मसूत्र, 1/1/2 में दी गयी है) उसका तटस्थ लक्षण कहलाती है।

आत्मा की सिद्धि

यदि आत्मा का ज्ञान विषय नहीं है तो उसमें अनात्मा का अध्यास, जैसा अद्वैत मानता है, कैसे होता है? यह प्रश्न ब्रह्मसूत्र के अध्यास-भाष्य में उठाया गया है। सामने रस्सी के मौजूद होने पर ही हम उसमें साँप का अध्यास कर सकते हैं। इसका उत्तर देते हुए शंकर ने बतलाया है कि किस प्रकार आत्मा के अस्तित्व की प्रसिद्धि या ज्ञान होता है। उनके शब्दों में :

> उच्यते, न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्यय विषयत्वात्, अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धे।

आत्मा एकदम ही ज्ञान का विषय न हो, ऐसा नहीं; वह अस्मत्प्रत्यय (मैं-ज्ञान) का विषय है। यदि चिदात्मा को अपरोक्ष न मानें तो उसके प्रथित (प्रसिद्ध, ज्ञात) न होने से सारा जगत् भी प्रथित न हो सकेगा और सब कुछ अंध या अप्रकाश हो जायेगा (वाचस्पति)। जगत् जड़ है, वह स्वतः प्रकाशित नहीं है। यदि आत्मा को स्वतः प्रकाशित न मानें तो जगत् में भी प्रकाश न मिल सकेगा।

पाठक देखेंगे कि शङ्कराचार्य की इन पंक्तियों में आत्म-सत्ता की सिद्धि के लिए एक विशेष प्रकार की युक्ति का प्रयोग किया गया है। मीमांसकों से विवाद करते समय वेदान्ती लेखक कह देते हैं कि आत्मा श्रुति के बिना ज्ञेय नहीं है। इसका अभिप्राय यही समझना चाहिए कि आत्मा का स्वरूप श्रुति की सहायता के बिना प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता। परन्तु आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के लिए श्रुति की अपेक्षा नहीं है, आत्म-सत्ता की सिद्धि शब्द-प्रमाण पर निर्भर नहीं है। फिर क्या आत्मसिद्धि के लिए किसी और प्रमाण से काम लेना पड़ेगा? वेदान्त का उत्तर है, नहीं। आत्मा स्वयं-सिद्ध है, वह किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखती।

आत्मा की स्वयंसिद्धता

जैन दर्शन, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसा में भी आत्म-सत्ता को अनुमान द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है। आत्मा को शरीर, इन्द्रियों और मन से भिन्न सिद्ध किया गया है। परन्तु वेदान्त आत्मसत्ता की सिद्धि में अनुमान का प्रयोग नहीं करता। जिस अनुमान से आप आज आत्मा को सिद्ध करना चाहते हैं, उसमें कल कोई आपसे बड़ा तार्किक दोष निकाल सकता है। ईश्वर के अनुमान में संसार के विचारकों का एक मत आज तक न हो सका। इसलिए वेदान्त दर्शन अपने चरम तत्त्व आत्मा की सिद्धि के लिए अनुमान-प्रमाण पर निर्भर रहना नहीं चाहता।

परन्तु किसी न किसी प्रकार की युक्ति तो देनी ही पड़ेगी। इस युक्ति का निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं। संसार के सारे विचारक इस एक बात पर एकमत हैं कि हमें किसी न किसी प्रकार का अनुभव अवश्य होता है। जीवन अनुभूतिमय है; रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सुख-दुःख आदि का अनुभव, अपनी चेतना का अनुभव, ये जीवन की साधारण घटनाएँ हैं। इस घटना के दृढ़ आधार (नींव) पर खड़े होकर हमें दार्शनिक प्रक्रिया का आरम्भ करना चाहिए। वेदान्त का कथन है कि किसी प्रकार का अनुभव या अनुभूति चैतन्य तत्त्व के बिना नहीं हो सकती। यदि ज्ञेय की तरह ज्ञाता भी जड़ है तो ज्ञान या चैतन्य की किरण कहाँ से फूटती है? विश्व ब्रह्माण्ड से अनुभव-

कर्ता को निकाल दीजिए; और आप देखेंगे कि संसार में प्रकाश नहीं है, ज्ञान नहीं है, ऐक्य नहीं है, भेद नहीं है। चेतन तत्त्व के बिना विश्व नेत्रहीन हो जायगा। (प्राप्तमान्ध्यमशेषस्य जगतः।—वाचस्पति)। इसलिए यदि आप चाहते हैं कि आपका प्रमाण-प्रमेय व्यवहार चलता रहे, आपके तर्क सार्थक हों, तो आपको आत्म-तत्त्व की स्वयंसिद्धता को स्वीकार कर लेना चाहिए। आत्मा को माने बिना किसी प्रकार का अनुभव सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए आत्मा की सत्ता अनुभव या अनुभूति (एक्सपीरियंस) की सत्ता में ओतप्रोत है। आत्मा व्यापक है और अनुभव व्याप्य; व्यापक के बिना व्याप्य नहीं रह सकता, अग्नि के बिना धूम की सत्ता सम्भव नहीं है, यह तर्कशास्त्र का साधारण नियम है। श्री शङ्कराचार्य लिखते हैं :

> आत्मत्वाच्चात्मनो निराकरण शंकानुपपत्तिः। नह्यात्मागन्तुकः कस्यचित्, स्वयंसिद्धत्वात्। न ह्यात्माऽत्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिध्यति। तस्य हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्यप्रसिद्धप्रमेयसिद्धय उपादीयंते।........
>
> आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात्प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं संभवति। आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्। य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्। न ह्यग्नेरौष्ण्यघभग्निना निराक्रियते।
> —ब्र० सू० भाष्य, 2/3/7

इस महत्त्वपूर्ण वाक्य-समूह को हमने उसके सौन्दर्य और स्पष्टता के कारण विस्तार से उद्धृत किया है। इसका अर्थ यही है कि, "आत्मा होने के कारण ही आत्मा का निराकरण सम्भव नहीं है। आत्मा बाहर की चीज नहीं है, वह स्वयंसिद्ध है। आत्मा प्रमाणों से सिद्ध नहीं होती, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों का प्रयोग आत्मा अपने से भिन्न पदार्थों की सिद्धि में करती है। आत्मा तो प्रमाणादि व्यवहार का आश्रय है और प्रमाणों के व्यवहार से पहले ही सिद्ध है। आगन्तुक (आयी हुई, बाह्य) वस्तु का ही निराकरण होता है, न कि अपने रूप का। यह आत्मा तो निराकरण करनेवाले का ही अपना स्वरूप है। अग्नि अपनी उष्णता का निराकरण कैसे कर सकती है ?"

आगे आचार्य कहते हैं कि आत्मा 'सर्वदा वर्त्तमान स्वभाव' है, उसका कभी अन्यथाभाव नहीं होता। पहले सूत्र की व्याख्या में ब्रह्म की सिद्धि भी इसी प्रकार की गयी है। सबको आत्मा होने के कारण ब्रह्म का अस्तित्व प्रसिद्ध ही है (सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः।—1/1/1)। आत्मा ही ब्रह्म है। इस प्रकार वेदान्त

के विश्व-तत्त्व की सत्ता स्वयंसिद्ध है। जो आत्मा और परमात्मा में भेद मानते हैं, वे ब्रह्म या ईश्वर की सत्ता त्रिकाल में भी सिद्ध नहीं कर सकते।

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कान्ट ने एक नयी युक्ति का आविष्कार किया जिसे ट्रांसेंडेंटल युक्ति कहते हैं। इस युक्ति का रूप यह है—जो अनुभव की उत्पत्ति अथवा सिद्धि के लिए आवश्यक है उसकी यथार्थता स्वीकार करनी चाहिए। अद्वैत वेदान्ती आत्मा की सिद्धि कुछ ऐसे ही तर्क से करते हैं। सुरेश्वराचार्य कहते हैं :

यतो राद्धिः प्रमाणानां स कथं तैः प्रसिध्यति।—नैष्कर्म्यसिद्धि, 2/37

अर्थात् जिससे प्रमाणों की सिद्धि होती है वह प्रमाणों से कैसे सिद्ध होगा? प्रमाता के बिना प्रमाणों की चर्चा व्यर्थ है। याज्ञवल्क्य ने कहा था— 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्', अर्थात् जो सबको जाननेवाला है उसे किस प्रकार जाना जा सकता है। सूर्य के लिये प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। प्रमाणों के प्रकाशक आत्मा को प्रमाण प्रकाशित नहीं कर सकते।

आत्मा की स्वयंसिद्धता अद्वैत वेदान्त की भारतीय दर्शन को महत्त्वपूर्ण देन है। शंकर और रामानुज दोनों ही मानते हैं कि ब्रह्म या ईश्वर की सिद्धि अनुमान द्वारा सम्भव नहीं है। रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ आदि ब्रह्म का अस्तित्व श्रुति से ही प्रमाणित मानते हैं। इस दृष्टि से भी आत्मा की स्वयंसिद्धता का सिद्धान्त विशेष महत्त्वपूर्ण है।

ऊपर हमने सामान्य रूप में ब्रह्म या आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया। इस सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट बातों का उल्लेख आवश्यक है। अद्वैत मत में आत्मा या तो विशुद्ध ज्ञान-रूप है या शुद्ध द्रष्टा; वह कभी विषय या दृश्य नहीं बनता। बृहदारण्यक में कहा गया है कि दृष्टि-स्वरूप आत्मा का कोई द्रष्टा नहीं है।[1] आत्मा एक ऐसा द्रष्टा है जो स्वयं नहीं देखा जाता।[2] सुरेश्वराचार्य कहते हैं :

सर्वधीव्यञ्जकस्तद्वत्परमात्मा प्रदीपकः।
संनिध्यसंनिधानेषु धीवृत्तीनामविक्रियः॥—नैष्कर्म्यसिद्धि, 2/66

प्रदीप की भाँति आत्मा या परमात्मा बुद्धि की विभिन्न अवस्थाओं का सन्निधि मात्र से प्रकाशक होता है, वह विकृत नहीं होता। वास्तव में आत्मा में प्रकाशन की

---

1. न दृष्टेः द्रष्टारं पश्येः—3/8/2।
2. अदृष्टं द्रष्टृ—बृहदा०, 3/8/11।

क्रिया नहीं होती, प्रकाशित होनेवाली बुद्धि-वृत्तियों की समीपता से उपचारवश यह कहा जाता है कि आत्मा प्रकाशक है। अद्वैत का यह मत सांख्य के समान ही है।

आत्मा की सुखरूपता

आत्मा सत् और चित् है, यह तो आत्म-सत्ता के साथ ही सिद्ध हो जाता है; आत्मा आनन्द-स्वरूप भी है, यह श्रुति और अनुमान के बल पर सिद्ध किया गया है। 'संक्षेपशारीरक' के लेखक श्री सर्वज्ञात्म मुनि ने आत्मा की आनन्द-रूपता सिद्ध करने की दो युक्तियाँ दी हैं—

(1) 'आत्मा सुख-स्वरूप इसलिए है कि उसका और सुख का लक्षण एक ही है, सुख का लक्षण आत्मा में घटता है। जो वस्तु अपनी सत्ता से ही परार्थता को छोड़ देती है उसे सुख कहते है।' सब पदार्थों की कामना सुख के लिए की जाती है, परन्तु सुख की कामना किसी अन्य वस्तु के लिए नहीं होती, स्वयं सुख के लिए ही होती है। इसलिए सुख वह है जो परार्थ या दूसरे के लिए नहीं है। सुख का यह लक्षण आत्मा में भी वर्तमान है, इसलिए आतमा सुख-स्वरूप है। सब चीजें आत्मा के लिए हैं, आत्मा किसी के लिए नहीं।—संक्षेपशारीरक, 1/24।

(2) सुख का दूसरा लक्षण यह है कि उसमें भी उपाधिहीन प्रेम होता है, अन्य वस्तुओं का प्रेम औपाधिक है। आत्मा में भी उपाधिशून्य प्रेम होता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि आत्मा के लिए ही सब वस्तुएँ—पिता, पुत्र, भार्या, धन आदि—प्रिय होती हैं। इस युक्ति से भी आत्मा आनन्द-स्वरूप है।—वही, 1/25।

श्री सुरेश्वराचार्य ने आत्मा की आनन्दमयता या दुःख-शून्यता सिद्ध करने के लिए दूसरी युक्ति दी है। वे कहते हैं—

दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत्
दुःखिनः साक्षिताऽयुक्ता साक्षिणो दुःखिता तथा।
नर्ते स्याद् विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः
धीविक्रिया सहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः॥
—नैष्कर्म्यसिद्धि, 2/76–77

अर्थात्—यदि आत्मा दुःखी माना जाय तो दुःखी होने का अथवा 'मैं दुःखी हूँ' इसका साक्षी कौन होगा ? जो दुःखी है, वह साक्षी (द्रष्टा) नहीं हो सकता और साक्षी को दुःखी मानना ठीक नहीं। बिना विकार के आत्मा दुःखी नहीं हो सकता और यदि आत्मा विकारी है तो वह साक्षी नहीं हो सकता। बुद्धि के हजारों विकारों का मैं साक्षी हूँ, इसलिए मैं विकारहीन हूँ। यह सिद्धांत सांख्य के अनुकूल ही है।

अध्यास

यदि वास्तव में आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव है तो उसमें अनित्यता, अशुद्धि, अल्पज्ञता और बन्धन का दर्शन मिथ्या होना चाहिए। यह मिथ्या दर्शन ही अध्यास की वास्तविकता सिद्ध करता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा में अनात्मा का और अनात्मा में आत्मा का अध्यास होता है। शरीर, मन आदि के विकारों को हम आत्मा में देखते हैं और शरीर, मन आदि में आत्मभाव का अनुभव करते हैं। इस प्रकार अध्यास का अनुभव दो रूपों में होता है।

अध्यास की परिभाषा—शङ्कर के ब्रह्मसूत्रभाष्य का आरम्भ अध्यास के उल्लेख से होता है। उन्होंने अध्यास की निम्नलिखित परिभाषा दी है—

स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः

अर्थात्—किसी जगह पहले देखे हुए की प्रतीति, स्मृति-रूप है। रज्जु में सर्प की प्रतीति अध्यास का उदाहरण है। रज्जु में सर्प का, जो आरोप्य है, अत्यन्ताभाव होता है। वहाँ सर्प की प्रतीति भ्रम-रूप अज्ञान के कारण है। रज्जु परमार्थ सत् है, सर्प मिथ्या है; इस प्रकार अध्यास में सत्य और मिथ्या का मिथुनीकरण (विवेक न होने से एकीकरण अर्थात् तादात्म्य का भ्रम) होता है। इस उदाहरण में रज्जु अधिष्ठान है जो अपेक्षाकृत सत् या सत्य वस्तु है। मिथ्या वस्तु के अध्यास के लिए किसी सत्य का अधिष्ठान होना आवश्यक है। ऐसे ही, आत्मा में बुद्धि, इन्द्रिय, देह आदि का अध्यास होता है और वैसे ही शरीर आदि में आत्मा का अध्यास होता है। शङ्कर के अनुसार आत्मा और अनात्मा का यह अध्यास स्वाभाविक और अनादि है।

यहाँ स्मृति-रूप पद का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। स्मृति में ज्ञान का विषय होनेवाली वस्तु हमारे सामने नहीं होती। इसी अर्थ में अध्यास स्मृति-रूप है; सर्प के अध्यास में सर्प हमारे सामने नहीं होता। स्मृति-रूप का यह अभिप्राय नहीं है कि जिस चीज का अध्यास हो रहा है उसका पूर्व अनुभव रहा हो। अध्यास में प्रतीति का विषय इन्द्रियों से सम्पृक्त—सन्निहित—नहीं होता, इतना ही अभिप्रेत है। इसी अध्यास को विद्वान् लोग अविद्या कहते हैं। (दे० भामती—असंनिहित विषयत्वं च स्मृतिरूपत्वम्।)

यहाँ यह लक्षित करना चाहिए कि अध्यस्त वस्तु के गुण-दोष के अधिष्ठान में कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं होता। ब्रह्म में जगत् का अध्यास होता है। लेकिन उससे ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं आता। इस तथ्य को अद्वैत वेदान्ती दूसरे

ढंग से भी प्रकट करते हैं—जगत् ब्रह्म का विवर्त कार्य है और ब्रह्म जगत् का विवर्त कारण है। सांख्य की प्रकृति की भाँति ब्रह्म परिणामी नहीं है। सर्प रज्जु का विवर्त होता है, न कि परिणाम।

विवर्तवाद

वेदान्त का कारणता सम्बन्धी सिद्धान्त विवर्तवाद कहलाता है। यों, नैयायिक के असत्कार्यवाद के विरुद्ध अद्वैत वेदान्ती सत्कार्यवाद का पक्ष लेते हैं। किन्तु सत्कार्यवाद की अपनी कठिनाइयाँ हैं। उत्पत्ति से पहले कार्य को न तो नैयायिकों की तरह असत् मानना चाहिए, न सांख्यों की तरह सत्। कार्य वास्तव में अनिर्वचनीय होता है। सत् कारण से अनिर्वचनीय कार्य उत्पन्न होता है। अनिर्वचनीय कार्य का पारिभाषिक नाम विवर्त है। परिणामवाद (जो सांख्य का सिद्धान्त है) और विवर्तवाद में कहाँ भेद है, इसे वेदान्त-परिभाषा इस प्रकार बतलाती है—

परिणामो नामोपादान समसत्ताककार्यापत्तिः
विवर्तो नामोपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः।

अर्थात्—उपादान कारण का सदृश कार्य परिणाम कहलाता है और विषम कार्य विवर्त। यह सादृश्य और विषमता सत्ता की श्रेणी या प्रकार में होती है। दही दूध का परिणाम है और सर्प रस्सी का विवर्त। दही और दूध की सत्ता एक प्रकार की है, सर्प और रस्सी की दो प्रकार की। सर्प की सत्ता केवल कल्पना में है, उसे प्रातिभासिक कहते हैं।

तीन प्रकार की सत्ताएँ—ब्रह्म की सत्ता 'पारमार्थिक' या तात्त्विक सत्ता है, इस सत्ता का कभी बाध नहीं होता। स्वप्न के पदार्थों की 'प्रातिभासिक' सत्ता है, शुक्ति में दीखनेवाली रजत की सत्ता भी ऐसी ही है। 'प्रातिभासिक' सत्तावाले पदार्थ सब देखनेवालों के लिए एक से नहीं होते, उन्हें लेकर व्यवहार नहीं किया जा सकता। जगत् के कुर्सी, मेज, वृक्ष आदि पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता है, जो सब देखनेवालों के लिए एक-सी है। स्वप्न और भ्रम के पदार्थों का बाध या नाश जाग्रतावस्था या ठीक व्यावहारिक ज्ञान से हो जाता है। जाग्रतावस्था के पदार्थ भी, जिनकी व्यावहारिक सत्ता है, तत्त्व-ज्ञान होने पर नष्ट हो जाते हैं। वास्तविक ज्ञान के लिए ब्रह्म के अतिरिक्त कोई सत्पदार्थ नहीं है। जैसे जागे हुए के लिए स्वप्न के पदार्थ झूठे हो जाते हैं, वैसे ही ज्ञानी के लिए जगत् मिथ्या हो जाता है। अब पाठक 'विवर्त' का अर्थ समझ गये होंगे। सर्प रस्सी का विवर्त है, क्योंकि उसकी सत्ता रस्सी से भिन्न

कोटि की है—रस्सी की व्यावहारिक सत्ता है और सर्प की प्रातिभासिक। इसी प्रकार जगत् ब्रह्म का विवर्त है, ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है और जगत् की व्यावहारिक।

माया और अविद्या

ब्रह्म अथवा आत्मा के बाद अद्वैत वेदान्त का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रत्यय माया, अज्ञान या अविद्या है। विवरण प्रस्थान के अनुयायी अज्ञान शब्द का प्रयोग पसन्द करते हैं। शंकर ने माया और अविद्या शब्दों का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में किया है। बाद के कुछ लेखक दोनों में भेद करते हैं।

जैसा ऊपर कहा गया, शंकर अध्यास को ही अविद्या कहते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीति है, जिसकी भी प्रतीति है, वह अविद्या है; प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी अविद्यामूलक हैं। शंकर कहते हैं—

> सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसार प्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य माया शक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते।—ब्र० सू० भा०, 2/1/14

अर्थात् सत् और असत् से विलक्षण (अनिर्वचनीय) संसार प्रपञ्च के बीजभूत, नाम और रूप, जो अविद्या कल्पित हैं, सर्वज्ञ ईश्वर के मानो आत्म-भूत हैं; इन्हीं को ईश्वर की माया शक्ति और प्रकृति नामों से श्रुतियों तथा स्मृतियों में पुकारा गया है। गीताभाष्य (13/1) के उपोद्घात में सातवें अध्याय का हवाला देते हुए शंकर ने लिखा है कि ईश्वर की दो प्रकृतियाँ हैं जिनसे सहचरित वह जगत् का कारण बनता है। यहाँ आठ रूपोंवाली प्रकृति को त्रिगुणात्मिका बतलाया है; बाद के अद्वैती लेखक इसी कारण माया को त्रिगुणात्मिका मानकर उसे अलग भाव-रूप पदार्थ मान लेते हैं। गीताभाष्य (9/10) में शंकर ने स्वयं माया को 'त्रिगुणात्मिका अविद्यालक्षणा प्रकृति' कहा है जो सचराचर जगत् को उत्पन्न करती है। ब्रह्मसूत्र, 1/4/3 के भाष्य में निम्न वाक्य आते हैं—

> अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्त शब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। तदेतदव्यक्तं क्वचिदाकाशशब्दनिर्दिष्टम्, 'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' इति श्रुतेः। क्वचिदक्षरशब्दोदितम्; 'अक्षरात्परतःपरः' इति श्रुतेः। क्वचिन्मायेति सूचितम्; 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति मन्त्रवर्णात्। अव्यक्ता हि सा माया; तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्याशक्यत्वात्।—ब्र० सू० भा० 1/4/3

इस अवतरण में शंकर अविद्या, अव्यक्त, आकाश, अक्षर, माया आदि शब्दों को समानार्थक बतलाते हैं और कहते हैं कि माया को तत्त्व या तत्त्व से भिन्न (असत्) कहकर निरूपित नहीं किया जा सकता। यहाँ एक लक्षित करने की बात यह है कि माया का आश्रय परमेश्वरको बतलाया गया है, ब्रह्म को नहीं। माया से संयुक्त परमेश्वर ही जगत् का स्रष्टा है।

कहीं-कहीं शंकराचार्य ने अविद्या को तामस प्रत्यय कथित किया है, जैसे गीता-भाष्य, 13/2 में—तामसो हि प्रत्ययः आवरणात्मकत्वात् अविद्या। अर्थात् आवरण-कर्ता होने के कारण तामस प्रत्यय ही अविद्या है। स्पष्ट ही ऐसा प्रत्यय अन्तःकरण का धर्म होता है। इस प्रकार अविद्या जीव में आश्रित हो जाती है। शंकर के इन वक्तव्यों ने बाद में विभिन्न व्याख्याओं को जन्म दिया।

'पंचपादिका' के रचयिता पद्मपाद ने माया या अविद्या को 'अनिर्वचनीय जड़ात्मिका अविद्या शक्ति' कहा है। तात्पर्य यह है कि माया या अज्ञान अनादि और भाव-रूप है, सत् और असत् से विलक्षण है और ज्ञान से विनाश्य है। माया को भाव-रूप कहने का अर्थ सिर्फ इतना है कि वह अभाव-रूप नहीं है (अभावविलक्षणत्वमात्रं विवक्षितम्)।

आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपम्
जीवेश्वरत्वजगदाकृतिभिर्मृषैव
अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगात्
आत्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन।—संक्षेप शारीरक, 1/20

अर्थात्—**आत्मविषयक** और **आत्माश्रयी** अज्ञान आत्मा के ज्योतिर्मय रूप को ढककर अपनी विभ्रम शक्ति से आत्म-तत्त्व को जीव, ईश्वर और जगत् की आकृतियों में विक्षिप्त कर देता है। सर्वज्ञ मुनि के गुरु सुरेश्वराचार्य भी अज्ञान शब्द का प्रयोग करना पसन्द करते हैं।

अज्ञान का आश्रय और विषय—थोड़ी देर के लिए हम भी अज्ञान शब्द का प्रयोग करेंगे। अज्ञान अनादि और भाव-रूप है, यह ऊपर कहा जा चुका है। प्रश्न यह है कि—(1) अज्ञान रहता कहाँ है, अज्ञान का आश्रय क्या है, और (2) अज्ञान किसका है, अज्ञान का विषय क्या है। अज्ञान ब्रह्म का है, या ब्रह्म-विषयक है, इस विषय में प्रायः मतैक्य है। वाचस्पति के मत में अज्ञान का आश्रय जीव है; सुरेश्वर, सर्वज्ञ मुनि और विवरणकार की सम्मति में अज्ञान का आश्रय और विषय दोनों ब्रह्म हैं। सर्वज्ञ मुनि के अनुसार 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी, निर्विभागचितिरेव केवला'

है। 'संक्षेप शारीरक' में वाचस्पति के मत का खण्डन किया गया है। सर्वज्ञ मुनि कहते हैं—

पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो
नाश्रयो भवति नापिगोचरः।—1/319

अज्ञान जीव के पहले की वस्तु है और जीव का कारण है; अज्ञान पूर्वसिद्ध है, जीव बाद को आता है। इसलिए जीव अज्ञान का न आश्रय हो सकता है, न विषय। इसी प्रकार जड़ तत्त्व भी अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि जड़ जगत् भी जीव की तरह अज्ञान से उत्पन्न होता है। कार्य अपने कारण का आश्रय या विषय कभी नहीं बन सकता।

वाचस्पति मिश्र का मत—इस सम्बन्ध में वाचस्पति मिश्र का मत भिन्न है। उनके मत में अविद्या का आश्रय जीव है और उसका विषय ब्रह्म। यह प्रश्न करना कि 'जीव पहले, या अज्ञान', व्यर्थ है; बीज और अंकुर की तरह उनका सम्बन्ध अनादि है। पहले अविद्या थी जिससे जीव उत्पन्न हुआ, यह कथन भ्रमात्मक है। ऐसा कोई समय न था जब जीव नहीं थे, इसलिए जीव को अविद्या का आश्रय मानने में कोई दोष नहीं है।

माया और अविद्या—हम ऊपर कह चुके हैं कि आचार्य शंकर ने माया और अविद्या में भेद करने का प्रयत्न नहीं किया है; यही बात विवरण प्रस्थान के लेखकों पर लागू होती है। एक स्थल पर विवरणकार ने लिखा है—

तस्माल्लक्षणैक्याद्वृद्धव्यवहारे चैकत्वावगमादेकस्मिन्नपि वस्तुनि विक्षेपप्राधान्येन माया, आच्छादनप्राधान्येनाविद्येति व्यवहारभेदः।[1]

अर्थात्—लक्षण एक होने के कारण और पूर्व-परम्परा के अनुसार भी अविद्या और माया का एकत्व है, फिर भी उस एक वस्तु को विक्षेप की प्रधानता से माया और आच्छादन व्यापार की प्रधानता से अविद्या कहते हैं। यह शब्द-व्यवहार का भेद है।

मूलाविद्या और तूलाविद्या—अपनी 'भामती' टीका के मंगलाचरण में श्री वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्म को अनिर्वचनीय, दो अविद्याओं से सहचरित (अविद्या-द्वितय सचिव) कथित किया है। इन अविद्याओं से संयुक्त ब्रह्म ही विश्व का विवर्त कारण है। 'कल्पतरु' के अनुसार ब्रह्म को अविद्या-सचिव कहते हैं।

---

1. दे० ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, नवटीकोपेत, अनन्तकृष्ण शास्त्री द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, 1963, पृ० 211

कहने का मतलब यही है कि ब्रह्म अविद्या का विषय होता है। मूलाविद्या से मतलब है अनादि भाव-रूप अविद्या एवं तूलाविद्या से तात्पर्य है पूर्व-पूर्व भ्रमों का संस्कार, जो जीवों में अलग-अलग रहता है।

ईश्वर और जीव—ईश्वर, सगुणब्रह्म, अपरब्रह्म और कार्यब्रह्म अद्वैत वेदान्त में पर्यायवाची शब्द हैं। कहा जा चुका है कि अविद्या और माया में शंकर के बाद के अद्वैती लेखक भेद करते हैं। पंचदशीकार के अनुसार माया विशुद्ध सत्त्व प्रधान है, जबकि अविद्या मलिन सत्त्वप्रधान है। उनके मत में माया में प्रतिफलित चिदानन्द सर्वज्ञ ईश्वर है और अविद्या में प्रतिबिम्बित चिदात्मा जीव है (पंचदशी, 1/16-17)। यह भी कहा जाता है कि माया की उपाधि से संयुक्त चैतन्य ईश्वर है और अविद्या की उपाधि से संयुक्त चैतन्य जीव है।

जगत्कारणत्व—'ब्रह्मसूत्र' के अनुसार जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण ब्रह्म है। चूँकि माया से संयुक्त ब्रह्म ईश्वर है, इसलिए कहना चाहिए कि जगत् का (उपादान) कारण ईश्वर है। 'विवरण' के मत में माया की उपाधिवाला चैतन्य अर्थात् ईश्वर ही जगत् का उपादान कारण है। 'पदार्थतत्त्वनिर्णय' के रचयिता के मत में ब्रह्म जगत् का विवर्त कारण है और माया या अविद्या परिणामी कारण है, जैसे सांख्य की प्रकृति। वाचस्पति मिश्र के मत में, जैसा पहले कहा जा चुका है, माया सहकारी मात्र है और ब्रह्म विश्व का विवर्त कारण है।

साक्षिचैतन्य या साक्षी का स्वरूप—'पंचदशी' के कूटस्थ दीप प्रकरण (8वें प्रकरण) में साक्षी के स्वरूप पर विचार किया गया है। लोक-व्यवहार में साक्षी उदासीन द्रष्टा को कहते हैं; साक्षी उदासीन या अनासक्त होता है और साथ ही द्रष्टा या ज्ञाता भी। इसके विपरीत, जिसे जीव कहते हैं, वह उदासीन नहीं होता। इसलिए जीव और साक्षी में भेद किया जाता है। प्रत्येक व्यक्तित्व में जीव और साक्षी दोनों उपस्थित रहते हैं।

अद्वैत वेदान्त में सर्वत्र निर्विकार चित् या चिदात्मा को अधिष्ठान माना जाता है, जिसपर मायिक या अविद्यात्मक पदार्थों का अध्यास होता है। सूक्ष्म और स्थूल भेद से दो शरीर माने जाते हैं; ये शरीर जिस चैतन्य में अध्यस्त हैं वह कूटस्थ चैतन्य साक्षी कहलाता है। यह साक्षी दोनों शरीरों का द्रष्टा है। यों तो दोनों शरीरों का अवभास करनेवाली अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं जो प्रकाशात्मक होती हैं, किन्तु ये वृत्तियाँ जड़ होने के कारण सूक्ष्म और स्थूल देह को प्रकाशित करने में असमर्थ हैं। दूसरी बात

यह है कि वृत्तियाँ समय-समय पर उदित और नष्ट होती रहती हैं। वे निरन्तर वर्त-मान 'अहं' भाव की प्रकाशक वृत्तियाँ नहीं हो सकतीं। जिस समय वृत्तियाँ नहीं रहतीं, उस समय दोनों शरीरों का प्रकाशन या ईक्षण (देखना) साक्षिचैतन्य द्वारा ही होता है, इसलिए साक्षी का मानना जरूरी है। चूँकि अहंकार आदि साक्षिचैतन्य द्वारा ही प्रकाशित होते हैं, इसलिए उनके बारे में कभी संशयादि नहीं होता। इसके विपरीत घट आदि का प्रकाशन वृत्तियों द्वारा होता है, अतः उनके बारे में सन्देह या संशय सम्भव होता है। इसके अलावा उदय और नष्ट होती हुई वृत्तियों का भान या प्रकाशन भी साक्षी द्वारा ही होता है, क्योंकि वृत्तियाँ स्वयं अपने उदय और विनाश को प्रका-शित नहीं कर सकतीं।

जिसे जीवात्मा कहते हैं वह लौकिक और वैदिक व्यवहारों का अधिष्ठाता होता है, अतः उसे साक्षी नहीं कह सकते। जीव चिदाभासविशिष्ट अहंकार रूप है, यह जीव साक्षिचैतन्य में अध्यस्त है, अर्थात् साक्षिचैतन्य जीव के अध्यास का अधिष्ठान है। सुषुप्ति की अवस्था में अहंकार आदि का अभाव रहता है, किन्तु उस दशा में भी साक्षिचैतन्य प्रकाशमान रहता है। एक अन्य मत में अन्तःकरण-विशिष्ट को जीव या प्रमाता कहते हैं और अन्तःकरण की उपाधि से युक्त को साक्षी कहते हैं। यह विभेद विशेषण और उपाधि के अन्तर पर आधारित है।

ज्ञान-मीमांसा

अद्वैत वेदान्त की ज्ञान-मीमांसा को ठीक से समझने के लिये जीव, साक्षी आदि प्रत्ययों का समझना आवश्यक था, इसलिए पहले उनका वर्णन किया गया। चूँकि आत्मा या ब्रह्म प्रमाणों का विषय नहीं है, इसलिए भी उनके वर्णन से पहले प्रमाणों का परिचय आवश्यक नहीं था।

अध्यास भाष्य के एक स्थल में शंकर ने कहा है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और समस्त शास्त्र अविद्यावाले जीव में आश्रित हैं। तात्पर्य यह है कि अन्तिम विश्लेषण में प्रमाणों का क्षेत्र अविद्यात्मक जगत् है। यहाँ यह बात देखने की है कि शंकराचार्य शास्त्रों को अविद्यामूलक जगत् के अन्दर रखते हैं। उनका अन्तिम, सुचिन्तित मत यह है कि शास्त्र तथा दूसरे प्रमाणों की उपयोगिता इससे है कि वे अविद्या का निराकरण करें। वे भावात्मक रूप में आत्मा का ज्ञान नहीं करा सकते। कोई भी प्रमाण 'यह आत्मा है' (इदन्तया), इस तरह आत्मा का संकेत नहीं कर सकता। वस्तुतः आत्म-ज्ञान का अर्थ आत्मा का स्वरूप-लाभ है जो अविद्यात्मक अध्यास के हटने से स्वतः सम्पन्न हो जाता है। यों आत्मा अप्रमेय (प्रमाणों का अविषय, उसकी पहुच परे) है।

साक्षीज्ञान और वृत्ति-ज्ञान—अद्वैत वेदान्त की ज्ञान-मीमांसा इन दो ज्ञानों के अन्तर पर आधारित है। मुख्य अर्थ में ज्ञान का तात्पर्य है साक्षिचैतन्य, अर्थात् आत्मा का निजी रूप। अद्वैत की आत्मा चैतन्य या ज्ञान-स्वरूप है। किन्तु यदि ज्ञान को इस अर्थ में लिया जाय तो 'ज्ञान उत्पन्न हुआ', 'ज्ञान सीखा', ये व्यंजनाएँ अर्थहीन हो जाएँगी, क्योंकि आत्म-चैतन्य नित्य, अपरिवर्तनीय तत्त्व है, वह न उत्पन्न होता है, न नष्ट या तिरोहित। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह वृत्ति-ज्ञान है। अद्वैत वेदान्ती छह प्रमाण मानते हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। ये सारे प्रमाण वृत्ति-ज्ञान को उत्पन्न करते हैं।

साक्षिज्ञान सुषुप्ति में भी बना रहता, वह नित्य, अखण्ड और निर्विकार है। वृत्ति-ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है।

तीन प्रकार का चैतन्य—'वेदान्तपरिभाषा' के अनुसार चैतन्य तीन प्रकार का होता है अर्थात् प्रमातृ-चैतन्य, प्रमाण-चैतन्य और विषय-चैतन्य। अन्तःकरण की उपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ-चैतन्य है, अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमाण-चैतन्य है और ज्ञान के विषय से अवच्छिन्न चैतन्य (अर्थात् वह चैतन्य जिसमें विषय का अध्यास हो रहा है) विषय चैतन्य है।

भारतीय दार्शनिकों की यह सामान्य धारणा है कि बाह्य विषय के ज्ञान की स्थिति में अन्तःकरण की वृत्ति बाहर जाकर दृश्य वस्तु से सम्पर्क करती है। यहाँ वृत्ति शब्द का अर्थ है अन्तःकरण का विकार-विशेष। उदाहरण के लिए, चाक्षुष प्रत्यक्ष में तैजस अन्तःकरण आँख के माध्यम से निकलकर घट आदि ज्ञान के विषय तक पहुँचता है और उसका आकार धारण कर लेता है। इस प्रकार **विषय के आकार के रूप में परिणत हुआ अन्तःकरण वृत्ति कहलाता है**। यह वृत्ति इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष की अपेक्षा करती है; इस अन्तःकरण की वृत्ति को उपचारवश ज्ञान कहते हैं (वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्—विवरणे)।

अन्तःकरण के वृत्ति-ज्ञान के अतिरिक्त भी परिणाम होते हैं, सुख-दुःख आदि ऐसे ही परिणाम हैं। सुख-दुःख का ज्ञान भी वृत्तियों द्वारा होता है, परन्तु उनके ज्ञान में वृत्ति को 'बाहर' नहीं जाना पड़ता। सुख-दुःख का ज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञान है, इसलिए इन्द्रिय-अर्थ सन्निकर्ष प्रत्यक्ष के लिए आवश्यक नहीं माना गया। न्याय के मत में प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय-जन्य होता है; उस दर्शन में मन को इन्द्रिय माना जाता है। अद्वैत मत में मन, बुद्धि आदि अन्तःकरण के ही नाम हैं जो उसके विभिन्न कार्यों को

प्रकट करते हैं। अन्तःकरण इन्द्रिय नहीं है। यदि इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष हो और मन को इन्द्रिय माना जाय तो अनुमिति ज्ञान भी प्रत्यक्ष हो जायगा। वृत्ति का विषयाकार हो जाना ही प्रत्यक्ष हेतु है। वेदान्त का निश्चित सिद्धान्त है कि ज्ञान निर्विषयक नहीं होता, मिथ्या ज्ञान का भी 'विषय' होता है। प्रत्यक्ष या अपरोक्ष ज्ञान में ज्ञेय वस्तु की सत्ता अवश्य होती है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि ज्ञेय वस्तु का इन्द्रियों से ही ग्रहण हो। जीव का अपना स्वयं प्रत्यक्ष होता है, परन्तु इसी कारण 'अहं प्रत्यय' को इन्द्रियों का विषय नहीं कह सकते। स्वप्न-दशा में केवल सूक्ष्म शरीर सक्रिय होता है और स्थूल शरीर से संयोग छूट जाता है। आप पूछ सकते हैं कि क्या स्वप्न-प्रत्यक्ष में भी ज्ञेय वस्तुओं की सत्ता होती है? आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि वेदान्त का उत्तर स्वीकारात्मक है। सुषुप्ति दशा में सूक्ष्म शरीर का भी साथ छूट जाता है और कारण-शरीर मात्र रह जाता है; कारण-शरीर से अभिप्राय साक्षी की अज्ञानोपाधि से है। सुषुप्ति-दशा में सूक्ष्म-शरीर या लिंग-शरीर अविद्या में लय हो जाता है। साक्षि-चैतन्य का सूक्ष्म-शरीर से सम्बन्ध होना ही जीव की सत्ता का हेतु है। सुषुप्ति-अवस्था में वस्तुतः जीव की, जो कर्ता और भोक्ता है, सत्ता नहीं रहती। उपनिषद् में लिखा है कि सब प्राणी प्रतिदिन सत् (ब्रह्म) से सम्पन्न होते हैं पर इसे जानते नहीं। सुषुप्ति में मनुष्य को, बल्कि हर प्राणी को, ब्रह्मरूपता प्राप्त हो जाती है (समाधि सुषुप्ति मुक्तिषु ब्रह्मरूपता)। अन्तःकरण के निष्क्रिय हो जाने के कारण सुषुप्ति में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता।

प्रमा की परिभाषा

प्रमा का शाब्दिक अर्थ है प्रमाणों से उत्पन्न अर्थात् सही ज्ञान। अद्वैत वेदान्त में एक प्रकार से ब्रह्म का ज्ञान ही प्रमा है। किन्तु दूसरी दृष्टि से व्यावहारिक सत्य में भी प्रमा और अप्रमा का भेद किया जाता है। प्रमा के कारण या असाधारण कारण को प्रमाण कहते हैं। यहाँ प्रमाण की परिभाषा प्रमा से सम्बद्ध कर दी गयी है। प्रमा किसे कहते हैं? मीमांसकों की भाँति अद्वैत वेदान्ती भी स्मृति-ज्ञान को प्रमा नहीं मानते, इसलिए प्रमा स्मृति से भिन्न है। प्रमा की परिभाषा यह है: अनधिगत (अज्ञात, पहले से न जाने हुए), अबाधित अर्थ-विषयक ज्ञान प्रमा है। जिस ज्ञान का विषय दूसरे ज्ञान से बाधित हो जाता है वह ज्ञान प्रमा नहीं है—वह अप्रमा है। उदाहरण के लिए, रज्जु में सर्प का ज्ञान बाद के रज्जु-ज्ञान से बाधित हो जाता है, इसलिए रज्जु में सर्प का ज्ञान अप्रमा है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि सर्प-

ज्ञान का विषय बाद में रज्जु-ज्ञान होने पर बाधित हो जाता है। जो बाद के ज्ञान से बाधित होता है वह अतात्त्विक या मिथ्या है। शंकराचार्य कहते हैं :

> सत्यमिति यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम्। यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं व्यभिचरदनृतमित्युच्यते। अतो विकारोऽनृतम्।—तै० उ० भा० 2/1
>
> एकरूपेण ह्यवस्थितोऽर्थः परमार्थः लोके तद्विषयं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमित्युच्यते यथाग्निरुष्ण इति।—ब्र० सू० भा० 2/1/11

अर्थात्—जिस पदार्थ का जिस रूप से निश्चय किया गया है उससे व्यभिचरित न होने के कारण वह सत्य कहलाता है। जिसका जो रूप निश्चित है, यदि वह रूप बदलता है तो वह अनृत हो जाता है। अतः विकार अनृत होता है।

सत्य उस पदार्थ को कहते हैं जो अपने निश्चित रूप को व्यभिचरित नहीं करता। जो अपने निश्चित रूप को व्यभिचरित करता है, अर्थात् उसका परित्याग करके दूसरा रूप धारण कर लेता है, उसे अनृत कहते हैं। इसलिए विकार को (विकृत होनेवाली वस्तु को) अनृत कहते हैं।

जो वस्तु एक रूप में अवस्थित रहती है उसे परमार्थ सत् या तात्त्विक पदार्थ कहते हैं; ऐसे पदार्थ का ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है, ऐसा लोक में समझा जाता है; जैसे इस तथ्य का ज्ञान कि 'अग्नि उष्ण है'।

अद्वैत मत में ब्रह्म या आत्मा ही पदार्थ है जो सदैव एकरूप रहता है। वही तात्त्विक है और उसका ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। अद्वैत के अनुसार ब्रह्म कूटस्थ नित्य है, वह विकारी या परिणामी नहीं है।[1] जिसमें विकार या परिणाम होता है, जैसे सांख्य की प्रकृति में, वह वास्तविक अर्थ में नित्य नहीं है, वह पारमार्थिक सत् या परमार्थ रूप में तात्त्विक भी नहीं। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार तत्त्व पदार्थ नित्य, अपरिणामी और विकारहीन है; उसका ज्ञान ही वास्तविक अर्थ में प्रमा है।

विकारी पदार्थ वास्तव में तात्त्विक नहीं होता। भ्रान्त ज्ञान का विषय रज्जु-सर्प बाद के ज्ञान से बाधित हो जाता है, इसलिए रज्जु-सर्प को मिथ्या कहते हैं।

प्रमाणों का वर्णन

प्रत्यक्ष प्रमाण—प्रत्यक्ष प्रमाण में ज्ञान के विषय का साक्षात्कार होता है। इस साक्षात्कारिता का क्या अर्थ है? ऊपर हम बतला चुके हैं कि अद्वैत वेदान्ती

---

1. दे० भामती, 1/1/4 पर। परिणामिनित्यता हि न पारमार्थिकी। इदन्तु पारमार्थिकं कूटस्थं नित्यम्।

प्रमातृ-चैतन्य और विषय-चैतन्य में भेद करते हैं। अन्तःकरण की वृत्ति इन्द्रिय-विशेष के रास्ते से चलकर विषय (प्रत्यक्ष के विषय) से सम्पर्क करती है। यह वृत्ति सत्त्व-प्रधान होती है और विषय का आवरण करनेवाले अज्ञान को हटा देती है। वृत्ति की मध्यस्थता से विषयावच्छिन्न चैतन्य या विषय-चैतन्य और प्रमातृ-चैतन्य में तादात्म्य स्थापित हो जाता है। इसके फलस्वरूप विषय की सत्ता प्रमातृ-चैतन्य से अलग नहीं रह जाती और उस विषय का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार घट आदि विषय का प्रत्यक्ष होने का अर्थ है उसका प्रमाता से अभिन्न बन जाना। इस अभिन्नता का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि विषय और प्रमाता एक हो जाते हैं; इसका मतलब सिर्फ यह है कि विषय की सत्ता प्रमाता की सत्ता से अलग नहीं रह जाती।

सारांश अर्थ यह है कि विषय की प्रत्यक्षता का अर्थ है उस विषय का (घट का) अपने आकारवाली वृत्ति की उपाधिवाले प्रमातृ-चैतन्य की सत्ता से पृथक् सत्ता-वाला न रह जाना। यहाँ एक बात और कह देनी चाहिए कि प्रत्यक्ष के लिए विषय में खास तरह की योग्यता भी अपेक्षित है। योग्यता न होने के कारण धर्म, अधर्म आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता, जबकि सुख-दुःख का प्रत्यक्ष होता है। (दे० वेदान्त परिभाषा)

अन्तःकरण और उसके धर्म केवल साक्षी के विषय हैं। उनके प्रत्यक्ष में किसी इन्द्रिय की जरूरत नहीं पड़ती—स्वयं अन्तःकरण, जिसका व्यापार-विशेष के कारण मन भी एक नाम है; इन्द्रिय नहीं है। किसी इन्द्रिय अथवा अनुमान आदि प्रमाण के व्यापार के बिना साक्षी का विषय होना ही केवल साक्षी द्वारा वेद्य या ज्ञेय होना है। अहं के आकारवाली अन्तःकरण की वृत्ति भी होती है; इस वृत्ति के द्वारा साक्षी अहं-कारास्पद जीव का प्रत्यक्ष करता है।

प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है, सविकल्पक और निर्विकल्पक। सविकल्पक ज्ञान वैशिष्ट्य का अवगाहन करनेवाला ज्ञान होता है। वैशिष्ट्य का अर्थ है सम्बन्धमूलक विशेषता। घट के सविकल्पक ज्ञान का अर्थ है घट को उसके अनुयोगी अथवा प्रतियोगी से सम्बद्ध करके जानना। घट का प्रतियोगी घटाभाव है, घट अपने अभाव का अनु-योगी है। इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान सम्बन्धमूलक होता है। सम्बन्ध या संसर्ग की अवगति से शून्य ज्ञान, अर्थात् वस्तु के स्वरूप मात्र का ज्ञान, निर्विकल्पक ज्ञान है।

अद्वैत वेदान्ती मानते हैं कि वाक्य या शब्द से भी प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। कहा जा चुका है कि विषय की प्रत्यक्षता का अर्थ विषय-चैतन्य की प्रमातृ-चैतन्य (अथवा प्रमाण-चैतन्य) से अभिन्नता है। 'यह वही देवदत्त है' यह वाक्य देवदत्त का

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष करता है। यहाँ चूँकि ज्ञान का विषय निकट है, इसलिए माना जाता है कि अन्तःकरण की वृत्ति बाहर जाती है। इस प्रकार वेदान्त (विषय) से अवच्छिन्न चैतन्य उस वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न हो जाता है और इस प्रकार देवदत्त का प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' जैसे महावाक्यों से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। वहाँ ज्ञान का विषय प्रमाता स्वयं होता है, इसलिए विषय-चैतन्य और प्रमातृ-चैतन्य की अभिन्नता घटित हो जाती है। यही 'तत्त्वमसि' आदि का अखंडार्थत्व है। ये वाक्य आत्मतत्त्व का संसर्ग अनवगाही (अर्थात् सम्बन्ध-विरहित, स्वरूपावगाही) यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करते हैं।

ऊपर साक्षी का उल्लेख हुआ है। यहाँ ईश्वर-साक्षी और जीव-साक्षी में अन्तर करना चाहिए। अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते हैं, अन्तःकरण से उपहित चैतन्य को जीव-साक्षी कहते हैं। प्रत्येक शरीर में अलग जीव और जीव-साक्षी होता है। माया से उपहित चैतन्य को ईश्वर-साक्षी कहते हैं। ईश्वर-साक्षी एक ही है, क्योंकि उसकी उपाधिभूत माया एक है। इस प्रकार साक्षी दो प्रकार का होने से प्रत्यक्ष ज्ञान भी दो प्रकार का होता है, अर्थात् ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान और जीव का प्रत्यक्ष ज्ञान।

अनुमान प्रमाण—अद्वैत वेदान्त के अनुमान-निरूपण की दो विशेषताएँ लक्षित करने योग्य हैं। प्रश्न है, अनुमान और प्रत्यक्ष में क्या भेद है? अनुमेय पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि वहाँ विषय-चैतन्य और प्रमातृ-चैतन्य में प्रमाण-चैतन्य की मध्यस्थता से, अभिन्नता स्थापित नहीं होती। इस प्रकार अनुमिति ज्ञान से प्रत्यक्षत्व नहीं होता। दूसरे, अद्वैतियों के अनुसार न्याय-वाक्य में पाँच अवयव होना जरूरी है, शुरू के तीन अवयव (प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण) अथवा अन्त के तीन अवयव (उदाहरण, उपनय और निगमन) पर्याप्त हैं। तीन अवयवों से व्याप्ति और पक्षधर्मता का ठीक ठीक प्रदर्शन हो जाता है। तीसरे, अद्वैत वेदान्ती एक ही प्रकार का अनुमान मानते हैं, नैयायिकों की भाँति तीन प्रकार का नहीं। नैयायिक लोग केवलान्वयी और केवल व्यतिरेकी अनुमान भी स्वीकार करते हैं जो वेदान्तियों को ग्राह्य नहीं है। व्याप्ति का आधार हेतु और साध्य का सहचार-दर्शन और व्यभिचार का अदर्शन है। यह व्याप्ति ही अनुमान का आधार है। सहचार-दर्शन एक बार हुआ या अनेक बार, यह महत्त्वपूर्ण नहीं। इस प्रकार अनुमान में अन्वय व्याप्ति ही मुख्य होती है।

उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि प्रमाणों का विवरण न्याय और मीमांसा के प्रकरणों में देखना चाहिए। यहाँ विस्तार-भय से हम इसके सम्बन्ध में विवेचन नहीं करेंगे। अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से शब्द-प्रमाण अधिक महत्त्वपूर्ण है।

शब्द-प्रमाण

नैयायिकों के अनुसार वाक्यजन्य ज्ञान में आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि, ये तीन हेतु होते हैं। वेदान्त-परिभाषा इनमें तात्पर्य ज्ञान पर और जोर देती है। आकांक्षा से तात्पर्य है शब्दों को पारस्परिक अपेक्षा। जैसे 'गऊ, घोड़ा, मनुष्य' यह शब्दों का जमघट अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकता, क्योंकि इन शब्दों में परस्पर आकांक्षा नहीं है। 'गऊ जाती है' यह वाक्य सार्थक है, क्योंकि यहाँ विभिन्न पद परस्पर आकांक्षा की पूर्ति करते हैं। 'आग से सींचे' इस वाक्य में योग्यता का अभाव है, क्योंकि यहाँ अर्थ बाधित है। ऐसा वाक्य प्रमाण नहीं होता। इसी प्रकार वाक्य के घटक पदों का कालक्रम से पास पास उच्चारण अर्थ-ज्ञान के लिए आवश्यक है। यदि कोई सुबह में कहे 'मुझे', दोपहर में 'रोटी' और शाम को 'चाहिए', तो उक्त तीनों पदों से अर्थ-ज्ञान नहीं होगा।

वाक्य-ज्ञान का चौथा हेतु तात्पर्य है। जिस वाक्य में जिस प्रतीति को उत्पन्न करने की योग्यता है वह उस वाक्य का तात्पर्य कहलाता है। जैसे 'घर में घड़ा है' यह वाक्य घट सम्बन्धी प्रतीति को उत्पन्न करने की योग्यता रखता है, न कि घर सम्बन्धी प्रतीति को। यहाँ वाक्य-बोध की एक शर्त यह भी है कि वाक्य का उच्चारण किसी दूसरी इच्छा से न हुआ हो। सैन्धव शब्द के दो अर्थ हैं, नमक और घोड़ा-विशेष। भोजन के समय 'सैन्धव लाओ' इस वाक्य का अर्थ 'नमक लाओ' ही हो सकता है। भोजन के समय उक्त वाक्य का उच्चारण लवण (नमक) से भिन्न अश्व की प्रतीति की इच्छा से नहीं किया जाता, इसलिए वह अश्व का अर्थ नहीं देता। इस प्रकार तात्पर्य के विधिमूलक और निषेधमूलक दो पक्ष हो जाते हैं।

अभिधा और लक्षणा

वाक्यार्थ दो प्रकार का होता है, शक्य और लक्ष्य। वाक्य के पदों की अपने अर्थों में जो मुख्य वृत्ति होती है उसे शक्ति कहते हैं। उदाहरण के लिए 'घट' पद एक खास तरह की शक्लवाले पदार्थ को संकेतित करने की शक्ति रखता है। जहाँ वाक्य का शक्यार्थ या अभिधेय अर्थ बाधित होता है वहाँ उसका अर्थ लक्षणा द्वारा जाना जाता है। उदाहरण के लिए, जब हम कहते हैं कि 'माणवक सिंह है' तो हमारा तात्पर्य यह नहीं होता कि माणवक नाम का व्यक्ति सिंह पशु है, हमारा तात्पर्य यह कथन होता है कि माणवक सिंह की भाँति विक्रमशाली या बहादुर है। यह दूसरा अर्थ लक्षणा से प्राप्त होता है।

महावाक्यों का अर्थ—अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव और ब्रह्म एक ही हैं। किन्तु अनुभव में जीव सीमित, दुःखी आदि होता है और श्रुतियों के अनुसार ब्रह्म असीम और आनन्द-रूप हैं। प्रश्न है, ऐसी दशा में 'मैं ब्रह्म हूँ', 'यह आत्मा ब्रह्म है', 'वह (ब्रह्म) तू है', आदि श्रुति-वाक्यों का, जो जीव और ब्रह्म की एकता घोषित करते हैं, अर्थ-ग्रहण कैसे हो सकता ? इसके उत्तर में वेदान्तियों का कहना है कि उक्त श्रुति-वाक्यों का अभिप्राय लक्षणा से जाना जा सकता है। जहाँ शब्दों का वाच्यार्थ लेने से वाक्य का अर्थ न बनता हो वहाँ उनका अर्थ लक्षणा से जाना जाता है (तात्पर्यानुत्पत्तिर्लक्षणा बीजम्)। लक्षणा के तीन भेद हैं, अर्थात् जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा। पहली दो को जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था भी कहते हैं, तीसरी इन्हीं दो का मेल है।

जहत्स्वार्था—'गंगा में गाँव है', इस वाक्य का वाच्यार्थ विरोध-ग्रस्त है। गंगा-प्रवाह में गाँव की स्थिति सम्भव नहीं है। इसलिए उक्त वाक्य का 'गंगा के तट पर गाँव है' यह अर्थ करना चाहिए। यहाँ गंगा शब्द का वाच्यार्थ छोड़ देना पड़ा, इसलिए इसे जहत्स्वार्था लक्षणा का उदाहरण कहेंगे। जहत् का अर्थ है त्यागता हुआ या त्यागती हुई, जहत्स्वार्था का मतलब हुआ अपने अर्थ को छोड़ती हुई।

अजहत्स्वार्था या अजहल्लक्षणा—इस लक्षणा में भी वाच्यार्थ में परिवर्तन करना पड़ता है, परन्तु वाच्यार्थ को सर्वथा छोड़ नहीं दिया जाता। 'शोणो गच्छति' अर्थात् शोण जाता है, इस वाक्य में शोण का वाच्यार्थ 'लाल' है। परन्तु इतने से काम नहीं चलता, इसलिए 'शोण' में लक्षणा करनी पड़ती है। शोण का लक्षितार्थ हुआ 'लाल रंग का घोड़ा'। इस प्रकार शब्दार्थ या वाच्यार्थ का परित्याग नहीं हुआ, क्योंकि घोड़े का रंग लाल है। शोण का अर्थ लक्षणा की सहायता से 'शोणत्व' या लालिमा-विशिष्ट अश्व द्रव्य हो गया, जिससे वाक्य सार्थक प्रतीत होने लगा।

जहदजहल्लक्षणा—इस लक्षणा में वाच्यार्थ का एक अंश छोड़ना पड़ता है और एक अंश का ग्रहण होता है। इस प्रकार इसमें जहती और अजहती दोनों के गुण वर्तमान हैं। 'जिस देवदत्त को मैंने काशी में देखा था उसी को अब मथुरा में देखता हूँ', यहाँ काशीस्थ देवदत्त और मथुरा-स्थित देवदत्त की एकता का कथन है। परन्तु पहले देवदत्त और दूसरे देवदत्त के देश-काल में भेद है। पहली बार जब देवदत्त को देखा था तो वह एक देश और समय में था, अब वह दूसरे स्थान और काल में है। दोनों देवदत्तों की एकता तभी समझ में आ सकती है जब हम दोनों में से देश-काल के विशेषण हटा लें। इस प्रकार **'तत्कालीन'** और **'एतत्कालीन'** तथा **'काशीस्थ'** और

'मथुरास्थ' की विशेषताओं को वाच्यार्थ में से हटा देना पड़ता है। शेष वाच्यार्थ ज्यों का त्यों रहता है और दो देवदत्तों की एकता समझ में आ जाती है।

वेदान्तियों का कथन है कि जीव और ब्रह्म की एकता बतलानेवाले महावाक्यों का अर्थ भी इसी प्रकार, जहदजहल्लक्षणा से, समझ में आ सकता है। 'जीव' और 'ब्रह्म', 'त्वम्' और 'तत्' के वाच्यार्थ में से उन गुणों को घटा देना चाहिए जो दोनों में तुल्य नहीं हैं। प्रत्यक्त्व अथवा चैतन्य गुण जीव और ब्रह्म दोनों में समान हैं। इस प्रकार उनकी एकता हृदयंगम हो सकती है।

स्वतःप्रामाण्य—मीमांसकों की भाँति अद्वैत वेदान्ती भी स्वतःप्रामाण्यवाद के समर्थक हैं। नैयायिक मत में ज्ञान की प्रामाणिकता का बोध उसकी व्यावहारिक सफलता से होता है। प्रमा अथवा प्रामाणिक ज्ञान का लक्षण यह है कि वह वस्तु या यथार्थ के अनुरूप होता है, किन्तु उसकी सत्यता या प्रामाणिकता का बोध उसकी व्यावहारिक सफलता से अनुमित होता है। (प्रामाण्यं हि समर्थप्रवृत्तिजनकत्वादनुमेयम् —न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका, 1/1/1)। इसके विपरीत अद्वैत वेदान्ती जहाँ एक ओर ज्ञान को स्वयंप्रकाश मानते हैं वहाँ दूसरी ओर उसे स्वतःप्रमाणित या स्वतःप्रमाण भी घोषित करते हैं। परतःप्रामाण्यवाद के विरुद्ध सबसे बड़ा तर्क यह है कि यदि ज्ञान-विशेष का प्रामाण्य किसी दूसरे ज्ञान पर निर्भर करता है (फिर चाहे वह दूसरा ज्ञान प्रथम ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले कारणों की निर्दोषता का ज्ञान हो, अथवा उस ज्ञान पर आधारित कर्म की सफलता का), तो उस दूसरे ज्ञान के प्रामाण्य के निश्चय के लिए तीसरे ज्ञान की आवश्यकता होगी और तीसरे ज्ञान के प्रामाण्य के निश्चय के लिए चौथे ज्ञान की, इसी प्रकार आगे भी। इस तरह परतःप्रामाण्यवाद का सिद्धांत हमें अनवस्था में फँसा देता है। अनवस्था से बचने के लिए किसी न किसी ज्ञान को अवश्य ही स्वतःप्रमाण मानना पड़ेगा।

अनिर्वचनीय ख्याति—अद्वैत वेदान्त द्वारा दी गयी भ्रम की व्याख्या अनिर्वचनीय ख्याति कहलाती है। भारतीय दर्शन में प्रायः हर सम्प्रदाय ने भ्रम की निजी निराली व्याख्या दी है। प्रश्न है, रज्जु में जो सर्प दिखायी देता है, उसका क्या कारण होता है? रज्जु-सर्प की तात्त्विक स्थिति क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में रामानुज ने सत्ख्याति का, मीमांसकों के एक सम्प्रदाय ने अख्याति का, विज्ञानवादियों ने आत्मख्याति का और नैयायिकों ने अन्यथाख्याति का प्रतिपादन किया। अद्वैत वेदान्त इन सब ख्यातियों का खण्डन करके अपनी अनिर्वचनीय ख्याति का प्रतिपादन करता है।

सत्‌ख्याति के समर्थक विशिष्टाद्वैती कहते हैं कि हमारा सारा अनुभव और ज्ञान सही होता है, एवं अनुभव का हर विषय सत् होता है। उपनिषदों में त्रिवृत्करण का उल्लेख है, उसी का दूसरा रूप पंचीकरण का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी, जल आदि सभी भौतिक पदार्थों में सब महाभूतों का मेल रहता है। एक महाभूत की अधिकता के कारण पृथ्वी, जल आदि का नाम दिया जाता है। उदाहरण के लिए, जिसे हम पृथ्वी कहते हैं, उनमें 50 प्रतिशत अंश पृथ्वी का है और $12\frac{1}{2}$ प्रतिशत अंश अन्य महाभूतों का। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में दूसरी वस्तुओं का भी अंश है; शुक्ति (सीपी) में रजत के घटक तत्त्वों का अंश है और रज्जु में सर्प के विधायक तत्त्वों का। जिसे हम भ्रान्त ज्ञान कहते हैं, उसमें दोषवश सम्मुख उपस्थित वस्तु के कुछ तत्त्वों का भाग होता है और कुछ का नहीं। मनोगत लोभ या भय के कारण हमें सीपी में रजत अंश दीखता है और रज्जु में सर्प अंश। यह सिद्धान्त भ्रम की व्याख्या न करके उसी भ्रान्तता को उड़ा देता है। सत्ख्याति स्वप्नों में होनेवाले भ्रम-ज्ञान की व्याख्या एकदम ही नहीं कर पाती। रामानुज कहते हैं कि हाथी, घोड़े आदि पदार्थ वास्तव में उपस्थित होते हैं। जीव को उसके कर्म के अनुसार अच्छी-बुरी चीजें दिखाई देती हैं; इन चीजों की सृष्टि ईश्वर करता है। यह व्याख्या स्पष्ट ही विश्वसनीय नहीं। पित्त के रोगी को शंख पीला दिखायी देता है। यदि यह माना जाय कि रोगी की आँखों का पीलापन शंख में पहुँच जाता है तो दूसरे लोगों को भी शंख पीला दीखना चाहिए।

अख्याति के अनुसार भ्रम-ज्ञान वस्तुतः दो ज्ञानों का मिश्रण होता है, एक साक्षात् अनुभव और दूसरा स्मृति-ज्ञान। शुक्ति में रजत के भ्रम में हमें सामने एक सफेद चमकती वस्तु का अनुभव होता है, किन्तु उस वस्तु की जाति का ज्ञान नहीं होता। समानता के कारण सामने की वस्तु हममें रजत की स्मृति जगाती है—रजत के संस्कार पहले से ही हमारे मन में होते हैं। किन्तु रजत के इस अनुभव में 'इसे पहले, अतीत में, देखा था' यह भाव नहीं होता। पहले का देखा हुआ अपने को सिर्फ दृश्यवान वस्तु के रूप में उपस्थित करता है। इस प्रकार भ्रम-ज्ञान में दो अनुभव रहते हैं जिनका भेद-ग्रहण दर्शक नहीं करता है। तात्पर्य यह कि भ्रम का कारण दो ज्ञानों के भेद का **अग्रहण** या **अख्याति** है।

इस व्याख्या में सबसे बड़ा दोष यह है कि वह **अग्रहण** को रजत को उठाने के लिए बढ़ने की क्रिया का कारण कथित करती है। किन्तु कर्म या क्रिया का कारण **भावात्मक ज्ञान** होना चाहिए न कि भेद का अग्रहण। इसलिए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि दर्शक पहले शुक्ति में रजत का आरोप करता है, फिर रजत को उठाने के लिए हाथ बढ़ाता है।

अन्यथाख्याति—यह नैयायिकों का सिद्धान्त है। इसके अनुसार भ्रान्त ज्ञान की व्याख्या इस प्रकार है : शुक्ति की उपस्थिति में दोषवश दर्शक सामनेवाली वस्तु के सामान्य गुणों का अनुभव करता है, पर उसके विशिष्ट भेदक गुणों को नहीं देखता। ये सामान्य विशेषताएँ किसी दूसरी चीज (रजत) से सम्बन्धित होती हैं और उस वस्तु की स्मृति जगाती हैं। इन स्मृति-चित्रों द्वारा हमारी इन्द्रिय और दूसरी वस्तु (रजत) के बीच एक प्रकार का अलौकिक सन्निकर्ष—ज्ञान-लक्षण सन्निकर्ष—स्थापित हो जाता है। जिस रजत से आँख का अलौकिक सन्निकर्ष होता है उसे सामने मौजूद वस्तु से जोड़ दिया जाता है। ज्ञान-लक्षण सन्निकर्ष से जो रजत देखा जाता है वह वस्तुतः दूसरी जगह होता है, किन्तु उसे सामने की वस्तु में संस्थित कर दिया जाता है।

इस व्याख्या में सबसे बड़ा दोष यह है कि वह अन्यत्र देखे हुए रजत को भ्रम-ज्ञान का विषय मान लेती है। लेकिन हमारा ज्ञान यह होता है कि रजत सामने है, न कि यह कि रजत अन्यत्र है। उक्त व्याख्या रजत के सामने होने के अनुभव को नहीं समझा पाती। ज्ञान-लक्षण सन्निकर्ष भी ग्राह्य सिद्धान्त नहीं है, उसमें कल्पना-गौरव है।

आत्मख्याति के समर्थक विज्ञानवादी का कहना है कि रजत का प्रत्यय वस्तुतः मन के भीतर होता है, भ्रमवश हम रजत को बाहर देखते हैं। किन्तु हमारा अनुभव यह है कि रजत बाहर और सामने दिखाई देता है। आत्मख्याति अनुभव के इन तत्त्वों की ठीक व्याख्या नहीं देती।

अनिर्वचनीय ख्याति—अद्वैत वेदान्त भ्रम की अपनी व्याख्या देता है, जिसे अनिर्वचनीय ख्याति कहते हैं। भ्रम में जो पदार्थ दीखता है उसे हम न सत् कह सकते हैं, न असत्। वह स्मृत पदार्थ भी नहीं है। भ्रम में जो वस्तु दीखती है वह अनि-र्वचनीय होती है, वह हमारे सामने मौजूद होती है, वह वस्तुतः अविद्या की सृष्टि या आरोप (अध्यास) का कार्य होती है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार भ्रान्त ज्ञान या भ्रम निर्विषयक या विषयहीन नहीं होता। भ्रान्त ज्ञान का भी विषय होता है। स्वप्न में भी ज्ञान के विषय रहते हैं। ये विषय-वस्तुएँ सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय होती हैं। वे अज्ञान या अविद्या का कार्य होती हैं। भ्रान्त ज्ञान का विषय स्मृति के विषय से इस बात में भिन्न होता है कि वह हमें सामने दिखाई देता है, जबकि स्मृति का विषय अतीत अनुभव से सम्बद्ध होता है।

जब भ्रम दूर होता है तो हमें यह ज्ञान होता है कि यह रजत नहीं है; यह

ज्ञान नहीं होता कि भ्रान्त ज्ञान का विषय रजत किसी दूसरी जगह है, जैसा अन्यथा-ख्यातिवादी मानते हैं।

मोक्ष सिद्धान्त

भारतीय दर्शनों में, विशेषतः छह आस्तिक दर्शनों और जैन मत में, मोक्ष का अर्थ आत्मलाभ है, अर्थात् आत्मा की अपने निजी स्वरूप में अवस्थिति। इसका तात्पर्य यह है कि मोक्ष-प्राप्ति का अर्थ किसी विशेष स्थान में पहुँचना या किसी विशिष्ट पदार्थ से योग होना नहीं है। न्याय दर्शन में व्यक्तिगत आत्माओं से भिन्न ईश्वर की सत्ता मानी जाती है, किन्तु **वहाँ भी मोक्ष का अर्थ ईश्वर-प्राप्ति नहीं है**। सांख्य योग में मोक्ष को कैवल्य नाम से अभिहित किया जाता है। इसका तात्पर्य है, आत्मा या पुरुष की **अपने स्वरूप में अवस्थिति**। अद्वैत वेदान्त का मन्तव्य सांख्य के विशेष निकट है। अद्वैत में मुक्ति के कई पर्याय हैं—आत्मलाभ, आत्मज्ञान, अविद्यानिवृत्ति, किन्तु इन सबका तात्पर्य एक ही है। **अविद्या के कारण** आत्मा में अनात्मा का अध्यास होता है, जिससे सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मतत्त्व सीमित, दुःखी, कर्ता और भोक्ता दिखाई पड़ता है। **इस अध्यास का निराकरण ही मोक्ष है।**

शांकर के मत में मोक्ष का साक्षात् कारण ज्ञान है। **क्योंकि** मोक्ष आत्मा का निजी स्वरूप है, इसलिए वह नित्य-पदार्थ है। **नित्य-पदार्थ किसी क्रिया का कार्य नहीं होता, इसलिए मोक्ष कर्म द्वारा साध्य नहीं है।** यही कारण है कि शंकर ज्ञानकर्म-समुच्चयवाद का घोर विरोध करते हैं।

किन्तु मोक्ष **ज्ञान-साध्य है या ज्ञान-रूप है**, इसका यह मतलब नहीं कि शंकर कर्म, ध्यान, उपासना आदि को महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी नहीं मानते। प्रकारान्तर से ये सब चित्त-शुद्धि के साधन हैं, शुद्ध चित्त ही 'ज्ञान'-प्राप्ति के योग्य होता है।

मोक्ष की परिभाषा—शंकर के अनुसार आत्मा की अपने स्वरूप में अवस्थिति ही मोक्ष है।[1] दूसरी परिभाषा यह है कि अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है, वही ब्रह्म-प्राप्ति है। मोक्ष और अविद्या-निवृत्ति एक ही है।[2] वास्तव में अद्वैत मत में आत्मज्ञान ही आत्मा का लाभ है। यहाँ ज्ञान और ज्ञाता में भेद नहीं है, **क्योंकि आत्मा ज्ञान-स्वरूप ही है।** आत्म-प्राप्ति का ही दूसरा नाम ब्रह्म-प्राप्ति है।

---

1. स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः।—तै० उ० भा०, 1/11
2. अविद्यापगमयात्रत्वात् ब्रह्मप्राप्तिफलस्य।—बृ० उ० भा०, 1/4/10
   फलं च मोक्षोऽविद्यानिवृत्तिर्वा।—वही, 1/4/7

अज्ञान या अविद्या आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है। भारतीय दार्शनिक, विशेषतः माध्यमिक, सांख्य और वेदान्त, यह मानते हैं कि किसी वस्तु के स्वाभाविक धर्म का उच्छेद नहीं हो सकता। यदि अविद्या या अज्ञान को आत्मा का स्वाभाविक धर्म माना जाय तो उसका कभी निराकरण न हो सकेगा। अग्नि की उष्णता को कभी उससे अलग नहीं किया जा सकता। इसलिए अद्वैत में बंधन को यथार्थ या वास्तविक नहीं माना जाता। सांख्य और वेदान्त दोनों में आत्मा का बन्धन वास्तविक नहीं है, वेदान्ती उसे अविद्यात्मक या अध्यास-रूप मानते हैं। आत्मा अपने वास्तविक रूप में असीम, नित्य और आनन्दमय है, उसमें सीमा या परिच्छिन्नता, अनित्यता, दुःखरूपता आदि की प्रतीति अज्ञान के कारण है। अविद्यात्मक बन्धन की ही ज्ञान द्वारा निवृत्ति हो सकती है। बात यह कि ज्ञान किसी वास्तविक वस्तु का निराकरण नहीं कर सकता।

मोक्ष का अर्थ आत्मा द्वारा किसी दूसरे रूप की प्राप्ति भी नहीं है—मोक्ष भावान्तर-प्राप्ति नहीं हो सकती। वैसा मानने पर उपनिषद् का यह सिद्धान्त कि आत्मा एकरूप है, निर्विकार है, खण्डित हो जायगा।

शंकराचार्य इस सिद्धान्त के घोर विरोधी हैं कि मोक्ष की प्राप्ति कर्म से या ज्ञान-कर्म-समुच्चय से हो सकती है। कर्म से निष्पन्न होनेवाला कोई पदार्थ नित्य नहीं होता, जबकि मोक्षावस्था नित्य है।[1]

जैसा पहले कहा जा चुका है, आत्मा ज्ञान का विषय नहीं है; कोई भी ज्ञान आत्मा को 'इदन्तया' (यह है) इस भाँति नहीं बतलाता। इसलिए शंकर मानते हैं कि ज्ञान का कार्य अविद्या-निवृत्ति मात्र है। इसी अर्थ में मोक्ष को ज्ञान का कार्य कहा जाता है।[2]

मोक्ष कर्म द्वारा साध्य या कर्म का कार्य नहीं। कोई भी क्रिया या कार्य चार प्रकार का ही हो सकता है—उत्पाद्य, आप्य, संस्कार्य और विकार्य। मोक्ष इस तरह के किसी कार्य के अन्तर्गत नहीं आता। चूँकि मोक्ष आत्मा का स्वरूप ही है—आत्मा की स्व-रूप में अवस्थिति है—और आत्मा नित्य है, इसलिए यह कहना गलत है कि मोक्ष की उत्पत्ति होती है। इसी तरह मोक्ष का अर्थ कहीं पहुँचना, किसी दूरगत वस्तु की प्राप्ति भी नहीं है। चूँकि आत्मा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव है, इसलिए

---

1. नहि क्रियानिर्वृत्तोऽर्थो नित्यो दृष्टः। नित्यश्च मोक्षोऽभ्युपगम्यते ॥—वही, 4/4/6
2. अज्ञानव्यवधाननिवर्तकत्वाज्ज्ञानस्य, मोक्षो ज्ञानकार्यमित्युच्यते।—वही, 3/2/13

उसे किसी संस्कार की अपेक्षा नहीं है। संस्कार का अर्थ होता है किसी नये गुण का उत्पादन या किसी दोष का अपनयन (हटाना); आत्मा में ये दोनों चीजें अपेक्षित नहीं हैं। नित्य होने के कारण आत्मा में किसी विकार की भी सम्भावना नहीं है, इसलिए मोक्ष विकार्य-रूप कार्य भी नहीं है। चूँकि मोक्ष कार्य नहीं है, इसलिए उसे किसी क्रिया या कर्म का फल नहीं कह सकते।[1]

इसीलिए शंकर ने पहले सूत्र के भाष्य में इस मत का खण्डन किया है कि ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व कर्म-जिज्ञासा या कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है।

अद्वैत वेदान्त (सांख्य की भाँति) जीवन्मुक्ति को भी स्वीकार करता है। वास्तव में मुक्ति का अर्थ है संसार से सम्बन्ध-विच्छेद (संसारित्व का अभाव)। हमारा संसार से सम्बन्ध तभी तक है जब तक हम आत्मा में अनात्मा का और अनात्मा में आत्मा का अध्यास करते हैं। यह अध्यास की मिथ्या प्रत्यय या अज्ञान है। इसी के कारण हम अपने को शरीर, इन्द्रियों आदि से एक करके देखते हैं। उक्त मिथ्या प्रत्यय के हट जाने पर ब्रह्मवेत्ता पुरुष जीते हुए भी, शरीर से संयुक्त रहते हुए भी, वास्तव में अशरीरी होता है।[2] वह अपने को शरीर, मन, चित्त आदि से एक करके नहीं देखता और उनके सुख-दुःख, हानि-लाभ से प्रभावित नहीं होता। वह वस्तुतः गीता का स्थितप्रज्ञ बन जाता है। स्थितप्रज्ञ संसार के सुख-दुःख, हानि-लाभ, निन्दा-स्तुति से विचलित नहीं होता। वह सदैव शान्त रहता है, यानी आत्माराम। यह स्थिति ही मोक्ष है।

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, सब प्रकार का कर्म, नैतिक आचार, योग, ध्यान आदि चित्त-शुद्धि के उपाय हैं। चित्त-शुद्धि के बिना ज्ञान सम्भव नहीं है, इसीलिए सब प्रकार के कर्मों की उपयोगिता है। शंकर कहते हैं, कि कर्म विशुद्धि या चित्त-शुद्धि का कारण है। जिन्होंने अपने को कर्म द्वारा संस्कृत और शुद्ध बना लिया है, वे ही विघ्नों को हटाकर उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित आत्मतत्त्व को जान सकते हैं। कहा भी गया है कि पाप कर्मों के क्षय से मनुष्य को ज्ञान होता है। विद्या या

1. दे० ब्रह्मसूत्रभाष्य, 1/1/4
   तु० की०—उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम्।
   नेदं मुक्तिर्यतस्तस्मात्कर्म तस्या न कारणम्।।—नैष्कर्म्यसिद्धि, 1/53
2. तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात्सशरीरत्वस्य, सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम्।
   —ब्र० सू० भा०, 1/1/4

ज्ञान जब उत्पन्न हो जाता है तब वह फल की सिद्धि यानी मोक्ष के लिए किसी दूसरी चीज की अपेक्षा नहीं करता—ज्ञान तुरन्त ही मोक्ष-लाभ कराता है। किन्तु अपनी उत्पत्ति के लिए ज्ञान कर्म की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार काम्य कर्मों को छोड़कर बाकी सब तरह के कर्म आत्मज्ञान की उत्पत्ति का हेतु बनते हुए मोक्ष का साधन होते हैं।[1]

इस प्रकार यह कहना गलत है कि अद्वैत वेदान्त लौकिक कर्म को कोई महत्त्व नहीं देता। अद्वैत सिद्धान्त सकाम कर्मों के त्याग और निष्काम कर्म के अनुष्ठान का उपदेश करता है। यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। मीमांसा दर्शन में यज्ञ आदि कर्मों के अनुष्ठान पर विशेष बल दिया गया है। कर्म का दूसरा अर्थ वर्णाश्रम-धर्म का पालन है। अद्वैत वेदान्त इस तरह के कर्मों को विशेष महत्त्व नहीं देता। भारतीय दर्शन में कर्म-संन्यास से मतलब प्रायः उक्त कर्मों के परित्याग से होता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि साधक या ज्ञानी पुरुष को सदाचार के सार्वभौम नियमों का पालन न करने की छूट है। वास्तव में सब प्रकार के अधर्म-कार्यों का स्रोत मनुष्य की अपने व्यक्तित्व में आसक्ति या स्वार्थ-भावना होती है। चूँकि ज्ञानी मनुष्य में स्वार्थ-भावना नहीं रहती, इसलिए उसके द्वारा किसी तरह के पाप करने का सवाल ही नहीं उठता। संन्यास ग्रहण करनेवाला ज्ञानी स्वभावतः सदाचारी, कारुणिक और पर-हित-साधक होता है। गीता की भाषा में वह समदृष्टि और सब प्राणियों के हित में रत होता है। अतः ओटो जैसे वे योरोपीय विद्वान्, जो अद्वैत वेदान्त को नैतिकता का विरोधी या उसकी उपेक्षा करनेवाला प्रदर्शित करते हैं, वास्तव में उसके प्रति भ्रान्त धारणा रखते हैं। इस सम्बन्ध में पाठकों को मनुस्मृति के बारहवें अध्याय का अनुशीलन करना चाहिए जहाँ संन्यासी की उदात्त नैतिकता का विशद वर्णन है।

अन्य मतों का खण्डन

सांख्य का खण्डन—अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य के दूसरे अध्याय के शुरू के दो पादों में, जिन्हें तर्कपाद कहते हैं, शंकराचार्य ने सांख्य आदि अन्य हिन्दू दर्शनों तथा जैन-बौद्ध-दर्शनों का खण्डन किया है। पहले पाद में प्रायः सांख्य दर्शन का खण्डन है। सांख्य दर्शन प्रकृति को जगत् का कारण मानता है, ब्रह्म को नहीं। वस्तुतः सांख्य में

---

1. दे० शंकरसिद्धान्तसंग्रह संपादक न० कि० देवराज तथा नी० हिरेमठ, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1971, पृ० 113

ब्रह्म या ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है। उक्त दर्शनों के समर्थकों ने ब्रह्मकारणवाद का खण्डन किया है। ब्रह्म चेतन-तत्त्व है, वह जड़ जगत् का कारण ही नहीं हो सकता। इसके उत्तर में शंकर का कहना है कि सजीव शरीर से नख, केश आदि जड़ वस्तुएँ पैदा होती हैं। कारण और कार्य सब बातों में समान नहीं होते, वे कुछ दृष्टियों से विलक्षण होते हैं। अतः सांख्य की आपत्ति उचित नहीं। वास्तव में ब्रह्म जगत् का विवर्त्त कारण है और जगत् ब्रह्म का विवर्त्त कार्य। रस्सी में दिखाई देनेवाला सर्प रस्सी का विवर्त्त कार्य होता है। ऐसे कार्य की उत्पत्ति से कारण में कोई परिवर्तन नहीं होता। ब्रह्म जगत् का अपरिणामी कारण है, ब्रह्म में जगत् प्रतीत मात्र होता है। जगत् और जगत् की सृष्टि, दोनों मायिक हैं। इसका प्रमाण श्रुति है। केवल तर्क हमें सत्य की उपलब्धि नहीं करा सकता।

अपने मतों के प्रतिपादन और समर्थन की शंकर की पद्धति इस प्रकार है। वे अपने मूल सिद्धान्तों के लिए श्रुति पर निर्भर करते हैं। इसके विपरीत, दूसरे मतों के खण्डन में वे तर्क का आश्रय लेते हैं। शंकराचार्य सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों को श्रुति-मूलक नहीं मानते।

श्रुति कहती है कि ज्ञान मोक्ष से होता है। इसका मतलब यह हुआ कि आत्मा का बन्धन वास्तविक न होकर अविद्यात्मक है, इसीलिए वह ज्ञान द्वारा नष्ट हो सकता है। इसके विपरीत, सांख्य दर्शन प्रकृति को नित्य मानता है और प्रकृति-पुरुष के अविवेक को बन्धन का कारण मानता है। यदि प्रकृति नित्य है तो उक्त अविवेक की सम्भावना भी सदा बनी रहेगी। इस प्रकार सांख्य दर्शन नित्य-मुक्ति की सम्भावना का ठीक से समर्थन नहीं कर पाता।

प्रकृतिकारणवाद के खण्डन में शंकर का यह भी कहना है कि जड़ प्रकृति विश्व में दीखनेवाली (इन्द्रियों, शरीर आदि की) प्रयोजनवती रचना का कारण नहीं हो सकती। सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध भी एक गहन समस्या है जिसका समाधान सांख्य नहीं दे सका है।

वैशेषिक खण्डन—अद्वैत दर्शन एकतत्त्ववादी है, इसके विपरीत वैशेषिक अनेक-पदार्थवादी है। वह जगत् का कारण परमाणुओं को (भी) मानता है। शंकर ने इन सभी सिद्धान्तों का खण्डन किया है। उन्होंने यह दिखाने की कोशिश की है कि वैशेषिकों की परमाणुओं की धारणा सदोष है, परमाणुओं का संयोग भी समझ में नहीं आता। प्रदेशवान् वस्तुओं का वैसा ही वस्तुओं से संयोग देखा गया है। यदि परमाणुओं में प्रदेश माने जायँ तो वे सावयव और विभाज्य बन जायँगे, अन्यथा उनमें संयोग न

हो सकेगा। वैशेषिक के अनुसार परमाणुओं में रूप आदि गुण रहते हैं। देखा यह गया है कि रूप आदिवाले पदार्थ स्थूल और अनित्य होते हैं, इसलिए परमाणु कारण-वाले होंगे न कि कारण-रहित।

वैशेषिक दर्शन मानता है कि द्रव्य और गुण अलग पदार्थ हैं और उनमें सम्बन्ध स्थापित करनेवाला समवाय भी अलग तीसरा पदार्थ है। इसी प्रकार वे सामान्य और विशेष को द्रव्यों से भिन्न अलग पदार्थ मानते हैं। किन्तु देखा यह गया है कि जो वस्तुएँ अलग हैं वे एक दूसरे के अधीन, एक दूसरे की आश्रित नहीं होतीं। गुण द्रव्यों के अधीन होते हैं, उनको द्रव्यों से अलग सत्ता नहीं होती, इसलिए उन्हें द्रव्यों से अलग मानना असंगत है। चूँकि द्रव्य और गुण की अलग प्रतीति नहीं होती, इसलिए मानना चाहिए कि गुण द्रव्यात्मक होता है। गुण द्रव्य का ही संस्थान-विशेष है, द्रव्य का ही एक रूप या पहलू है। द्रव्य और गुण में वैसा भेद नहीं दीखता जैसा आग और धुँआ में। एक अन्य आपत्ति भी है। यदि द्रव्य और गुण में सम्बन्ध बनाने के लिए समवाय नामक पदार्थ की आवश्यकता है तो द्रव्य और समवाय तथा समवाय और गुण के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए किसी अन्य पदार्थ की आवश्यकता होगी। उस अन्य पदार्थ को संयुक्त करने के लिए और किसी पदार्थ की, इस तरह अनवस्था-दोष होगा। इस प्रकार शंकर का मत है कि गुण, कर्म, सामान्य, विशेष आदि को द्रव्यात्मक मानना चाहिए।

बौद्ध-मत-खण्डन—शंकराचार्य ने वैभाषिक मत तथा विज्ञानवाद, इन दो बौद्ध सम्प्रदायों का विस्तार से खण्डन किया है। वैभाषिक तथा सर्वास्तिवादी दर्शन में स्थिर आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं की गयी है। तथाकथित आत्मा रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार नामक स्कन्धों का समुदाय मात्र है। वाचस्पति मिश्र की व्याख्या के अनुसार विषयों-सहित इन्द्रियों को रूप-स्कन्ध कहते हैं। अहम् इस तरह की बुद्धि विज्ञान-स्कन्ध है। चित्त में सुख-दुःख का अनुभव वेदना-स्कन्ध है। यह गाय है, यह गोरा है, इस तरह के विकल्पमूलक प्रत्यय संज्ञा-स्कन्ध कहलाते हैं। रागादि क्लेश, धर्म और अधर्म संस्कार-स्कन्ध हैं। इन पाँच स्कन्धों से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। प्रश्न है, यदि बचपन से बुढ़ापे तक एक रहनेवाली कोई आत्मा नहीं है तो बुढ़ापे में बचपन की बातों का स्मरण किसे होता है? दूसरे, यदि स्थिर आत्मा नहीं है तो पुनर्जन्म और मोक्ष किसके होंगे? व्यक्ति में किसी स्थिर तत्त्व को माने बिना लोक-व्यवहार सम्भव नहीं है।

विज्ञानवादी बाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं मानते। दृश्यमान जगत् स्वप्न के

पदार्थों की भाँति है, उसका अस्तित्व भीतर है, बाहर नहीं। चूँकि नील-बुद्धि (नीले का ज्ञान) और नील-रूप का ग्रहण एक साथ होता है, इसलिए दोनों में अभेद या एकता है। ज्ञान और ज्ञान का विषय एक ही है। दुनिया में जो तरह तरह की चीजें दिखाई देती हैं उनका कारण हमारी वासनाएँ हैं।

विज्ञानवाद के खण्डन में शंकर ने अनेक बढ़िया युक्तियाँ दी हैं। विज्ञानवादी कहता है कि वस्तुएँ वास्तव में बाहर नहीं हैं, वे बाहर प्रतीत होती हैं। इस पर शंकर आक्षेप करते हैं कि बाह्यपन के अनुभव के बिना, बाहर होने का भ्रम भी नहीं हो सकता। कोई ऐसा नहीं कहता कि विष्णुमित्र बाँझ स्त्री का बेटा जैसा दीखता है, क्योंकि किसी को बन्ध्या स्त्री के बेटे का अनुभव नहीं है। केवल तर्क से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि बाह्य पदार्थों की सत्ता असम्भव है। जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध है, उसे असम्भव कहने का कोई अर्थ नहीं है। बृहदारण्यकभाष्य में एक जगह शंकर कहते हैं कि शास्त्रार्थ यानी वादविवाद और वादी-प्रतिवादी को कोई अपना विज्ञान मात्र नहीं कह सकता, उनकी अलग सत्ता माननी ही पड़ेगी। यह कहना बड़ा विचित्र होगा कि मेरा ही एक विज्ञान दूसरे विज्ञान से वादविवाद और उसका खण्डन कर रहा है। यह कहना भी गलत है कि दृश्यमान जगत् स्वप्न-जगत् के समान है। स्वप्न एक प्रकार की स्मृति होती है, जबकि अनुभूत जगत् की उपलब्धि होती है। स्मृति और उपलब्धि या अनुभव में स्पष्ट ही भेद है।

समीक्षात्मक दृष्टि

हिन्दू दर्शनों में अद्वैत वेदान्त का स्थान बहुत ऊँचा है। श्रुतियों पर आधारित होने के कारण अद्वैत वेदान्त धर्म या अध्यात्म के रूप में भी ग्राह्य रहा है। अपनी ज्ञान-मीमांसा और प्रमाण-मीमांसा के रूप में उसका दार्शनिक महत्त्व भी विशिष्ट है। मोक्ष शास्त्र के रूप में अद्वैत वेदान्त सांख्य दर्शन के समान विशेष महत्त्व रखता है, कुछ दृष्टियों से अद्वैत मत सांख्य से अधिक संगत और साफ-सुथरा है। दर्शन के रूप में शांकर अद्वैत की एक बड़ी विशेषता यह है कि वह दो-तीन मौलिक मान्यताओं के आधार पर ज्ञान, मोक्ष आदि प्रत्ययों की बड़ी सुलझी हुई व्याख्या प्रस्तुत करता है।

किन्तु अद्वैत मत की कुछ कमियाँ भी हैं। उसका मायावाद का सिद्धान्त विशेष युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि उपनिषद् एकमात्र ब्रह्म या आत्मा को तात्त्विक कहते हैं, इसलिए दीखनेवाला नानात्व या जगत् मिथ्या है, यह युक्ति उन्हीं को ग्राह्य होगी जो उपनिषदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। दूसरे मतावलम्बी, जैसे

जैन और बौद्ध, इस युक्ति को स्वीकार करने को बाध्य नहीं हैं। यह देखने की बात है कि स्वयं हिन्दुओं का कोई दूसरा दर्शन—न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्वमीमांसा भी—जगत् के मिथ्यात्व को स्वीकार नहीं करता। इसीलिए विज्ञानभिक्षु आदि हिन्दू दार्शनिकों ने शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध घोषित किया है। हिन्दू धर्म के ईसाई आलोचकों ने अद्वैत के विरुद्ध यह आक्षेप किया कि उक्त मत हमारे लौकिक जीवन के लिए नैतिक प्रेरणा देने में असमर्थ है। इस आलोचना में कुछ बल है। यदि हम जगत् को मिथ्या मानते हैं, तो यह जाहिर है कि मनुष्य के इहलौकिक इतिहास के निर्माण में, उस इतिहास को अग्रसर करने में, हमारी विशेष रुचि नहीं होगी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त हमें भावात्मक, नैतिक एवं ऐतिहासिक प्रयत्न या प्रयत्नशीलता की सबल प्रेरणा नहीं देता। यह ठीक है कि अद्वैती सन्त या साधक में स्वभावतः अनेक सद्गुण रहेंगे, और यह कि उसमें पाप या दुष्कर्म करने की प्रवृत्ति नहीं होगी। किन्तु यह निषेधमूलक मनोवृत्ति हमें इतिहास की भूमि में प्रयत्नशील बनाने के लिए पर्याप्त नहीं है। कहा गया है कि लक्ष्मी उसी पुरुष-सिंह के पास जाती है जो उद्योगी है। व्यक्तिगत रूप में जो वेदान्ती साधक और सन्त लक्ष्मी को एकदम ही नहीं चाहता, ऐसे सन्त की हम प्रशंसा करते हैं। किन्तु एक जाति के लिए त्याग का आदर्श अपर्याप्त है। अपनी जाति या देश को, अपने राष्ट्र को, समुन्नत बनाने के लिए यह जरूरी है कि हम कोरे स्थितप्रज्ञ बनकर न बैठ जायँ बल्कि उसकी प्रगति में सक्रिय अभिरुचि लें। यहाँ भगवद्गीता के कृष्ण कहेंगे—वैसी अभिरुचि लेते हुए भी हमें अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को छोड़कर निष्काम भाव से आगे बढ़ना चाहिये। यह शिक्षा शंकर के अद्वैत वेदान्त की पूरक सिद्ध हो सकती है। वस्तुतः भगवद्गीता के व्याख्याकार के रूप में शंकराचार्य ने जीवन और कर्म के भावात्मक पक्ष पर उचित गौरव नहीं दिया है।

शंकराचार्य के उत्तरकालीन अनुयायियों ने भी गीता के कर्मपरक वेदान्त को गौरव नहीं दिया, अपितु संन्यास और वैराग्य पर ही अधिक जोर दिया। शंकर की अपेक्षा रामानुज ने कर्मनिष्ठ जीवन को अधिक महत्त्व दिया। बीसवीं शती में लोकमान्य तिलक ने भगवद्गीता की नयी व्याख्या की जिसमें एक बार फिर कर्मठ जीवन-पद्धति को महत्त्व दिया गया। तिलक ने शंकर द्वारा की गयी गीता की संन्यासपरक व्याख्या का खण्डन किया।

उत्तरकाल के अद्वैत के व्याख्याताओं में भामतीकार वाचस्पति मिश्र, विवरणकार प्रकाशात्म यति, 'खण्डनखण्डखाद्य' के लेखक श्रीहर्ष, प्रत्यक्तत्त्वदीपिका के प्रणेता

चित्सुखाचार्य एवं 'अद्वैतसिद्धि' के रचयिता मधुसूदन सरस्वती के नाम मुख्य हैं। इन लेखकों में दो प्रवृत्तियाँ प्रधान दिखाई देती हैं, एक नैयायिकों के प्रमाणवाद के खण्डन की और दूसरी, द्वैतवाद के खण्डन के साथ-साथ जगत् के मिथ्यात्व के समर्थन की। इस दूसरी प्रवृत्ति का व्यावहारिक परिणाम संन्यास और वैराग्य पर बढ़ता हुआ गौरव है। यह गौरव 'पंचदशी' एवं 'जीवन्मुक्तिविवेक' के प्रणेता विद्यारण्य में भी पाया जाता है।

जगत् के मिथ्यात्व का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का महत्त्वपूर्ण अंग है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु शंकर के ग्रन्थों में सृष्टि के सम्बन्ध में कुछ दूसरे विचार भी पाये जाते हैं। शंकर जहाँ एक ओर जगत् को मिथ्या और ब्रह्म का विवर्त्त कार्य तथा ब्रह्म को विवर्त्त कारण बतलाते हैं, वहाँ कहीं-कहीं, उपनिषदों की व्याख्या करते हुए उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि ब्रह्म (वस्तुतः) जगत् का कारण है। (सर्प का रज्जु विवर्त्त कारण है, सर्प रज्जु का विवर्त्त कार्य है, यहाँ कारणता वास्तविक नहीं है।) छान्दोग्य, 6/2/4 पर भाष्य करते हुए शंकर कहते हैं कि जहाँ यह कहा गया है कि उस सत् ने ईक्षण किया (देखा या चाहा) कि मैं अनेक रूप होकर उत्पन्न होऊँ, वहाँ वास्तव में सत् में कारणता माननी चाहिए। इसी प्रकरण में 'उस जल ने ईक्षण किया', यह कथन आता है। इसपर कोई आक्षेप करता है कि जैसे जल में ईक्षण का उपचार मात्र है, वास्तविक ईक्षण नहीं है, वैसे ही अन्यत्र भी मानना चाहिए। उत्तर में शंकर कहते हैं कि सारे प्रकरण को उपचरितार्थ मानना उचित नहीं है। इसलिये जगत् चैतन्य सत् का कार्य है, यही मानना ठीक है।[1] यहाँ उपनिषद् के अनुरोध से शंकर ब्रह्म में वास्तविक कारणता मानते हैं। इस प्रकरण में एक जगह वे जगत् को सत् भी कह गये हैं। 'सत् ब्रह्म ही द्वैतादि-भेद से अन्यथा गृहीत होता है, इसलिये हम कहते हैं कि कहीं कुछ भी असत् नहीं है'।[2] वास्तविकता यह है कि शंकर कहीं तो विवर्त्त-वादी की भाँति लिखते हैं और कहीं सत्कार्यवादी की तरह। ये दोनों सिद्धान्तः वस्तुतः एक दूसरे से विशेष दूर नहीं हैं।

---

1. सर्वस्य च प्रपाठकार्थस्य उपचरितत्त्वपरिकल्पनायां वृथा श्रमः परिकल्पयितुः स्यात्....तस्माद्वेदप्रामाण्यान्न युक्तः श्रुतार्थपरित्यागः।....अतः चेतनावत्कारणं जगत् इति सिद्धम्।
2. सत एव द्वैतभेदेन अन्यथा गृह्यमाणत्वात् नासत्त्वं कस्यचित् क्वचिदिति ब्रूमः। —छा॰ भा॰, 6/2/3

सृष्टि के प्रति शंकर का मनोभाव अधिक भावात्मक है, इसका एक निदर्शन यह है कि वे सृष्टि के पीछे प्रयोजन देखते हैं। सृष्टि प्रवृत्ति निष्प्रयोजन नहीं है। वृहदारण्यकभाष्य, 2/5/10 में वे कहते हैं—

यदि हि नामरूपे न व्याक्रियेते तथाऽस्यात्मनो प्रज्ञानघनाख्यं निरुपाधिकं रूपं न प्रतिख्यायेत।

अर्थात्—यदि ब्रह्म नाम-रूप का व्याकरण या अभिव्यक्ति नहीं करता तो उसका उपाधिशून्य प्रज्ञानघन-स्वरूप प्रकट या प्रसिद्ध नहीं हो पाता। इसी प्रकार वे गीताभाष्य, 9/10 में कहते हैं—

दृशिकर्मत्वापत्तिनिमित्ता हि जगतः सर्वा प्रवृत्तिः। अहमिदं भोक्ष्ये, पश्यामीदं, शृणोमीदं, सुखमनुभवामि इत्याद्यऽवगतिनिष्ठाऽवगत्यवसानैव।

अर्थात्—जगत् की समस्त प्रवृत्ति इसलिए है कि वह (चेतन जीवों की) प्रेक्षण क्रिया का कर्म बन सके; 'मैं यह भोगूँ, मैं यह देखता हूँ, यह सुनता हूँ, सुख का अनुभव करता हूँ,' इत्यादि अवगति के लिए है। खेद की बात है कि उत्तरकालीन व्याख्याकारों ने शंकर के इस कोटि के विचारों को उचित गौरव नहीं दिया।

अध्याय 16

रामानुज दर्शन : विशिष्टाद्वैत वेदान्त

विषय-प्रवेश

[जैसा संकेतित किया जा चुका है, श्रुतियों पर आधारित एवं प्रस्थानत्रयी की व्याख्या के रूप में पल्लवित हिन्दू दर्शन वेदान्त कहलाते हैं। तथाकथित वेदान्त दर्शनों में शंकर के अद्वैत के बाद रामानुज का विशिष्टाद्वैत विशेष प्रतिष्ठित रहा है। शंकर के अद्वैत में जगत् को मिथ्या कहा गया है और कर्म के जीवन को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। इसके विपरीत, रामानुज जगत् को वास्तविक, वर्णाश्रम धर्म को अनिवार्य और भक्ति को (जो उनके अनुसार, एक प्रकार का ज्ञान ही है) मोक्ष का आवश्यक साधन मानते हैं। तत्व-मीमांसा में वे भी एक प्रकार के अद्वैतवाद के समर्थक हैं, किन्तु उनका अद्वैत विशिष्टाद्वैत है। रामानुज के अनुसार ब्रह्म-तत्त्व निर्विशेष नहीं, सविशेष है, जीव और जगत् उसे विशेषित करते हैं और उसके शरीर-जैसे हैं। संसार में कोई भी तत्त्व निर्विशेष नहीं है, निर्विशेष का ज्ञान भी सम्भव नहीं है। हमारे सारे वक्तव्य सविशेष-विषयक होते हैं। रामानुज का कथन है कि यदि ब्रह्म को निर्विशेष का निर्गुण माना जाय तो श्रुति के वाक्य उसके सम्बन्ध में कोई ज्ञान नहीं दे सकेंगे। वे यह भी मानते हैं कि ब्रह्म या ईश्वर की सत्ता प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से सिद्ध नहीं की जा सकती, उसे जानने का साधन केवल श्रुति है। सामानुज की ज्ञान-मीमांसा में तथाकथित निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय भी निर्विशेष वस्तु नहीं होती, वहाँ भी सविशेष का ज्ञान ही होता है, किन्तु वह सविशेष शब्द द्वारा कथित नहीं होता।

रामानुज ने शंकर के मायावाद का विस्तार से खण्डन किया है। शंकर और रामानुज के आत्म-विषयक मतों में भी महत्त्वपूर्ण भेद है। शंकर आत्मा को

ज्ञान-स्वरूप मानते हैं, रामानुज के मत में आत्मा ज्ञान नहीं, ज्ञाता है। आत्मा धर्मभूत ज्ञान से सहचरित रहता है। आत्मा अपने में अणु है, किन्तु उसका धर्मभूत ज्ञान विभु है। तथाकथित मनोदशाएँ—ज्ञान, सुख-दुःख आदि—सब धर्मभूत ज्ञान के विकार या परिणाम हैं।

रामानुज के दर्शन के प्रचार ने भक्तिवाद को पुष्ट किया। उनके बाद वेदान्त के अनेक सम्प्रदाय बने। इन सब सम्प्रदायों पर रामानुज का प्रभाव लक्षित होता है। मौलिकता की दृष्टि से भक्ति-परक वेदान्तीय सम्प्रदायों में विशिष्टा-द्वैत सबसे मौलिक और दार्शनिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। विशिष्टाद्वैत-को श्रीसम्प्रदाय भी कहते हैं। स्वयं रामानुज अपने दर्शन को बोधायनवृत्ति पर आधारित बतलाते हैं; वे उसे द्रमिड़, टंक, गुहदेव और नम्मालवार की परम्परा को अग्रसर करनेवाला भी मानते हैं। वास्तव में रामानुज का दर्शन तथा अन्य वैष्णव सम्प्रदाय प्राचीन भागवत धर्म की परम्परा को अग्रसर करते और उसे दार्शनिक आधार देते हैं। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के प्रसिद्ध शिक्षक नाथमुनि ने तमिल के आलवार सन्तों की वाणी को प्रस्थानत्रयी के समान महत्त्व दिया और इस प्रकार 'उभयवेदान्त' संज्ञा का प्रचार किया।

शंकर और रामानुज के बीच में भास्कर नाम के आचार्य हुए थे जिन्होंने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा। भास्कर ने शंकर के मायावाद का खास तौर से खण्डन किया। उनका मत भेदाभेद कहलाता है। उनके परवर्ती यादवप्रकाश ने भी एक प्रकार के भेदाभेद को अंगीकार किया।

रामानुज के बाद के वैष्णव-सम्प्रदायों में मध्व का द्वैत वेदान्त, निम्बार्क का द्वैताद्वैत, वल्लभ का शुद्धाद्वैत और चैतन्य सम्प्रदाय का अचिन्त्यभेदाभेद प्रसिद्ध हैं।—संपादक]

जैसा ऊपर कहा गया, रामानुज अपने दर्शन का उद्देश्य बोधायन के मत का पुनराख्यान करना मानते हैं। यों, सगुण ब्रह्म की चर्चा कहीं कहीं संहिताओं में, श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में, भगवद्गीता, महाभारत, पांचरात्र संहिताओं, विष्णु-पुराण आदि में पूर्वकाल से होती आयी थी। इस दृष्टि से रामानुज का विशिष्टाद्वैत भारतीय चिन्तन-धारा की एक अति प्राचीन परम्परा का प्रतिनिधि कहा जा सकता है।

विशिष्टाद्वैत-साहित्य

विशिष्टाद्वैत का दार्शनिक चिन्तनधारा के रूप में उद्भव और उसका एक विशेष मत के रूप में प्रचार बोधायन द्वारा रचित 'ब्रह्मसूत्रवृत्ति' से प्रारम्भ हुआ माना जाता है। कालक्रम से इस रचना का ग्रन्थ-रूप लुप्त हो गया। परन्तु इसमें प्रतिपादित मत भक्ति मार्ग को शास्त्रीय और बौद्धिक प्रमाणित करने के लिए अत्यन्त उपयोगी था। कहा जाता है, रामानुज को इस ग्रन्थ की एक प्रति कश्मीर में प्राप्त हुई थी। वहीं उन्होंने इसका अध्ययन किया और इसके आधार पर अपने ग्रन्थ लिखे। रामानुज द्वारा प्रणीत पुस्तकों में हमें बोधायनवृत्ति से उद्धरण भी प्राप्त होते हैं। रामानुज के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में दक्षिण भारत में उत्पन्न आलवार सन्तों (सातवीं और नवीं शती के बीच) के उद्गारों के संकलन 'दिव्यप्रबन्धम्' का विशेष स्थान है। 'दिव्यप्रबन्धम्' मूलतः तमिल रचना है, जो बाद में संस्कृत भाषा में वैष्णवों के प्रथम आचार्य नाथमुनि (824–924 ई०) द्वारा प्रस्तुत की गयी। 'न्यायतत्त्व' तथा 'योग-रहस्य' नाथमुनि की दो और रचनाएँ हैं। आलवार सन्तों की दिव्य वाणी को दार्शनिक रूप देने का कार्य यामुनाचार्य (दसवीं शती) ने प्रारम्भ किया। श्री यामुनाचार्य के दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'सिद्धित्रय' और 'गीतार्थसंग्रह' वैष्णव दर्शन के क्षेत्र में ऐसी प्रारम्भिक रचनाएँ हैं जो अब भी प्राप्य हैं। पुस्तक-लेखन के अतिरिक्त श्री यामुन ने वैष्णव भक्तों को भी संगठित किया। श्री वैष्णवों को संगठित करने के कारण उन्हें सम्प्रदाय का जनक माना जाता है। दुर्भाग्यवश अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के लिए वे 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य न लिख सके। कहा जाता है, उन्होंने यह दायित्व रामानुज को सौंपा था। श्री रामानुजाचार्य (1017–1137 ई०) ने 'श्रीभाष्य' लिखकर इस दायित्व का निर्वाह किया। श्रीभाष्य' के बृहत् कलेवर, भाषा की दुरूहता आदि को ध्यान में रखकर ही शायद रामानुज ने इसे 'वेदान्तसार' और 'वेदान्तदीप' के रूप में संक्षिप्त बनाकर प्रस्तुत किया। 'वेदार्थसंग्रह' रामानुज का स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसका विषय उपनिषद्-वाक्यों की विशिष्टाद्वैतपरक व्याख्या, अन्य मतवादों (विशेषकर अद्वैत एवं मीमांसा) की आलोचना तथा भक्ति-सिद्धान्त का दार्शनिक निरूपण करना है। 'ब्रह्मसूत्र' पर 'श्रीभाष्य' के अतिरिक्त रामानुज ने भगवद्गीता पर भी भाष्य लिखा है। उन्होंने 'गद्यत्रय' और 'नित्यग्रंथ' भी श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के समर्थन में लिखे। सुदर्शन भट्ट ने 'श्रीभाष्य' पर 'श्रुतप्रकाशिका' टीका लिखी है।

ईसा की तेरहवीं शताब्दी में रामानुज-वेदान्त दो शाखाओं में विभक्त हो गया। इस विभाजन का आधार साहित्यिक मतभेद था। पिल्लै लोकाचार्य (1246-

1327 ई०), जो तेङ्कलै सम्प्रदाय के संस्थापक कहे जाते हैं, तमिल प्रबन्धों को अधिक विश्वसनीय मानते हैं। उनके अनुसार तमिल आगमों की महत्ता संस्कृत आगम-ग्रन्थों और बाद की संस्कृत कृतियों से अधिक है। लोकाचार्य ने अठारह ग्रन्थ लिखे हैं। 'तत्त्वत्रय' और 'अर्थपंचक' संस्कृत में लिखे गये हैं। जो विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। वरवर मुनि ने 'तत्त्वत्रय' की टीका लिखी है। 'वाद्गलै' नामक दूसरे सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री वेदान्तदेशिक (1300 ई०) हैं। वेदान्तदेशिकाचार्य बहुमुखी प्रतिभा के लेखक हैं। इन्हें संस्कृत और तमिल दोनों भाषाओं के ग्रन्थ समस्त रूप से मान्य हैं। इनकी रचनाओं में 'न्यायसिद्धांजन' और 'तत्त्वमुक्ताकलाप' मौलिक ग्रन्थ हैं। 'तत्त्वमुक्ताकलाप' की 'सर्वार्थसिद्धि' टीका उन्होंने स्वयं लिखी है। 'तत्त्वटीका' और 'तात्पर्यचन्द्रिका' क्रमशः रामानुज के 'श्रीभाष्य' और 'गीताभाष्य' पर वेदान्त-देशिक की टीकाएँ हैं। वेदान्तदेशिक ने 'संकल्पसूर्योदय' नाटक की रचना भी की है। तमिल भाषा में 'रहस्यत्रयसार' और 'परमतभंग' इनकी दार्शनिक कृतियाँ हैं। 'शतदूषणी की रचना इन्होंने अद्वैत दर्शन की आलोचना के लिए की है। इस प्रकार अपनी कृतियों के आधार पर वेदान्तदेशिक रामानुज के अनुयायियों में सर्वप्रमुख हैं।

रंग रामानुज, आत्रेय रामानुज, मेघनादारि, श्रीनिवासाचार्य जैसे गण्यमान पण्डितों ने भी अपनी अपनी कृतियों द्वारा रामानुज-सम्प्रदाय के दार्शनिक साहित्य को समृद्ध किया है। इनमें श्री रंग रामानुज के उपनिषद्-भाष्य विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। रंग रामानुज (16वीं शती) ने उपनिषद्-भाष्य लिखकर अपने सम्प्रदाय के विरुद्ध इस आरोप का खण्डन किया कि विशिष्टाद्वैत का उपनिषदों का समर्थन नहीं प्राप्त है। श्रीनिवासाचार्य (सत्रहवीं शती) द्वारा लिखित 'यतीन्द्रमतदीपिका' रामानुज दर्शन के प्राथमिक अध्ययन के लिए उपयोगी संस्कृत रचना है। इस पुस्तिका में सीधे और सरल शब्दों में रामानुज दर्शन को सराहनीय ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसमें विशिष्टाद्वैत दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त संगृहीत हैं। यह ग्रन्थ इस सम्प्रदाय के विचारकों द्वारा कम से कम 28 ग्रन्थों में विकसित सिद्धान्त का संक्षिप्त रूप है। ऐसा इसी ग्रन्थ के अन्त में बतलाया गया है। श्री वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर ने हाल ही में इसपर अपनी 'यतीन्द्रमतदीपिका-प्रकाश' नामक सुन्दर टीका लिखी है।

ज्ञान-मीमांसा

रामानुज ज्ञान को द्रव्य मानते हैं। द्रव्य दो प्रकार के होते हैं, जड़ और अजड़। ज्ञान एक अजड़ द्रव्य है। अजड़ द्रव्य की भी दो कोटियाँ हैं, पराक् और प्रत्यक्। वे अजड़ द्रव्य जो दूसरों के लिए हों, जिनमें अपने स्वरूप की चेतना का

अभाव हो, पराक् कहलाते हैं। ज्ञान ऐसा ही अजड़ पराक् द्रव्य है। अजड़ उस द्रव्य को कहते हैं जो स्वयंप्रकाश है। स्वयंप्रकाशता द्रव्य में अपने को बिना किसी अन्य का आश्रय लिये अपनी सत्ता मात्र से प्रकाशित करने की क्षमता का नाम है।[1] ज्ञान एक ऐसा द्रव्य है जो स्वतः प्रकाशित है। स्वतः प्रकाशित होने के कारण ज्ञान उन सभी वस्तुओं को प्रकाशित कर देता है जिनसे इसका सम्पर्क होता है; वस्तुओं के प्रकाशक के रूप में ज्ञान को बुद्धि, शेमुषी, प्रज्ञा, मति, धी, संवित् इत्यादि का पर्याय-वाची कहा जा सकता है।[2] रामानुज ने अनुभूति, संवेदन, चेतना को भी ज्ञान का पर्याय कहा है।

धर्मभूत ज्ञान--ज्ञान चेतन आत्मा तथा ईश्वर का गुण है। इसीलिए ज्ञान एक गुण-द्रव्य है। ज्ञान आत्मा पर आश्रित है, क्योंकि आत्मा से अलग इसकी सिद्धि नहीं हो सकती। आत्मा और ज्ञान के बीच उसी प्रकार का सम्बन्ध है जैसा दीपक और उसके प्रकाश के बीच, अथवा मणि और मणि-प्रभा के बीच है। ज्ञान प्रकाश है और आत्मा दीप है। जिस प्रकार दीपक से उसके प्रकाश की भिन्नता देखी जाती है, परन्तु एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार ज्ञान आत्मा से भिन्न है परन्तु पृथक् नहीं। प्रकाश स्वयं को, अपने आश्रयरूप दीपक को तथा अन्य पदार्थों को उद्भासित करता है। ज्ञान भी स्वयं को, आत्मा को तथा वस्तुओं को प्रकाशित करता है।[3] आत्मा तथा ईश्वर के गुण के रूप में ज्ञान धर्मभूत ज्ञान कहलाता है। ज्ञान द्रव्य है, इसलिए इसमें संकोच-विकास-रूप परिवर्तन होता है। धर्मभूत ज्ञान का विस्तार और संकोच कर्म के द्वारा सम्भव है। अज्ञान पर आधारित अथवा अहंबुद्धि-सहित किये गये कर्म धर्मभूत ज्ञान को शरीर से एकाकार कर संकुचित कर देते हैं। इसके विपरीत, तत्त्वबोध पर आधारित ईश्वर की आराधना के रूप में सम्पादित कर्म धर्मभूत ज्ञान का विकास करते हैं। ज्ञान का संकोच या विकास ही उसका नाश या प्रादुर्भाव कहलाता है।

---

1. स्वयंप्रकाशता तु स्वसत्तयैव स्वाश्रयाय प्रकाशमानता।—श्रीभाष्य, 1/1/1
2. ज्ञानं, मतिः, प्रज्ञा, संवित्, धिषणा, धी; मनीषा, शेमुषी, मेधा, बुद्धिरित्येवमादयः शब्दाः ज्ञानपर्यायाः।—यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 59
3. स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति कस्यचिद्विषयस्य प्रकाशनं हि संवेदनम्।....यत्त्वनुभूतेः स्वयंप्रकाशत्वमुक्तम् तद्विषयप्रकाशनवेलायां ज्ञातुरात्मनस्तथैव, न तु सर्वेषां सर्वदा तथैवेति नियमोऽस्ति।—श्रीभाष्य, 1/1/1

स्वयंप्रकाश, असंकुचित ज्ञान ईश्वर और आत्मा का स्वरूप है। श्रीभाष्य में इसे 'सारभूत' ज्ञान कहा गया है।[1] सारभूत ज्ञान नित्य एवं अविकारी है। संकोच या विकास धर्मभूत ज्ञान में ही सम्भव है, सारभूत ज्ञान में नहीं। रामानुज ज्ञान को सविशेष ही मानते हैं। सारभूत ज्ञान भी निर्विशेष नहीं होता। ज्ञान निराश्रय नहीं होता। वह अपने आश्रय से उसके गुण के रूप में संयुक्त होता है। इस प्रकार कोई भी सत्ता जो ज्ञानमय है निर्विशेष या निर्गुण नहीं है। ज्ञान-स्वरूप आत्मा ऐसा अजड़ अहमर्थ तत्त्व है जो अपनी सत्ता मात्र से अपने प्रति प्रकाश-रूप सिद्ध होता है, किन्तु स्वयं उसका प्रकाश अपने लिए नहीं होता, बल्कि धर्मभूत ज्ञान का प्रकाश उसी के सम्बन्ध से होता है।[2] अतः स्वयंप्रकाश आत्मा ज्ञाता है, वह प्रकाशक ही है, प्रकाश्य नहीं। यह प्रकाश ही उसका स्वरूप या सारभूत ज्ञान है।

ज्ञान के साधन—वस्तुओं के रूप का प्रकाशक ज्ञान बुद्धि द्वारा इन्द्रियों की सहायता से अपने प्रकाश्य के सम्बन्ध में आता है। प्रकाश्य वस्तु की वास्तविक अवस्था और व्यावहारिक उपयोगिता का ज्ञान प्रमा कहा जाता है।[3] हम साधारण तौर पर जिसे ज्ञान कहते हैं वह प्रमा ही है।[4] इस प्रमा की उत्पत्ति के कारण को प्रमाण कहते हैं। इस प्रकार ज्ञान के साधन से हमारा अभिप्राय प्रमाणों से है। रामानुज ज्ञानोत्पत्ति के लिए केवल तीन ही प्रमाण स्वीकार करते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। उनके मत में स्मृति और प्रत्यभिज्ञा स्वतन्त्र प्रमाण नहीं हैं। इनको प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत कर सकते हैं। इसी प्रकार उपमान और अनुपलब्धि अथवा अर्थापत्ति भी अनुमान में समाविष्ट किये जा सकते हैं। अतः प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ही सभी प्रकार के ज्ञान के कारण हैं।

---

1. विज्ञानगुणसारत्वात् आत्मनो विज्ञानमितिव्यपदेशः, विज्ञानमेवास्य सारभूतो गुणः। —वही, 2/3/29
2. ज्ञानस्यापि प्रकाशता तत्संबन्धीयत्ता। तत्कृतमेव हि ज्ञानस्य सुखादेरिव स्वाश्रय-चेतनं प्रतिप्रकटत्वमितरं प्रति अप्रकटत्वं च।—वही, 1/1/1
3. यथावस्थितव्यवहारानुगुणज्ञानं प्रमा।—यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 3
4. अनुभूतिरिति स्वाश्रयं प्रति स्वसद्भावेनैव कस्यचिद्वस्तुनो व्यवहारानुगुण्यापादन-स्वभावो ज्ञानावगति संविदाधपरनामा सकर्मकोऽनुभवितुरात्मनो धर्मविशेषो घटमहं जानामि इदमित्थमहमवगच्छामि, घटमहं संवेद्मि इति सर्वेषामात्मसाक्षिकः प्रसिद्धः।—श्रीभाष्य, 1.1.1

प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष साक्षात्कारिणी प्रमा का कारण है। साक्षात्कारिणी प्रमा से अभिप्राय ऐसे ज्ञान से है जो वस्तु एवं इन्द्रियों के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। यह अनुमान से भिन्न है, क्योंकि अनुमान में इन्द्रिय-वस्तु-सम्बन्ध नहीं स्थापित होता। प्रत्यक्ष में इन्द्रियाँ वस्तु को ग्रहण करती हैं और मन द्वारा आत्मा को वस्तु का साक्षात्कार कराती हैं। अथवा, द्रव्य-रूप ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से निकलकर वस्तु (द्रव्य) से संयुक्त होता है।[1] साक्षात्कार आत्मा को होता है, क्योंकि प्रत्यक्षीकरण में आत्मा मन से संयुक्त होती है और मन इन्द्रियों से। वस्तु के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध दो प्रकार से होता है, संयोग एवं संयुक्ताश्रयण। जब इन्द्रियाँ पदार्थ को ग्रहण करती हैं तो संयोग सम्बन्ध होता है, लेकिन जब वे द्रव्य के रूप इत्यादि गुणों का ग्रहण करती हैं तो संयुक्ताश्रयण सम्बन्ध होता है। गुण द्रव्य पर आश्रित हैं इसलिए उनका ग्रहण द्रव्य से अलग करके नहीं हो सकता। द्रव्य और गुण का संयुक्त प्रत्यक्ष होने के कारण गुणों के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय और उसके विषय में संयुक्ताश्रयण सम्बन्ध माना गया है। वस्तु और ज्ञान का संयोग सम्बन्ध होता है अतः दोनों, ज्ञान और ज्ञान का विषय, अलग अलग वस्तुएँ हैं और भिन्न-भिन्न वस्तुओं का ज्ञान भी वैसा ही होता है।[2] किसी ज्ञाता या ज्ञेय वस्तु से संयुक्त हुए बिना ज्ञान की प्राप्ति होती ही नहीं।[3]

निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद होते हैं, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और सविकल्पक प्रत्यक्ष। किसी विशिष्ट विषय या वस्तु का प्रथम साक्षात्कार या प्रथम पिण्डग्रहण ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है।[4] यह एक ऐसा प्रत्यक्ष है जिसमें हम किसी पदार्थ के एक ही उदाहरण का, उसके समान अन्य उदाहरणों के अभाव में भी, ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस प्रत्यक्ष में भी हम सविशेष वस्तु को ही जानते हैं। केवल अन्य उदाहरणों से उसकी भिन्नता की ओर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में हम

---

1. ज्ञानमपीन्द्रिय द्वारा निःसृत्यार्थेन सन्निकृष्यते।—यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 56
2. अतो ज्ञानवैचित्र्यमर्थवैचित्र्यकृतमेव। तत्तदर्थ व्यवहार योग्यतापादनरूपतया साक्षात्प्रतीयमानस्य ज्ञानस्य तत्तदर्थसंबन्धायत्तं तत्तदसाधारण्यम्। सम्बन्धश्च संयोगलक्षणः।—श्रीभाष्य, 2/2/27
3. न केवलस्यार्थशून्यस्य ज्ञानस्य भावः संभवति; कुतः? क्वचिदप्यनुपलब्धेः न ह्यकर्तृकस्याकर्मकस्य वा ज्ञानस्य क्वचिदुपलब्धिः।—वही, 2/2/29
4. अतो निर्विकल्पकमेकजातीयद्रव्येषु प्रथमपिण्डग्रहणम्। द्वितीयादिपिण्डग्रहणमेव सविकल्पकमित्युच्यते।—वही, 1/1/1

ध्यान नहीं देते। अभिप्राय यह है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष 'प्रथम पिण्ड' का प्रत्यक्ष है। प्रथम पिण्ड का ग्रहण निर्विकल्पक होने का अभिप्राय यह नहीं है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष विषय-शून्य या सभी विशेषताओं से शून्य अथवा शुद्ध संवेदन मात्र हैं। निर्विकल्पक का तात्पर्य है किसी एक विशेष या धर्म से रहित ज्ञान।[1] रामानुज निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को अद्वैतियों अथवा नैयायिकों द्वारा मान्य अर्थ में निर्विशेष नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार सभी ज्ञान सविशेष एवं सविषयक है। द्रव्य और गुण, जाति और व्यक्ति, सामान्य और विशेष कभी अलग नहीं हो सकते, अतः किसी निर्गुण द्रव्य का, या मात्र जाति अथवा सामान्य का ज्ञान सम्भव नहीं है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष किसी वस्तु का अपनी जाति के अन्य ज्ञात उदाहरणों के साथ किया गया प्रत्यक्ष है। इसके द्वारा हम किसी वस्तु के एक उदाहरण को अकेले नहीं जानते बल्कि उस वस्तु की जाति एवं साधारण और असाधारण गुणों का भी प्रत्यक्ष करते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की भाँति सविकल्पक प्रत्यक्ष में पहले देखे गये उदाहरणों का अभाव नहीं होता। परिणामस्वरूप सविकल्पक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की तुलना में अधिक स्पष्ट एवं पूर्ण होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के प्रत्यक्षीकृत गुण ही सविकल्पक प्रत्यक्ष में पुनः देखे जाते हैं, परन्तु इस बार उनका ज्ञान गुण के रूप में होता है। उस स्थिति में हम वस्तु को मात्र वस्तु के रूप में नहीं ग्रहण करते, बल्कि वस्तु को हम गुणों से संयुक्त करके जानते हैं। एक मेज का सविकल्पक प्रत्यक्ष हमारे समक्ष उस मेज को मेज के अन्य उदाहरणों के साथ, उनमें प्राप्त साधारण और असाधारण गुणों के ज्ञान सहित, उपस्थित करता है। अर्थात् हम मेज को केवल मेज न जानकर लाल, भूरा अथवा गोल, वर्गाकार, छोटी या बड़ी मेज के रूप में जानते हैं। अभिप्राय यह है कि जब हम किसी वस्तु के अपेक्षामूलक गुणों का प्रत्यक्ष कर उसकी जाति का निश्चय कर लेते हैं और साथ ही यह जान लेते हैं कि वह वस्तु अपनी जैसी ही अन्य वस्तुओं से किस प्रकार भिन्न है, तो हमारा प्रत्यक्ष सविकल्पक प्रत्यक्ष कहा जा सकता है।

प्रत्यक्षीकरण का विश्लेषण करने से पता चलता है कि रामानुज प्रत्यक्षीकरण को चार चरणों में पूरी होनेवाली क्रिया मानते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रत्यक्षीकरण की प्रथम स्थिति है। उसमें पहले अनुकूल पदार्थों का स्मरण अथवा अनुवृत्ति ज्ञान

---

1. निर्विकल्पकं नाम केनचिद्विशेषेण वियुक्तस्य ग्रहणम्, न सर्वविशेषरहितस्य।—वही, 1/1/1

नहीं होता। दूसरे चरण में एक के अतिरिक्त दूसरे उदाहरण से सम्पर्क होता है, साथ ही पहले सम्पर्क का स्मरण भी रहता है। तीसरा चरण दो या अधिक उदाहरणों के सामान्य गुणों की अनुभूति कराता है। चौथा और अन्तिम चरण सामान्य और विशेष गुणों को स्पष्ट करता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष दूसरे चरण से प्रारम्भ होता है और चौथे चरण में पूर्ण हो जाता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण की यह विशेषता है कि इन्द्रियों द्वारा होनेवाले ज्ञान का विषय प्रत्यक्षीकरण का समकालिक होता है; अर्थात् प्रत्यक्ष उसी वस्तु का बोध कराता है जो वर्तमान (प्रत्यक्ष होने के) समय में विद्यमान रहती है। यह नियम सभी प्रकार के ज्ञान एवं प्रमाणों पर लागू नहीं होता, क्योंकि स्मृति, अनुमान, आगम (शब्द), योगि-प्रत्यक्ष आदि में भिन्न काल की वस्तु का ज्ञान देखा जाता है।[1]

अनुमान—अनुमान ज्ञान का दूसरा प्रमाण है। यह प्रत्यक्ष पर आधारित है, फिर भी उससे भिन्न है। प्रत्यक्ष से अनुमान का भेद इस आधार पर किया जाता है कि अनुमान इन्द्रिय-सन्निकर्ष के अभाव में भी उत्पन्न होनेवाला वस्तु-ज्ञान है। अनुमान द्वारा हम उस नये विषय का अन्वेषण करते हैं जो प्राप्त ज्ञान पर आधारित है एवं तत्काल अनुपस्थित है। अनुपलब्ध को उपलब्ध कराना ही अनुमान का फल है। अनुमान, जो प्रत्यक्ष के समान ही सविशेष-विषयक है[2], अनुमिति ज्ञान का कारण है। अनुमिति ज्ञान किसी सामान्य नियम या उस नियम पर आधारित किसी विशेष सत्य के ज्ञान को कहते हैं, यह ज्ञान व्याप्ति पर आधारित होता है। जब दो वस्तुएँ नित्य या अनौपाधिक रूप में एक साथ उपस्थित हों तो उनमें व्याप्ति-सम्बन्ध होता है। यदि वे दोनों एक ही साथ पूर्वोक्त ढंग से अनुपस्थित हों, तब भी उनमें व्याप्ति-सम्बन्ध होता है। इस तरह व्याप्ति दो प्रकार की होती है; अन्वयव्यतिरेकी और व्यतिरेकी। अन्वयव्यतिरेकी व्याप्ति ऐसी व्याप्ति है जिसमें व्यापक और व्याप्य अनिवार्य रूप से एक साथ देखे या पाये जाते हैं। व्यतिरेकी व्याप्ति तब होती है जब व्यापक और व्याप्य अनिवार्यतः एक साथ अनुपस्थित रहते हैं। व्याप्ति-सम्बन्ध कई बार के

---

1. इन्द्रियजन्मनः प्रत्यक्षस्य ह्येष स्वभावनियमः यत्स्वसमकालवर्तिनः पदार्थस्य ग्राहकत्वम्; न सर्वेषां ज्ञानानां प्रमाणानां च; स्मरणानुमानागमयोगिप्रत्यक्षादिषु कालान्तरवर्तिनोऽपि ग्रहणदर्शनात्।—वही, 1/1/1
2. अतः प्रत्यक्षस्य सविशेषविषयत्वेन प्रत्यक्षादि दृष्टसंबंधविशिष्ट विषयत्वादनुमानमपि सविशेषविषयमेव।—वही, 1/1/1

प्रत्यक्ष अथवा अनेकशः प्रत्यक्ष पर स्थापित किया जाता है। जब एक वस्तु (व्यापक अथवा लिंग) का साहचर्य बिना अपवाद के दूसरी वस्तु (व्याप्य या साध्य) के साथ देखा जाय तो उनमें व्याप्ति-सम्बन्ध समझना चाहिए। आग और धूम में इसी प्रकार का नित्य-सम्बन्ध है। व्याप्ति के अनौपाधिक होने का मतलब यह है कि व्यापक (लिंग) स्वभाव से ही व्याप्य में उपस्थित है, किसी विशेष काल या द्रव्य के कारण नहीं। अग्नि में धूम गीले ईंधन के कारण होता है, अग्नि के स्वभाव से नहीं। इसलिए आग और धुएँ के बीच औपाधिक व्याप्ति ही हो सकती है, जिसे अनौपाधिक व्याप्ति नहीं कहा जा सकता।

अनुमान के भेद—अनुमान के दो प्रकार होते हैं, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थानुमान व्यक्ति अपने लिए स्वयं करता है, जबकि परार्थानुमान दूसरों को समझाने के लिए किया जाता है। अग्नि और धूम के बीच प्राप्य व्याप्ति का ज्ञान लेकर देवदत्त किसी पर्वत के पास जाता है। वहाँ वह धुआँ उठता हुआ देखता है। धुआँ और आग के सम्बन्ध को स्मरण कर देवदत्त यह जान लेता है कि पर्वत पर अग्नि है। देवदत्त द्वारा किया गया अनुमान स्वार्थानुमान का उदाहरण है। परार्थानुमान दूसरों के लिए किया जाता है, इसलिए उसके पाँच अवयव होते हैं। यह कह सकते हैं कि साध्य की सिद्धि पाँच चरणों में की जाती है। ये चरण क्रमशः प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन कहलाते हैं। जिनके लिए अनुमान किया जाता है उनकी बौद्धिक क्षमता के अनुसार अनुमान तीन चरणों में भी पूरा किया जा सकता है। अनुमान के आगमनात्मक और निगमनात्मक प्रकारों का भी 'श्रीभाष्य' में उल्लेख मिलता है। रामानुज इस विभाजन को सामान्यतोदृष्ट और विशेषतोदृष्ट कहते हैं।[1]

रामानुज उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। उनके अनुसार उपमान 'स्मृति' और 'प्रत्यक्ष' का संयुक्त रूप है। जब हम नीलगाय को गाय के सदृश होने के कारण नीलगाय कहते हैं, तो नीलगाय को उपस्थित होना आवश्यक होता है। इस प्रकार उपमान में इन्द्रिय-सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रमुख है। अतः इसे प्रत्यक्ष का ही एक रूप मानना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि हम बिना प्रत्यक्ष किये भी उपमान का सहारा लेकर ज्ञान उत्पन्न कर सकते हैं, तो इस प्रकार का उपमान अनुमान में समाहित किया जायगा। इसी प्रकार यदि 'यह नीलगाय है', ऐसा निश्चय पहले सुने

---

1. अनुमानं विशेषतोदृष्टं सामान्यतोदृष्टं वा।—वही, 1/1/3

हुए वाक्य के अर्थ के आधार पर किया जाय तो वह शब्द के भीतर आ जायगा। अभिप्राय यह है कि उपमान स्वतन्त्र प्रमाण नहीं हो सकता।

अद्वैत वेदान्त और मीमांसा दर्शन में अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण माना जाता है परन्तु रामानुज अर्थापत्ति को निगमनात्मक अनुमान मानते हैं। अर्थापत्ति में हम एक सत्य से दूसरे सत्य की उपलब्धि करते हैं। यह सत्य है कि देवदत्त मोटा है, यद्यपि वह दिन में भोजन नहीं करता। इसलिए हम यह अनुमान करते हैं कि वह रात में खाता होगा। हमारा यह अनुमान मोटा होने और भोजन करने के बीच व्याप्ति पर आधारित है। देवदत्त रात्रि में भोजन करता है, इसका हम प्रत्यक्ष नहीं करते, केवल अनुमान करते हैं। व्याप्ति मोटा होने और भोजन करने के बीच है, मोटा होने और रात्रि को भोजन करने के बीच नहीं। इसलिए रात्रि में भोजन करने का अनुमान उचित व्याप्ति के अभाव में नहीं किया जा सकता। इस शंका का समाधान यह कहकर किया जाता है कि मोटापा और भोजन के बीच प्राप्त व्याप्ति-सम्बन्ध के आधार पर देवदत्त द्वारा भोजन करने का निश्चय किया जाता है। चूँकि वह दिन में भोजन नहीं करता, ऐसा हम प्रत्यक्ष से जानते हैं, इसलिए हम रात्रि-भोजन निश्चित करते हैं।

अभाव प्रमाण, जिसे मीमांसक और अद्वैतवादियों ने अभाव वस्तु के ज्ञान का साधन माना है, रामानुज को स्वीकार्य नहीं है; क्योंकि अभाव नाम का कोई पदार्थ ही नहीं होता। विद्यमान पदार्थ की एक अवस्था का नाम अभाव है[1] जो अधिकरण रूप ही है, अतः इस अधिकरण का प्रत्यक्ष हो जाने से अभाव का भी प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञान हो जाता है। निर्गुण-आत्मवादी अद्वैत वेदान्त को भी अभाव प्रमाण न मानने का सुझाव न देते हुए विशिष्टाद्वैतवादी यह कहते हैं कि सब जगह प्रभाकर और सांख्य के समान अभाव को अधिकरण रूप ही मानना है और अधिकरण के ज्ञान के लिए इन्द्रियों की करणता मानी जाय।[2] जैसे, यहाँ घट का अभाव है तो पृथ्वी के प्रत्यक्ष द्वारा घटाभाव का भी प्रत्यक्ष हो जाता है, अतः अभाव को जानने के लिए एक अलग प्रमाण (अनुपलब्धि या अभाव) मानना उचित नहीं है।

शब्द प्रमाण—शब्द का ज्ञान तीसरा साधन है। यद्यपि शब्द लौकिक और

---

1. अभावस्व विद्यमानपदार्थाऽवस्थाविशेषत्वोपपादनात्।—वही, 2/2/23
2. सांख्यवत् निर्गुणात्मवादिभिरपि सर्वैरभावप्रमाणं नाभ्युपगन्तव्यम्'''सर्वत्रा भावस्य प्रभाकरसांख्यवत् अधिकरणरूपत्वाभ्युपगमनस्यैव युक्तत्वात्।—'तत्त्वमुक्ताकलाप' की 'भावप्रकाश' नामक टीका, पृ० 274

वैदिक भेद से दो प्रकार के होते हैं, परन्तु शब्द का अर्थ वैदिक या वेद ही प्रचलित है; अर्थात् शब्द वेद को कहते हैं। रामानुज अन्य हिन्दू दार्शनिकों की भाँति वेद को प्रमाण मानते हैं। वे वेद को मीमांसकों की तरह अपौरुषेय और नित्य मानते हैं। परन्तु नैयायिकों की तरह वे वेद को आप्त वचन नहीं मानते। उनके अनुसार आप्त पुरुष भी मनुष्य या जीवात्मा होते हैं इसलिए वे अनन्त, नित्य-वेद के वक्ता नहीं हो सकते। वेद का वक्ता ईश्वर स्वयं है और वह सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा को वेदज्ञान प्रदान करता है। पूर्वमीमांसक सृष्टि के प्रलय और उत्पत्ति में विश्वास नहीं करते। इसलिए रामानुज का उनसे मतभेद है। रामानुज वेद के दो अंग मानते हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड में यज्ञों का वर्णन किया गया है और ज्ञानकाण्ड का विषय परम सत्ता का स्वरूप निर्धारित करना है। मीमांसक ज्ञानकाण्ड को वेद का अंग नहीं मानते। उनके अनुसार ब्रह्म, जो एक सिद्ध वस्तु है, किसी प्रमाण या वर्णन की अपेक्षा नहीं रखता। वेद क्रिया का वर्णन करते हैं, किसी वस्तु के स्वरूप या स्वभाव का नहीं। लेकिन शंकर की तरह रामानुज भी यह मानते हैं कि शब्दों के द्वारा हम सिद्ध वस्तु को जान सकते हैं।[1] शब्दों के क्रियापरक अर्थ को न जानते हुए भी दूसरों के द्वारा की गयी क्रिया से हम शब्द का अर्थ जान लेते हैं। 'पुत्रस्ते जातः' सुनने से किसी मनुष्य के चेहरे पर आयी प्रसन्नता को देखकर संस्कृत भाषा न जाननेवाला पुरुष भी यह तुरन्त जान लेता है कि उपर्युक्त वाक्य द्वारा आनन्ददायक सूचना दी गयी है। रामानुज शंकर से असहमत भी हैं। शंकर के अनुसार श्रुति निर्गुण, निराकार, निर्विशेष सत्ता का उपदेश करती है। लेकिन रामानुज शब्द का विषय सगुण, साकार, सविशेष सत्ता ही मानते हैं।[2] उनका कहना है कि शब्द सर्वथा धातु और प्रत्यय के संयोग से निर्मित होते हैं। प्रत्येक प्रत्यय धातु या क्रिया पद को एक विशेष अर्थ प्रदान करता है। वैदिक शब्द भी इस नियम के अपवाद नहीं हैं। इसलिए 'ब्रह्म' इत्यादि परमसत्ता के वाचक शब्द सगुण, सविशेष सत्ता का बोध कराते हैं, निर्गुण, निर्विशेष का नहीं।

रामानुज और उनके अनुयायियों ने परमतत्त्व का निरूपण करनेवाली अन्य

---

1. अत अख्यादीनामौषयादिशक्तिवत्, इन्द्रियाणां बोधकत्वशक्तिवच्च शब्दस्यापि बोधकत्व शक्तिराश्रयणीया।—वेदार्थसंग्रह, पृ० 42
2. शब्दस्य तु विशेषण सविशेष एव वस्तुन्यभिधान सामर्थ्य पदवाक्यरूपेण प्रवृत्तेः। —श्रीभाष्य 1/1/1

स्मृतियों और पुराणों को भी वेद जैसा ही प्रमाणभूत माना है। 'श्रीभाष्य' में रामानुज ने यह कहा है कि वेद का अर्थ समझने के लिए स्मृति-पुराणों की सहायता लेना आवश्यक है। इसके अनुसार रामानुज-मत में आगम ग्रन्थों की प्रामाणिकता स्वीकृत की गयी है। लौकिक भाषा में ईश्वर-विषयक वचनों को भी प्रमाण माना गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि रामानुज के मत में वेद अनन्त है और इसे किसी पुस्तक या ग्रन्थ तक सीमित नहीं किया जा सकता।

> ....वेदमूलेतिहासपुराणधर्मशास्त्रोपबृंहितपरमार्थभूतानादि निधनाविच्छिन्नपाठ-सम्प्रदायर्ग्यजुस्सामाथर्वरूपनन्त शाखं वेदं चाभ्युपगच्छतामस्माकं किं न सेत्स्यति—वेदार्थसंग्रह, पृ० 10

सत्ख्यातिवाद—विशिष्टाद्वैत की ज्ञान-मीमांसा में सबसे महत्त्वपूर्ण बात रामानुज द्वारा प्रतिपादित 'सभी विज्ञान यथार्थ हैं'[1] का सिद्धान्त है। रामानुज सभी प्रकार के ज्ञान को यथार्थ मानते हैं, जो स्वतःप्रमाण भी होता है।[2] उनके अनुसार प्रत्येक ज्ञान का कोई न कोई विषय होता है, जिसकी सत्ता को वह प्रकाशित करता है।[3] इसलिए उसे असत्य या मिथ्या नहीं कहा जा सकता। रामानुज किसी ज्ञान या अनुभूति का बाधित होना भी नहीं स्वीकार करते। एक ज्ञान दूसरे ज्ञान का बाधक नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक ज्ञान कम से कम कालक्रम से दूसरे से भिन्न होता है। एक ही समय में होनेवाले ज्ञान ही परस्पर बाध्य-बाधक हो सकते हैं, दो भिन्न क्षणों में होनेवाले ज्ञान नहीं। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि रामानुज सभी अनुभूतियों को समान ढंग से सत्य मानते हैं। उनके मत में भी स्वप्न-जगत् की अनुभूतियाँ जाग्रत् संसार की अनुभूतियों की तरह सत्य नहीं हैं। स्वप्नानुभूति जाग्रतानुभूति से निम्न-स्तरीय है, क्योंकि इसकी व्यावहारिक उपादेयता संदिग्ध एवं व्यक्ति-सापेक्ष है। परन्तु स्वप्न-ज्ञान मिथ्या नहीं है क्योंकि उसकी अनुभूति होती है, लेकिन स्वप्नानुभूति के अनुसार जाग्रत् जगत् में व्यवहार करना सम्भव नहीं क्योंकि उस अनुभूति के विषय ईश्वर द्वारा एक सीमित उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त स्वप्न-काल तक के लिए ही रचे जाते हैं।[4] स्वप्नोपरान्त उनकी सत्ता नहीं रह जाती। इस प्रकार जिसे साधारण तौर

---

1. अतस्सर्वं विज्ञानजातं यथार्थमितिसिद्धम्।—वही, 1/1/1
2. सर्वं ज्ञानं स्वत एव प्रमाणं स्वप्रकाशं च।—यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 57
3. न च निर्विषया काचित्संविदस्ति।—श्रीभाष्य, 1/1/1
4. अतः स्वप्ने सृष्टिरीश्वरेणैव कृता।—वही, 3/2/6

पर भ्रम-ज्ञान या असत्य-ज्ञान कहते हैं (यथा, रस्सी-सर्प-भ्रम) वह भी इस अर्थ में सत्य होता है कि उसका विषय असत्य नहीं होता। रस्सी में सर्प की प्रतीति कपोल-कल्पना नहीं है, क्योंकि रस्सी और सर्प दोनों की सत्ता अनुभव-सिद्ध है। रस्सी सर्प प्रतीत होती है क्योंकि रस्सी में सर्पत्व के लक्षण (या आकार) विद्यमान होते हैं।

सभी विज्ञानों को यथार्थता के सिद्धान्त के मूल में वेदान्त द्वारा स्वीकृत त्रिवित्करण या पंचीकरण की प्रक्रिया में रामानुज का अटूट विश्वास है। सृष्टि-रचना के लिए आवश्यक सभी तत्त्व एक दूसरे से मिश्रित होकर ही पदार्थों का निर्माण करते हैं। प्रत्येक पदार्थ में सभी तत्त्वों के अंश विद्यमान हैं, जिसमें कोई एक तत्त्व प्रधान होता है। जब हम प्रधान तत्त्व की अनुभूति न कर अप्रधान तत्त्वों में से किसी एक का प्रत्यक्ष करते हैं तो हमारा प्रत्यक्ष भ्रम कहलाता है। भ्रम भी सत्य होता है क्योंकि प्रत्यक्षीकृत तत्त्व भी विद्यमान रहता है, भले ही वह प्रधान न हो। रस्सी में भी सर्पत्व के कुछ तत्त्व उपस्थित हैं, जिनका प्रत्यक्ष प्रधान रूप में होने से रस्सी में सर्प का भ्रम होता है। यह प्रत्यक्ष अनुपयोगी सिद्ध होता है क्योंकि यह अपूर्ण प्रत्यक्ष होता है अथवा इसमें हमें पदार्थ की समग्रता का ज्ञान नहीं होता। रस्सी में प्रत्यक्षीकृत सर्प परिमित काल के लिए हमारे भय अथवा पलायन का कारण बन सकता है, परन्तु ऐसा सर्प व्यवहार में सर्प सिद्ध नहीं हो सकता। लेकिन इस आधार पर हम भ्रम को मिथ्या ज्ञान नहीं कह सकते। अतएव रामानुज ने यथार्थ ज्ञान को प्रकाशक केवलमात्र इस अर्थ में नहीं माना है कि ज्ञान द्वारा विरोधी अज्ञान का निरास होता है, अपितु विषय का बोध (परिच्छेद) होता है, अर्थात् वह व्यावहारिक उपयोगिता या योग्यता लाता है।[1]

तत्त्व-विचार

तीन तत्त्व—रामानुज ईश्वरवादी हैं। ईश्वर वह परमतत्त्व है जिसे वेदान्त में सगुण ब्रह्म की संज्ञा दी गयी है। ईश्वर चिदचिद्विशिष्ट है। चित् जीवात्मा का नाम है और अचित् प्रकृति का। जीवात्मा और प्रकृति ईश्वर के समान ही सनातन सत्ताएँ हैं। इनका नाश नहीं होता, न तो इनकी रचना ही ईश्वर द्वारा होती है। परन्तु चित् और अचित् ईश्वर के साथ अपृथक् रूप में संयुक्त होते हैं। इसलिए 'ब्रह्म'-संज्ञक परमतत्त्व, ईश्वर, चित् एवं अचित् के उपसंहार का नाम है। परमतत्त्व

---

1. न हि विरोधिनिरसनमात्रं प्रकाशकत्वम्, अपितु अर्थ परिच्छेदः—व्यवहार-योग्यतापादनमिति यावत्। तत्तु ज्ञानस्यैव।—वही, 1/1/1

अथवा 'ब्रह्म' एक जैविक इकाई है, जिसके ईश्वर, जीव और प्रकृति, तीन परस्पर भिन्न अंग हैं। 'ब्रह्म' के अंशभूत 'ईश्वर', 'जीवात्मा' एवं 'अचित्' अथवा 'प्रकृति' रामानुज द्वारा स्वीकृत तीन तत्त्व हैं। ईश्वर, जीव और प्रकृति में अंशगत भेद के कारण परमसत्ता सगुण, सावयव एवं सविशेष सत्ता है, परन्तु अंशों का यह भेद ब्रह्म में स्वगत भेद है। ब्रह्म के अंशभूत तत्त्वों की सिद्धि या अनुभव ब्रह्म से पृथक् रूप में करना अयथार्थ एवं असम्भव प्रयास है। अतः ब्रह्म एक अद्वितीय अथवा अद्वैत सत्ता है। ईश्वर के अद्वितीय होने का कारण यह नहीं कि उसके अतिरिक्त दूसरे तत्त्व ही नहीं हैं। अद्वैत अथवा अद्वितीयता का अभिप्राय केवल इतना ही है कि ब्रह्म के समकक्ष एवं उसके सदृश कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। चित् और अचित् तत्त्व तो हैं, परन्तु ईश्वर के समकक्ष तत्त्व नहीं हैं। वे दोनों ही ईश्वर पर आश्रित हैं और ईश्वर द्वारा ही संचालित होते हैं। जीव और प्रकृति दोनों ही सृष्टि के पहले ईश्वर में ही सूक्ष्म रूप से स्थित रहते हैं और उसी के संकल्प से परस्पर संयुक्त होकर जगत् के रूप में प्रकट होते हैं। जीव और प्रकृति का ईश्वर के संकल्पाधीन होकर स्थूल रूप में प्रकट होना ही उनकी उत्पत्ति तथा ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्व कहा जाता है। इस प्रकार ईश्वर सृष्टि का कर्ता या नियामक है जबकि जीव और प्रकृति उसके उपकरण एवं नियाम्य हैं।

ब्रह्म के दो रूप—ब्रह्म की स्थिति कार्य एवं कारण रूप से दो प्रकार की है। कारण ब्रह्म सृष्टि के पूर्व की स्थिति है। इस स्थिति में ब्रह्म चित् और अचित् को सूक्ष्म रूप से अपने में धारण करके अत्यन्त सूक्ष्म रूप से स्थित रहता है। सूक्ष्मावस्था में जीव और प्रकृति नाम-रूप-विहीन होती हैं। इनकी सत्ता शुद्ध एवं अविकृत होती है। चित् और अचित् परस्पर संयुक्त न होकर अपने-अपने स्वरूप में स्थित होते हैं। ब्रह्म की इस अवस्था को प्रलयावस्था भी कहते हैं। ब्रह्म की स्थूल या कार्यावस्था उसकी कारणावस्था से भिन्न होती है।[1] इस स्थिति में ब्रह्म के नियामक अंश अर्थात् ईश्वर में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। परन्तु चित् और अचित् नामक दो नियाम्य अंशों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होता है। ये दोनों

---

1. तदेवं नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मदशापन्न प्रकृतिपुरुषशरीरं ब्रह्म कारणवस्थानम्। जगतस्तदायत्तिरेव च प्रलयः। नामरूपविभागविभक्तिं स्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्यावस्थम्। ब्रह्मणस्तथाविधस्थूलभाव एव सृष्टिरित्युच्यते।—वेदार्थ-संग्रह, पृ० 17

अंश स्थूल होकर नाम-रूप ग्रहण कर लेते हैं। अव्यक्त प्रकृति व्यक्त हो जाती है और जीवात्माओं के कर्म के अनुसार फल-भोग प्रदान करने के लिए उनके संयोग से नाम-रूपात्मक जगत् के रूप में विकसित हो जाती है। ब्रह्म का चिदंश अथवा जीवात्मा शरीरधारी बन जाता है और अनेक कर्मों का कर्त्ता एवं सुख-दुःख का भोक्ता बन बैठता है। ईश्वर नियामक रूप में उनमें प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार प्रकृति, जीव और ईश्वर परस्पर संयुक्त होकर स्थूल रूप में प्रकट होते हैं। इससे ब्रह्म का अन्तर्यामित्व प्रकट होता है और साथ ही उसका अभिन्ननिमित्तोपादान करणत्व भी।[2]

ब्रह्म का सूक्ष्म अवस्था से स्थूल अवस्था में संचरण उसके अपने संकल्प के अनुसार होना है। यद्यपि यह सत्य है कि सृष्टि के लिए जीवात्मा का प्रारब्ध या 'अपूर्व' कारण बनता है, परन्तु जीवात्मा को कर्म-फल-भोग कराने के लिए प्रकृति में परिणाम उत्पन्न करने का संकल्प ब्रह्म का स्वतंत्र संकल्प है। ब्रह्म से परे कुछ भी नहीं है, जिसे प्राप्त करने की इच्छा से वह सृष्टि-क्रिया का प्रारम्भ करता है। जीवात्मा के उद्धार के लिए ही सृष्टि की जाती है। ब्रह्म के लिए सृष्टि-व्यापार सायास किया जानेवाला कर्म नहीं है। इसलिए सृष्टि ब्रह्म की लीला मात्र है; उससे वह बँधता नहीं है और न तो उसकी स्वाभाविक स्थिति में कोई परिवर्तन आता है। अभिप्राय यह कि ब्रह्मन् एक अविकृत सत्ता है, जो अपने अंशों में परिणाम-रूप विकार होने से स्वयं विकृत नहीं होती। यह सत्ता केवल अवस्था-परिवर्तन करती है। यदि अवस्था-परिवर्तन को ही परिणाम या विकार कहा जाय तो ब्रह्म भी सविकारी एवं परिणामी सत्ता है। रामानुज ने कार्य-ब्रह्म को सत्य सत्ता स्वीकार कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ब्रह्मन् ही सभी रूपों में स्थित है और उसकी चिदचिद्विशिष्ट सत्ता ही एकमात्र सत्य है। इस प्रकार सृष्टि के नानात्व को स्वीकार करते हुए भी रामानुज ने ब्रह्म के अद्वैत, नित्य-अपरिणामी एवं निरवद्य सत्ता को अक्षुण्ण रखा है। उनके अनुसार परिणाम या विकार चित् और अचित् तत्त्वों में होता है और ईश्वर उन विकारों से

---

1. भोग्यभूतस्य वस्तुत अचेतनत्वं परमार्थत्वं सतत विकारास्पदत्वमित्यादयः स्वभावाः, भोक्तुर्जीवात्मनश्चामलापरिच्छिन्नज्ञानानंदस्वभावस्यैवानादिकर्मरूपादिकृतनानाविध सकोचविकासौ भोग्यभूताचिद्वस्तुसंसर्गश्च परमात्मोपासनान्मोक्षश्च इत्यादयः स्वभावाः एवंभूतभोक्तृभोग्ययोरन्तर्यामिरूपेणावस्थानम्, स्वरूपेण चापरिमितगुणाद्याश्रयत्वेनावस्थानमिति परस्य ब्रह्मणः त्रिधावस्थानं ज्ञातव्यमित्यर्थः।—वही, पृ० 22

अछूता रहता है, क्योंकि वह इन तत्त्वों से भिन्न गुण-स्वभाववाला है।[1] तथापि जीव में प्रकृति के समान विकार नहीं होता, धर्मभूत ज्ञान में संकोच-विकास-रूप परिणाम ही उसमें होता है।

ब्रह्म सगुण है—रामानुज के अनुसार परमतत्त्व निर्गुण नहीं है। किसी प्रमाण द्वारा हमें निर्गुण का ज्ञान नहीं हो पाता। यह तो सर्वमान्य है कि ब्रह्म का स्वरूप साधारण-प्रत्यक्ष अथवा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। रामानुज ब्रह्म को योगज-प्रत्यक्ष के भी परे मानते हैं। उनके अनुसार शुद्ध निर्गुण तत्त्व प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्म अनुमेय भी नहीं है। जहाँ तक श्रुतियों का सम्बन्ध है, रामानुज उन्हें निर्गुण ब्रह्म का वर्णन कर तद्विषयक ज्ञान उत्पन्न करने में सक्षम नहीं मानते। श्रुति में शब्दों का प्रयोग किया गया है, शब्द गुण-विशिष्ट सत्ता के ही वाचक होते हैं, निर्गुण वस्तु के नहीं। इसलिए निर्गुण ब्रह्म की कल्पना श्रुति-सम्मत नहीं है। श्रुति में उपलब्ध निर्गुण शब्द प्रकृति के गुणों से रहित सत्ता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, न कि सभी प्रकार के गुणों से रहित सत्ता के अर्थ में। ब्रह्म सत्त्व, रज, तम से युक्त नहीं है। ब्रह्मन् जरा, मरण, भूख, प्यास आदि हेय गुणों से भी रहित है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि परमसत्ता ज्ञान, आनन्द आदि श्रेष्ठ गुणों से भी रहित है। श्रुति स्वयं ब्रह्म को ज्ञानमय, आनन्दमय घोषित करती है। ज्ञान और आनन्द ब्रह्मन् के औपाधिक गुण नहीं हैं, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आनन्द अथवा ज्ञान को ब्रह्मन् का गुण नहीं कहा जा सकता। रामानुज ज्ञान को परमतत्त्व का धर्मभूत एवं सारभूत ज्ञान मानते हैं। सारभूत ज्ञान को स्वरूप-निरूपक धर्म भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी श्रुति-सम्मत है कि ब्रह्मन् अनन्तैश्वर्य का स्वामी है।

गुणाष्टक—सगुण ब्रह्मन् को ही भगवान् कहते हैं। भगवान् का शाब्दिक अर्थ भग का स्वामी है। विष्णुपुराण में ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य, इन छह का सम्मिलित नाम 'भग' बताया गया है। भगवान् उपर्युक्त छह गुणों के स्वामी हैं।[2]

---

1. अतः प्रकृतिप्रकार संस्थिते परमात्मनि प्रकारभूतप्रकृत्यर्थे विकारः प्रकार्यंशे चाविकारः। एवमेव जीवप्रकार संस्थिते परमात्मनि च प्रकारभूत जीवांशे सर्वे चापुरुषार्थाः प्रकार्यंशो नियन्ता, निरवद्यः सर्वकल्याण गुणाश्रयः सत्यसंकल्प एव। —वही, पृ० 17
2. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसःश्रियः।
ज्ञानवैराग्योश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥—विष्णुपुराण, 6/5/74

श्री, बल वीर्य इत्यादि गुणों को विष्णु की पूर्णता का वाचक कहा जाता है।[1] रामानुज विष्णुपुराण में वर्णित इन गुणों को भगवान् का स्वाभाविक गुण मानते हैं। उपनिषद् के लिए परमसत्ता अभिहित सत्यसंकल्पत्व एवं अपहतपाप्मत्व को भी रामानुज ब्रह्मन् का गुण ही मानते हैं। सत्यसंकल्पत्व भगवान् के सभी संकल्पों की आवश्यक पूर्ति का वाचक है। ईश्वर का कोई भी संकल्प व्यर्थ नहीं होता क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है। अपहतपाप्मत्व से अभिप्राय पापों से रहित होना है। ईश्वर सृष्टि-क्रिया में आवश्यक रूप से किये जानेवाले संहार-प्रलय अथवा जीवों के लिए सुख-दुःख दोनों की क्रिया से पाप का भागी नहीं होता, क्योंकि वह स्वयं कर्म-सिद्धान्त का विषय नहीं है। इसलिए वह जो कुछ भी करता है, पाप पुण्य से परे है। रामानुज के अनुसार श्री, बल, वीर्य, तेज, ज्ञान, ऐश्वर्य, सर्वसंकल्पत्व एवं अपहतपाप्मत्व परमसत्ता के स्वरूप-निरूपक धर्म हैं। इन गुणों को विशिष्टाद्वैत परम्परा में गुणाष्टक के नाम से जाना जाता है।

स्वरूप-निरूपक धर्मों के अतिरिक्त ईश्वर अनेक श्रेष्ठ गुणों से युक्त है। वह अपार करुणा, अतीव सुन्दरता एवं अगाध वात्सल्य से युक्त है। ईश्वर सर्वजन-सुलभ, परम सुन्दर तथा अतीव प्रिय सत्ता है। वह एकमात्र शरण्य है। कोई भी जीव उसकी शरण में सरलता से जा सकता है। वह शरणागत के दोषों पर ध्यान नहीं देता और उसे सभी पापों से मुक्त कर देता है। वह दिव्य विग्रह का स्वामी है; उसका अपना रूप मनमोहक एवं शान्तिदायी है। चित्त के एक बार उस रूप में एकाग्र होते ही मानव-मन विश्व की अन्य वस्तुओं में आकर्षण पूरी तरह खो देता है। चित्त में भगवान् की उपस्थिति से मानव की सभी वासनाओं का पूर्ण रूप से विनाश हो जाता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व, दोनों से परे होकर भगवत्परायण जीव भगवत्स्वरूप ही बन जाता है।

ईश्वर का जीव एवं जगत् से सम्बन्ध

हम पहले ही कह चुके हैं कि ईश्वर सृष्टि का कर्ता है। वह सृष्टि का रचयिता है और साथ ही साथ प्रेरक भी है। जीव और प्रकृति, जिनसे इस जगत् का निर्माण हुआ है, ईश्वर के अंशभूत तत्त्व हैं, इसलिए ईश्वर इस जगत् का उपादान कारण है। सृष्टि का प्रारम्भ ईश्वर के संकल्प से होता है, इसलिए वही जगत् का निमित्त या

---

1. ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि, विना हेयैर्गुणादिभिः ॥—वही, 6/5/79

प्रेरक कारण भी है। दूसरे शब्दों में, रामानुज ईश्वर को जगत् का उपादान कारण भी मानते हैं और निमित्त कारण भी।[1] जगत् ईश्वर का कार्य है। अतः जगत् का ईश्वर से कारण-कार्य-सम्बन्ध है। रामानुज सत्कार्यवादी दार्शनिक हैं। उनके अनुसार कार्य-कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है। कारण कार्य से एकदम पृथक् या सर्वथा व्यतिरिक्त नहीं होता। यदि कार्य कारण से एकदम भिन्न हो तो कारण-ज्ञान-कार्य-ज्ञान नहीं उत्पन्न कर सकता। फलस्वरूप उपनिषद् की यह मान्यता कि एक ब्रह्म को जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है, सत्य सिद्ध नहीं होती। इसलिये रामानुज का विचार है कि कार्य कारण से भिन्न होते हुए भी उससे पृथक् नहीं होता; अर्थात् ब्रह्म का कार्य-रूप जगत् कारण-रूप ब्रह्म से पृथक् नहीं है। लेकिन दोनों, ब्रह्म और जगत्, अथवा कारण और कार्य, एक भी नहीं कहे जा सकते। उनमें भेद भी है। ईश्वर अनन्त है, जबकि जगत् का अन्त निश्चित है। इसलिये दोनों के बीच तादात्म्य नहीं हो सकता। ईश्वर और जगत् के बीच न तो पूर्ण अभेद है और न पूर्ण भेद ही हैं। ऐसे सम्बन्ध को रामानुज ने शरीर-शरीरी-सम्बन्ध अथवा देह-आत्मा-सम्बन्ध के रूप में देखा है।[2] ईश्वर जगत् की आत्मा है, जबकि जगत् उसका शरीर है। जगत् में चित् अथवा जीव एवं अचित् अथवा प्रकृति दोनों ही सम्मिलित हैं। इनमें भी आत्मा-शरीर-सम्बन्ध है। जीव प्रकृति में उसकी आत्मा बनकर रहता है और प्रकृति उसका शरीर होती है। जब हम जगत् को ईश्वर का शरीर मानते हैं तो हमें यह समझना चाहिए कि जीवात्मा ईश्वर का शरीर है। ईश्वर जीवात्मा में अन्तर्यामी रूप से उसकी अन्तरात्मा बनकर स्थित रहता है। जीवात्मा का शरीर होने के कारण प्रकृति को भी ईश्वर का शरीर कह सकते हैं। इस प्रकार जगत् ईश्वर का शरीर और ईश्वर जगत् की आत्मा है। इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि शरीर शब्द के प्रयोग द्वारा रामानुज केवल इस बात पर बल देना चाहते हैं कि ईश्वर ही जगत् का उद्देश्य और नियामक है। आत्मा से अभिप्राय उस सत्ता से है जो आन्तरिक है और जिसका शरीर पर नियन्त्रण है। इसलिये रामानुज ईश्वर और जगत् के बीच सम्बन्ध को नियाम्य-नियामक-सम्बन्ध की संज्ञा भी देते हैं। शरीर-शरीरी-सम्बन्ध को प्रोफेसर हिरियन्ना ने जैविक सम्बन्ध कहा है। डॉ० राधाकृष्णन् भी इस सम्बन्ध को जैविक

1; निमित्तोपादानयोस्तु भेदं वदन्तो वेदबाह्या एव स्युः।—वेदार्थसंग्रह, पृ० 29

2. अयमेवात्मशरीरभावः पृथक्सिद्ध्यनर्हाधाराधेय भावः, नियन्तृनियम्यभावः शेषशेषि-भावः—वही, पृ० 18

सम्बन्ध कहना ही पसन्द करते हैं। अंगांगी, विशेषण-विशेष्य, शेष-शेषी[1] इत्यादि सम्बन्ध भी शरीर-शरीरी भाव से ही सिद्ध होते हैं।[2]

ईश्वर और जगत् के बीच जैविक सम्बन्ध की कुछ आवश्यक फलश्रुतियाँ यहाँ विचारणीय हैं। जैविक सम्बन्ध साधारणतः एक ही इकाई के विभिन्न अङ्गों के बीच अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध है। ईश्वर, जीव और जगत् के बीच अन्योन्याश्रय सम्बन्ध केवल सृष्टि-व्यापार के सन्दर्भ में ही सिद्ध होता है। ईश्वर सृष्टि के लिए जीव और प्रकृति पर निर्भर है, क्योंकि जीव और प्रकृति के संयोग से ही संसार का प्रारम्भ हो सकता है। ईश्वर स्वयं प्रकृति से संयोग नहीं कर सकता, क्योंकि वह निर्गुण यानी प्रकृति के गुणों से रहित है। किसी काल में रचे जानेवाले संसार का रूप उसमें उत्पन्न होनेवाले जीवों के 'अदृष्ट' से निर्धारित होता है। ईश्वर जगत् में नाना प्रकार की वस्तुओं का निर्माण एवं घटनाओं का संयोजन जीवात्माओं द्वारा भोग्य कर्मफल के अनुसार ही करता है। अतः यह कहना समीचीन मालूम पड़ता है कि रामानुज ईश्वर और जगत् के बीच शरीर-शरीरी-सम्बन्ध स्वीकार कर जैविक सम्बन्ध की सम्भावना भी मानते हैं। परन्तु इसकी सम्भावना कार्य-ब्रह्म में ही की जा सकती है, कारणब्रह्म में नहीं।

रामानुज दर्शन में स्वीकृत दर्शन की धारणा के आधार केवल उपनिषद् ग्रन्थ ही नहीं हैं। रामानुज ने आगम ग्रन्थों, पुराणों और तमिल प्रबन्धों में वर्णित ईश्वर के स्वरूपों को भी उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म में स्थापित करने का प्रयास किया है। फलस्वरूप वे निर्गुण एवं सगुण में कोई भेद नहीं मानते, उनका ईश्वर तार्किक प्रत्यय या तार्किक सत्य मात्र नहीं है। रामानुज के ब्रह्म को हम धर्म का ईश्वर भी कह सकते हैं। रामानुज ईश्वर को नारायण या विष्णु कहते हैं। धार्मिक अनुभूति की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नारायण पाँच रूपों में स्थित हैं। इनमें सबसे श्रेष्ठ या 'पर' रूप 'नारायण' है। सृष्टि के नियमन के लिए वह 'व्यूह' रूप

---

1. अयमेव हि सर्वत्र शेषशेषिभावः परगतातिशयाधानेच्छया उपादेयत्वमेव यस्य स्वरूपम्, स शेषः, परश्शेषी।—वेदार्थसंग्रह, पृ० 34
2. अतो यस्य चेतनस्य यद्द्रव्यं सर्वात्मना स्वार्थे नियन्तुं धारयितुं च शक्यम्, तच्छेषता, एकस्वरूपं च, तत्तस्य, शरीरमिति शरीरलक्षणमास्थेयम्....अतस्सर्वं परमपुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्यं धार्यं तच्छेषतैकस्वरूपमिति सर्वं चेतनाचेतनं तस्य शरी-रम्।—श्रीभाष्य, 2/1/9

में स्थित है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, ये चार व्यूह हैं। भक्तगणों को पृथ्वी पर अपना साहचर्य प्रदान करने के लिए तथा दुष्ट लोगों से उनकी रक्षा करने के लिए पर-तत्त्व 'विभव' या 'अवतार' ग्रहण करता है। अवतार अप्राकृत ब्रह्म-तत्त्व का प्राकृत रूप में प्रकट होना है। 'अवतार' के मुख्य और गौण, दो भेद हैं। जब विष्णु स्वयं पृथ्वीतल पर अवतरित होते हैं तो उसे मुख्य अवतार कहते हैं। श्रेष्ठ या मुक्त जीवात्मा का किसी विशेष कार्य के लिए पृथ्वी पर आना गौण अवतार कहलाता है। मुमुक्षु लोग मुख्य अवतारों की उपासना करते हैं, जबकि गौण अवतारों की उपासना लौकिक समृद्धि या पार्थिव फलों के लिए की जाती है। भक्तों के प्रेम के वशीभूत होकर ईश्वर स्थान-स्थान पर मूर्तियों में प्रविष्ट होकर स्थित होता है। भगवान् द्वारा अनुप्राणित इन विग्रहों को 'अर्चा' कहते हैं। 'अन्तर्यामी' ब्रह्म सभी जीवों के हृदय में निवास करता है और इनके सुख-दुःख में द्रष्टा-रूप से सर्वदा विद्यमान रहता है।

ब्रह्मन् का पर-स्वरूप अचिन्त्य एवं अज्ञेय है क्योंकि वह अप्राकृतिक है। अपने पर-रूप में वह विष्णु-लोक में निवास करता है। उसका अपना विग्रह तथा निवास-स्थान शुद्ध तत्त्व से निर्मित होता है। 'पर' रूप में नारायण नित्य एवं मुक्त पुरुषों से सेवित होता है। श्री या लक्ष्मी विष्णुप्रिया हैं। वे करुणा एवं कृपा की मूर्ति हैं। भक्त-जन लक्ष्मी द्वारा ही अपने उद्धार के लिए विष्णु की कृपा प्राप्त करते हैं। लक्ष्मी को विष्णु की शक्ति कह सकते हैं। विष्णु की शक्ति के रूप में लक्ष्मी के क्रिया और मूर्ति, दो स्वरूप हैं। क्रिया लक्ष्मी का नियामक और नियन्त्रक रूप है। इस शक्ति द्वारा विष्णु संसार का नियमन और नियंत्रण करते हैं। मूर्ति लक्ष्मी की प्रकृत शक्ति है। इससे विष्णु संसार के लिए आवश्यक उपादान प्राप्त करते हैं।

जीवात्मा—जीवात्मा दूसरा तत्त्व है। इसे रामानुज दर्शन में चित् तत्त्व कहा जाता है। जीवात्मा एक नित्य-चेतन द्रव्य है। यह चिद्रूप या ज्ञान-स्वरूप है। इसकी सत्ता अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य है क्योंकि इसका सारभूत ज्ञान नित्य एवं प्रकाश-रूप है। यह ज्ञान का आश्रय है। जीवात्मा ज्ञाता है और ज्ञान इसका धर्म है। गुण-रूप ज्ञान को धर्मभूत ज्ञान कहते हैं। धर्मभूत ज्ञान संकोच-विमोच-युक्त पदार्थ है। जीवात्मा का ज्ञान कर्म एवं प्रकृति के संयोग से संकुचित होता है। शरीरधारी जीवात्मा का धर्मभूत ज्ञान उसकी इन्द्रियों से सीमित हो जाता है। परन्तु शुभ कर्मों के माध्यम से धर्मभूत ज्ञान का विकास भी होता है। जीवात्मा तत्त्व-ज्ञान अथवा भगवदुपासना द्वारा धर्मभूत ज्ञान को पूर्ण विकसित कर अपने सच्चे

स्वरूप की अनुभूति प्राप्त करने में समर्थ है। अभिप्राय: यह कि स्वभाव से अविकारी होते हुए भी जीवात्मा परिणामी है क्योंकि उसके धर्मभूत ज्ञान में परिणाम या परिवर्तन होता है। आत्मा स्वभाव से ही ज्ञाता भी है[1], परन्तु कर्मों का कर्ता या कर्मफल का भोक्ता शरीर से सम्बन्ध होने के कारण है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। फिर भी प्रकृति-जन्य शरीर से आत्मा का जैविक सम्बन्ध होने के कारण उसे कर्ता या भोक्ता के रूप में जानना अयथार्थ नहीं कहा जा सकता। आत्मा में कर्तृत्व या भोक्तृत्व की उपलब्धि उसके वास्तविक गुण के कारण है जो उसके धर्मभूत ज्ञान के कारण उसमें विद्यमान है। ये गुण आत्मा के साथ अनिवार्य रूप में तब तक विद्यमान रहते हैं जब तक उसका शरीर से सम्बन्ध छूट नहीं जाता। स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकारों की प्राकृतिक देह से सम्बन्ध विच्छिन्न होते ही आत्मा अपने चिद्रूप को पुनः प्राप्त कर लेता है।

जीवात्मा मन, प्राण, इन्द्रिय एवं शरीर से भिन्न एक आनन्दमय सत्ता है। मन, प्राण अथवा इन्द्रियों में प्राप्त चेतनत्व आत्मा का ही गुण है। मन, प्राण, इन्द्रिय इत्यादि को आत्मा धारण करता है और अपने प्रयोजन के लिए उनका उपभोग करता है। जीवात्मा इन्द्रियों की सहायता से अपने इष्ट को प्राप्त करने का प्रयास करता है। इष्ट के निर्धारण में आत्मा स्वतन्त्र रूप से कार्य करता है।

जीवात्मा अहमर्थ-प्रत्यय-वाच्य है।[2] रामानुज के अनुसार जीवात्मा का बोध 'मैं' के रूप में हमेशा होता है। चेतना की सभी अवस्थाओं में उसके आश्रय-रूप से जो विद्यमान है उसे हम 'मैं' के प्रयोग से प्रकट करते हैं। 'मैं जागता हूँ', 'मैं स्वप्न देखता हूँ', 'मैं मोक्ष प्राप्त करता हूँ' इत्यादि वाक्य यह सिद्ध करते हैं कि जीवात्मा और 'मैं' का एक अर्थ में प्रयोग किया जा सकता है। इसलिए रामानुज जीवात्मा या चित् तत्त्व को एक विशिष्ट व्यक्तित्व-सम्पन्न सत्ता मानते हैं। 'मैं' शब्द इस सत्ता का वाचक है। जीवात्मा की वैयक्तिकता कभी नष्ट नहीं होती। संसार की स्थिति में ईश्वर से नियन्त्रित होकर भी आत्मा को कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त है। आत्मा अपनी इच्छा का उपयोग ईश्वरेच्छा से निरपेक्ष होकर करता है। वह ईश्वर पर अपने लक्ष्य के चुनाव के लिए निर्भर नहीं है। ईश्वर पर उसकी निर्भरता केवल कर्मफल प्राप्त होने

---

1. अतो ज्ञातृत्वमेव जीवात्मनः स्वरूपम्।—वही, 2/3/31
2. तस्मात्स्वत एव ज्ञातृतयासिद्धयन्नहमर्थ एव प्रत्यगात्मा, न ज्ञप्तिमात्रम्। अहंभावविगमे तु ज्ञप्तेरपि न प्रत्यक्त्वसिद्धिरित्युक्तम्।—वही, 1/1/1

या न होने में है । मनुष्य अपने संकल्पों की सफलता या असफलता के विषय में ही ईश्वर पर आधारित है । मोक्ष की अवस्था में भी जीवात्मन् का ब्रह्म में लोप सम्भव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म और जीव परस्पर भिन्न सत्ताएँ हैं । जीव अंश है और ब्रह्म अंशी । जीव विशेषण है, ब्रह्म विशेष्य । जीव पर्याय है, ब्रह्म द्रव्य है । मुक्त जीवात्मन् परमात्मन् के साथ साधर्म्य प्राप्त कर लेता है, लेकिन भगवान् नहीं हो पाता । भगवान् की सृजन शक्ति जीवों के लिए सर्वदा अनुपलब्ध है । मुक्त होकर वह जगत् का ब्रह्म की भाँति ही आनन्दोपभोग करता है, परन्तु सृष्टि के सृजन, नियमन में पूरी तरह ईश्वराधीन ही होता है ।

जीव अनेक हैं—सांख्य की तरह रामानुज भी जीवों की अनेकता के समर्थक हैं । जीवात्मा अहमर्थ-प्रत्यय-वाच्य है और विभिन्न 'अहम्' परस्पर भिन्न हैं । जीवात्माओं के बीच यह भिन्नता मोक्ष की स्थिति में भी बनी रहती है, यद्यपि सभी मुक्त पुरुष समान होते हैं और मुक्त जीवों में गुणात्मक भेद नहीं किया जा सकता । परन्तु उनमें संख्यागत भेद रहता है ।[1] अर्थात् जीवात्माएँ अनन्त हैं, उनकी कोई निश्चित संख्या नहीं है ।

जीवात्मा के विशेष लक्षण—जीवात्मा और ईश्वर के कुछ समान लक्षण हैं । प्रत्यक्त्व, चेतनत्व, आत्मत्व इत्यादि गुण आत्मा और ईश्वर दोनों में विद्यमान हैं । परन्तु जीवात्मा के कुछ विशेष धर्म भी हैं, जिनमें अणुत्व, शेषत्व, आधेयत्व, नियाम्यत्व दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं । आत्मा अणु-परिमाण है[2], विभु सत्ता नहीं । अणुत्व आकार की अत्यन्त सूक्ष्मता को कहते हैं । आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म है । अपनी सूक्ष्मता के कारण वह गतिशील है । आत्मा की गति अव्याहत है किन्तु विभु ज्ञान गुण के कारण वह व्यापक है ।[3] वह शरीर के सभी अंगों में संचरण-शील है और सभी लोकों में विचरण कर सकता है । इसलिए आत्मा को व्यापक भी कहते हैं । शेषत्व, आधेयत्व, नियाम्यत्व जीव का ईश्वर पर आश्रित होना प्रकट करते हैं । इन गुणों के आधार पर ही जीव को ईश्वर का 'प्रकार' कहा जाता है । ईश्वर 'प्रकारिन्'

---

1. जीवात्मस्वरूपं....ज्ञानानन्दैकगुणम् । तस्यैतस्य कर्मकृतदेवादिभेदेऽपध्वस्ते स्वरूपभेदो वाचामगोचरः स्वसंवेद्यः ज्ञानस्वरूपमित्येतावदेव निर्देश्यम्, तच्च सर्वेषामात्मनाम् समानम् ।—वेदार्थसंग्रह, पृ० 1
2. स चायमात्माऽणुपरिमाणः ।—श्रीभाष्य, 2/3/31
3. आत्मा स्वगुणेन ज्ञानेन सकलदेहं व्याप्यावस्थितः ।—वही, 2/3/26

है और जीव 'प्रकार'। यह ब्रह्म का कार्य है किन्तु जड़ प्रकृति के समान विकार नहीं है, वह स्वरूपतः ब्रह्म के समान अविकारी है।[1]

आत्मा चेतन है, चैतन्य नहीं—रामानुज के अनुसार जीवात्मन् चेतन द्रव्य है। चैतन्य इसका गुण है। इसलिए आत्मन् चैतन्य या तना से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार विशेष्य विशेषण से या धर्मी अपने धर्म से। आत्मा वह आश्रय द्रव्य है जिसमें चेतना अभिव्यक्त होती है। चेतना या ज्ञान के दो आधार हैं, विषय और विषयी, अथवा वस्तु एवं कर्ता। आत्मा ज्ञान का कर्ता या विषयी है। आत्मा में वस्तुओं की चेतना उनके स्मरण, प्रत्यक्ष या ऐसे ही किसी अन्य कारण से उत्पन्न होती है। इस प्रकार चैतन्य सदा अपने से भिन्न किसी और सत्ता की अपेक्षा रखता है। जिस प्रकार हम ऐसे प्रकाश की कल्पना नहीं कर सकते जिसका न तो कोई आधार हो और जो न तो कुछ प्रकट ही करता हो, उसी प्रकार ऐसा चैतन्य भी सिद्ध नहीं किया जा सकता जो आत्मा से अलग हो और भिन्न आत्मा या अन्य किसी को प्रकट न करता हो। इसके विपरीत, जीवात्मन् एक स्वयं-प्रकाश्य सत्ता है जो वस्तुओं पर निर्भर नहीं है। मुक्ति की अवस्था में भी, जब संसार की सत्ता नहीं रह जाती, यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा चैतन्य-रहित हो जाता है।[2] मुक्त पुरुष की चेतना का विषय ईश्वर होता है। सुषुप्ति में भी आत्मा स्वयं अपने शुद्ध अहम् को विषय बनाकर स्थित होता है। परन्तु आत्मा और चैतन्य के बीच केवल तार्किक ढंग से ही भेद किया जा सकता है। तात्त्विक दृष्टि से उनमें पार्थक्य सिद्ध नहीं होता।

जीवात्मा की बद्ध, मुक्त और नित्य, तीन प्रकार की कोटियाँ हैं। संसार में उत्पन्न शरीरस्थ आत्मा बद्ध जीव है।[3] जिन्होंने प्रार्थना द्वारा ईश्वर-सान्निध्य प्राप्त कर लिया है, वे मुक्त जीव हैं। मुक्त जीव भगवान् के साथ तदाकार हो जाते हैं।[4] उन्हें भी शुद्ध तत्त्व से निर्मित दिव्य शरीर प्राप्त हो जाता है। नित्य-जीव वे हैं जो भगवान् के साथ उनके दिव्य वैकुण्ठ-लोक में उनका परिकर बनकर निवास करते हैं।

---

1. सेयं स्वरूपान्यथाभावलक्षणोत्पत्तिर्जीवे प्रतिषिध्यते।—वही, 2/3/18
2. मुक्तस्य च सर्वज्ञत्वमाविष्कृतं हि श्रुत्या।—4/4/16
3. अमुक्तस्य कर्म नियामकम्, मुक्तस्य तु स्वेच्छयेति विशेषः।—वही, 4/4/15
4. अतो मुक्तस्य सत्यसंकल्पं परमपुरुषसाम्यं च जगद्व्यापारवर्जनम्।—वही, 4/4/20

ऐसे जीव संसार में कभी नहीं आते ।[1] विष्वक्सेन, श्रीपरांकुश, गरुड़ इत्यादि नित्य-जीवों के उदाहरण हैं ।

जीव-जगत्-सम्बन्ध

जीवात्मा प्रकृति से भिन्न तत्त्व है । जीवात्मा अजड़ है और प्रकृति जड़ । जड़ चेतन के परस्पर संयोग से ही जगत् निर्मित है । जड़ प्रकृति के चेतन आत्मा का संयोग ईश्वर के संकल्प से होता है । आत्मा द्वारा संचित कर्मफल का, जिसे 'अदृष्ट' कहते हैं, आत्मा द्वारा भोग कराना इस जड़-चेतन-संयोग का उद्देश्य है । इसलिए रामानुज अद्वैतवादियों की तरह संसार को निरुद्देश्य, असत्य अथवा 'अध्यास' नहीं मानते । उनके अनुसार चिदात्मा का प्रकृति से आवश्यक सम्बन्ध है । जीवात्मा द्वारा संचित कर्म-फल-भोग एवं अज्ञानजनित कर्मप्रवृत्ति की पूर्ति के लिए संसार ही एकमात्र साधन या माध्यम है । जीव की उत्पत्ति संसारी-रूप में उसके कल्याण के लिए होती है । चिदात्मा का जगत् द्वारा कल्याण-साधन ही होता है । यदि जगत् के वास्तविक स्वरूप को अच्छी तरह जान लिया जाय तो जगत् जीव के लिए बन्धन नहीं रह जाता । चिदात्मा के लिए संसार उसके अज्ञान के कारण बन्धन सिद्ध होता है । यदि प्रकृति के विकारभूत शरीर मन अथवा प्राण को चित् तत्त्व के साथ एकाकार न किया जाय या देह को आत्मा न समझा जाय तो संसार में होनेवाले अनेक कष्ट स्वतः नष्ट हो जाएँगे । जीवात्मा यदि शरीर के जन्म, मृत्यु, सुख, भूख, प्यास इत्यादि धर्मों से अपने को पृथक् कर ले तो संसार उसके बन्धन का कारण नहीं रह जाता; अर्थात् संसार नहीं, बल्कि देहात्म-भ्रम बन्धन का कारण है । जब जीव शरीर के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है तभी उसमें प्रकृतिजन्य अहंकार का उदय होता है, जो उसके ज्ञान-स्वरूप को संकुचित कर देता है । इस प्रकृतिजन्य अहंकार को संसार के लिए आवश्यक नहीं कहा जा सकता । जीवात्मा का शुद्ध अहं, जो इस जगत् की आत्मा है, यदि देह से भिन्न रूप में ग्रहण किया जाय और उसे ईश्वर के शरीर-रूप में समझा जाय तो जीव को अहंकार प्रभावित नहीं कर सकेगा । अहंकार-शून्य जीवात्मा शुद्ध चेतन सत्ता है और संसार उससे लिप्त नहीं होता । जड़ के कीचड़ में उत्पन्न होकर कमल-पुष्प जिस प्रकार कीचड़ के गुण-दोष से असम्पृक्त रहता है, वैसे ही जीवात्मा भी संसार से अप्रभावित रहता है ।

---

1. न च परमपुरुषस्सत्यसंकल्पोऽत्यर्थप्रियं ज्ञानिनं लब्ध्वा कदाचिदावर्तयिष्यति ।
—वही, 4/4/22

रामानुज दर्शन में जगत् शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में हुआ है। ब्रह्माण्ड के चौदह लोक पुराणों में प्रसिद्ध हैं। जीवात्मा इन लोकों में देव, मनुष्य, तिर्यक्, स्थावर इत्यादि अनेक शरीरों में स्थित रहता है। जिस प्रकार आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में संक्रमण करता है, उसी प्रकार उसकी गति एक लोक से दूसरे लोक में होती है। भौतिक शरीर के विनष्ट हो जाने पर सूक्ष्म शरीर से वह इन लोकों की यात्रा करता है। परन्तु पृथ्वी लोक इन लोकों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस लोक में जीवात्मा उपासना द्वारा अपने सच्चे स्वरूप का अवबोधन कर सकता है। इसलिए जगत् शब्द साधारणतः पृथ्वी-मण्डल का वाचक समझा जाता है जहाँ जीवात्मन् कार्य कर सकता है, धर्माचरण कर बन्धन से अपने को मुक्त कर सकता है।

अचित्—अचित् विशिष्टाद्वैत में स्वीकृत तीसरा तत्त्व है। यह ज्ञानशून्य और परिणामी द्रव्य है। ज्ञानशून्य होने के कारण यह जड़ द्रव्य कहलाता है। जड़ पदार्थ गतिहीन या अविकारास्पद पदार्थ नहीं है। जड़ अचेतन होता है। यह ज्ञान की तरह (या आत्मा की तरह) स्वयंप्रकाश नहीं है। जड़ द्रव्य न तो स्वयं को प्रकाशित करता है और न किसी अन्य पदार्थ को ही। उसे ज्ञान का आश्रय भी नहीं कह सकते क्योंकि ज्ञान अजड़ द्रव्य का गुण नहीं है। अचित् में विकार या परिणाम ईश्वर के संकल्प और चेतन द्रव्य के संयोग से होता है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि अचित् स्वभाव से अविकारी है। विकार अचित् में विद्यमान है क्योंकि विकार अचित् का कार्य है और रामानुज के अनुसार सभी कार्य कारण में विद्यमान रहते हैं। जीवात्मन् और परमात्मन् अचित् में विकारास्पदता उत्पन्न नहीं करते। विकारीपन तो अचित् का स्वभाव ही है। परन्तु विकारी होते हुए भी अचित् की सत्ता क्षणिक या मिथ्या नहीं है। अचित् जीवात्मन् की तरह एक अनन्त एवं सनातन सत्ता है, क्योंकि यह ईश्वर और चित् द्रव्यों का सहवर्ती द्रव्य है।

अचित् द्रव्य तीन प्रकार का होता है—शुद्ध सत्त्व, मिश्र सत्त्व एवं सत्त्व-शून्य। शुद्ध सत्त्व एक अप्राकृतिक द्रव्य है जिससे आध्यात्मिक या ईश्वरीय लोकों एवं विग्रहों का निर्माण होता है। मुक्तात्मा की देह या शरीर शुद्ध सत्त्व से निर्मित होता है। इसी प्रकार ईश्वर का परमधाम और उसका शरीर भी शुद्ध सत्त्व से निर्मित होता है। शुद्ध सत्त्व उत्पत्ति, विकार, ह्रास या विकास से परे होता है। मिश्र सत्त्व मूला प्रकृति को कहते हैं। यह जगत् का उपादान कारण है। ब्रह्माण्ड का निर्माण इसी से होता है। अद्वारक और सद्वारक, दोनों प्रकार की सृष्टियों के लिए आवश्यक द्रव्य मिश्र प्रकृति ही है। मिश्र सत्त्व को माया या अविद्या भी कहते हैं।

उससे उत्पन्न सृष्टि परम विचित्र एवं अविस्मरणीय है, इसलिए उसे माया कहते हैं। मिश्र सत्त्व ज्ञान का विरोधी है, इसलिए इसे अविद्या कहते हैं।[1] मूला प्रकृति में सत्त्व, रजस् और तमस् से संयुक्त होता है। सत्त्व, रजस् और तमस् जब मिश्रित होकर स्थित हों तो उसे मिश्रित सत्त्व कहते हैं। सत्त्व-शून्य अचित् का नाम काल या समय है। काल सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों से शून्य होता है। यह नित्य और विभु द्रव्य है। काल अपने कार्य का स्वयं पदार्थ है। सृष्टि-व्यापार में ईश्वर कालाधीन होकर कार्य करता है।

प्रकृति अथवा मिश्र सत्त्व—सांख्य दर्शन में त्रिगुणात्मिका प्रकृति को जगत् का मूल कारण कहा गया है। रामानुज भी सृष्टि के मूलभूत कारण को प्रकृति कहते हैं। परन्तु रामानुज सांख्य दार्शनिकों की तरह पुरुष और प्रकृति में आत्यन्तिक भेद पर आधारित द्वैत को स्वीकार नहीं करते। उनके मत में प्रकृति ईश्वर पर आधारित उसकी विशेष शक्ति है, जिसके द्वारा और जिससे वह संसार का उद्भव करता है। माया ईश्वर की सृजन शक्ति है।[2] सृजन या सृष्टि सूक्ष्म प्रकृति को स्थूल रूप में प्रकट करना है। इस सूक्ष्म प्रकृति को अव्यक्त (प्रकृति) कहते हैं। सांख्य दार्शनिक अव्यक्त को प्रकृति की सूक्ष्मावस्था मानते हैं और प्रकृति की स्थूल अवस्था को व्यक्तावस्था कहते हैं। परन्तु रामानुजीय विचारक अव्यक्त शब्द का प्रयोग मिश्र सत्त्व के लिए करते हैं और इसकी चार अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। अव्यक्त की पहली अवस्था 'अविभक्त' 'तमस्' है। इस अवस्था में प्रकृति में विकार के कोई चिह्न नहीं होते। यह भूमि पर पड़े बीज की अवस्था है जो उगने की ओर उन्मुख नहीं है। दूसरी अवस्था 'विभक्त तमस्' कहलाती है। विभक्त तमस् की अवस्था में प्रकृति में विकार उत्पन्न होने की क्षमता स्फुट हो जाती है। इसे हम एक ऐसे बीज की अवस्था कह सकते हैं जो उचित स्थान पर बो दिया गया है और जिसे उगने के लिए आवश्यक पदार्थों (नमी, धूप) का संयोग मिल चुका है। 'अक्षर' प्रकृति की तीसरी अवस्था है। इसमें प्रकृति विकारोन्मुख होकर उस बीज के समान बन जाती है जिसने उगने के लिए आवश्यक मात्रा में नमी का शोषण पृथ्वी से कर लिया है। 'अव्यक्त' प्रकृति की चौथी अवस्था का नाम है। इस अवस्था में प्रकृति विकारों से युक्त होकर विकासोन्मुखी हो जाती है।

---

1. ज्ञानविरोधत्वादविद्या।—तत्त्वत्रय, पृ० 76
2. परब्रह्मशक्तिरूपाया अजाया अवगतेः।—श्रीभाष्य, 1/4/9

प्रकृति-विकास-क्रम—अव्यक्त का विकास रामानुज भी लगभग उसी क्रम में मानते हैं, जिस क्रम का विवरण सांख्य दार्शनिकों ने प्रस्तुत किया है। अव्यक्त का प्रथम विकार महत्तत्त्व है। महत् से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार तीन प्रकार का होता है—सात्त्विक अथवा वैकारिक, राजस अथवा तैजस और तामस अथवा भूतादि। अहंकार के सात्त्विक रूप से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं मन, कुल ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। मन एक अन्तरिन्द्रिय है। यह ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों का कार्य करता है, इसलिए इसे उभयात्मक कहा जाता है। परन्तु रामानुज ने मन को ज्ञानेन्द्रियों के साथ रखा है। उनके अनुसार जीव का सूक्ष्म शरीर, जिससे वह एक शरीर से दूसरे शरीर में या एक लोक से दूसरे लोक में जाता है, केवल छह ज्ञानेन्द्रियों से निर्मित होता है। कर्मेन्द्रियाँ सूक्ष्म शरीर में नहीं होतीं। मन को इसके कार्य के अनुसार कई नाम दिए जाते हैं। रामानुज और शंकर दोनों ही मन को, जब वह निर्णय करता है, बुद्धि कहते हैं, अज्ञान से शरीर को जब वह आत्मा समझता है तब उसे अहंकार कहते हैं और जब चिन्तन या विचार करता है, तब चित्त कहते हैं। सांख्य और रामानुज मत में सृष्टि-कर्म के विषय में महत्त्वपूर्ण मतभेद भी है। सांख्य दार्शनिकों के अनुसार तामस अहंकार से पंचतन्मात्राओं की और पंचतन्मात्राओं से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। परन्तु रामानुज क्रमिक उत्पत्ति मानते हैं। सबसे पहले भूतादि से शब्द-तन्मात्र उत्पन्न होता है, शब्द-तन्मात्र से आकाश की उत्पत्ति होती है, आकाश(महाभूत) से स्पर्श-तन्मात्र और स्पर्श-तन्मात्र से वायु महाभूत की उत्पत्ति होती है। वायु से रूप-तन्मात्र का उद्‌भव होता है, जिससे तेज (अग्नि) की उत्पत्ति होती है, तेज रस-तन्मात्र को उत्पन्न करता है, जो आप् (जल) की उत्पत्ति करता है। जल से गन्ध तन्मात्र उत्पन्न होता है और गन्ध तन्मात्र से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है।

उपर्युक्त चौबीस तत्त्वों से जीवात्मा और परमात्मा के लिए भोग्य वस्तुओं, भोग के साधन और भोग के स्थानों का निर्माण होता है। निर्माण का यह कार्य ब्रह्मा द्वारा किया जाता है। ब्रह्मा द्वारा किये जानेवाले प्रकृति-परिणामों के पूर्व जो कुछ परिवर्तन होता है उसका कर्ता स्वयं परब्रह्म है और उसकी सृष्टि को अद्वारक सृष्टि कहते हैं। ब्रह्म द्वारा की गयी सृष्टि सद्वारक कहलाती है। सद्वारक सृष्टि की प्रक्रिया पंचीकरण है।

पंचीकरण प्रक्रिया—पंचमहाभूतों का पूर्ण विकास हो जाने पर उनमें से प्रत्येक दो बराबर भागों में विभाजित हो जाते हैं। एक भाग तो ज्यों का त्यों रहता है परन्तु

दूसरे अर्ध भाग के पुनः चार सम भाग होते हैं। ये चार भाग, जो अब पूर्ण के 1/8 के बराबर हैं, एक एक करके महाभूतों के अन्य अर्ध भागों से जुट जाते हैं। उदाहरण के लिए आकाश का एक अष्टमांश भाग वायु के अर्धांश भाग से मिलेगा, दूसरा अष्टमांश भाग तेज के अर्धांश भाग से, तीसरा अष्टमांश भाग जल के अर्धांश भाग से और चौथा अष्टमांश भाग पृथ्वी के अर्धांश भाग से मिल जायेगा। इस प्रकार प्रत्येक महाभूत दूसरे से युक्त हो जायेगा। इस क्रिया से सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में पाँचों महाभूत उपस्थित हैं। जो महाभूत अधिक मात्रा में उपलब्ध है उसी नाम से किसी वस्तु को जगत् में जानते हैं, यद्यपि उसमें अन्य भूत भी उपस्थित रहते हैं।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि रामानुज सृष्टि के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक दृष्टिकोण से असहमत हैं। वैशेषिक दार्शनिकों ने सृष्टि को अणुओं से निर्मित बताया है। इनके अनुसार महाभूत अणुओं के परस्पर संयोग से बनते हैं। सबसे पहले दो अणु मिलते हैं, फिर तीन, फिर चार इत्यादि। वस्तुओं में स्थूलता और विभिन्नता अणुओं की संख्या और उसके सम्मिश्रण में भिन्नता के कारण उत्पन्न होती है। रामानुज शंकर की भाँति ही अणु-सिद्धान्त को अवैदिक एवं अकल्याणकर मानते हैं। रामानुज मत में स्वीकृत सृष्टि-प्रक्रिया अद्वैत दृष्टिकोण से भी मेल नहीं खाती। इतना ही नहीं, सृष्टि की सत्ता के सम्बन्ध में दोनों दृष्टियों में अत्यधिक अन्तर है।

जगत् की सत्यता : सत्कार्यवाद

हम पहले ही देख चुके हैं कि रामानुज अचित् को एक नित्य-द्रव्य मानते हैं। जगत् इसी द्रव्य से निर्मित है। सृष्टि के मूल में परब्रह्म का संकल्प है। ईश्वर के संकल्प से ही सृष्टि होती है। इसलिए जगत् के उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों की सत्ता नित्य एवं सत्य है। ईश्वर और उसकी अंशभूता प्रकृति का कार्य-रूप जगत् फिर किस प्रकार असत्य हो सकता है। सत् कारण से सत् कार्य ही उत्पन्न होता है, क्योंकि कारण और कार्य में केवल अवस्था का भेद है। कारण स्वयं कार्य-रूप में परिवर्तित हो जाता है। कार्य कारण से सर्वथा भिन्न तत्त्व या पदार्थ नहीं होता। एक ही पदार्थ एक अवस्था-विशेष में कारण कहलाता है और दूसरी अवस्था में कार्य[1]। इनमें से एक कारण को जान लेने से दूसरा कार्य जान लिया जाता है। कारण और कार्य की एकता अथवा कारण में कार्य की पूर्वोपस्थिति स्वीकार करने-वाले सिद्धान्त को सत्कार्यवाद कहते हैं। रामानुज का सिद्धान्त सत्कार्यवाद का सिद्धान्त

---

1. कारणभूतद्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता।—वही, 1/1/5

है। इसके अनुसार चित् और अचित् ही जगत् के रूप में प्रकट होते हैं। सृष्टि के पूर्व इन्हें इनकी सूक्ष्मता तथा नाम-रूप-विहीनता के कारण असत् कहा जाता है। 'चित्' और 'अचित्' विकसित होकर नाम-रूप धारण कर जगत् की संज्ञा प्राप्त करते हैं। ईश्वर इन दोनों—सूक्ष्म और स्थूल—अवस्थाओं में चित् और अचित् के साथ अपृथक्-सिद्ध रूप से जुड़ा रहता है; यानी ब्रह्म भी कारण से कार्य-रूप में परिवर्तित होता है। अतः जगत् ब्रह्म की ही स्थूलावस्था सिद्ध होता है। इसलिए रामानुज जगत् को ब्रह्मात्मक मानते हैं। यद्यपि ब्रह्मन् का स्वरूप नित्य है और वह अपने स्वरूप से परिवर्तित नहीं होता, तथापि उसके पर्याय या अंश के रूप में स्थित रहनेवाले चित् एवं अचित् परिवर्तित होते हैं। चिदचित् में उत्पन्न परिवर्तन ईश्वर का परिणाम होता है। जगत् ब्रह्म में ही स्थित है, ब्रह्म ही उसका कारण है और वही उसका गन्तव्य भी है। जगत् की नानाविध वस्तुएँ जीव के आध्यात्मिक विकास को सरल एवं सफल बनाने के लिए ही उत्पन्न होती हैं। जीव का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मानुभूति है जिसे वह ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त कर ही उपलब्ध कर सकता है। इसलिए जगत् का गन्तव्य या लक्ष्य भी ब्रह्म ही है। ऐसी स्थिति में जगत् को 'माया', 'अविद्या' या 'अध्यास' से उत्पन्न भ्रम कहना उचित नहीं प्रतीत होता। जगत् की सत्ता पारमार्थिक ही है क्योंकि यह सविशेष ब्रह्म की विभूति है।[1]

रामानुज शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित जगत् की व्यावहारिक सत्ता को औपनिषद या वेदान्त दर्शन में की गयी अनावश्यक खींच तान मानते हैं। वे परमार्थ और व्यवहार के भेद को वेदान्त-समर्थित नहीं मानते। सत्ता के तीन रूप स्वीकार करना अद्वैत सिद्धान्त में अन्तर्विरोध उत्पन्न करता है। प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक सत्ता के ये तीन स्तर यदि परम सत्य मान लिये जायँ तो अद्वैत नहीं रह जाता। रामानुज के अनुसार पारमार्थिक ज्ञान शास्त्रों द्वारा ही उत्पन्न होता है और शास्त्र व्यावहारिक ग्रन्थ हैं। वेदोपनिषद् आदि समस्त शास्त्र जीव-ब्रह्म को सत्य मानकर ही लिखे गये हैं।[2] श्रुतियाँ जब हमें उपासनादि तथा नित्य नैमित्तिक कर्म करने का आदेश देती हैं तब वे हमें धोखा नहीं दे रही हैं। श्रुति-विश्वासी जनों के लिए उपर्युक्त कारण से भी जगत् की सत्यता में विश्वास करना आवश्यक है।

---

1. परं ब्रह्म सविशेषं तद् विभूतिभूतं जगदपि पारमार्थिकमेवेति ज्ञायते।—वही, 1/1/1
2. अतोऽसत्याच्छास्त्रात्सत्यब्रह्मविषयप्रतिपत्तिदुरुपपादा।—वही, 1/1/1

मायावाद की आलोचना : सप्तविध अनुपपत्तियाँ

आचार्य शंकर ने जगत् के मिथ्यात्त्व की सिद्धि के लिए माया सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके मत में जगत् की सत्ता अज्ञान के कारण सत्य या नित्य ज्ञान पड़ती है। वह पदार्थ, जो जगत् का उपादान कारण है और जिसके कारण अद्वितीय ब्रह्मन् पर नानात्व आरोपित कर जगत् की उत्पत्ति की जाती है, माया कहलाता है। माया भाव-रूप एवं अनिर्वाच्य है। इसके कारण ही हमें ब्रह्मन् में जगत् की प्रतीति का भ्रम होता है। माया अनादि है परन्तु इसका अन्त सम्भव है। ब्रह्मज्ञान माया का निवर्तक ज्ञान है। माया नामधेय मात्र है। नाम-रूप के नाश के साथ ही इसका भी अन्त हो जाता है।

रामानुज माया के उपर्युक्त सिद्धान्त को मिथ्यावाद कहते हैं। उन्होंने इसका सशक्त खण्डन किया है। मायावाद के खण्डन के लिए रामानुज ने कुछ तर्क प्रस्तुत किये हैं जिन्हें अनुपपत्ति कहते हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत अनुपपत्तियाँ संख्या में सात हैं जो 'सप्तविध अनुपपत्ति' के नाम से प्रसिद्ध हैं। संक्षेप में इन अनुपपत्तियों का वर्णन हम इस प्रकार कर सकते हैं :—

(1) **आश्रयानुपपत्ति**—शंकर द्वारा प्रणीत माया के विरुद्ध रामानुज का पहला तर्क यह है कि भाव-रूप अनिर्वाच्य माया का कोई आश्रय नहीं है। माया स्वयं अपना आश्रय नहीं है, ऐसा शंकर भी मानते हैं क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त कोई भी स्वाश्रय सत्ता नहीं है, ब्रह्म माया का आश्रय नहीं हो सकता। ब्रह्मन् एक पूर्ण सत्ता है। ब्रह्मन् स्वयंप्रकाश है। स्वयंप्रकाश सत्ता किसी भी कारण से आच्छन्न नहीं हो सकती। माया की सत्ता ब्रह्म की विरोधी सत्ता है। जो ब्रह्म के स्वरूप को आच्छन्न करती है। फलस्वरूप माया का आश्रय ब्रह्म नहीं हो सकता, क्योंकि माया के लिए ब्रह्म को तिरोहित करना आवश्यक है और ब्रह्मन् का स्वरूप तिरोहित नहीं किया जा सकता। ब्रह्मन् की सत्ता अविनाशी सत्ता है, माया से उसका नाश नहीं किया जा सकता। अतः ब्रह्मन् माया का आश्रय नहीं सिद्ध होता। यदि जीव को माया का आश्रय कहा जाय तो यह भी उचित नहीं। ऐसा करने पर तार्किक दृष्टि से अन्योन्याश्रय दोष होगा। जीव माया द्वारा उत्पन्न है, उसकी सत्ता माया से पहले नहीं सिद्ध होती। अतः जीव की माया का आश्रय नहीं हो सकता। इस प्रकार माया का कोई आश्रय नहीं रह जाता।

(2) **तिरोधानानुपपत्ति**—माया को अविद्या कहते हैं। अविद्या ज्ञान का नष्ट हो जाना है। परन्तु शुद्ध ज्ञान नष्ट नहीं होता। उसकी सत्ता अनन्त है। शुद्ध ज्ञान या

परम ज्ञान मानसिक वृत्ति या विकल्प नहीं है। उसका उद्भव नहीं होता इसलिए उसका विनाश भी सम्भव नहीं है। शुद्ध ज्ञान स्वयंप्रकाश है। इसलिए उसका तिरोधान नहीं हो सकता। ज्ञान का तिरोधान करना ही माया का कार्य है, परन्तु हम देख चुके हैं कि ज्ञान का तिरोधान असम्भव है। इसलिए माया असिद्ध है।

(3) **स्वरूपानुपपत्ति**—तीसरी असंगति माया के स्वरूप के विषय में है। अविद्या सत्य नहीं है, क्योंकि अद्वैतवाद में ब्रह्मन् के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं है। इसे असत्य भी नहीं कह सकते क्योंकि अविद्या जगत् का कारण है। इसलिए इसे असत्य जगत् का असत्य कारण कहा जाय तो तार्किक दृष्टि से अनवस्था दोष होगा। यदि मिथ्या जगत् का मिथ्या ज्ञान अविद्या (मिथ्या) द्वारा उत्पन्न होता है तो अविद्या के ज्ञान के लिए भी किसी अन्य मिथ्या सत्ता को स्वीकार करना होगा। उस सत्ता के लिए किसी अन्य सत्ता की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार यह क्रम अनन्त होगा। यदि यह कहा जाय कि माया ब्रह्मन् द्वारा प्रकट की जाती है तो स्थिति और भी जटिल हो जायगी। ब्रह्मन् नित्य-सत्ता है, उसके द्वारा अभिव्यक्त माया भी सनातन होगी। फलस्वरूप जीव सर्वदा ही माया का दर्शन करता रहेगा और उससे कभी भी मुक्त नहीं हो सकेगा।

(4) **अनिर्वचनीयानुपपत्ति**—शंकर के अनुसार माया अनिर्वचनीया है। यह परिभाष्य नहीं है। यह एक सदसद्विलक्षण सत्ता है। रामानुज का कहना है कि सत्ता-ज्ञान या तो सत् के रूप में होता है या असत् के रूप में। जो इनसे परे है उसका ज्ञान नहीं होता। अनिर्वचनीय की अनुभूति या ज्ञान सम्भव नहीं है। जिसका हमें ज्ञान नहीं होता, उसकी सत्ता है, यह कहना उचित नहीं है।

(5) **प्रमाणानुपपत्ति**—माया को स्वीकार करने में चौथी कठिनाई इसकी सिद्धि के लिए आवश्यक प्रमाणों का अभाव है। चूँकि अविद्या सदसद्विलक्षण है, इसका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। प्रत्यक्ष के अभाव में कोई लिंग भी नहीं रह पाता जिसके आधार पर इसको अनुमेय बताया जा सके। अनुमान के लिए लिंग तथा व्याप्ति का होना आवश्यक है। अनिर्वचनीया माया के लिए कोई व्याप्य भी नहीं सिद्ध होता, क्योंकि हम पहले भी देख चुके हैं कि इसका कोई आश्रय नहीं है। व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध के अभाव में व्याप्ति भी नहीं सिद्ध हो पाती। इसलिए अविद्या अनुमान से सिद्ध नहीं होती। श्रुतियाँ माया को ब्रह्मन् की सृष्टि-रचना-शक्ति के रूप में वर्णित करती हैं, किसी अनिर्वचनीय अज्ञान के रूप में नहीं। इसलिए

अनिर्वचनीया माया की सिद्धि के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द, किसी भी प्रमाण का उपयोग नहीं किया जा सकता ।

(6) **निवर्त्तकानुपपत्ति**—अद्वैत वेदान्त के अनुसार अविद्या-निवृत्ति के लिए निर्गुण, निर्विशेष, अद्वैत ज्ञान आवश्यक है । परन्तु रामानुज के मत में निर्विशेष ज्ञान असम्भव है । उनके अनुसार सभी प्रकार के ज्ञान सविशेष होते हैं । इसलिये अविद्या का कोई निवर्त्तक ज्ञान नहीं है । परिणामस्वरूप अविद्या कभी नष्ट नहीं होगी ।

(7) **निवृत्यनुपपत्ति**—किसी निवर्त्तक के अभाव में अविद्या की निवृत्ति सम्भव प्रतीत नहीं होती । अद्वैत मत में ब्रह्म-ज्ञान को अविद्या का निवर्त्तक माना जाता है । ब्रह्म-ज्ञान ब्रह्म-विषयक ज्ञान न होकर ऐसा ज्ञान है जो स्वयं ही ब्रह्म है । ज्ञान ही ब्रह्म है । इसको शुद्ध या निर्विशेष ज्ञान भी कहते हैं । यह ज्ञान ब्रह्मात्मैकत्व-बोध से भिन्न है । ब्रह्म और आत्मा की आत्यन्तिक एकता का ज्ञान अथवा 'अद्वैत ज्ञान' निवर्तक ज्ञान कहलाता है । यह एक उच्चतम मानसिक वृत्ति है । रामानुज कहते हैं कि निवर्तक ज्ञान भी अविद्या के अन्तर्गत ही होगा क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त सब कुछ अविद्या है । इसलिये यह मानना होगा कि अविद्या का निवारण अविद्या द्वारा ही होता है । परन्तु ऐसा करना असम्भव है । अद्वैत वेदान्ती यह भी कहते हैं कि निवर्तक ज्ञान का उच्चतम मानसिक वृत्ति होने के कारण अविद्या का नाश कर देता है और स्वयं नष्ट भी हो जाता है । इसे हम दावाग्नि के उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं । जंगल में लगी आग जंगल को भस्म करके स्वयं भी नष्ट हो जाती है । उसे नष्ट करने के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं होती । इसी प्रकार अद्वैत ज्ञान भी अविद्या को नष्ट कर स्वयं भी नष्ट हो जाता है । परन्तु रामानुज इससे सन्तुष्ट नहीं होते । उनका कहना है कि जंगल दावाग्नि द्वारा निःशेष रूप से नष्ट नहीं हो पाता, आग बुझने के बाद राख बच जाती है । (हम कह सकते हैं कि आग राख के कारण ही बुझती है, अन्यथा उसका बुझना असम्भव होता ।) इसलिए अविद्या राख के रूप में रह सकती है, जिसे पूरी तरह नष्ट नहीं किया जा सकता; अर्थात् अविद्या की पूर्ण निवृत्ति सम्भव नहीं है ।

अद्वैत दर्शन में स्वीकृत अविद्या के विरुद्ध रामानुज द्वारा प्रस्तुत अनुपपत्तियों का यदि विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि रामानुज अविद्या को ज्ञानसापेक्ष, ब्रह्मन् की विरोधी सत्ता एवं असत् जगत् को सत् जगत् के रूप में ग्रहण करना ही

समझते हैं। उपर्युक्त तीनों अर्थों में अविद्या सचमुच अद्वैत दर्शन से सामंजस्य नहीं रखती। यदि अविद्या ज्ञान का अभाव है (जैसा उसमें प्रयुक्त 'अ' से सिद्ध होता है), तो यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान का लोप होता है। परन्तु 'ज्ञान' के ज्ञान के अभाव में ज्ञान का अभाव बुद्धिगम्य नहीं हो सकता। अर्थात् अविद्या के पूर्व ज्ञान विद्यमान होता है, जिसे नष्ट कर अविद्या उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिए यदि हम कहें कि 'घट' नहीं है, तो हमें यह जानना आवश्यक है कि घट किसे कहते हैं। अर्थात् 'घटाभाव' 'घट-ज्ञान' से ही सिद्ध हो सकता है। यही बात अविद्या के बारे में भी सही है। यदि कहा जाय कि अविद्या सविशेष ज्ञान का अभाव नहीं बल्कि परमतत्त्व की अनुभूति का अभाव है, तो यह मानना होगा कि ब्रह्मन् और अविद्या में परस्पर विरोध है। ब्रह्मन् और अविद्या का परस्पर विरोध अद्वैत से सिद्ध नहीं हो सकता। अविद्या ब्रह्मन् के स्वरूप का तिरोधान नहीं कर सकती, क्योंकि ब्रह्मन् की सत्ता नित्य है। ब्रह्मन् का आंशिक आच्छादन भी सम्भव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अविभाज्य है। उसकी सत्ता पूर्ण इकाई की सत्ता है, जिसमें स्वगत-भेद की सम्भावना नहीं है। यदि जगत् की सत्यता अज्ञान है तो जगत् का मिथ्यात्व-बोध ही ज्ञान सिद्ध होगा। परन्तु ब्रह्मन् के स्वरूप का ज्ञान जगत् का मिथ्यात्व-बोध ही नहीं है। अर्थात् जगत् को मायाजन्य जान लेने से ब्रह्म-ज्ञान नहीं प्राप्त हो जाता। ब्रह्म-ज्ञान का अभाव जगत् के मिथ्यात्व-बोध से दूर नहीं हो सकता क्योंकि दोनों दो भिन्न प्रकार के ज्ञान हैं। दोनों ज्ञानों का विषय एक नहीं है। अतः अविद्या की निवृत्ति से ब्रह्म-ज्ञान सिद्ध नहीं किया जा सकता। ब्रह्म-ज्ञान के लिए तो ईश्वर की भक्ति-परक उपासना ही एकमात्र साधन है क्योंकि ब्रह्म-साक्षात्कार ब्रह्म-समर्पित मानस द्वारा ही किया जा सकता है।

मोक्ष-विचार

भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय जन्म-मृत्यु-चक्र को बन्धन और इसकी आत्यंतिक समाप्ति को मोक्ष नाम देते हैं। जन्म और मृत्यु के बाद पुनर्जन्म, स्वभाव से सुख-दुःख से स्वतन्त्र आत्मा के लिए बन्धन ही है। जन्म-मृत्यु, 'मैं', मेरा, 'तेरा' इत्यादि की अनिवार्यता अज्ञान के कारण ही है। तत्त्व-ज्ञानी या तत्त्वाभ्यासी जीवात्मा अपने स्वरूप को प्राप्त कर इस भव-चक्र से सर्वदा के लिए छुटकारा प्राप्त कर लेता है। आत्मा का आत्म-स्वरूप-बोध ही उसका मोक्ष है। रामानुज मोक्ष की उपर्युक्त धारणा से बहुत कुछ सहमत हैं। संसार की वास्तविकता को स्वीकार करते हुए भी संसार की अवस्था और इसमें प्राप्त तथाकथित सुख अथवा आनन्द को रामानुज क्षणिक, सीमित

एवं दुःख-रूप मानते हैं। इसलिए मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य संसार-सागर को पार कर अमरत्व प्राप्त करना है।

रामानुज-मत में स्वीकृत मोक्ष के लक्षणों को अभावात्मक और भावात्मक, दो समुदायों में बाँटा जा सकता है। अभाव-रूप से मोक्ष जीव के लिए असंसारी होने की असम्भावना है। यानी जन्म-मृत्यु से परे हो जाना मोक्ष है। जन्म-मृत्यु वास्तव में शरीर के कारण ही हैं। जीवात्मा का प्राकृत शरीर से सम्बन्ध कर्म-फल के कारण होता है। यदि कर्म-फल का नाश हो जाय तो शरीर-सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं रहेगी। इसलिए कर्मों और उनके फलों का आत्यन्तिक उच्छेद मोक्ष है।[1] जीवात्मा का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व उसके अज्ञान-जनित अहं के कारण है। अतः अज्ञान के नाश द्वारा जीवात्मा के अहंभाव का नाश हो जाता है। फलतः कर्तृत्व और भोक्तृत्व इत्यादि से भी जीवात्मा परे हो जाता है। इसलिए मोक्ष अज्ञान का निरास है। मोक्ष के भावात्मक या विधिपरक लक्षण निषेधपरक लक्षणों के विरोध में रखकर समझे जा सकते हैं। मुक्त जीव अप्राकृतिक, शुद्ध तत्त्व से निर्मित दिव्य लोक में स्थित होता है। इस लोक को परमपद या गोलोक या विष्णुलोक कहते हैं। मोक्ष में परमपद प्राप्त हो जाता है। जीवात्मा के कर्म नष्ट हो जाते हैं, जिससे उसके धर्मभूत ज्ञान का पूर्ण विकास हो जाता है। मोक्ष की अवस्था में धर्मभूत ज्ञान पूर्ण विकसित होता है। यह ज्ञान का विषय ईश्वर का दिव्य विग्रह होता है। मुक्त जीवात्मा सर्वदा ईश्वर का प्रत्यक्ष करता रहता है। इसलिए आत्म-साक्षात्कार नहीं बल्कि ईश्वर-साक्षात्कार ही मोक्ष की स्थिति है। आत्मज्ञान कैवल्य की स्थिति है। इसमें जीवात्मा अपने को प्रकृति से भिन्न रूप में जान लेता है। प्रकृति के विकारों से आत्मा की मुक्ति हो जाने के बावजूद भी जीवात्मा तब तक पूर्ण मुक्त नहीं हो पाता जब तक ईश्वर-साक्षात्कार नहीं हो जाता।[2] अतः ईश्वर-साक्षात्कार यौगिक या प्राकृतिक प्रत्यक्ष नहीं है। इसके लिए जीवात्मा को ज्ञानी या केवली होना आवश्यक है। अभिप्राय यह कि मोक्षावस्था पूर्ण ज्ञान की अवस्था है। ज्ञानवान आत्मा को असीम एकरस आनन्द की अनुभूति

---

1. अतः कर्मणा संबद्धस्य परं ज्योतिरुपसंपद्य बन्धनिवृत्तिरूपा मुक्तिः स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्तिरुच्यते। स्वरूपाविर्भावेप्यभिनिष्पत्ति शब्दो दृश्यते, युक्त्याऽयमर्थो निष्पद्यते इत्यादिषु।—वही, 4/4/2

2. यदुक्तमविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः सा च ब्रह्मविज्ञानादेव भवति इति, तदभ्युपगम्यते।—वही, 1/1/1

सर्वदा होती रहती है । इस आनन्द के अजस्र स्रोत भगवान् के प्रति मुक्तात्मा को अपार प्रेम होता है । इसलिए मोक्ष ईश्वर के लिए ऐकान्तिक प्रेम की स्थिति है ।

जैसा इस विवरण से प्रकट है, रामानुज मोक्ष के लिए जीवात्मा का पूर्ण विनाश आवश्यक नहीं मानते । उनके अनुसार जीवात्मा और परमात्मा के बीच का भेद शाश्वत है । मुक्तात्मा, जिसने ईश्वर की साधर्म्यता प्राप्त कर ली है, वह भी ईश्वर में पूर्णतः विलीन नहीं होता । ईश्वर के साथ मुक्त जनों का साहचर्य तो होता है परन्तु एकत्व या तादात्म्य नहीं हो पाता । ईश्वर सृष्टिकर्ता है, जो जीव कभी नहीं हो पाता । इसके अतिरिक्त ईश्वर के ज्ञान, बल इत्यादि गुणों का संकोच-विकास नहीं होता, जबकि मुक्त जीवात्मा के ज्ञान आदि का संकोच पहले हुआ करता है । वे केवल काल-क्रम से ईश्वरोपासना द्वारा मुक्तिलाभ करते हैं । इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि परमात्मा के साथ जीव का साहचर्य उसकी स्वाभाविक स्थिति है । मुक्त जीव द्वारा मोक्ष-प्राप्ति किसी नये फल की उपलब्धि नहीं है, बल्कि मोक्ष तो पूर्ण-सिद्ध स्थिति का पुनःस्थापन मात्र है ।

मोक्ष के उपाय—मोक्ष-प्राप्ति के लिए सर्वोच्च साधन ईश्वर स्वयं है । इस संसार-रोग की दवा ईश्वर की कृपा ही है । कर्म, ज्ञान, भक्ति इत्यादि सब साधन ईश्वर की कृपा-प्राप्ति के लिए ही किये जाते हैं । ईश्वर कृपा प्राप्त करने के लिए ईश्वर-भक्ति अन्यतम साधन है । कर्म और ज्ञान भक्ति के सहकारी हैं । कर्म से अभि-प्राय वर्णाश्रम-कर्मों से है । वर्णाश्रम-कर्मों का आचरण मृत्यु पर्यन्त बिना किसी फल की कामना के करना ही निष्काम कर्म कहलाता है । निष्काम कर्म नैष्ठिक दृष्टि से करना कर्मयोगी का धर्म है । कर्मयोगी ज्ञान के बाधक को नष्ट कर देता है । इस प्रकार उसका चित्त निर्मल हो जाता है । निर्मल चित्त में तत्त्व-ज्ञान का उदय होता है । तत्त्व-ज्ञान द्वारा जीवात्मा को अपने शुद्ध स्वरूप का बोध हो जाता है । वह अपने को ईश्वर का अंश तथा ईश्वर को अपना अन्तर्यामी नियामक आत्मा मानकर अपने सभी कर्मों को ईश्वर की आराधना के रूप में सम्पादित करता है । यही सच्चा ज्ञान है । कोरे शाब्दिक ज्ञान को मुक्ति नहीं कहते । उपनिषद्-वाक्य का अर्थ-ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं बन सकता । ज्ञान और कर्म एक दूसरे के पूरक हैं । उनके द्वारा हम कर्मगलों का नाश कर सकते हैं । परन्तु प्रारब्ध कर्म नष्ट करने में ज्ञान असमर्थ है । इसलिए मोक्ष के निमित्त वर्तमान शरीर का अन्त आवश्यक है । रामानुज जीवन-मुक्ति की सम्भावना नहीं मानते । उनके अनुसार शरीर-धारण-काल तक हम कर्मों से

छुटकारा नहीं पा सकते। कर्मासक्ति और फलासक्ति का आत्यन्तिक उच्छेद हृदय में ईश्वर की उपस्थिति से ही सम्भव है।

भक्ति का स्वरूप—भगवत्साक्षात्कार के लिए भगवान् का सतत स्मरण करना चाहिए। जब चित्त भगवान् में लग जाता और उनकी दिव्य प्रभा से आलोकित हो जाता है तब उसके लिए सभी अन्य वस्तुओं का आकर्षण समाप्त हो जाता है। ईश्वर ही उसका सबसे प्रिय आधार होता है। चित्त की इस स्थिति को भक्ति कहते हैं। बुद्धि ही भक्ति का रूप ग्रहण कर लेती है।[1] बुद्धिपरक होने के कारण भक्ति को विशेष प्रकार का ज्ञान कहते हैं।[2] भक्ति ज्ञान की पराकाष्ठा है। ज्ञान की चरम परिणति भगवान् के प्रति परम प्रेम में होती है। इसे ही भक्ति कहते हैं। जब मनुष्य को ईश्वर के श्रेष्ठ स्वरूप और कल्याणमय गुणों का बोध हो जाता है तो वह स्वाभाविक रूप से उस परमसत्ता के प्रति सम्मान एवं श्रद्धा अथवा प्रेम करने लगता है। इस ज्ञानाश्रित अथवा ज्ञानोत्पन्न प्रेम को ही भक्ति कहते हैं। रामानुज भक्ति को सवेग या स्थायी भाव नहीं मानते। ईश्वर के प्रति भक्त का प्रेमपूर्ण सम्बन्ध भय या स्वार्थ पर आधारित नहीं होता। भक्ति के लिए उपनिषदों द्वारा प्राप्य ब्रह्मज्ञान अपेक्षित है। तत्त्व-बोध प्राप्त किये बिना कोई भी व्यक्ति भक्ति का अधिकारी नहीं होता। परन्तु मात्र तत्त्व-बोध से, जो प्रेममय नहीं है या परम सत्ता के प्रति निजत्व की भावना से युक्त नहीं है, भक्ति की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार भक्ति भावपूर्ण ज्ञान है, जिससे ईश्वर का ध्यान होना है। ईश्वर के स्वभाव का प्रेमपूर्वक ध्यान करना ही भक्ति है। रामानुज ने ध्यान, उपासना, वेदना (ज्ञान) को भक्ति का पर्यायवाची कहा है। भगवान् के स्वरूप का ध्यान जब तेल की धारा की तरह निरन्तर बँध जाता है तो उसे भक्ति कहते हैं। इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। पहली शर्त यह है कि मन पूरी तरह ईश्वर में केन्द्रित हो। मन का ईश्वर में एकांग होना उपासना कहलाता है। दूसरी बात भगवत्स्वरूप का ज्ञान है। जब तक हम भगवान् के स्वरूप का ज्ञान नहीं रखते, उसका स्मरण नहीं कर सकते। इसलिए ज्ञान को तैलधारावदविच्छिन्न बनाने के लिए ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान, उपासना और ध्यान के बीच इस घनिष्ठ

---

1. भक्तिरपि निरतिशयप्रियानन्यप्रयोजनस्वेतरवैतृण्यावहज्ञानविशेष एव।
2. ब्रह्मप्राप्त्युपायश्च शास्त्राधिगततत्त्वज्ञानपूर्वकस्वकर्मानुगृहीतभक्तिनिष्ठा साध्यानवधिकातिशयप्रियविशदतमप्रत्यक्षतापन्नानुध्यानरूपपरभक्तिरेवेत्युक्तम्। भक्ति शब्दश्च प्रीतिविशेषे वर्तते। प्रीतिश्च ज्ञानविशेष एव।—वेदार्थसंग्रह, पृ० 44

सम्बन्ध के कारण इन तीनों को पर्यायवाची माना गया है। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग में समन्वय करते हुए रामानुज कहते हैं कि भक्ति-रूप ज्ञान-विशेष की उत्पत्ति पर, ईश्वराराधन से प्राप्त ज्ञान से युक्त होकर कर्म या निष्काम कर्म करने से भक्ति-योग की सिद्धि हो जाती है।[1] मोक्ष-साधन-विद्या या ज्ञान भी कर्म (नित्य नैमित्तिक) की अपेक्षा करता है और यज्ञ आदि ज्ञानोत्पत्ति में सहायक हैं। अतः ज्ञान-कर्म-समुच्चय रामानुज को अभीष्ट प्रतीत होता है, हालाँकि कहीं कहीं ज्ञान को ही सर्वोच्च साधन के रूप में माना गया है। वैसे, वैरागी और गृहस्थों के लिए साधन में कुछ अन्तर होते हैं।[2]

भक्ति, साधन, पर एवं परमा—रामानुज दर्शन में भक्ति की तीन अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं जिन्हें साधन और साध्य भक्ति के दो रूपों में भी समझा जा सकता है। साधन भक्ति प्राथमिक अवस्था है। संसार और कर्म-फल-चक्र से उद्वेलित मन जब परमात्मा की सत्ता में विश्वास कर आध्यात्मिक अनुभूति के लिए विकलता का अनुभव करने लगता है तब वह आत्मावलोकन प्रारम्भ करता है। आत्मावलोकन के लिए शम-दमादि से मन को शुद्ध करना आवश्यक है। पातंजल योग में उल्लिखित यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का अष्टांग-योग-साधन भक्ति का ही रूप है। इसके अतिरिक्त अर्चन, वन्दन, पाद-सेवन इत्यादि भागवत् धर्म में मान्य क्रियाएँ भी आत्मावलोकन में सहायक हैं। अष्टांग योग की चरमोपलब्धि समाधि को रामानुज दर्शन में साधन ही माना गया है। साध्य नहीं। वैष्णव साधना-का लक्ष्य भगवत्साक्षात्कार है। समाधि उस साक्षात्कार को सुकर बनाती है। यम-नियम के द्वारा शुद्ध मन भगवान् के ध्यान में एकाग्र होकर जब एकमात्र ईश्वर में लग जाता है तो समाधि की स्थिति होती है। परन्तु मन का एकान्त रूप में लग जाना ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कहा जा सकता। ईश्वर-साक्षात्कार-हेतु कर्मफल या अदृष्ट का पूर्वोच्छेद, भगवत्स्वरूप या जीव-स्वरूप का पूर्ण ज्ञान आदि आवश्यक शर्तें हैं जिन्हें मात्र यम-नियमादि से पूरा नहीं किया जा सकता। दूसरी बात यह है कि वैष्णव साधक ईश्वर को समाधि प्रदान करनेवाला पुरुष-विशेष नहीं मानता जिसमें प्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है। इसके लिए तो भगवान् ही प्राप्य हैं। इसलिए वह जो कुछ

---

1. एवंविधिपरभक्तिरूप ज्ञानविशेषस्योत्पादकः पूर्वोक्ताहरहरूपचीय मानज्ञानपूर्वकः कर्मानुगृहीत भक्तियोग एव।—वही, पृ० 24 गीताभाष्य, 18/73, भी द्रष्टव्य है।
2. देखिए, श्रीभाष्य, 3/4/26

करता है या जानता है वह भगवदाराधन के लिए ही। वह ज्ञानयोनियों की तरह ईश्वर के आराधन को अद्वैत ज्ञान का साधन भी नहीं मानता। अतः प्राथमिक भक्ति ज्ञान-परक होते हुए भी भक्ति ही कहलाती है, ज्ञान नहीं।[1]

पराभक्ति भक्ति की दूसरी अवस्था है। इसमें साधन भक्ति से शुद्ध हुए मन के द्वारा भक्त भगवान् का दर्शन प्राप्त कर लेता है। यद्यपि भगवद्दर्शन अल्पकालिक होता है, तथापि उसकी स्पष्टता या पूर्णता में कोई कमी नहीं होती। भगवत्साक्षात्कार के फलस्वरूप भक्त अपने को भगवान् का अंशभूत मान लेता है और भगवान् को अपनी अन्तरात्मा के रूप में प्रत्यक्ष करता है। भगवान् को अपनी आत्मा के रूप में देखकर साधक एकनिष्ठ हो जाता है। ईश्वर के प्रति उसे अविचल श्रद्धा, अडिग निष्ठा एवं अनन्य प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य आकर्षण उसे लुभा नहीं पाते और साधक अहर्निश भगवान् के स्वरूप-चिन्तन में ही मस्त रहता है।

भक्ति की उच्चतम अवस्था परमाभक्ति में पर्यवसित होती है। पराभक्ति की अवस्था में उत्पन्न ज्ञान और प्रेम सघन एवं उत्कट हो जाते हैं।[2] साधक ब्रह्म के साथ अपनी एकाकारता की अनुभूति में निमग्न हो जाता है। भगवद्गीता (18/57) में इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततम्भव ॥

प्रपत्ति या शरणागति—भक्ति को ज्ञान-प्रधान मानने से इसकी सार्वभौमिकता में कमी आती है। ज्ञानोत्पत्ति का साधन शास्त्राध्ययन है। भारतीय परम्परा में सभी व्यक्ति शास्त्र का अध्ययन करने का अधिकार नहीं रखते। शूद्र और स्त्रियाँ तो कदापि शास्त्राध्ययन नहीं कर सकतीं। यदि भक्ति को शास्त्रजन्य ज्ञान पर आधारित मान लिया जाय तो शूद्रों और स्त्रियों को भक्तिमार्ग का अनुसरण करने का अधिकार नहीं रह जाता। भक्ति के बिना मोक्ष सम्भव नहीं, इसलिए शूद्रगण और स्त्रियाँ मोक्ष से वंचित रह जाएँगी। ऐसी स्थिति वैष्णवों के लिए मान्य नहीं है। भगवान् के प्रति

---

1. अतो वाक्यार्थज्ञानादन्यदेव ध्यानोपासनादि शब्दवाच्यं ज्ञानं वेदान्तवाक्यैर्विधित्सितम्....एवंरूपाध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते उपासनापर्यायत्वाद्भक्तिशः शब्दस्या।—वही, 1/1/1
2. अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते इत्युपासनाख्यं ब्रह्मसाक्षात्कार लक्षण भक्तिरूपापन्न ज्ञानम्।—वही, 1/2/23

भक्ति एवं प्रेम का मानव मात्र को समान अधिकार है। ज्ञान ईश्वर की कृपा से मिल सकता है। जिन्हें ईश्वर का प्रेम प्राप्त हो उनके लिए कुछ भी अप्राप्त नहीं रह जाता इसलिए रामानुज-मत में ईश्वर की कृपा प्राप्त करना ही मोक्ष का उत्कृष्टतम साधन स्वीकार कर लिया गया है। वैसे तो भगवत्कृपा अहैतुकी है, परन्तु उसको प्रकट करने के लिए साधक का ईश्वरार्पित होना आवश्यक है। शरणागति या प्रपत्ति ईश्वर की अहैतुकी कृपा के प्राकट्य के लिए आवश्यक परिस्थिति का ही दूसरा नाम है।

शरणागति का शाब्दिक अर्थ शरण में जाना (आना) है। शरण शब्द का प्रयोग तीन भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जा सकता है। शरण का अभिप्राय एक ऐसा स्थान है जो निरापद एवं सुखप्रद है। संसार दुःखों का सागर है, इसलिए एक भयावह स्थान है। इसके विपरीत ईश्वर-लोक या विष्णु-लोक समस्त सुखों से भरपूर एक शांतिप्रद स्थान है, जहाँ जाकर जीव दुःखों से अन्तिम रूप से छुटकारा पा जाता है। शरण शब्द उस क्रिया का वाचक है जिसके द्वारा उपर्युक्त प्रकार के निरापद स्थान तक पहुँचा जा सकता है। इसके अतिरिक्त शरण स्वयं ईश्वर का भी वाचक कहा जाता है, क्योंकि ईश्वर ही वह शक्तिशाली सत्ता है जिसे उस स्थान का एकमात्र स्वामी मानते हैं जो संसार से एकदम भिन्न है और जहाँ किसी प्रकार के क्लेश, भय या दुःख का समावेश नहीं है। शरण के किसी स्थान-विशेष (वैकुण्ठ) का वाचक होने का अभिप्राय यह नहीं है कि शरणागति मृत्युलोक से वैकुण्ठलोक में पहुँचने का नाम है। वास्तव में शरणागति जीवात्मा की एक विशेष मनोदशा का ही वाचक है। जब जीव ईश्वर को परमलक्ष्य के रूप में जान लेता है और उसे ही मोक्ष का सर्वोत्तम उपाय समझने लगता है तब वह शरणागति की मनःस्थिति में होता है। अतः शरणागति स्थान-परिवर्तन न होकर मात्र दृष्टिकोण का भेद है।

शरणागति और भक्ति—रामानुज ने शरणागति को भक्त के लिए आवश्यक प्रथम चरण और भक्ति की चरम परिणति, दोनों ही रूपों में स्वीकार किया है। वे ईश्वर-कृपा प्राप्त करने के लिए शरणागति को आवश्यक शर्त मानते हैं। भक्ति में परिणत ज्ञान भी अहं का कारण बन सकता है। ज्ञानी भक्त को अपने ज्ञान अथवा भक्ति के कारण अपनी श्रेष्ठता का दर्प होना अस्वाभाविक नहीं है। यह दर्प उसके लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकता, क्योंकि जीव की मुक्ति ईश्वर से स्वतन्त्र कर्तापन या भोक्तापन के अवभास की उपस्थिति में सम्भव नहीं है। इसके लिए भगवद्दर्शन उन्हीं को हो सकता है जिनका वरण ईश्वर करता है। यद्यपि समस्त जीवमात्र ही ईश्वर को समान रूप से प्रिय हैं, तथापि सर्वतोभावेन ईश्वर में शरणागत जीव केवल उसी पर

आश्रित होने के कारण उसे अत्यधिक प्रिय होते हैं।[1] अतः भक्ति की सिद्धि भी शरणागति के माध्यम से ही हो पाती है।

समीक्षात्मक दृष्टि

यों तो सम्पूर्ण वेदान्त दर्शन एवं उसके विभिन्न सम्प्रदाय औपनिषदिक सिद्धान्त के व्याख्यापरक दर्शन हैं, किन्तु उनमें से मौलिकता की दृष्टि से रामानुज दर्शन का स्थान शांकर दर्शन के समकक्ष माना जाता है। साधारण तौर पर ये दोनों वेदान्त सम्प्रदाय एक दूसरे के पूरक एवं एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं। दोनों अद्वैत मत के समर्थक हैं, किन्तु शांकर वेदान्त जहाँ निर्विशेष ब्रह्मात्मैक्य पर विशेष बल देता है वहाँ रामानुज वेदान्त सविशेष ब्रह्म और तदायत्त जीव-जगत् के बीच शरीरात्मभाव सम्बन्ध द्वारा एकेश्वरवाद पर। रामानुज ने भक्तिपरक वेदान्त को पुष्ट आधार दिया और उसका विकास भी किया। यों कहना चाहिए कि शंकर द्वारा किये गये वेदान्त के प्रति एकपक्षीय न्याय से असन्तुष्ट होकर रामानुज ने वेदान्त की व्याख्या इस प्रेरणा से की कि उसके शुद्ध दार्शनिक महत्त्व को धार्मिक गरिमा के साथ प्रदर्शित किया जा सके, ताकि व्यवहार-परमार्थ का भेद भी मिटे तथा ज्ञान-भक्ति का योग भी बने। उन्हें इस उद्देश्य में काफी सफलता मिली, ऐसा निःसंकोच कहा जा सकता है।

दूसरी विशेषता रामानुज दर्शन की है जीव और जगत् के स्वरूप-भेद और परस्पर सम्बन्ध की, जिसे उतना ही महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है जितना किसी भी गौरवान्वित दर्शन में उठायी गयी चेतन और अचेतन के बीच सम्बन्ध की समस्या। चेतन और अचेतन के बीच औपचारिक, आध्यासिक या अविद्यात्मक सम्बन्ध मानना, जैसा सांख्य और शंकर वेदान्त का मत है, समस्या को सुलझाना नहीं उलझाना कहा जा सकता है। कम से कम रामानुज ऐसा ही मानते हैं। थोड़ा सा ही सुधार करके रामानुज इस समस्या का हल ढूँढ़ने में सफल दीखते हैं, धार्मिक और दार्शनिक दृष्टियों में एक साथ। सुधार उन्होंने यही किया कि दोनों को स्वतन्त्र के बदले परतन्त्र तत्त्व मान लिया।

रामानुज दर्शन की तीसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उसमें जगत् की वास्तविक सत्यता सत्योपादान, सत्कार्यवाद एवं परिणामवाद की सुदृढ़ नींव पर प्रतिष्ठित

---

1. अतस्साक्षात्काररूपा स्मृतिस्स्मर्यमाणात्यर्थ प्रियत्वेन स्वयमप्यत्यर्थप्रिया यस्य स एव परेणात्मना-वरणीयो भवतीति तेनैव लभ्यते पर आत्मेति उक्तं भवति।
—वेदार्थसंग्रह, पृ० 53

है। यह सारा जगत् पारमार्थिक सत्य प्रकृति का वास्तविक परिणाम या विकार है। विकार या कार्य उतना ही सत्य होता है जितना उसका कारण, भले ही कुछ अन्य दृष्टि से उनमें भेद हो। अतः इस जगत्-कार्य को मिथ्या कहना धार्मिक पूजा-पाठ, जप-तप, भक्ति-उपासना, उपास्य-उपासक आदि मान्यताओं का उपहार करना जैसा तो होगा ही, साथ ही श्रुति-सिद्धान्त के प्रति अन्याय भी होगा। रामानुज ने इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए जगत् की वास्तविकता एवं जीवों के स्वतन्त्र व्यक्तित्व और महत्ता पर विशेष बल दिया है।

चौथी और सर्वाधिक महत्त्व की विशेषता रामानुज के दर्शन में यह पायी जाती है कि उन्होंने ज्ञान की उत्पत्ति, स्वरूप, प्रामाण्य, अप्रामाण्य, साधन या प्रमाण आदि की जो वस्तुवादी मीमांसा प्रस्तुत की, वह निश्चय ही भारतीय ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। उन्होंने निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष के गहरे विवाद को प्रायः समाप्त कर दिया और भ्रांति की समस्या को काफी सरल करके ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य को व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। जहाँ तक ज्ञान के स्वरूप और जीव के स्व-स्वरूप के बीच सम्बन्ध का प्रश्न है, रामानुज ने वैदिक या हिन्दू दर्शन-परम्परा का पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व ही नहीं किया है, अपितु उसके विकास में योगदान भी किया है। आशय यह है कि रामानुज का ज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त काफी सन्तुलित एवं सुबोध होने के साथ-साथ श्रुति-सिद्धान्त, वेदान्त-परम्परा (बादरायण के ब्रह्मसूत्र की) सांख्य-योग, शांकर वेदान्त (शंकर की ज्ञान-मीमांसा भी वस्तुवादी है) आदि का, समन्वय-रूप है।

रामानुज दर्शन के इन मूलभूत सिद्धान्तों का प्रभाव परवर्ती अन्य वैष्णव वेदान्तसम्प्रदायों पर पड़ा है, विशेषतः ब्रह्म और जीव तथा ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध की अवधारणाओं में। इस दृष्टि से, और 'ज्ञान' आदि के सम्बन्ध में मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करने के कारण, भारतीय चिन्तन-धारा में उनके विशिष्टाद्वैत का विशिष्ट स्थान है।

●

अध्याय 17

अन्य वैष्णव वेदान्त-सम्प्रदाय

विषय-प्रवेश

रामानुज के विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के अतिरिक्त निम्बार्क का द्वैताद्वैत या भेदाभेद, मध्व का द्वैत, वल्लभ का शुद्धाद्वैत और चैतन्य का अचिन्त्य भेदाभेद प्रमुख वैष्णव वेदान्त-सम्प्रदाय हैं। रामानुज के समान ये सभी वेदान्त के प्रस्थानत्रय (वेद-उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता) के समान आगम, स्मृति, पुराण और धर्मशास्त्र को भी प्रामाणिक एवं आधारभूत ग्रन्थ जैसा महत्त्व देते हैं। इनमें से प्रत्येक वैष्णव सम्प्रदाय किसी-न-किसी प्राचीन सम्प्रदाय का प्रतिनिधि माना जाता है। विशिष्टाद्वैत श्री सम्प्रदाय से संबद्ध है, भेदाभेद सनक सम्प्रदाय से, द्वैत ब्रह्म सम्प्रदाय से, शुद्धाद्वैत रुद्र सम्प्रदाय से तथा अचिन्त्य भेदाभेद या माध्व गौड़ेश्वर सम्प्रदाय भी ब्रह्म सम्प्रदाय से ही। स्मार्त-मतावलम्बी शंकर के विपरीत इन्हें आगमिक या आगम-मतानुयायी कहा जाता है। शंकर के सदृश इन आचार्यों में से प्रत्येक ने भी 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखकर वेदान्त दर्शन की व्याख्या (अलग-अलग) प्रस्तुत की, जो प्रायः रामानुज की भक्तिपरक सविशेष ब्रह्मवादी व्याख्या के निकट और शंकर के अद्वैतवाद से काफी भिन्न हैं। चैतन्य सम्प्रदाय का ब्रह्मसूत्र-भाष्य है बलदेव का। यह रोचक बात है कि भिन्न भिन्न व्याख्याताओं ने पर्याप्त भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं।

शंकर ने अपनी अद्वैतपरक व्याख्या के दौरान जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उनका विरोध करते हुए सभी वैष्णव व्याख्याताओं ने शंकर को भ्रान्त, परम्परा-विरोधी एवं प्रच्छन्न बौद्ध बताया है। शंकर के मायावाद एवं विवर्तवाद, निर्विशेष ब्रह्म एवं ब्रह्मात्मैक्यवाद, पारमार्थिक-व्यावहारिक सत्ता-भेदवाद एवं जगन्मिथ्यात्ववाद, ज्ञानमोक्षवाद एवं जीवन्मुक्तिवाद आदि सिद्धान्तों का प्रबल खण्डन करते हुए इन वैष्णव आचार्यों ने परिणामवाद एवं सत्कार्यवाद, सविशेष ब्रह्मवाद एवं ब्रह्म-जीव-

भेदवाद, एक-पारमार्थिक सत्तावाद एवं जगत्सत्यत्ववाद, ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद एवं विदेह-मुक्तिवाद आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया ।

सभी वैष्णव सम्प्रदायों में श्रुति का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म सगुण ईश्वर ही है जो सर्वज्ञ, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, सर्वान्तिर्यामी, परम उपास्य देव तथा उपासक जीवों को मुक्ति देनेवाला माना गया है। कोई सम्प्रदाय ईश्वर को नारायण, विष्णु मानकर उसके ऐश्वर्य को महत्त्व देते हुए वैकुण्ठ लोक में परमपद-प्राप्ति को मोक्ष मानता है तो कोई कृष्ण मानकर प्रेम-भावना द्वारा माधुर्यरूप के रसपूर्ण-आनन्दमय ब्रह्म से सम्पर्क को। परन्तु सायुज्य-सारूप्य-सामीप्य-सालोक्य-रूप मोक्ष को सभी मानते हैं। ईश्वर की शक्ति-रूप माया का अंगीकार, जीव को ब्रह्म का अंश, ज्ञान-रूप, अणु, ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता, अनेक, जड़ से भिन्न तत्त्व मानना तथा भक्ति को मोक्ष-साधन मानना, (मध्व को छोड़कर) ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानना आदि उनके सर्वमान्य सिद्धान्त हैं।

भेदाभेद वेदान्त की परम्परा

निम्बार्क के पूर्व भेदाभेदवाद

भक्तिपरक वैष्णव वेदान्त-सम्प्रदायों में भेदाभेद या द्वैताद्वैत सम्प्रदाय का स्थान ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक दोनों दृष्टियों से विशेष महत्त्व का है। ऐसा लगता है कि शंकराचार्य के पूर्व द्वैताद्वैतवादी परम्परा विद्यमान थी, क्योंकि जहाँ कहीं भी उन्होंने अपने निर्विशेष ब्रह्म को कूटस्थ एवं अपरिणामी बताने की युक्तियाँ दी हैं वहाँ इस मत का खण्डन किया है। ब्रह्म को परिणामी और अपरिणामी एक साथ मानना विरोध-नियम का उल्लंघन होगा, अतः उसे निर्विकार, कूटस्थ, नित्य-चैतन्य-स्वरूप ही मानना चाहिए। प्रो० हिरियन्ना ने एक लेख में शंकर के पूर्ववर्ती भर्तृप्रपञ्च को भेदाभेदवादी बताया है। सम्भवतः शंकर के पूर्व भर्तृप्रपञ्च का भेदाभेद मत प्रचलित था, जिसका खण्डन उन्होंने अपने 'बृहदारण्यक-भाष्य' में किया है। शंकर ने जिस ज्ञान-कर्म-समुच्चय का खण्डन किया, सम्भवतः वह भी इन भर्तृप्रपञ्च का ही मत था। किन्तु इस मत के माननेवाले किसी आचार्य का नामोल्लेख स्वयं शंकर ने कहीं नहीं किया है।

यादवप्रकाश के भेदाभेद का खण्डन रामानुज और वेदान्तदेशिक ने किया है। सुदर्शन भट्ट ने यादव को चेतनाद्वैतवादी बताया है[1] तथा आश्मरथ्य और यादव को

---

1. यादव प्रकाशमते सर्वमपि चेतनमेव, तत्र घटादेश्चैतन्यानभिव्यक्तिमात्रमेवेति न चिदचिद्विभागः।—तात्पर्यदीपिका

एक ही व्यक्ति माना है। परम्परा के अनुसार यादव रामानुज के गुरु थे जो ग्यारहवीं सदी में काञ्ची में निवास करते बताये जाते हैं। रामानुज उनके भेदाभेद के सिद्धान्त से सहमत नहीं थे, अतः अपना विशिष्टाद्वैत मत प्रतिपादित करके उन्होंने अलग सम्प्रदाय की स्थापना की।

भट्टभास्कर अथवा वेदान्ती भास्कर (नवीं सदी) के औपाधिक भेदाभेदवाद का खण्डन वाचस्पति मिश्र (भामती, 1/1/4) तथा रामानुज (श्रीभाष्य, 2/3/18) ने किया है। भास्कर शंकर के मायावाद को महायान बौद्धों के शून्यवाद का दूसरा संस्करण एवं वेदान्त-परम्परा से दूर हटा हुआ बताते हैं।[1] उनका आपेक्ष है कि 'ईश्वर को ही संसारी बतानेवाले ये मायावादी श्रुति-सिद्धान्त और आचार्य (बादरायण) के कथन को पीछे करके अपनी बुद्धि से विश्व की माया-मात्रता की कल्पना करते हैं तथा एक दूसरा ही दर्शन बनाते हैं।'[2]

भास्कर का मत है कि ब्रह्म एक और अनेकरूप है।[3] 'ब्रह्म' शब्द से सर्व-सम्पन्न ईश्वर को ही मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।[4] कार्य-रूप में नानात्व और कारण-रूप में एकत्व या अभेद है।[5] जीवों का परस्पर भेद ही है; उनका परमात्मा से अभेद उसी प्रकार है जैसे फेन-तरंग आदि का समुद्र से। ऐसा मानने से ही बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था बन पाती है, क्योंकि एक जीव के मुक्त हो जानेपर दूसरे की मुक्ति नहीं हो जाती।[6] जगत् कार्य-रूप में ब्रह्म से भिन्न है तो कारण-रूप में ब्रह्म से अभिन्न है, क्योंकि परमात्मा स्वयं अपने को ही कार्य-रूप में परिणत करता है।[7] कार्य और

---

1. विच्छिन्नमूल माहायानिक बौद्धगाथितं मायावादम्।—भास्कर ब्र० सू० भा०; 1/4/25
2. वदन्ति ईश्वरस्यैव संसारित्वम्।—भास्कर भा०, 1/2/6; श्रुत्यर्थमाचार्योक्तिं च पृष्ठतः कृत्वा मायामात्रं स्वबुद्ध्या कल्पयित्वा अन्यदेव दर्शनम् रचयन्ति।—वही, 1/2/12
3. भिन्नाभिन्नरूपं ब्रह्म इति स्थितम्।—वही, 1/14
4. ब्रह्म शब्देन ईश्वरो ग्राह्यः।—वही, 1/1/1
5. कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।—वही, 1/1/4
6. जीवानां परस्परं भेद एव परमात्मना च अभेदः फेनतरंगादीनामिव सत्येवमेकस्मिन् मुक्ते परो न मुच्यते इति उपपद्यते बन्ध-मोक्ष व्यवस्था।—वही, 1/4/10
7. 'परिणामात्' इति परमात्मा स्वयमात्मानं कार्यत्वेन परिणमयामास।—वही, 1/4/25

कारण में भेदाभेद सम्बन्ध है, अतः ब्रह्म और जगत् के बीच भेदाभेद सम्बन्ध ही उचित है। जीव और ब्रह्म के बीच औपाधिक भेदाभेद मानना ही उचित होगा; सत्य उपाधियों (बुद्धि, अहंकार, मन, प्राण, इन्द्रियों आदि) के नष्ट हो जाने पर जीव का ब्रह्म से भेद उसी प्रकार मिट जाता है जिस प्रकार घट के फूट जाने पर घटाकाश और महाकाश का। इस प्रकार श्रुति के सारे वाक्यों—भेदपरक और अभेदपरक—की संगति बैठ जाती है। अतः उनमें समन्वय स्थापित करने के लिए मायावाद का तथा सत्ताभेद का सहारा लेना परम्परा के विरुद्ध होगा। भेदाभेदवाद में ही सारे वाक्यों को समान रूप से समुचित्त महत्त्व मिल पाता है (भा० ब्र ० सू० भा०, 1/4/25)।

रामानुज और निम्बार्क

किसी-न-किसी स्तर पर वेदान्त के समस्त सम्प्रदाय भेदाभेद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए पाये जाते हैं। किन्तु कोई सम्प्रदाय भेद पर अधिक बल देता है, तो कोई अभेद पर। शंकर जीवात्मा और ब्रह्म के अभेद को मानते हुए भी व्यावहारिक स्तर पर कार्य-कारण में भेदाभेद भी मानते हैं। रामानुज जीव, जगत् और ब्रह्म के बीच अभेद पर जोर देते हैं तो कार्य-कारण में भेदाभेद भी मानते हैं—कार्य-कारण के अद्वैत की दृष्टि से विशिष्टाद्वैत में 'अद्वैत' शब्द का प्रयोग तो है, पर अभेद पर अधिक वल देने के उद्देश्य से ही, न कि भेदाभेद को बिलकुल न मानने के कारण। वे मानते हैं कि कारण से कार्य भिन्न है, किन्तु कार्य के कारण से अपृथक्-सिद्ध और अपने स्वरूप-स्थिति-प्रवृत्ति के लिए कारण के अधीन होने से वह कारण से अभिन्न भी है। अतः स्वाभाविक भेदाभेद रामानुज को भी मान्य है। इसी प्रकार जीव, जगत् और ब्रह्म तीन भिन्न तत्त्व होते हुए भी ब्रह्मायत्त होने से जीव और जगत् का ब्रह्म से अभेद रामानुज को मान्य है। वे दोनों ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानते हैं।

निम्बार्क का मत रामानुज के मत से काफी मिलता-जुलता है। निम्बार्क के अनुसार ब्रह्म कारण है और अनन्त शक्तियों से युक्त है, वह अपने स्वभाव से ही निजी शक्तियों (चित् और अचित्) का विक्षेप या प्रसार करते हुए चिदचिदात्मक जगत् के रूप में स्वयं परिणत हो जाता है। शक्तिविक्षेपलक्षण परिणाम के बावजूद अपने असली स्वरूप से वह निर्विकार भी बना रहता है। चिदचिदात्मक जगत्-रूप कार्य अपने कारण अर्थात् ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी, अतः स्वाभाविक भेदाभेद है। भास्कर भी शक्तिविक्षेपलक्षण परिणाम ब्रह्म में मानते हैं, परन्तु वे ब्रह्म और जड़ में स्वाभाविक भेदाभेद मानते हैं और ब्रह्म तथा जीव में औपाधिक भेदाभेद। इसके

विपरीत निम्बार्क जगत् तथा ब्रह्म के बीच जैसा स्वाभाविक भेदाभेद मानते हैं वैसा ही जीव और ब्रह्म के बीच भी। रामानुज-मत में मान्य ब्रह्म तथा जीव-जगत् में विशेष्य-विशेषण-भाव-सम्बन्ध का खण्डन करते हुए भी निम्बार्क उनमें अपृथक्-सिद्धि सम्बन्ध को मानते हैं। शंकर के निर्विशेष एवं चैतन्य मात्र स्वरूप ब्रह्म के विरोध एवं सविशेष ब्रह्म के मानने में निम्बार्क रामानुज के साथ हैं। दोनों ही शंकर के मायावाद एवं विवर्तवाद के स्थान पर जगत्-सत्यत्व एवं परिणामवाद स्वीकार करते हैं। शंकर के ज्ञान के बदले भक्ति और ज्ञान-कर्म-समुच्चय को मोक्ष-साधन, एवं जीवन्मुक्ति का खण्डन करते हुए विदेहमुक्ति का समर्थन करते हैं। ज्ञान को सविशेष-विषयक मानने में भी रामानुज और निम्बार्क एक साथ हैं।

(1) निम्बार्क दर्शन (स्वाभाविक भेदाभेद)

साहित्य

निम्बार्क भास्कर के अनुयायी हैं, पर भास्कर के औपाधिक भेदाभेदवाद से थोड़ा भिन्न स्वाभाविक भेदाभेदवाद का प्रतिपादन करके इन्होंने अलग सम्प्रदाय बनाया, जो एक विशिष्ट धर्म-सम्प्रदाय के रूप में, मुख्य रूप से ब्रज तथा उत्तर प्रदेश में एवं अन्यत्र, बंगाल आदि में प्रचलित रहा है। इनका समय, दासगुप्त के मत में, चौदहवीं सदी के अन्त या पन्द्रहवीं सदी के प्रारम्भ का है। रोमा चौधरी इन्हें ग्यारहवीं सदी का मानती हैं जो अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। कुछ परम्परानुयायी इनका समय काफी पीछे ले जाते हैं, किन्तु रामानुज के बाद ही इन्हें मानना उचित होगा। निम्बार्क का ब्रह्मसूत्र पर भाष्य 'पूर्णप्रज्ञभाष्य' या 'वेदान्तपारिजातसौरभ' के नाम से विख्यात है। यह अति संक्षिप्त वृत्ति के रूप में है। शंकर के सिद्धान्त का प्रतिवाद करने में इन्होंने अधिक अभिरुचि नहीं दिखायी है। 'दशश्लोकी' या 'सिद्धान्तरत्न' तथा 'कृष्णस्तवराज' नामक इनके दो स्वतन्त्र ग्रन्थ भी हैं। इनकी रचनाओं पर टीका-ग्रन्थ भी पाये जाते हैं।

'वेदान्तपारिजातसौरभ' पर 'वेदान्तकौस्तुभ' नामक टीका निम्बार्क के शिष्य श्रीनिवास की है जिसपर उपटीका मुकुन्द के शिष्य केशव काश्मीरी कृत 'वेदान्तकौस्तुभप्रभा' है। निम्बार्क की 'दशश्लोकी' पर तीन टीकाएँ उपलब्ध हैं—पुरुषोत्तमप्रसाद की 'वेदान्तरत्नमञ्जूषा', अज्ञात लेखक की 'लघुमञ्जूषा' तथा हरिव्यास मुनि का भाष्य। निम्बार्क के 'श्रीकृष्णस्तवराज' पर भी पुरुषोत्तमप्रसाद का भाष्य है 'श्रुत्यन्तसुरद्रुम' किशोरदास के अनुसार देवाचार्य के शिष्य पुरुषोत्तमप्रसाद का समय

1623 ई० है। निम्बार्क के मत का अनुसरण करनेवाले स्वाभाविक भेदाभेदवादी धर्मदेवाचार्य या देवाचार्य ने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'सिद्धान्तजाह्नवी' नामक भाष्य भी लिखा है जिसपर सुन्दर भट्ट रचित 'सिद्धान्तसेतुका' नामक टीका है। निम्बार्क मतानुसारी 'गीता' पर भाष्य 'तत्त्वप्रकाशिका' केशव काश्मीरी भट्ट का है जिन्होंने तैत्तिरीयोपनिषद् पर 'तैत्तिरीयप्रकाशिका' नामक भाष्य भी लिखा है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थ भी हैं, जैसे केशव काश्मीरी द्वारा रचित 'क्रमदीपिका' तथा श्रीनिवास का 'लघुस्तवराजस्तोत्र'; इन दोनों पर क्रमशः गोविन्द भट्टाचार्य तथा पुरुषोत्तम की टीकाएँ हैं।

ज्ञान-मीमांसा

निम्बार्क उसी प्रकार वस्तुवादी या बाह्यार्थसत्यवादी तथा ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान के साधन (प्रमाणत्रय) को स्वीकार करते हैं जिस प्रकार रामानुज। ज्ञान यथार्थ, वस्तु-विषयक तथा आत्मा का धर्मभूत द्रव्य है। यथार्थ ज्ञान या प्रमा बुद्धिवृत्ति के नहीं जीव के आश्रित होती है। प्रमा या धर्मभूत ज्ञान में संकोच-विकास कर्मवश होता है, इसलिए कि आत्मा के स्वरूप-ज्ञान के समान यह स्वयंप्रकाश नहीं है। आत्मा सदा ही ज्ञातृत्व धर्मवाला होता है, अतः ज्ञान का कभी अभाव नहीं होता। इन्द्रिय आदि निमित्त न मिलने से सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि दशा में वह प्रकट नहीं हो पाता। यदि उसका अभाव माना जाय तो कभी भी आविर्भाव सम्भव नहीं होगा।[1] ज्ञान आत्मा का आगन्तुक गुण नहीं है, जैसा न्याय-वैशेषिक दर्शन में मान्य है। ज्ञान आत्मा में गुण और गुणी के सम्बन्ध से नित्य जुड़ा हुआ रहता है। गुण और गुणी में भेदाभेद सम्बन्ध होता है; गुण आत्मा से भिन्न द्रव्य होते हुए भी उससे अभिन्न या अपृथक्-सिद्ध है। निम्बार्क का यह ज्ञान-सिद्धान्त रामानुज के मत से साम्य रखता है (गुणभूतस्य ज्ञानस्य व्यतिरेकस्तु गन्धवदुपपद्यते।—वे० पा० सौ०, 2/3/26)।

रामानुज के समान निम्बार्क प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, तीन प्रमाणों को मानते हैं। इन्द्रिय और विषय के संनिकर्ष से जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है जो बाह्य और आन्तर दो प्रकार का होता है। बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष इन्द्रियज है तथा सुख-दुःख आदि आन्तरिक विषयों का इन्द्रिय-निरपेक्ष आन्तर। व्याप्ति पर निर्भर ज्ञान अनुमान है। इन दो ज्ञानों से अतिरिक्त एवं सर्वाधिक प्रामाणिक ज्ञान श्रुतिमूलक होता है।

---

1. अस्य ज्ञानस्य सुषुप्त्यादौ सत एव जाग्रदादौ अभिव्यक्तिसंभवात् यावदात्मभावित्वमेव, यथा पुंस्त्वादेः बाल्ये सत एव यौवनेऽभिव्यक्तिः।—वेदान्तपारिजातसौरभ, 2/3/30

श्रुति श्रवण-मनन-निदिध्यासन का विधान करती है। वस्तु के साक्षात्कार का कारण निदिध्यासन है, उसके बहिरंग साधन श्रवण और मनन हैं।--आचार्य के मुख से वाक्यार्थ का ग्रहण श्रवण है, श्रुत्यनुकूल तर्क से उसपर विशेष विचार मनन है तथा ध्यानपूर्वक उपदिष्ट वस्तु का साक्षात्कार निदिध्यासन है। इनका अपूर्व विधान श्रुति द्वारा हुआ है। अर्थात् वेद-वचनों में कहीं किसी भी रूप में अर्थवाद नहीं है। कर्मपरक और ब्रह्मपरक सारे के सारे वेद-वचन मुख्य वृत्ति से ब्रह्म के ज्ञान का श्रवण-मनन-निदिध्यासन द्वारा विधान करते हैं, कर्म का नहीं, जैसा मीमांसा का मत है। ब्रह्मज्ञान नित्य एवं निरतिशय होता है—कर्म से निर्वेद हो जाने पर उसकी जिज्ञासा होती है। ब्रह्म ही सम्पूर्ण वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। चूँकि कर्म के फल नाशवान और सातिशय होते हैं, अतः जगत् के कारण ब्रह्म में ही सब शास्त्रों का समन्वय होता है। ज्ञान-संकोच-रूप अज्ञान या अनादि-कर्म-रूप अविद्या के दोष जब सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं तब जीवात्मा को अपरिमित और शुद्ध ज्ञान होता है। शास्त्र के ज्ञान के समान प्रत्यक्ष और अनुमान के ज्ञान सर्वथा निर्दोष एवं प्रामाणिक नहीं होते। जैसे प्रत्यक्ष में भ्रम की सम्भावना बनी रहती है तथा अनुमान में अनिश्चयात्मकता की, उस प्रकार का दोष शास्त्रीय ज्ञान में नहीं होता। कोई भी ज्ञान निर्विषयक, निर्विशेष-विषयक या असद्विषयक नहीं होता। भ्रम भी सद्विषयक ही होता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष अनुमान अपने अपने विषय में प्रमाण हैं, किन्तु शास्त्र-ज्ञान सर्वथा निर्दोष एवं प्रामाणिक होने से अपेक्षाकृत अधिक विशुद्ध होता है; उसमें भ्रान्ति की सम्भावना बिलकुल नहीं होती; वह सभी परिस्थितियों में समान रूप से परिपूर्ण एवं भ्रान्तिरहित ज्ञान होता है।

निम्बार्क रामानुज के समान सत्ख्यातिवादी हैं। अनिर्वचनीय ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति जैसे सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए सत्ख्यातिवादी निम्बार्क का कथन है कि प्रमाण के बल पर भ्रान्त ज्ञान का बाध उसी प्रकार होता है जिस प्रकार पुण्य से पाप का या औषधि से रोग का। द्विचन्द्र का ज्ञान एक चन्द्र के ज्ञान से बाधित हो जाता है। शुक्ति में रजत-ज्ञान का बाध शुक्ति और नेत्र के सन्निकर्ष द्वारा शुक्ति के स्वरूप के आवरण की निवृत्ति से होता है। आरोपित सर्प भय आदि का हेतु नहीं होता है किन्तु सर्प-विषयक सत् भ्रान्त ज्ञान ही भय का हेतु है। असत् विषय भयकारक नहीं होता। असत् का आरोप सम्भव नहीं, क्योंकि स्वरूपतः असत् शश-शृंग का आरोप देखा-सुना नहीं जाता। सदसदनिर्वचनीय कोई वस्तु ही नहीं होती, अतः सत् और असत् में विवर्त या अध्यास मानना भी गलत है। पंचीकरण प्रक्रिया से शुक्ति-रजत के भ्रम-स्थल में दोष-संस्कार ही कारण है। जिस प्रकार

मृत्पिण्ड के विज्ञान से घट आदि विकारों का ज्ञान होता है, उसी प्रकार रज्जु-विज्ञान से सर्प या शुक्ति-ज्ञान से रजत का ज्ञान नहीं होता; अतः अद्वैत वेदान्त का विवर्तवाद गलत है और परिणामवाद ही श्रुति-प्रतिपादित है।

तत्त्व-मीमांसा

निम्बार्क मत में (जो पश्चिम के देकार्त से तुलनीय है) स्वतन्त्र और परतंत्र, दो सत्ताएँ हैं। स्वतन्त्र तत्त्व परब्रह्म है, परतन्त्र चेतन और अचेतन हैं। परब्रह्म विश्वात्मा भगवान् की सत्ता स्वतन्त्र, अर्थात् किसी अन्य सत्ता के अधीन नहीं है; अभेदपरक वेद वाक्य स्वतन्त्र सत्ता-विषयक है। भेदपरक वेद-वाक्य परतन्त्र सत्ता-विषयक हैं; भेद-निषेध-परक वाक्य चेतन-वर्ग जीव तथा अचेतन प्रकृति की स्वतंत्रता का निषेध करते है। परतन्त्र सत्ता दो प्रकार की होती है, कूटस्थ और विकारशीला। कूटस्थ जन्म आदि विकारों से रहित जीव है और विकारशील एवं कार्य-कारणात्मक प्रकृति विक्रियावान् होते हुए भी अनादि और अनन्त है। जीव या पुरुष तथा अचेतन प्रकृति परमात्मा से भिन्न अस्तित्व रखते हुए भी उसके अधीन हैं। इस प्रकार तीन परस्पर भिन्न तत्त्व हैं।

सर्वशक्तिमान पुरुषोत्तम किसी अन्य उपादान की अपेक्षा के बिना स्वसंकल्प मात्र से जगत् की सृष्टि करता है। वह निमित्त और उपादान दोनों कारण है। अपनी शक्ति के विक्षेप द्वारा वह स्वयं जगत् के रूप में परिणत हो जाता है। निरवयव होते हुए भी ब्रह्म का परिणाम उसकी शक्ति के योग से ही होता है; वह स्वरूप से अविकारी भी रहता है, जैसे मकड़ी अपने अप्रचित स्वरूप को बनाये रखकर भी अपनी शक्ति का विक्षेप करके जाले के रूप में परिणत हो जाती है। 'परिणाम' शब्द का अर्थ है शक्ति मात्र का विक्षेप। शुद्ध ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादन कारण है। चेतन और अचेतन-रूप शक्तियों में सूक्ष्म रूप में विद्यमान (सत्) कार्यों को वह स्थूलावस्था में प्रकाशित कर देता है, अतः जगत् का उपादान कारण है। अपनी-अपनी अनादि कर्म-वासना के वशीभूत संकुचित ज्ञानवाले जीवों के कर्म-फल-भोग के योग्य ज्ञान को प्रकाशित करके भोग-साधनों के साथ उनका संयोजन करता है, अतः निमित्त कारण भी वही ब्रह्म है। अर्थात् प्रकृति और पुरुष के बीच सम्बन्ध स्थापित करनेवाला ब्रह्म दोनों से भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व है। उसके सत्य, ज्ञान आदि स्वरूप कार्य के प्रति निरपेक्ष हैं, अतः परिणामी होते हुए भी ब्रह्म अविकारी बना रहता है।[1]

---

1. कृतिविषयत्वं परिणामात् सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म स्वशक्तिविक्षेपेण जगदाकारं

अब प्रश्न यह है कि अप्रच्युत स्वरूपवाला निरवयव ब्रह्म यदि जगत् के रूप में परिणमित होता है तो जगत्, जो विलक्षण अचेतन स्वभाववाला है, ब्रह्म ही कहा जायगा और यह कि ब्रह्म में जीवों के प्रति वैषम्य-नैर्घृण्य दोष भी आ जायगा। किन्तु भेदाभेदवाद में इस प्रकार के दोषों की उद्भावना ठीक नहीं। कारण यह है कि कार्य कारण से विलक्षण न हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। गोमय से विलक्षण वृश्चिक आदि की उत्पत्ति देखी जाती है; पुरुष से केश, नख आदि की भी।[1] इसी प्रकार परिणाम केवल सावयव वस्तु में हो, ऐसा भी कोई नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता।[2] वस्तुतः ब्रह्म की विचित्र शक्ति ही विकृत होती है, पूर्ण ब्रह्म का नित्य-स्वरूप नहीं। शक्तिविक्षेपलक्षण परिणाम मकड़ी के दृष्टान्त पर, समेटे हुए कपड़े को प्रसारित करने के दृष्टान्त पर, सगुण सर्वशक्तिमान ब्रह्म का जगत्-रूप में परिणाम सम्भव है। जैसे पृथिवी के ही विकार हीरा-माणिक्य आदि आकृति में पृथिवी से भिन्न या विलक्षण प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव में मिट्टी ही हैं, उसी प्रकार जीव-जगत् विलक्षण स्वभाव-वाला होते हुए भी ब्रह्म से न तो अत्यन्त भिन्न है और न अभिन्न ही।[3] जीवों के प्रति वैषम्य-नैर्घृण्य दोष इसलिए नहीं होता कि विषम-सृष्टि जीव-कर्म-सापेक्ष है (पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा पापः पापेन।—बृहदा० 6/4/5)। इन श्रुति के बल पर पर्जन्य (मेघ) के समान कर्ता को दोष नहीं होगा, क्योंकि जो जीव जैसा करता है वैसा भोगता है।[4] प्रत्येक जीवात्मा को जगत् का कारण स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उपादान कारण के रूप में उन्हें प्रकृति की उसी प्रकार अपेक्षा है जिस प्रकार कुम्हार को मिट्टी आदि उपादान की। किन्तु सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्म या ईश्वर को किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं होती, अतएव उसे अभिन्ननिमित्तोपादन कारण मानना चाहिए।[5]

स्वात्मानं परिणमय्य, अव्याकृतेन स्वरूपेण शक्तिमता कृतिमता परिणतमेव भवति।—वे० पा० सौ०, 1/4/26

1. प्रकृतिविकारयोः सर्वथा सादृश्यनियमस्य प्रतिषेधमात्रत्वात्।—वे० पा० सौ०, 2/1/7
2. वही, 2/1/26
3. भेदव्यपदेशान्न तयोरत्यन्ताभेदोऽस्ति यतो हिताकरणादि दोषप्रसक्तिः स्यात्।—वही, 2/1/21
4. विषमसृष्टिसंहारादिनिमित्त वैषम्य नैर्घृण्ये जीवकर्मसापेक्षत्वात्पार्जन्यस्येव जगज्जन्मादि कर्तुर्न स्याताम्, तथैव दर्शयति 'पुण्यो वै....'।—वही, 2/1 33
5. निमित्तत्वमुपादानत्वं च ब्रह्मण आम्नानात् ब्रह्मैवोभय रूपम्।—वही, 1/4/24

ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होने से अन्तर्यामी है। जैसे मिट्टी का घड़ा मिट्टी के भिन्न कुछ नहीं है, उसी प्रकार जगत् पूरा-पूरा ब्रह्म ही है (सर्वं खल्विदं ब्रह्म।—छा० उ०, 3/14/1)। ब्रह्म विभु एवं परात्पर भी है; वह पूर्ण रूप से मात्र जगत्-रूप ही नहीं है, इससे अधिक (भूमा) है, तथापि इसका नियामक एवं अन्तर्यामी आत्मा है। आप्तकाम, परिपूर्ण, आनन्दमय होते हुए भी लीला मात्र प्रयोजन से जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय में अपने संकल्प मात्र से प्रवृत्त होता है। जगत् के रूप में परिणमित होना उसका स्वभाव ही है, किसी प्रेरणा की उसे आवश्यकता ही नहीं। जीवों के कर्मफल दयावान ईश्वर को सृष्टि करने के लिए प्रेरित करते हैं, अतः ईश्वर स्वेच्छाचार एवं नैर्घृण्य (दयाहीनता) दोष से युक्त नहीं होता। इस प्रकार जगत् ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी; स्वरूपतः ब्रह्म से इसका अभेद है और कार्य-रूप से भेद भी है। जैसे दूध से दही का परिणाम होता है, वैसे ही ब्रह्म से जगत् का, उसकी असाधारण शक्ति से।[1]

कार्य-कारण-सिद्धान्त

निम्बार्क के अनुसार कार्य अपने कारण से भिन्न और अभिन्न दोनों रूपों में रहता है। कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण में विद्यमान रहता है—जगत्-रूप कार्य अपने कारण में पहले ही विद्यमान या सत् रहता है (सदेव सोम्येदमग्र आसीत्)। अव्यक्तावस्था में जगत् ब्रह्म से अभिन्न था किन्तु व्यक्त अवस्था में वह नामरूपात्मक कार्य-रूप से सीमित एवं ब्रह्म से भिन्न है। सभी परिणाम या विकार सत् के प्रकट नाम-रूप ही हैं। इसीलिए एक कारण के ज्ञान से सभी कार्यों का ज्ञान सम्भव होता है। सोना या मिट्टी के ज्ञान से सोने या मिट्टी के सभी विकार ज्ञात हो जाते हैं। दही चाहनेवाला दूध का, घड़ा चाहनेवाला मिट्टी का, रुचक चाहनेवाला सोने का ग्रहण करता है; कोई भी नहीं कहता कि अग्नि से पौधे उगते हैं, बीज से ही वे उगते हैं। कूर्म का शरीर यदि पहले से विद्यमान न हो तो वह प्रकट नहीं हो सकता। वृक्ष यदि बीज में विद्यमान न हो तो उसका उगना सम्भव न हो। अतः सूक्ष्मावस्था से स्थूलावस्था में आविर्भाव कार्य है। प्रकृति और विकार, धर्मी और धर्म, कारण और कार्य भिन्नाभिन्न हैं, उनमें न तो सर्वथा भेद है और न अभेद। इस प्रकार निम्बार्क सत्कार्यवाद और परिणामवाद का सहारा लेकर जगत्-रूप कार्य का ब्रह्म-कारण से भेदाभेद सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

---

1. क्षीरवत् कार्याकारेण ब्रह्म परिणमते स्वासाधारणशक्तिमत्त्वात्।—वही, 2/1/23

सूक्ष्म रूप में कार्य का रहना 'असत्' शब्द का अर्थ है, अतः समेटे और फैले कपड़े के समान कार्य-जगत् भी सत् ही होता है; सत् ही अपने कारण में विद्यमान रहता है। उसे अव्यक्त या व्यक्त, सूक्ष्म या मूर्त (स्थूल), विनाश या उत्पत्ति, तिरोभाव या आविर्भाव, किसी भी दशा में असत् नहीं कहा जा सकता। उत्पत्ति के पूर्व तिल में तेल सत् ही होता है, असत् नहीं; अन्यथा बालू से तेल क्यों न पैदा किया जाय ? यदि असत् कार्य की उत्पत्ति मानी जाय, तो अग्नि से जौ आदि के अंकुर क्यों नहीं उत्पन्न किये जा सकते ?[1] उसी प्रकार जगत्-रूप कार्य ब्रह्म से भिन्न होते हुए भी उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्म में सत् होता है, उत्पन्न होने पर भी वह सत् ही रहता है, असत् या मिथ्या नहीं हो जाता। 'जगत् मिथ्या है, दृश्य होने से, शुक्ति-रजत् के समान', इस अनुमान से जगत् को असत् या मिथ्या बनाने पर तो दृश्यत्व हेतु की ब्रह्म में भी अतिव्याप्ति होने से उसे मिथ्या घोषित करना होगा। वस्तुतः प्रकृति और विकार या कारण और कार्य में सर्वथा समानता नहीं होती। कार्य भिन्न होता हुआ भी न तो कारण का पूरा-पूरा विकार है और न उसमें विलीन होने पर अपने दोषों से उसे दूषित ही करता है। अतः ब्रह्म जगत् के दोषों से भी निर्मुक्त रहता है; जगत् और ब्रह्म के एकान्त एकत्व की सम्भावना नहीं। जैसा ऊपर निर्दिष्ट है, यह जगत् पूरा-पूरा ब्रह्म है, किन्तु ब्रह्म पूरा-पूरा जगत् नहीं है। वह विभु एवं परात्पर रहते हुए जगत् में अन्तर्यामी है। कारण व्यापक होता है और कार्य की आपूर्ति करता है, कार्य सीमित, व्यक्त और कारण की अपेक्षा कम परिणाम वाला होता है। कारण-निरवयव और कार्य-सावयव आदि भेद भी दोनों में होते ही हैं। चूँकि कार्य की उपलब्धि कारण के रहने पर होती है अतः अनन्यत्व है।[2]

अचेतन जगत् की सृष्टि

चेतन—चेतन का विजातीय तत्त्व अचेतन है। अप्राकृत, प्राकृत और काल ये तीन अचेतन तत्त्व हैं। प्रथम या अप्राकृत अचेतन तत्त्व है सूर्य के समान प्रकाश-रूप ब्रह्मलोक या परमात्म-लोक, भगवान् की नित्य-विभूति, विष्णुपद या परमपद आदि जो भगवान् तथा नित्य-मुक्त जीवों के भोग्य रूप से अनेक विग्रह-रूप हैं। द्वितीय

---

1. यद्यसदेव कार्यमुत्पद्यते तर्हि वह्नेर्यवाद्यंकुरोत्पत्तिः कुतो नास्ति।—वही 2/1/17
   यथा च पूर्वं संवेष्टितः पश्चात् प्रसारितः पटस्तद्वद्विश्वम्।—वही, 2/1/18
2. तदनन्यत्वं कारण सद्भावे कार्योपलब्धेः।—वही, 2/1/15

या प्राकृत तत्त्व माया-प्रधान, त्रिगुणात्मिका प्रकृति, तमस्, अजा, अव्यक्त आदि नामों से ज्ञात अचेतन प्रकृति है। यह सांख्य की प्रकृति से इस बात में भिन्न है कि सत्त्व, रजस् और तमस् द्रव्य-रूप नहीं, अपितु इसके आश्रित गुण या धर्म हैं और यह ब्रह्मात्मिका अर्थात् स्वतन्त्र नहीं, ब्रह्म के अधीन तत्त्व है,[1] अतः रामानुज के अचित् तत्त्व के समान है। ईश्वर की इच्छा से इसमें विक्षेप एवं साम्यावस्था का भंग होकर गुण-वैषम्य होता है। गुणों की विषमता से कार्योन्मुख प्रकृति महत्तत्त्व को व्यक्त करती है। महत्तत्त्व अध्यवसाय में हेतु होने से बुद्धि कहलाता है जो सात्त्विक, राजस और तामस, तीन प्रकार की होती है और जीवों को देह आदि में आत्मबुद्धि का कारण है। इससे अहंकार की उत्पत्ति होती है जो वैकारिक, तैजस, भूतादि भेद से तीन प्रकार का है—प्रथम से इन्द्रियाँ, अधिष्ठातृ देवता और मन उत्पन्न होता है। यह मन वृत्ति-भेद से तथा स्थान-भेद से चार प्रकार का अन्तःकरण कहलाता है। अन्तःकरण तत्त्व इसलिए है कि यह सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होता हुआ अन्तर्ज्ञानेन्द्रिय है। मन शब्दादि के सम्बन्धवाला बन्ध का हेतु है, मन के त्याग से मोक्ष होता है। तैजस अहंकार से दस बाह्येन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं जो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय भेद से दो प्रकार की होती हैं। इन्द्रिय का लक्षण है वचन आदि का असाधारण कारण होना। तामस अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—उत्पन्न होती हैं, जिनसे, क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी। प्रकृति, महत्, अहंकार, मन, दस इन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच महाभूत, ये चौबीस अचेतन प्राकृत तत्त्व हैं। मन, पंच-तन्मात्राएँ, दस इन्द्रियाँ, प्राण, इनसे सूक्ष्म देह बनती है। प्राण स्पर्श-तन्मात्रा के कार्य हैं, अतः कुल सोलह कलाओंवाला पुरुष वेदों में वर्णित है। शरीर का लक्षण नियमित रूप से चेतन का आधेय, आश्रित, भोगायतन, अपृथक्सिद्ध और शेष होना है। सृष्टि-क्रम के विलोम से प्रलय-क्रम होता है, अर्थात् पृथिवी गन्ध तन्मात्रा के द्वारा जल में, जल रस तन्मात्रा के द्वारा तेज में, तेज रूप तन्मात्रा के द्वारा वायु में, वायु स्पर्श तन्मात्रा के द्वारा आकाश में, आकाश शब्द तन्मात्रा में लीन होकर तामस अहंकार में, इन्द्रियाँ राजस अहंकार में, मन आदि वैकारिक अहंकार में, तीनों अहंकार महत् में, महत् अव्यक्त में, वह भी पुरुष-पुरुष में और पुरुष भी ब्रह्म में लीन होता है। तीसरा अचेतन तत्त्व है काल, जो नित्य और विभु है। सब प्राकृत अचेतन तत्त्व काल

---

1. मन्त्रोक्ताऽजा ब्रह्मात्मिकाऽस्तु।—वही, 1/4/8; औपनिषदं प्रधानं परकारणाधीनत्वादर्थवदानर्थक्यं पराभिमतस्य तस्येति भेदः।—वही, 1.4/3

के अधीन होते हैं। स्वरूपतः काल अखण्ड एवं नित्य है, किन्तु काल-रूप से अनित्य है। उसका कार्य औपाधिक है, उपाधि सूर्य का परिभ्रमण-रूप क्रिया है।

जीवात्मा और परमात्मा का भेदाभेद

जीवात्मा और परमात्मा के बीच भेदाभेद सम्बन्ध है।[1] परमात्मा आनन्दमय है तथा जीव के आनन्द का हेतु है। परमात्मा नित्य-आविर्भूत ज्ञान-स्वरूप है जबकि जीव अनुकर्ता है, तिरोहित-स्वरूप होकर परमात्मा के साधर्म्य को प्राप्त करता है। परमात्मा भूमा है, अमृत और निरतिशय सुख-रूप है तथा अपनी महिमा में प्रतिष्ठित रहता है, अतः परम ज्ञेय तत्त्व है—भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य (छा०, 7/23/1)। परमात्मा निर्लेप है, भोक्ता नहीं है, किन्तु जीवात्मा भोक्ता है। गुहा में प्रविष्ट दोनों जीवात्मा और परमात्मा हैं, किन्तु परमात्मा शुद्ध और असंग है। जीवात्मा आत्मगुण से अणु-परिमाण है तथा स्वरूपभूत धर्मभूत ज्ञान से विभु है। आत्मा अनेक हैं, किन्तु परमात्मा एक और विभु ही है। जब जीवात्मा मुक्तावस्था में होता है तब वह भी सर्वज्ञानसम्पन्न होने से विभु होता है क्योंकि विभु धर्मभूत ज्ञान आत्मा में नित्य व्याप्त रहता है। जैसे पुंस्त्व बाल्यावस्था में भी रहता है, पर युवावस्था में ही वह अभिव्यक्त होता है, वैसे ही धर्मभूत ज्ञान भी जीव में विद्यमान रहता है। यद्यपि शरीर के एक अंग में ही यह स्थित रहता है, तथापि चन्दन के समान सारे शरीर को प्रकाशित करता एवं सुख-दुःख का अनुभव सम्भव बनाता है। सूर्य अपने प्रकाश द्वारा सर्वत्र व्याप्त कहा जाता है; पुष्प का गन्ध, दीपक का प्रकाश भी एक जगह से अन्यत्र फैलता है। किन्तु परमात्मा का ज्ञान निरपेक्ष रूप से सदा सर्वत्र अविपरिलुप्त है।[2] जीवात्मा के ही साथ इन्द्रिय आदि परार्थ भोग्य वस्तुओं का स्व-स्वामिभाव-सम्बन्ध है।[3] इसके ज्ञान आदि धर्म-निरपेक्ष रूप से नित्य प्रकट नहीं रहते। अतः जीव-वर्ग से भिन्न परमात्मा है जो आनन्दमय भी है।[4]

---

1. ब्रह्माभिन्नोऽपि क्षेत्रज्ञः स्वस्वरूपतो भिन्न एव।—वही, 2/1/22
2. दृष्टान्ते बृहदेव प्राज्ञो गुणैरपि बृहद्भवति दार्ष्टान्ते तु जीवोऽणुरिमाणको गुणेन विभुरिति विशेषः।—वही, 2/3/28
3. जीवेनैवेन्द्रियाणां स्वस्वामिभावः सम्बन्धः।—वही, 2/4/15
4. जीववर्गादन्योऽस्ति परमात्मा।—वही, 1/1/22; आनन्दमयः परमात्मा एव न तु जीवः।—वही, 1/1/13; तस्य नित्याविर्भूतस्वरूपस्य····अनुकर्ता जीवः नित्याविर्भूतस्वरूपोदहरो न भवितुमर्हति।—वही, 1/3/22

जीवात्मा परमात्मा का अंश है, अचेतन प्रकृति के समान उसमें विकार नहीं होते। अंशांशीभाव से जीवात्मा और परमात्मा भिन्न हैं, परन्तु अन्ततः दोनों में अभेद है।[1] जैसे सूर्य अनेक जलाशयों में प्रतिबिम्बित होते हुए भी जल के वृद्धिह्रास आदि दोषों से स्पष्ट नहीं होता, उसी प्रकार जीवात्मा के दोषों से अन्तर्यामी ब्रह्म स्पष्ट नहीं होती।[2] 'तत्त्वमसि' वाक्य से जो दोनों में अभेद बताया गया है, वह जीव की मुक्तावस्था या शुद्ध चैतन्य-रूप या ज्ञान-रूप के बारे में है। अंशी सुख-दुःख का भोक्ता नहीं, अंश ही ब्रह्म के समान होते हुए भी अलग-अलग शरीरों में अलग-अलग कर्म एवं फल के भागी होते हैं। जीवात्मा उसी प्रकार सत्य तत्त्व है जिस प्रकार परमात्मा अन्तर्यामी और जीव का उद्धार करनेवाला है। जीव ही बन्ध-मोक्ष को प्राप्त होता है, परमात्मा नहीं। परमात्मा निर्लिप्त और निर्गुण है, जैसे कमल-पत्र जल में। जीव को परमात्मा का प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता। परमात्मा के लिए उपदिष्ट निर्गुण, निराकार, निरवद्य-परक वेद-वाक्य सत्य हैं। ब्रह्म कल्याण-गुण-सम्पन्न, जगज्जन्मादि का कारण, मोक्षप्रद, सर्वकर्मफलप्रद, विश्वाधार, शास्त्रयोनि, सर्वव्यापक, सर्वनियन्ता, निरतिशय सूक्ष्म, निरतिशय महान एवं स्वरूपतः वृहद् गुणों से युक्त है। निम्बार्क की उक्ति है, "ब्रह्म उभयलिंग अर्थात् प्रकाशवान् भी है और अन्धकार से दूर है, अतः निर्दोष है।" श्रुति, स्मृति एवं पुराण ईश्वर को सर्वगुणपूर्ण बताते हैं; ईश्वर अविद्या आदि क्लेशों से रहित, जन्म आदि छह विकारों से रहित है, अर्थात् उनके अत्यन्ताभाव का आश्रय ब्रह्म ही है। ये तो बद्ध जीव के धर्म हैं। जैसे सर्वज्ञ आदि भाव-रूप धर्म-विशेष ईश्वर में है, उसी प्रकार अशेष दोषों का अत्यन्ताभाव धर्म-विशेष भाव-रूप से युक्त ईश्वर है। श्रुति से समस्त भेदपरक और अभेदपरक वचन मुख्य हैं, गौण कोई नहीं।

जीव का बन्ध और मोक्ष

भक्ति सम्प्रदाय के अनुयायी होते हुए भी निम्बार्क रामानुज के समान ज्ञान को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वस्तुतः ज्ञानात्मक भक्ति मानने का कारण यह है कि सभी वेदान्ती वैदिक ज्ञानकाण्ड के समर्थक हैं। तथापि कर्म आदि को भी महत्त्व देकर ज्ञान-

---

1. अविभागेऽपि समुद्रतरंगयोरिव सूर्यतत्प्रभयोरिव तयोर्विभागः स्यात्।—वही; 2/1/13
2. अकर्मवश्यत्वात् सर्वान्तरवर्तिनोऽपि परमात्मनस्तत्र तत्र दोषा न संभवन्ति—वही; 3/2/11

कर्म-समुच्चयवाद[1] की मान्यता भक्ति सम्प्रदाय के इन वैष्णव आचार्यों की विशेषता रही है। अविद्या या कर्म की निवृत्ति एवं आत्मा और ब्रह्म का स्वरूप-ज्ञान मोक्ष है। श्रुति में भी ज्ञान का महत्त्व बताया गया है तथा उपासना द्वारा भोग की इच्छा और भोग-साधन को त्याग कर ईश्वर के स्वरूप और गुणों का ध्यान करने से ज्ञान का लाभ होना कहा है।[2] इस ज्ञान या विद्या का तात्पर्य ब्रह्मज्ञान है, क्योंकि श्रुतियों में ब्रह्म ही परमतत्त्व माना गया है। ज्ञान का विषय बद्ध जीव नहीं, अपितु मुक्त जीव हो सकता है। वस्तुतः परमात्मा ही आत्मरूप से ध्येय या ज्ञेय है।[3]

ध्यान या निदिध्यासन-रूप ब्रह्म-साक्षात्कार ही चरम उपलब्धि है। इसके लिए निष्काम कर्म एवं उपासना का महान् उपयोग है। अमृतत्व और दुःखों से परे आत्म-तत्त्व को जानने का साधन एकमात्र ज्ञान है। जो प्रकाशमान सूर्य के समान पुरुष को जानता है वह अमर हो जाता है। यह परम पुरुष परमात्मा है, जीवात्मा नहीं। निष्काम कर्म, जो ज्ञान, श्रद्धा, ध्यान और ईश्वर-समर्पण-बुद्धि से किया जाता है, मोक्ष में सहायक ही है। परमात्म-लोक की प्राप्ति कर्म-संन्यास-पूर्वक उपासना, तप, भक्ति आदि द्वारा संभव होती है। वर्णाश्रम-धर्म भी सत्यज्ञान के लिए उपयोगी है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधि से सम्पन्न मुमुक्षु आत्म-ध्यान द्वारा अपने और परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करता है। धर्माचरण द्वारा पापकर्मों से मुक्ति मिलती है। जब सत्यज्ञान का प्रकाश होता है तब धर्माचरण का महत्त्व नहीं रह जाता। सत्त्वोत्कर्ष के लिए शुद्ध आचार, शुद्ध भोजन, तप, दान, आश्रम-कर्म आदि भी ज्ञान के सहायक होते हैं।[4] इस प्रकार ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद ही सर्वोत्तम वैदिक मत है। ज्ञानयोग निष्काम कर्मयोगी को होता है। परब्रह्म जैसी विशेष वस्तु का साक्षात्कार भगवत्कृपा एवं ज्ञान से होता है। भक्तियोग गंगा के प्रवाह के समान निरन्तर

---

1. कर्मण एव विविदिषोत्पादकत्वेन परम्परया तत्प्राप्तिसाधनीभूत ज्ञानोत्पत्त्युपकारकत्वेन समन्वय इति निश्चीयते।—वही, 1/1/4
2. विद्याप्राप्तौ पूर्वे पापपुण्ये अप्रवृत्तफले एव क्षीयते।—वही, 4/1/15; उपासनस्य ध्यानरूपत्वात्।—वही, 4/1/8
3. मुमुक्षुणा परमपुरुषः स्वस्य आत्मत्वेन ध्येय-।—वही, 4/1/3
4. 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' (छा० उप०, 7/26/2) इत्यस्यावाच्च।—वही, 3/4/29; यद् विद्यांगं तत्तद् मुमुक्षुणा आश्रमकर्मत्वेनाप्यनाप्यनुष्ठेयम्।—वही, 3/4/32; यज्ञादि श्रुतौ तेषां विद्योत्पादत्वदर्शनात्।—वही, 4/1/16

'बढ़ता हुआ' भगवत्स्वरूप के स्मरण-रूप में अनुभव-विशेष ही है। प्रपत्तियोग भगवत्शरणागति है। इसके अतिरिक्त गुरु-आज्ञा-अनुवृत्ति-योग भी भक्तियोग का सहयोगी है। इस प्रकार ज्ञान, कर्म, भक्ति, प्रपत्ति और गुरूपसत्ति, ये पाँचों समन्वित रूप में सर्वोत्तम मोक्ष-साधन हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निम्बार्क ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग में ही समन्वय स्थापित नहीं करते, बल्कि भेदपरक और अभेदपरक श्रुति-वचनों में तथा चेतन और अचेतन के द्वैत को ब्रह्मायत्त बताकर द्वैतवादी और अद्वैतवादी दर्शनों में भी एक साथ समन्वय ला देते हैं। धर्म, आचार, दर्शन आदि को एक साथ समन्वित करने में भी उनका विशेष योगदान है। उनके दर्शन में सभी वर्णों और आश्रमों को उचित स्थान भी मिला है। उनका भेदाभेदवाद नाम ही समन्वयात्मक पद्धति का द्योतक है। विरोधी बातों में संगति और सामंजस्य स्थापित करना उनका मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है। इनका मत काफी प्रभावशाली रहा है—अचिन्त्य भेदाभेद, शाक्त मत तथा विज्ञानभिक्षु का मत इनसे काफी प्रभावित रहे हैं।[1]

(2) माध्व दर्शन [द्वैत वेदान्त]

विषय-प्रवेश

यद्यपि अन्य वैष्णव वेदान्त-सम्प्रदायों के समान मध्व का द्वैतवाद भी शंकर के विरोध में सविशेष ब्रह्मवाद, परिणामवाद, जगत्सत्यत्व, भक्तिवाद आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, तथापि कुछ अंशों में वैष्णव या वेदान्त की परम्परा से हटकर वह द्वैतवाद या आत्यन्तिक भेदवाद का समर्थन करता है। वेदान्त के साथ न्याय-वैशेषिक एवं सांख्य के सिद्धान्तों से समन्वय स्थाति करते हुए मध्व ने एक मिला-जुला या खिचड़ी दर्शन बनाया। इस दर्शन की प्रसिद्धि रामानुज के दर्शन जैसी ही है। इसके उल्लेखनीय सिद्धान्त हैं—पाँच प्रकार का भेद, अभिन्न-निमित्तोपादान कारण का खण्डन, भेदभाव का प्रबल समर्थन एवं अभेद या अद्वैतवाद का घोर विरोध, मुक्त जीवों में तारतम्य, सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद का मेल-मिलाप, सांख्य के प्रकृतिवाद तथा न्याय के परमाणुवाद में समन्वय, साक्षी की धारणा, विशिष्ट-देहात्मवाद आदि।

इसका द्वैतवाद नाम कार्य-कारण-सम्बन्ध की दृष्टि से नहीं रखा गया है। इस मत में निमित्त कारण और उपादान कारण का आत्यन्तिक भेद या द्वैत मान्य है,

---

1. द्वैताद्वैतमते शुद्धे विशिष्टाद्वैत संज्ञके।
वीरशैवकसिद्धान्ते सर्वश्रुति समन्वयः ॥—श्रीकरभाष्य

इसलिए भी द्वैत नाम सार्थक माना जा सकता है। किन्तु मध्व को कार्य और कारण के बीच भेदाभेद सम्बन्ध अन्य वेदान्तियों के समान ही मान्य है। मध्व-वेदान्त में विशेष ध्यान देने की बात है भेदाभेद का जोरदार समर्थन। पाँच प्रकार के भेदों को मानना कोई नयी बात नहीं, सिर्फ उन भेदों पर ज्यादा बल देना महत्त्वपूर्ण है। पाँच भेद ये हैं : (1) ब्रह्म और जीव का भेद, (2) ब्रह्म और जड़ प्रकृति का भेद, (3) जीव और जड़ का भेद, (4) जीवों का परस्पर भेद, (5) जड़ पदार्थों का परस्पर भेद। इसका द्वैतवाद नाम पड़ने का सम्भवतः यही कारण है।

ऐसा प्रतीत होता है कि असाधारण रूप से एकीभाव की उपेक्षा करके भेदवाद का समर्थन करने में मध्व न्याय-वैशेषिक दर्शन से प्रभावित रहे। साथ ही, ब्रह्म को केवल निमित्त कारण तथा प्रकृति को उपादान कारण मानने में वे न्याय के साथ-साथ सांख्य के द्वैतवाद से प्रभावित लगते हैं। रामानुज के शरीरात्मभाव-सम्बन्ध या किसी अन्य अद्वैतवादी सम्बन्ध से उन्हें जैसे चिढ़ है, अतः द्वैतवाद के समर्थन में माध्व ने जहाँ वेदान्त के अन्य सम्प्रदायों की उपेक्षा की, वहीं दूसरी ओर सांख्य और न्याय-वैशेषिक दर्शनों के कुछ-एक सिद्धान्तों की महत्ता को स्वीकार करते हुए औपनिषदिक दर्शन की नयी व्याख्या प्रस्तुत की।

साहित्य

मध्व को पूर्णप्रज्ञ, आनन्दतीर्थ आदि नामों से जाना जाता है। इनका जन्म 1138 ई० में हुआ, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है, किन्तु सामान्यतः इनका काल 1199-1278 ई० माना जाता है। इनकी रचनाएँ अनेक हैं तथा इनके बड़े कर्मठ जीवन की प्रसिद्धि है। मुख्य ग्रन्थों में प्रस्थानत्रय पर इनके भाष्य हैं—ब्रह्मसूत्रभाष्य, उपनिषदों पर भाष्य और भगवद्गीता पर भाष्य। इनके अतिरिक्त 'ब्रह्मसूत्र' पर उनका 'अणुव्याख्यान' नामक ग्रन्थ भी है, भागवत पुराण पर 'भागवत-तात्पर्य-निर्णय' टीका है। 'उपाधिखण्डन', 'मायावादखण्डन', 'मिथ्यात्वानुमानखण्डन', 'तत्त्वोद्योत', 'तत्त्वविवेक', 'तत्त्वसंख्यान' आदि भी इनकी रचनाएँ बतायी जाती हैं। इनके 'ब्रह्म-सूत्रभाष्य' पर तीन टीकाएँ भी हैं—त्रिविक्रम पण्डिताचार्य की 'तत्त्वप्रदीपिका', पद्मनाभाचार्य की 'सत्तर्कदीपावली' तथा जयतीर्थ की 'तत्त्वप्रकाशिका'। जयतीर्थ की 'प्रमाणपद्धति' और शलारिशेषाचार्य की 'प्रमाणचन्द्रिका' मध्व-वेदान्त की प्रमाण-मीमांसा पर प्रमुख रचनाएँ हैं। जयतीर्थ की अन्य रचनाएँ हैं 'न्यायसुधा' तथा 'तत्त्वो-द्योत' आदि पर टीकाएँ। व्यासतीर्थ का 'न्यायामृत' प्रसिद्ध है तथा उनके भी अनेक टीका-ग्रन्थ हैं। वादिराज की 'युक्तिमल्लिका', श्रीनिवासाचार्य का 'न्यायामृतप्रकाश'

जैसे अनेकानेक ग्रन्थ माध्व वेदान्त का समर्थन करते हैं। 'वादावली' जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थ में जयतीर्थ ने एक अच्छे तार्किक की हैसियत से जगन्मिथ्यात्व का खण्डन तथा भेदभाव का समर्थन प्रबल तर्कों से किया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थों की रचना भी समय पर माध्व मत के अनुयायियों द्वारा होती रही है।

ज्ञान-मीमांसा[1]

ज्ञान का स्वरूप

अन्य वैष्णव वेदान्तियों के सदृश मध्व भी ज्ञान के सविशेष-विषयत्व, स्वतः-प्रामाण्य, वस्तुवाद एवं बाह्यार्थवाद का समर्थन करते हैं तथा निर्विशेषत्व और विज्ञान-वाद का खण्डन। इनकी ज्ञान-मीमांसा न्याय-वैशेषिक की अपेक्षा सांख्य के अधिक निकट प्रतीत होती है। चूँकि कोई वस्तु निर्विशेष सामान्य मात्र नहीं, अपितु असंख्य विशेषोंवाली होती है; अतः निर्विशेष ज्ञान असम्भव है। ज्ञान किसी वास्तविक पदार्थ का होता है, उस वस्तु के आकारोंवाली बुद्धि-वृत्ति के माध्यम से ही ज्ञाता को वस्तु का ज्ञान होता है। वस्तुओं के आकार से मतलब है उसके धर्मों का साक्षी द्वारा ग्रहण। जैसी वस्तु हो ठीक उसी रूप का ज्ञान, अर्थात् यथार्थ को ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमा है जो स्वाभाविक रूप में स्वतःप्रमाण है। यदि ज्ञान स्वतः स्वरूपतः सत्य न हो तो उसमें सत्यत्व लानेवाला कोई बाह्य हेतु समर्थ नहीं हो सकता। असत्य या अयथार्थ ज्ञान स्वतःप्रमाण नहीं है। साक्षी ज्ञान-स्वरूप एवं स्वयंप्रकाश है, अतः स्वयं को तथा सत्यज्ञान के सत्यत्व को जानता है। फलतः ज्ञान का स्वतःप्रामाण्य स्वयंसिद्ध है—उसकी प्रामाणिकता स्वयं उसी में, उसकी उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति में निहित होती है।

ज्ञान के प्रामाण्य का स्वतस्त्व द्विविध होता है, उत्पत्ति और ज्ञप्ति। ज्ञान का कारण मात्र से जन्य होना उसका उत्पत्ति-स्वतस्त्व है; अर्थात्, जिसके द्वारा ज्ञान पैदा होता है उसी के द्वारा उसकी प्रामाणिकता भी उत्पन्न हो जाती है। ज्ञप्ति-रूप स्वतस्त्व का तात्पर्य यह है कि ज्ञान के ग्राहक द्वारा ही उसकी प्रामाणिकता ग्राह्य होती है; अर्थात् ज्ञाता ज्ञान के साथ-साथ ज्ञान का प्रामाण्य भी ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार अयथार्थ ज्ञान या अप्रमा का परतःप्रामाण्य भी उत्पत्ति और ज्ञप्ति-रूप में सम्पन्न होता है। सांख्य प्रमा और अप्रमा, दोनों का स्वतःप्रामाण्य मानते हैं तो नैयायिक दोनों का परतःप्रामाण्य। नैयायिक संवाद-विसंवाद आदि लिंग के जन्य प्रामाण्य मानते हैं।

---

1. यहाँ ज्ञान-मीमांसा का विवरण मुख्यतः 'प्रमाणचन्द्रिका' पर आधारित है।

बौद्ध ज्ञान का प्रामाण्य परतः और अप्रामाण्य को स्वतः मानते हैं। अन्य वेदान्ती प्रायः मध्व से सहमत हैं। मध्व के मत में साक्षी के बिना ज्ञान प्रामाणिक नहीं होता, क्योंकि ज्ञान साक्षी का बोध या पौरुषेय बोध है। ज्ञान के अप्रामाण्य का बोध उसे विसंवाद आदि के द्वारा अनुमान से होता है। अनवस्था दोष से बचने के लिए ज्ञान का स्वतःप्रमाण मानना आवश्यक हो जाता है, अन्यथा एक ज्ञान की प्रामाणिकता किसी अन्य ज्ञान से, उसकी और किसी से माननी होगी; इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायगा। साक्षी को ही ज्ञान एवं उसकी प्रामाणिकता, दोनों ज्ञात हो जाते हैं; अन्तःकरण का वृत्ति-रूप ज्ञान जड़ात्मक होने से स्वयं अपने को या अपनी प्रामाणिकता को नहीं जान सकता। मध्व के अनुसार साक्षी ही सभी प्रमाणों का प्रमाण है, क्योंकि वही सारे निश्चय, अध्यवसाय या अनुभव के मूल में है। अतः प्रमाण या वृत्तिजन्य ज्ञान पौरुषेय-बोध-रूप या साक्षी के निर्णय-रूप अनुभव में पर्यवसित हो जाता है।

साक्षिज्ञान और वृत्ति-ज्ञान

आत्मा के स्वरूपभूत चैतन्येन्द्रिय को साक्षी कहते हैं। मन, इन्द्रिय आदि से जन्य अन्तःकरण के परिणाम-रूप वृत्ति-ज्ञान अचेतन होने के कारण स्वयं अपने अस्तित्व को प्रकट नहीं कर सकता, अतः साक्षी द्वारा प्रकाशित एवं प्रमाणित होता है। वृत्ति-ज्ञान का फल-रूप प्रमा साक्षीनिष्ठ होती है। इस प्रकार वृत्तिज्ञान और साक्षी-ज्ञान, दो प्रकार के ज्ञान मध्व-वेदान्त में मान्य हैं। तदनुसार प्रमाण भी दो प्रकार का है, अनुप्रमाण और केवल प्रमाण। अनुप्रमाण तीन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द या आगम। यथार्थ ज्ञान के साधन को अनुप्रमाण कहते हैं जो तीन प्रकार के होने के कारण तीन प्रकार का यथार्थ ज्ञान देते हैं—प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुमिति ज्ञान और शाब्द ज्ञान। यथार्थ को ही केवल प्रमाण कहते हैं जो चार प्रकार का होता है—ईश्वर-ज्ञान, लक्ष्मी-ज्ञान, योगिज्ञान और अयोगिज्ञान। प्रथम दोनों सर्वविषयक एवं स्वतः पूर्णज्ञान हैं। योगि-ज्ञान अतिशयज्ञान होता है जो ऋजु योगिज्ञान, तात्त्विक योगिज्ञान तथा अतात्त्विक योगिज्ञान के भेद से तीन तरह का है। इनमें से प्रथम, जो ऋजुज्ञान है, वह ईश्वर से अन्यत्र सर्वविषयक होता है एवं स्वरूप-ज्ञान तथा मनोवृत्ति-रूप-ज्ञान भेद से दो तरह का है। यह यथार्थ होता है। इसके विपरीत तत्त्वाभिमानियों अर्थात् देवों का तात्त्विक योगिज्ञान सर्वविषयक नहीं होता। यह स्वरूप अर्थात् यथार्थ तथा बाह्य अर्थात् कभी अयथार्थ ज्ञान भेद से दो प्रकार का है। अयोगिज्ञान सामान्य जीवों का होता है जो तीन तरह का होता है—मुक्तियोग्य जीवों का स्वरूप-ज्ञान यथार्थ,

नित्य-संसारियों का यथार्थ और अयथार्थ मिश्रित एवं अन्य का (तामस पुरुषों का) तो अयथार्थ ही होता है ।

तीन अनुप्रमाण

यथार्थ ज्ञान के साधन को अनुप्रमाण कहते हैं । स्मृति से भिन्न अनुभव ही प्रमाण हैं—प्रमाण शब्द साधन और उसके फल, दोनों का वाचक है । अनुप्रमाण वृत्ति-ज्ञान को कहते हैं जो प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द भेद से तीन प्रकार का है ।

प्रत्यक्ष का लक्षण है, प्रायः आसन्न और अव्यवहित रूप से विद्यमान कुछ वस्तुओं का ग्राहक साधन । अर्थात् निर्दोष इन्द्रियों से वस्तु के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष कहते हैं । यह सात प्रकार का होता है क्योंकि साक्षी, मन, नेत्र, त्वक्, रसना, श्रोत्र और घ्राण, ये सात इन्द्रियाँ हैं । इनमें से प्रथम प्रमाता का स्वरूपेन्द्रिय साक्षी कहलाता है जिसके विषय हैं आत्मा का स्वरूप और उसके धर्म । आत्मा के धर्म हैं भाव-रूप अविद्या, मन एवं उसकी वृत्तियाँ, ज्ञान, सुख आदि काल तथा अव्याकृत आकाश आदि । पाँच बाह्येन्द्रियों के सभी विषय उनके अधिष्ठान मन के भी विषय हैं । बाह्य-इन्द्रियों से निरपेक्ष अतीत पदार्थ मन के विषय हैं, अतः स्मृति होती है जो संस्कारवश मानस-प्रत्यक्ष-जन्य होती है ।

बाह्येन्द्रियों की प्रत्यक्ष प्रक्रिया इस प्रकार है—आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का वस्तु से संयोग होता है । सभी इन्द्रियाँ (प्राप्य प्रकाश होने के कारण) अपने-अपने विषयों के साथ साक्षात् सन्निकृष्ट होकर या पहुँचकर ज्ञोत्पत्ति का कारण बनती हैं । न्याय-वैशेषिक मत में मान्य छह प्रकार के सन्निकर्ष को अनुचित ठहराते हुए माध्व वेदान्त में परम्परानुगत प्रत्यक्ष का खण्डन तथा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को साक्ष एवं एक ही मान्य हैं । मुख्यतः चार प्रकार के प्रत्यक्ष का विवरण है—ईश्वर-प्रत्यक्ष, लक्ष्मी-प्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष, अयोगिप्रत्यक्ष । सारे प्रत्यक्ष सविकल्पक ही होते हैं । समवाय-सम्बन्ध एवं विशेषण-विशेष-सम्बन्ध मान्य नहीं हैं, क्योंकि गुण और गुणी में अभेद है । इसी प्रकार वर्णात्मक शब्द द्रव्य है, आकाश का गुण नहीं, ध्वन्यात्मक शब्द आकाश का गुण होने पर भी अभेद होने से समय का अभाव है । विशेषण-विशेष्य भाव स्वरूपपरक है अतः अलग सम्बन्ध नहीं है ।

अनुमान का लक्षण है 'निर्दोष उपपत्ति', अर्थात् व्याप्ति के स्मरण के साथ-साथ लिंग, हेतु व्याप्य या युक्ति का देश-विशेष में ठीक-ठीक ज्ञान से साध्य, लिंगी या अनु-मेय पदार्थ के ज्ञान या प्रमा का जनक साधन अनुमान प्रमाण है । यहाँ देश-विशेष

से संयुक्त साध्य का ज्ञान होना ही अनुमान सार्थक माना जाता है, यद्यपि प्रत्यक्ष द्वारा पहले साध्य का स्वरूप ज्ञात रहता है। अतः अनुमान के मुख्य दो अङ्ग हैं—व्याप्ति और समुचित देश-विशेष में साध्य की स्थिति। पक्षधर्मता नियम को अनुमान का अनिवार्य अङ्ग मान्य नहीं है। व्याप्ति साध्य के साथ हेतु के व्यभिचरित सम्बन्ध या साहचर्य-नियम को कहते है, जैसे जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है। धूम व्याप्य है और अग्नि व्यापक। व्याप्य का समुचित देश-विशेष में रहना ही पक्षधर्मता है। साध्य और हेतु के बीच सामानाधिकरण्य विवक्षित नहीं, अपितु केवल साहचर्य-नियम का अच्छा ज्ञान ही अनुमिति में कारण है।

अनुमान तीन प्रकार का होता है—कार्यानुमान, कारणानुमान और अकार्य-कारणानुमान। धूम से अग्नि का अनुमान कार्यानुमान है, क्योंकि यहाँ कार्य से कारण का अनुमान होता है। कारण से जहाँ कार्य का अनुमान होता है वहाँ कारणानुमान होता है, जैसे विशेष प्रकार का बादल देखकर वर्षा का अनुमान करना। जो अपने साध्य का न तो कारण है और न कार्य, फिर भी अनुमापक होता है वह अकार्यकारण अनुमान होता है, जैसे रस रस रूप का अनुमापक है।

दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट भेद से भी अनुमान दो प्रकार का होता है। प्रत्यक्ष-योग्य वस्तु का अनुमापक दृष्टानुमान है, जैसे धूम और अग्नि का। प्रत्यक्ष के अयोग्य वस्तु का अनुमापक सामान्यतोदृष्ट अनुमान है, जैसे रूप आदि के ज्ञान से चक्षु का ज्ञान।

स्वार्थ और परार्थ भेद से अनुमान का जो भेद नैयायिक करते हैं वह ठीक नहीं है क्योंकि पंचावयव-रूप परार्थानुमान अनियमित एवं असंगत है। माध्व मत में दो प्रकार की व्याप्ति और दो प्रकार के उदाहरण का निराकरण किया गया है।

शब्द प्रमाण या आगम

निर्दोष शब्द को कहते हैं। शब्द के सात दोष होते हैं—अबोधकता, विपरीत-बोधकता, ज्ञातज्ञापकता, निष्प्रयोजनवत्ता, अनभिमतप्रयोजनवत्ता, अशक्य-साधन-प्रतिपादकता तथा गौरव। शब्द पद और वाक्य हैं। आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निहित पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। वाक्य करण या साधन है, पदार्थ की स्मृति अवान्तर व्यापार है तथा वाक्यार्थ का ज्ञान फल है। शब्द या आगम शक्तिग्रह आदि से युक्त एवं अच्छी तरह श्रुत होने से ही विषय का बोधक होता है, प्रत्यक्ष के समान सत्ता मात्र से नहीं, क्योंकि आगम प्रमाण भी अनुमान के समान ज्ञात साधनवाला होता है। तात्पर्य यह है कि आगम अपने स्वरूप के अस्तित्व मात्र से, बिना किसी के सुने-समझे

ही, अपने विषय का बोध नहीं करा सकता। शक्ति-ग्रह अंगुलि के इशारे आदि से हो जाता है; कुछ लोग वृद्ध-व्यवहार से शक्ति-ग्रह मानते हैं जो ठीक नहीं है, क्योंकि बच्चा भुलक्कड़ होता है अतः शब्द-बोध सम्भव नहीं हो पाता। शक्ति उसे कहते हैं जो विषय की स्मृति के अनुकूल शब्दार्थ-सम्बन्ध है। वह योग, रूढ़ि तथा योगरूढ़ि, तीन प्रकार की होती है। इन्हें मुख्य वृत्तियाँ कहते हैं। लक्षण, जो शक्यसम्बन्ध-रूप वृत्ति है, वह गौण वृत्ति है और जहल्लक्षणा तथा अजहल्लक्षणा भेद से दो प्रकार की होती है। जहाँ वाच्यार्थ का अन्वय नहीं होता, जैसे 'गंगा में घर है', वहाँ जहल्लक्षणा है, किन्तु जहाँ वाच्यार्थ का भी अन्वय होता है वहाँ अजहल्लक्षणा होती है, जैसे 'छतरीवाले जा रहे हैं'। इसके प्रयोजन-निरपेक्ष और प्रयोजन-सापेक्ष, ये दो भेद हैं।

आगम या शब्द-प्रमाण दो प्रकार का होता है—अपौरुषेय और पौरुषेय या नित्य और अनित्य। स्वर्ग-अपवर्ग आदि का विशेष ज्ञान अनुमान या प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं होता। वेद आदि सत्य आगम अपौरुषेय हैं तथा महाभारत, रामायण, पञ्चरात्र आदि पौरुषेय आगम हैं।

अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न प्रमाण नहीं है क्योंकि जीवित चैत्र घर में नहीं है, ऐसा देख या सुनकर उसके बाहर होने का अनुमान किया जाता है। उपमान भी स्वतन्त्र प्रमाण इसलिए नहीं है कि उसका भी अनुमान के अन्दर समावेश है। इसी तरह अभाव नामक प्रमाण भी स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि उसकी प्रत्यक्ष के अन्दर गणना हो सकती है। कारण यह है कि भाव के समान अभाव का भी इन्द्रिय-सन्निकर्ष हो जाता है। सम्भव, ऐतिह्य, प्रतिभा आदि अन्य प्रमाणों का इन्हीं तीन प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाने से उसके लिए स्वतन्त्र विषय ही नहीं रहता। अतः प्रमाण-व्यवस्था माध्व वेदान्त में मान्य है।

प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रबलता

उक्त तीनों प्रमाणों में, मध्व-मतानुसार, प्रत्यक्ष सर्वाधिक प्रामाणिक और निश्चयात्मक माना गया है।[1] उनका कथन है कि किसी भी तर्क द्वारा अथवा अन्य प्रमाण द्वारा अनुभव या प्रत्यक्ष का बाध सम्भव नहीं; यहाँ तक कि रज्जु-सर्प या शुक्ति-रजत में मात्र अयथार्थ प्रत्यक्ष होता है जिसका बाध यथार्थ प्रत्यक्ष द्वारा ही होता है, न कि अनुमान या शब्द द्वारा। माध्व वेदान्त मत में दिशाभ्रम किसी तर्क या शब्द-प्रमाण से नहीं, अपितु उदीयमान सूर्य के प्रत्यक्ष द्वारा ही मिट पाता है। वास्तव

1. नहि दृष्टेर्बलवत्किंचित् प्रमाणम्।—तत्त्वोद्योत, पृ० 31

में विरुद्ध प्रत्यक्ष यथार्थ प्रत्यक्ष होते ही नहीं। जो लोग प्रमाण-व्यवस्था को नहीं मानते उनकी इस मान्यता का कि प्रत्यक्ष की निश्चयात्मकता अन्य प्रमाणों से या अन्य की प्रत्यक्ष से निर्धारित होती है, खण्डन करते हुए यह कहा गया है कि प्रत्येक प्रमाण की प्रामाणिकता और निश्चयात्मकता स्वयं उसी प्रमाण में निहित होती है। प्रत्यक्ष तो अनुमान और शब्द का आधार है किन्तु प्रत्यक्ष की सर्वाधिक महत्ता इसी में है कि वह किसी अन्य प्रमाण द्वारा सिद्ध या असिद्ध नहीं होता।

इसी प्रकार तर्क और आगम के बीच शब्द-प्रमाण अपने पारमार्थिक या अतीन्द्रिय विषय में तर्क की अपेक्षा नहीं करता, बल्कि पूर्णतः स्वतःप्रमाण है।[1] ईश्वर के स्वरूप और सत्ता के सम्बन्ध में श्रुति के सिवा कोई अन्य प्रमाण नहीं है। अतः इन बातों को लेकर तर्क और शब्द के मध्य विरोध नहीं उठाया जा सकता।[2] तथापि आगम के आधार पर विष्णु के ज्ञेय स्वरूप को हम तर्क या मनन द्वारा सुनिश्चित कर सकते हैं। कुतर्क को स्थान नही देना चाहिए। किन्तु जहाँ तक दृश्य जगत् का सम्बन्ध है, श्रुति और अनुमान की अपेक्षा प्रत्यक्ष अधिक प्रामाणिक है, यदि वह निर्दोष हो, क्योंकि मनुष्य का निर्दोष प्रत्यक्ष ईश्वर के प्रत्यक्ष से मेल खाता है—ईश्वर का प्रत्यक्ष श्रुतियों में है।

विपर्यय ज्ञान

प्रत्यक्ष के सदोष होने का उदाहरण भ्रान्ति है। शुक्ति में रजत (चाँदी) की भ्रान्ति एक ऐसा सदोष प्रत्यक्ष ज्ञान है जिसके विषय का सही या यथार्थ ज्ञान नहीं होता। संस्कार के दोषों से रहित प्रत्यक्ष न होने से शुक्ति अन्यथा प्रतीत होती है। इसे विपर्यय ज्ञान कहते हैं। विपर्यय वही है जो अविद्यमान वस्तु में प्रतीत हो या जहाँ जिस वस्तु का अभाव है वहाँ उस वस्तु का निर्धारण या निश्चय रूप ज्ञान हो।[3] इस भ्रान्त ज्ञान को एक प्रकार का अन्यथाख्यातिवाद कहा जाता है।

तत्त्व-मीमांसा

द्वैतवाद

मध्व का वस्तुवादी द्वैतवाद ईश्वर, जीवों और जगत् की पारमार्थिक सत्ता

---

1. श्रुतिविरोधेन स्मृतीनामेव अप्रामाण्यं दोषप्रसंगात्।—तत्त्वप्रकाशिका, पृ० 79
2. न हि शब्दैकसमधिगम्यवस्तुनि युक्तिविरोधः।—वही, पृ० 90
3. तदभाववत्येव तत्प्रकारकावधारणज्ञानं विपर्ययः।—प्रमाणचन्द्रिका, पृ० 133

स्वीकार करता है। प्रकृति, जीव और ईश्वर भिन्न तत्त्व हैं, ये अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं क्योंकि इनकी प्रतीति होती है। इनमें से किसी एक को दूसरे में अन्तर्भूत नहीं माना जा सकता। बहुत्व का एक में विलय नहीं होता और न तो बहुत्व या नाना को मिथ्या ही माना जा सकता है। परब्रह्म ईश्वर स्वतंत्र तत्त्व है, जबकि प्रकृति और जीव परतंत्र तत्त्व हैं। इस प्रकार स्वतंत्र और परतंत्र रूप से तीनों तत्त्वों का दो वर्ग है।[1] ये तीनों सत् हैं, क्योंकि इनकी सर्वदा प्रतीति होती है।[2]

मध्व द्वैत को सत्य मानते हैं—जो स्वरूपतः भिन्न होता है वह अभिन्न नहीं हो सकता। ब्रह्म, जीव और प्रकृति स्वरूपतः भिन्न हैं, अतः इनमें अभेद सम्बन्ध नहीं हो सकता। 'तत्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म' जैसे श्रुति-वचन जीव और ब्रह्म के बीच तथा 'एकमेवाद्वितीयम्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' जैसे श्रुति-वचन ब्रह्म और जगत् के बीच अभेद बताने के लिए नहीं है, बल्कि जीव की तात्त्विक स्वतंत्रता एवं महत्ता को बताने के लिए तथा जगत् की सत्ता, प्रवृत्ति आदि ब्रह्म के अधीन बताने के लिए हैं, न कि इनका ब्रह्म से स्वरूपाभेद। ब्रह्म ही पूर्ण स्वतंत्र, सत्य का सत्य, नित्यों का नित्य, चेतना का चेतन तथा सत्ता, प्रतीति एवं प्रवृत्ति का निमित्त है।

दस पदार्थ—मध्व दस तत्त्वों या पदार्थों को मानते हैं। ये हैं : द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। नैयायिकों के समवाय को छोड़कर बाकी छह अन्य चार नये पदार्थ मध्व को मान्य हैं।

बीस द्रव्य—द्रव्यों की संख्या बीस है—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकाश, प्रकृति, गुणत्रय (सत्त्व, रजस् और तमस्), महत् अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, तन्मात्राएँ, महाभूत (आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी), ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, तम या अन्धकार, वासना, काल, प्रतिबिम्ब। मध्व ने द्रव्य का जो लक्षण दिया है वह इन सभी पर समान रूप से घटित नहीं होता। द्रव्य का लक्षण इस प्रकार है : 'उपादान कारणता जिसमें हो वह द्रव्य है' (उपादानकारणत्वं वा द्रव्यत्वम्।—पदार्थ-

---

1. स्वतंत्रमस्वतन्त्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते।—तत्त्वसंख्यान।
2. सदिति प्रतीयमानत्वात्। अतः सर्वदा प्रत्यक्षेण प्रतीयमानं वस्तु सदित्येव प्रतीयते। —तत्त्वोद्योत, पृ० 19; सर्वदेशकालनिषेधाप्रतियोगित्वं सत्त्वम्। असद्विलक्षणत्वे सति अनारोपित्वं वा। अस्तित्वप्रकारप्रमां प्रति कदाचित्साक्षाद्विषयकत्वं वा। —न्यायामृत, पृ० 95-97

संग्रह)। किन्तु उपादान-कारणता दो प्रकार की मानी गयी, परिणाम और अभिव्यक्ति (उपादानत्वं च परिणामोऽभिव्यक्तिश्चेतिद्विविधम्) ।—वही ।

सत्कार्यवाद और परिणामवाद

जगत् प्रकृति का वास्तविक विकार या परिणाम है। उपादान कारण प्रकृति में स्वरूपतः परिणाम होता है, अर्थात् प्रकृति का कार्य यह दृश्य जगत् है। यदि कारण में कार्य-रूप परिणाम होने की योग्यता न हो, तो घड़े के निर्माण के लिए उपादान मिट्टी को क्यों लिया जाय। अतः सम्पूर्ण जगत् के उपादान कारण के रूप में प्रकृति को माना गया है। उपादान कारण में दो प्रकार का परिणाम होता है, धर्म-परिणाम और धर्मी-परिणाम। धर्मलक्षणावस्था परिणाम प्रथम है तथा तत्त्वान्तर-परिणाम-धर्मी का स्वरूप-परिणाम दूसरा है। उपादान कारण और उसके कार्य में भेदाभेद सम्बन्ध है। कार्य और निमित्त कारण में किसी भी प्रकार का अभेद नहीं होता, किन्तु उपादान कारण और कार्य में अभेद तथा भेद भी होता है। तन्तु-रूप उपादान के अभाव में वस्त्र की सत्ता ही सम्भव नहीं होती। तन्तु और कपड़े में अत्यन्त भेद नहीं है, किन्तु अत्यन्त अभेद भी नहीं है। यह स्थिति निमित्त कारण के सम्बन्ध में नहीं है। स्वर्ण से बने आभूषण सोना रूप में तथा आभूषण-रूप में भिन्नाभिन्न दोनों हैं। इसी तरह प्रकृति और उसके विकारों में भी भेद और अभेद दोनों हैं। व्यक्त और अव्यक्त, कार्य और कारण, सूक्ष्म और स्थूल, ये दो अवस्थाएँ ही कार्य-कारण कहलाती हैं।

वस्तुतः भेद पर अधिक बल देकर मध्व ने सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद में समन्वय स्थापित किया है। निमित्त कारण अपरिणामी होते हुए कार्य की उत्पत्ति में निमित्त है; अतः कार्य से अत्यन्त भिन्न है। किन्तु उपादान कारण का लक्षण ही है कि आवश्यक रूप से परिणामी होते हुए वह कार्य को उत्पन्न करने का उपादान हो।[1] दोनों प्रकार के कारणों के उदाहरण हैं : घट-मिट्टी या जगत्-प्रकृति और घट-कुम्हार, उसके दण्ड आदि या जगत्-ब्रह्म एवं जीवों के अदृष्ट आदि। अतः प्रतिबन्ध-रहित कारण के विद्यमान रहने पर कार्य अवश्य होगा। वह कार्य उपादान कारण में तो अव्यक्त रूप से विद्यमान ही रहता है, हालाँकि निमित्त कारण की अपेक्षा अभिव्यक्ति मात्र के लिए करता है। दूसरे शब्दों में, चूँकि कार्य अपने उपादान कारण से पूर्व सत् रहता है, अतः सत्कार्यवाद, सत्कारणवाद या कार्य-कारणानन्यत्ववाद है, और चूँकि

---

1. परिणामिकारणं हि उपादानमुच्यते ।—न्यायसुधा, पृ० 194

कार्य अपने निमित्त कारण से सर्वथा भिन्न ही रहता है[1] और उसकी प्रेरणा से उत्पन्न होता है अतः असत्कार्यवाद है। जहाँ तक उपादान कारण का सम्बन्ध है, माध्व वेदान्त सांख्य के परिणामवाद से सहमत प्रतीत होता है। वह इस प्रकार है :

वस्तु (धर्मी) के धर्मों में ही परिवर्तन होता है जबकि धर्मी का स्वरूप अक्षुण्ण बना रहता है; अर्थात् विशेष्य या द्रव्य के विशेषों में उपचय और अपचयरूप विकार होता है। कुछ द्रव्य, जैसे दूध आदि, दही आदि के रूप में स्वरूपतः विकृत होते हैं। किन्तु नित्य-पदार्थों में स्वरूपतः नहीं, बल्कि पराधीन-विशेषाप्ति-रूप परिणाम ही होता है। अपूर्वोपजनन या तत्त्वान्तर-परिणाम अनित्य द्रव्यों में, जैसे मिट्टी, दूध आदि में, होता है। नित्य-पदार्थ जैसे प्रकृति, आत्मा, काल आदि में पराधीन-विशेषाप्ति-रूप परिणाम होता है।[2] अभूत्वा भवनम् या अपूर्वविशेषोपजनन, अर्थात् नवीन सृष्टि, विशेष्यों के विशेषों में ही सम्भव है।

जगत् का स्वरूप एवं सृष्टि

मध्व सृष्टि-श्रुति को, अद्वैत वेदान्त के विरोध में, वास्तविक तथा सप्रयोजन बताते हैं। अन्यथा जो सृष्टि और प्रलय का वर्णन है वह भी वास्तविक है। ईश्वर के ईक्षण से हुई सृष्टि को काल्पनिक या मिथ्या नहीं, अपितु पारमार्थिक ही मानना पड़ेगा। जगत् के वास्तविक अनुभवों का अपलाप नहीं किया जा सकता। ज्ञान के स्वतः-प्रामाण्य को माननेवाले विश्व की वास्तविक सत्ता को न मानें, यह विरोधी बात है। साक्षिप्रत्यक्ष अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता। यदि आत्मा के स्वरूप की आच्छादिका अविद्या जगत् का कारण हो तो जगत् आत्मा से भिन्न कैसे ? स्वप्न और जाग्रत् के अनुभवों में समानता न होने से स्वप्न का दृष्टान्त बिल्कुल गलत है। सामान्य अनुभव की वस्तु के मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए तो युक्ति की अपेक्षा भले ही हो, किन्तु उसकी वास्तविकता के लिए नहीं हुआ करती।

जगत् का उपादान कारण प्रकृति एक पारमार्थिक तत्त्व है, अतः उसका विकार मिथ्या या असत् कैसे हो जायगा ? ब्रह्म के ईक्षण द्वारा प्रकृति से साक्षात् या परम्परया जगत् की सृष्टि बतायी गयी है। प्रकृति जड़, नित्य, परिणामी तत्त्व है। काल, तीनों गुण, अहंकार, मन, इन्द्रियाँ, तन्मात्राएँ, महाभूत आदि उसके विकार हैं। महत्,

---

1. न हि स्वाधीनसत्तादिकमपेक्षमाणस्य स्वातन्त्र्यप्रच्युतिः युक्ता। एवं तर्हि तदपेक्षा नाम अनपेक्षैव।—न्यायसुधा, पृ० 113
2. पराधीनविशेषाप्तिरुत्पत्तिः ईशादन्यस्य सर्वस्य····।

अहंकार आदि की परम्परया और काल, तीनों गुण आदि की साक्षात् उत्पत्ति होती है। प्रकृति की साम्यावस्था का नाम प्रलय है। अहंकार, मन, बुद्धि, चित्त आदि अनित्य द्रव्य माने गये हैं तथा नित्य मन या इन्द्रिय ही साक्षी है जो जीव का सही स्वरूप है। ब्रह्म की इच्छा द्वारा प्रकृति की साम्यावस्था में विक्षोभ कैसे होता है, इस प्रश्न के उत्तर में मध्व प्रकृति को ब्रह्म का शरीर मान लेते हैं।

ब्रह्म, जीव और जड़ जगत् का आत्यन्तिक भेद

जैसा पहले संकेत किया गया, मध्व के दर्शन में 'भेद' का विशेष महत्त्व है। माध्व मत में मान्य भेद की धारणा भारतीय दर्शन के अन्य दार्शनिकों के मत से थोड़ी अलग है। मध्व 'भेद' की वास्तविकता को मानते हैं तथा भेद के रूप उतने ही होते हैं जितने रूपों में वस्तु का सम्बन्ध दूसरी वस्तु से ज्ञात होता है। यह पदार्थ का स्वरूप है।[1] इसे पदार्थों का स्वरूप-भेद कहते हैं। अनुयोगी और प्रतियोगी का भेदक यह विशेष तत्त्व अनन्त है।[2] किन्तु वैशेषिक मत से इस माध्व मत की समानता नहीं है, क्योंकि वैशेषिक के समान मध्व इसे न तो एक अलग पदार्थ मानते हैं और न एक अलग गुण, बल्कि पदार्थ या द्रव्य का स्वरूप, जैसा सांख्य-योग और मीमांसा दर्शनों में मान्य है। इसीलिए मध्व ज्ञान को सविशेष और गुणात्मक द्रव्य मानते हैं। कोई भी वस्तु अन्य वस्तुओं से भिन्न इसलिए होती है क्योंकि अपने कतिपय भेदक गुणों द्वारा वह ज्ञात होती है अतः विशेष से विशिष्ट वस्तु का ही दूसरा नाम भेद है।[3] प्रभाकर के मत में भेद अधिकरण या वस्तु का स्वरूप ही है जो प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञेय है, किन्तु भाट्ट मत में इसका ज्ञान अनुपलब्धि-प्रमाण से होता है। सांख्य-योग में भी भेद को अधिकरण-स्वरूप एवं प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ज्ञेय माना गया है। इसके विपरीत मत है कार्य-कारण के आधार पर भेदाभेद, जो रामानुज, भास्कर, निम्बार्क तथा जैनों द्वारा मान्य है। इन सबसे भिन्न अद्वैत वेदान्त का मत है कि स्वरूप-भेद असम्भव है, क्योंकि यदि 'घड़े' का उसके प्रतियोगी 'कपड़े' से भेद घड़े का स्वरूप है तो प्रतियोगी होने के कारण वह भेद कपड़े का भी स्वरूप क्यों न हो? किन्तु इसका समाधान देते हुए

---

1. सत्यं भेदस्तु वस्तूनां स्वरूपं नात्र संशयः।—न्यायामृत, 558
2. भेदाभावेऽपि भेदव्यवहारनिर्वाहका अनन्ता एव विशेषाः।—मध्वसिद्धान्तसार, पृ० 6
3. न स्वरूपमात्रं भेदः किन्तु अन्योन्याभावः स च वस्तूनां सविशेषाभिन्नः...., वस्तुतस्तु अस्मयन्ते भेदो वस्तुना सविशेषाभिन्नः।—न्यायामृत, पृ० 552, 559

व्यासतीर्थ कहते हैं कि भेद विभिन्नता का कारण नहीं, स्वयं विभिन्नता ही है; दो चीजों का अलगाव पारस्परिक भेद का दूसरा नाम है। इस प्रकार 'भेद' की समस्या लेकर मध्व सम्प्रदाय तथा शांकर सम्प्रदाय के बीच गहरा विवाद खड़ा हो गया। वैसे यह समस्या काफी प्राचीन है।

जहाँ तक ब्रह्म का जीव और जड़ जगत् से सम्बन्ध का प्रश्न है, मध्व को आत्यन्तिक भेद मान्य है। निरपेक्ष सत् सर्वगुणसम्पन्न ब्रह्म ही परमतत्त्व है,[1] जो स्वतन्त्र तत्त्व है तथा परब्रह्म, ब्रह्म, विष्णु, नारायण, हरि, ईश्वर, परमेश्वर, वासुदेव, परमात्मा आदि नामों से बोधित होता है। यह कारणों का कारण है अतः स्वतन्त्र है। इससे अचेतन-जगत्-रूप कार्य नहीं हो सकता। ब्रह्म चैतन्य-स्वरूप है, पर निर्गुण नहीं; अविकारी है, उपादान कारण नहीं; यह केवल निमित्त कारण है। वह अपनी माया या इच्छा से जगत् की सृष्टि करता है। प्रकृति ही जगत् का उपादान कारण है, उसकी आच्छादिका शक्ति जीवों के भ्रम का कारण है। यह आच्छादिका शक्ति ही अविद्या है जो प्रकृति का विशेष रूप या अंश है। ब्रह्म से प्रकृति का स्वरूपतः भेद है, अतः प्रकृति से उसका अभेद असम्भव है। श्रुति वाक्यों ('सर्वं खल्विदं ब्रह्म' या 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि) का तात्पर्य यह है कि जगत् में वह व्याप्त है और यह कि ब्रह्म के समान जगत् स्वतन्त्र सत् नहीं है। स्वरूपतः भिन्न होते हुए भी जीव और जगत् की सत्ता और प्रतीति ब्रह्म के अधीन है।[2] ब्रह्म का नित्य, सत्यों का सत्य है तथा चेतनों का चेतन भी है।

जीव ब्रह्म से अभेद बतानेवाले, श्रुति-वचन—'तत्त्वमसि', अयमात्मा ब्रह्म', 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इत्यादि—का तात्पर्य यह नहीं है कि संसार में जीव भिन्न रहता हुआ भी मुक्त होकर, ब्रह्म से अभिन्न होकर, उसी में विलीन हो जाता है, परन्तु यह है कि जीव तात्त्विक स्वतन्त्रता रखता है तथा स्वरूपतः ब्रह्म से भिन्न स्वरूप जैसा स्वतन्त्र स्वरूप रखता है, यद्यपि सत्ता और प्रतीति के लिए ब्रह्म के अधीन है। अत्यन्त समान गुणों के कारण भी जीव और ब्रह्म में साम्य दिखाकर जीव की महत्ता बताना भी अभेद-श्रुतियों का तात्पर्य हो सकता है। जीव का वर्धनशील होना या पतनशील

---

1. सृष्टिस्थिति संहारनियमन ज्ञानाज्ञान बन्धमोक्षाः यतः।—अणुव्या०, 1/1/1
2. स्वनियतसत्ता शक्त्यादिमद्भिरेव कारणैः इदं जगत्सदा करोति।—न्या० सु०, पृ० 299

आत्मा को व्यापक या जीव की प्रशंसा करना या ध्यान या मायावादी विचार का पूर्वपक्ष ही हो सकता है।

जीव का स्वरूप

जीवात्मा ईश्वर तथा जड़ पदार्थों से भिन्न तथा परस्पर भिन्न, अनेक, अणु-रूप, नित्य, कर्ता, भोक्ता, रूपवान, जन्म-मरणवाला होता है। यह निरवयव तत्त्व है, शरीर के संयोग-वियोग से जन्म-मरण को प्राप्त होता है। स्वरूपतः यह पूर्ण ज्ञान-सम्पन्न होता है, किन्तु धर्म और अधर्म के कारण प्रकट नहीं होता; ईश्वराधीन होने पर भी धर्माधर्म के संचय में स्वतन्त्र है, ऐसा मत मध्व-वेदान्त में सर्वमान्य प्रतीत नहीं होता। कुछ विद्वान् कहते हैं कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व-ज्ञातृत्व आदि धर्म यदि जीव के हैं तो वह अवश्य ही अज्ञान का आश्रय होगा।[1]

अन्य वैष्णव वेदान्त-सम्प्रदायों की भाँति मध्व जीव को अणु-रूप, किन्तु ज्ञान गुण द्वारा विभु-रूप बताते हैं। जिस प्रकार चन्दन की सुगन्ध या दीपक का प्रकाश है, उसी प्रकार जीव का गुण है। इस सिद्धान्त का, मध्व के अनुसार,[2] श्रुति में प्रतिपादन जीव के पुनर्जन्म, परलोक-गमन से पूरा मेल खाता है। हृदि ह्येष आत्मा (प्रश्न०, 3/6), ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति (कौ० उ०, 3/3), तस्माल्लोकात्पुनरेत्यास्मै लोकाय कर्मणे (बृह०, 4/4/6) इत्यादि श्रुति के वचनों में संगति तभी बैठ सकती है जब जीव को अणु-परिमाण माना जाय (अविरोधश्चन्दनवत्—ब्र० सू०, 2/3/23)।

इसी तरह मध्व का जीव सम्बन्धी सिद्धान्त वैष्णवों के अनुकूल हो सकता है। जीव का कर्म और स्वतन्त्रता ईश्वर की इच्छा के बिना सम्भव नहीं है। ईश्वर ही पूर्ण स्वतन्त्र, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। जीवों के अन्तर्यामी के रूप में ईश्वर ही सब कुछ कराता है। अतः अविद्या आदि से मुक्ति के लिए ईश्वर की अनुकम्पा आवश्यक है। सुख-दुःख का अनुभव करनेवाला यह जीव ईश्वर से भिन्न है। किन्तु उसका अंश है।[3] स्वरूपतः एवं सहज रूप में चैतन्य गुण से युक्त है, भूतों के सम्पर्क

---

1. द्रष्टव्य, के० नारायण का 'ऐन आउटलाइन आव् मध्व फिलॉसफी', पृ० 146।
2. अणुर्ह्येष आत्माऽयं वा ये ते सिनीत पुण्यं चापुण्यं चेति""श्रुतौ अणुत्वं इत्यतोऽविरोध इति। मध्वभाष्य।
3. तत्सम्बन्धित्वमेव तदंशत्वमिति वक्ष्यामः।—तत्त्वप्रकाशिका, पृ० 121

में वह प्रकट हो जाता है, अतः ज्ञान-स्वरूप और ज्ञाता है। जीव आनन्द-स्वरूप भी है। ये सभी स्वरूपगत गुण अविद्या के आवरण से आच्छन्न रहते हैं। जीव का ज्ञान, आनन्द आदि गुण ईश्वर के समान है, तथापि दोनों बिलकुल भिन्न तत्त्व हैं। जीव अप्राकृत देह से युक्त होता है, अतः एक विशेष प्रकार का देहात्मवाद माध्व सम्प्रदाय को मान्य है। चार्वाक-मत से इसका भेद यह है कि चार्वाक के समान जीव की देह (भौतिक) मध्व को मान्य नहीं। जीव की उत्पत्ति के प्रश्न को लेकर मध्व कहते हैं कि उपाधि की उत्पत्ति और सम्पर्क के कारण जीव एक विशेष रूप में आविर्भूत होकर सूक्ष्म और स्थूल शरीर धारण करता है। जीव की ये उपाधियाँ हैं[1]—स्वरूपोपाधि और बाह्योपाधि। स्वरूपोपाधि तो जीव से अलग नहीं है; किन्तु बाह्य उपाधियाँ हैं—सूक्ष्म और स्थूल शरीर तथा मानस तत्त्व आदि। स्वरूपोपाधि, जो जीव का विशेष हो है, परमेश्वर से उसका भेद करने का कारण है। जीव ईश्वर का अंश भी है जो प्रतिबिम्बवाद पर आधारित है। प्रतिबिम्ब सोपाधिक और अनुपाधिक, दो प्रकार का है। जीव ब्रह्म का अनुपाधिक प्रतिबिम्ब है। हर हालत में जीव और ईश्वर का भेद सुनिश्चित है, ऐसा मध्व मानते हैं। जीव को अविद्या का आश्रय कहा गया है। यह अविद्या ज्ञान का निषेध परन्तु भाव-रूप है[2] और चार प्रकार की है। **जीवाच्छादिका** जीव के चैतन्य और आनन्द स्वरूप का आवरण करती है। **परमाच्छादिका** जीव को परमात्मा के स्वरूप को जानने से रोकती है। **शैवला** जगत् के बन्धन में जीव को बाँधती है। **माया** मायिक कार्यों की सृष्टि करती है।

बन्ध-मोक्ष-विचार

जीव का स्वरूप-भेद और भाव-रूप आनन्दानुभव[3] तथा उस आनन्दानुभव में साधन-तारतम्य से तारतम्य-मुक्त अवस्था में भी मान्य है। यद्यपि यह मान्य है कि स्वरूपावस्थिति ही मोक्ष है, तथापि मुक्त पुरुष का शरीर ब्रह्म के शरीर से भिन्न तथा जीव-ब्रह्मैक्य नहीं है। प्राकृत शरीर से रहित होकर जीव अपने अप्राकृत या आत्मात्मिक सत्त्वमय, चैतन्य, आनन्द आदि रूप में शरीरधारी बने रहते हैं। वह आनन्द केवल स्वसंवेद्य है। सभी को एक समान आनन्द नहीं मिलता। चैतन्य के साथ किसी

---

1. जीवोपाधिर्द्विविधा स्वरूपं बाह्य एव च। बाह्योपाधिर्लयं याति मुक्तावन्यस्य तु स्थितिः। तयोपाधेश्च नित्यत्वान्नैव जीवो विनश्यति।—वही, पृ० 119
2. न वयं भावरूपाज्ञानस्य परिपन्थिनः।—न्यायसुधा, पृ० 63
3. विष्णोर्निरवधिकानन्द सदृशानन्दो मोक्ष इति माध्वाः।—मुक्तिवाद, पृ० 82

न किसी प्रकार का आनन्दानुभव मानना जरूरी हो जाता है, ऐसी मध्व की मान्यता है[1] जगत् की सृष्टि केवल ईश्वरेच्छा से होती है, जीव की इच्छा से नहीं। सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य, ये मुक्त पुरुष की चार अवस्थाएँ मध्व को भी मान्य हैं। श्रवण-मनन-निदिध्यासन या समाधि के अतिरिक्त भक्तिज्ञान का विशेष महत्त्व है।[2] वस्तुतः कर्म मोक्ष-साधन है ही नहीं। कर्म और अविद्या बन्ध के हेतु हैं तो परब्रह्म के साक्षात्कार-रूप ज्ञान से ही मोक्ष होता है। ब्रह्म-साक्षात्कार-रूप ज्ञान के साधन हैं—वैराग्य, शम, दम, नियम, भक्ति, भेद-ज्ञान, शरणागति, उपासना आदि।

[३] वल्लभ दर्शन [शुद्धाद्वैत वेदान्त]

विषय-प्रवेश

उक्त दर्शन का सिद्धान्त है शुद्धाद्वैत अर्थात् माया के सम्बन्ध से रहित शुद्ध ब्रह्म का अद्वैत। इससे ब्रह्म की स्वरूपगत शुद्धता बतायी गयी है। दूसरा अर्थ है, माया के सम्बन्ध से रहित शुद्ध ब्रह्म और जगत् का अद्वैत, जो यह बताता है कि कार्य-कारण-रूप ब्रह्म भी शुद्ध है, अर्थात् वह मायिक नहीं है।[3] शंकर का अद्वैत शुद्ध इसलिए नहीं माना जा सकता कि उन्होंने ब्रह्म के साथ माया का अस्तित्व स्वीकार किया है। किन्तु वल्लभ ने माया के बिना ही सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म के अद्वैत को वेदों का प्रतिपाद्य सिद्ध किया है। यादवप्रकाश का सिद्धान्त कुछ ऐसा ही था।

जैसा नाम से ही प्रकट है, वल्लभ ने शंकर की माया का, भास्कर की उपाधि का, रामानुज के तत्त्वत्रय का, निम्बार्क के तथा मध्व के भेद का, शाक्तों की शक्ति की निमित्तकारणता का प्रतिवाद करते हुए सच्चिदानन्द-स्वरूप एवं सर्व-धर्मविशिष्ट ब्रह्म तथा जीव-जगत् के परस्पर सम्बन्ध की समस्या का एक नया समाधान प्रस्तुत किया। एकमात्र तत्त्व ही ब्रह्म है और जड़-जीवात्मक जगत्-रूप कार्य भी ब्रह्म है, अतः दोनों का शुद्ध अद्वैत है। ब्रह्म अपनी ही इच्छा से, किसी अविद्या या उपाधि के कारण नहीं, अपने आनन्द गुण को तिरोभूत करके जीव-रूप में परिणत हो जाता है तथा चैतन्य गुण को तिरोभूत करके जड़ जगत्-रूप में। सत्, चित् और

---

1. ये भोगाः परमात्मना भुज्यन्ते त एव मुक्तैर्भुज्यन्ते।—अणुव्याख्यान, 177
2. माहात्म्यज्ञानपूर्वक स्नेहो हि भक्तिः,—तत्त्वप्रकाशिका, अणु०, 3/2/1
3. मायासंबन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥—शुद्धाद्वैतमार्तण्ड

आनन्द, इन गुणों का आविर्भाव और तिरोभाव ही विविध रूपों का हेतु है। ब्रह्म ही आविर्भाव दशा में कार्य है और तिरोभाव दशा में कारण। अतः कारण और कार्य का शुद्धाद्वैत है। चूँकि ब्रह्म विरुद्ध-धर्माश्रय माना गया है, अतः जड़ जगत् एवं जीव-रूप में परिणत होकर भी वह स्वतः अविकृत रहता है। इस प्रकार वल्लभ ने अविकृतपरिणाम-वाद स्वीकार किया है। जीव और जगत् को अंश या अंग तथा ब्रह्म को अंशी या अंगी मानते हुए उन्होंने एकेश्वरवाद या सर्वेश्वरवाद की स्थापना की। वल्लभ वेदान्त की प्रमुख विशेषताएँ हैं—ब्रह्म का रसपूर्ण एवं सर्वविरुद्धधर्माश्रय होना; उसके तीन रूप आधिदैविक परब्रह्म, आध्यात्मिक अक्षर ब्रह्म तथा अन्तर्यामी ब्रह्म; कर्ता-भोक्ता ब्रह्म के अंश जीव का भी कर्ता-भोक्ता होना; पुष्टि और मर्यादा ये भक्ति के दो भेद; जगत् और संसार में भेद; जगत् का सत्यत्व या ब्रह्मत्व; अविकृतपरिणामवाद; आविर्भाव-तिरोभाव-वाद या सत्कार्यवाद; अभिन्ननिमित्तसमवायिकारणवाद, आदि।

जीवन एवं साहित्य

दक्षिण भारत के तैलंग ब्राह्मण वल्लभ (1473-1531 ई०) ने अधिकांश जीवन वाराणसी में तथा आसपास अपने अध्ययन एवं 'शुद्धाद्वैत' मत के प्रचार में बिताया। वे एक उच्च कोटि के धार्मिक प्रचारक भी थे तथा उनका 'शुद्धाद्वैत वेदान्त' एक सिद्धान्त है जो मुख्य रूप से धार्मिक सम्प्रदाय से सम्बन्धित कहा जा सकता है। उनके पूर्व विष्णुस्वामी का विशुद्धाद्वैत नामक कोई धर्म-दर्शन सम्प्रदाय था। वल्लभ के मतानुयायी साधारणतया उत्तरी भारत, राजपूताना, सौराष्ट्र, गुजरात एवं बम्बई में पाये जाते हैं। उन्होंने पूरे भारत का भ्रमण तीन बार किया। उनके अनुयायियों में सभी प्रकार के व्यक्ति आते हैं—उच्चवर्गीय और निम्नवर्गीय आदि। उनका सम्प्रदाय रुद्र सम्प्रदाय तथा पुष्टि मार्ग के नाम से भी जाना जाता है। वे अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि एवं अग्नि का रूप मानकर शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन एवं भागवत (वैष्णव मत) का मण्डन करते हैं।[1] शंकर की तीव्र आलोचना करते हुए वल्लभ ने उन पर कई स्थलों पर प्रच्छन्न बौद्ध होने का आरोप लगाया है।

---

1. वेदविभागान् यथार्थानपि व्याख्येयं सदसद्विलक्षणामसदपरपर्यायामविद्यां सर्वकारणत्वेन स्वीकृत्य तन्निवृत्यर्थं जातिभ्रंशरूपं संन्यासपाखण्डं प्रसार्य सर्वमेव लोकं व्यामोहितवन्तः। व्यासोऽपि कलहं कृत्वा शंकर शप्त्वा तूष्णीमास। अतोऽग्निना मया सर्वतः समुद्धारार्थं यथाश्रुतानि श्रुतिसूत्राणि योजयता मोहो निराकृतो वेदितव्यः।—अणुभाष्य, 2/2/26

वल्लभ ने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'अणुभाष्य' नामक भाष्य लिखा। 'श्रीमद्भागवत' पुराण पर 'सुबोधिनी' नामक व्याख्या लिखी। 'गीता' पर विस्तृत व्याख्यान के रूप में 'भागवत' को समझा जाता है। एक दृष्टि से 'गीता' और 'भागवत' एक स्तर पर तथा 'वेद' और 'ब्रह्मसूत्र' दूसरे स्तर पर रखे जाते हैं; किन्तु साधारण तौर पर वल्लभ प्रस्थानचतुष्टय को ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मानते हैं—'वेद' एवं 'उपनिषद्', 'गीता' 'ब्रह्म-सूत्र' और 'भागवतपुराण'। यदि संदेह की स्थिति हो तो क्रमशः पूर्व की अपेक्षा बाद का ग्रन्थ ही आधार होता है। इस प्रकार भागवत का स्थान विशिष्ट हो जाता है, तथापि इस सम्प्रदाय में ये चारों ग्रन्थ सामान्यतः एक दूसरे के पूरक माने जाते हैं। वल्लभ का स्वतन्त्र ग्रन्थ है 'तत्त्वार्थदीपनिबंध' जिसपर स्वयं वल्लभ ने 'प्रकाश' नामक टीका चार भागों में लिखी है।

वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी पुरुषोत्तमाचार्य का 'अणुभाष्य' पर 'भाष्य-प्रकाश' तथा श्रीधर शर्मा की 'बालबोधिनी' नामक टीकाएँ हैं। पुरुषोत्तम का 'शुद्धा-द्वैतमार्तण्ड' तथा 'प्रस्थानरत्नाकर' प्रसिद्ध स्वतन्त्र ग्रन्थ भी हैं। गिरिधर का 'शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड भी काफी प्रसिद्ध है। गोपेश्वर का 'भक्तिमार्तण्ड', वल्लभ के पुत्र विट्ठलनाथ का 'विद्वन्मण्डन', बालकृष्ण का 'प्रमेयरत्नार्णव' गुट्टूलाल के 'सतिसद्धान्तमार्तण्ड' और 'वेदान्तचिन्तामणि' आदि कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की व्याख्या के रूप में लिखे गये हैं। इस मत का 'भागवत' पर विशाल साहित्य है।

ज्ञान-मीमांसा

वल्लभ वेदान्त में ज्ञान या प्रमा अन्तःकरण का सात्त्विक परिणाम, जो सत्त्व-गुण बढ़ानेवाली सामग्री द्वारा होती है, मानी गयी है। यह अबाधित अथवा बाधित न होने की योग्यता रखती है।[1] सात्त्विक ज्ञान ही सर्वथा प्रामाणिक एवं यथार्थ या सही होता है। दूसरा राजस ज्ञान है जो सविकल्पक ही होता है। सविकल्पक ज्ञान के पूर्व इन्द्रियों का जब प्रथम व्यापार विषय के साथ होता है तब सत्त्व का उदय होता है, अतः वस्तु की सत्ता मात्र का बोध भी सात्त्विक होता है जिसे निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। जाग्रत् अवस्था में इन्द्रियों की सात्त्विकता के कारण वस्तु मात्र का

---

1. तच्च सात्त्विकं ज्ञानं प्रमारूपमेव। सत्त्वगुणहेतुसामग्र्या सत्त्ववृद्धावन्तः करणेन प्रमितेरेव जननात्।....सत्त्वस्यैव प्रमाणत्वनिश्चयात् तज्जन्यमेव ज्ञानं प्रमाणम्। अबाधितज्ञानत्वम्, बाधयोग्यव्यतिरिक्तत्वं वा तल्लक्षणम्।—प्रस्थानरत्नाकर पृ० 5-6

एक ही प्रकार का सात्त्विक निर्विकल्पक ज्ञान ही सर्वप्रथम उत्पन्न होता है।[1] राजस ज्ञान या सविकल्पक ज्ञान में भ्रम और बाध की सम्भावना रहती है। निर्विकल्पक और सविकल्पक के बीच अन्तर करना आसान इसलिए नहीं होता कि मन का संकल्प-विकल्प इन्द्रिय और वस्तु के संयोग केसाथ-साथ बड़ी शीघ्रता से होता है। सविकल्पक ज्ञान दो प्रकार का है: विशिष्ट बुद्धि, जैसे दण्ड से युक्त दण्डी व्यक्ति तथा समूहालम्बन-बुद्धि, जैसे दण्ड के साथ पुस्तक आदि से भी युक्त व्यक्ति का बोध। इस प्रकार सात्त्विक, राजस तथा तामस भेद से ज्ञान को तीन प्रकार का माना गया। सविकल्पक और निर्विकल्पक का भेद रामानुज मत से तथा सांख्य मत से मिलता-जुलता है, किन्तु न्याय-वैशेषिक का मत इससे भिन्न है। वस्तुतः माध्व मत में मान्य निर्विकल्पक सात्त्विक भी राजस अर्थात् सविकल्पक की ही कोटि में आता है और विशिष्ट ज्ञान है या विकल्पों अर्थात् विशेषों से युक्त वस्तु की सत्ता मात्र का इन्द्रियजन्य प्रथम ज्ञान है (प्र० र०, पृ० 10)

उपर्युक्त सविकल्पक ज्ञान पाँच प्रकार का होता है। संशय, विपर्यय, निश्चय, स्मृति और स्वप्न। एक वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों की प्रतीति संशय है। बाह्य वस्तुओं का वह ज्ञान, जो इन्द्रिय-संयुक्त वस्तु से भिन्न वस्तु का हो जाता है, विपर्यय या विपर्यास है। यह विषय के दोष से भी होता है और इन्द्रिय-दोष के कारण भी। वास्तव में इन्द्रिय-दोष के कारण ही शुक्ति में रजत, शंख में पीतता, घट का घूमना आदि भ्रान्त ज्ञान होता है।

निश्चय ज्ञान यथार्थ अनुभव या प्रमा को कहते हैं। जैसी वस्तु हो वैसा ही ज्ञान, देश-काल आदि से युक्त विषय का पूर्ण निश्चयात्मक ज्ञान या सविकल्पक ज्ञान साक्षात् प्रमाणजन्य होता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष, ये दो भेद इस ज्ञान के हैं। इन्द्रिय और सद्वस्तु के संसर्ग से जन्य प्रत्यक्ष है जिसे साक्षात्कार कहा जाता है। शब्द का ज्ञान अपरोक्ष नहीं होता, अतः ईश्वर का ज्ञान या साक्षात् इसमें नहीं शामिल है।[2]

---

1. तत्र राजस ज्ञानं सविकल्पमेव। ततः पूर्वं चेन्द्रियेषु सात्त्विकमुत्पद्यते निर्विकल्पकम्। तच्च सन्मात्रावगाह्येकविधमेव। जाग्रद्वृत्तेः सात्त्विकत्वेन प्रथमत एवं सत्त्वानुग्रहे इन्द्रियैः प्रथमं तस्योत्पादनात्।—वही, पृ० 7
2. तच्च निश्चयात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्ष-परोक्षभेदेन द्विविधम्। तत्र इन्द्रियार्थमत्संप्रयोग-जन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। एतदेव लोके साक्षात्कार पदेनोच्यते। ईश्वरज्ञानं तु न लक्ष्यम्। शब्दादपरोक्षं च न युक्तिसहम्।—वही, पृ० 21

प्रत्यक्ष से भिन्न ज्ञान परोक्ष है। स्मृति संस्कार मात्र से जन्य ज्ञान को कहते हैं अथवा निद्रा से बाह्य इन्द्रियों द्वारा न होनेवाला संस्कार-जन्य ज्ञान स्मृति है। स्वप्न की रचना को विषय बनाने वाला ज्ञान स्वप्न-ज्ञान है। सुषुप्ति स्वप्न का ही अवान्तर भेद है।

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, ये तीन ही अलग-अलग प्रमाण मान्य हैं। अज्ञात वस्तु का बोध करानेवाले साधन को प्रमाण कहते हैं।[1] प्रत्यक्ष-मूलक अनुमान और शब्द प्रमाण होते हैं। किन्तु लौकिक व्यवहार में प्रयुक्त शब्द ही प्रत्यक्ष-मूलक होते हैं, वैदिक शब्द नहीं। लोक से अज्ञात ब्रह्म-विषय अन्य प्रमाणों का विषय नहीं हो सकता, अतः वेदात्मक शब्द ही ब्रह्म-विषय के बोधक होने से सर्वाधिक प्रामाणिक हैं।[2] अनुमान एवं तर्क की गति उस विषय में बिलकुल नहीं हो सकती। जिस ज्ञान का साधन ज्ञान हो उसे अनुमान कहते हैं।[3] व्याप्ति-ज्ञान के माध्यम से होनेवाला ज्ञान अनुमान है। वह केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी ही होता है; केवलान्वयी मान्य नहीं है। उपमान प्रत्यक्ष के अन्दर आता है, अतः भिन्न प्रमाण नहीं है। अर्थापत्ति प्रमाण प्रत्यक्ष और शब्द का अनुग्राहक मात्र है, प्रमाण नहीं। अनुपलब्धि प्रमाण भी अभाव के ज्ञान में साधन न होने से मान्य नहीं है।

वल्लभ वेदान्त में प्रमाण तथा प्रमा दो प्रकार की मान्य है।[4] अन्तःकरण-वृत्ति-रूप ज्ञान, जो प्रमाण का पर्याय है, इन्द्रियादि प्रमाण का फल है और वृत्तिरूप प्रमाण-साधन का फल आत्मनिष्ठ ज्ञान या स्वरूपभूत ज्ञान है। दूसरे शब्दों में वृत्ति-ज्ञान और स्वरूप-ज्ञान का भेद इस मत में स्वीकृत है। स्वरूपभूत-ज्ञान ब्रह्म ही है, क्योंकि जीव आनन्द-तिरोहित ब्रह्म है। जीव का चैतन्य गुण से अविनाभाव सम्बन्ध है।[5] गुण दीप-प्रभा के समान व्यापक और सहज तथा पूर्व से ही विद्यमान रहता है, जैसे बाल्यावस्था में देह में पुंस्त्व।[6]

तत्त्व-मीमांसा

वल्लभ वेदान्त में प्रमेय तत्त्व एकमात्र ब्रह्म है जो सर्वधर्मविशिष्ट है, सविशेष

---

1. अनधिगतार्थगन्तृत्वात्प्रमाणस्य।—अणुभाष्य, 1/1/2
2. प्रस्थानरत्नाकर, पृ० 38
3. ज्ञानकरणकं ज्ञानमनुमितिः।—वही, पृ० 138
4. प्रस्था० रत्ना०, पृ० 1
5. वही, पृ० 2
6. अणुभा० 2/3/23-28

या सगुण है, शुद्ध धर्म के समान हेयगुणरहित है। ब्रह्म सर्वशक्तिमान है, उसकी शक्ति माया भी उससे अभिन्न है तथा जीव ब्रह्म का अंश है। ब्रह्म जीव और जगत् का निमित्त और उपादान दोनों ही कारण है। पहले तो वह निराकार, सच्चिदानन्दात्मक, सर्वभवनसमर्थ है; किसी निमित्त के बिना ही बाद में अपने अंश से धर्म-रूप, क्रियादि-रूप और प्रपंच-रूप हो जाता है, फलतः 'एक के जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है' ऐसी प्रतिज्ञा सम्भव हो जाती है। अतः ब्रह्म से अतिरिक्त कोई प्रमेय नहीं है; ब्रह्म ही कारण, कार्य और स्वरूप-भेद से तीन रूपों या कोटियों में परम सत्ता है। वही ज्ञान, आनन्द, काल, इच्छा, क्रिया, माया, प्रकृति रूप से पहले होता है।[1] वह सभी विरुद्ध धर्मों का आश्रय है, अतः स्वरूपतः अविकृत रहकर भी अपने को ही रचता है।[2]

वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है; पूर्वकाण्ड या कर्मकाण्ड में ब्रह्म के क्रिया नामक गुण का प्रतिपादन है और उत्तरकाण्ड में ज्ञान नामक गुण का। गीता, भागवत में ब्रह्म के सम्पूर्ण गुणों का वर्णन है। परम सत्ता कृष्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म का आधिदैविक रूप भागवत में परमात्मा तथा उपनिषदों में ब्रह्म कहा गया है। यह रूप असीम आनन्दमय एवं रसपूर्ण है तथा माया-शक्ति-सम्पन्न है, जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। उनके सारे गुण तद्रूप ही हैं, उससे अलग नहीं हैं। वह प्रेम, पूजा का विषय अर्थात् ध्येय एवं परम उपास्य देव है। अपने दूसरे रूप अन्तर्यामी रूप से वही जीवों की आत्मा के रूप में रहता है। जीवों का आनन्द सीमित होता है। अक्षर ब्रह्म उसी का आध्यात्मिक रूप है जो ज्ञानियों का आराध्य देव है, जिससे जीवात्माएँ अग्नि से चिनगारी के समान प्रकट होती या निकलती हैं।[3] जीवों को मुक्त करना होता है तो वह ज्ञान प्रदान करने के लिए काल, धर्म और स्वभाव, इन तीनों रूपों में आविर्भूत होता है। ये तीनों उसी अक्षर ब्रह्म के रूपान्तर हैं। इसी की कार्य-कोटि में प्रकृति और पुरुष भी हैं। कारण-कोटि उसका अन्तर्यामी रूप है जो जीवों के साथ कार्य में प्रवेश करता है तथा स्वरूप-कोटि सच्चिदानन्द-रूप ज्ञान-क्रिया-विशिष्ट, अनन्त-

---

1. प्रस्थानरत्नाकर, पृ० 159।
2. अविक्रियमाण एवात्मानं करोतीति वेदान्तार्थः संगतो भवति। विरुद्ध सर्वधर्माश्रयत्वं तु ब्रह्मणो भूषणाय।—'अणुभाष्य', 1/1/3
3. विस्फुलिंगा इवाग्नेर्हि जडजीवा विनिर्गताः।
सर्वः पाणिपादान्तात्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखात्॥—वल्लभ का०, 31

गुणपूर्ण, अनन्त शक्ति का प्रतिपादन है अर्थात् स्वरूप-कोटि में भगवान् ज्ञान, क्रिया और दोनों से विशिष्ट इन तीन रूपोंवाला होता है। इन तीनों कोटियों का मूलभूत ज्ञान-प्रधान ब्रह्म कूटस्थ, अव्यक्त है।

कार्य-कारण-सिद्धान्त एवं सृष्टि

वल्लभ अविकृत परिणामवाद का प्रतिपादन करते हैं। कारण स्वरूपतः अविकृत रहते हुए कार्य-रूप में परिणत हो जाता है। ब्रह्म जगत् के रूप में परिणत होकर भी उसी प्रकार अविकृत बना रहता है जिस प्रकार सुवर्ण आभूषण बनकर भी अपने स्वरूप को नहीं खोता। जैसे सर्प अपने को संकुचित और विकसित करता है उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी क्रीड़ा के लिए जगत् का रूप बदलता है और फिर समेट लेता है, अतः सृष्टि और प्रलय होते रहते हैं। इस जगत् की सृष्टि और प्रलय आविर्भाव और तिरोभाव के रूप में होते हैं। किसी चीज का न तो अत्यन्त नाश होता है और न विनाश। प्रश्न यह है कि जगत् के अनित्य पदार्थ क्या ब्रह्म हैं? वल्लभ का उत्तर है कि वस्तुतः सब चेतन-अचेतन जगत् की द्विविध सृष्टि ब्रह्म से ही है।[1] वे अनित्य प्रतीत इसलिए होते हैं कि ब्रह्म के आनन्द और चैतन्य इनमें दबे रहते हैं। भौतिक चीजों में चैतन्य और चेतन जीवों में आनन्द गुण आवृत हैं।[2] ब्रह्म-रूप से जगत् की वास्तविक सत्ता है[3] और जीव ब्रह्म का अंश है। ब्रह्म अपने आनन्द अंश को तिरोहित कर लेता है सो चिदंश की व्यामोहिका माया जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होने देती। वही जगत् की उत्पत्ति में हेतु है। माया का ही रूप अविद्या है और माया या उपादान प्रकृति है।[4] इस प्रकार दो प्रकृतियाँ हैं—व्यामोहिका माया और प्रकृति या मूल प्रकृति।[5] मूल पुरुष दोनों प्रकृतियों को अपनाता है। इसमें ईश्वरेच्छा ही कारण है। अब दूसरा प्रश्न यह है कि क्या ब्रह्म जीवों के प्रति वैषम्य-नैर्घृण्य दोष से युक्त नहीं हो जाता? उत्तर तीन प्रकार का है—प्रथम यह कि ईश्वर

---

1. द्विविधा हि वेदान्ते सृष्टिः। भूतभौतिकं सर्वं ब्रह्मण एव। विस्फुलिंग न्यायेनैका, अपरा वियदादि क्रमेण सा चानामरूपवत्वेनाभिव्यक्तिः सजड़स्यैव कार्यत्वात्तस्य जीवस्य त्वंशत्वेनैव न नामरूपसबन्धः।—अणु भा०, 2/3/1
2. संदंशेन जड़ाः पूर्वं चिदंशेनेतरे अपि।—का० 32
3. अतो ब्रह्मरूपेण सत्यस्य जगतो ब्रह्मैव समवायिकारणम्।—अणु भा०, 1/4/23
4. प्रस्थानरत्नाकर, पृ० 161
5. तत्र द्रव्यं माया प्रकृतिर्ह्यस्योपादानम् इति।—वही, पृष्ठ 163

की इच्छा कर्मसापेक्ष है; जीव के कर्म के अनुसार फल देना ईश्वरेच्छा है, ऐसा सूत्रकार का मत है। दूसरा उत्तर विट्ठलेश का है कि लीला के लिए सारी सृष्टि का निर्माण स्वयं ईश्वर करता है। तीसरा है भाष्यकार वल्लभ का कि अपने माहात्म्य को प्रकट करने के लिए ब्रह्म अपने से सृष्टि करता है।[1] इस प्रकार स्वयं ब्रह्म ही सब कुछ का कर्ता है और यह उसका स्वभाव है, अतः सृष्टि मायिक या मिथ्या नहीं है। जैसे कामधेनु वर चाहनेवालों के अनुसार उस-उस रूप में परिणमित होती है, परन्तु अविकृत रहती है, उसी प्रकार ईश्वर भी उन-उन पदार्थों का निर्माण करके स्वयं रमता है। ईश्वर जगत् का समवायि या उपादान कारण और निमित्त कारण भी है।[2] इस मत में कुल अट्ठाईस तत्त्व मान्य हैं—सांख्य के पच्चीस तथा कर्म, काल और स्वभाव। किन्तु मुख्यतः एकमात्र तत्त्व ईश्वर है क्योंकि ये सब उसी के विकार हैं।

बन्ध-मोक्ष-विचार

जीव-स्वरूप, जगत्-संसार-भेद एवं मुक्ति

ब्रह्म स्वयं क्रीड़ा के लिए अपनी इच्छा से कि 'मैं एक हूँ, बहुत रूपोंवाला बन जाऊँ", अपने पूर्णानन्द का तिरोभाव करके जीव-रूप बन जाता है। स्वरूपतः जीव में अविद्या का नाम निशान नहीं होता, किन्तु ब्रह्मेच्छा से ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदि का तिरोभाव होने के कारण जीव दीन, हीन, दुःखी, जन्म, देहादि में अहंबुद्धि, विषयासक्ति में रत हो जाता है। जीव अणु-परिमाण का, नित्य, उत्पत्ति-रहित होता है क्योंकि स्फुलिंग के समान उसे ब्रह्म का अंश माना गया है और नाम-रूप-सम्बन्ध ही उत्पत्ति है जो उसमें नहीं होती।[3] ज्ञान-गुण उसमें स्वाभाविक होता है, अतः वह ज्ञाता है—ज्ञातृ-रूप धर्मी और ज्ञान-रूप धर्म में अभेद सम्बन्ध होता है।[4] ईश्वर का अंश होते हुए भी ब्रह्म में जीव के दोष नहीं लगते[5], जैसे सूर्य अपने प्रकाश में रहनेवाले वट आदि पदार्थों के दोष से दूषित नहीं होता। जीव की तीन अवस्थाएँ हैं—शुद्ध, संसारी और मुक्त। अविद्या के सम्बन्ध से पूर्व वह शुद्ध है, इसी समय जीव

1. सापेक्षमपि कुर्वन्तीश्वर इति माहात्म्यम्।—2/1/34
2. निमित्तकारणं समवायिकारणं च ब्रह्मैव।—वही, 1/4/23
3. नामरूप विशेषवतामेवोत्पत्तिरुच्यते।—अणु० भा०, 2/3/15
4. धर्मधर्मिणोरभेदात्।—अणु० भा०, 1/4/2
5. अतो द्वैतबुद्ध्यांशस्यैव दुःखित्वं न परस्य। अथवा प्रकाशः प्रकाश्यदोषेण यथा न दुष्टः पापस्यापि तदंशत्वात्।—अणु भा०, 2/3/46

मुक्ति के योग्य होता है। जब अविद्या का सम्बन्ध होता है तब वह बद्ध या संसारी बन जाता है। देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राण में अहंभाव का जगना तथा अपने स्वरूप का अज्ञान, ये अविद्या के पाँच पर्व हैं। अतः इनमें अध्यास करके जीव संसारी बना रहता है। यह संसारीपन अविद्या-कल्पित है और अविद्या का नाश होने का संसार का नाश हो जाता है। किन्तु जगत् तो सत्य ब्रह्म का सत्य रूप है, अतः नष्ट नहीं होता। 'मैं इससे भिन्न हूँ' या 'यह मुझसे भिन्न है', ऐसा द्वैत ज्ञान अविद्याजन्य है जो ज्ञान से नष्ट हो जाता है। जीव की उत्पत्ति में अविद्या कारण नहीं है, उसके संसार या बन्धन-रूप अध्यास का कारण है। आनन्द अंश के तिरोभूत रहने पर अविद्या द्वारा जीव बद्ध होकर अहंता, ममता के अभिमान में रहता है और यह अविद्या का कार्य है, ऐसी बुद्धि द्वारा ज्ञानोत्पत्ति पर्यन्त संसारी बना रहता है। संसार का नाश जीव के ज्ञान से होता है और जगत् का लय ईश्वरेच्छा से। वैराग्य, सांख्य, योग प्रेम आदि से संसार की निवृत्ति हो जाती है। तब जीव जीवन्मुक्त हो जाता है।[1] संसार ही सुख-दुःखात्मक है, जगत् नहीं। मुक्त दो प्रकार के होते हैं—जीवन्मुक्त और विदेह-मुक्त। केवल ज्ञान की अपेक्षा केवल भक्ति श्रेष्ठ है। ज्ञानयुक्त भक्ति का सर्वोच्च स्थान है। कर्म, ज्ञान और भक्ति, ये क्रमशः आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक मार्ग हैं। प्रथम दो, अर्थात् कर्मी और ज्ञानी जीव, भगवदिच्छा से पुनः जन्म ग्रहण करते हैं। ज्ञान से अक्षर ब्रह्म की और भक्ति से परब्रह्म श्रीकृष्ण की प्राप्ति होती है। उनके साथ क्रीड़ा-रस का अनुभव होता है। भक्तिमार्गी साधन-तारतम्य से प्रभु-समीप रसानुभव का भी तारतम्य रखते हैं। ये दो प्रकार के हैं—पुष्टिमार्गी और मर्यादा-मार्गी। पुष्टि का अर्थ है पोषण या ब्रह्म का अनुग्रह। ज्ञान-भक्ति द्वारा हुई मुक्ति मर्यादा है अर्थात् साधन-क्रम से मुक्ति की इच्छा मर्यादा है। इसे वैदिक मार्ग भी कहते हैं। मर्यादा-मार्ग में वेद आदि शब्द प्रमाण हैं, किन्तु 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' ऐसा सर्व-धर्म-परित्याग पुष्टिमार्ग है। इस प्रकार पुष्टि और मर्यादा, भक्ति के ये दो रूप हैं और पुष्टिमार्गी तथा मर्यादामार्गीय मुक्त भी।

(4) चैतन्य दर्शन (अचिन्त्य भेदाभेदवाद)

विषय-प्रवेश

चैतन्य महाप्रभु (1485–1533 ई०) बंगाल के वैष्णव सम्प्रदाय 'अचिन्त्य

---

1. सम्बन्धश्चाध्यासिको भगवत्कृतश्च। ...जीवन्मुक्तानामपि व्यवहारदर्शनात्।— वही, 2/3/48

भेदाभेद वेदान्त' के संस्थापक हैं। अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की भाँति यह वेदान्त सम्प्रदाय भी जगत् की वास्तविक सत्ता को मानता है तथा शंकर के मायावाद का खण्डन करता है। इसी प्रकार सगुण ब्रह्म एवं उसकी उपासना पर विशेष महत्त्व देने तथा निर्गुण ब्रह्म को गौण समझने में भी वैष्णव परम्परा या आगम-प्रामाण्यवादियों के अनुकूल ही यह दर्शन है। विशेषतः मध्व के द्वैतवाद का अनुसरण करने या उसी का एक सम्प्रदाय-विशेष होने के कारण इसे माध्वगौड़ेश्वर वेदान्त भी कहा जाता है। किन्तु कार्य-कारण-सम्बन्ध में अचिन्त्य भेदाभेद रामानुज दर्शन के अधिक निकट है। चित् और अचित्, इन दो शक्तियों से युक्त ब्रह्म कारणावस्था में सूक्ष्मशक्तिक और कार्यावस्था में स्थूलशक्तिक कहलाता है। चित् और अचित् शक्तियाँ अपने शक्तिमान् ब्रह्म से स्वरूपतः अभिन्न हैं। किन्तु स्थूलावस्था में उससे भिन्न भी हैं। यह भेद और अभेद अचिन्त्य है, क्योंकि प्रभु की अचिन्त्य शक्ति द्वारा ही ऐसा सम्भव होता है। अचिन्त्य शक्ति दुर्घट-घटकत्व का ही नाम है। मध्व का विशेष पदार्थ इस सम्प्रदाय में मान्य है जो अभेद की स्थिति में भी भेदक तत्त्व है। यह विशेष वस्तु से अलग नहीं, उसका स्वरूपभूत एवं निर्वाहक है। इसीलिए शक्तिमान् में भेद और अभेद सम्बन्ध सम्भव हो पाता है। शक्तिमान ब्रह्म की चित्-अचित् शक्तियों में परिणाम होने पर भी वह स्वरूपतः अपरिणमित बना रहता है। उसकी स्वरूप-शक्ति-विशेष, जो अपरिणमित रहती है, निमित्त कारण है तथा चिदचित् शक्तियों से उस शक्ति का योग होने पर ब्रह्म उपादान कारण भी है। अतः ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। अपनी सूक्ष्म-शक्तिक दशा में कारण तथा स्थूल दशा में कार्य भी वही है, अतः कार्य-कारणानन्यत्ववाद मान्य है। इस सम्प्रदाय का अन्य वेदान्त सम्प्रदायों में से निम्बार्क और वल्लभ के सम्प्रदायों से घनिष्ट सम्बन्ध है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं : उपास्य ब्रह्म एवं उसकी शक्ति को नारायण-लक्ष्मी के ऐश्वर्य-रूप के स्थान पर कृष्ण-राधा के माधुर्य रूप तथा तदनुकूल ज्ञानरूपा पराभक्ति के स्थान पर प्रेमरूपा भक्ति की स्वीकृति; ब्रह्म की तीन शक्तियों की मान्यता—स्वरूप शक्ति या अन्तरङ्ग शक्ति या विष्णु शक्ति या चिच्छक्ति प्रथम और सर्वोच्च शक्ति है; दूसरी है जीव शक्ति या तटस्थ शक्ति या क्षेत्रज्ञ शक्ति और तीसरी माया शक्ति है जिसे बहिरंग शक्ति कहते हैं और जिसके दो रूप हैं, प्रकृति और अविद्या।

साहित्य और चैतन्य का जीवन-चरित

श्री चैतन्य की कोई रचना यदि मानी जा सकती है तो वह है 'दशमूल-श्लोक'। इन श्लोकों तथा चैतन्य के शिष्यों के अनुसार 'अचिन्त्यभेदाभेद' मध्व वेदान्त के

सिद्धान्त से भिन्न है, हालांकि माध्व आचार्य श्री चैतन्य के दीक्षा गुरु और संन्यास-गुरु रहे एवं चैतन्य स्वयं माध्व सम्प्रदाय के अनुयायी माने जाते हैं। अचिन्त्यभेदाभेद वेदान्त निम्बार्क और रामानुज दर्शनों के अधिक निकट है।

संस्कृत, बँगला, असमिया और उड़िया भाषाओं में लिखित श्री चैतन्य के अनेक जीवनवृत्तों से उनकी जीवनी और दार्शनिक विचारों का पता लगता है। वृन्दावनदास, कृष्णदास कविराज, कवि कर्णपूर, सार्वभौम भट्टाचार्य, परमानन्द पुरी, गौरीदास पण्डित, परमानन्द गुप्त तथा गोपाल वसु ने क्रमशः 'चैतन्यभागवत', 'चैतन्य-चरितामृत', 'चैतन्यचन्द्रोदय नाटक', 'चैतन्यसहस्रनाम', 'गोविन्दविजय', 'चैतन्यगीत', 'गौड़राजविजय', 'चैतन्यगीत' लिखे। मुरारिगुप्त, गोविन्द, स्वरूपदामोदर, जयानन्द और लोचनदास की भी रचनाएँ हैं। किन्तु वृन्दावनदास का 'चैतन्यभागवत' तथा कृष्णदास कविराज का 'चैतन्यचरितामृत' विशेष महत्त्वपूर्ण जीवन-चरित हैं। कवि कर्णपूर का 'चैतन्यचन्द्रोदय नाटक' भी अधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक है।

इन तीनों में चैतन्य के जीवन और शिक्षा का प्रामाणिक विवरण मिलता है। इनके अनुसार चैतन्य के पिता जगन्नाथ मिश्र एवं माता शची थीं तथा नवद्वीप में 1485 में उनका जन्म हुआ था। प्राथमिक विद्यालय की सामान्य शिक्षा तथा घर पर पुराणों के अध्ययन के साथ-साथ उनकी प्रवृत्ति भक्तिमार्ग में दृढ़ होती गयी तथा कृष्ण से तादात्म्य का अनुभव कर वे भाव-विह्वल होने लगे। उनकी दूसरी शादी भी हुई थी। ईश्वरपुरी द्वारा संन्यास में दीक्षित होकर नवद्वीप में ही 'भागवतपुराण' की शिक्षा देने लगे। नित्यानन्द तथा अन्य अवधूतों के साथ वे नाच-गाकर अपनी भक्ति-भावना में विभोर हो उठते थे। अपनी माता की अनुमति पाकर नवद्वीप से चलकर वे पुरी में अपने सहयोगियों के साथ रहने लगे थे।

अचिन्त्यभेदाभेद सम्प्रदाय के दार्शनिक ग्रन्थ भी हैं। श्री रूप गोस्वामीकृत 'उज्ज्वलनीलमणि' और 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' हैं जिनपर जीव गोस्वामी की टीकाएँ हैं। जीव गोस्वामी का महान् ग्रन्थ है 'षट्सन्दर्भ' जिसका द्वितीय अध्याय 'भागवत' पर टीका है —'सर्वसंवादिनी'। बलदेव विद्याभूषण ने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'गोविन्दभाष्य' लिखा है जिसे 'बलदेवभाष्य' भी कहते हैं।

चैतन्य के अनुयायियों का मत

कृष्णदास का मत

चैतन्य ने राय रामानन्द के साथ हुई अपनी बातचीत के दौरान जीवन के

चरम लक्ष्य के सम्बन्ध में यह मत व्यक्त किया कि वर्णाश्रम धर्म के पालन से ईश्वर की भक्ति में विश्वास जगता है। ईश्वरार्पण रूप में किया हुआ कर्म ही श्रेष्ठ है। अपने विहित कर्म के संन्यास के साथ ईश्वर को समर्पित किया हुआ कर्म श्रेष्ठतर है। ज्ञानपूर्वक भक्ति श्रेष्ठतम है। ज्ञान से रहित शुद्ध भक्ति उससे श्रेष्ठ है। प्रेमारूप भक्ति सर्वोत्तम उपाय है। तादात्म्य प्रेम, सेवा, मैत्री, वात्सल्य ब्रह्म-प्राप्ति के उच्च कोटि के साधन हैं। ब्रह्म-प्राप्ति के अनेक स्तर हैं जिनमें दाम्पत्य प्रेम द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति का विशिष्ट स्थान है।

कृष्णदास के अनुसार वह परम उपास्य देव कृष्ण हैं जिनका स्वरूप रसपूर्ण, आनन्दमय, प्रेमसागर, शुद्ध सत्त्व है। कृष्ण की शक्ति राधा है जो अभिन्न रूप से शक्तिमान् में रहती है। सर्व-विरुद्ध-धर्मों के आश्रय कृष्ण सर्वव्यापक हैं, तथापि वे परिमित भौतिक रूप धारण करते हैं; स्वतन्त्र और चैतन्य-स्वरूप भी प्रेम के वशीभूत हैं, प्रेम उनका स्वभाव है। वे अपनी ही शक्ति द्वारा सभी स्त्री-पुरुष को आकृष्ट करते हैं। प्रेम ही जीव और कृष्ण के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। भावनात्मक प्रेम द्वारा भक्त कर्म के सभी अनुष्ठानों का अतिक्रमण कर जाता है तथा अप्राकृत दिव्यलोक में दैवी गुणों से युक्त होकर, माया से दूर होकर, तुरीय अवस्था को प्राप्त हो जाता है। कृष्ण वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूपों में अपने दिव्यलोक में विराजमान हैं। उनकी अचिन्त्य शक्तियाँ हैं। जगत् में अन्तर्यामी और परात्पर भी हैं, जगत् उन्हीं में है। चमकते सूर्य की भाँति कृष्ण हैं जिनसे जीव-रूप किरणें फूटती हैं। अतः जीव ब्रह्म की शक्ति है, फिर भी उससे अलग है। नित्य-सेवक रूपी भक्ति द्वारा अपने विस्मृत स्वरूप को जानकर वह माया के बन्धन से मुक्त हो जाता है। माया द्वारा उसका बन्धन होता है और ईश्वरसमर्पण द्वारा मुक्ति। चार व्यूह और अवतार कृष्ण के निजी रूप हैं; वे जीव के समान पृथक् नहीं, वे स्वांश हैं और जीव विभिन्नांश। जीव के पाँच पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और प्रेम। प्रथम तीन अन्तिम दो की अपेक्षा व्यर्थ हैं। अन्तिम लक्ष्य ईश्वर है। ईश्वर के नाम, भक्ति आदि से अविद्या का विनाश होता है। ज्ञान द्वारा अपूर्ण ब्रह्म का ही ज्ञान होता है, किन्तु कर्म, ज्ञान से प्राप्त भक्ति, माधुर्य और सौन्दर्य से युक्त रसामृत ब्रह्म की सेवा और प्रेमरूप मोक्ष का परम साधन है।

जीव गोस्वामी का मत

इनका मत भागवत पर आधारित है जो चैतन्य के मतानुसार है। अद्वय

ज्ञानमय परमात्मा या ब्रह्म या भगवान् परमतत्त्व के नाम हैं। ब्रह्म[1] ईश्वर का अपूर्ण अवतार है जिसमें शक्ति और शक्तिमान् का अन्तर नहीं पाया जाता। धर्म और द्रव्य का भी अन्तर उसमें नहीं होता, अतः वह निर्विशेष या निर्गुण कहा जाता है। यह एक, चिरन्तन, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सच्चिदानन्दस्वरूप, माया-रहित, निरुपाधिक, स्वयं-प्रकाश, सर्वव्यापक या परात्पर तत्त्व है जो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से ज्ञात होता है। परमात्मा अन्तर्यामी है, जीव और जगत् की आत्मा है और माया-शक्ति तथा चित् शक्ति से युक्त है। ब्रह्म ज्ञानगम्य होता है तो परमात्मा योगगम्य : भगवान्[2] या ईश्वर की पूर्ण सत्ता सर्वशक्तिमान्, सविशेष, शुद्ध गुणों से पूर्ण, आनन्द-स्वरूप है; इसमें शक्ति एवं शक्तिमान् का अन्तर होता है। आनन्द उसका द्रव्य-रूप है जिसके गुण हैं सारी शक्तियाँ। वैकुण्ठ धाम में उसका दिव्य या दैवी रूप में वास है।[2] अपने स्वरूप-गुणों से सम्पन्न होकर, अपनी स्वरूप-शक्ति और तटस्थ शक्ति[4] के रूप में वह जीव-चैतन्य तथा बाह्य माया शक्ति से अचेतन प्रकृति-रूप बन जाता है। जगत्-रूप विकार कारण प्रकृति की माया का रूप है। जीव ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप है, किन्तु वह आंशिक स्वरूप है। जीव और प्रकृतिपूर्ण ईश्वर नहीं, आंशिक रूप से समान हैं। चित् और अचित् दोनों ईश्वर की शक्तियाँ हैं। चित् विद्या और अचित् माया है। अपनी माया शक्ति द्वारा ईश्वर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है।[5] जीव-माया द्वारा वह जीव के ज्ञान का आवरण करता है। अपनी माया से वह जगत् का सृजन करता है। उसकी संधिनी (सत्), संवित (चित्) और ह्लादिनी (आनन्द) शक्तियाँ उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। अपनी प्रथम शक्ति द्वारा ईश्वर प्राणियों को धारण करता है, दूसरी से उन्हें जानता है और तीसरी से उन्हें आनन्द का अनुभव कराता है। अपनी अचिन्त्य शक्ति द्वारा सभी विरोधों में सामंजस्य स्थापित करता है। जीव स्वरूपतः अनन्त है तथा चेतन, स्वयंप्रकाश, शुद्ध है। ईश्वर की अनुकम्पा से वह अविद्या का नाश कर अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है।

---

1. ब्रह्मणः भगवत एव निर्विकल्पसत्तारूपत्वात्।—भागवतसन्दर्भ, पृ० 18
2. आनन्दमात्रं विशेष्यम्, समस्ताः शक्तयो विशेषणानि, विशिष्टो भगवान्।—वही, पृ० 2
3. भगवत्ता नारोपिता किन्तु स्वरूपभूतैव। वही, पृ० 28
4. तदात्मकत्वेन जीवस्यैव तटस्थ शक्तित्वम्। वही, पृ० 33
5. माया जगत्सृष्टयादिहेतुर्भगवच्छक्तिरेव न तु कापटयमात्रम्।—वही, पृ० 23

बलदेव विद्याभूषण का दर्शन

बलदेव (1800 ई०) ने अपने 'गोविन्दभाष्य' में, 'सिद्धान्तरत्न' में तथा 'प्रमेयरत्नावली' में जो दर्शन प्रस्तुत किया है वह मध्व के मत से प्रभावित लगता है। ईश्वर को परमसत्य, श्रुति का परम प्रतिपाद्य तत्त्व, सच्चिदानन्दस्वरूप, विग्रह-सम्पन्न, सगुण, स्वगत-भेद-रहित, अचिन्त्य और अलौकिक, तर्कातीत, परात्पर, ज्ञान-ऐश्वर्य-शक्ति से पूर्ण एवं सच्चिदानन्द का मूर्त रूप कहा है। ईश्वर का निजी रूप उसके अवतार एवं सृष्टि में प्रकट होते हैं। विग्रह रूप से उसके स्वरूप का भेद नहीं है। ब्रह्म और उसके गुणों में अन्तर नहीं है,[1] भेदाभेद सम्बन्ध भी नहीं है, केवल अभेद है। 'विशेष' के कारण वे भिन्न प्रतीत होते हैं। यह 'विशेष' की धारणा मध्व के विशेष जैसी ही है। द्रव्य और गुण के अभेद की व्याख्या करने के लिए 'विशेष' पदार्थ को माना गया है।[2] अद्वैत ब्रह्म विशेष के कारण विभिन्न गुणोंवाला कहा जाता है। इसी से गुणों, भेदों का भेद, काल का भेद, देश का भेद जाना जाता है। 'विशेष' पदार्थ वस्तु का निजी स्वरूप है, तथा उससे अभिन्न या तद्रूप है, उसके स्वभाव का निर्वाहक या लक्षक है।[3] यह किसी अन्य प्रकार या विशेष से नहीं ज्ञात होता, बल्कि स्वयं ज्ञात हो जाता है। अतः अनवस्था दोष नहीं है। अपने स्वगत भेदों से रहित ब्रह्म गुणों से युक्त समझा जाता है।

सर्वथा निर्गुण चैतन्य मिथ्या है। ईश्वर निर्गुण इस दृष्टि से माना जाता है कि उसमें प्रकृति के दोष नहीं हैं। अलौकिक गुणों से युक्त होने के कारण उसे सगुण कहा जाता है। असंख्य दिव्य गुण उसमें हैं, अतः वह भक्ति का विषय बनता है। यह भक्ति या प्रेम निर्गुण को विषय नहीं बना सकता। ईश्वर परमात्मा, ज्ञाता, कर्ता, जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण अपनी शक्ति के माध्यम से है। प्रकृति, जो उसकी शक्ति है, ईश्वर के निर्देशन में जगत्-रूप में परिणत होती है। सारा चेतन और अचेतन जगत् सत्य है, मायिक नहीं। ईश्वर जीव और जगत् से भिन्न है, किन्तु ये उससे भिन्न नहीं, उसी की शक्तियाँ हैं।

जीव अणु-चैतन्य, ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता, अहमर्थ-रूप तथा ईश्वराश्रित है। वह ज्ञान-स्वरूप है, परन्तु अविद्या द्वारा वह आवृत रहता है, अतः बद्ध कहा जाता है।

---

1. धर्मिणो धर्मानतिरेकः।—सिद्धान्तरत्न, पृ० 16
2. निर्भेदेऽपि तत्त्वे भेदव्यवहारो विशेषबलात्।—वही, पृ० 23
3. स्वभावस्तु विशेषात्मा।—वही, पृ० 20

जीव की क्रियाएँ और भोग वास्तविक हैं, किन्तु ईश्वराश्रित हैं। यह ज्ञान का विषय नहीं, नित्य-ज्ञाता ही है; यह आध्यात्मिक अहमर्थ है, देहाहमर्थ नहीं। अणुरूप भी अपने ज्ञान द्वारा उसी प्रकार विभु है जैसे दीप अपने प्रकाश द्वारा। क्रिया इसका स्वरूप या स्वाभाविक धर्म है। प्रकृति में कर्तृत्व नहीं है, ऐसा वल्लभ का भी मत है। जीव नित्य है, अपरिणामी है, किन्तु उसका धर्म संकोच-विकासशील है। जीव अनन्त हैं जो ब्रह्म की जीव-शक्ति से निकलते हैं, अतः आभास मात्र नहीं, पारमार्थिक सत्य हैं। उनके स्वभाव में परस्पर समानता है, किन्तु कर्म-भेद से उनमें विभिन्नता भी है। भक्ति में अन्तर पड़ने से भोग में अन्तर पड़ जाता है। माया के वशीभूत होकर वे ईश्वर भी भक्ति से मुँह मोड़ लेते हैं। अपने शुद्ध रूप का उन्हें जब ज्ञान होता है और ईश्वर-विमुखता समाप्त हो जाती है तथा ईश्वरानुकम्पा से जब उनके कर्म क्षीण हो जाते हैं तब वे मुक्त हो जाते हैं।

जीव अविद्या के मोह में पड़ा ब्रह्म ही है, किन्तु ब्रह्म सर्वज्ञ है, वह माया में नहीं फँसता; जीव अन्तःकरण की उपाधि प्रतिबिम्बित ब्रह्म है। यह ब्रह्म से भिन्न सी है, क्योंकि वह ब्रह्म का अंश है।[1] सभी नित्य और अनित्य पदार्थ सत्य होते हैं। जगत् ब्रह्माश्रित है; अनित्य है, किन्तु ईश्वरकृत है। निरन्तर परिणमित होने से इसे असत् कहा जाता है।[2] यह परिणामी नित्य है। अतः इसमें वैराग्य होना चाहिए। ईश्वर की भक्ति सुदृढ़ होने के लिए सांसारिक प्रपञ्च से विमुख होना चाहिए।

वैष्णव वेदान्तों की तुलनात्मक समीक्षा

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, वैष्णव वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों का विशुद्ध दार्शनिक क्षेत्र में योगदान आंशिक ही कहा जा सकता है, क्योंकि मुख्यतः ये धर्म-दर्शन के सम्प्रदाय हैं। ईश्वरवादी धर्म-दर्शन के क्षेत्र में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। अतः हिन्दू संस्कृति के लिए जीवन्त जीवन-दर्शन देने के कारण समाज पर इनका काफी प्रभाव रहा है। चूँकि ये दर्शन को आधार बनाकर धर्म एवं आचार की व्याख्या करते थे, अतएव इन्हें मात्र ईश्वरपरक धर्मशास्त्र (थियोलॉजी) की उपाधि नहीं दी जा सकती। वैसे, वैदिक या अवैदिक भारतीय दर्शन-परम्परा में ईश्वर की मान्यता गौण ही मानी जा सकती है; किन्तु वेदान्त को जो ईश्वरवादी परम्परा है वह मात्र धार्मिक न होकर दार्शनिक अधिक है। एकेश्वरवाद या सर्वेश्वरवाद का महत्त्व भी

---

1. स च तद् भिन्नत्वेऽपि तच्छक्तिरूपत्वात् तदंशो निगद्यते।—वही, पृ० 334।
2. प्रमेयरत्नावली, 3/1/4

यहाँ कम रहा। यह वेदान्तीय ईश्वरवाद विश्व में अपने ढंग का निराला है, क्योंकि इसका 'ईश्वर' परात्पर और अन्तर्यामी होने के साथ-साथ दार्शनिक दृष्टि से परम तत्त्व के रूप में एकीभाव अथवा अद्वैत की धारणा का मुख्य कारण सदा ही रहा। यही आधार था कि वैष्णव वेदान्तियों ने गम्भीर चिन्तन करके धर्म, आचार और दर्शन को एक साथ लेकर भारतीय जीवन-दर्शन की समन्वयात्मक भावना को पुनरुज्जीवित एवं उपबृंहित किया। इस प्रकार विशुद्ध बौद्धिक दर्शन-विचार के विकास को प्रोत्सा-हित न करने के कारण वैष्णव वेदान्तियों को भारतीय दर्शन-परम्परा के ह्रास का कारण माना जाता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि चिन्तन-धारा के अवरुद्ध हो जाने के बजाय उसे नया मोड़ दे देना कम महत्त्व की बात नहीं है जो सामाजिक विघटन को देखते हुए वेदान्तियों ने किया। अतः इनका मूल्यांकन यदि व्यापक दृष्टि से किया जाय, तो इनका स्थान भारतीय विचारकों में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टिकोणों से इनका योगदान भारतीय परम्परा में निश्चित ही बड़ा स्थायी और उपयोगी है। एक साथ, या इनमें से यदि एक-एक का भी योगदान देखा जाय, तो वह भारतीय या हिन्दू संस्कृति के लिए अपूर्व निधि माना जा सकता है और किसी भी धर्म या देश के जीवन-दर्शन की तुलना में श्रेष्ठतर सिद्ध हो सकता है।

जहाँ तक वेदान्त की व्याख्या के रूप में वैष्णव सम्प्रदायों की सफलता का प्रश्न है, इनमें सभी में अपनी साम्प्रदायिक मान्यता अधिक है और सही वेदान्त दर्शन का प्रतिनिधित्व कम। ऐसी धारणा बन पड़ी है कि ये 'ब्रह्मसूत्र' और 'भगवद्गीता' के अधिक अनुकूल पड़ते हैं। किन्तु शंकर का अद्वैतवाद उपनिषदों के सिद्धान्त की एक स्वतन्त्र व्याख्या समझी जाती है। फिर भी ब्रह्म तत्त्व सभी वेदान्तियों के सिद्धान्तों का सामान्य केन्द्र-बिन्दु है। अतः ये सभी वेदान्त दर्शन के सम्प्रदाय माने जाते हैं।

उक्त वैष्णव सम्प्रदायों में मध्व का द्वैत सम्प्रदाय एक दृष्टि से स्वतन्त्र है और सांख्य के द्वैतवाद के समान परिणामी प्रकृति को ही जगत् का उपादान कारण मानता है। इस प्रकार मध्व वस्तुवाद एवं भौतिकवाद में अधिक रुचि रखते पाये जाते हैं। अतः वेदान्त की व्याख्या की दृष्टि से वे सफल न होते हुए भी स्वतन्त्र सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यद्यपि अपनी आचार-पद्धति एवं साम्प्र-दायिकता को कोई भी वैष्णव आचार्य वेदान्त के नाम से ही प्रतिपादित करता है, तथापि मध्व सर्वाधिक स्वच्छन्द वेदान्ती हैं।

रामानुज के बाद बलदेव 'ब्रह्मसूत्र' के व्याख्याता के रूप में अधिक सफल रहे। किन्तु ये मध्व से प्रभावित भी रहे। चैतन्य के भेदाभेद को प्रमाणित करने के लिए

उन्होंने 'ब्रह्मसूत्र' की जो व्याख्या प्रस्तुत की वह परम्परा की दृष्टि से भी अधिक सफल मानी जा सकती है। मध्व और बलदेव ने कृष्ण के माधुर्य रूप का जो आश्रय लिया है वह भी धर्म-सम्प्रदाय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

निम्बार्क और वल्लभ यद्यपि मध्व की अपेक्षा अधिक सरल एवं संगत व्याख्या प्रस्तुत करते हैं तथापि रामानुज और बलदेव से कम ही, सफल माने जा सकते हैं। निम्बार्क रामानुज के अधिक निकट हैं तो वल्लभ मध्व से प्रभावित लगते हैं और पुरुषोत्तम कृष्ण को उपास्य देव मानते हैं। वास्तव में रामानुज का विशिष्टाद्वैत इन सभी परवर्ती वेदान्त-सम्प्रदायों का पथ-प्रदर्शक रहा है। भक्तिपरक सगुण ब्रह्मवादी वेदान्त-सम्प्रदाय की स्थापना रामानुज ने शंकर के अद्वैतवाद, सांख्य के द्वैतवाद, न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद आदि के प्रबल प्रतिवाद के साथ की थी। प्रायः उसी का अनुगमन करते हुए बाद के आचार्यों ने अपनी-अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं के साथ वेदान्त की विविध व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं।

अध्याय 18

तंत्र-दर्शन

(काश्मीर शैव दर्शन)

भारतीय चिन्तन जगत् में वेदों की दार्शनिक परम्परा के समानान्तर ही तन्त्रों की दार्शनिक परम्परा विकसित हुई। भारतीय संस्कृति के निर्माण में इस परम्परा ने अपने विपुल साहित्य, धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों से महत्त्वपूर्ण योगदान किया। भारतीय संस्कृति वस्तुतः वैदिक और तान्त्रिक परम्परा का मिश्रित रूप है। यद्यपि तान्त्रिक परम्परा का स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ, किन्तु इसके विकास की दिशा वैदिक परम्परा की विरोधी न होकर पूरक रूप में ही रही। तन्त्र दर्शन जिन विचारों, सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, वे सभी अस्फुट रूप में वैदिक साहित्य में पाये जाते हैं। इसी अर्थ में तन्त्र को वेद की व्याख्या कहने की भी परम्परा है।

वैदिक परम्परा की तुलना में तान्त्रिक परम्परा की यह विशेषता है कि यहाँ कर्मकाण्ड द्वारा प्राप्त 'अनुभव' को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। तन्त्र को शिव का प्रकाशन कहा जाता है। इस अर्थ में तन्त्र भी मूलतः 'प्रकाशित ज्ञान' (Revealed Knowledge) कहा जा सकता है। किन्तु तन्त्र को विशेषता यह है कि यहाँ सत्य को अनुभूत किये जाने पर आग्रह है तथा अनुभव द्वारा इसके सत्यापन की संभावना को भी माना गया है। भारतीय परम्परा में अनुभव के दो प्रकारों—सामान्य अनुभव (इन्द्रियानुभव) तथा उच्चतर अनुभव (अनुभूति)—को माना गया है। तान्त्रिक परम्परा में दोनों प्रकार के अनुभवों में सामंजस्य स्थापित किया गया है। तन्त्र इनमें कोई विरोध नहीं देखता। सामान्य इन्द्रियानुभव की सीमा को तन्त्र भी मानता है तथा यह स्वीकार करता है कि 'सत्य' केवल उच्चतर अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है, किन्तु यहाँ उच्चतर अनुभव को सामान्य अनुभव का विरोधी न मानकर इसे एक उच्चतर अवस्था माना गया है। तन्त्र के अनुसार दोनों ही अनुभवों में ज्ञाता 'चिति शक्ति' है। जब यह इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करती है तो यह इन्द्रियानुभव है तथा इस कारण इसकी सीमा है,

किन्तु जब यह बिना ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से सीधे ज्ञान प्राप्त करती है तो यह उच्चतर अनुभव है जो कि पूर्ण ज्ञान है। इसलिये तन्त्र यह मानता है कि सामान्य अनुभव के स्तर पर भी सत्य को जानने की कोशिश की जा सकती है। वास्तव में तन्त्र की ज्ञान मीमांसा में अज्ञान और ज्ञान में अन्धकार और प्रकाश जैसा विरोध नहीं माना गया है, जैसाकि वैदिक परम्परा के दर्शन अद्वैत-वेदान्त में माना जाता है। यहाँ अज्ञान और ज्ञान में अवस्था-भेद माना गया है। जिसे सामान्यतः अज्ञान कहा जाता है, वह तन्त्र के अनुसार अपूर्ण ज्ञान है। चिति शक्ति पर पड़े आध्यात्मिक मल (बन्धन) के कारण ज्ञान अपूर्ण रूप से प्रकाशित होता है। जैसे-जैसे यह मल हटता जाता है ज्ञान पूर्णता की अवस्था प्राप्त करता जाता है। इसी अवस्था में तत्त्व का ज्ञान होता है। अतः तान्त्रिक दर्शन के अनुसार इन्द्रियानुभव से उच्चतर भी ज्ञान का साधन है जिससे तत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान के इस उच्चतर साधन को तन्त्र की प्रतीकात्मक भाषा में तृतीय नेत्र कहा जाता है जिसके विषय में मान्यता है कि वह मलावरोध की अवस्था में प्रायः बन्द रहता है और मल हटने पर खुल जाता है।

तान्त्रिक दर्शन की उपर्युक्त ज्ञान मीमांसीय (Epistemological) विशेषता के साथ उसकी तत्त्व-मीमांसीय (Ontological or Metaphysical) विशेषता यह है कि शिव या चैतन्य (जो परम तत्त्व है) निष्क्रिय या केवल ज्ञान रूप नहीं है वरन क्रिया रूप भी है। तन्त्र दर्शन में चेतना को शक्ति का रूप माना गया है जो स्वभावतः स्पन्दित होती रहती है। यह स्पन्दात्मक क्रिया स्वतः स्फूर्त (Spontaneous) होती है जो आनन्द में स्वाभाविक रूप से उत्थित होती है। इसीलिए सृष्टि-क्रिया शिव का लीला विलास या आनन्द-नर्तन है जो नटराज के प्रतीक से ध्वनित होता है। चूँकि तन्त्र-दर्शन में चैतन्य केवल निष्क्रिय ज्ञान रूप नहीं है वरन् क्रियारूप भी है, अतः यहाँ परमतत्त्व को केवल शिव, ज्ञान या प्रकाश न मानकर शिव-शक्ति, ज्ञान-क्रिया, प्रकाश-विमर्श माना गया है। इसी सत्य को तन्त्र में प्रतीकात्मक भाषा में 'अर्द्धनारीश्वर' के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो एक ही व्यक्ति में एक ही साथ शिव-पार्वती दोनों हैं।

तन्त्र की जीवन-मूल्य या पुरुषार्थविषयक विशेषता है 'प्रेय' तथा 'श्रेय' में समन्वय स्थापित करना। भारतीय परम्परा में चार प्रकार के पुरुषार्थ माने गये हैं—अर्थ, काम, धर्म तथा मोक्ष। अर्थ और काम को प्रेय के अन्तर्गत रखा जाता है तथा धर्म और मोक्ष को श्रेय के अन्तर्गत। सामान्यतः प्रेय और श्रेय को परस्पर-विरोधी माना जाता है। ऐसी अवधारणा है कि प्रेय (भोग) का अनुसरण करने वाला श्रेय (मोक्ष) की प्राप्ति नहीं कर सकता। श्रेय की प्राप्ति के लिये प्रेय का त्याग करना आवश्यक है। इस अवधारणा के विपरीत तन्त्र ने प्रेय तथा श्रेय दोनों में समन्वय स्थापित किया। तन्त्र

के अनुसार श्रेय की प्राप्ति के लिये प्रेय का त्याग आवश्यक नहीं है, अपितु प्रेय का उदात्तीकरण आवश्यक है। भोग (प्रेम) यदि भोग के लिये होगा तो वह श्रेय की प्राप्ति में बाधक होगा, किन्तु यदि वह उदात्त रूप में होगा तो श्रेय की प्राप्ति का साधन बन जायेगा। फलतः तन्त्र के अनुसार प्रेय और श्रेय में कोई मौलिक विरोध नहीं है। केवल दृष्टि-भेद (अज्ञान) के कारण ही विरोध जनित होता है। तन्त्र के अनुसार जगत् तथा जागतिक भोग परमतत्त्व (शिव) की ही अभिव्यक्ति (सृष्टि) है, अतः ये त्याज्य अथवा हेय नहीं है। इसीलिए तान्त्रिक दर्शन में मोक्ष को केवल श्रेय नहीं माना गया है, वरन् श्रेय और प्रेय दोनों का समन्वय माना गया है। भोग भी मोक्ष का ही स्वतन्त्र प्रकटीकरण अथवा प्रसार है। तान्त्रिक दर्शन ने अध्यात्म और भौतिकता के बीच की खाई पाट दी है, तान्त्रिक जीवन-दर्शन में भोग भी योग बन जाता है, सामान्यतया बन्धनकारी संसार मुक्ति का साधन बन जाता है[1] और समस्त जागतिक मूल्य शिव के लीला-विलास बन जाते हैं। कहा गया है कि परम चितिशक्ति 'श्री सुन्दरी' के उपासक को भोग और मोक्ष एक साथ ही प्राप्त होते हैं।[2]

तान्त्रिक परम्परा

तन्त्र के आविर्भाव काल के विषय में ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ भी सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सिन्धु सभ्यता के अवशेषों में कुछ तान्त्रिक प्रतीकों (पशुपति आदि की मूर्तियों) की प्राप्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तन्त्र के धर्म-दर्शन का प्रचलन उस काल में भी था। कुछ लोगों की दृष्टि में तन्त्र द्रविड़ सभ्यता की देन है जिसे कालान्तर में आर्यों ने भी अपना लिया। वेद में भी अस्फुट रूप में रुद्र-शिव की अवधारणा तो मिलती ही है। इसके साथ ही आर्य और द्रविड़ संस्कृति का भेद तथा आर्यों के मूल स्थान का प्रश्न अभी समाधान की ही अपेक्षा रखता है। इसलिए इस बात को भी स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता कि तन्त्र मात्र द्रविड़ संस्कृति की उपज है। प्राप्त तन्त्रों की भाषा पाणिनोय संस्कृत है। इस आधार पर तन्त्र को वेद से अर्वाचीन कहा जाता है। यह बात भी स्वीकार्य नहीं हो सकती क्योंकि तन्त्र का अस्तित्व इससे पूर्व भी श्रुति-परम्परा में होने से इन्कार नहीं किया जा सकता। तान्त्रिक परम्परा में इस बात को स्वीकार किया गया है कि शिव द्वारा प्रकाशित ज्ञान (तन्त्र)

---

1. भोगो योगायते साक्षात् पातकं सुकृतायते।
   मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि ॥—कुलार्णव तन्त्र, 2/24।
2. यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षः, यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
   श्री सुन्दरी सेवन तत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥

गुरु-शिष्य की परम्परा द्वारा श्रुति रूप में अनादि काल से चली आ रही है।[1] हाँ, लिपि बद्ध रूप में वह पाणिनीय काल के बाद आई।

तान्त्रिक परम्परा चार प्रकार के वर्गों में विभक्त है :—

1. शैव तन्त्र।
2. शाक्त तन्त्र।
3. बौद्ध तन्त्र।
4. वैष्णव तन्त्र।

तंत्रों के जितने भी सम्प्रदाय हैं वे इन्हीं में से किसी न किसी के उपभेद हैं। शैव तथा शाक्त तंत्र प्रायः समान हैं। इनमें कोई मौलिक भेद नहीं है। विषय-वस्तु तथा दर्शन की दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं है। भेद मात्र परमतत्त्व को शिव अथवा शक्ति कहने का है। शैव तंत्र परमतत्त्व को शिव कहते हैं तथा शाक्त तंत्र परम तत्त्व को शक्ति कहते हैं।

वस्तुतः शैव और शाक्त दोनों ही यह मानते हैं कि परमतत्त्व (चैतन्य) शिव-शक्ति दोनों ही है। शैव और शाक्त में भेद केवल आग्रह (Emphasis) का है। शैव परमतत्त्व को प्रधान रूप से शिव तथा शाक्त उसे प्रधान रूप से शक्ति मानते हैं। यह भेद वस्तुतः एक ही वस्तु को दो दृष्टियों से देखने का भेद है, जैसे—एक ही वस्तु—बहते हुए पानी—को कोई पानी रूप में देखे और कोई धारा रूप में देखे।

गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथ सम्प्रदाय तथा कीनाराम द्वारा प्रवर्तित अघोर सम्प्रदाय शैं शाक्त तन्त्र की परम्परा के हैं। बंगाल का सहजिया सम्प्रदाय वैष्णव तन्त्र की परम्परा का है। गुरु परम्परा की दृष्टि से शैव-शाक्त तन्त्र की दो परम्परायें हैं—गिरनारी तथा नेवारी। गुजरात में स्थित गिरनार पर्वत को भगवान दत्तात्रेय का पीठ (आसन) माना जाता है। भगवान दत्तात्रेय को शैव-शाक्त तन्त्र-परम्परा का आदि गुरु माना जाता है। इस क्षेत्र से गुरु-शिष्य की जो परम्परा चली उसे गिरनारी कहा जाता है। दुर्वासा तथा परशुराम इसी परम्परा में आते हैं। अघोर सम्प्रदाय के तांत्रिक साधक गिरनारी कहे जाते हैं। नेपाल स्थित हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र नेवार में जो

1. "कर्णात् कर्णोपदेशेन सम्प्राप्तभवनीतलम्"—योगिनीहृदयम् 1/3
शैवादीनि रहस्यानि पूर्वमासन्महात्मनाम् ऋषीणाम् वक्त्रकुहरे—।
—शिव दृष्टि,-7/107।

गुरु-शिष्य परम्परा चली उसे नेवारी परम्परा कहा जाता है। नाथ सम्प्रदाय की गुरु-परम्परा यहीं से विकसित हुई।

कुछ लोग बौद्धों के वज्रयान सम्प्रदाय से सभी प्रकार के तन्त्रों का विकास होना मानते हैं। यह सत्य अवश्य है कि वज्रयान सम्प्रदाय ने अन्य तांत्रिक सम्प्रदायों को प्रभावित किया, किन्तु वज्रयान को तन्त्र की उत्पत्ति का मूल नहीं माना जा सकता। वास्तव में तन्त्र बुद्ध से भी प्राचीन है। तन्त्र के दार्शनिक विचारों, साधना-पद्धति आदि को अन्य परम्पराओं ने अपने-अपने अनुसार अंगीकार किया। फलतः विभिन्न प्रकार की तांत्रिक परम्परायें—शैव, शाक्त, बौद्ध तथा वैष्णव—विकसित हुईं। इन परम्पराओं ने तान्त्रिक प्रतीकों का नामकरण अपने अनुसार किया तथा अपनी शब्दावली का प्रयोग किया।

सभी तांत्रिक परम्पराओं में तन्त्र की मूलभूत बातें सामान्य रूप से पाई जाती हैं। तन्त्र की जो दो प्रमुख विशेषतायें हैं—(i) चेतना को ज्ञान रूप के साथ-साथ क्रिया रूप मानना तथा (ii) प्रवृत्ति एवं निवृत्ति में समन्वय स्थापित करना। ये दोनों बातें सभी तांत्रिक परम्पराओं में समान रूप से पाई जाती हैं। थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य है, परन्तु वह अन्तर ज्यादातर नाम में ही है। उदाहरण के लिए जो शैव तन्त्र में (अर्द्धनारीश्वर) है वह बौद्ध तन्त्र में 'युगनद्ध' कहलाता है, किन्तु अन्तर यह है कि जहाँ शैव, शाक्त एवं वैष्णव तन्त्र में शक्ति (क्रिया) का प्रतीक नारी एवं ज्ञान का प्रतीक नर है वहाँ बौद्ध तन्त्र में पुरुष (नर) शक्ति एवं नारी ज्ञान का प्रतीक है। 'युगनद्ध' में पुरुष को 'वज्र' और नारी को 'पद्म' नाम से कहा जाता है (तिब्बत में इसका प्रचार है)। चीन, जापान और कोरिया में चूँकि बौद्ध तन्त्र का ही प्रभाव है अतः वहाँ भी नारी (यिन) ज्ञान का एवं पुरुष ('यांग') शक्ति का प्रतीक है। शक्ति के प्रतीक को नारी या नर से क्यों जोड़ा गया है इस विषय में तन्त्र में कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं मिलती, किन्तु यह समझा जा सकता है कि शैव एवं वैष्णव तन्त्र में नारी को जो शक्ति का प्रतीक माना गया उसका कारण यह हो सकता है कि नारी भावना-प्रधान होती है और क्रियाशक्ति वस्तुतः भावना में होती है, ज्ञान तो केवल रास्ता दिखाता है, आँख का काम करता है। किन्तु बौद्ध तन्त्र में पुरुष को शक्ति का प्रतीक सम्भवतः इसलिए माना गया कि व्यावहारिक जीवन में पुरुष शक्तिमान दिखता है तथा नारी कोमल भावनाओं से युक्त दीखती है। इसीलिए वहाँ कठोर शक्ति के प्रतीक पुरुष को 'वज्र' तथा कोमल भावनाओं के प्रतीक नारी को 'पद्म' कहा गया। शैव तन्त्र में जो शिव-पार्वती एवं वैष्णव तन्त्र में जो राधा-कृष्ण है वही बौद्ध तन्त्र में वज्र-पद्म या यांग-यिन है, केवल

यहाँ प्रतीक उलट गया है। इसी प्रकार अन्य बातों में भी सभी तान्त्रिक सम्प्रदायों में मौलिक समानता है।

शैव शाक्त तथा वैष्णव तन्त्रों में भोग और मोक्ष में समन्वय की बात तो उनके तत्त्वमीमांसा के अनुसार उचित ही है किन्तु जब बौद्ध तन्त्र यह बात कहते हैं तो सामान्यतः यह बौद्ध दर्शन के साथ तर्क संगत नहीं लगता। बौद्ध दर्शन में तो भोगों के त्याग की बात कही गई है। वहाँ जगत् तथा जागतिक भोग क्षणिक होने के कारण अन्ततः दुःख रूप होने से त्याज्य है।

काश्मीर शैव दर्शन :

तन्त्र की विभिन्न परम्परायें शैव, शाक्त, वैष्णव तथा बौद्ध प्रचलित हुई किन्तु इनमें शैव-शाक्त तन्त्र ही तांत्रिक दर्शन का पूर्णरूपेण प्रतिनिधित्व करते हैं। तन्त्र-दर्शन की प्रायः सभी अवधारणाओं की व्याख्या तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन शैव शाक्त तन्त्रों में ही किया गया। उदाहरण के लिए शक्ति तत्त्व (क्रिया) की व्याख्या तथा भोग और मोक्ष के समन्वय रूप कौल साधना को यहाँ पूर्ण रूप से प्रस्तुत किया गया। मोक्ष के स्वरूप का पूर्ण निदर्शन तथा मोक्ष के उपायों का व्यापक वर्गीकरण भी यहीं किया गया, आदि-आदि। प्रमुख शैव तन्त्र हैं—मालिनीविजयोत्तर तन्त्र, स्वच्छन्द तन्त्र, विज्ञान भैरव, नेत्र तन्त्र, स्वायम्भुव तन्त्र, रुद्रयामल तन्त्र, नैश्वास तन्त्र, आनन्द भैरव, अच्छुष्म भैरव, मृगेन्द्र आगम आदि।

शैव शाक्त तन्त्रों को दार्शनिक तथा सुव्यवस्थित तार्किक, सैद्धान्तिक प्रतिपादन काश्मीर शैव दर्शन की परम्परा में हुआ। काश्मीर शैव दर्शन शैव तन्त्र परम्परा का सर्वप्रमुख दार्शनिक मतवाद है जिसमें तांत्रिक दर्शन की परिणति हुई है। चूँकि शिव-तांत्रिक परम्परा अन्य तांत्रिक परम्पराओं की तुलना में तांत्रिक अवधारणाओं को अधिक स्पष्ट एवं पूर्ण रूप में प्रस्तुत करती है, और चूँकि काश्मीर शैव दर्शन इस शिव तांत्रिक परम्परा की चरम परिणति है, अतः काश्मीर शैव दर्शन को तान्त्रिक परम्परा का केन्द्रीय दर्शन कहा जा सकता है। इसका नाम 'कश्मीर' शैव दर्शन तो आधुनिक विद्वानों (विशेषतः विदेशी विद्वानों) का दिया हुआ है। इसका शास्त्रीय नाम 'त्रिक' दर्शन है। इसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी कहा जाता है। एक-दो परवर्ती दार्शनिकों को छोड़कर इसके सभी दार्शनिक काश्मीर में हुए हैं, अतः इसे काश्मीर शैव दर्शन कहना भी समीचीन ही है।

काश्मीर शैव दर्शन के इतिहास क्रम में पहला नाम वसुगुप्त का आता है, जिनका समय आठवीं शती ई० के अन्त तथा नौवीं शती ई० का आरम्भ काल माना जाता है।

उन्होंने अद्वैतवादी शैव दर्शन को सूत्रों के रूप में प्रस्तुत किया, जिसे 'शिव सूत्र' कहा जाता है। जनश्रुति के अनुसार वसुगुप्त 'शिव सूत्र' के रचनाकार नहीं हैं, वरन् भगवान शिव ने इसे उनके समक्ष प्रकाशित किया था। काश्मीर शैव आचार्यों की परम्परा में 'शिव सूत्र' को आगम अथवा तन्त्र माना जाता है। इस प्रकार इसे श्रुति होने की प्रतिष्ठा प्राप्त है। वसुगुप्त के शिष्य भट्ट कल्लट (नवीं शती ई० का मध्य) ने 'स्पन्द कारिका' की रचना की। स्पन्द कारिका पर चार टीकायें मिलती हैं—(1) स्वयं कल्लट की वृत्ति, (2) रामकण्ठ की 'स्पन्द-वृत्ति', (3) क्षेमराज का 'स्पन्द निर्णय' तथा 'स्पन्द सन्दोह', (4) उत्पल भट्ट की 'स्पन्द-प्रदीपिका'। भट्ट कल्लट के बाद कश्मीर शैव दार्शनिकों की परम्परा में सोमानन्द का नाम आता है। इनका समय नवीं शती ई० का उत्तरार्द्ध माना जाता है। सोमानन्द ने 'शिव दृष्टि' की रचना की। इस ग्रन्थ में उन्होंने अपने मत का प्रतिपादन तथा विरोधी मतों का खण्डन किया। सोमानन्द को प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय का जनक माना जाता हैं। इनके शिष्य उत्पल देव ने, जिनका समय नवीं शती ई० का अन्त तथा दसवीं शती ई० का आरम्भ माना जाता है, अपनी 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका' में इस परम्परा के विचारों की तार्किक व्याख्या की। अभिनवगुप्त ने इस पर दो टीकायें, एक छोटी तथा दूसरी बड़ी लिखी है। पहली को 'विमर्शिनी' तथा दूसरी को 'विवृत्ति विमर्शिनी' कहा जाता है। उत्पल ने सिद्धि-त्रयी की रचना की जिसमें 'अजडप्रमातृ-सिद्धि', 'ईश्वर-सिद्धि' तथा 'सम्बन्ध-सिद्धि' निबद्ध हैं। उत्पल की अन्य महत्त्वपूर्ण रचना 'शिव स्तोत्रावली' है।

उत्पल के बाद काश्मीर शैव परम्परा में अभिनवगुप्त का नाम आता है। इनका समय दसवीं शती का अन्त तथा ग्यारहवीं शती का आरम्भ काल माना जाता है। अभिनवगुप्त ने काश्मीर शैव दर्शन को अनेक ग्रन्थों में प्रस्तुत किया। इनमे टीका ग्रन्थ तथा स्वतन्त्र ग्रन्थ दोनो ही हैं। उनके टीका ग्रन्थ हैं—ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, परा-त्रिंशिका विवरण, भगवद् गीतार्थ संग्रह, शिवदृष्ट्यालोचन (अनुपलब्ध)। उनके स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं—तन्त्रालोक, तन्त्रसार, तन्त्र-वट-धानिका, मालिनीविजयवार्तिक, परमार्थसार। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने काव्यशास्त्र पर भी ग्रन्थ लिखे—'ध्वन्यालोक-लोचन' तथा 'अभिनव-भारती'। अभिनवगुप्त के परवर्ती आचार्यों में क्षेमराज (ग्यारहवीं शती ई०) के ग्रन्थ हैं—प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, परा-प्रवेशिका, शिव सूत्र-विमर्शिनी, स्पन्द-निर्णय, स्पन्द-सन्दोह, स्तवचिन्तामणि-विवृति, स्वच्छन्दोद्योत, विज्ञान-भैरव उद्योत, शिवस्तोत्रावली पर टीका, साम्बपंचाशिका पर टीका। परवर्ती काल के ग्रन्थ हैं—क्षेमराज के शिष्य वरदराज (ग्यारहवीं शती ई०) का "शिव-सूत्र वार्तिक", अभिनवगुप्त के 'परमार्थसार' पर क्षेमराज के एक अन्य शिष्य भोगराज की टीका (विवृति), मृगेन्द्र

तन्त्र पर नारायण कण्ठ (ग्यारहवीं शती ई०) की वृत्ति, जयरथ की तन्त्रालोक पर 'विवेक' तथा "वामकेश्वरीमतम्" पर टीका, महेश्वरानन्द (बारहवीं शती ई०) को महार्थमंजरी, राजानकशितिकण्ठ का "महानय प्रकाश", लल्लेश्वरी का "लल्लावाक", विज्ञान भैरव पर शिवोपाध्याय की "उद्योग" टीका, अभिनवगुप्त की विमर्शिनी पर भास्कर कण्ठ की "भास्करी" टीका। आधुनिक काल में अमृत वाग्भव का "आत्म-विलास", आचार्य रामेश्वर झा की "पूर्णता प्रत्यभिज्ञा", आदि उल्लेखनीय रचनायें हैं।

काश्मीर शैव दर्शन की सम्पूर्ण दार्शनिक परम्परा में आचार्य अभिनवगुप्त का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तान्त्रिक दर्शन को बोधगम्य बनाने का कार्य अभिनवगुप्त ने किया। अभिनव ने तन्त्र के प्रतीकों की व्याख्या की तथा तन्त्र दर्शन की तार्किक विवेचना की। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य संपादित किया, वह यह कि उस समय प्रचलित तन्त्र दर्शन के चार सम्प्रदायों—स्पन्द, क्रम, कौल तथा प्रत्यभिज्ञा में समन्वय स्थापित किया। अभिनवगुप्त की गुरु परम्परा में प्रायः इन सभी सम्प्रदायों के गुरु थे। अभिनवगुप्त ने सभी से शिक्षायें ग्रहण की थीं। इनका प्रभाव अभिनवगुप्त पर पड़ना स्वाभाविक था। फलतः उनकी दार्शनिक विचारधारा में चारों सम्प्रदाय मिलकर एकीभूत हो गये। अभिनवगुप्त ने सभी उपधाराओं को 'प्रत्यभिज्ञा' में अनुस्यूत कर दिया, प्रत्यभिज्ञा के सूत्र में पिरोकर क्रम, कुल तथा स्पन्द को एक माला बना दिया। इसी कारण सभी उपधारायें 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' नाम से ही अभिहित होने लगी। यहाँ उल्लेखनीय है कि ऐसा नहीं है कि अभिनवगुप्त ने इन उपधाराओं को जबर्दस्ती एक में मिला दिया, वरन् सत्य यह है कि ये सभी उपधाराएँ मूलतः एक ही धारा के अंग हैं और अभिनवगुप्त ने उनकी एकता को उजागर किया। अभिनवगुप्त का महान ग्रन्थ 'तंत्रालोक' इसका आधार बना। स्पन्द सम्प्रदाय में चेतना के स्वतः स्फूर्त क्रियात्मक पक्ष को महत्त्व दिया जाता था, जिसे 'स्पन्द' कहते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुसार चेतना के स्पन्दात्मक स्वरूप के ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति की साधना की जाती है, जिसे स्पन्द-साधना कहते हैं। क्रम-सम्प्रदाय जगत् को शिव की क्रमिक अभिव्यक्ति मानता है। इसके अनुसार क्रम (विकल्पों) को जानकर तथा उनका सहारा लेकर क्रमिक रूप से मोक्ष की ओर बढ़ा जाता है। यह सम्प्रदाय आत्मा की क्रमिक मुक्ति में विश्वास करता है। कौल सम्प्रदाय शिव और शक्ति की एकता (अभेद) में विश्वास करता है तथा इसके लिए नर और नारी को प्रतीक के रूप में प्रयोग कर पंचमकार साधना के द्वारा अद्वैत भाव (मोक्ष) की प्राप्ति करने में विश्वास करता है। प्रत्यभिज्ञा संप्रदाय ज्ञान को महत्त्व देता है। इसके अनुसार आत्मा के वास्तविक स्वरूप (शिव रूप) की पहचान (ज्ञान अथवा प्रत्यभिज्ञा) मोक्ष है। अभिनवगुप्त ने इन सभी दार्शनिक अव-

धारणाओं को अपने दर्शन में आत्मसात् किया। उन्होंने प्रतिपादित किया कि स्पन्द तो चेतना का स्वरूप है, चेतना स्वरूपतः क्रियाशील है। इस प्रकार स्पन्द शक्ति का ही पर्याय है। अभिनवगुप्त ने प्रतिपादित किया कि विकल्प (जगत्) शिव की ही अभिव्यक्ति हैं किन्तु इनके प्रति द्वैत ज्ञान का होना अज्ञान है तथा अद्वैत भाव का होना ही ज्ञान है। कौल दर्शन में शिव और शक्ति की एकता पर आग्रह किया गया है। अभिनवगुप्त ने यह प्रतिपादित किया कि शिव और शक्ति मूलतः एक ही हैं। एक ही परमतत्त्व के प्रकाश रूप (ज्ञान रूप) को शिव कहा जाता है, तथा उसके विमर्श रूप (क्रिया रूप) को शक्ति कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि आत्मा की शिवरूपता (अद्वैतरूपता) का ज्ञान ही मोक्ष है। यही पूर्णता है।

ज्ञान मीमांसा

ज्ञान का स्वरूप :

ज्ञान के स्वरूप के विषय में सर्वप्रथम विचारणीय बात यह होती है कि चेतना (आत्मा) के साथ इसका क्या सम्बन्ध है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में चेतना के साथ ज्ञान के सम्बन्ध दो प्रकार के माने गये हैं—(1) ज्ञान चेतना का गुण है (द्रव्य-गुण सम्बन्ध) तथा (2) ज्ञान चेतना का स्वरूप है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में ज्ञान को चेतना (आत्मा) का **आकस्मिक गुण** माना गया है। इस मान्यता के पीछे तर्क यह है कि चूँकि निद्रावस्था में आत्मा का अस्तित्व तो रहता है, किन्तु उस समय ज्ञान की कोई प्रक्रिया नहीं होती रहती, अतः ज्ञान को चेतना का स्वरूप नहीं माना जा सकता, यह चेतना का आकस्मिक गुण ही माना जा सकता है। इसके विपरीत सांख्य, वेदान्त तथा तन्त्र दर्शन में ज्ञान को चेतना का स्वरूप ही माना जाता है। इसकी व्याख्या के लिए काश्मीर शैव दर्शन में प्रकाश और प्रकाशन का उदाहरण दिया जाता है। प्रकाश और प्रकाशन दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। प्रकाशन प्रकाश से भिन्न नहीं है। प्रकाश का अर्थ ही होता है प्रकाशित होना अथवा प्रकाश करना। प्रकाशन प्रकाश का गुण न होकर स्वरूप ही है। चेतना तथा ज्ञान में द्रव्यगुण सम्बन्ध मानने पर दोनों की स्वतन्त्र तथा पृथक् सत्ता सिद्ध होती है, किन्तु स्वरूप सम्बन्ध मानने पर दोनों की एक ही सत्ता आपादित होती है। न्याय-वैशेषिक के इस तर्क के उत्तर में कि निद्रावस्था में चेतना में ज्ञान की कोई क्रिया परिलक्षित नहीं होती, काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि उस समय चेतना के ज्ञान के प्रकाशन पर निद्रा का आवरण पड़ा होता है। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि चेतना में उस समय ज्ञान की उपस्थिति नहीं है। अपने पक्ष को स्पष्ट करने लिए काश्मीर शैव

दार्शनिक इस दृष्टान्त का प्रयोग करते हैं कि कभी-कभी सूर्य बादलों से ढँक जाता है, उस समय उसका प्रकाश दिखाई नहीं देता। इसका तात्पर्य यह तो नहीं होता कि सूर्य में प्रकाश ही नहीं है।[1] इसी प्रकार चेतना सदैव ज्ञान से युक्त रहती है। उसके प्रकाशन पर आवरण कभी-कभी पड़ सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान चेतना का स्वरूप ही है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार ज्ञान और चेतना मूलतः एक हैं। केवल दो नामों का प्रयोग किया जाता है, जो एक ही सत्ता का संकेत करते हैं जो आत्मा अथवा ज्ञाता है।

ज्ञान के स्वरूप के विषय में काश्मीर शैव दर्शन की दूसरी महत्त्वपूर्ण अवधारणा यह है कि ज्ञान क्रिया रूप है। ज्ञान चेतना की सक्रियता की अवस्था है। इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि अद्वैत वेदान्ती ज्ञान को चेतना की निष्क्रियता की अवस्था मानते हैं। उनके अनुसार जिस क्षण चेतना को ज्ञान होता है, वह निष्क्रिय रूप से होता है। चेतना में ज्ञान की प्रक्रिया के समय कोई क्रिया नहीं होती। ज्ञान प्राप्त होने से पूर्व विभिन्न क्रियायें हो सकती हैं किन्तु ज्ञान का ग्रहण अथवा अवबोध निष्क्रिय रूप से होता है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि आम का फल खाते समय हम आम को काटने, चबाने आदि की क्रियायें करते हैं किन्तु जिस क्षण हमें आम की मिठास की अनुभूति होती है, उस समय इस अनुभूति (ज्ञान) के निमित्त हम कोई क्रिया नहीं करते होते, मिठास का ज्ञान अपने आप होता है, हम उसे करते नहीं। यह तालाब में पड़े चन्द्र-प्रतिबिम्ब की तरह है; प्रतिबिम्ब अपने आप पड़ता है, तालाब उसे पड़ाता नहीं, तालाब तो इस विषय में निष्क्रिय रहता है।

काश्मीर शैव दार्शनिक यह मानते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के क्षण चेतना को जो क्रिया होती है, वह निष्क्रियता जैसी दीख सकती है किन्तु वह निष्क्रियता नहीं है, यदि चेतना निष्क्रिय रूप से ज्ञान प्राप्त करेगी तो 'अवबोध' अथवा 'समझ' या 'ज्ञान-ग्रहण' की व्याख्या नहीं हो पायेगी। तब यह जड़ पदार्थों के प्रतिबिम्ब जैसी क्रिया हो जायगी। उदाहरण के लिए तालाब में चन्द्रमा आदि का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो उस समय तालाब निष्क्रिय होता है तथा तालाब को इस बात का कोई बोध नहीं रहता कि उसमें कोई वस्तु प्रतिबिम्बित हो रही है। इसी प्रकार यदि चेतना भी निष्क्रिय रूप से ज्ञान प्राप्त करेगी तो उसे भी किसी प्रकार का बोध नहीं होगा, ज्ञान के समय चेतना जो वस्तु को "पकड़ती" है अथवा दूसरे शब्दों में, चेतना को वस्तु का जो अवबोध (cognition)

---

1. तस्मिन् हि निरसिते सर्वमिदम् मेघावरणविगमेनेव स्वप्रकाशभानु किरणवृन्दमत्यन्त-स्वच्छम् भासते नान्यथा.........।—शिवदृष्टि 2/1 टिप्पणी।

होता है, वह चेतना की सक्रियता का द्योतक है, यह तालाब में पड़े प्रतिबिम्ब की तरह नहीं है। इसलिये काश्मीर शैव दार्शनिक यह मानते हैं कि चेतना ज्ञान प्राप्ति के समय सक्रिय रहती है। उस क्षण चेतना में जो क्रिया होती है वह **सायास क्रिया न होकर अनायास क्रिया** अर्थात् अपने आप होने वाली क्रिया होती है, जो निष्क्रियता जैसी दीखती है। उस क्षण ज्ञान-प्राप्ति के लिए चेतना जब कोई आयास (प्रयत्न) नहीं करती तो लगता है कि चेतना निष्क्रिय रूप से ज्ञान-ग्रहण कर रही है। इस प्रकार आयास रहित (effortless) सक्रियता को काश्मीर शैव दर्शन में "क्रिया" कहा जाता है जो सायास 'कर्म' से भिन्न है।

ज्ञान के स्वरूप के विषय में काश्मीर शैव दर्शन की तीसरी महत्त्वपूर्ण मान्यता यह है जो अद्वैत-वेदांत की ही तरह है, इसके अनुसार भी ज्ञान स्वयं-प्रकाश है। ज्ञान को स्वयं-प्रकाश कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान विषय को प्रकाशित करता है, तथा उसी क्रम में अथवा उसके साथ ही वह स्वयं भी प्रकाशित होता है। उसके स्वयं के प्रकाशन के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। उदाहरण के लिए जब हम मेज को जानते हैं (मेज का ज्ञान प्राप्त करते हैं) तो उसी क्षण हमें मेज को जानने का ज्ञान भी स्वयं हो जाता है। ज्ञान की समानता प्रकाश (दीपक) से की जा सकती है। प्रकाश वस्तु को प्रकाशित करता है तथा उसी समय स्वयं को भी उसी प्रक्रिया में प्रकाशित करता है। वस्तु के प्रकाशित होने में वस्तु प्रकाश का विषय है क्योंकि प्रकाश वस्तु पर पड़ता है, जब प्रकाश स्वयं को प्रकाशित करता है तो ऐसा नहीं है कि प्रकाश स्वयं को विषय बना कर उस पर पुनः पड़ता है, इसलिये प्रकाशित है, वरन् प्रकाश विषयी रूप में ही प्रकाशित है। इसी प्रकार ज्ञान भी ज्ञान का विषय नहीं बनता वरन् विषयी रूप में ही स्वयं-प्रकाश है। काश्मीर शैव दर्शन की यह मान्यता न्याय दर्शन की मान्यता के विपरीत है। न्याय दर्शन में यह माना गया है कि ज्ञान उसी प्रकार ज्ञात होता है जिस प्रकार मेज या कुर्सी। कहने का तात्पर्य यह है कि 'ज्ञान' भी ज्ञान का विषय है जो एक के बाद दूसरे ज्ञान द्वारा (अनुव्यवसाय द्वारा) ज्ञात होता है। उदाहरण के लिए 'मैं मेज को जानता हूँ' यह हमारा प्रथम ज्ञान हुआ तथा 'मैं जानता हूँ कि मैं मेज को जानता हूँ', यह हमारा दूसरा ज्ञान अथवा ज्ञान के बाद ज्ञान हुआ। यहाँ प्रथम ज्ञान में हमारे ज्ञान का विषय 'मेज' है तथा दूसरे ज्ञान में हमारे ज्ञान का विषय 'मेज' के ज्ञान का ज्ञान हुआ अर्थात् ज्ञान ही ज्ञान का विषय हुआ। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार ज्ञान विषय के रूप में ज्ञात नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान सदैव ज्ञाता रूप होता है न कि ज्ञात रूप। ज्ञान को जानना ज्ञाता को जानना है। ज्ञाता को ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि ज्ञाता सदैव ज्ञेय से पूर्व रहता है। ज्ञाता विषयी को ज्ञान का

विषय कहना वदतोव्याघात है, ठीक उसी प्रकार जैसे यह कहना कि आँख अपने आपको अपनी दृष्टि का विषय बना सकती है। यदि ज्ञान स्वयं प्रकाशित अथवा ज्ञात नहीं है तथा इसे दूसरे ज्ञान की अपेक्षा रहती है तो यहाँ अनवस्था दोष होगा, क्योंकि दूसरे ज्ञान की तीसरे ज्ञान की अपेक्षा होगी तथा तीसरे को चौथे की, आदि।

ज्ञान के साधन

भारतीय दार्शनिक परम्परा में ज्ञान के साधन के रूप में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि अनेक प्रमाण माने गये हैं, जो संख्या में दस तक हैं। काश्मीर शैव दर्शन को इन सभी प्रमाणों को ज्ञान के साधन के रूप में मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। काश्मीर शैव दर्शन में इनकी संख्या अथवा प्रकारों को महत्त्व नहीं दिया गया है। यहाँ इस बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है कि इन सभी प्रमाणों के मूल में, आधार रूप में क्या है ? वह क्या है जो इन सभी प्रमाणों को प्रामाणिकता प्रदान करता है ? काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार इन सभी प्रमाणों के मूल में चेतना है। चेतना ही इन सभी प्रमाणों का आधार है तथा चेतना द्वारा ही ये सभी प्रमाण प्रकाशित हैं। अतः मूलतः चेतना या चिति ही यथार्थ प्रमाण अथवा एकमात्र मूल प्रमाण है। अन्य सभी प्रमाण चिति के साधन रूप हैं। चिति ही इन प्रमाणों को साधन के रूप में प्रयोग कर ज्ञान प्राप्त करती है, वह यह सुनिश्चित करती है कि इनके द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रामाणिक है अथवा नहीं। इस प्रकार स्वयं प्रमाण को प्रामाणिकता चिति ही प्रदान करती है। इसलिए काश्मीर शैव दर्शन चिति को ही मूल प्रमाण मानता है। उसके अनुसार चेतना ही सभी प्रमाणों को प्रमाणित करती है, अथवा चेतना ही सभी प्रमाणों का प्राण है। उदाहरण के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण को लिया जा सकता है। प्रत्यक्ष प्रमाण के सन्दर्भ में प्रश्न उठता है कि हम किस प्रकार यह जानते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान का यथार्थ साधन है ? विचार करने पर इस प्रश्न के उत्तर में यही बात आती है कि हमारी बुद्धि या चेतना प्रत्यक्ष की यथार्थता को जान लेती है। वास्तव में चेतना ही प्रत्यक्ष के माध्यम से प्रत्यक्ष करती है। केवल ज्ञानेन्द्रियों का विषय के साथ सन्निकर्ष हो जाना ही प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने के लिए पर्याप्त नहीं है। हमारी चेतना ही ज्ञानेन्द्रिय तथा विषय के साथ संयोग के द्वारा ज्ञान प्राप्त करती है और वही उस ज्ञान की प्रामाणिकता को सुनिश्चित करती है। इसी प्रकार अनुमान आदि प्रमाणों को साधन के रूप में प्रयोग कर चेतना ही ज्ञान प्राप्त करती है तथा उनकी यथार्थता को भी वही सुनिश्चित करती है। आगम प्रमाण अन्तः विचार या ईश्वर के ज्ञान की भाषीय अभिव्यक्ति है, जो चैतन्य स्वरूप है। इस प्रकार आगम प्रमाण के मूल में भी चेतना या चिति को ही माना गया है। इसी बात को ध्यान में रखकर काश्मीर शैव दर्शन में यह माना गया है कि चिति ही वास्तविक प्रमाण है।

चिति अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को ज्ञान के साधन के रूप में प्रयोग करती है। उदाहरण के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण में आत्मा (चिति) ज्ञाता (प्रमाता) है। यह ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से विषय के साथ सन्निकर्ष स्थापित करता है। इसी प्रकार अनुमान प्रमाण में व्याप्ति आदि के माध्यम से ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इस सन्दर्भ में काश्मीर शैव दर्शन तथा सांख्य दर्शन की मान्यताओं में अन्तर है। सांख्य के अनुसार ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बुद्धि ज्ञान प्राप्त करती है न कि सीधे पुरुष अथवा आत्मा (चिति)। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार बुद्धि अथवा इन्द्रियाँ तो ज्ञान के साधन अथवा उपकरण मात्र हैं, साधन अथवा उपकरण स्वयं ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। उदाहरण के लिए जब हम मेज या कुर्सी को देखते हैं तो यहाँ हमारी आँख, बुद्धि अथवा मन उसे नहीं देखता अपितु इसके द्वारा हम (हमारी चेतना) इसे देखते हैं। प्रमाणों का उपयोग खिड़की खोलने के समान है। खिड़की खुलने पर खिड़की वस्तु को नहीं देखती वरन् खिड़की के द्वारा (हम) देखते हैं। खिड़की खुलने का अर्थ इतना ही है कि हमारे दृष्टि-पथ का अवरोध हट गया।

यहाँ एक प्रश्न यह उठाया जाता है कि जब चेतना ही वास्तविक ज्ञाता है, ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं, तो फिर चेतना स्वतन्त्र रूप से बिना ज्ञानेन्द्रियों के क्यों ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकती? क्या चेतना को आवश्यक रूप से ज्ञानेन्द्रियों की सहायता लेनी होती है? इसके उत्तर में काश्मीर शैव दार्शनिक यह कहते हैं कि चेतना बिना ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से स्वतन्त्र रूप से ज्ञान प्राप्त कर सकती है। जब यह पशु रूप में (बद्धावस्था में) मल से आबद्ध रहती है तो ज्ञानेन्द्रिय आदि साधनों पर ज्ञान के लिए निर्भर करती है। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति कमरे में बन्द हो तो बाहरी दृश्य को देखने के लिए उसे खिड़की आदि खोलने अथवा दूरबीन आदि की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु बाहर होने पर उसे किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार जब चेतना मल के बन्धन से संकुचित अथवा आच्छादित रहती है तो उसे साधनों की आवश्यकता होती है किन्तु मल का आवरण हट जाने पर उसे किसी साधन की आवश्यकता नहीं रहती। पूर्ण मुक्त साधक अथवा योगी ज्ञानेन्द्रियों की सहायता के बिना भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह जीवन्मुक्त की इच्छा पर निर्भर करेगा कि वह ज्ञान के लिए ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोग करे अथवा सीधे चेतना द्वारा ज्ञान प्राप्त करे।

इस सन्दर्भ में एक अन्य प्रश्न उठता है कि चेतना ही प्रमाणों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करती है तथा वही प्रमाणों की प्रामाणिकता भी सुनिश्चित करती है, किन्तु स्वयं चेतना का ज्ञान कैसे होता है? काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार चेतना स्वयं प्रकाश है तथा ज्ञान ही चेतना का स्वरूप है, अतः चेतना स्वयं प्रकाश होने से स्वयं प्रामाणिक भी है। चेतना

अथवा ज्ञान ही अन्य प्रमाणों को प्रकाशित अथवा प्रमाणित करता है, अतः इसे कोई अन्य प्रमाण प्रकाशित अथवा प्रमाणित नहीं कर सकता। जो स्वयं सबका आधार है वह किसी अन्य पर आश्रित नहीं हो सकता। चिति (अथवा आत्मा) स्वयंसिद्ध है। कर्ता तथा ज्ञाता दोनो हैं। बिना कर्ता के कोई क्रिया नहीं हो सकती तथा बिना ज्ञाता के कोई ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञाता और कर्ता की सत्ता हर ज्ञान तथा क्रिया के पूर्व है। यदि इनका निषेध भी किया जाय तो निषेध कर्ता के रूप में इनकी सत्ता स्वयं सिद्ध है। अतः इनकी (चिति की) सत्ता की सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।[1]

आगम प्रमाण :

काश्मीर शैव दर्शन में चेतना के ज्ञान रूप में प्रकाशन के दो स्तर माने गये हैं, एक चेतना के प्रकाशन का निम्नतर स्तर जिसे पशु-ज्ञान का स्तर कहते हैं तथा दूसरा चेतना के प्रकाशन की उच्चतर अवस्था जिसे शिव-ज्ञान का स्तर कहते हैं। पशु ज्ञान के स्तर पर चेतना मल से आबद्ध होती है जिसके कारण इस स्तर का ज्ञान सीमित तथा अपूर्ण होता है। यह सामान्य इन्द्रियानुभव का स्तर है जिसमें चेतना ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से ज्ञान प्राप्त करती है। शिव ज्ञान के स्तर पर चेतना मलों के बन्धन से मुक्त रहती है। इस स्तर पर ज्ञान की प्राप्ति के लिए चेतना को प्रमाण अथवा इन्द्रियादि साधनों की अपेक्षा नहीं रहती। यह पूर्ण ज्ञान की अवस्था है। इसमें चेतना सीधे बिना किसी साधन के ज्ञान प्राप्त करती है। यह अपरोक्षानुभूति का स्तर है। इस प्रकार के ज्ञान को आगम प्रमाण कहा जाता है। उच्चतर ज्ञान अथवा शिव ज्ञान की अभिव्यक्ति ही आगम हैं। तन्त्र दर्शन में इस आगम-ज्ञान को ही महत्त्व दिया गया है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों की विवेचना को महत्त्व नहीं प्रदान किया गया है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण सामान्य स्तर के ज्ञान से सम्बद्ध हैं, इनके द्वारा पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होना संभव नहीं है। पूर्ण ज्ञान की अभिव्यक्ति अथवा प्राप्ति केवल आगम प्रमाण द्वारा ही संभव है। आगम प्रमाण ही सत्य को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने में सक्षम है।

आगम को 'प्रकाशित ज्ञान' (Revealed Knowledge) भी कहा जाता है। तान्त्रिक परम्परा में जब आगम को 'प्रकाशित ज्ञान' कहा जाता है तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि आगम किसी बाह्य शक्ति द्वारा प्रकाशित किया जाता है। **चेतना को जो**

---

1. कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादि सिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेधम् वा सिद्धि वा विदधीत कः॥
—ई० प्र० का०, 1/1/2।

उच्चतर अनुभूति होती है, उसे ही यहाँ 'प्रकाशित ज्ञान' कहा जाता है। तन्त्र-दर्शन के अनुसार जब साधक मलों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है तो वह स्वयं ईश्वर या शिव हो जाता है। ऐसी अवस्था में जो ज्ञान होता है उसे ही उच्चतर अनुभूति कहते हैं। इस प्रकार जब आगम को ईश्वर या शिव का 'प्रकाशन' कहा जाता है तो इसका अर्थ यही होता है कि आगम उच्चतर अवस्था प्राप्त चेतना की उच्चतर अनुभूति है।[1] कोई भी व्यक्ति इस अवस्था को प्राप्त कर उच्चतर अनुभूति प्राप्त कर सकता है तथा आगम में वर्णित सत्य को सत्यापित कर सकता है। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है कि **आगम वस्तुतः उच्चानुभव का ही भाषाबद्ध रूप में प्रकाशन है**, शिव-पार्वती का सम्वाद वस्तुतः अपनी चेतना में ही प्रश्नकर्त्री संवित् और उत्तरदात्री संवित् अथवा उच्च संवित् (Higher self) और निम्न संवित् (Lower self) का प्रतीकात्मक सम्वाद है।[2] इसी दृष्टि से तान्त्रिक परम्परा को अनुभव-परम्परा अथवा अनुभव-संप्रदाय कहा जाता है। सम्पूर्ण तन्त्र-दर्शन उच्चतर अनुभूति पर आधारित है।

प्रश्न उठता है कि आगम प्रमाण की प्रामाणिकता का आधार क्या है? आगम की प्रामाणिकता के विषय में काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि चूँकि आगम अनुभव पर आधारित है, इसलिए प्रामाणिक है तथा इनकी प्रामाणिकता को 'अनुभव' द्वारा सत्यापित किया जा सकता है। पूरी तान्त्रिक परम्परा अनुभवकर्ताओं की परम्परा है जिन्होंने इस ज्ञान का सत्यापन अनुभव द्वारा किया है। अनुभव द्वारा सत्यापन की बात उचित है क्योंकि किसी सत्य को सत्यापित करने की यह स्पष्ट वैज्ञानिक विधि है। यहाँ समस्या इसलिए उठती है क्योंकि आगम 'सामान्य अनुभव' के विषय न होकर 'उच्चतर अनुभव' के विषय हैं। 'उच्चतर अनुभव' एक विशेष अवस्था का अनुभव कहा जाता है। यह केवल साधकों, योगियों को ही प्राप्त हो सकता है, सामान्य जन को नहीं। अतः सामान्य अनुभव के स्तर पर न तो आगम-ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और न ही इसे सत्यापित ही किया जा सकता है। इसे जो अनुभव करता है, केवल वही सत्यापित कर

---

1. स्वात्मा सर्वभावस्वभावः स्वयं प्रकाशमानः
स्वात्मानमेव स्वात्माविभिन्नेन प्रश्नप्रतिवचनात्
प्रष्टृप्रतिवक्तृ स्वात्ममयेन अहंतया चमत्कुर्वन् विमृशति।
—परात्रिंशिका विवरण, पृ० 14-15।
2. आगमस्तु नामान्तरः शब्दनरूपो द्रढीयस्तमविमर्शात्मा चित् स्वभावस्य ईश्वरस्य अंतरंग एव व्यापारः प्रत्यक्षादेरपि जीवितकल्पः।
—ईश्वर—प्रत्यभिज्ञा—विमर्शिनी—2/3/2।

सकता है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या वास्तव में 'उच्चतर अनुभूति' होती है ? यदि 'उच्चतर अनुभूति' की संभावना है तो आगम की प्रामाणिकता को माना जा सकता है। यदि इसकी संभावना नहीं बनती तो आगम की प्रामाणिकता की संभावना नहीं मानी जा सकती। केवल यह कह देने से कि यह अनुभव-परम्परा है इसकी प्रामाणिकता नहीं मानी जा सकती। ध्यातव्य है कि चार्वाक उक्त उच्चतर अनुभव को स्वीकार नहीं करता। एक मत यह भी है कि कथित उच्चतर अनुभव असामान्य मनोदशा का द्योतक है, एक प्रकार का विभ्रम (हैल्यूसिनेशन)। इन आक्षेपों के उत्तर में बुद्ध, शंकर, रामकृष्ण आदि के उदात्त एवं पवित्र जीवन का हवाला ही दिया जा सकता है। कौन कहेगा कि उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ उन्माद-रूप थीं।

आगम-ज्ञान की प्रामाणिकता के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क यह है कि हम भी उसे अपने जीवन में सत्यापित (Verify) करके देख सकते हैं। उसे देखने में कोई खतरा (Risk) भी नहीं है। हाँ जैसे वैज्ञानिक सत्य को प्रयोगशाला में सत्यापित करने के लिए शोधकर्ता को तद्विषयक प्राविधिक प्रशिक्षिण लेना होगा, अप्रशिक्षित व्यक्ति उसे सत्यापित नहीं कर सकता, उसी प्रकार आगमिक सत्य को सत्यापित करने के लिए सम्बद्ध साधना-पथ से गुजरना होगा।

सामान्य आनुभविक ज्ञान अथवा इन्द्रिय ज्ञान सीमित है। इसके द्वारा सत्य को नहीं जाना जा सकता। सत्य को उच्चतर ज्ञान द्वारा ही जाना जा सकता है। इसी प्रकार आगम की प्रामाणिकता को भी शिव ज्ञान प्राप्त करके ही सत्यापित किया जा सकता है।

आगम ज्ञान के सन्दर्भ में एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि यदि आगम सत्य की अनुभूति पर आधारित है तो आगम में मतवैभिन्य क्यों पाया जाता है ? ऐसा क्यों है कि अद्वैतवादी आगम अद्वैतपरक ज्ञान का निर्देश करते हैं तथा द्वैतवादी आगम द्वैतपरक ज्ञान का प्रतिपादन करते हैं। इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि यह मतवैभिन्य सत्य की अनुभूति के स्तर भेद के कारण है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो आगम सत्य के द्वैत स्तर तक की अनुभूति पर आधारित हैं वे उतने को ही प्रकाशित करते हैं तथा जो आगम सत्य के अद्वैतवादी स्तर की अनुभूति पर आधारित हैं वे अद्वैत अथवा पूर्ण ज्ञान को प्रकाशित करते हैं। इसके उत्तर में एक दूसरी बात यह कही जाती है कि ऐसा 'अधिकारी भेद' की मान्यता के कारण है। तान्त्रिक परम्परा में विभिन्न अधिकारी साधकों के स्तर को ध्यान में रख कर आगमों में विभिन्न प्रकार की शिक्षायें दी गई हैं। इससे आगम की प्रामाणिकता में कोई अन्तर नहीं आता। तीसरी बात यह है कि सत्यद्रष्टा व्यक्ति जिस परिवेश से होकर गुजरता है उसी भाषा में वह बोलता है

जिससे देखने में कुछ अन्तर आ जाता है। चौथी बात यह भी है कि आगमिक ज्ञानों का गहराई से अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि सब लोग एक ही बात अपने-अपने ढंग से कहते हैं। वेद का प्रसिद्ध कथन है कि सत्य एक होता है किन्तु ज्ञानी लोग उसे बहुत तरह से कहते हैं (एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति)। अभिनव गुप्त ने कहा है कि विद्वानों का विवाद केवल नाम का है (संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः)।

ज्ञान का प्रामाण्य

भारतीय दार्शनिक परम्परा में ज्ञान के प्रामाण्य के सम्बन्ध में दो प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित हैं—एक, स्वतः प्रामाण्यवाद तथा दूसरा, परतः प्रामाण्यवाद। स्वतः प्रामाण्यवाद के अनुसार ज्ञान की प्रामाणिकता स्वयं ज्ञान में ही निहित होती है तथा परतः प्रामाण्यवाद के अनुसार ज्ञान की प्रामाणिकता ज्ञान में आन्तरिक रूप से निहित नहीं होती अपितु ज्ञान अपनी प्रामाणिकता के लिए अन्य बाह्य ज्ञान पर निर्भर करता है। न्याय दर्शन परतः प्रामाण्यवादी है। उसके अनुसार ज्ञान की प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता दोनों ही बाह्य हैं। ज्ञान स्वयं में न तो प्रामाणिक होता है और न ही अप्रामाणिक। इसकी प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता दूसरे ज्ञान द्वारा ज्ञात होती है। प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता की कसौटी के रूप में न्याय दर्शन ज्ञान में अर्थ-क्रियाकारित्व अथवा संवादि प्रवृत्ति का होना आवश्यक मानता है। यदि किसी ज्ञान में अर्थक्रियाकारित्व अथवा संवादि प्रवृत्ति है तो वह ज्ञान प्रामाणिक है और यदि उसमें संवादि प्रवृत्ति नहीं है तो वह ज्ञान अप्रामाणिक होगा। उदाहरण के लिए यदि हमें कुर्सी का ज्ञान होता है और हम यदि कुर्सी पर बैठ सकते हैं तो उस ज्ञान में (कुर्सी के ज्ञान में) अर्थक्रियाकारित्व है तथा इस प्रकार वह ज्ञान प्रामाणिक है। यदि मृगतृष्णा में जल की प्रतीति होती है तथा यदि उस जल से हमारी प्यास नहीं बुझती तो हमारा जल का ज्ञान अप्रामाणिक होगा। इस प्रकार न्याय दर्शन के अनुसार किसी वस्तु के ज्ञान की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता दूसरे ज्ञान (परतः) द्वारा जानी जाती है। प्रथम ज्ञान में अर्थक्रियाकारित्व का बोध नहीं होता, यह दूसरे ज्ञान द्वारा ही ज्ञात होता है। इस आधार पर नैयायिक यह मानते हैं कि प्रथम ज्ञान में प्रामाणिकता नहीं रहती। ज्ञान में प्रामाणिकता दूसरे ज्ञान द्वारा ही आती है। यह दूसरा ज्ञान पहले ज्ञान के अतिरिक्त होता है। अतः ज्ञान में प्रामाणिकता बाह्य रूप से (बाहर से) आती है। प्रामाणिकता के समान अप्रामाणिकता भी ज्ञान में बाहर से आती है अर्थात् दूसरे ज्ञान द्वारा ही ज्ञात होती है।

ज्ञान की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में काश्मीर शैव दर्शन स्वतः प्रामाण्यवादी है। इसके अनुसार ज्ञान की प्रामाणिकता स्वयं ज्ञान में ही निहित है तथा अप्रामाणिकता

बाह्य है। परतः प्रामाण्यवाद की आलोचना करते हुए स्वतः प्रामाण्यवादी कहते हैं कि यदि ज्ञान में प्रामाणिकता स्वतः नहीं है तो दूसरे ज्ञान द्वारा उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि दूसरा ज्ञान अपनी प्रामाणिकता के लिए तीसरे ज्ञान की अपेक्षा करेगा तथा तीसरा ज्ञान अपनी प्रामाणिकता के लिए चौथे ज्ञान की अपेक्षा करेगा। इस प्रकार यहाँ अनवस्था दोष होगा। कोई भी ज्ञान जब तक स्वयं प्रामाणिक नहीं होता तब तक वह दूसरे ज्ञान की प्रामाणिकता को सत्यापित नहीं कर सकता। इसलिए स्वतः प्रामाण्यवादी यह मानते हैं कि ज्ञान स्वयं प्रामाणिक होता है। जब हमें उसकी प्रामाणिकता पर सन्देह होता है तभी हम दूसरे ज्ञान द्वारा सत्यापन करते हैं। इस प्रकार दूसरे ज्ञान द्वारा जो जाना जाता है वह ज्ञान की अप्रामाणिकता है न कि प्रामाणिकता। इस दृष्टि से प्रामाण्य तो ज्ञान में स्वतः है तथा अप्रामाण्य ज्ञान से बाह्य है। ज्ञान का अप्रामाण्य बाह्य साधनों (दूसरे ज्ञान) पर निर्भर करता है न कि प्रामाण्य। स्वतः प्रामाण्यवाद के इन सामान्य सिद्धान्तों से सहमत होते हुए काश्मीर शैव दार्शनिक परतः प्रामाण्यवाद की आलोचना करते हुए अपनी ओर से कहते हैं कि 'अर्थक्रिया' अथवा 'संवादि प्रवृत्ति' को ज्ञान की प्रामाणिकता की कसौटी नहीं माना जा सकता। स्वप्न में भी हम वस्तु में अर्थक्रियाकारित्व देखते हैं। उदाहरण के लिए स्वप्न में लगी प्यास भी स्वप्न के जल से बुझ जाती है अथवा स्वप्न में देखी गई कुर्सी पर भी स्वप्नावस्था में हम स्वयं को बैठा हुआ प्रत्यक्ष करते हैं। पुनः जाग्रतावस्था में वापस आने पर हम वास्तविक जल अथवा कुर्सी का अभाव ही पाते हैं। हम जानते हैं कि स्वप्नावस्था का हमारा ज्ञान सत्य नहीं था। अतएव अर्थक्रियाकारित्व का पाया जाना पूर्णतया सत्यता का प्रतिपादन नहीं कर सकता। इसी प्रकार संवादि प्रवृत्ति को भी सत्यता को जानने का आधार नहीं माना जा सकता। अतः काश्मीर शैव दर्शन में ज्ञान में स्वतः प्रामाण्य तथा स्वयं प्रकाश का होना माना जाता है। ज्ञान की प्रामाणिकता स्वयं प्रकाशित है। उसे अपनी प्रामाणिकता के लिये दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती।

भ्रम की व्याख्या

भारतीय दार्शनिक परम्परा में भ्रम की व्याख्या को महत्त्व प्रदान किया गया है। प्रायः सभी दर्शनों ने इसकी विवेचना किया है। भ्रम की विवेचना में समस्या यह है कि भ्रमात्मक प्रत्यक्ष में, उदाहरण के लिए 'रज्जु-सर्प' के भ्रम में, जिस सर्प की हमें प्रतीति होती है, वह सत्य है अथवा असत्य। सभी वस्तुवादी (Realist) दर्शन किसी न किसी प्रकार यह प्रतिपादित करते हैं कि भ्रमात्मक प्रत्यक्ष का विषय, उदाहरण के लिये सर्प, सत्य है तथा सभी प्रत्ययवादी (Idealist) दर्शन यह मानते हैं कि भ्रमात्मक प्रत्यक्ष का विषय असत्य अथवा 'प्रतीति' मात्र होता है, वह सत्य नहीं होता। वास्तव में इस

विवेचना को महत्त्व इसलिए दिया गया है क्योंदि यदि यह सिद्ध हो जाय कि असत्य अथवा मिथ्या विषय (वस्तु) का भी प्रत्यक्ष हो सकता है तो इस आधार पर जगत् के प्रत्ययवादी स्वरूप अथवा आभासवादी स्वरूप को सिद्ध किया जा सकता है। इसलिए वस्तुवादी इस बात पर आग्रह करते हैं कि असत्य (मिथ्या) का प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता, यदि किसी का प्रत्यक्ष (ज्ञान) हो रहा है तो वह असत्य नहीं हो सकता। प्रत्ययवादी इस बात पर आग्रह करते हैं कि असत्य अथवा आभास (मिथ्या वस्तु) का भी प्रत्यक्ष हो सकता है अर्थात् किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होना यह सिद्ध नहीं करता कि वह वस्तु सत्य (वस्तुवादी दृष्टि से) है, वह वस्तु प्रत्यय रूप अथवा आभास रूप भी हो सकती है। इस प्रकार भ्रम की विवेचना के आधार पर ही जगत् की सत्यता अथवा असत्यता का प्रतिपादन किया जाता है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन के भ्रम सम्बन्धी सिद्धान्त को 'अन्यथा ख्यातिवाद' कहा जाता है। इसके अनुसार 'रज्जु-सर्प' भ्रम के उदाहरण में हम जिस सर्प का प्रत्यक्ष करते हैं उसका अन्यत्र कहीं (अन्यथा) अस्तित्व रहता है। रज्जु में उस सर्प का प्रत्यक्ष ज्ञान-लक्षण-प्रत्यक्ष के कारण होता है। अतः यहाँ होने वाले सर्प का ज्ञान वास्तव में अन्य स्थान पर स्थित सर्प का ज्ञान है। रामानुज का भ्रम सम्बन्धी सिद्धान्त 'सत्ख्यातिवाद' कहलाता है। इसके अनुसार भ्रम में होने वाले सर्प का ज्ञान वास्तविक है क्योंकि उनके 'पंचीकरण' सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु प्रत्येक वस्तु में उपस्थित है। सर्प अस्पष्ट रूप से रज्जु में उपस्थित रहता है जो भ्रम-ज्ञान के समय चेतना को स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष होने लगता है। अतः रज्जु में सर्प का प्रत्यक्ष होना वास्तविक सर्प का प्रत्यक्ष (सत् ख्याति) होना है। मीमांसकों (प्रभाकर) के अनुसार भ्रम दो विभिन्न ज्ञान विषयों में भेद न समझने के कारण है। रज्जु सर्प ज्ञान में सर्प का ज्ञान स्मृति के कारण है तथा रज्जु प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। रज्जु-सर्प का भ्रम वस्तुतः प्रत्यक्ष ज्ञान तथा स्मृति ज्ञान का भेद न करके स्मृति ज्ञान के विषय को मान्यता प्रदान कर देना (अख्याति) है अथवा स्मृति से प्राप्त सर्प तथा प्रत्यक्ष से प्राप्त रज्जु के बीच के अन्तर को न समझ पाना (विवेकाख्याति) है। ये दर्शन (न्याय, मीमांसा तथा रामानुज दर्शन) वस्तुवादी हैं। ये भ्रम को भी यथार्थ ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में ही विवेचित करते हैं। इनके अनुसार भ्रम-ज्ञान भी किसी विषय-वस्तु का ही ज्ञान होता है। इसे भ्रम-ज्ञान केवल इसलिए कहा जाता है कि यह अन्य विषयवस्तु के ज्ञान से किसी प्रकार मिश्रित हो गया रहता है। भ्रम विषयक सिद्धान्त में वस्तुवादी दार्शनिकों का यह मनोविज्ञान समझ में आता है कि यदि वे एक भी उदाहरण में भ्रम की सत्ता मान लें तो सम्पूर्ण जगत् के भ्रम होने की सम्भावना भी माननी पड़ेगी। अतः वे स्वीकार ही नहीं करते कि भ्रम भी होता है, वे भ्रम के उदाहरणों की

इस प्रकार व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं कि किसी न किसी प्रकार से यह सिद्ध हो जाय कि तथाकथित भ्रम में जो प्रत्यक्ष हो रहा है वह किसी न किसी रूप में सत्य वस्तु का ही प्रत्यक्ष है, भ्रम है ही नहीं।

काश्मीर शैव दर्शन जगत् के प्रत्ययवाद-सम्मत आभासवादी स्वरूप को मानता हैं। भ्रम के वस्तुवादी सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए काश्मीर शैव दर्शन यह मानता है कि वास्तव में वस्तुवादी दार्शनिक भ्रम के विषय का यथार्थ विषय के साथ तादात्म्य निरूपण कर लेते हैं जिसमें यथार्थ वस्तु का स्थान भ्रम-वस्तु ग्रहण कर लेती है। यह बात स्पष्ट है कि 'रज्जु-सर्प' भ्रम के उदाहरण में रज्जु का प्रत्यक्ष नहीं होता वरन् सर्प का प्रत्यक्ष होता है और यह सर्प तो निश्चित ही झूठा है। कहने का अभिप्राय यह है कि हम सर्प को देखते या जानते हैं न कि रज्जु को;किन्तु वास्तविकता में तो वहाँ सर्प का अस्तित्व होता ही नहीं, वहाँ तो केवल रज्जु का ही अस्तित्व होता है। वास्तविक सर्प का अस्तित्व कहीं और हो सकता है किन्तु 'रज्जु-सर्प' भ्रम में सर्प का निश्चय ही अस्तित्व नहीं रहता। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि भ्रम में जिस सर्प का हमें प्रत्यक्ष होता है उसकी सत्ता हमारी मानसिक रचना का विषय है। वह काल्पनिक है। वह विषयीनिष्ठ सृष्टि है न कि वस्तुनिष्ठ यथार्थ सृष्टि। भ्रम सम्बन्धी अपना सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि भ्रम वस्तु को पूर्णतया मिथ्या (असत्य) नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह पूर्णतया अनस्तित्ववान नहीं होती वरन् यह चेतना की वास्तविक चैतसिक सृष्टि अथवा आत्मप्रक्षेपण (आभास) है। ज्ञाता से स्वतंत्र 'रज्जु-सर्प' के अस्तित्व को मानना 'रज्जु-सर्प' ज्ञान का अपूर्ण विचार है। भ्रम वास्तव में अपूर्ण ज्ञान (अपूर्ण-ख्याति) का विषय है। भ्रम को इस प्रकार अज्ञान का विषय कहा जा सकता है किन्तु अज्ञान ज्ञान का सर्वथा विरोधी अथवा अभाव नहीं है। जब हम रज्जु में सर्प को देखते हैं तो यहाँ ज्ञान की अनुपस्थिति नहीं है क्यों कि हम सर्प को देखते या जानते तो हैं ही, इसे भ्रम केवल इसलिए कहा जाता है कि हम सर्प को इसके वास्तविक रूप में नहीं देखते हैं। यह सर्प हमारे अपूर्ण ज्ञान का विषय है। भ्रम में प्रत्यक्ष होने वाले सर्प की वास्तविकता यह है कि हमारे मन की कल्पना अथवा आत्म-सृष्टि है जो बाह्य वस्तु (सर्प) के रूप में प्रतीत हो रही है। जब हम इस तथ्य को जानते रहते हैं कि सर्प का विषय रूप में हमारे मन से पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है तो हमारा ज्ञान पूर्ण ज्ञान कहलाता है। इसी प्रकार स्वप्न वस्तु को भी मन से पृथक् स्वतन्त्र न मान कर मन से अभिन्न अथवा मन का आभास मानना पूर्ण ज्ञान है तथा इसके विपरीत मानना अपूर्ण ज्ञान है। इसी प्रकार अन्य प्रत्ययवादी दर्शन भी भ्रम की विवेचना करते हैं। विज्ञानवादी बौद्ध दर्शन के अनुसार 'रज्जु-सर्प' भ्रम में जिस रूप का हम प्रत्यक्ष

करते हैं वह रज्जु में नहीं है वरन् हमारे (प्रत्यक्षकर्ता के) मन में है और उसे ही हम रज्जु पर प्रक्षेपित करते हैं। अतः भ्रम-ज्ञान वास्तव में ज्ञाता के मन में स्थित विज्ञानों को ही बाह्य प्रक्षेपित कर जानना (आत्म-ख्याति) है। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार भ्रम 'अनिर्वचनीय ख्याति' का विषय है। 'रज्जु-सर्प' भ्रम में प्रत्यक्ष होने वाला सर्प सत्य नहीं है, फिर भी उसकी प्रतीति होती है, अतः इसे न तो सत् ही कहा जा सकता है और न ही असत्। इसीलिए सर्प की सत्ता सदसद् अनिर्वचनीय है।

परमशिव (परमतत्त्व)

काश्मीर शैव दर्शन अद्वैतवादी दर्शन है। यह एकमात्र तत्त्व परमशिव की सत्ता मानता है। समस्त जीव-जगत् परमशिव की ही अभिव्यक्ति हैं। परम शिव ही स्वयं को आत्माओं (पशु) तथा जगत् के रूप में आभासित करता है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार परमतत्त्व (परमशिव) स्वरूपतः अनिर्वचनीय है। इसे सामान्य ज्ञान अथवा तर्क-बुद्धि द्वारा नहीं जाना जा सकता। परमशिव का ज्ञान आगम प्रमाण द्वारा ही हो सकता है जो कि उच्चतर ज्ञान की अभिव्यक्ति है। अतः आगम प्रमाण के आधार पर ही परमशिव के स्वरूप का विवेचन किया जा सकता है।

परमतत्त्व के स्वरूप के विषय में तान्त्रिक परम्परा की सबसे महत्त्वपूर्ण अव-धारणा यह है कि यहाँ परमतत्त्व को शक्तिरूप अथवा क्रियाशील माना गया है। परम चैतन्य को यहाँ ज्ञान एवं क्रिया दोनों रूप माना गया है। यहाँ चैतन्य निष्क्रिय नहीं है वरन् स्पन्दनशील है। **उसकी स्पन्दनशीलता या क्रियात्मकता को शक्ति नाम से अभि-हित किया गया है।** चैतन्य तत्त्व या शिव वस्तुतः शिव एवं शक्ति, ज्ञान एवं क्रिया, प्रकाश एवं विमर्श दोनों है। तन्त्र दर्शन की यह अवधारणा महत्त्वपूर्ण इसलिए भी मानी जाती है क्योंकि वैदिक परम्परा के दर्शनों में परमतत्त्व के स्वरूप में इस पक्ष पर आग्रह नहीं किया गया है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार, जो वैदिक परम्परा का एक प्रमुख दर्शन है, चैतन्य में क्रियात्मकता माया के कारण आती है। उनके अनुसार क्रियाशीलता चैतन्य का स्वरूप या स्वभाव नहीं है। अद्वैत-वेदान्त ऐसा सम्भवतः इसलिए मानता है कि उसके अनुसार कर्म अपूर्णता का द्योतक है। अतः ब्रह्म में सृष्टिकर्तृत्व आदि किसी भी कर्म का पूर्ण रूप से अभाव होना चाहिए। किन्तु तन्त्र यह मानते हैं कि क्रिया का एक ऐसा स्वरूप है जो माया के कारण नहीं होता अपितु शिव में स्वाभाविक रूप से है। इस क्रिया को ही तन्त्र-दर्शन में 'स्पन्द' कहा गया है। तन्त्र दर्शन भी यह मानता है कि कर्म अपूर्णता का द्योतक है किन्तु उसके अनुसार स्पन्द या क्रिया का कर्म से मौलिक भेद है। स्पन्द अपूर्णता का द्योतक नहीं है अपितु पूर्णता अथवा आनन्द का स्वाभाविक स्फुरण है। काश्मीर शैव दर्शन में 'स्पन्द के स्वरूप का विवेचन किया गया है। कर्म ऐच्छिक

होता है, इसके सम्पादन में कर्ता को आयास करना पड़ता है। स्पन्द क्रिया में कर्ता को आयास या प्रयास नहीं करना पड़ता। यह अनायास होती है। यह आनन्द का स्वाभाविक उच्छलन है। यह अपूर्णता नहीं बल्कि पूर्णता की अवस्था में अभिव्यक्त होती है।

काश्मीर शैव दार्शनिक यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि पूर्णता निष्क्रियता की स्थिति नहीं है, वरन् पूर्णता की स्थिति में आनन्द की भरपूरता होती है और आनन्द का यह स्वभाव है कि उसमें स्वाभाविक क्रिया स्पन्द रूप में अपने आप होती है। इसी आधार पर काश्मीर शैव दर्शन प्रतिपादित करता है कि शिव जो सृष्टिक्रिया करता है वह उसका कर्म न होकर उसका स्पन्द या क्रिया है। शिव अपने भीतर किसी कमी को पूरा करने के लिए सृष्टि नहीं करता अपितु शिव में जो आनन्द है वही सृष्टिक्रिया रूप में प्रकटित होता है। सृष्टि-क्रिया शिव की अपूर्णता की द्योतक नहीं है क्योंकि यह उसका कर्म नहीं है वरन् 'क्रिया' या 'स्पन्द' है। शिव पूर्ण है और उसकी पूर्णता आनन्द के उच्छलन के रूप में सृष्टि रूप में अभिव्यक्त होती है। **स्पन्द क्रिया को काश्मीर शैव दर्शन में शिव का 'स्वातन्त्र्य' भी कहा गया है** क्योंकि इसमें किसी प्रकार की बद्धता नहीं होती।

शिव में जो शक्तिरूपता है उसी से विश्व की रचना होती है। शिव सृष्टि-रचना करके भी सृष्टि से अछूता रहता है अर्थात् उसके स्वातंत्र्य में कोई कमी नहीं आती। सृष्टि करने के लिए शिव पर कोई बाध्यता नहीं है, न आन्तरिक बाध्यता और न ही बाह्य बाध्यता। आन्तरिक बाध्यता इसलिए नहीं है क्योंकि शिव पूर्ण है, इसमें कोई कमी नहीं है जिसकी पूर्ति के लिए वह सृष्टि करें। सृष्टि करने के लिए शिव पर कोई बाह्य बाध्यता नहीं है क्योंकि शिव का कोई दूसरा विरोधी तत्त्व नहीं है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार तो शिव के अलावा कोई दूसरा तत्त्व है ही नहीं, अतः उसके विरोध का सवाल ही नहीं उठता।

परमतत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में तंत्र दर्शन की दूसरी महत्त्वपूर्ण अवधारणा है शिव को **विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय दोनों ही मानना**। शिव अपने क्रिया-स्वातंत्र्य से जगत् की अभिव्यक्ति करता है। वह एक ही साथ 'पर' तथा 'अन्तर्यामी' दोनों ही है। यदि शिव को केवल 'पर' माना जायेगा तो वह विश्व से वस्तुतः असम्बद्ध हो जायेगा तथा यदि उसे केवल 'अन्तर्यामी माना जायेगा तो उसके स्वातंत्र्य एवं निरपेक्षता में बाधा उपस्थित होगी। इसलिये तंत्र-दर्शन में शिव के विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय दोनों रूपों को समान रूप से प्रतिपादित किया गया है। उपनिषदों में शिव के इन दोनों रूपों 'पर' और 'अन्तर्यामी' को स्वीकार किया गया है, किन्तु वहाँ आग्रह ब्रह्म के 'पर' रूप

पर ही देखा जाता है। वहाँ 'नेति-नेति' को अधिक महत्त्व दिया गया है और 'सर्वंखलु इदम् ब्रह्म' पर कम आग्रह है। अद्वैत-वेदान्त में सम्भवतः इसी बात को आधार मानकर ब्रह्म के 'पर' रूप पर विशेष आग्रह किया गया है। काश्मीर शैव दर्शन शिव की विश्व-मयता की सत्तात्मक या तात्त्विक रूप से व्याख्या करता है। इसके अनुसार यह जगत् शिव का स्वयं का प्रकटीकरण है। जगत् तत्त्वतः शिव ही है। शिव जगत् का उपादान कारण है, क्योंकि शिव अपने से ही जगत् का निर्माण करता है। इस प्रकार शिव विश्वमय है, क्योंकि शिव और विश्व में तात्त्विक दृष्टि से अभेद है। साथ ही शिव विश्वोत्तीर्ण भी है, क्योंकि शिव जगत् में खप नहीं जाता। यों कहना चाहिए कि शिव पूर्ण शिव बना रहता है, और साथ ही जगत् भी बन जाता है। तात्पर्य यह कि जगत् शिव का परिवर्तन नहीं है वरन् शिव का स्वरूप प्रसार (Self Extension) है। साथ ही, जगत् शिव का आभास है तथा शिव को इसका ज्ञान भी रहता है। शिव ही जगत् के रूप में अवभासित होता है तथा सृष्टि-प्रक्रिया में स्वयं अवतीर्ण भी होता है किन्तु इन सारी प्रक्रियाओं से अप्रभावित भी रहता है। जिस प्रकार व्यक्ति अपने कल्पनालोक का निर्माण कर लेता है, ओर स्वयं इस लोक से परे और अप्रभावित भी रहता है उसी प्रकार शिव जगत् की सृष्टि करता है, तथा जगत् से परे और अपरिवर्त्य भी रहता है। समस्या तब हो सकती है जब कि शिव इस सृष्टि में लिप्त होते हुए यह न जानता कि यह उसी का आभास है। जगत् में अन्तर्भूत रहते हुए भी शिव को अपनी 'पर रूपता का ज्ञान रहता है।

शिव में अहं विमर्श अथवा आत्म चेतना (Self Conciousness) का होना तंत्र दर्शन की दूसरी विशेषता है। अद्वैत-वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को शुद्ध चैतन्य माना गया है। वहाँ परमतत्त्व में आत्म-चेतना नहीं मानी गई है। ब्रह्म में आत्म-चेतना न मानने के पीछे तर्क यह है कि आत्म-ज्ञान के लिए द्वैत का होना आवश्यक है। ब्रह्म शुद्ध चेतना तथा अद्वैत है जिसके अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता नहीं है। क्योंकि अहं का ज्ञान केवल अपने को अन्य से (अनात्म से) अलग करने के लिए आवश्यक होता है तथा अद्वैतवाद में अनात्म (अन्य) का सर्वथा अभाव है, इसलिए परमतत्त्व में आत्म-ज्ञान (अहं बोध) नहीं माना जा सकता। काश्मीर शैव दार्शनिक यह मानते हैं कि अनात्म का अस्तित्व तथा बोध केवल अपने को अन्य से अलग रूप में जानने के लिए आवश्यक होता है। केवल स्वयं के अस्तित्व-बोध के लिए अनात्म का बोध अथवा अस्तित्व आवश्यक नहीं है। यहाँ जो आवश्यक है, वह है चेतना या ज्ञान का क्रिया रूप होना। शिव-चेतना में जो स्वाभाविक उच्छलनता या स्पन्द है, वही उसके अहं विमर्श का कारण (occasion) बनता है जो अनात्म (not-self) के न रहने पर भी सम्भव है। इसीलिए

'अहं' को चेतना का प्रथम विमर्श कहा गया है, जिसका अर्थ है कि अहं विमर्श चेतना की स्वाभाविक क्रिया है, जो विश्व विमर्श न रहने पर भी अपने आप में रहती है। अद्वैत-वेदान्त परम-तत्त्व ब्रह्म में स्वाभाविक क्रिया नहीं मानता, अतः उसके लिए अनात्म के अभाव में ब्रह्म में अहं विमर्श मानना सम्भव नहीं होता।

काश्मीर शैव दार्शनिक अद्वैत वेदान्ती के प्रति आलोचना में कहेगा कि चेतना और जड़ में यही तो भेद है कि चेतना अपने को जानती है और जड़ अपने को नहीं जानता। चेतना का स्वभाव है कि वह दूसरे को भी जानती है, और अपने आपको भी जानती है। अद्वैत-वेदान्ती का यह कहना कि दूसरों को जानने की प्रक्रिया में ही चेतना अपने को जानती है ठीक नहीं है, क्योंकि स्वाभाविक स्पन्द के कारण चेतना बिना दूसरे को जाने भी अपने आपको जानती है। यह मानना कैसी विडम्बना है कि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य तत्त्व है, किन्तु उसे अपने आप का ज्ञान नहीं है। यदि चैतन्य को अपने आप का ज्ञान न हो तो वह भी जड़ जैसा ही होगा। अहं-ज्ञान से विरहित ब्रह्म में और जड़ रूप भौतिक प्रकाश में क्या वास्तविक अन्तर होगा? शिव को सच्चिदानन्द (सत्, चित् आनन्द रूप) कहा गया है। काश्मीर शैव दर्शन में स्वतन्त्रता या पूर्णता को आनन्द कहा गया है। आनन्द परमशिव का मूल स्वरूप है जहाँ आनन्द का अनुभव (क्रियारूप उच्छलन) भी है। अद्वैत-वेदान्त में परम तत्त्व आनन्द स्वरूप है किन्तु इसमें आनन्द की कोई चेतना नहीं होती क्योंकि उसमें विषय-विषयी का कोई सम्बन्ध नहीं होता जो अद्वैत-वेदान्त के अनुसार किसी भी प्रकार के बोध के लिए आवश्यक है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार जिस प्रकार अस्तित्व का कोई अर्थ बिना अस्तित्ववान के तथा चेतना का कोई अर्थ बिना चेतन के नहीं होता, उसी प्रकार आनन्द का भी कोई तात्पर्य नहीं यदि आनन्द का अनुभव न होता हो।

अद्वैत-वेदान्ती कहेगा कि ब्रह्म स्वयं आनन्द स्वरूप है, आनन्द का भोक्ता या अनुभवकर्ता नहीं है, क्योंकि वह व्यक्ति रूप नहीं है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार ब्रह्म या शिव व्यक्तिरूप (Person) भी है क्योंकि उसमें अहं-चेतना (Self Concious-ness) है। हाँ, वह पूर्णाहं (Perfect self or Absolute person) है, वह जानता है कि केवल मैं ही हूँ या जो कुछ भी है वह सब मैं ही हूँ।

शिव निर्गुण, निर्विकल्प तत्त्व है क्योंकि जिन गुणों या विकल्पों (categories) को बुद्धि पकड़ती है उनसे वह परे है। बुद्धि जिस शिव को अवधारित (conceive) करती है वह बुद्धि की समझ का शिव है, अपने आप वाला शिव नहीं। किन्तु यह भी सच है कि बुद्धि भी शिव का ही आत्म प्रकाशन है, अतः बुद्धि को यह अधिकार है कि वह अपने ढंग से शिव को समझे। इसमें कोई हर्ज भी नहीं, क्योंकि बुद्धि के द्वारा अर्थात्

हमारे द्वारा समझा गया शिव ही हमारे काम आएगा, हम अपने अनुसार समझे गए शिव के सहारे ही शाखाचन्द्र न्याय के द्वारा असली शिव तक पहुँचेंगे।

परम तत्त्व के स्वरूप के विषय में तन्त्र दर्शन की एक अति महत्त्वपूर्ण अवधारणा है परमशिव को शिव-शक्ति का सामरस्य अथवा शक्ति रूप ही मानना। शिव और शक्ति में तादात्म्य सम्बन्ध है। शक्ति शिव का स्वरूप ही है। शक्ति किसी भी प्रकार शिव से भिन्न या पृथक् नहीं है। परम तत्त्व न तो शिव और न शक्ति के प्राधान्य का स्तर है। यह पूर्ण समन्वय अथवा सामरस्य का स्तर है, जहाँ शिव और शक्ति का भेद नहीं किया जा सकता। शिव तथा शक्ति मूलतः एक ही हैं। जो परम शिव है, वही परम शक्ति है। दोनों ही चिद्रूप होने के कारण स्वरूपतः अभिन्न हैं।

शिव और शक्ति यदि एक ही हैं तो दो शब्दों का प्रयोग क्यों किया जाता है, क्या दो शब्दों का प्रयोग दो तत्त्वों का द्योतक नहीं है? इसका उत्तर है कि इन दो शब्दों में केवल अर्थ का अन्तर (Connotative difference) है, इंगित होने वाली वस्तु का अन्तर (Denotative difference) नहीं है। उदाहरण के लिए, बहते हुए जल को जल भी कहा जा सकता है और धारा भी। जल और धारा का अर्थ अलग-अलग है किन्तु दोनों शब्दों से इंगित होने वाली वस्तु एक ही है—बहता हुआ जल। असलियत यह है कि जल स्थिर नहीं है, बहती हुई स्थिति में है, और उसके बहाव को ही धारा कहते हैं। अतः धारा कोई अलग वस्तु नहीं है वरन् जल ही है। उसी प्रकार चैतन्य तत्त्व (शिव) क्रियाशील (Dynamic) है और उसकी क्रियाशीलता (Dynamism) को ही शक्ति कहते हैं। वस्तुतः तांत्रिक दर्शन के अनुसार चैतन्य केवल वस्तु (entity) ही नहीं है वरन् शक्ति (force or energy) भी है। 'शक्ति' शब्द व्याकरण की दृष्टि से स्त्रीलिंग है, इसलिए उसे 'चिति', 'संवित्' 'देवी', 'भगवती', 'परमेश्वरी' 'परा' आदि स्त्रीलिंग शब्दों से अभिहित किया जाता है। शिव-शक्ति सम्बन्ध को बताने के लिए 'शंकर-पार्वती' या 'पति-पत्नी' अथवा 'अर्द्धनारीश्वर' के प्रतीक प्रयोग किए जाते हैं। ये प्रतीक शिव-शक्ति सम्बन्ध को पूर्णरूपेण व्यक्त नहीं कर पाते। पति-पत्नी के प्रतीक से यह समझा जा सकता है कि दोनों दो हैं और एक साथ अथवा एक सूत्र में रहते हैं, किन्तु शिव-शक्ति दो नहीं हैं, वे तत्त्वतः एक हैं। अर्द्धनारीश्वर के प्रतीक से यह समझा जा सकता है कि शिव का आधा भाग शिव का तथा आधा शक्ति का है। किन्तु शिव-शक्ति को इस प्रकार नहीं समझा जा सकता क्योंकि शिव (सम्पूर्ण) ही शक्ति है और शक्ति (सम्पूर्ण) ही शिव है। वास्तव में उनमें वाच्य वस्तु का अन्तर (denotative difference) नहीं किया जा सकता। केवल विवेचना की दृष्टि से उनमें भेद किया जाता है। शिव और शक्ति पर अलग-अलग विचार करने पर शिव चेतना का शुद्ध प्रकाश है तथा

शक्ति चेतना को शक्ति या स्वातन्त्र्य है। तन्त्र दर्शन में शक्ति के लिये अनेक नाम प्रचलित हैं। उसे स्वातन्त्र्य, शक्ति, अहंता, स्फुरत्ता, विमर्श तथा स्पन्द कहा जाता है। शाक्त मत में परमेश्वर को स्त्री रूप में माना गया है और उसी को शक्ति या पराशक्ति कहा गया है। उस पराशक्ति के लिए आनन्द-भैरवी, महाभैरवी, त्रिपुर-सुन्दरी, ललिता आदि नाम प्रयुक्त किये गये हैं। साधना के क्षेत्र में महाशक्ति की कल्पना भवानी, काली, दुर्गा आदि रूपों में की गई है। वह परमेश्वर की ही शक्ति है जो भोग में भवानी, योग में कुण्डलिनी, कोप में काली और समर में दुर्गा है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार समस्त सृष्टि के मूल में एक ही शक्ति तत्त्व है और उसके अभिव्यक्त होने के अनेक रूप हैं। सृष्टि, स्थिति और संहार में शिव शक्ति के लिये प्रयुक्त विभिन्न नाम शिव की क्रियारूपता को ही व्यक्त करते हैं।

शक्ति को वाक् शक्ति भी कहा जाता है, जिसके परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी, ये चार स्तर हैं। इन स्तरों से ही वाक् सृष्टि की व्याख्या की जाती है। ये स्तर शक्ति की अभिव्यक्ति के स्तर हैं। परा अवस्था चित्-आनन्द की अवस्था है, पश्यन्ती इच्छा-अवस्था है, मध्यमा ज्ञान की अवस्था है तथा वैखरी क्रिया की अवस्था है। ये अवस्थाएँ शिव तत्त्वों (शुद्ध अध्वा) में स्थित शक्ति की अभिव्यक्ति की अवस्थाएँ हैं। परा शिवशक्ति की अवस्था है, पश्यन्ती सदाशिव की अवस्था है, मध्यमा ईश्वर की तथा वैखरी सद्विद्या की अवस्था है। परा अवस्था शुद्ध एकता (Pure Unity) अथवा अभेद की अवस्था है। यहाँ शुद्ध तादात्म्य है क्योंकि सृष्टि नहीं है। यहाँ केवल 'अहम् विमर्श' है। पश्यन्ती भेदाभेद अवस्था (Unity-in-difference) है जिसमें अहमिदम् विमर्श है। मध्यमा भी भेदाभेद की अवस्था है, किन्तु यहाँ इदमहम् विमर्श है; यहाँ पश्यन्ती की तुलना में भेद अधिक प्रकटित है। वैखरी में एकता और भेद दोनों हैं, जिसमें अहम् च इदंच विमर्श है। इसमें भेद पूर्णतया प्रकाशित है, वैखरी अवस्था में शिव का स्पन्द क्रिया रूप में स्पष्टतः प्रकाशित हो जाता है। शक्ति को कुण्डलिनी भी कहा जाता है जो शरीर के मूलाधार में रहती है। कुण्डलिनी के तीन स्तर-बोध कुण्डलिनी, नाद कुण्डलिनी तथा प्राण कुण्डलिनी हैं। कुण्डलिनी के ये तीन रूप चितिशक्ति के ही तीन स्तरों आध्यात्मिक (Spiritual), मानसिक (mental) तथा शारीरिक (physical) में प्रकटीकरण के तीन स्तर हैं। बोध कुण्डलिनी आध्यात्मिक स्तर पर अभेद ज्ञान के रूप में प्रकटित होती है। नाद कुण्डलिनी मानसिक स्तर पर मानसिक क्रियाओं के रूप में प्रकटित होती है। प्राण कुण्डलिनी शारीरिक स्तर पर प्राण (life) के रूप में शरीर में संचरित होती है।

तन्त्र दर्शन में सामान्यतः शक्ति के पाँच विभेद (प्रकार) किये जाते हैं—चित्

शक्ति, आनन्द शक्ति, इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति तथा क्रिया शक्ति। चित् शक्ति और आनन्द शक्ति को शिव की स्वरूप शक्ति कहा जा सकता है। इन शक्तियों के कारण ही शिव विमर्शमय तथा आनन्द रूप हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों को शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति कहा जा सकता है जिन्हें वह सृष्टि को अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट करता है। चिदात्मा की प्रकाश रूपता ही उसकी चित् शक्ति है। चेतना का स्वरूप ही शक्ति रूप है, इसलिये इसे चित् शक्ति कहा जाता है।[1] शिव पूर्ण है। पर-निरपेक्ष, आत्म-पूर्णता की प्रतीति ही आनन्द शक्ति है।[2] शिव में सर्जनात्मक इच्छा का स्फुरण ही इच्छा शक्ति है। इसके द्वारा ही शिव अपने आनन्द के प्रकाशन की इच्छा करता है।[3] परमशिव की इच्छा शक्ति जब ज्ञेयता धारण करती है अथवा कार्योन्मुखी होती है तो उसकी प्रकाशन शक्ति ज्ञान शक्ति से अभिहित होती है।[4] इच्छा शक्ति ही जब क्रिया रूप में बाह्य प्रकट हो जाती है तो क्रिया शक्ति कही जाती है।[5]

सृष्टि-प्रक्रिया

तन्त्र-दर्शन में जगत् को परमतत्त्व की ही अभिव्यक्ति माना गया है। सृष्टि उसी का आत्म प्रसार है। उससे ही सभी पदार्थ आविर्भूत होते हैं तथा फिर उसी में विलीन हो जाते हैं। सृष्टि शिव का उन्मीलन मात्र है जो उसकी इच्छा शक्ति का ही प्रकटीकरण है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार शिव स्वयं को जगत् रूप में अभिव्यक्त करता हैं। अपनी व्यक्तावस्था में भी जगत् शिव से भिन्न नहीं होता, इसकी प्रतीति मात्र भिन्न होती है। जगत् सदैव शिवमय बना रहता है।[6] परमतत्त्व अपनी स्वतन्त्रेच्छा से सृष्टि करता है और स्वयं सृष्टि दशा में अवतीर्ण होता है। असीम होकर भी वह अपने को ससीम (बद्ध) रूप में अभिव्यक्त करता है। सृष्टि करने में उसका कोई प्रयोजन निहित नहीं है। यह उसका स्वभाव (स्वातन्त्र्य) है। अपनी लीला के लिए परमशिव सृष्टि करता है और स्वयं को बन्धन में डालता है। पर वास्तव में वह बन्धन में या सीमित

---

1. प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः।—तन्त्रसार, पृ० 6।
2. स एवं परानपेक्षः परमार्थतः आनन्दः 1, ई० प्र० वि० भा०–1, पृ० 207
3. तच्चमत्कार इच्छा शक्तिः। तन्त्रसार, पृ० 6।
4. परतस्तस्मिन् विश्वलक्षणे कार्ये यज्ज्ञातं,
   तत्प्रकाशनशक्तिरूपता सा ज्ञान-शक्तिः। शिवदृष्टि, पृ० 18।
5. भासना च क्रियाशक्तिरिति शास्त्रेषु कथ्यते।—मालिनीविजय वार्तिक, 1/90।
6. शुद्धे तत्त्वं परमशिवाख्यं तत्र यदा विश्वमनुसन्धत्ते तन्मयमेवतत्—शिवसूत्रविमर्शिनी पृ० 35।

दशा में भी असीम और परमतत्त्व ही रहता है। उसके स्वरूप में कोई भी वास्तविक परिवर्तन नहीं होता। सारे परिवर्तन प्रतीति मात्र होते हैं। सारी सृष्टि परमशिव की लीला ही है। अपने को अभिव्यक्त करना परमशिव का स्वभाव (स्वातंत्र्य) है। आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि यदि परमशिव सृष्टि न करता और अकेले में ही पड़ा रहता तो यह 'परमतत्त्व' न होकर घट, पट जैसा कुछ होता।[1] अपने स्वभाव के कारण ही वह विश्व का आभास करने में पूर्णतः निरपेक्ष हैं।[2] परमशिव का यह स्वतन्त्र स्वभाव ही उसकी पंचकृत्यकारी क्रीड़ा है, जिसका उद्देश्य उसके स्वात्म उल्लास के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है। निराकांक्ष एवं परिपूर्ण परमशिव की स्वातन्त्र्य-क्रीड़ा के उद्देश्य को समझाते हुए आचार्य सोमानन्द ने 'शिवदृष्टि' में लिखा है कि जैसे अपरिमित ऐश्वर्य के चमत्कार (बोध) से परितृप्त कोई सार्वभौम राजा सब प्रकार के वाहन आदि साधनों के स्वाधीन होने पर भी अपने पूर्ण तृप्त स्वभाव की स्वतन्त्र लीलावश पैदल चलता है अथवा पैदल चलने की क्रीड़ा करता है, यहाँ पैदल चलना उसकी क्रीड़ा हो सकती है क्योंकि उसके पैदल चलने का उद्देश्य स्वात्म विनोदन के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। उसी प्रकार परमेश्वर स्वात्मपूर्णता के स्वातन्त्र्य के कारण अपने आपके आनन्द में ही स्पन्दित सा रहता है और अपने अन्दर अपनी स्वतन्त्र इच्छामात्र से ही उन्मीलित शिव तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व पर्यन्त अपने स्वरूपभूत-प्रमातृ-प्रमेय, विषयी-विषय आदि भिन्न रूपों से क्रीड़ा करता रहता है।[3] विश्वाभास की सृष्टि संहारात्मक यह क्रीड़ा ही उसका स्वातन्त्र्य है और यह स्वातन्त्र्य ही जगत् आभास का एकमात्र हेतु है।[4] विश्व की सृष्टि और प्रलय, बन्धन और मोक्ष की कल्पना उसका स्वातन्त्र्य स्वभाव है। इस स्वातन्त्र्य स्वभाव के कारण ही काश्मीर शैव दर्शन में उसे पूर्ण स्वतन्त्र आनन्द घन परम ईश्वर कहा गया है। अपने इस स्वातन्त्र्य से ही वह कहीं क्रम से, कहीं अक्रम से, अभेद, भेदाभेद और भेद रूप तीनों दिशाओं में अपने आ-भासन की लीला करता है। विभिन्न

---

1. अस्थास्यदेक रूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।
   महेश्वरस्त्वं संवितत्त्वं तदत्यक्ष्यद घटादिवत् ॥—तन्त्रालोक, आ० 3, श्लोक–100।
2. एवं स्वभावत्वादेव च अस्य—न अत्र परापेक्षा इति।
   —तंत्रालोक टीका, भा० 3, पृ० 131।
3. यथानृपः सार्वभौमः प्रभावामोद भावितः।
   क्रीडान्करोति पादात धर्तास्तद्धर्म धर्मतः ॥
   तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येव तथा तथा ॥—शिवदृष्टि, 1/37/38
4. एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः।
   विचित्रान्सृष्टि संहारान्विधत्ते युगपद् विभुः।—बोधपंचदशिका, श्लोक—6

भूमिकाओं में स्वेच्छावश लीला-अभिनय करने के कारण ही उसे नर्तक कहा गया है। अपने इस अप्रतिहत स्वातन्त्र्य के कारण ही परमशिव अपने स्वरूप को प्रमाता-प्रमेय आदि नाना रूपों में कल्पित कर अनतिरिक्त को भी अतिरिक्तवत स्वात्मभित्ति पर आभासित करता है।[1] जगत् का अपने अन्दर यह आभास और फिर उस आभासित जगत् का अपने अन्दर विलय ही उसका स्वातन्त्र्य रूप कर्तृत्व है। इसी कर्तृत्व स्वभाव से वह सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह (तिरोधान) तथा अनुग्रहरूपी पंचकृत्यों को करता है।[2]

काश्मीर शैव दर्शन शिव और जगत् में अभेद सम्बन्ध मानता है। विश्व शिव में से ही बाह्य अभिव्यक्त होता है और अभिव्यक्ति के उपरान्त भी इसका तादात्म्य शिव से बना रहता है। व्यक्त होने के पूर्व अव्यक्त दशा में सृष्टि वैसे ही शिव से सम्बन्धित रहती है, जैसे—हमारे विचार व्यक्त होने के पूर्व हमारे मन में रहते हैं। अभिव्यक्त होने के उपरान्त भी सृष्टि का शिव से तादात्म्य बना रहता है क्योंकि जगत् जिस तत्त्व का बना है वह शिव चैतन्य ही है अर्थात् शिव और जगत् में तात्त्विक एकता है। इस सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए काश्मीर शैव दर्शन में सागर और उसकी लहर का दृष्टान्त दिया गया है। कहा गया है कि जिस प्रकार शान्त निस्तरंग महासमुद्र अपने स्वरूपभूत जल को अपने अन्तर्गत ही असंख्य लहरों के रूप में आभासित करता है, उसी प्रकार परमशिव अपनी अखण्ड प्रकाश रूपता के अन्तर्गत अपनी स्पन्दरूपा इच्छा शक्ति को उल्लसित करके अपने स्वरूप को ही विश्व भाव से आभासित करता है।[3] लहरों के रूप में उल्लसित जल अपने आधार रूप जल संघात से पूर्णतः अभिन्न होते हुए भी तरंग रूपों में भिन्न प्रतीत होता है। वैसे ही विश्वरूप में भासमान प्रकाश अपने स्वरूप अर्थात् आधारभूत महाप्रकाश से सर्वथा अभिन्न होते हुए भी प्रमाता-प्रमेय आदि रूपों में परस्पर भिन्नवत आभासित होता है। वीचित्व विशिष्ट जल और आधारभूत जल में व्यवहार के लिए भेद मानने पर भी वस्तुतः जैसे जलत्व की दृष्टि से कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार विश्वमय चैतन्य और विश्वोत्तीर्ण चैतन्य में भी भेद नहीं है। सृष्टि विश्वातीत और विश्वात्मक का ही आत्म प्रकाश है। मूल सत्ता और विश्व के बीच मूलतः कोई भेद नहीं है। केवल व्यवहार के लिए भेद कल्पित है।[4] अभिनवगुप्त ने कहा है कि

---

1. ई० प्र० वि० भा० 1, 1/5/16
2. बोध पंचदशिका, 6।
3. तेन बोधिमहासिन्धोरूल्लासिन्यः स्वशक्तयः।
   आश्रयन्त्यूर्मय इव स्वात्मसंघट्टाच्चित्रताम्॥—तं० अ० 2/3/102-103
4. यथाम्बुधेस्तरंगाणां चैक्येऽपि व्यवहारभेदः तथा शिवस्य विश्वस्य च।
   —शिवदृष्टिवृत्ति, पृ० 113।

जिस प्रकार दर्पण में परस्पर पृथक् रूप से प्रतिबिम्बित ग्राम, नगर, नदी, वृक्ष आदि दर्पण से अभिन्न होते हुए भी भिन्नवत् अवभासित होते हैं, उसी प्रकार परमशिव अपने स्वातन्त्र्य माहात्म्य से अपने अन्तर्गत अभिन्न भाव से अवस्थित विश्व वैचित्र्य को भिन्नवत अवभासित करता है।[1]

काश्मीर शैव दर्शन में परमशिव ही जगत् का मूल कारण है। वह जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों है। वह उपादान कारण इसलिए है कि जगत् उसके भीतर से ही प्रकट होता है, अथवा दूसरे शब्दों में, 'जगत् जिस उपादान का बना है वह चैतन्य (शिव) ही है।' शिव निमित्त कारण भी इसलिए है कि जगत् को अपने में से स्वयं ही बनाता है। बनाने वाला भी वही है तथा बनने वाला भी वही है। जगत् की सृष्टि में शिव की 'स्वतन्त्र इच्छा' ही प्रमुख कारण है। परमशिव अपनी इच्छा के द्वारा लीला के लिए इस विश्व की रचना करता है। जगत्-रचना के लिए परमशिव को किसी उपादान या अधिकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह कार्य मात्र उसकी इच्छा से सम्पादित हो जाता है, उसी तरह– जैसे योगी अपनी इच्छा शक्ति के बल से बिना किसी उपादान का अवलम्बन लिये मानसी सृष्टि कर लेता है।[2]

सामान्यतया सृष्टि के दो प्रकार समझे जा सकते हैं। एक वह जहाँ सृष्टि की अभिव्यक्ति का क्रम होता है, इसका पूर्वापर अनुक्रम सार्वभौम नियम के अनुसार नियति द्वारा निश्चित होता है। इस क्रम को व्यावहारिक दृष्टि से सामान्यतः कारण-कार्य मान लिया जाता है, जैसे बीज से विशालकाय वृक्ष प्रकट हो जाता है। दूसरे प्रकार की सृष्टि इस नियम के विपरीत बिना किसी नियमित अनुक्रम और बाह्य उपादान कारण के हो सकती है, जैसे, योगी महलों, बागों और उसमें रहने वाले प्राणियों सहित सुन्दर नगर बना लेता है। काश्मीर शैव दर्शन जागतिक वस्तुओं में पहले ढंग का कार्य-कारण सम्बन्ध मानता है किन्तु शिव जो जगत् की सृष्टि करता है, वह बाद वाले ढंग का माना गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार कारण-कार्य सम्बन्ध औपचारिक मान्यता है। यह व्यावहारिक अनुभव के आधार पर अपनी सुविधा के लिये मान लिया गया है। **स्रष्टा और जगत् के बीच का वास्तविक सम्बन्ध कारण-कार्य सम्बन्ध जैसा नहीं है** जिसमें उपादान विषयक विभिन्न मान्यतायें सन्निहित हैं, अपितु यह विचारक और विचार के सम्बन्ध जैसा है। काश्मीर शैव दर्शन में जो सृष्टि-सिद्धान्त है, वह वस्तुतः स्वातन्त्र्य सिद्धान्त है।

---

1. तंत्रालोक, 2/3/4
2. चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थित मिच्छावशाद्बहिः।
   योगिः निरूपादानमर्थजातं प्रकाशयेत ॥—ई० प्र० का०, 1/5/7

सृष्टि शिव की इच्छा शक्ति की अभिव्यक्ति है जो **इच्छा, ज्ञान और क्रिया के** तीन स्तरों पर होती है। काश्मीर शैव दर्शन में इसे समझाने के लिए कुम्भकार का उदाहरण दिया गया है।[1] घड़े का निर्माण होने के पूर्व सर्वप्रथम कुम्भकार के मन में घड़ा बनाने की इच्छा उत्पन्न होती है, तदुपरान्त उसके मन में घड़े का चित्र बनता है (अर्थात् किस प्रकार के घड़े का निर्माण करना है); यह ज्ञानावस्था है। जब मन में उपस्थित घड़ा कुम्भकार द्वारा बाहर बना दिया जाता है तो यह घड़े की क्रिया-अवस्था है। इसी प्रकार सर्वप्रथम शिव में सृष्टि करने की इच्छा उत्पन्न होती है, फिर यह इच्छा जगत् के स्वरूप में परिणत हो जाती है जो ज्ञानावस्था है; जगत् बाहर आभासित होने लगता है तो यह क्रिया-अवस्था है। यह संसार चैतन्य के अन्दर ही स्थित है, परन्तु बाह्य प्रतीत होता है जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब। वह संसार को अपने से भिन्न प्रतीत कराता है, जबकि वास्तव में वह जगत् से अभिन्न है। दर्पण में पदार्थ अवस्थित न रहते हुए भी दिखाई देते हैं। दर्पण उन पदार्थों से अछूता रहता है। शिव भी अपने सृष्टि के पदार्थों से इसी प्रकार अछूता रहता है।

छत्तीस तत्त्व :

काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि के छत्तीस तत्त्वों का निरूपण किया गया है। इन तत्त्वों की अभिव्यक्ति के रूप में ही जगत् की सृष्टि होती है। सृष्टि रूप में अभिव्यक्त होने पर भी इन तत्त्वों का तादात्म्य परमतत्त्व से बना रहता है। ये न तो शिव से ही अलग हैं और न एक-दूसरे से ही पृथक् होते हैं। प्रत्येक तत्त्व मूलतः शिव ही है, इसलिये प्रत्येक तत्त्व एक-दूसरे में उपस्थित रहता है। विश्व की आभासरूपता में तत्त्वों का यह क्रम वस्तुतः अक्रम में ही क्रम का आभास है।[2] उच्चतर तत्त्व निम्नतर तत्त्वों को अपने में सन्निहित किये रहता है तथा निम्नतर तत्त्व भी अपने सभी उच्चतर तत्त्वों को अपने में समाहित किये रहते हैं। विज्ञान भैरव में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि पूर्व तत्त्व उत्तर तत्त्वों में सर्वत्र व्यापक भाव से अवस्थित रहते हैं, ठीक वैसे ही जैसे घट इत्यादि में मिट्टी व्याप्त रहती है।[3] मालिनी विजयोत्तर तन्त्र में तत्त्वों के क्रम

---

1. कुम्भकारहृदये अन्तर्मनोयोचरत्वात् पूर्वमपि स्वसंविदेकात्मतया विचित्रत्वेन विश्वस्य भेदाभेदात्मना परिवर्तमानस्य स्पन्दनेन स्फुरतः यत् अन्तःकरण बहिष्करणद्वयवेद्यत्व-माभास्यते, यथैव सा कार्य-कारणता।—ई० प्र० वि० 2, पृ० 40।
2. षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह, पृ० 1।
3. क्रमेऽपि च पूर्वं-पूर्वं उत्तरत्र व्यापकतया स्थितं मृदिव घटादौ। विज्ञान-भैरव विवृति, पृ० 47।

विधान का आधार पूर्व-पूर्व तत्त्वों की उत्तर-उत्तर तत्त्वों से गुणोत्कृष्टता बतायी गई है।[1]

सृष्टि के छत्तीस तत्त्वों का वर्गीकरण शुद्ध अध्वा तथा अशुद्ध अध्वा के अन्तर्गत दो प्रकार से किया गया है। शिव तत्त्व से लेकर शुद्ध विद्या तत्त्व तक के पाँच तत्त्व शुद्ध अध्वा के अन्तर्गत आते हैं, इसे शुद्ध सृष्टि कहा जाता है। शेष तत्त्व अशुद्ध अध्वा के अन्तर्गत आते हैं, जिसे अशुद्ध सृष्टि कहा जाता है। शुद्ध अध्वा की स्थिति में चेतना को अपने शुद्ध संवित् स्वरूप का ज्ञान रहता है। शुद्ध सृष्टि तक परमशिव से अभेदभाव की अनुभूति बनी रहती है। इस अध्वा के पाँच तत्त्वों तक की सृष्टि में माया का कोई प्रभाव नहीं रहता है। अशुद्ध अध्वा में माया का प्राधान्य रहता है। माया के मलों का समावेश हो जाने के कारण ही इस अध्वा को अशुद्ध अध्वा अथवा अशुद्ध सृष्टि कहते हैं। माया का प्राधान्य होने के कारण अशुद्ध अध्वा में भेद-ज्ञान का प्राधान्य रहता है। माया के प्रभाव से आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर सीमित (बद्ध) हो जाता है। अपनी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता को भूलकर आत्मा को चिद्रूप न समझ कर शरीर को आत्मा समझने लगता है। उसे अपने सर्वव्यापी स्वरूप का स्मरण नहीं रहता। अपने को सबसे पृथक् और सबको अपने से पृथक् अनुभव करने लगता है।

सृष्टि-क्रम का पहला तत्त्व 'शिव' तत्त्व है। शिव तत्त्व परम-शिव का सृष्टि रूप में प्रथम स्पन्द है। इसमें चित् शक्ति का प्राधान्य रहता है। 'तंत्रसार' के अनुसार पंच-शक्ति स्वभाव परमशिव में चित् शक्ति का प्राधान्य होने पर वह शिव तत्त्व कहलाता है।[2] यह शुद्ध 'अहम्' के अनुभव की अवस्था है। इस अवस्था में प्रमेय (इदम्) का सर्वथा अभाव रहता है। यही तत्त्व परा संवित्, शिव या परमशिव से अभिहित होता है। सम्पूर्ण संसार अव्यक्त (potential) रूप में इस तत्त्व में वर्तमान है। यह देश और काल से अतीत है फिर भी सभी देशों और कालों में एक रूप में वर्तमान है। यह विश्वमय और विश्वातीत दोनों है। सृष्टि-क्रम का दूसरा तत्त्व 'शक्ति' तत्त्व है। यह परमशिव की अभिव्यक्ति का दूसरा तत्त्व है जो शिव का अभिन्न स्वरूप है। 'तंत्रालोक'

---

1. यो हि यस्माद् गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्व उच्यते।
   मालिनीविजयोत्तर तंत्र, अधि० 2/60।
   [यह मन्तव्य आधुनिक विकासवाद से विपरीत (उलटा) पड़ता है। किन्तु वह प्लोटाइनस, हीगल तथा श्री अरविन्द की मान्यताओं का समरूप है।—सम्पादक]
2. चित्प्राधान्ये शिवतत्त्वम् 1, तंत्रसार, पृ० 74।

के अनुसार बाह्योन्मुख परमशिव को उन्मुखतारूप क्रिया ही शक्ति तत्त्व है ।[1] वास्तव में चिद्रूपता के उन्मेष का अर्थ अन्तर्मुख होता है और उसका निमेष ही बहिर्मुख होता है ।[2] शिव और शक्ति वास्तव में अभिन्न हैं, जैसाकि हम पहले देख चुके हैं । गिनाने में शक्ति दूसरा (Second) तत्त्व है, किन्तु वास्तव में शिव-शक्ति दोनों एक ही स्तर पर हैं जो सृष्टि से पहले का स्तर है, जैसे गर्भाधान के पहले स्त्री की निर्गर्भ स्थिति होती है । एक स्तर पर एक ही तत्त्व न गिनाकर दो तत्त्व (शिव और शक्ति) गिनाये गये हैं, क्योंकि ये एक ही तत्त्व के दो रूप हैं । इनका विभेद मात्र व्यावहारिक दृष्टि से विवेचना के लिए किया जाता है । काश्मीर शैव दर्शन में कहीं शिव तत्त्व को परम-शिव का प्रथम स्पन्द कहा गया है तो कहीं-कहीं शक्ति तत्त्व को भी परमशिव का प्रथम स्पन्द कहा गया है ।[3] षटत्रिंशत्तत्त्व सन्दोह में शिव तत्त्व को परमशिव का प्रथम स्पन्द होने की बात मिलती है । आचार्य अभिनवगुप्त ने शिव तत्त्व को परमशिव की 'प्रथम तुटि' तथा शक्ति तत्त्व को परमशिव की 'द्वितीय तुटि' कहा है ।[4] शिव तत्त्व की अवस्था में अनुभव का प्रत्यय 'अहम्', होता है । शक्ति तत्त्व की अवस्था में यह अनुभव 'अहमस्मि' रूप ग्रहण कर लेता है । इस अवस्था में आनन्द शक्ति का प्राधान्य रहता है ।[5]

सृष्टि-क्रम का तृतीय तत्त्व 'सदाशिव' है । इसकी अभिव्यक्ति शिव की इच्छा शक्ति से होती है । जब शिव (या शिव-शक्ति) में सृष्टि करने की इच्छा उठती है तो वह सदाशिव हो जाता है । सदाशिव अवस्था स्त्री के गर्भाधान होने जैसी अवस्था है । यह

---

1. तस्य (परमशिवस्य) बहिरोन्मुख्येन व्यापारः शक्तितत्त्वम् ।
—तंत्रालोक भा० 6, पृ० 50-51 ।
2. आन्तरत्वमिदं प्राहुः संवित्त्नैकट्यशक्तिताम् ।
तां च चिद्रूपतोन्मेषं बाह्यत्वं तन्निमेषताम् ॥
—तन्त्रालोक भा० 7, आ० 10/218/219 ।
3. परमेश्वरस्य प्रथम स्पन्द एवेच्छाशक्ति तत्त्वम् ।
—पराप्रावेशिका, पृ० 67
4. अतएवं शिवावेशे द्वितुटिः परिगीयते ।
एका तु सा तुटिस्तत्र पूर्णा शुद्धैव केवलम् ॥
द्वितीया शक्तिरूपैव सर्वज्ञानक्रियात्मिका ।—तंत्रालोक, भा० 7, श्लो० 90, पृ० 206-7
5. तन्त्रसार, पृ० 74

शक्ति तत्त्व का प्रथम और स्थूल उन्मेष है। इस स्तर पर इच्छा शक्ति का प्राधान्य हो जाता है। इस अवस्था में अनुभव का प्रत्यय 'अहम्', 'इदम्' होता है। 'अहम्' शिव का परिचायक है और 'इदम्' विश्व का। इस अवस्था में 'इदम्' अंश अस्पष्ट रहता है और अहम् अंश का प्राधान्य होने से वह 'इदम्' अंश को आच्छादित किये रहता है। इसलिये यहाँ जगत् का अव्यक्त रूप में भान होता है।[1]

सृष्टि-क्रम का चौथा तत्त्व 'ईश्वर' है। जब शिव चैतन्य में सृष्टि का सम्पूर्ण चित्र मानसिक रूप से आ जाता है, किन्तु अभी बहिर्गत नहीं हुआ रहता, तो वह ईश्वर कहलाता है। सदाशिव अवस्था में केवल सृष्टि की इच्छा उठती है, किन्तु ईश्वर अवस्था में सृष्टि का पूरा खाका मन में ही तैयार हो जाता है। इस अवस्था में सृष्टि चूँकि मानसिक प्रत्यय (idea) के रूप में ही रहती है अतः इसे 'ज्ञान' कहा जाता है।[2]

सृष्टि क्रम का पाँचवाँ तत्त्व 'शुद्ध विद्या' है। इस अवस्था में अनुभव के 'अहम्' और 'इदम्' दोनों रूप स्पष्ट रूप से भासित होने लगते हैं। इस स्तर पर क्रिया शक्ति की प्रधानता रहती है।[3] जिस प्रकार परमशिव का बहिः औन्मुख्य शक्ति तत्त्व कहलाता है उसी प्रकार सदाशिव और ईश्वर का बाह्य औन्मुख्य शुद्ध विद्या तत्त्व कहा जाता है।[4] इस अवस्था में विश्व सृष्ट होकर बाहर आ जाता है। इसीलिए उसे क्रिया कहते हैं। ईश्वर अवस्था में विश्व मानसिक प्रत्यय या विमर्श (चिन्तन) के रूप में ही रहता है, किन्तु शुद्ध विद्या अवस्था में विश्व प्रतिबिम्ब के रूप में बाहर आभासित होने लगता है। यह उसी प्रकार समझना चाहिए जैसे स्त्री के गर्भ में पूर्ण विकसित भ्रूण अब प्रसव के बाद बाहर आ गया है।

उपर्युक्त पाँच तत्त्वों में शिव-शक्ति तत्त्व (जो वस्तुतः एक ही तत्त्व है) सृष्टि के कारण स्वरूप किन्तु सृष्टि के परे या सृष्टि के पहले की कौमार्य (Virgin) अवस्था है। सदाशिव ईश्वर तथा सद्विद्या सृष्टि-प्रक्रिया की अवस्थाएँ हैं। सृष्टि करने की इच्छा (गर्भाधान) 'सदाशिव' अवस्था है। चैतन्य में ही प्रत्यय या 'ज्ञान' (idea) के रूप में सृष्टि

---

1. सृष्टिक्रमोपदेशादौ प्रथममुचितं तत्सदाख्यं तत्त्वम्।—ई० प्र० वि० भा० 2, पृ० 191
2. ज्ञानशक्ति प्राधान्ये ईश्वर तत्त्वम्। तन्त्रसार, आ० 8, पृ० 74
3. क्रियाशक्ति प्राधान्ये विद्या तत्त्वम्—तंत्रसार, आ० 8, पृ० 74
4. यद्यपि परमशिवस्यैवेदमेकघनमैश्वर्यं तथापि तस्य यथा बहिरोन्मुख्येन व्यापार; शक्ति तत्त्वं तथा सदाशिवेश्वरयोरपि विद्या तत्त्वम्।

—तंत्रालोक, टीका, भा० 6, पृ० 50-51

के पूर्ण विकसित होने (गर्भ में भ्रूण के पूर्ण विकसित होने) की अवस्था 'ईश्वर' है। सृष्टि को केवल प्रत्यय रूप में न रहने देकर बाह्य प्रतिबिम्ब के रूप में आभासित करने (प्रसव करके भ्रूण को गर्भ मे बाहर कर देने) की अवस्था 'सद्विद्या' या 'शुद्ध-विद्या' है।

सद्विद्या तक की अध्वाएँ 'शुद्ध' कहलाती हैं, क्योंकि इनमें चैतन्य को सृष्टि से अपने अभेद का ज्ञान बना रहता है। इसके बाद की अध्वाओं में मलावरण के कारण यह भूल जाता है और सृष्टि अपने से भिन्न (पराई) भासित होने लगती है। इसलिए इन्हें 'अशुद्ध' कहते हैं (तंत्रपरम्परा में 'शुद्धि', 'अशुद्धि' का अर्थ सृष्टि से अभेद बुद्धि तथा भेद बुद्धि को लेकर है)।

सृष्टि-क्रम का छठाँ तत्त्व 'माया' है। इस स्तर पर सार्वभौम आत्मा सीमित आत्मा के रूप में प्रकट होता है। परमेश्वर अपने प्रकाशस्वरूप के आच्छादन की क्रीड़ा करते हुए इस माया तत्त्व का अवभासन करते हैं।[1] भेद का अवभासन करने के कारण ही यह माया शक्ति कहलाती है। भेदावभासन निमित्त परमशिव की स्वातन्त्र्य शक्ति पशुत्व से संलग्न होने के कारण माया नाम से अभिहित होती है। इसे परमेश्वर को स्वरूपगोपनात्मिका इच्छा शक्ति भी कहा गया है।[2] माया का स्वरूप तिरोधानकारी है।[3] यह शुद्ध प्रमाता के प्रकाश स्वरूप का तिरोधान करके उसे परिच्छिन्न रूप बना देती है। जो अपनी पूर्णता में शिव था, वह माया के प्रभाव के कारण जीव बन जाता है। उसकी अभेद दृष्टि सर्वथा छिप जाती है, तथा उसमें भेद दृष्टि का उदय हो जाता है। वह अपने शुद्ध अहं रूपी संवित् स्वरूपता को भूल जाता है तथा अपने आपको संकुचित संवित् के रूप में समझने लगता है तथा अपने प्रमेय अंश 'इदम्' को अपने से सर्वथा भिन्न अचेतन मानने लगता है। काश्मीर शैव दर्शन में माया का स्वरूप तीन प्रकार से वर्णित है—जड़, व्यापक तथा सूक्ष्म। व्यावहारिक जगत् में चिदात्मा से पृथक् होने के कारण यह अचेतन है तथा इसके कार्य भी अचेतन हैं। भेद रूप सृष्टि करने के कारण माया को जड़ कहा गया है, क्योंकि माया में भेद रूप से पदार्थों का प्रकाशन होता है।[4]

---

1. परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातन्त्र्यं तदेवाव्यतिरेकिणी अपूर्णता प्रथनेन मीनाति हिनास्ति इति माया शक्तिः उच्यते।—तंत्रालोक, टीका, भा० 3, पृ० 383
2. मायास्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छाशक्तिः।
—तंत्रालोक टीका, भा० 3, पृ० 283
3. तिरोधानकारी मायाभिधा पुनः।—ई० प्र०, भा० 2, 3/1/7
4. सा जड़ा भेदरूपत्वात्।—तंत्रालोक, भा० 6, 9/151

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार ज्ञान की परिच्छिन्नता ही जड़ता का लक्षण है।[1] संसार का कारण होने के कारण माया व्यापिनी तथा कार्यों की कल्पना करने के कारण सूक्ष्म कही जाती है। परमेश्वर की शक्ति होने के कारण यह नित्य है तथा विश्व का कारण है। पृथ्वी पर्यन्त समस्त तत्त्व इसमें निहित हैं। माया शिव द्वारा स्वेच्छया गृहीत रूप है। जिस प्रकार एक अभिनेता जानबूझ कर नाना प्रकार का अभिनय करता है, उसी प्रकार परमशिव भी अपनी इच्छा मात्र से अनेक प्रकार की भूमिका ग्रहण करता है।[2] सृष्टि की भेदाभेद अवस्था में परमशिव सामान्य इदम् रूपी अपने विषय को ही स्वयं माया नामक अशुद्ध तत्त्व का रूप देकर उसकी सृष्टि करते हैं।

काश्मीर शैव दर्शन में माया से क्रमशः कला, विद्या, राग, काल तथा नियति का प्रादुर्भाव माना गया है। ये माया के पंचकंचुक कहे जाते हैं तथा सृष्टि क्रम में ये क्रमशः सातवें, आठवें, नवें, दसवें तथा ग्यारहवें तत्त्व हैं। ये माया की संकोचकारी (तिरोधान-कारी) शक्तियाँ हैं। माया जनित ये तत्त्व जीव के पूर्ण स्वरूप को आवृत्त किये रहते हैं। इन संकुचित शक्तियों से अपूर्णता में आबद्ध होने के कारण इन कंचुकों को जीव का बन्धन या पाश भी कहा जाता है।

सृष्टि-क्रम का बारहवाँ तत्त्व 'पुरुष' है। जब परम तत्त्व माया और इसके कन्चुकों के प्रभाव से सीमित विषयी का रूप ग्रहण कर संसारी हो जाता है तो इसे पुरुष कहा जाता है। इस अवस्था में आत्मा सीमित हो जाता है और अपने मूल स्वरूप को भूल जाता है। पुरुष तत्त्वतः शिव ही है, किन्तु माया के तिरोधानकारी प्रभाव से अपने स्वरूप को भूल कर परिमित जीव बन जाता है। इस प्रकार अज्ञानवश अपने को बन्धन में डाल देता है। जब तक उसे शिव भाव के स्वातन्त्र्य का बोध नहीं होता तब तक वह अनेकानेक जीव योनियों में संचरण करता हुआ अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुख आदि को भोगता रहता है।[3] आत्मस्वभाव की पूर्णता की अभिव्यक्ति हो जाने पर वह मुक्त हो जाता है।[4]

सृष्टि-क्रम का तेरहवाँ तत्त्व 'प्रकृति' है। परमशिव के भेदमय दृष्टि से अवभासित होता हुआ उसका जो वेद्यरूप विश्व का अभिव्यक्त सामान्य रूप है उसे प्रकृति तत्त्व कहा

---

1. प्रकाशपरिच्छिन्नत्वं जडस्य किल लक्षणम्।—तंत्रालोक टीका, भाग 6, पृ० 227
2. नर्तक आत्मा।—शिवसूत्र, 3/9
3. परिमितात्मा स स्वात्मैश्वर्यमपि प्रत्यभिज्ञातुमपटुः। संचरति विचित्रयोनिषु।
—षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह विवरण, पृ० 5
4. स्वशक्त्यभिव्यक्ता मोक्षः।—परमार्थसार, का० 60

जाताहै। यह सत्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था है। महत् तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व पर्यन्त सभी तत्त्वों का मूल कारण प्रकृति तत्त्व है। पुरुष भोक्ता है और प्रकृति उसकी भोग्या है। परन्तु वास्तव में दोनों एक ही हैं। दोनों की अभिव्यक्ति एक साथ होती है। जिस प्रकार पुरुष जगत्—उन्मेष रूपी क्रीड़ा करने वाले परमेश्वर की आत्म-कल्पना है उसी प्रकार प्रकृति उसकी वेद्य कल्पना है।[1] सांख्य दर्शन में असंख्य पुरुषों की प्रकृति एक है किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में प्रकृति भी अनेक हैं। प्रत्येक पुरुष के लिए पृथक्-पृथक् प्रकृति है।[2] प्रकृति तत्त्व से ही शेष तत्त्वों की सृष्टि होती है। इनमें तीन अन्तःकरण—मन, बुद्धि तथा अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्रायें तथा पाँच महाभूत तत्त्व आते हैं। इन तत्त्वों की स्वरूप विषयक अवधारणा सांख्य दर्शन के समान ही है। अतः इनके विशेष उल्लेख की आवश्यकता यहाँ नहीं है। दोनों दर्शनों में मूलभूत अन्तर केवल इतना ही है कि सांख्य के अनुसार ये तत्त्व प्रकृति के विकास हैं किन्तु काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार ये तत्त्व प्रकृति के विकास होते हुए भी अन्ततः परमशिव की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। सांख्य में प्रकृति आदि तत्त्व है किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में प्रकृति स्वयं सृष्टि विकास का एक तत्त्व है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार सृष्टि के सभी तत्त्व परमशिव की विभिन्न अवस्थाओं के विभिन्न रूप ही हैं। इनका अलग से अपना कोई अस्तित्व नहीं होता।

आत्मा

अद्वैत वेदान्त की भाँति काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार भी आत्मा की सत्ता स्वयं सिद्ध है। आत्मा स्वयं प्रकाश है। ज्ञान की हर प्रक्रिया में ज्ञाता पूर्वसिद्ध है। जिस प्रकार क्रिया कर्त्ता के बिना नहीं हो सकती, उसी प्रकार ज्ञान ज्ञाता के बिना नहीं हो सकता। यह ज्ञाता ही आत्मा है। काश्मीर शैव दार्शनिक यह कहते हैं कि आत्मा का निषेध भी आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है।[3] सभी प्रमाणों का आधार होने से आत्मा को स्वयं प्रमाणों की अपेक्षा नहीं होती। प्रमाणों को भी स्वयं आत्मा ही प्रकाशित करता है। प्रमाण तो आत्मा के ज्ञान के साधन मात्र हैं। आत्मा के स्वरूप के विषय में

---

1. इदमेव हि परं स्वातन्त्र्यं—यत—स्व स्वरूपं वेदकमेवसत् वेद्यत्वेन अवभासयति।
—तंत्रालोक विवेक, भा० 1, पृ० 209
2. नच्च प्रति पुंनियतत्वात् अनेकयः।—तंत्रालोक टीका, भा० 6, पृ० 172
3. तेन आत्मादेर्निराकरणे साधने वापि अवश्यमेव साधयिता पूर्वकोटा वातिपः सिद्धः। नहि साधयितारमन्तरेण अर्थाना साध्यतैव स्यात्, स च स्वतः सिद्ध प्रकाशात्मा परमार्थरूपः परमेश्वरः शिव एव।—तंत्रालोक (विवेक), 1/56

काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि आत्मा ही मुक्त रूप (पूर्ण रूप) में शिव है तथा वही बद्ध रूप (अपूर्ण रूप) में जीव अथवा पशु है। आत्मा ही स्वयं को अपने को स्वातन्त्र्य शक्ति से विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करता है। आत्मा अपने को विभिन्न रूपों में वैसे ही अभिव्यक्त करता है जैसे कोई अभिनेता नाटक में विभिन्न भूमिकाएँ निभाता है जिस प्रकार अभिनेता का वास्तविक स्वरूप अभिनीत स्वरूपों से भिन्न होता है वैसे ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप अभिव्यक्त स्वरूपों (शरीर आदि) से भिन्न है। आत्मा स्वयं को इन रूपों में अभिव्यक्त करते हुए भी इनसे परे है अर्थात् आत्मा विश्वमय अथवा अन्तर्भूत होते हुए भी तत्वातीत अथवा विश्वोत्तीर्ण है। आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में सच्चिदानन्द शिव है जो माया की अशुद्धताओं से आच्छादित अथवा लिप्त हो जाने से पशु या जीव रूप में भासित होता है। पशु रूप ग्रहण करने पर भी शिव की सर्वोच्चता अथवा पूर्णता में कोई कमी नहीं आती। पशु रूप ग्रहण करके भी शिव शिवरूप भी रहता है तथा पशु रूप भी अर्थात् शिव विश्वोत्तीर्ण भी रहता है और विश्वमय भी। शिवावस्था में उसे अपनी पूर्णता का ज्ञान रहता है किन्तु पशु-अवस्था में उसे यह ज्ञान नहीं रहता है।

शिव के पशु रूप ग्रहण की सात अवस्थाओं का निरूपण काश्मीर शैव दर्शन में किया गया है। इन अवस्थाओं को शुद्धाध्वा तथा अशुद्धाध्वा के अनुसार दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। प्रथम चार अवस्थाएँ शुद्धाध्वा अथवा शुद्ध वर्ग की हैं तथा तीन अवस्थाएँ अशुद्धाध्वा अथवा अशुद्ध वर्ग की हैं। इन अवस्थाओं में शिव को प्रमाता कहा जाता है। अभिव्यक्ति की प्रथम अवस्था शिव प्रमाता की अवस्था है। तत्त्व की दृष्टि से यह शिव-शक्ति का स्तर है। इस स्तर पर अनुभूति का रूप 'अहम्' होता है तथा शक्ति की दृष्टि से यह चिदानन्द की अवस्था है। अभिव्यक्ति की दूसरी अवस्था मन्त्र महेश्वर प्रमाता की अवस्था है। तत्त्व की दृष्टि से यह सदाशिव का स्तर है। इस अवस्था में अनुभूति का रूप 'अहमिदम्' है तथा शक्ति की दृष्टि से यह इच्छा-शक्ति की अवस्था है। अभिव्यक्ति की तीसरी अवस्था में शिव मन्त्रेश्वर प्रमाता से अभिहित होता है। तत्त्व की दृष्टि से यह ईश्वर की अवस्था है। इस स्तर पर अनुभूति का रूप 'इदमहम्' होता है तथा शक्ति की दृष्टि से यह ज्ञान शक्ति की अवस्था है। चौथी अवस्था में शिव मन्त्र प्रमाता या विद्या प्रमाता अथवा विद्येश्वर प्रमाता से अभिहित होता है। तत्त्व की दृष्टि से यह सद्विद्या का स्तर है। इस स्तर पर अनुभूति का रूप 'अहं-चेदम्' है तथा शक्ति की दृष्टि से यह क्रिया-शक्ति का स्तर है। अभिव्यक्ति की पाँचवी अवस्था में शिव को विज्ञानाकल प्रमाता कहा जाता है। तत्त्व की दृष्टि से इस अवस्था में शिव पुरुष तत्त्व से अभिहित होता। अभिव्यक्ति की छठीं अवस्था में शिव सकल प्रमाता

से अभिहित होता है तथा सातवीं अवस्था में शिव को प्रलयाकल प्रमाता कहा जाता है। अभिव्यक्ति की छठीं और सातवीं अवस्था में भी शिव पुरुष तत्त्व से अभिहित होता है। ये तीन अवस्थाएँ (विज्ञानाकल, सकल और प्रलयाकल) मलों के प्रभाव की अवस्थाएँ हैं तथा अशुद्धाध्वा की अवस्थाएँ हैं। इन अवस्थाओं में शिव की शक्तियाँ सीमित हो जाती हैं। विज्ञानाकल अवस्था में शिव केवल आणवमल से युक्त होता है। सकलावस्था में तीनों मल (आणव, माया और कर्म) क्रियाशील होते हैं। प्रलयाकल अवस्था में तीनों मल सुषुप्त रहते हैं। विज्ञानाकल अवस्था में आत्मा केवल आणव मल से युक्त होता है। इस अवस्था में माया मल और कर्म मल का सन्निवेश नहीं हुआ रहता है। प्रलयाकल अवस्था में आत्मा माया, मल और कर्म मल से भी युक्त हो जाता है। किन्तु इस अवस्था में मल सक्रिय (क्रियाशील) नहीं रहते। यह अवस्था आत्मा के विश्रान्ति की अवस्था है, जिसमें कर्मों का परिपाक तो होता है किन्तु कर्म आत्मा को शरीर ग्रहण करने के लिए प्रेरित नहीं करते। पुनः सृष्टि की अवस्था में जब ये सक्रिय हो जाते हैं तो आत्मा सकल कहलाते हैं। सकल अवस्था आत्मा की जीवावस्था है। इस अवस्था में आत्मा पशु से अभिहित होता है।

बन्धन और मोक्ष

काश्मीर शैव दर्शन अज्ञान अथवा बन्धन को आत्मा (शिव चैतन्य) द्वारा स्वेच्छा से गृहीत अवस्था मानता है। इसके अनुसार जब शिव बन्धन ग्रहण कर पशु बन जाता है तो पशु की दृष्टि से बन्धन वास्तविक बन जाता है। शिव के लिए बन्धन लीला है तथा पुनः बन्धन से मुक्ति पाना भी उसकी लीला का अंग है; किन्तु जीव के लिए यह लीला नहीं है। शिव स्वयं को ही सृष्टि-प्रक्रिया में विभिन्न आत्माओं के रूप में अभिव्यक्त करता है। सृष्टि-प्रक्रिया में स्वयं को अभिव्यक्त करके भी शिव इनसे परे रहता है। शिव एक ही समय में विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय दोनों है। कहने का तात्पर्य यह है कि शिव एक ही समय में शिव और आत्मा दोनों है। किन्तु आत्मा जब बन्धन के मल आदि कारकों को ग्रहण कर कर्म में संलग्न हो जाता है तो उसकी स्वाभाविक शक्तियाँ सीमित हो जाती हैं। उसका ज्ञान अपूर्ण हो जाता है। इसके कारण वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। इसे ही काश्मीर शैव दर्शन में अज्ञान कहा गया है। यहाँ अज्ञान ज्ञान का सर्वथा अभाव अथवा विरोधी नहीं है अपितु अपूर्ण ज्ञान को ही अज्ञान कहा गया है। पूर्णावस्था अथवा पूर्ण ज्ञान की स्थिति में बन्धन नहीं है। बन्धन केवल अपूर्णावस्था अथवा अपूर्ण ज्ञान की स्थिति में है। अतः पूर्ण की दृष्टि से अथवा शिव की दृष्टि से बन्धन लीलारूप है, किन्तु अपूर्ण की दृष्टि से अथवा आत्मा

की दृष्टि से बन्धन सत्य है तथा इसलिए बन्धन से मुक्ति पाने के लिए साधना आदि की आवश्यकता है ।

काश्मीर शैव दर्शन में बन्धन के कारण स्वरूप मल के तीन प्रकार बताये गये हैं—आणव मल, कार्म मल तथा मायीय मल । माया के पंचकंचुकों से लिप्त होने पर उनके प्रभाव से आत्मा की शक्तियाँ सीमित हो जाती हैं । उसका ज्ञान सीमित हो जाता है । फलतः वह स्वयं को सीमित अथवा अणुरूप मानने लगता है । इसे ही आणव मल कहा जाता है । इसे आणव रूप इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह आत्मा को आणविक अथवा अणुरूप (ससीम) बना देता है । अपने को सीमित समझना ही आणव मल है । आत्मा के वास्तविक स्वरूप में कोई आणव मल के प्रभाव से आत्मा में सीमित व्यक्तित्वाभिमान आ जाता है, जिसके फलस्वरूप वह अपने को सीमित अथवा बद्ध अनुभव करने लगता है और ससीम पशु रूप हो जाता है । जब उसे अपनी पूर्णता का ज्ञान होता है अथवा उसे अपनी नासमझी (अज्ञान) का एहसास (ज्ञान) होता है तो वह पूर्ण अथवा मुक्त हो जाता है । आणव मल के प्रभाव से आत्मा कर्म करने की ओर अभिमुख होता है तथा शरीर आदि मायीय पदार्थों के साथ संयोग होने पर कर्म करने लगता है । इस अवस्था में उत्पन्न अशुद्धता को कार्म मल कहा जाता है । आणव मल के प्रभाव से आत्मा की ज्ञान शक्ति सीमित हो जाने के कारण उसमें भेद दृष्टि अथवा द्वैत भाव आ जाता है । द्वैत भाव अथवा द्वैत ज्ञान का होना ही मायीय मल है । इसके प्रभाव से आत्मा में जागतिक भोगों, पदार्थों के प्रति आसक्ति पैदा हो जाती है । यह आसक्ति ही उसे कर्म करने के लिए प्रेरित करती है, जिससे वह कर्म मल से भी आबद्ध हो जाता है । इन तीनों मलों में आणव मल को मूल मल कहा जाता है । इसके ही कारण अन्य मलों का प्रभाव बढ़ता है । काश्मीर शैव दर्शन में अज्ञान के दो रूप अथवा दो स्तर माने गये हैं—बौद्ध अज्ञान तथा पौरुष अज्ञान । बौद्ध अज्ञान बुद्धिगत अज्ञान है । शास्त्र ज्ञान होने से यह दूर हो जाता है । पौरुष अज्ञान पूरे व्यक्तित्व को सीमित बना देता है, इसके लिए आध्यात्मिक साधना अपेक्षित होती है ।

मोक्ष–(प्रत्यभिज्ञा) :

अपूर्ण ज्ञान अथवा आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञता बन्धन है तथा पूर्ण ज्ञान अथवा आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानना ही काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार मोक्ष है । मोक्ष पूर्णता की स्थिति है । मोक्ष में आत्मा पूर्ण आनन्द स्वरूप स्वयं शिव हो जाता है । इस स्थिति में भेद ज्ञान अथवा द्वैत ज्ञान अद्वैत ज्ञान अथवा अभेद ज्ञान में परिणत हो जाता है । 'यह' और 'वह' का भेद ज्ञान 'सब मैं ही हूँ' में बदल

जाता है। आत्मा यह जानने लगता है कि सारा विश्व उसका ही विभव (अभिव्यक्ति) है। मुक्तावस्था शिवावस्था है। शिवावस्था में आत्मा स्वयं शिव हो जाता है। काश्मीर शैव दार्शनिक 'मोक्ष की स्थिति में आत्मा और शिव का तात्त्विक ऐक्य मानते हैं। उनके अनुसार शिव ही अपनी लीलावश आत्मा रूप ग्रहण करता है तथा मोक्ष की अवस्था में पुनः शिव रूप ग्रहण कर लेता है। उनके अनुसार शिव स्वेच्छा से पशुभाव ग्रहण करता है, किन्तु मलों के प्रभाव के कारण वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। जब पुनः इसे अपने वास्तविक स्वरूप (शिव रूप) की प्रत्यभिज्ञा (ज्ञान या पहचान) होती है तो वह मुक्त हो जाता है। प्रत्यभिज्ञा काश्मीर शैव दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है।[1] स्वरूप की पहचान ही प्रत्यभिज्ञा है।

हम किसी व्यक्ति को प्रत्यक्ष तो देख रहे हैं, किन्तु उसको पहचानते नहीं, अर्थात् यह नहीं जानते कि वह वास्तव में कौन है और बाद में किसी जानकार व्यक्ति के बताने पर या अन्य किसी साधन से उस व्यक्ति का वास्तविक परिचय जान लें तो इसे 'प्रत्यभिज्ञा या प्रत्यभिज्ञान' (पहचान) कहेंगे। उदाहरण के लिए कोई नवयुवती अपने होने वाले पति को सामने देख रही है किन्तु जानकारी न होने के कारण उसे कोई साधारण पुरुष समझ रही है। किन्तु बाद में कोई जानकार वृद्धा स्त्री बताती है तो वह उस पुरुष की वास्तविकता जान जाती है। इसी प्रकार हम अपने आपको तो देख ही रहे हैं, किन्तु अपने को हम अपूर्ण संसारी जीव समझते हैं। बाद में गुरु, शास्त्र या आत्मविवेक के द्वारा (शास्त्रतः गुरुतः स्वतः) जान जाते हैं कि हम वास्तव में पूर्ण शिव हैं, मलावरण के कारण पशु बने हुए हैं। स्वरूप का विस्मरण (अज्ञान) ही बन्धन है तथा स्वरूप ज्ञान ही मोक्ष है जिसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।

प्रत्यभिज्ञा (या आत्मप्रत्यभिज्ञा) मोक्ष या स्वरूपज्ञान को समझने की एक भाषा है जिसे काश्मीर शैव दर्शन में प्रयुक्त किया गया है। मोक्ष की प्रत्यभिज्ञा इसलिए कहते हैं कि मोक्ष में स्वरूप को नया लाना नहीं है वरन् स्वरूप तो पहले से ही है, उसे केवल जान लेना है। अतः मोक्ष वस्तुतः अपने स्वरूप को जान लेने अथवा पहचान लेने (प्रत्यभिज्ञा) का प्रश्न है। यह भी नहीं है कि पहले हम जानते थे और बाद में भूल गए, वरन् हम जन्म से भूले ही हुए हैं। शिव जब पशु बनता है तो पशु जन्म की भाँति होता है, पशु के लिए स्वरूप का अज्ञान अनादि ही होता है, किन्तु स्वरूप ज्ञान तो बाद में भी हो ही सकता है।

---

1. प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त की व्याख्या के लिए पूरे अध्याय की आवश्यकता है, किन्तु यहाँ स्थानाभाव के कारण इसे अति संक्षेप में दिया जा रहा है।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि मोक्ष या प्रत्यभिज्ञा ज्ञान मात्र ही है, इसमें कोई वस्तुगत परिवर्तन नहीं हो जाता; किन्तु यह केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं है, अन्यथा कोई शास्त्रज्ञानी पण्डित को मोक्ष मिल जाता। इस संदर्भ में तन्त्र परम्परा में किया गया बौद्ध ज्ञान एवं पौरुष ज्ञान का भेद महत्त्वपूर्ण है। शास्त्र ज्ञान जो बौद्ध ज्ञान है, केवल बौद्ध अज्ञान हटाता है (जो दर्शन शास्त्र के विद्यार्थी को लाभ होता है), किन्तु उससे वास्तविक मोक्ष नहीं मिल जाता। जब साधना आदि के द्वारा मलावस्था हटने से चेतना की स्थिति में परिवर्तन होकर अपने निर्मल स्वरूप की वास्तविक अनुभूति होती है तो उसे पौरुष ज्ञान कहते हैं। इसी से मोक्ष प्राप्त होता है। पौरुष ज्ञान केवल शास्त्रज्ञान से नहीं प्राप्त होता वरन् साधना करने से चित्त की वास्तविक शुद्धि होने से होता है। पौरुष ज्ञान को भी ज्ञान ही कहते हैं क्योंकि उसमें भी कोई वस्तुगत परिवर्तन नहीं होता वरन् ज्ञानात्मक परिवर्तन ही होता है। उदाहरण के लिए स्वप्न से जाग्रत का परिवर्तन वस्तुतः ज्ञानात्मक परिवर्तन ही है, किन्तु यह ज्ञान केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं है, वरन् चेतना की स्थिति (state of consciousness) में परिवर्तन है जो चेतना या तमोगुण के ह्रास से अथवा मस्तिष्क के तन्तुओं में परिवर्तन से होता है।

अतः यद्यपि स्वरूप की पहचान ही प्रत्यभिज्ञा है तथापि यह सामान्य पहचान अथवा सामान्य ज्ञान (सामान्य बौद्ध ज्ञान) नहीं है वरन् आत्मा का मलावरण दूर कर आत्मा के शुद्ध वास्तविक रूप का प्रकाशन है। इस प्रक्रिया द्वारा आत्मा किसी बाह्य वस्तु के साथ तादात्म्य निरूपण नहीं करता, वरन् अपने ही वास्तविक स्वरूप से अपना तादात्म्य निरूपण करता है। शुद्ध शिव रूप ही उसका वास्तविक स्वरूप है। यह स्वरूप उसका आगन्तुक स्वरूप नहीं है। उसका अशुद्ध रूप अथवा बद्ध रूप (पशु रूप) आगन्तुक स्वरूप है, जो मलों के आवरण के कारण प्रादुर्भूत होता है। मलावरण दूर हो जाने पर प्रत्यभिज्ञा द्वारा आत्मा अपने शुद्ध रूप में पुनः प्रतिष्ठित हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा अशुद्ध रूप अथवा अणु रूप (पशु रूप) से शुद्ध रूप (शिव रूप) में रूपान्तरण है। वास्तव में प्रत्यभिज्ञा आत्मा का शुद्धीकरण है। इस शुद्धीकरण अथवा रूपान्तरण की प्रक्रिया में आत्मा कोई नवीन रूप धारण नहीं करता। वह अपने ही वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है।

काश्मीर शैव दर्शन जीवन्मुक्ति की अवधारणा को भी मानता है। जीवन्मुक्ति की अवस्था, पूर्ण सक्रियता की अवस्था है। इस अवस्था में जीवन्मुक्त व्यक्ति सम्पूर्ण विश्व को अपना ही स्वरूप, अपना ही विभव तथा अपनी ही अभिव्यक्ति मानता है। वह सारे संसार से अपने एकत्व की अनुभूति करता है। जीवन्मुक्ति पूर्ण विश्वप्रेम की स्थिति है। जीवन्मुक्त व्यक्ति संसार के भोगों को भी अपने स्वरूप के लीला विलास के

रूप में लेता है। वह जागतिक भोगों में भी अपने स्वरूप को ही भोगता है क्योंकि जगदानन्द उसके स्वरूपानन्द का ही स्फुरण है।

जीवन्मुक्ति के विषय में उपर्युक्त अति संक्षिप्त कथन से भी यह स्पष्ट है कि काश्मीर शैव दर्शन में जो जीवन्मुक्ति की अवधारणा है वह अद्वैत-वेदान्त आदि कुछ अन्य दर्शनों में जीवन्मुक्ति की अवधारणा से मूलतः भिन्न है। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार जीवन्मुक्त पुरुष में क्रिया संभव नहीं, क्योंकि वहाँ आत्मा का वास्तविक स्वरूप निष्क्रिय माना गया है, जीवन्मुक्त का शरीर तो केवल बचे हुए कर्मों को समाप्त करने मात्र के लिए होता है। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार जीवन्मुक्त में पूर्ण क्रिया सभव है क्योंकि आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान-क्रिया रूप है। जीवन्मुक्त आवश्यकतानुसार सामाजिक, राजनीतिक तथा अन्य कार्यों में सुखपर्वक भाग लेगा। समाधि की दृष्टि से अद्वैत-वेदान्त की जीवन्मुक्ति को निर्विकल्प समाधि की अवस्था कहा जा सकता है जहाँ क्रिया या विमर्श नहीं है, काश्मीर शैव दर्शन की जीवन्मुक्ति को सहज समाधि की स्थिति कहा जा सकता है जहाँ स्वाभाविक स्पन्दात्मक क्रिया है। कर्मयोगी, स्थितप्रज्ञ श्रीकृष्ण का जीवन इसका पूर्ण उदाहरण कहा जा सकता है।

मोक्ष के उपाय :

मोक्ष के उपायों के विषय में जो सिद्धान्त तन्त्रपरम्परा (विशेषतः काश्मीर शैव दर्शन) में दिया गया है उसकी अपनी विशेषताएँ हैं। एक तो, तंत्र ने संसार को नकारने की नहीं बल्कि संसार को ग्रहण कर उसका इस प्रकार उपयोग करने की विधा दी है कि संसार ही मोक्ष का मार्ग बन जाय। जैसे तैरने वाला व्यक्ति पानी में डूबने के बजाय अपने हाथ-पाँव से पानी का विशेष प्रकार से उपयोग कर पानी के ही सहारे पानी से बाहर निकल जाता है उसी प्रकार तंत्रसाधक संसार का ही विशेष प्रकार से उपयोग कर संसार के परे उठ जाता है और शिव रूप हो जाता है। यह मार्ग वास-नाओं के दमन अथवा अस्वीकृति (de-recognition) का मार्ग नहीं है वरन् वासनाओं के उदात्तीकरण (Sublimation) का मार्ग है। तंत्र के ऋषियों ने प्रकृति के नियमों का ही सहारा लेकर प्रकृति को जीतने का मार्ग दिया है। रूपान्तरण (transforma-tion) अथवा उदात्तीकरण (Sublimation) प्रकृति का ही नियम है। पौधा सबसे सड़ी खाद तथा मल मूत्रादि को ही अपने भोजन के रूप में ग्रहण करता है, किन्तु उसे परिवर्तित कर फूल और फल के रूप में प्रस्तुत करता है। मल मूत्रादि की दुर्गन्ध अब फूल में सुगन्ध के रूप में प्रकटित होती है, जो अस्पृश्य एवं अखाद्य था वह फल एवं अन्न के रूप में ग्रहण हो गया। यही नियम अन्तःप्रकृति में वासनाओं के साथ भी काम

करता है। तथा कथित गन्दी वासनाएँ उदात्त होकर अति उपादेय रूपों में प्रकटित हो सकती हैं। उदाहरण के लिए काम शक्ति उदात्त होकर प्रेम, भक्ति, कलात्मक सर्जन, और यहाँ तक कि मोक्ष प्राप्ति में प्रकटित होती है। सभी वासनाओं में सबसे सशक्त काम-शक्ति को उदात्त बनाने के लिए तंत्र ने विशेष योग या मार्ग दिया है जिसे "कौल मार्ग या वाम मार्ग कहते हैं।[1] कुलार्णव तंत्र में कहा गया है कि कौलमार्ग में भोग भी योग बन जाता है। पाप भी पुण्य बन जाता है तथा संसार स्वयं मोक्ष का माध्यम व साधक बन जाता है।[2]

तंत्र परम्परा के उपाय–सिद्धान्त की दूसरी विशेषता यह है कि उपायों की जो सूची दी गई है वस्तुतः उपायों का वैज्ञानिक वर्गीकरण है। मोक्ष के जितने भी संभावित उपाय हैं उन्हें तीन तर्कसंगत उत्तरोत्तर (hierarchical) वर्गों में विभाजित किया गया है। समस्त उपाय इन्हीं तीन वर्गों में समाहित हो जा सकते हैं। ये तीन हैं—(1) आणवोपाय, (2) शाक्तोपाय तथा (3) शम्भवोपाय। आणवोपाय सबसे स्थूल उपाय है। सभी प्रकार की बाह्य एवं शारीरिक साधना-क्रियाएँ आणवोपाय के भीतर आएँगी। शारीरिक हठयोग, मन्दिर इत्यादि में बाह्य पूजा-पाठ, कर्मकाण्ड स्थूल मौखिक जप आदि आणवोपाय में आते हैं। चूँकि इसमें बाहरी अथवा शारीरिक क्रिया का प्राधान्य है इसलिए इसे क्रियोपाय कहते हैं। इसे नरोपाय भी कहते हैं क्योंकि यह पशु (नर) के स्तर का उपाय है।

आणवोपाय से ऊपर अथवा सूक्ष्मतर उपाय है शाक्तोपाय। यह शारीरिक एवं बाह्य क्रिया वाला (आणवोपाय) न होकर मानसिक एवं अन्तःक्रिया वाला उपाय है। इसमें सभी प्रकार की मानसिक क्रिया वाली साधनाएँ आती हैं, यथा-मानसिक जप, ध्यान, धारणा, भावना, चिन्तना, कल्पना, पश्यना आदि। पतंजलि के राजयोग को मुख्यतः शाक्तोपाय के भीतर रक्खा जा सकता है। चूँकि शाक्तोपाय में मानसिक क्रियाओं या प्रत्ययों का उपयोग किया जाता है इसलिए इसे ज्ञानोपाय कहते हैं।

---

1. कौलमार्ग को बहुत गलत समझा गया है तथा उसका काफी दुरुपयोग (तंत्र-साधकों के द्वारा भी) किया गया है। उसके तर्काधार (rationale) को समझने के लिए पूरा अध्याय चाहिए। द्रष्टव्य "Significance of Vāmā Mārga (Kaul-Mārga)" in *"Significance of the Tantric Tradition"* by Kamalakar Mishra, Arddhanarisvara Publication, Varanasi, 1981 (pp. 60 to 88).
2. भोगो योगायते साक्षात् पातकं सुकृतायते। मोक्षायते च संसारकुलधर्म कुलेश्वरि।
—कुलार्णव तंत्र 2/24

शक्तोपाय से ऊपर शांभवोपाय या शिवोपाय है। इसमें सभी प्रकार की नैतिक एवं आध्यात्मिक साधनाएँ सन्निहित हैं। भक्ति मार्ग की दृष्टि से परमात्मा में अपने को समर्पण कर देना, ज्ञान मार्ग की दृष्टि से अपने अहं को गलाकर सर्वात्मभाव (अद्वैतभाव) या विश्वप्रेम को प्राप्त करना, हृदय की पूर्ण निर्मल अवस्था में आ जाना, आदि शाम्भ-वोपाय के भीतर आते हैं। शांभवोपाय की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें इच्छा का ही सहारा लेकर (अर्थात् इच्छा करके) शिव, जो अपना ही परम स्वत्व (Higher Self) है, से सीधे नाता जोड़ लिया जाता है, अथवा यों कहा जाय कि सीधे परम आत्मा (Higher Self) में कूद जाया जाता है। समाधि मुख्यतः शांभवोपाय ही है। चूँकि इसमें इच्छा के ही द्वारा परमात्म तत्त्व में समाहित हुआ जाता है अतः इसे इच्छोपाय कहते हैं।

आणवोपाय शारीरिक (physical) उपाय है, शक्तोपाय मानसिक (mental) उपाय है और शांभवोपाय आध्यात्मिक (Spiritual) उपाय है। ये उत्तरोत्तर एक दूसरे के साधन-साध्य है। आणवोपाय से शाक्तोपाय की योग्यता आती है और शाक्तोपाय से शाम्भवोपाय में प्रवेश होता है। ये तीनों उपाय तीन प्रकार के अधिकारियों के लिए समझे जा सकते हैं। किन्तु साथ ही तंत्र में यह भी समझा गया है कि किसी भी उपाय में शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों स्तर के उपाय होते हैं, चाहे प्रधानता जिस भी उपाय की हो। अतः तंत्रमार्ग उपायों को समग्र (integral) दृष्टि से ग्रहण करता है। भौतिक एवं आध्यात्मिक उपाय दोनों एक में ही चलते हैं। श्री अरविन्द ने भी इस तथ्य को बहुत बखूबी के साथ पकड़ा है।

उपसंहार

तंत्रदर्शन के अन्तर्गत काश्मीर शैव दर्शन में अभी ऐसे विषय हैं जिन्हें स्थाना-भाव के कारण यहाँ नहीं दिया जा सका है। यथा प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्त का विवेचन, अशुभ की समस्या का समाधान, आभासवाद एवं स्वातन्त्र्यवाद का विवेचन आदि जो दिया गया है वह भी अतिसंक्षेप में है। प्रयास किया गया है कि अति संक्षेप में त्रिक दर्शन (काश्मीर शैव दर्शन) का जिसे तंत्र परम्परा का सर्वोच्च दर्शन कहा जा सकता है सामान्य परिचय दिया जाय जिससे पाठक में आगे इसके विषय में जानने की उत्कण्ठा हो।

भारतीय दर्शन जगत् में तंत्रदर्शन (काश्मीर शैव दर्शन) के स्थान एवं महत्त्व के विषय में यह समझा जा सकता है कि इसका अतिविशिष्ट स्थान है। पूर्ण समन्वया-त्मक (synthetic) एवं समग्रात्मक (integral) दृष्टि होने के कारण तथा भारतीय आध्यात्मिक ज्ञान का वैज्ञानिक आनुभविक प्रामाणिक निष्कर्ष होने के कारण काश्मीर शैव

दर्शन को भारतीय दर्शन की चरम परिणति (culmination) कहा जा सकता है। भारतीय दर्शन का श्रेष्ठ प्रतिनिधि समझे जाने वाले बहुचर्चित अद्वैत-वेदान्त दर्शन की बहुत सी कमियों को यह दर्शन पूरा करता है,[1] एवं मूल औपनिषद धारा को सही रूप में अपने में समाहित कर लेता है।

तंत्रदर्शन (काश्मीर शैव दर्शन) ने जीवन के जो मूल्य (पुरुषार्थ) दिए हैं वे एक तो अनुभव की वैज्ञानिक प्रामाणिकता पर आधारित है तथा दूसरे उनमें केवल श्रेयवाद नहीं है वरन् श्रेय एवं प्रेम का, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का, भौतिकता एवं आध्यात्मिकता का, भोग एवं योग का, अपने हित एवं दूसरे के हित का, व्यक्ति एवं समाज का सुखद व्यावहारिक समन्वय है।

भारतवर्ष में निषेधात्मक जीवन-दर्शन की जो धारा प्रचलित है और जिसके गम्भीर दुखद परिणाम भी हुए हैं, उसके परिहार अथवा पूरक रूप में तंत्रदर्शन का अत्यधिक महत्त्व है। वेद-उपनिषद् में न तो परम तत्त्व को निष्क्रिय माना गया है और न जगत् एवं जागतिक मूल्यों का निषेध किया गया है। किन्तु उपनिषद् की व्याख्या करने वाले अद्वैत-वेदान्त ने, कुछ बौद्ध सम्प्रदायों ने (कुछ जैन ने भी) निषेधात्मक दर्शन प्रस्तुत किया है। उपनिषद् का ब्रह्मवाद अद्वैत-वेदान्त में (विशेषतः शांकरमत के परवर्ती आचार्यों में) मायावाद बन गया, उपनिषद् का सर्वात्मवाद यहाँ सर्वनिषेधवाद बन गया। इसका व्यावहारिक ऐतिहासिक परिणाम यह हुआ कि जागतिक कार्यों में अभिरुचि को मोक्ष मार्ग में बाधक समझा गया। यहाँ तक कि सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में सुधारपरक एवं सेवापरक कार्यों को भी बन्धन कारक समझ कर निन्दनीय माना गया। फलतः भारतीय मनीषा की प्रखर प्रतिभाएँ सामाजिक कार्यों एवं सामाजिक उत्तरदायित्व से विमुख होकर मोक्ष प्राप्ति के लिए त्यागी एवं संन्यासी बन गई। नतीजा यह हुआ कि भारतीय (या हिन्दू) समाज एवं धर्म का नेतृत्व उन हाथों पड़ता रहा जो स्वार्थी एवं मध्यम बुद्धि (mediocre) थे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय (हिन्दू) समाज का पतन हो गया। आधुनिक काल में स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, श्री अरविन्द, रवीन्द्र नाथ ठाकुर, महात्मा गाँधी आदि विचारकों ने अद्वैत-वेदान्त की नयी व्याख्या प्रस्तुत कर उसे जीवन एवं जगत् से जोड़ने का स्तुत्य प्रयास किया और अपने प्रयास में काफी हद तक सफल भी रहे। सामाजिक उन्नति एवं अवनति में दार्शनिक मान्यताओं की महती भूमिका होती है। इस दोषपूर्ण अथवा अधूरे दर्शन का परिहार अथवा पूरक तंत्रपरंपरा का अंगीभूत त्रिक दर्शन (काश्मीर शैव दर्शन) ही हो सकता है।

1. द्रष्टव्य *Significance of the Tantric Tradition,* **by Kamalakar Mishra, Arddhanarisvara Publication, Varanasi, 1981.**

अध्याय 19

आधुनिक भारतीय दर्शन

(क) भारतीय पुनर्जागरण

चैतन्य महाप्रभु और उनके सम्प्रदाय से सम्बद्ध भाष्यकारों अथवा व्याख्याताओं के बाद भारतीय वेदान्त की परम्परा की गति-प्रगति अवरुद्ध-सी हो गयी। इसके अवरोध का एक महत्त्वपूर्ण कारण वह हलचलों एवं अस्थिरता का वातावरण था जो अपने देश की भूमि पर विदेशी शक्तियों के आगमन और हस्तक्षेप से उत्पन्न हुआ। सन् 1757 में प्लासी के युद्ध में हुई विजय ने अंग्रेजों की शक्ति को यहाँ स्थापित किया, उसके बाद क्रमशः ब्रिटिश शासन का दबाव बढ़ता गया। सन् 1857 में स्वदेश की कतिपय शक्तियों ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विरुद्ध विद्रोह किया जो अभीष्ट दिशा में सफल नहीं हो सका। क्रमशः ईस्ट इण्डिया कम्पनी का स्थान ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के शासन ने ले लिया और देश में स्थिरता का वातावरण पैदा हुआ। इस वातावरण में धीरे-धीरे भारतीय पुनर्जागरण लाने वाली प्रवृत्तियों एवं शक्तियों का प्रसार हुआ। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि भारतीय राष्ट्रवाद का उदय भारतीय पुनर्जागरण के गर्भ से हुआ। सच यह है कि सन् 1885 में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना और बाद में उसके प्रभाव का विस्तार-प्रसार भारतीय पुनर्जागरण का ही राजनीतिक पक्ष था। बीसवीं शती में हमारे जो नेता-पुरुष राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम में अग्रणी बनकर उभरे वे उक्त पुनर्जागरण के प्रभावशाली प्रवक्ता भी रहे। किन्तु धीरे-धीरे नेता-प्रवक्ताओं से भिन्न, मुख्यतः विचारक भूमिका में विचरण करने वाले शिक्षकों एवं बौद्धिकों ने दार्शनिक चिन्तन का नेतृत्व अपने हाथों में ले लिया, जिसने आधुनिक भारतीय दर्शन को स्पष्ट रूपरेखा प्रदान की।

राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज

भारतीय पुनर्जागरण के अग्रणी महापुरुषों में राजा राममोहन राय (1772–1833) का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। राजा राममोहन राय का नाम ब्रह्मसमाज

से जुड़ा है, उक्त समाज से सम्बद्ध दूसरे महत्त्वपूर्ण नाम देवेन्द्रनाथ ठाकुर (1817–1905) तथा केशवचन्द्र सेन (1838-1884) के हैं। ब्रह्म समाज के सभी नेता प्राचीन उपनिषदों के प्रशंसक थे, साथ ही उन पर ईसाई धर्म तथा इसलाम का भी प्रभाव पड़ा था। राजा राममोहन राय अरबी-फारसी एवं इस्लामी धार्मिक साहित्य के विशेष ज्ञाता थे, जबकि केशवचन्द्र सेन पर ईसाई धर्म का अधिक प्रभाव था। ब्रह्म समाज के सभी नेता हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज की तत्कालीन स्थिति से असन्तुष्ट थे। उस समय के हिन्दू धर्म में, और हिन्दू समाज में भी, तरह-तरह की विकृतियाँ आ गई थीं। धर्म के नाम पर अनेक हिंसापरक पूजा-पद्धतियाँ प्रचलित हो गई थीं, और धार्मिकता का अर्थ रूढ़ियों का पालन मात्र रह गया था। सामाजिक जीवन में बाल विवाह, सती प्रथा आदि का व्यापक प्रचलन था और स्त्री-शिक्षा हेय समझी जाती थी। ब्रह्मसमाज के प्रवक्ताओं ने उक्त सभी प्रकार की धार्मिक एवं सामाजिक दुष्प्रवृत्तियों का विरोध किया। उन्होंने धर्म के क्षेत्र में एकेश्वरवाद का प्रचार किया और मूर्तिपूजा का खंडन या बहिष्कार। उन्होंने अवतारवाद का भी विरोध किया। इसका फल यह हुआ कि अधिकांश भारतीय जनता ब्रह्मसमाज को हिन्दू धर्म का अंग न मानकर उसे एक अहिन्दू अथवा हिन्दू-विरोधी आन्दोलन के रूप में देखने लगी। सम्भवतः इसी कारण उक्त समाज अधिक काल तक प्रभावशाली नहीं रह सका। वास्तव में ब्रह्मसमाज की स्थापना की पृष्ठभूमि में ईसाई मिशनरियों का बढ़ता हुआ प्रभाव था जो भारतीय धर्मों, हिन्दू धर्म और इस्लाम, दोनों की खुलकर आलोचना करते थे और इस प्रयत्न में लगे रहते थे कि ईसाई ब्रिटिश शासकों की छत्रछाया में, अधिक से अधिक जनों को, विशेषतः हिन्दुओं को, अपने धर्म में दीक्षित कर लें। ईसाई मिशनरियों के इस अभियान के विरुद्ध ब्रह्मसमाज ने दोनों दिशाओं में रक्षात्मक प्रतिकार का प्रयत्न किया। प्रथम : उन्होंने हिन्दू धर्म के उपनिषद्-सम्मत विशुद्ध मूल रूप को शिक्षित जनता के सामने प्रस्तुत किया, दूसरी ओर उन्होंने हिन्दू समाज में फैली कुरीतियों के विरुद्ध जेहाद छेड़ा।

दयानन्द सरस्वती और आर्य समाज

ऐसा ही कुछ कार्य आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती (1824-1883) ने उत्तर भारत में किया। बाल ब्रह्मचारी स्वामी दयानंद का जन्म काठियावाड़ (गुजरात) में हुआ था किन्तु उन्होंने क्रमशः हिन्दी सीखकर उसे अपने ग्रंथों और उपदेशों का माध्यम बनाया। यह भी एक कारण था कि उनका प्रभाव गुजराज तक सीमित न रहकर समूचे उत्तर भारत पर पड़ा। सन् 1875 में स्वामी जी ने आर्यसमाज की स्थापना की। ब्रह्मसमाजियों की भाँति स्वामी जी भी पौराणिक हिन्दू धर्म, अर्थात् अवतारवाद तथा मूर्तिपूजा के विरोधी थे। वे ब्रह्मसमाज के प्रमुख नेताओं की भाँति

अंग्रेजी के ज्ञाता नहीं थे, फलतः वे ईसाई धर्म से कभी प्रभावित नहीं हुए। उनके प्रमुख ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' के दो स्वतंत्र अध्यायों में ईसाई धर्म तथा इस्लाम का खंडन है। आर्य समाज तथा ब्रह्मसमाज में एक मुख्य भेद यह है कि जहाँ ब्राह्म नेता उपनिषदों को अधिक महत्त्व देते थे, वहाँ स्वामीजी ने केवल वैदिक संहिताओं को ईश्वरीय ग्रन्थ मानते हुए उन्हें अपने सिद्धान्तों का आधार बनाया। 'सत्यार्थ प्रकाश' में जहाँ धार्मिक सिद्धान्तों का, अथवा मूल वैदिक धर्म का, पुनराख्यान है, वहाँ समाज-व्यवस्था एवं राज्य-व्यवस्था की पूर्ण रूपरेखा देने का प्रयत्न भी है। स्वामी जी स्त्री-शिक्षा के प्रबल समर्थक थे, वे संस्कृत भाषा की शिक्षा और प्रचार को विशेष महत्त्व देते थे। सबसे बड़ी बात यह है कि वे जन्मना जातिवाद के विरुद्ध थे, वे गुण-कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था के पक्षधर थे।

स्वामी दयानंद द्वारा स्थापित आर्यसमाज क्रमशः एक प्रभावशाली धार्मिक संप्रदाय बन गया जिसने उत्तर भारत के जीवन को विशेष प्रभावित किया। उनके द्वारा वेदों की श्रुति ग्रन्थों के रूप में स्वीकृति ने उन्हें हिन्दू धर्म की मुख्य धारा से जोड़ने का काम किया, यद्यपि स्वामी जी पौराणिक हिन्दू धर्म के प्रखर आलोचक थे। चलते-चलते हम यहाँ स्वामी दयानंद के सिद्धान्तों और उपदेशों पर तनिक विस्तृत दृष्टि डाल लें। जहाँ तक स्वामी जी की दार्शनिक मान्यताओं का सवाल है वे न्याय-वैशेषिक एवं सांख्य की भाँति वस्तुवादी थे—वे बाह्य विश्व की यथार्थता के पक्षधर थे, और मायावाद के विरोधी। उनकी मोक्ष की अवधारणा प्रचलित पुराने मतों से कुछ भिन्न थी। वे मानते थे कि मुक्ति की लम्बी अवधि में आनन्द का उपभोग करके जीव फिर जन्म लेता है। यह सिद्धान्त हिन्दू धर्म में एक नये तत्त्व का समावेश करता है। उपनिषदों को अपेक्षाकृत कम महत्त्व देते हुए और वैदिक संहिताओं को धर्म का मूल मानते हुए स्वामी जी ने ज्ञान मार्ग की अपेक्षा गृहस्थ जीवन तथा लोक-हित में कर्म करने पर ज्यादा जोर दिया। जहाँ ब्रह्मसमाजी व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति पर विशेष गौरव देते थे, जहाँ स्वामी दयानंद ने 'मनुस्मृति' जैसे ग्रन्थ के आलोक में समाज-व्यवस्था एवं राज्य-व्यवस्था के पुनर्निर्माण पर भी जोर दिया। स्वामी जी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्होंने वेदों की नई युगोचित व्याख्या करने का प्रयत्न भी किया। वे वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते थे, जो ईश्वर द्वारा शुरूसृष्टि में ही ऋषियों को दिया गया। राजा राममोहन राय आदि-ब्राह्म नेताओं ने अंग्रेजी भाषा और विज्ञान की शिक्षा को विशेष महत्त्व दिया, इसके विपरीत स्वामी जी ने संस्कृत ज्ञान पर बल दिया और गुरुकुलों की स्थापना द्वारा प्राचीन शिक्षा-पद्धति के प्रचार की सिफारिश की। वे बाल विवाह के कट्टर विरोधी, शिक्षाकाल में ब्रह्मचर्य के प्रबल समर्थक होने के साथ-साथ इस क्रांतिकारी विचारधारा के

प्रचारक बने कि वेदों को पढ़ने का अधिकार मनुष्य मात्र को है—स्त्रियों को भी और शूद्रों को भी। स्वामी जी विधवा-विवाह के पक्ष में नहीं थे, इसके विपरीत वे प्राचीन नियोग-प्रथा के समर्थक थे। स्मरणीय है कि महर्षि व्यास ने नियोग-विधि द्वारा कौरव-पांडवों के पूर्वजों को उत्पन्न किया था।

प्रार्थना समाज

ब्रह्मसमाज के आदर्शों से प्रभावित महाराष्ट्र के कुछ विचारक-नेताओं ने, जिनमें महादेव गोविन्द रानाडे (1842-1901) तथा आर० जी० भण्डारकर (1837-1927) प्रमुख थे, **प्रार्थना समाज** की स्थापना की। रानाडे अर्थशास्त्री, इतिहासकार, समाज सुधारक एवं शिक्षाविद् थे, वे बम्बई में जज भी रहे। प्रार्थना समाज ने एकान्त चिन्तन-मनन के बदले सामाजिक क्रियाशीलता पर बल दिया। उक्त समाज अपने को हिन्दू धर्म का अंग समझता रहा। समाज के प्रमुख लक्ष्य थे—(1) जाति प्रथा का उन्मूलन, (2) विधवा विवाह का प्रचार, (3) स्त्री शिक्षा का प्रोत्साहन तथा (4) बाल विवाह की प्रथा का उन्मूलन। प्रार्थना समाज धार्मिक सुधार को समाज सुधार का आधार बनाना चाहता था। उन्होंने एकेश्वरवाद तथा एक ईश्वर की शुद्ध पूजा पर बल दिया।

एनी बेसेन्ट

इसी क्रम में भारतीय पुनर्जागरण को गति देने वाली एक और हस्ती का नाम उल्लेखनीय है। डॉ० एनी बेसेन्ट (1847-1933) आयरलैण्ड में पैदा हुई विदेशी महिला थीं, किन्तु उन्हें भारतीय संस्कृति में गहरा अनुराग था। शुरू में वे संशयवाद अथवा अज्ञेयवाद (एग्नॉस्टिसिज्म) के प्रभाव में थीं, किन्तु बाद में प्रसिद्ध श्रीमती ब्लेवात्स्की (1831-1891) के सम्पर्क से वे थियोसाफी की अनुगामिनी एवं प्रचारक बन गयीं। ध्यातव्य है कि थियोसॉफी की विचारधारा के अन्तर्गत भी भारतीय धार्मिक-आध्यात्मिक संस्कृति का विशेष महत्त्व स्वीकार किया जाता है। एनी बेसेन्ट, छियालीस वर्ष की अवस्था में, सन् 1893 में भारत आयीं तथा इस देश के सामाजिक-धार्मिक सुधार के आन्दोलन से जुड़ गयीं। सन् 1898 में उन्होंने बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना की, जो बाद में महामना मदनमोहन मालवीय (1861-1946) के प्रयत्न से वर्तमान हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ। एनी बेसेन्ट ने भारतीय धर्म तथा संस्कृति से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें लिखीं जिनमें प्रमुख हैं : 'हिन्दू आइडियल्स', 'कर्म', 'एन इन्ट्रोडक्शन टु योग', 'दी इण्डिया दैट शैल बी' आदि। उनकी एक पुस्तक बौद्ध धर्म पर भी है।

थियोसॉफी के प्रभाव में श्रीमती बेसेन्ट इतिहास की एक विशिष्ट व्याख्या की समर्थक थीं, किन्तु उनके तत्सम्बन्धी विचार हमारे लिए प्रासंगिक नहीं हैं। उनका यह विश्वास है कि भारतीय राष्ट्रीयता का आधार धर्म होना चाहिए, तत्कालीन दूसरी विचारधाराओं के अनुरूप ही था। सन् 1916 में उन्होंने 'होम रूल लीग' की स्थापना की। उनका विशेष प्रभाव 1913-1919 के वर्षों में रहा। किन्तु बाद में, भारतीय राजनीति के मंच पर गांधीजी के प्रवेश के बाद, उनका प्रभाव क्रमशः लुप्त हो गया। वे भारत के लिये उपनिवेश पद की समर्थक थीं, कुछ कुछ कनाडा की भाँति। भारतीय पुनर्जागरण में उनका मुख्य योगदान उन पश्चिमी विद्वानों के योगदान का अगला चरण था, जिन्होंने भारतीय संस्कृति और साहित्य का अनुशीलन एवं प्रशस्ति प्रस्तुत की। डॉ० एनी बेसेन्ट का डॉ० भगवानदास तथा जद्दू कृष्णमूर्ति से घना सम्बन्ध रहा।

ऊपर के विवरण से यह जाहिर है कि भारतीय पुनर्जागरण के प्रारम्भिक चरण में मुख्यतः भारत की प्राचीन संस्कृति के अन्वेषण, व्याख्या एवं युगोचित सुधारों के साथ स्वायत्तीकरण के प्रयत्न हुए। इस क्रम में जहाँ ब्रह्म समाज और आर्य समाज के नेताओं ने क्रमशः उपनिषदों तथा वेदों पर अधिक बल दिया, वहाँ बाद में राजनीतिक नेताओं ने भगवद्गीता की प्रेरक व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। इन नेता विद्वानों में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक (1856-1920) का नाम प्रथम उल्लेखनीय है। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गीता रहस्य' में भगवद्गीता की कर्म-परक व्याख्या की गई है, जो भारतवासियों को स्वतंत्रता-संग्राम की प्रेरणा देने वाली सिद्ध हुई। 'गीता रहस्य' में उक्त धर्म ग्रन्थ की शंकराचार्य द्वारा की गई ज्ञानपरक व्याख्या का युक्तिपूर्वक खण्डन किया गया है। तिलक के पश्चात् महात्मा गांधी (1869-1948) ने गीता की व्याख्या के रूप में 'अनासक्ति योग' लिखा, जिसमें भगवद्गीता को मूलतः अहिंसा का समर्थक धर्मग्रन्थ बताया गया है। स्मरणीय है कि तिलक से पहले स्वामी विवेकानन्द ने, और उनके बाद श्री अरविन्द ने, गीता दर्शन को अधिक व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया।

अन्य शिक्षक और विचारक

जैसा कि हमने संकेत किया उक्त नेताओं से पूर्व प्रसिद्ध रामकृष्ण परमहंस (1836-1886) के सुयोग्य शिष्य स्वामी विवेकानन्द (1863-1902) ने अद्वैत-वेदान्त को व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया था। उन्होंने विदेशों में जाकर भी वेदान्त का प्रचार किया। उनके बारे में पाठक आगे पढ़ेंगे। देखने की बात यह है कि अपने देश में धर्म-शिक्षकों के रूप में प्रायः त्यागी संन्यासी ही विशेष मान्यता पा सके हैं। इस

दृष्टि से रामकृष्ण परमहंस, दयानन्द सरस्वती एवं विवेकानन्द भारतीय जनता के जीवन एवं विचारों पर अधिक प्रभाव डाल सके।

भारतीय संस्कृति में धर्म-अध्यात्म और दर्शन के बीच निकट सम्बन्ध रहा है, फिर भी दोनों में कुछ अन्तर है। दर्शन तर्क प्रधान होता है और उसका हृदय ज्ञान मीमांसा एवं प्रमाण मीमांसा है, धर्म-अध्यात्म में पूजा-उपासना के मार्ग अधिक महत्त्व रखते हैं। स्वामी दयानन्द प्रखर बुद्धिवादी थे, और साथ ही योगी भी थे, पर उन्होंने जनहित में योग मार्ग पर विशेष बल नहीं दिया। उनके जीवन-दर्शन का मुख्य लक्ष्य भारतीय समाज का पुनर्गठन और उद्धार था। विशेषतः ईसाइयों के आक्रामक धर्म-प्रचार और धर्म-परिवर्तन से आक्रान्त हिन्दू जाति को उन्होंने नया आत्म-विश्वास दिया, साथ ही उन्होंने यह प्रेरणा भी दी कि अहिन्दुओं को शुद्धि द्वारा हिन्दू बना लिया जाये। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने इस तरह की कोई सीख अपने अनुयायियों को नहीं दी। हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्षधर महात्मा गांधी भी धर्म-परिवर्तन करने-कराने के विरोधी थे। रामकृष्ण-विवेकानन्द की शिक्षाओं के प्रचार के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की गयी, जो जनकल्याण और जनसेवा के कार्यों का माध्यम बना। किन्तु आर्य समाज ने अनेक सुधार-कार्यों के साथ-साथ हिन्दू जाति को संगठित एवं आत्म-गौरव की भावना से सम्पन्न तथा आग्रही बनने की प्रेरणा भी दी। इस दिशा में विवेकानन्द के उपदेशों ने भी सूक्ष्म रूप में योगदान दिया। वेदान्त के महत्त्व की घोषणा प्रकारान्तर से हिन्दू जाति के स्वाभिमान को पुष्ट करने वाली थी। स्वामी विवेकानन्द का यह भी विश्वास था कि हिन्दू जाति तथा भारतीय समाज का उद्धार धर्म-अध्यात्म की सही समझ एवं तदनुकूल आचरण द्वारा ही हो सकता है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि भारतीय अथवा हिन्दू पुनर्जागरण का पहला चरण मुख्यतया प्राचीन वेदान्त के वास्तविक रूप के अन्वेषण और उस अन्वेषित विशुद्ध वेदान्त के प्रचार में पर्यवसित हुआ। ब्रह्म समाज के नेताओं ने समाज-सुधार पर जोर दिया था, किन्तु विवेकानन्द ने उस ओर सीमित ध्यान ही दिया। उक्त शिक्षकों में स्वामी दयानन्द ने ही, मनु के धर्मशास्त्र के आलोक में, रचनात्मक स्तर पर समाज के पुनर्गठन पर बल दिया। ऐसा ही रचनात्मक गौरव डॉ० भगवानदास के लेखन में भी पाया जाता है। यों भगवानदास भी उपनिषदों की आत्म-विद्या के प्रेमी और प्रचारक थे। किन्तु उनमें समाज के नैतिक पुनर्गठन का आग्रह भी सुस्पष्ट है, बाद में यह आग्रह गांधी जी के नैतिक-सामाजिक दर्शन में महत्त्वपूर्ण बना। द्रष्टव्य है कि जहाँ भगवान-दास मुख्यतः लेखक-विचारक थे, वहाँ तिलक और गांधी प्रभावशाली राजनीतिक नेता भी थे।

दर्शन के निजी, तर्क प्रधान रूपों के अन्वेषण एवं पुनराख्यान का कार्य उक्त नेताओं तथा शिक्षकों के कार्यकाल के बाद, और बीसवीं शती के दूसरे-तीसरे दशकों में धर्म-अध्यात्म की नई व्याख्याओं के समानान्तर भी, अग्रसर हुआ। डॉ० राधाकृष्णन् ने जहाँ एक ओर भारतीय दर्शन का इतिहास लिखा, वहाँ दूसरी ओर हिन्दू धर्म को पुनर्व्याख्यायित भी किया। डॉ० भगवानदास ने विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अनुशीलन का श्रीगणेश करते हुए विभिन्न धर्मों की आन्तरिक एकता पर बल दिया। धर्म और धर्मों के प्रति ऐसा ही मनोभाव गांधी जी का भी रहा। इसके विपरीत डॉ० दासगुप्त, जिन्होंने पाँच जिल्दों में भारतीय दर्शन का इतिहास लिखा और डॉ० कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, जिन्होंने सांख्य-वेदान्त की नई व्याख्या देने के साथ-साथ अपना चिन्तन प्रस्तुत करने का भी प्रयत्न किया, अपेक्षाकृत विशुद्धतर दार्शनिक थे। कुछ काल बाद महापण्डित राहुल सांकृत्यायन आदि के प्रयत्नों से भारतीय विद्वानों की रुचि बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों की ओर उन्मुख हुई, जैन दर्शन में भी विद्वानों की रुचि बढ़ी। मुख्य बात यह है कि बीसवीं शती के दूसरे चरण के आते-आते भारत के दार्शनिक विद्वान् स्वदेश के दर्शनों के प्रमाणशास्त्रीय एवं ज्ञानमीमांसा से सम्बन्धित पक्षों पर अधिक ध्यान देने लगे। इस दृष्टि से पूर्वकालिक नेता-शिक्षकों में श्री अरविन्द ही एकमात्र ऐसे विचारक बने जिन्होंने एक सम्पूर्ण दर्शन की रचना का प्रयत्न किया।

पाश्चात्य शोधी विद्वानों और चिंतकों का प्रभाव

भारतीय पुनर्जागरण के प्रसंग में यह उल्लेख आवश्यक है कि उसके आगमन एवं दिशा-निर्धारण में भारतीय तथा अन्य पूर्वी विचार-परम्पराओं का वैज्ञानिक अनुशीलन करने वाले पश्चिमी विद्वानों का निश्चित हाथ था। निश्चय ही भारत का सांस्कृतिक अतीत, उसकी धर्म-अध्यात्म और दार्शनिक चिन्तन-परम्परा, बड़ी समृद्ध एवं गौरवशाली रही है; किन्तु पराधीन स्वदेश के विद्वानों को भी इसकी विकसित चेतना और जानकारी नहीं थी। यह इतिहास की विडम्बना ही कही जाएगी कि हमें अपने सांस्कृतिक अतीत के महत्व की चेतना—और यह चेतना या अवगति प्रायः कई परम्पराओं की तुलना-मूलक जानकारी से आती है—उन यूरोपीय विद्वानों की शोधों और चर्चाओं से मिली जो गम्भीरतापूर्वक भारत के दार्शनिक-आध्यात्मिक तथा ललित साहित्य का अनुशीलन करने लगे थे। इन पश्चिमी विद्वानों में कुछ ने वैदिक साहित्य का, दूसरों ने दर्शनों का तथा अन्य विद्वानों ने क्लासिकी संस्कृत के मुख्यतः काव्यग्रन्थों का अध्ययन-अनुशीलन शुरू कर दिया था। कुछ विद्वानों ने संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद भी प्रस्तुत किये। ऐसे ही कई पाश्चात्य विद्वानों ने बौद्ध धर्म के पालि त्रिपिटक आदि ग्रन्थों का अनुशीलन और बौद्ध धर्म की व्याख्या के प्रयत्न किये।

बहुत पहले शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह ने कुछ उपनिषदों का फारसी में अनुवाद कराया था, इस अनुवाद का इटली की भाषा लेटिन में, 19वीं शती के शुरू में, रूपान्तर किया गया। जर्मन दार्शनिक शॉपेनहावर ने उपनिषदों के उक्त लेटिन अनुवाद को पढ़कर कहा कि उपनिषद् मानवीय विवेक बुद्धि की सर्वोत्तम कृतियाँ हैं। ज्ञातव्य है कि भारतवर्ष में उन्हीं दिनों राजा राममोहन राय उपनिषदों का महत्त्वख्यापन एवं प्रचार कर रहे थे।

भारतीय साहित्य के पश्चिमी विद्वानों द्वारा आधुनिक अनुशीलन का प्रारम्भ कतिपय अधिक प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद के साथ हुआ। सन् 1772 में वारेन-हेस्टिंग्ज बंगाल का गवर्नर नियुक्त हुआ। उसके प्रोत्साहन से संस्कृत ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवाद का क्रम शुरू हुआ। सन् 1784 में चार्ल्स विल्कन्स (1749-1836) ने भगवद्गीता का अनुवाद प्रकाशित किया, सन् 1767 में उसी विद्वान् ने 'हितोपदेश' का अनुवाद प्रस्तुत किया। सन् 1789 में विलियम जोन्स (1746-1794) ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अनुवाद प्रकाशित किया, सन् 1792 में 'गीतगोविन्द' का; उसका मनुस्मृति का अनुवाद उसके मरणोपरान्त 1804 में प्रकाशित हुआ। इन विद्वानों के बाद आने वाले संस्कृतज्ञों में, जिनका कार्यक्षेत्र कलकत्ता बना, हेनरी टॉमस कोलब्रुक (1765-1837) और एच० एच० विल्सन (1789-1860) उल्लेखनीय हैं। कोलब्रुक ने 1805 में 'आन द वेदाज' शीर्षक से प्रसिद्ध निबन्ध लिखा, उसने 'अमरकोश' तथा अन्य कई कोशों एवं पाणिनीय व्याकरण का सम्पादन किया। उक्त विद्वान् ने 'सांख्यकारिका' का तथा विल्सन ने कारिकाओं के गौड़पादकृत भाष्य का अनुवाद प्रकाशित किया। इसके बाद संस्कृत ग्रन्थों का विशेषतः वैदिक वाङ्मय का विशेष अनुशीलन जर्मनी में शुरू हुआ। इस क्षेत्र में प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक (और कवि) फ्रेडरिक वान श्लेगेल (1772-1829), फ्रेंच विद्वान् प्रो० ई० बर्नोफ (जिसने भारतीय बौद्ध धर्म का पहला इतिहास लिखा), उसके जर्मन शिष्य रुडॉल्फ रॉथ (1821-95) तथा एफ० मैक्सम्यूलर जिन्होंने वैदिक वाङ्मय के सम्पादन आदि का कार्य किया, प्रसिद्ध हैं। राथ तथा ओटो बोइट्लिंक ने संस्कृत-जर्मन महाकोश (सेन्ट पीटर्सबर्ग लेक्सिकन) का प्रकाशन 1852-75 में किया। मोनियर विलियम्स (1819-1899) का 'संस्कृत-अंग्रेजी कोश' भी प्रसिद्ध है।

उक्त पथ-प्रदर्शक शोधी विद्वानों के बाद इङ्गलैण्ड, फ्रांस तथा रूस के भी अनेक पंडितों ने वैदिक साहित्य, बौद्ध धार्मिक वाङ्मय तथा क्लासिकल संस्कृत साहित्य पर विस्तृत कार्य किया और करते रहे। मोनियर विलियम्स का उल्लेख ऊपर हो चुका है। बौद्ध विद्या के क्षेत्र में टी० डब्लू० राइज़ डेविड्स (1843-1922), जिन्होंने

पालिटेक्स्ट सोसाइटी की स्थापना सन् 1881 में की, उनकी पत्नी सी० ए० एफ० राइज डेविड्स (1858-1942), फ्रांस के सिल्वांलेवी तथा लुई बली पूसां (1869-1939) के नाम उल्लेखनीय हैं। उन्नीसवीं शती ने भी दर्शन से अधिक महत्त्वपूर्ण प्राच्य-विद्या-विशारद यूरोप के विभिन्न देशों ने उत्पन्न किये। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उक्त शती में संस्कृत साहित्य के कई महत्वपूर्ण इतिहास लिखे गये, जैसे मैक्डॉनेल, कीथ और विन्टरनित्ज के; रूसी पण्डित शेरवात्सकी ने बौद्ध तर्कशास्त्र पर तथा हीनयान एवं महायान के सिद्धान्तों से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का प्रणयन किया। कीथ ने जहाँ एक ओर वेदों तथा उपनिषदों के धर्म तथा दर्शन पर दो भागों में विशाल ग्रन्थ लिखा, वहाँ वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा तथा बौद्ध दर्शन पर भी पुस्तकें लिखीं। ध्यातव्य है कि स्वयं भारत वर्ष में धर्मग्रन्थों से भिन्न शास्त्रीय दार्शनिक कृतियों का अनुशीलन उक्त पश्चिमी विद्वानों की कृतियों के बाद शुरू हुआ। इस अनुशीलन का प्रारम्भ डॉ० राधाकृष्णन्, डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त तथा एम० हिरियन्ना के भारतीय दर्शन के इतिहासों के प्रकाशन के साथ हुआ।

शॉपेन हावर के अलावा ऊपर चर्चित अनेक पश्चिमी विद्वानों ने हिन्दू धर्म-अध्यात्म, दर्शन तथा संस्कृति की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। सर विलियम जोन्स ने संस्कृत भाषा की प्रशंसा करते हुए उसकी आश्चर्यजनक बनावट को सराहा और उसे 'यूनानी भाषा से अधिक पूर्ण तथा लेटिन से अधिक समृद्ध' घोषित किया। तुलनात्मक भाषा विज्ञान के विद्वानों ने उक्त शास्त्र के अनुशीलन के लिए संस्कृत की अनिवार्यता स्वीकार की। मैक्समूलर ने 'इण्डिया, वह हमें क्या सिखा सकती है?' पुस्तक में भारतीय दर्शन एवं धर्म-अध्यात्म की प्रशस्ति लिखी, और कीथ के गुरु आर्थर ए० मैक्डानेल ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास के प्रारम्भिक पैराग्राफ में निम्न सम्मति प्रकट की : 'रैनेसां' (यूरोपीय पुनर्जागृति) के बाद विश्व संस्कृति के इतिहास में कोई इतनी महत्त्वपूर्ण घटना नहीं हुई जैसी कि अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में संस्कृत साहित्य का अन्वेषण और परिचय।

यूरोपीय पुनर्जागृति : भारतीय पुनर्जागरण से तुलना

मैक्डॉनेल के वक्तव्य का महत्त्व समझने के लिये हम अपने पाठकों को यूरोपीय पुनर्जागृति के कुछ तथ्यों से अवगत कराना चाहेंगे। इतिहासकारों के अनुसार यूरोपीय पुनर्जागृति का प्रारम्भ सन् 1453 ई० से माना जाता है जब कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों का अधिकार हो जाने के कारण वहाँ से अधिकांश यूनानी साहित्य के विद्वान् भागकर इटली पहुँचे और वहाँ बस गये। इन विद्वानों के सम्पर्क से यूरोप के मस्तिष्क ने यूनान के

वैचारिक वाङ्मय एवं साहित्य से, अर्थात् तत्सम्बन्धी मूलग्रन्थों से, अपेक्षाकृत अधिक सीधा परिचय प्राप्त किया। इसके फलस्वरूप यूनानी वाङ्मय के अध्ययन-अध्यापन का नया दौर शुरू हुआ। यूनानी साहित्य के निकट सम्पर्क से लोगों के मन में मनुष्य के महत्त्व की नई चेतना जागृत हुई, और इह लोक के कार्य-कलापों तथा व्यापारों में रुचि बढ़ी। इसका एक पक्ष मध्ययुगीन मूल्यों के प्रति निषेध या तिरस्कार की भावना का प्रसार था। ईसाई धर्म की एक मान्यता यह रही है कि मनुष्य अपने आदि पुरखा या पिता आदम के उस अपराध या पाप से अनुविद्ध है, जो उसने ईश्वरीय आज्ञा का तिरस्कार करते हुए ज्ञान-वृक्ष का फल खाकर अर्जित किया। पुनर्जागृति ने अनेक मध्ययुगीन मूल्यों का परित्याग किया और उसके विरुद्ध धरती के जीवन तथा मानव व्यक्तित्व को महत्त्व देना सीखा। ईसाई धर्म अब तक यह सिखाता रहा था कि मनुष्य (बंदा) कुछ नहीं है और अपने कल्याण के लिए उसे ईश्वर पर निर्भर करना चाहिए, जो मनुष्य से सर्वथा भिन्न और ऊँची सत्ता है। उस सत्ता के निर्देशों की व्याख्या करना ईसाई चर्च का अधिकार है। पुनर्जागृति ने मध्य-युग की शिक्षाओं के सामने प्रश्नचिह्न लगाया और मनुष्य में आत्म-गौरव की भावना जगायी। अपनी बुद्धि में विश्वास करते हुए यूरोप का मानस क्रमशः आधुनिक युग की ओर अग्रसर हुआ। आधुनिक युग की ओर उन्मुखता का एक रूप था मानव-व्यक्तित्व का महत्त्व-स्थापन और व्यक्तिवाद की ओर संक्रमण। सौभाग्यवश इसी अवधि में कई नये आविष्कार किये गये, जैसे कुतुबनुमा का ज्ञान जिसने समुद्र की लम्बी यात्राओं को सम्भव बनाया। क्रिस्टोफर कोलम्बस (1451-1506) ने सन् 1492 में अमेरिका का पता लगाया। इसी कालावधि में मुद्रण कला का आविष्कार हुआ जिसने पठन-पाठन को नयी गति और प्रेरणा दी। कोपरनिकस (1473-1543) का यह क्रांतिकारी सिद्धान्त कि धरती सूर्य के चारों ओर घूमती है, न कि सूर्य धरती के, पुनर्जागृति काल की ही देन था। इटली में उक्त अवधि में विशेषतः चित्रकला के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई और माइकेल एन्जेलो (1475-1564) तथा लियोनार्डो विंची (1452-1519) जैसी प्रतिमाएँ उत्पन्न हुईं।

इसी क्रम में यूरोप के एक अन्य आन्दोलन का उल्लेख जरूरी है जिसे सुधार युग (रिफार्मेशन) कहते हैं। यह आन्दोलन भी व्यक्तिवाद का पोषक था। उसके नेताओं में मार्टिन लूथर (1483-1546) तथा जॉन काल्विन (1500-1564) प्रधान थे। लूथर ने इस बात पर विशेष बल दिया कि ईश्वरीय ग्रन्थ बाइबिल और उसके अध्येता व्यक्ति के बीच में आने का कोई अधिकार चर्च को नहीं है। स्मरणीय है कि स्वदेश में स्वामी दयानंद ने यह विचार दिया कि वेद पढ़ने का अधिकार विश्व के मनुष्यमात्र को है, स्त्रियों और शूद्रों को भी। दूसरी *ध्यातव्य बात यह है कि यूरोपीय पुनर्जागृति और*

सुधार-आन्दोलन के साथ और उसके बाद यूरोपीय मानस विज्ञान के विविध क्षेत्रों में क्रमशः आगे बढ़ता गया।

अब हम भारतीय पुनर्जागरण की ओर लौटें। पश्चिमी विद्वानों की शोधों एवं प्रशस्तियों से प्रभावित भारत के बुद्धिजीवियों ने स्वयं अपने अतीत सांस्कृतिक वैभव से परिचित होने की प्रेरणा प्राप्त की। वास्तव में हमारा प्राचीन वाङ्मय जो संस्कृत तथा पालि-प्राकृत में भी उपनिबद्ध है, इतना विविध और विस्तृत है कि हम अभी तक उसके अन्वेषण एवं अनुशीलन तथा पुनराख्यान के कार्य में संलग्न रहे हैं। भारतीय वेदान्त जो आत्मा और परमात्मा की एकता अथवा निकटता पर बल देता है, ईसाई धर्म की तुलना में व्यक्तिवाद और मानववाद को पुष्ट करने वाला है। द्रष्टव्य है कि धार्मिक-आध्यात्मिक व्यक्तिवाद आधुनिक जनतंत्री भावना के भी निकट है। चूँकि हमारा देश इधर परतंत्र था, इसलिए यहाँ विज्ञान के बदले राष्ट्रीय भावना एवं स्वतंत्रता-संग्राम की शक्तियों ने जोर पकड़ा। देखने की बात यह है कि यहाँ यूरोप की भाँति वैज्ञानिक सिद्धान्तों तथा मनोवृत्ति की प्रगति नहीं हुई और वे तकनीकें भी आविष्कृत नहीं की गईं जिन्होंने पश्चिम के देशों में औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया। वास्तव में जहाँ हमने अपने स्वतंत्रता-संग्राम में पश्चिम की (फ्रांस तथा रूस में घटित) क्रांतियों से प्रेरणा ली, वहाँ उनके विज्ञान एवं तकनीक का प्रभाव काफी देर से ग्रहण किया। हम कहना चाह रहे हैं कि हमारा जनतंत्र, औद्योगीकरण तथा वैज्ञानिक शिक्षा एवं अनुशीलन बहुत कुछ पश्चिम से आयातित है, वे अभी तक भी हमारी देश की धरती में गहरी जड़ें नहीं पकड़ सके हैं। इस दृष्टि से हमारा बौद्धिक इतिहास यूरोप के पुनर्जागृति तथा सुधार-युग के बाद के सर्वतोमुखी बौद्धिक इतिहास से हीनतर रहा है। विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण देन है—किसी विश्वास या सिद्धान्त को ग्रहण करने से पूर्व उसके पोषक साक्ष्य की गहरी छान-बीन करना। इस तरह की छानबीन अभी तक हमारे चिन्तक स्वभाव का उचित अंग नहीं बन पाई है। यही कारण है कि हमारे ख्यात रचनात्मक विचारक श्री अरविन्द का, और डॉ० राधाकृष्णन् का दर्शन् भी, आधुनिक यूरोपीय दर्शन से सुपरिचित नयी पीढ़ी के विद्यार्थियों तथा शिक्षकों को विशेष रुचिकर एवं ग्राह्य नहीं जान पड़ते। वास्तव में उक्त दोनों विचारकों की चिन्तन-पद्धतियों में उस प्रखर समीक्षात्मक चेतना का अभाव है, जो तर्कनिष्ठ अनुभववाद (लॉजिकल एम्पीरिसिज्म या पाजिटिविज्म) के आन्दोलन के बाद यूरोप के प्रायः सभी ज्ञान क्षेत्रों में उगी और प्रसरित हुई है।

(ख) आधुनिक भारतीय दर्शन : प्रमुख विचारक

डॉ० भगवान दास

कालक्रम में स्वामी दयानन्द सरस्वती के बाद रामकृष्ण परमहंस तथा उनके

विश्व-प्रसिद्ध शिष्य स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व एवं उपदेशों तथा विचारों का उल्लेख होना चाहिए, किन्तु पुनर्जागरण के विवरण के सिलसिले में ऊपर श्रीमती एनीबेसेन्ट का जिक्र आया, इसलिए उनके साथ जुड़े हुए डा० भगवानदास (1869-1959) का संक्षिप्त परिचय पहले दे देना उचित होगा। जैसा कि हमने संकेत किया गाँधीजी के भारत-आगमन के साथ ही श्रीमती बेसेन्ट का प्रभाव क्रमशः कम होता गया। इसका मुख्य कारण यह था कि श्रीमती बेसेन्ट भारत पर ब्रिटेन के प्रभुत्व एवं शासन की विरोधी न होकर समर्थक थीं। वे गाँधीजी के सत्याग्रह-आंदोलन के पक्ष में न थीं। वे चाहती थीं कि भारतवर्ष कनाडा की भाँति ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत उपनिवेश की हैसियत से उक्त साम्राज्य से सम्बद्ध रहे। वे यह नहीं चाहती थीं कि भारत व ब्रिटेन के बीच किसी तरह का संघर्ष छिड़े और चले। फलतः वे वैसे संघर्ष की भूमिका में देशवासियों के क्रमशः जोर पकड़ते हुए देशानुराग के प्रवाह के साथ नहीं जुड़ सकीं। डॉ० भगवानदास से उनके सम्बन्ध कुछ समय तक निकट रहे जिसका प्रमुख कारण दोनों की थियोसॉफी की विचारभूमि में संसक्ति थी, किन्तु जब श्रीमती बेसेन्ट ने जे० कृष्णमूर्ति को कृष्ण का अवतार बनाने की कोशिश की तो डॉ० भगवानदास उनके प्रति विरत हो गये।

डॉ० भगवानदास के पूर्वगामी स्वामी विवेकानन्द तथा लोकमान्य तिलक (1856-1920) ने क्रमशः अद्वैतवेदान्त की तथा भगवद्गीता की किंचित् नई, कर्मयोग पर गौरव देने वाली व्याख्या प्रस्तुत की थी। उनसे कुछ भिन्न विचारधारा रखने वाले डॉ० भगवानदास अद्वैतवेदान्त के मायावाद को स्वीकार नहीं करते, अपने समाज-दर्शन में वे गीता की अपेक्षा मनु की स्मृति को अधिक महत्त्व देते हैं। स्वामी दयानन्द की भाँति उन्होंने राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी विचार प्रकट किये। जहाँ तक उनकी तत्त्व-मीमांसा का प्रश्न है, वे थियोसॉफी से भी प्रभावित हुए। उस प्रभाव के तहत उन्होंने उपनिषदों के एकत्ववाद या अद्वैत की भी नवीन व्याख्या देने का प्रयत्न किया।

जैसा कि हमने संकेत किया भगवानदास शंकर के मायावाद अथवा जगत् के मिथ्यात्व का समर्थन नहीं करते। 'कन्टेम्पोरेरी इंडियन फिलॉसफी' (1936) में समाविष्ट निबंध में उन्होंने अपनी प्रमुख मान्यताओं का उल्लेख (पृष्ठ 141 पर) इस प्रकार किया है : (1) उन्हें यह विश्वास था कि विभिन्न व्यक्तियों या जीवों में उपस्थित आत्माओं की संख्या अनन्त है; (2) इन आत्माओं के अनेक जन्म होते हैं, उनका विकास या ऊर्ध्वगति तथा अधोगति भी होती है। इस प्रक्रिया में वे विविध भौतिक देहों और अनुभवों से सम्बद्ध होते हैं। (3) ऊर्ध्वमुख विकास एवं अधोमुखी गति दोनों का चक्र चलता रहता है। (4) एक परिवर्तनहीन, देश-काल से परे विश्वात्मा है जिसके भीतर समस्त विश्व समाया हुआ है और जो सर्वव्यापी, पूर्ण तत्त्व है। अनन्त, व्यक्तिरूप

आत्माएँ उसी में समाहित हैं। ये आत्माएँ और समस्त भौतिक विश्व उसकी संकल्पनात्मक ज्ञान-प्रक्रिया (Ideation) के अंगभूत हैं—जैसे स्वप्न-जगत् हमारी वैसी प्रक्रिया का अंग होता है।

उपनिषदों में एकात्मक चरम तत्त्व ब्रह्म को नेति-नेति कहकर वर्णित किया गया है। भगवानदास उक्त वर्णन को संशोधित रूप में प्रस्तुत करते हैं। जर्मन दार्शनिक हीगल ने कहा था : अविशेषित सत् असत् या न-कुछ (नथिंग्) रूप है। भगवानदास की सम्मति में उक्त अभिव्यंना से निम्न अभिव्यंजनाएँ उत्तरोत्तर अधिक संतोषप्रद हैं : बीइंग् (सत्) असत् (नान्-बीइंग्) नहीं है; अथवा वस्तु-विशेष नहीं है; अथवा आत्मा अनात्मा नहीं है; उससे बढ़कर, अहम् अनहम् नहीं है; उससे भी अच्छा, मैं न-मैं नहीं हूँ; उससे भी श्रेष्ठतर व्यंजना होगी, मैं इदं-भिन्न हूँ। इसी को संस्कृत में कहेंगे : अहम्-एतत्-न। भगवानदास के अनुसार यही परमार्थ दृष्टि है। वे उक्त सूत्र-रूप व्यंजना को 'लोजिअन' कहते हैं (पृष्ठ 147)।

स्थूल रूप में कहा जा सकता है कि वे उपनिषदों के इस मन्तव्य से सहमत हैं कि एक आत्मा अपने को अनेकात्मक विश्व में प्रकाशित करता है। इस प्रश्न के उत्तर में कि इस आत्मप्रकाशन के व्यापार का प्रयोजन क्या है, भगवानदास 'ब्रह्मसूत्र' की परम्परा में लीलावाद का आश्रय लेते हैं।

भगवानदास के तत्त्वमीमांसा-सम्बन्धी विचारों के महत्त्व के बारे में संदेह किया जा सकता है। उनके विविध ग्रन्थों से यह पता चलता है कि वे पूर्व और पश्चिम के प्रत्ययवादी विचारकों—विभिन्न वेदांतीय सम्प्रदायों, प्लेटो, हीगल आदि—से सुपरिचित थे। यही बात श्री अरविन्द पर लागू होती है। किन्तु ये दोनों विचारक पश्चिम जगत् में बीसवीं शती के तीसरे-चौथे दशकों में जोरशोर से चले तर्कनिष्ठ अनुभववाद या भाववाद (लॉजिकल एम्पीरिसिज्म या पाज़िटिविज़्म) से, जिसने तत्त्वमीमांसा नाम की दर्शन की शाखा के महत्त्व अथवा प्रामाण्य को लेकर बृहत् प्रश्न-चिह्न लगाया, थोड़ा-बहुत भी परिचित थे, इसका कोई प्रमाण उनकी कृतियों में नहीं मिलता। इसीलिए इन दोनों विचारकों का ज्ञान मीमांसा का पक्ष पुष्ट नहीं बन पड़ा है और यही उनके विचारक व्यक्तित्वों की बड़ी कमी है। तात्पर्य यह कि एक तत्त्वमीमांसीय विचारक के रूप में भगवानदास का और श्री अरविन्द का भी, महत्त्व इधर कम हो गया है।

किन्तु भगवानदास की विचार-पद्धति के कई दूसरे अंग हैं जो अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी रचनाओं की संख्या भी लम्बी है। उनकी एक पुस्तक 'द सायंस आव दी इमोशंस' का विषय मानवीय मन-चित्त के आवेग-विकार हैं। उनके अनुसार

मूल विकार दो हैं, राग और द्वेष (जिनका मूल उन वस्तुओं के सम्बन्धों में है जो सुख एवं दुःख उत्पन्न करती हैं) अथवा प्रेम और घृणा। प्रेम अपने से उच्चतर या श्रेष्ठतर के प्रति आदर का रूप धारण करता है, बराबर वाले के प्रति स्नेह का, और अपने से हीन या दुर्बल के प्रति करुणा का। ऐसे ही घृणा के तीन रूप बनते हैं : श्रेष्ठ या सबल के प्रति क्रोध तथा हीन के प्रति अवज्ञा। स्थिरता प्राप्त करके राग या प्रेम चारित्रिक सद्गुणों का हेतु बनता है वैसे ही घृणा या द्वेष दुर्गुणों का हेतु बनता है। विकृत रूप में तथाकथित राग या प्रेम की वृत्ति वासना, लोभ एवं मोह का रूप ले लेती है; उसी प्रकार द्वेष की वृत्ति घृणा, अभिमान या अहंकार तथा ईर्ष्या में परिणत हो जाती है। भारतीय धार्मिक साहित्य में उक्त विकृत वृत्तियाँ षड्रिपु कहलाती हैं। (कन्टेम्पोरेरी इंडियन फिलासफी, पृ० 160)।

नीति धर्म और समाज-दर्शन

भगवानदास मनु की व्यवस्था के प्रशंसक थे, वे वर्णाश्रम-व्यवस्था को सार्वकालिक महत्त्व देते थे और उसे आधुनिक समाजवादी-लोकतंत्रवादी व्यवस्थाओं का समकक्ष समझते-मानते थे, बल्कि उनसे श्रेष्ठतर, क्योंकि उक्त व्यवस्थाएँ इतिहास के प्रति भौतिकवादी दृष्टि से अनुप्राणित हैं। इसके विपरीत भारत की प्राचीन वर्णाश्रम-व्यवस्था में मनुष्य की भौतिक-आध्यात्मिक जरूरतों में समन्वय का प्रयत्न पाया जाता है। हमारी व्यवस्था में चार पुरुषार्थ या जीवन-मूल्य स्वीकार किये गये हैं अर्थात् धर्म-अर्थ-काम तथा मोक्ष। काम और अर्थ भौतिक मूल्य हैं जिन्हें सीमा में रखने के लिए धर्म का नियन्त्रण आवश्यक है। मोक्ष नाम का मूल्य या पुरुषार्थ जीवन के आध्यात्मिक पक्ष पर गौरव देता है। हमारी आश्रम-व्यवस्था जहाँ एक ओर व्यक्ति और समाज के, उनके स्वार्थों के बीच समन्वय स्थापित करती है, वहाँ मोक्ष-साधना द्वारा मनुष्य शाश्वत मूल्य या मूल्यों के क्षेत्र में प्रवेश करता है।

भगवानदास वर्णाश्रम-व्यवस्था को उसके प्राचीनतम मूल रूप में स्वीकार करते हैं। वर्णों के विभाजन का आधार विभिन्न व्यक्तियों के गुण-कर्म हैं, न कि परिवार-विशेष में जन्म। वर्णव्यवस्था का यह परिष्कृत रूप मनु और भगवद्गीता दोनों को स्वीकार्य है। इसके विपरीत जन्मना जाति व वर्ण की व्यवस्था उक्त धर्मग्रन्थों द्वारा अनुमोदित व्यवस्था का विकृत रूप है। इस विकृत रूप में कथित वर्ण-व्यवस्था ने हिन्दू धर्म और सभ्यता को बड़ी हानि पहुँचाई है। भगवानदास के समाजव्यवस्था से संबंधित विचार उनकी कई कृतियों में पाये जाते हैं जिनमें मुख्य हैं 'द साइंस आफ सोशल ऑर्गेनाइजेशन : एन्शिएन्ट वर्सस मॉडर्न सोश्येलिज्म' तथा 'सोशल रिकन्स्ट्रक्शन विद स्पेशल रेफरेन्स टु इंडियन प्राब्लेम्स'।

भगवानदास की सम्भवतः सबसे अधिक प्रसिद्ध पुस्तक 'दी एसेन्शियल यूनिटी आव् आल रेलीजन्स' है। डॉ० दास अनेक भाषाओं के श्रेष्ठ ज्ञाता थे, विशेषतः संस्कृत-अंग्रेजी तथा उर्दू-फारसी के। उक्त पुस्तक में उन्होंने उपनिषदों आदि हिन्दू श्रुतियों के साथ-साथ कुरान-बाइबिल आदि के प्रचुर उद्धरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि परम तत्त्व की अवधारणा तथा आध्यात्मिक साधना इन दोनों दिशाओं में विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के बीच मौलिक एकता देखी जा सकती है। कहने की ज़रूरत नहीं कि इस एकता की सटीक अवगति विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के बीच सद्भाव स्थापित करने के लिए नितान्त आवश्यक है—विशेषतः अपने देश में। डॉ० भगवानदास के बाद सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने भी विभिन्न धर्मों के सम्बन्ध में ऐसे ही विचार प्रकट किए। महात्मा गाँधी के विचार भी उक्त दृष्टि के समर्थक थे। सच यह है कि उपरोक्त विचारक नेताओं के प्रभाव में अधिकांश हिन्दू विद्वान् 'सर्वधर्म समभाव' के विश्वासी एवं पोषक बन गये हैं। जहाँ तक महात्मा गाँधी का प्रश्न है, उनका अभिमत हिन्दू-मुस्लिम एकता को आधार देने के लिए भी पल्लवित एवं प्रचारित किया गया था। किन्तु बाद में देश के विभाजन की घटना ने यह सिद्ध कर दिया कि उक्त मनीषियों का अभिमत मुस्लिम सम्प्रदाय के नेताओं को स्वीकार्य नहीं हुआ। इसका एक बड़ा कारण इस्लाम मत के अनुयायियों की अतिरिक्त कट्टरता है।

डॉ० भगवानदास का निधन सन् 1959 में हुआ। सन् 1956 में रामकृष्ण मिशन द्वारा प्रकाशित 'द कल्चरल हैरिटेज आव् इण्डिया', का चौथा भाग 'द रेलीजन्स' निकला जिसकी भूमिका डॉ० भगवानदास ने लिखी है। चलते-चलते हम कह दें कि इस भूमिका में मनुस्मृति की प्रशंसा तथा वर्ण व्यवस्था के समर्थन में प्रसिद्ध दार्शनिक नीत्शे का मत (पृष्ठ : 13 पर) उद्धृत किया गया है। भूमिका में भारतवर्ष को आध्यात्मिक चिन्तन एवं साधना का उच्चतम केन्द्र तथा विभिन्न धर्मसम्प्रदायों का—उनका भी जिनके अनुयायी दूसरे देशों से भागकर यहाँ पहुँचे—शरणस्थल कथित किया गया। रोचक बात यह है कि इस भूमिका में भारतीय अध्यात्म-परम्परा तथा सेमिटिक व अन्य धर्मों के बीच महत्वपूर्ण अन्तर देखे या इंगित किए गये हैं। एक बड़ा अन्तर यह है कि सभी धर्मों में ईश्वर की शक्तिमत्ता पर विशेष गौरव दिया गया है जिसके फलस्वरूप उक्त धर्मों के अनुयायी निरन्तर इस भय से आक्रांत रहते हैं कि कहीं वे भगवान को नाराज़ न कर दें। इस भय के कारण वे एक ऐसे मध्यस्थ की खोज करते हैं—ईसा जैसे ईश्वर-पुत्र अथवा मुहम्मद जैसे पैगम्बर की—जो अपराधी बन्दे और भगवान् के मध्य बिचवई अर्थात् भगवान् की क्षमा या कृपा के लिए निवेदन का कार्य कर सकें। इसके विपरीत भारतीय परम्परा का साधक अधिक अन्तर्मुखी होता है और वह अपने भीतर ही ईश्वर की उपस्थिति एवं उसके साथ अन्तरंग सम्बन्ध देखता-

अनुभव करता है। वास्तव में, जैसा कि हमने अन्यत्र प्रतिपादित किया है, भारतीय परम्परा में, विशेषतः हमारे क्लासिकी युग की विचारधाराओं में, मोक्ष या पूर्णत्व प्राप्ति का अर्थ आत्मलाभ या निजी विशुद्ध रूप में अवस्थिति माना गया है।[1] यह कथन मुक्ति-सम्बन्धी सांख्य-योग की अवधारणा पर जितना लागू है, उतना ही न्याय-वैशेषिक के मन्तव्य पर भी। जहाँ तक अद्वैत वेदान्त का प्रश्न है, वहाँ आत्मा-परमात्मा का द्वैत ही समाप्त हो जाता है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि डॉ० भगवानदास की उक्त भूमिका उस समय की रचना है जब उनके विचार पूर्णतया परिपक्व बन चुके थे और वे भारत रत्न की उपाधि से विभूषित किए जा चुके थे।

राज्य-व्यवस्था

राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में भगवानदास के विचार यूनानी दार्शनिक प्लेटो की मान्यताओं से मिलते-जुलते हैं। राज्य के शासक प्रबुद्ध एवं निःस्वार्थ व्यक्ति होने चाहिए। उनका चयन प्रचलित चुनाव विधि से न हो, वरन् उनकी ख्याति के आधार पर जनता द्वारा किया जाय। उन्हें राज्य से किसी प्रकार का आर्थिक लाभ नहीं मिलना चाहिए। राज्य के दो मुख्य कार्य हैं : (अ) दुष्टों के निग्रह द्वारा अशुभ से समाज का बचाव; और (आ) शिष्टों के संग्रह अथवा प्रोत्साहन द्वारा श्रेय का विस्तार। राज्य में गुण-कर्म की अनुरूपता में वर्णों या वर्गों की व्यवस्था होनी चाहिए। ज्ञान या विवेक खड्ग या सैन्य शक्ति का पथप्रदर्शन करे, वह शक्ति राज्य की सम्पत्ति, धन-धान्य को संरक्षण दे तथा कृषि आदि के द्वारा धनसम्पत्ति का उत्पादन हो। निम्नतम बुद्धि के लोग सेवा कर्म करें (कन्टेम्पोरेरी इ० फि०, 167)

इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ० भगवानदास ने, स्वामी दयानंद की भाँति, एक सम्पूर्ण जीवन दर्शन देने का प्रयत्न किया। आगे चलकर ऐसा ही प्रयत्न महात्मा गाँधी ने किया, यद्यपि गाँधीजी की पूर्व मान्यताएँ (Presuppositions) डॉ० दास से भिन्नता लिये हुए थीं। किन्तु कुछ बातों में आधुनिक भारत के सभी मुख्य विचारक, जिनका आगे उल्लेख होगा, समान ढंग से सोचते या समानताएँ रखते दिख पड़ते हैं। (1) पुनर्जागरण काल के प्रायः सभी विचारक अद्वैत वेदान्त से प्रभावित हैं, या फिर अन्य वेदांतीय सम्प्रदायों में निहित मानसिकता से। देखने की बात यह है कि उनमें से कोई भी जगत् के मिथ्यात्व पर गौरव नहीं देता। (2) ये सभी विचारक सामाजिक (तथा राजनैतिक, संघर्ष-परक) जीवन को महत्व देते हैं और वेदान्त के व्यावहारिक, समतावादी अभिप्रायों

---

1. देखिए प्रस्तुत लेखक की 'ह्यूमेनिज्म इन् इंडियन थॉट' (इण्डस पब्लिशिंग् कं०, टैगोर गार्डेन, नई दिल्ली–27,1988)

को रेखांकित करते हैं । यह मनोवृत्ति स्वामी विवेकानन्द की 'व्यावहारिक वेदान्त' की शिक्षा के अनुरूप है, और महात्मा गांधी से विधि-परक (सकारात्मक) अहिंसावाद अथवा विश्वप्रेमवाद में और भी स्पष्ट है । इस मनोवृत्ति के तहत लोकमान्य तिलक तथा महात्मा गांधी ने अन्यायपूर्ण विदेशी शासन के विरुद्ध संघर्ष के लिये देशवासियों का आह्वान किया । यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि इस कालावधि में उपनिषदों के ज्ञानमार्ग की अपेक्षा भगवद्गीता के कर्म मार्ग पर अधिक जोर दिया गया । (3) इसी से सम्बन्धित मानववादी अथवा मानवतावादी दृष्टि का विकास रवीन्द्रनाथ आदि के विचारों में हुआ । (4) धर्म के क्षेत्र में डॉ० भगवाननदास, महात्मा गाँधी तथा सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने समन्वयवादी दृष्टिकोण का प्रचार किया । गाँधीजी का 'सर्वधर्मसमभाव' का मन्तव्य इस समन्वयवाद का अंग था । (5) नैतिकता पर गौरव के साथ-साथ व्यक्ति द्वारा स्वयं अपनी मुक्ति के लिये साधना की अपेक्षा सर्वजन कल्याण के लिये कर्म करना श्लाघ्यतर ठहराया गया । (6) राजा राममोहन राय से शुरू करके प्रायः सभी आधुनिक भारतीय विचारकों ने वैज्ञानिक प्रगति को स्वीकृति एवं समर्थन दिया । पं० जवाहरलाल नेहरू आदि ने न केवल वैज्ञानिक शिक्षा एवं मनोवृत्ति को महत्त्व दिया; वरन् देश के उद्योगीकरण पर भी जोर दिया । इस कोण से कहा जा सकता है कि महात्मा गाँधी एवं उनके कुछ कट्टर अनुयायी ही बड़ी मशीनों द्वारा उद्योगीकरण के विरोध में थे । वास्तव में सन्त प्रकृति महात्मा गाँधी भौतिक जीवन स्तर की अपेक्षा नैतिकता की प्रगति पर अधिक जोर देते थे ।

अन्त में हमें कहना है कि इस युग के अधिकांश विचारक स्वदेश के साथ-साथ भारतीय संस्कृति के विशेष प्रशंसक तथा प्रेमी थे । उनमें से अधिकांश ने भारत के सांस्कृतिक विचार-वैभव की ऐसी व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं जो शिक्षित जनता में आत्म-गौरव का संचार करते हुए लोगों के मनचित्त में देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दें । स्पष्ट ही यहाँ भारतीय संस्कृति के ऐसे सभी व्याख्याताओं का विवरण देना सम्भव नहीं है । इस प्रसंग में जिन विशिष्ट व्याख्याताओं के नाम नीचे आये हैं उनके अलावा कतिपय मनीषियों के नामों एवं कृतित्व का उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है । स्वामी रामतीर्थ ने, जो एक प्रसिद्ध गणितशास्त्री भी थे, उत्तर भारत विशेषतः पंजाब में अपने व्याख्यानों द्वारा (जो प्रकाशित भी हुए हैं) अद्वैत वेदान्त का प्रेरणाप्रद प्रचार किया । डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त तथा पंडित गोपीनाथ कविराज ने भारतीय दर्शन पर विशिष्ट व्याख्यापरक ग्रन्थ लिखे । समाजवादी नेता आचार्य नरेन्द्रदेव ने 'बौद्ध धर्म दर्शन' ग्रन्थ हिन्दी में लिखा; और डॉ० सम्पूर्णानन्द ने, जो राजनीति में समाज-वादी थे, अपने योगदर्शन' ग्रन्थ में उक्त दर्शन के मन्तव्यों पर तथा कर्मयोग पर भी

नया प्रकाश डाला। उन्होंने 'चिद्विलास' नाम का मौलिक दार्शनिक निबन्ध भी लिखा। इस सन्दर्भ में पं० जवाहरलाल नेहरू की 'डिस्कवरी ऑव् इंडिया' पुस्तक भी उल्लेखनीय है।

श्री रामकृष्ण परमहंस

आधुनिक भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में श्री रामकृष्ण परमहंस (1836-1886) एक ऐसी विलक्षण विभूति हैं जिन्होंने किसी नये मार्ग का प्रवर्तन या किसी नये सम्प्रदाय की स्थापना किये बिना ही, अथवा मानव-ज्ञान के कोष में कोई सर्वथा मौलिक योग दिये बिना ही, बहुत सी ऐसी बातें प्रकट कीं, जो **शाश्वत मूल्य** की हैं। उनके बारे में श्री अरविन्द का यह कथन बिलकुल उपयुक्त है कि वे (रामकृष्ण) एक अत्यन्त शक्तिशाली बौद्धिक उत्तोलक थे, जिसमें अपने समकालीन व्यक्तियों की चेतना को ऊर्ध्वमुखी बनाने की विस्मयकारी क्षमता थी। श्री रामकृष्ण ने विवेकानन्द जैसा शिष्य, जिसने न केवल हिन्दुओं की, अपितु मानव मात्र की सेवा एवं कल्याण में अपना सारा जीवन लगा दिया, पैदा कर मानवता की अद्वितीय सेवा की एवं भारतीय चिन्तन को एक नयी दिशा प्रदान की। इस दृष्टि से उन्हें एक युगान्तकारी व्यक्ति कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

श्री रामकृष्ण का प्रमुख **योगदान** है **सहिष्णुता, समन्वय** तथा **उदारता** की शिक्षा का सशक्त प्रतिपादन। उन्होंने असंख्य दृष्टान्तों द्वारा यह समझाने की चेष्टा की कि सत्य के किसी एक पक्ष पर कट्टरता से अड़े रहने की अपेक्षा सहिष्णुता एवं उदारता को अपनाना चाहिये। वे बार-बार इस तथ्य पर भल देते हैं कि साध्य तो एक ही है, भले ही साधन भिन्न-भिन्न हों। अतः विभिन्न धर्मों में वैमनस्य मानना हठधर्मिता है, बुद्धिमत्ता नहीं। उन्हीं के शब्दों में—

> "सत्य की तुलना एक निर्मल जलाशय से की जा सकती है। जलाशय के एक ओर हिन्दू अपने घड़े में जल भरता है, दूसरी ओर मुसलमान उसे पानी कहता है एवं तीसरी ओर अंग्रेज उसे वाटर कहता है। परन्तु जलाशय में भरा हुआ पदार्थ वही रहता है।"[1]

किन्तु रामकृष्ण केवल सैद्धान्तिक सहिष्णुता से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते, बल्कि वे अपनी अनुभूति के आधार पर विभिन्न आध्यात्मिक सिद्धान्तों में सामञ्जस्य भी स्थापित करते हैं। जैसा डॉ० नरवणे कहते हैं—

> "रामकृष्ण केवल इस सीमित अर्थ में ही समन्वयकारी नहीं थे कि अपनी विश्व-दृष्टि में उन्होंने विभिन्न विचारों को स्थान दिया था, बल्कि वे इस

1. गॉस्पेल ऑफ् रामकृष्ण, पृ० 204

व्यापक अर्थ में भी समन्वयकारी थे कि मानव-स्वभाव के विभिन्न पक्षों और परस्पर भिन्न परम्पराओं के अधिकारों को वे मान्यता देते थे।"[1]

रामकृष्ण द्वारा प्रतिपादित समन्वयवाद एवं उदार दृष्टिकोण से विवेकानन्द, गांधी, रवीन्द्रनाथ एवं राधाकृष्णन् को एक उदार विश्व-दृष्टि विकसित करने में बहुत सहायता मिली।

श्री रामकृष्ण की दूसरी देन यह है कि उन्होंने आध्यात्मिक सत्यों की व्यावहारिक उपादेयता सिद्ध की। उनका ज्ञान केवल किताबी नहीं था, अपितु परम सत्ता की अपरोक्षानुभूति पर आधारित था। उनके लिए ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर आदि शब्द मात्र न होकर मूर्त सजीव तत्त्व थे। अपने वैयक्तिक अनुभवों द्वारा उन्होंने प्रमाणित कर दिया कि ईश्वर की अनुभूति के विषय में आध्यात्मिक ग्रन्थों में दिये गये विवरण अक्षरशः सत्य हैं। इस प्रकार ईश्वर की सत्ता में मनुष्य की आस्था जाग्रत कर उन्होंने ईश्वरवादी चिन्तन के विकास में परोक्ष रूप से सहायता की। अन्ततः, रामकृष्ण ने अपने शिष्यों, विशेषकर विवेकानन्द को **रामकृष्ण मिशन** जैसी संस्था की स्थापना करने की प्रेरणा देकर मानवता का विशेष उपकार किया। दरिद्रों, अकाल-पीड़ितों तथा रोगियों की सेवा के क्षेत्र में रामकृष्ण मिशन ने अच्छी सफलता प्राप्त की है।

स्वामी विवेकानन्द

"विवेकानन्द जैसे मनुष्य कानाफूसी के लिए नहीं बने होते। वे केवल घोषणा ही कर सकते हैं। सूर्य अपनी किरणों को मन्द नहीं कर सकता।"[1]

रोम्याँ रोलाँ के उपर्युक्त शब्द स्वामी विवेकानन्द के राजसी एवं गरिमामय व्यक्तित्व का सार अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं। आधुनिक भारतीय दार्शनिक विचारधारा को वास्तव में उन्होंने एक नूतन दिशा प्रदान की। हमारे मतानुसार शंकर के अद्वैत वेदान्त का बोधगम्य तथा वैज्ञानिक भाषा में प्रस्तुतीकरण एवं वेदान्त के व्यावहारिक स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए भारत के राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विकास के लिए गीता के निष्काम कर्मयोग की उपादेयता प्रतिपादित करना आधुनिक भारतीय दर्शन में विवेकानन्द के प्रमुख **योगदान** हैं। परन्तु इनपर सविस्तार विचार करने से पूर्व विवेकानन्द के व्यक्तिगत जीवन को समझना भी जरूरी है।

स्वामी विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी, 1963 को कलकत्ते में हुआ था। उनका मूल नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। वे एक अत्यन्त मेधावी छात्र थे तथा अपने कॉलेज-जीवन में उन्होंने कई क्षेत्रों में ख्याति अर्जित की थी। उन्होंने मिल, कांट, हेगेल आदि की रचनाओं का गम्भीर अध्ययन किया था और यूरोपीय विज्ञान,

1. रोम्याँ रोला : लाईफ ऑफ् विवेकानन्द, पृ० 344

उदारतावाद तथा पश्चिमी समाज के जनतांत्रिक रूप का उनपर अत्यधिक प्रभाव पड़ा था। साथ ही, ब्राह्म समाज के लेखों द्वारा वे भारत की धार्मिक एवं दार्शनिक परम्परा की ओर आकृष्ट हुए तथा शीघ्र ही भारतीय चिन्तन के मूल स्रोतों से भली भाँति परिचित हो गये।

सन् 1881 ई० में विवेकानन्द की भेंट श्री रामकृष्ण परमहंस से हुई, जिन्होंने अपने निर्मल व्यक्तित्व से उन्हें मुग्ध कर लिया। अगस्त, 1886 में रामकृष्ण की मृत्यु के पश्चात् स्वामी जी ने एक परिव्राजक के रूप में भारत का भ्रमण आरम्भ कर दिया। इस यात्रा से लौटने के पश्चात् वे भारत के प्रतिनिधि के रूप में शिकागो की धर्म-संसद् में सम्मिलित हुए। वहाँ अपने प्रकाण्ड ज्ञान से उन्होंने विद्वानों पर अतिशयित प्रभाव डाला। यूरोप के अन्य भागों में वेदान्त का प्रचार करते हुए वे अन्ततः भारत लौटे जहाँ उनका वीरोचित स्वागत हुआ।[1] सन् 1897 ई० में लोक-सेवा के हेतु उन्होंने 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की। 1898 में उन्होंने पुनः पश्चिम की यात्रा की। 4 जुलाई, 1902 को उनकी इहलीला समाप्त हुई।

अब हम स्वामी विवेकानन्द के तत्त्व-मीमांसीय दृष्टिकोण का संक्षेप में विवेचन एवं मूल्यांकन करेंगे।

अद्वैत वेदान्त की वैज्ञानिक व्याख्या

विवेकानन्द ने शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त को बुद्धिगम्य, वैज्ञानिक एवं प्रेरणादायक रूप में प्रस्तुत करने का भरसक प्रयत्न किया। उनके अनुसार इस उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त हमें वेदान्त के उदात्त विचारों को शास्त्रीयता के उस बन्धन से मुक्त करना होगा, जो उन्हें सदियों से जकड़े हुए हैं। अपने एक व्याख्यान में वे कहते हैं—

> "वेदान्त का ज्ञान दीर्घ काल से गुफाओं एवं वनों में छिपा रहा है। यह भार मेरे ऊपर पड़ा है कि मैं उसे उसके अज्ञातवास से निकालूँ एवं उसे पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में पहुँचाऊँ।··· अद्वैतवाद की दुन्दुभि सभी स्थानों में—बाजारों में, पर्वतों में एवं मैदानों में—गूँजेगी।"[2]

---

1. भारत लौटने पर स्वामी जी ने आध्यात्मिकता के प्रचार के हेतु देश के कोने-कोने में जाकर भाषण दिये। इन व्याख्यानों ने, जो बाद में **'लेक्चर्स फ्रॉम कोलंबो टु अलमोड़ा'** शीर्षक से प्रकाशित हुए, भारतीय दर्शन एवं धर्म के अध्ययन और प्रचार में बड़ा योग दिया।
2. **कर्मयोग पर व्याख्यान**, रोम्याँ रोलाँ द्वारा उद्धृत, लाइफ ऑव विवेकानन्द, पृ० 219

हार्वर्ड विश्वविद्यालय में दिये गये उनके व्याख्यान में इसी लक्ष्य की ओर संकेत मिलता है—

> "अमूर्त अद्वैत का हमारे दैनिक जीवन में जीवन-काव्यात्मक हो जाना आवश्यक है। अत्यधिक जटिल पौराणिकता में से मूर्त नैतिक रूप निकलने चाहिए तथा भ्रान्तिकारी योगवाद में से अत्यन्त वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक मनोविज्ञान प्रकट होना चाहिए।"[1]

शताब्दियों से वेदान्त को ऐसे दुरूह तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों का पुंज माना जाता रहा है, जिन्हें बहुत ही कम व्यक्ति समझ सकते हैं। विवेकानन्द इस परम्परागत मान्यता के कट्टर विरोधी हैं। उनका मत है कि सामान्य जनता में अमूर्त दार्शनिक सिद्धान्तों को समझने की क्षमता उतनी कम नहीं है, जितनी साधारणतः समझी जाती है। उन्हीं के शब्दों में—

> "सामान्य जनता को पतन के सिद्धान्तों की शिक्षा दी गयी है। उसे कभी आत्म-तत्त्व की शिक्षा नहीं दी गयी।....अब हम उन लोगों को आत्मतत्त्व का रहस्य बतलाएँ। वे भी अब सुनें कि क्षुद्र से क्षुद्र व्यक्ति के अन्दर भी आत्मा का अस्तित्व है—आत्मा का, जिसे न तलवार भेद सकती है, न अग्नि जला सकती है, न हवा सुखा सकती है और जो सर्वथा शुद्ध, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् आत्मा है।"[2]

भारतीय दर्शन की सबसे महत्त्वपूर्ण पद्धति, अद्वैत वेदान्त के प्रमुख सिद्धान्त मायावाद के विषय में प्रचलित भ्रान्तियों को दूर करने में विवेकानन्द ने बड़ा योग दिया है। उनके अनुसार वेदान्त कोरी एकता का नहीं अपितु 'अनेकता में एकता' का प्रतिपादन करता है। वेदान्त की इस सकारात्मक व्याख्या को विवेकानन्द ने ही सर्व-प्रथम लोकप्रिय बनाया था। बाद में राधाकृष्णन् तथा रवीन्द्र ने भी इस व्याख्या को स्वीकार किया एवं उसे और भी व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त के अनुसार जगत् सर्वथा असत्य नहीं। किन्तु प्रश्न यह है कि यदि वेदान्त हर वस्तु को किसी-न-किसी मात्रा में यथार्थ मानता है तो जगत् को माया कहने का क्या अभि-प्राय है? इसके उत्तर में विवेकानन्द कहते हैं कि 'माया' शब्द का अर्थ भ्रम नहीं, यदि भ्रम को यथार्थ का उल्टा माना जाए। माया संसार एवं मानव-जीवन की

---

1. हार्वर्ड विश्वविद्यालय में भाषण, 25 मार्च, 1896
2. 'मिशन ऑव् द वेदान्त' पर व्याख्यान।

आपेक्षिक यथार्थता (रिलेटिव रिएलिटी) की सूचक है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म परम सत्य है, क्योंकि वह त्रिकालाबाधितसत्ता है। परन्तु जगत् ब्रह्म की भाँति निरपेक्ष सत्य नहीं, क्योंकि उसकी सत्ता तीनों कालों में अखण्डित नहीं रहती; जगत् सत्य तो है किन्तु स्वतन्त्र रूप से नहीं। ब्रह्म पर आधारित होने के कारण ही उसे सत्य माना जा सकता है। जगत् यथार्थ एवं आभास का, निश्चय और भ्रम का अपरिभाषेय मिश्रण है। 'माया' शब्द का यह अर्थ नहीं कि जगत् शुद्ध भ्रम है, बल्कि यह कि वह अन्त-र्विरोधों से परिपूर्ण है एवं इसी हद तक उसे अयथार्थ या भ्रम कहा जा सकता है। विवेकानन्द के अनुसार—

> "जगत् का न तो अस्तित्व है और न अनस्तित्व। उसे अस्तित्वयुक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वस्तुतः केवल उसी का अस्तित्व है जो देश एवं काल से परे है, जो स्वतः सत्तावान् है। फिर भी यह जगत् हमारे अस्तित्व के प्रत्यय को पूर्ण करता है, अतः हम कह सकते हैं कि उससे अस्तित्व का आभास होता है।"[1]

बोलचाल की भाषा में माया को असत्य, अज्ञान, भौतिक सुखों से आसक्ति, बन्धन, वासना आदि का प्रतीक माना जाता है और इसी अर्थ में 'मायाजाल में फँसना' मुहावरे का प्रचलन हुआ है। इसी धारणा के ऊपर निवृत्ति का जीवन-दर्शन प्रतिष्ठित है, जिसके अनुसार माया-रूपी संसार को शीघ्रातिशीघ्र अस्वीकार करना चाहिए तथा जब तक संसार का स्वरूप ऐसा ही बना रहता है तब तक कर्म मात्र का परित्याग करना चाहिए। विवेकानन्द इसे निराशावादी दृष्टिकोण मानते हैं। हमें माया के बीच से मार्ग निकालकर माया के परे तक पहुँचना है। यह कहकर कि संसार अंशतः बुरा है, कर्म एवं अध्यवसाय को छोड़ देने से काम नहीं चलेगा।

> "जो मनुष्य यह कहता है कि मैं तभी कार्य करूँगा, जब संसार पूर्णतः भला हो जायगा और फिर मैं अपने आनन्द का उपभोग करूँगा, उसकी सफलता की उतनी ही सम्भावना है जितनी उस व्यक्ति की, जो नदी के किनारे बैठकर कहता है, नदी का सारा जल सागर में चले जाने के बाद ही मैं इसे पार करूँगा।"[2]

विवेकानन्द अपने वेदान्त के प्रतिपादन में सत्ता की एकता तथा अविच्छिन्नता पर बहुत अधिक बल देते हैं। उनके अनुसार सत्ता अवश्य है किन्तु वह नाना रूपों में

---

1. सेलेक्टेड वर्क्स, पृ० 105
2. वही, पृ० 140

अभिव्यक्त है, जो एक दूसरे से अभेद्य अवरोधों द्वारा विभक्त भी हैं। यह प्रमाणित करने के लिए कि वेदान्त समस्त सत्ताओं को सत्य, यद्यपि अभिव्यक्ति की मात्रा में भिन्न, मानता है, विवेकानन्द प्राणिशास्त्र के विकासवादी सिद्धान्त का उल्लेख करते हैं। वे स्वीकार करते हैं कि 'अमीबा' विकसित होकर 'बुद्ध' बनता है, जीवन विकसित होता हुआ क्रमशः उच्चतर स्तरों तक उठता जाता है; परन्तु फिर भी ब्रह्माण्ड में ऊर्जा का कुल जोड़ सदा वही रहता है।

> "यदि बुद्ध परिवर्तन की प्रक्रिया का एक छोर है तो दूसरे छोर पर अमीबा भी बुद्ध रहा होगा। प्रलय की स्थिति में भी ब्रह्माण्ड में निहित ऊर्जा की मात्रा उतनी ही रही होगी। सम्भावना के रूप में, पैरों-तले रेंगते कीड़े से लेकर महानतम संत तक, सबमें यह असीम शक्ति, असीम शुद्धता तथा सब कुछ असीम विद्यमान है—अन्तर केवल अभिव्यक्ति की मात्रा का है। कीड़े में उस ऊर्जा के छोटे-से अंश की अभिव्यक्ति है, तुममें बहुत अधिक हैं, अन्य ईश्वर-मानव में और भी अधिक।"[1]

कर्म के लिए आह्वान

स्वामी विवेकानन्द का दर्शन कर्म पर सर्वाधिक बल देता है। उसकी विशेषता यह है कि वह केवल चिन्तन को नहीं, अपितु कर्मठ मनुष्य को भी अपनी ओर आकर्षित करता है। विवेकानन्द ज्ञान, भक्ति एवं कर्म को सर्वथा असम्बद्ध मार्ग नहीं मानते। वे इन्हें पूर्णता की ओर ले जानेवाले **एक ही मार्ग के तीन खण्ड** मानते हैं।

पलायन द्वारा मुक्ति का सिद्धान्त विवेकानन्द को सर्वथा अप्रिय है। उन्हीं के प्रेरणादायक शब्दों में—

> "संसार में डूबकर कर्म का रहस्य सीखो। संसार-यन्त्र के पहियों से भागो मत। उसके भीतर खड़े होकर देखो कि वह कैसे चलता है। तुम्हें उससे निकलने का मार्ग अवश्य मिलेगा। विराग की अति हो जाने पर वह निष्ठुर उच्छृंखलता हो जाता है।"

विवेकानन्द इस दलील को रोषपूर्वक ठुकरा देते हैं कि इस जन्म में प्राप्त भौतिक-सुख-सुविधाओं का त्याग कर मनुष्य अगले जन्म में शाश्वत सुख भोग सकता है। उनकी मान्यता है कि इसी तर्क के आधार पर शताब्दियों तक हिन्दू समाज में

---

1. **वेदान्त पर व्याख्यान**, सेलेक्टेड वर्क्स, पृ० 249

व्याप्त सामाजिक भेद-भाव एवं अत्याचार को न्यायोचित ठहराया जाता रहा है। वे कहते हैं कि—

> "मैं ऐसे ईश्वर में विश्वास नहीं करता जो स्वर्ग में तो मुझे आनन्द देगा, किन्तु इस संसार में मुझे अन्न भी नहीं दे सकता।"

कर्मठ मनोवृत्ति की स्थापना के हेतु विवेकानन्द वेदान्त की सकारात्मक व्याख्या कहते हैं। उनके अनुसार—

> "वेदान्त हमसे यह नहीं कहता कि हम अपने को असहाय मानकर अत्याचारी के सामने घुटने टेक दें। वह कहता है, अपना मस्तक ऊँचा करो। तुममें से हर व्यक्ति के भीतर एक ईश्वर विद्यमान है। उसके योग्य बनो।"[1]

एक सच्चे वेदान्ती को अपने मनुष्यत्व पर गर्व होना चाहिए। उसे पूर्ण उत्साह के साथ सामाजिक कुरीतियों तथा अन्धविश्वासों का विरोध करते हुए उनके उन्मूलन के लिए प्रयास करना चाहिए। विवेकानन्द चुनौती भरे स्वर में कहते हैं—

> "यदि मेरे भीतर ईश्वर है तो मैं संसार की लांछनाएँ क्यों सहूँ? उन्हें मिटाना ही मेरा कर्तव्य है।"

इस प्रसंग में यह बतलाना जरूरी है कि आधुनिक भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में विवेकानन्द ने ही सर्वप्रथम **'दरिद्र-नारायण'** अर्थात् निर्धनों की सेवा का आदर्श स्थापित किया। संन्यास की नये ढंग से परिभाषा करते हुए उन्होंने रामकृष्ण मिशन के सभी सदस्यों को अकाल तथा महामारी से पीड़ित व्यक्तियों की सेवा करने की प्रेरणा दी। उनके द्वारा प्रस्तुत इस सेवा के आदर्श का भारतीय मानस पर स्थायी प्रभाव पड़ा है।

विवेकानन्द मानव-विकास के लिए स्वतन्त्रता के प्रत्यय को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार विज्ञान एवं धर्म, दोनों की प्रारम्भिक प्रेरणा एवं प्राप्य लक्ष्य स्वातन्त्र्य ही है। वे स्वाधीनता के लिए सचेत संघर्ष को ही विकास का मुख्य हेतु मानते हैं—

> "समस्त ब्रह्माण्ड में स्वाधीनता के लिए संघर्ष चल रहा है। पृथ्वी सूर्य से दूर चली जाने के प्रयास में है और चन्द्रमा पृथ्वी से। प्रत्येक वस्तु में असीम विच्छिन्नता की प्रवृत्ति है। संसार में हम जो कुछ देखते हैं उसका आधार

---

1. **प्रेक्टिकल वेदान्त, भाग 1**

यही स्वाधीनता का संघर्ष है । इसी प्रेरणा से सन्त भजन करता है एवं डाकू डाका डालता है ।"[1]

इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाएँ मानवतावादी तथा कर्मण्यतावादी हैं; परन्तु टैगोर की भाँति वे भी आध्यात्मिक मानवतावाद में विश्वास रखते हैं । यह भी ध्यान देने योग्य है कि वे यान्त्रिक कर्म करने के पक्ष में नहीं हैं । वे गीता के निष्काम कर्मयोग पर बहुत बल देते हैं । उनके अनुसार अनासक्त भाव से कर्म करने पर हमें वही स्थिति प्राप्त हो सकती है, जो ज्ञानयोग एवं भक्तियोग के साधकों को होती है । नैतिकता के उच्चतम आदर्शों की पूर्ति व्यावहारिक जीवन में ही सम्भव है, परन्तु इसके लिए हमारा दैनिक जीवन एक सुदृढ़ आध्यात्मिक नींव पर प्रतिष्ठित होना चाहिए । यदि हम सांसारिक लाभ-हानि तथा प्रशंसा एवं निन्दा के प्रति उदासीनता का भाव विकसित कर लें, तो हमारा आध्यात्मिक विकास अत्यन्त शीघ्रता से हो सकता है ।

बाल गंगाधर तिलक

उग्रतम भारतीय राष्ट्रवादी, अदम्य योद्धा, प्रचण्ड क्रान्तिकारी तथा आधुनिक भारत के अन्यतम निर्माता लोकमान्य तिलक (1856-1920) भारतीय चिन्तकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं । **'स्वतंत्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है'**, इस मंत्र के उद्घोषक तिलक ने न केवल भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम में, अपितु दार्शनिक एवं खगोलशास्त्रीय चिंतन में भी उल्लेखनीय योग दिया है ।

उनकी मुख्य कृतियाँ हैं—'दि औरियन' और **'दि आर्कटिक होम इन द वेदाज़'** (अंग्रेजी में) तथा **'गीतारहस्य'** (मराठी में), जिसका अनुवाद बाद में कई देशी एवं विदेशी भाषाओं में हुआ ।

गीता के मूर्धन्य भाष्यकार के रूप में तिलक भारतीय दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं । उनका जीवन-दर्शन 'गीतारहस्य' में ही व्यक्त हुआ है । हमारी मान्यता है कि गीता की निष्काम-कर्मयोग-परक व्याख्या ही भारतीय दार्शनिक चिन्तन में उनका मुख्य योगदान है ।

इसके पूर्व कि हम तिलक की गीता-व्याख्या पर प्रकाश डालें, यह बतलाना

1. अपने कई व्याख्यानों में विवेकानन्द कहते हैं कि अचेतन वस्तुओं का लक्ष्य भी स्वातन्त्र्य ही है ।

उचित होगा कि उनकी तत्त्व-मीमांसा एवं नीति-मीमांसा के बीच एक तार्किक असंगति है ।[1] एक ओर तो वे मिल, बेन्थम एवं स्पेन्सर के तथा भारतीय चिंतन में बौद्ध परंपरा के विरोधी हैं तथा मानते हैं कि केवल अद्वैत वेदान्त ही परम सत्ता की सन्तोषप्रद ढंग से व्याख्या कर सकता है और शंकर के विवर्तवाद को पूर्णतः स्वीकार करते हैं तथा दूसरी ओर, उनकी नैतिक दृष्टि उत्साहपूर्ण क्रियावाद से ओत-प्रोत है; गीता के निष्काम कर्मयोग के नीति-शास्त्र के प्रति उनका आग्रह उनकी अद्वैत तत्त्व-मीमांसा के विपरीत जान पड़ता है । इस अन्तर्विरोध के बावजूद यह स्वीकार करना होगा कि उनकी गीता-व्याख्या युगानुकूल तथा मौलिक है ।

तिलक की गीता-व्याख्या

गीता पर उपलब्ध टीकाओं के सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् लोकमान्य तिलक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वे सभी एकांगी तथा गीता के यथार्थ रहस्य को उद्घाटित करने में असमर्थ हैं । इसी अभाव की पूर्ति हेतु उन्होंने मण्डाले जेल में अपने 'गीता-रहस्य' नामक अनूठे ग्रन्थ की रचना की ।

'गीतारहस्य' में तिलक ने यह बतलाने की चेष्टा की है कि यद्यपि शंकर, रामानुज आदि आचार्यों ने अपने रुचि-वैभिन्न्य के कारण क्रमशः ज्ञानयोग एवं कर्मयोग को गीता की मुख्य शिक्षा बतलाया है, तथापि वे दोनों ही कर्म-संन्यास या निवृत्ति-मार्ग पर बल देते हैं । तिलक के अनुसार गीता में उपनिषदों के आधार पर ही ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन किया गया है, फिर भी उपनिषदों के अध्यात्म-ज्ञान का निरा अनुवाद मात्र न होकर उसमें वासुदेव-भक्ति का और सांख्य-योग शास्त्र में वर्णित सृष्ट्युत्पत्ति-क्रम का, अर्थात् क्षराक्षर-ज्ञान का भी समावेश किया गया है और उस वैदिक कर्म-योग-धर्म का ही प्रधानता से प्रतिपादन किया गया है जो सामान्य लोगों के लिए आचरण में सुलभ हो एवं इहलोक और परलोक में श्रेयस्कर हो ।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में वेदान्त शास्त्र के आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि कर्मयोग ही अधिक श्रेयस्कर है । कर्मयोग में बुद्धि की ही प्रधानता है, इसलिए ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान से या परमेश्वर-भक्ति से अपनी बुद्धि को साम्यावस्था में रखकर उसके द्वारा स्वधर्मानुसार समस्त कर्मों के सम्पादन से ही मोक्ष-लाभ होता है ।

---

1. डॉ० राधाकृष्णन् ने नटेसन की **'एमिनेन्ट ओरिएन्टेलिस्ट्स'** पुस्तक में तथा प्रो० देवीदास वाडेकर ने अपने **'भगवद्गीता—ए फ्रेश ऐप्रोच'** ग्रन्थ में तिलक की इस असंगति की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है ।

कर्मयोग के विभिन्न अर्थ

तिलक के अनुसार मोटे तौर पर कर्मयोग शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं—

(1) ज्ञान हो या न हो किन्तु चातुर्वर्ण्य के यज्ञयागादि कर्म या श्रुति-स्मृति-वर्णित कर्म करने से ही मोक्ष मिलता है। परन्तु मीमांसकों का यह पक्ष गीता को मान्य नहीं है (गीता, 2/45)।

(2) चित्त-शुद्धि के लिए कर्म करना चाहिए। शंकर भी इसी मत के अनुयायी हैं, किन्तु गीता में वर्णित कर्मयोग इससे भिन्न है।

(3) 'ज्ञानी मनुष्य को चातुर्वर्ण्य के समस्त कर्म निष्काम-बुद्धि से मृत्यु पर्यन्त करना ही चाहिए।'[1] गीता में 'कर्मयोग' शब्द का यही अर्थ है। यह कर्मयोग संन्यास-मार्ग का पूर्वाङ्ग कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें कर्म कभी छूटते ही नहीं (गीता, 3/25)।

कर्मयोग और मोक्ष

तिलक के अनुसार कर्मयोग मोक्ष-प्राप्ति का एक स्वतन्त्र साधन है। गीता की स्पष्ट घोषणा है कि ज्ञान-प्राप्ति हो जाने के कारण निष्काम कर्म बाधक नहीं हो सकते; वस्तुतः कर्म-संन्यास से जो मोक्ष मिलता है वही इस कर्मयोग का पालन करने से भी मिलता है, अतः गीता का कर्मयोग संन्यास-मार्ग का पूर्वाङ्ग नहीं है, किन्तु ज्ञानोत्तर ये दोनों मार्ग मोक्ष-दृष्टि से स्वतंत्र अर्थात् तुल्यबल हैं।[2]

कर्मयोग की विशिष्टता

यदि कर्मयोग एवं कर्म-संन्यास दोनों ही स्वतंत्र रीति से मोक्षदायक हैं तो यह प्रश्न उठता है कि इन दोनों में श्रेष्ठतर कौन-सा है? इसके उत्तर में तिलक, श्रीकृष्ण के वाक्य को उद्धृत करते हुए, कहते हैं कि कर्म-संन्यास और कर्मयोग, ये दोनों मार्ग निःश्रेयस्कर हैं, अर्थात् मोक्षदायक हैं या मोक्ष-दृष्टि से एक ही योग्यता के हैं, किन्तु इन दोनों में कर्मयोग की श्रेष्ठता या योग्यता विशेष है (गीता, 5/2)।

कर्मयोग की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में गीता में अनेक वाक्य पाये जाते हैं : जैसे, कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः—अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है (3/8); तस्माद्योगाय युज्यस्व—इसलिए तू कर्मयोग को स्वीकार कर युद्ध कर (2/50); योगमातिष्ठोत्तिष्ठ—कर्मयोग

---

1. गीता, 3/25
2. वही, 5/2

को अंगीकार कर खड़ा हो (4/42)। (योगी) ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः—ज्ञानमार्ग-वाले (संन्यासी) की अपेक्षा कर्मयोगी की योग्यता अधिक है (6/46)।

इसके अतिरिक्त, अठारहवें अध्याय के उपसंहार में भी श्रीकृष्ण ने कहा है कि नियत कर्मों का संन्यास उचित नहीं है। 'आसक्तिरहित होकर सभी कर्म करने चाहिए। यही मेरा निश्चित एवं उत्तम मत है (गीता, 18/6·7)।' इससे निश्चय ही यह सिद्ध होता है कि गीता में संन्यास-मार्ग की अपेक्षा कर्मयोग को ही श्रेष्ठता प्रदान की गयी है और कर्मयोग को मानने में ही मानव मात्र का कल्याण निहित है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि लोकमान्य तिलक की गीता-व्याख्या अत्यन्त संगत एवं युगानुरूप है। भारतीय दार्शनिक चिन्तन में इसका अपना अद्वितीय स्थान है। आज विश्व में अज्ञान एवं अकर्मण्यता का जो तिमिर छा रहा है, उसके उच्छेदन हेतु लोकमान्य तिलक के 'गीतारहस्य' जैसे सारगर्भित एवं अमूल्य ग्रन्थ के अध्ययन, मनन एवं अनुशीलन की अत्यधिक आवश्यकता है।

तिलक के इस कर्मठ एवं आशावादी दर्शन ने परवर्ती भारतीय चिन्तकों—श्री अरविन्द, गांधी एवं टैगोर—को एक स्वस्थ तथा सकारात्मक जीवन-दर्शन विकसित करने की प्रेरणा दी।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर (1861-1941)

"उनसे अधिक सार्वभौमिक, सर्वव्यापी व्यक्तित्ववाले मनुष्य से मेरी भेंट नहीं हुई।"[1]

इन शब्दों में काउण्ट कैसरलिंग ने टैगोर के प्रभाव का वर्णन किया है। अमरत्व, ईश्वर तथा मानव-प्रेम के उदात्त आदर्शों से प्रेरित इस महाकवि ने अपने गम्भीर निबन्धों एवं सार्थक तथा सरस कविताओं द्वारा आधुनिक भारतीय चिन्तकों में अग्रगण्य स्थान प्राप्त कर लिया है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म 6 मई, 1861 को बंगाल में हुआ था। उन्हें नियमित स्कूली शिक्षा कम मिली थी, किन्तु उन्होंने मनुष्यों, पुस्तकों एवं घटनाओं के सूक्ष्म अवलोकन से, और सबसे अधिक प्रकृति से, शिक्षा प्राप्त की। उन्होंने महाभारत, वैष्णव काव्य गीतगोविन्द, समस्त बँगला साहित्य तथा गिबन, स्पेंसर एवं

1. द गोल्डेन बुक आव् टैगोर, पृ० 127

शेक्सपियर के साहित्य का अध्ययन बहुत प्रारम्भ में ही किया था। उनके चिंतन पर उपनिषदों, ईश्वरवादी वैष्णव कवियों, बौद्ध धर्म, यूरोपीय सांस्कृतिक एवं सामान्य जीवन-पद्धति तथा भारतीय स्वातन्त्र्य-आन्दोलन का मुख्य रूप से प्रभाव पड़ा।

इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं—'प्रभातसंगीत' गीताञ्जलि' (जिसपर उन्हें विश्व का सर्वोच्च नोबेल पुरस्कार मिला था) आदि साहित्यिक काव्य-कृतियाँ तथा **'साधना'; 'द रिलीजन आव् मैन' 'पर्सनैलिटी'** आदि दार्शनिक ग्रन्थ। टैगोर के जीवन की अन्य महत्त्वपूर्ण घटना थी शान्ति निकेतन में मानवता तथा विश्व-बन्धुत्व के आदर्शों पर आधारित विश्वविद्यालय की स्थापना। सन् 1941 में महाकवि का देहावसान हो गया।

टैगोर के दार्शनिक चिन्तन की सबसे उल्लेखनीय विशेषता है प्रत्येक धार्मिक एवं दार्शनिक परम्परा के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वों का समन्वय तथा परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों की उग्रता को कम करके उनके बीच सर्जनात्मक मध्यम मार्ग की स्थापना करना। आधुनिक भारतीय दार्शनिक चिन्तन में उन्हें सर्वोत्तम समन्वयकर्ता कहा जाय तो भी अत्युक्ति नहीं होगी।

तत्त्व-मीमांसा

ईश्वर—टैगोर, कांट की ही भाँति, ईश्वर को तर्क का विषय न मानकर अनुभव का प्राथमिक तत्त्व मानते हैं। वह हमारे व्यावहारिक जीवन में निहित स्वयं-सिद्ध सत्ता है। उनके अनुसार, हम ईश्वर का वैसे ही अनुभव करते हैं, जैसे प्रकाश का। यद्यपि उनकी रचनाओं में ऐसे अनेक अंश हैं, जिनमें ईश्वर के अस्तित्व के विषय में दर्शनशास्त्रीय परम्परागत प्रमाणों—नैतिक, कारणमूलक, प्रयोजनात्मक एवं तत्त्व-मीमांसीय युक्तियों—का संकेत मिलता है, साथ ही वे सौन्दर्यमूलक अनुभूति के आधार पर ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयास करते हैं; फिर भी, अधिकतम महत्त्व तो वे ईश्वर के व्यक्तिगत अनुभव को ही देते हैं।

जहाँ तक ईश्वर के स्वरूप का प्रश्न है, टैगोर का झुकाव निश्चित रूप से सगुण ब्रह्म या ईश्वर की ओर है। वैष्णवों की भाँति वे भी यह मानते हैं कि ईश्वर अपनी समस्त सृष्टि को हृदय से प्रेम करता है। हमारी प्रेममयी निःस्वार्थ भक्ति की उपेक्षा करके हमें भावहीन नेत्रों से देखनेवाला शुष्क निराकार ब्रह्म हमारी धार्मिक भावनाओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। उनकी मान्यता है कि उपनिषदों में भी सगुण ब्रह्मवाद का प्रतिपादन हुआ है।

किन्तु यहाँ यह बतलाना आवश्यक है कि ईश्वर का वैयक्तिक स्वरूप अधिक

प्रिय होने पर भी टैगोर उसकी असीमता की अवहेलना नहीं करते। वे किसी सीमित ईश्वर को स्वीकार नहीं करते। ईश्वर को सगुण मानने का यह अर्थ नहीं कि वे उसे साधारण मनुष्य के स्तर पर ले आते हों, बल्कि इसका तात्पर्य यह है कि सगुण ईश्वर ही मानव के उस सर्वोच्च आदर्श के मूल में है जिसके लिए मानवता सदा प्रयास तो करती है, परन्तु कभी प्राप्त नहीं कर पाती। उनके अनुसार—

"सत्ता किसी व्यक्ति में नहीं, असीम पुरुष में है।"[1]

ब्रैडले के विरुद्ध उनकी यह मान्यता है कि साकारता अनिवार्यतः ससीमता की सूचक नहीं है तथा निराकार ईश्वर का सीमित होना जरूरी नहीं।

परम सत्ता के वैयक्तिक स्वरूप के विषय में टैगोर का सिद्धान्त हमारे नैतिक एवं सौन्दर्यमूलक अनुभवों से और भी अधिक पुष्ट होता है। उनके अनुसार हमारी नैतिक प्रवृत्तियाँ हमारी आत्मा के भीतर प्रतिष्ठित नित्य-पुरुष की शक्ति से और भी अधिक पुष्ट होती हैं। इसी प्रकार, समस्त सर्जनात्मक प्रयास प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परम पुरुष की अभिव्यक्ति के लिए मानव की अदम्य लालसा प्रकट करते हैं।

यह कहना आवश्यक है कि टैगोर सत्ता के वैयक्तिक पक्ष को ही प्राथमिकता प्रदान करते हैं, किन्तु उसके निर्वैयक्तिक पक्ष का वे सर्वथा निषेध भी नहीं करते। परम पुरुष के प्रति अपनी अगाध निष्ठा के बावजूद टैगोर यह स्वीकार करने को तैयार नहीं कि व्यक्तित्व में ही सत्ता की चरम परिणति हो जाती है या सगुण ब्रह्म से परे कुछ नहीं। इसीलिए वे साम्प्रदायिक वैष्णवों की भाँति अद्वैत वेदान्त को पूर्णतः अस्वीकार करने की भूल नहीं करते। उनके अनुसार व्यक्तिगत सत्ता एवं गुण परम सत्ता के केवल एक ही पक्ष के द्योतक हैं, यद्यपि वह उसका सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है। अपनी उदार प्रवृत्ति के अनुरूप वे निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म के कटु विवाद को प्रेम के सिद्धान्त से सुलझाने की चेष्टा करते हैं—

> "तत्त्व-मीमांसा में इस प्रश्न के बारे में बड़ा विवाद चलता रहा है कि ईश्वर वैयक्तिक है या निर्वैयक्तिक, सगुण है या निर्गुण, साकार है या निराकार। परन्तु प्रेम में स्वीकृति और निषेध एक साथ बद्ध होते हैं। प्रेम में एक छोर पर निर्गुण है तो दूसरे पर सगुण।"[2]

---

1. **पर्सनैलिटी**, पृ० 58
2. **शान्ति निकेतन**, खण्ड 1 : सामञ्जस्य।

जीव—टैगोर जीवात्मा को स्वतन्त्र सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। वे इसके स्वातन्त्र्य को सम्पूर्ण सत्ता के लिए आवश्यक मानते हैं। यह पृथकता ही सम्पूर्ण सत्य नहीं, किन्तु महत्त्वहीन कहकर इसकी अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। मनुष्य ससीम-असीम जीव है, जो अपने भीतर एक असीम शक्ति की उपस्थिति द्वारा ही अपनी ससीमता को पहचानता है। उसका ससीम छोर **अनिवार्यता** के विश्व में है एवं असीम छोर उसकी **आकांक्षाओं** के विश्व में। ग्रीन के समान टैगोर मनुष्य को 'धरती का पुत्र' एवं 'स्वर्ग का उत्तराधिकारी' मानने का आग्रह करते हैं। वह दो लोकों का निवासी है जो इस पृथ्वी पर विद्यमान है परन्तु ईश्वर में भी अवस्थित है, तथा उसे दोनों लोकों के सत्य को बनाए रखना है। टैगोर की मान्यता है कि धार्मिक सिद्धि की उच्चतम अवस्था में भी जीवात्मा का लोप या विलय नहीं होता। आत्मा और ब्रह्म के बीच अन्तर सदा बना रहना चाहिए।

"जो होने की हम निरन्तर साधना करते हैं, वह पहले ही हो चुका है।"[1]

ईश्वर पूर्णता का असीम आदर्श है एवं मानव उस आदर्श की सिद्धि की शाश्वत प्रक्रिया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पारमार्थिक अवस्था में जीव के पृथक् अस्तित्व के बारे में टैगोर का यह आग्रह हमें सत्रहवीं शताब्दी के वैष्णव दार्शनिक श्री **जीव गोस्वामी** के सिद्धान्तों का स्मरण दिलाता है। श्री जीव के अनुसार आत्मा ससीम तो है, किन्तु केवल ससीम ही नहीं। स्वरूपतः ईश्वर एवं जीव में साम्य होने पर भी उसमें भिन्नता मानना आवश्यक है। टैगोर का भी विश्वास है कि आत्मा की स्वतन्त्रता स्वयं ईश्वर के लिए अनिवार्य है। वह स्वयं हमारी स्वतन्त्रता का पोषण करते हुए कहता है—

> "मेरे पास स्वतन्त्र सत्ता के रूप में आओ। किसी भी बद्ध जीव का मुझ तक पहुँचना सम्भव नहीं।"[2]

दार्शनिक दृष्टि से यहाँ 'एक और अनेक' की जटिल समस्या उत्पन्न हो जाती है। ससीम की पृथक्ता और असीम की एकता, अर्थात् एक और अनेक में सामञ्जस्य कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर देने के हेतु टैगोर हीगल की भाँति मध्यममार्गीय समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जीवन का नियम अनेकता में एकता है, अनेकता-रहित एकता नहीं। बीजांकुर का दृष्टांत देकर वे इसे स्पष्ट कहते हैं। बीज उगने के

---

1. वही, खण्ड 8
2. वही, खण्ड 13

पूर्व एक होता है किन्तु ज्यों ही वह अंकुरित होता है, त्यों ही उसकी अनेकता प्रकट हो जाती है एवं उसका यथार्थ जीवन प्रारम्भ हो जाता है।

टैगोर के अनुसार एकता में अनेकता का यह विरोधाभास तर्क द्वारा नहीं, अपितु वैयक्तिक अनुभूति, विशेषतः आनन्दानुभूति द्वारा समझा जा सकता है। किसी अभाव या बन्धन के कारण नहीं, अपितु केवल आनन्द के कारण ही ईश्वर ससीम में अपनी सत्ता खोजता है। अचिन्त्य भेदाभेदवादियों के समान टैगोर भी एक के आत्म-विभाजन को विशुद्ध लीला, केवल आनन्द के लिए की गयी लीला, कहते हैं। ससीम आनन्द को अस्तित्व की अद्वितीयता प्रदान करके ईश्वर स्वयं अपनी पराजय को स्वीकार करता है, जैसे कोई पहलवान स्वयं अपने पुत्र से परास्त होने में प्रसन्न होता है।[1] कभी-कभी टैगोर आनन्द के साथ साथ प्रेम को भी इस विरोधाभास की व्याख्या के लिए प्रयुक्त करते हैं। उनके अनुसार प्रेम में एक और दो की एक साथ आवश्यकता होती है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि टैगोर एक और अनेक के विरोधाभास के विश्लेषण की प्रक्रिया में बुद्धि की अपेक्षा वैयक्तिक अनुभव को अधिक महत्त्व देते हैं, तथापि वे संज्ञानात्मक (कॉग्निशनल) मार्ग के औचित्य या उपादेयता का खण्डन नहीं करते। बुद्धि और तर्क के मार्ग-दर्शन को सर्वथा छोड़कर निरी भावुकता को अपना लेना अनुचित है। भारतीय चिन्तन में अभी भी इस खतरे की सम्भावना बनी रहने की आशंका व्यक्त करते हुए टैगोर कहते हैं—

> "बुद्धि से खीझकर हम भारतवासी सत्ता को केवल भावों की लीला के रूप में देखने लगे। इससे अतिशय भावुकतावाद उत्पन्न हुआ, जिसे भ्रमवश हम सच्ची भक्ति मान बैठे। परन्तु केवल भावना द्वारा ईश्वर को समझना उसके अन्य पक्षों की उपेक्षा कर केवल एक ही पक्ष को देखना है। मनुष्य केवल हृदय से ही संचालित नहीं होता और यदि हम अपनी शारीरिक तथा मानसिक क्षमताओं की समस्त धाराओं को भावनाओं के समुद्र में विलीन हो जाने देंगे, तो हम कभी भी अपने अन्तस्थ मानवीय तत्त्व का ईश्वर से एकीकरण नहीं कर सकेंगे।"[2]

जगत्—टैगोर ससीम जगत् को असीम ईश्वर की ही भाँति असंदिग्ध रूप से सत्य मानते हैं। उनके अनुसार, यह कल्पना करना अनुचित होगा कि ईश्वर ने स्वतन्त्र

---

1. वही, खण्ड 7 : अहं।
2. वही, खण्ड 3

सत्ता केवल आत्मा को प्रदान की है और प्रकृति में वही पूर्णतः अन्तर्निहित है। उसका प्रकृति के साथ भी स्वतन्त्र सम्बन्ध है, अन्यथा वह प्रकृति से अपना सम्पर्क स्थापित नहीं कर पाती। टैगोर मात्रा के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इसके अनुसार ईश्वर एवं जगत् अस्तित्व की उच्च एवं निम्न मात्राओं को सूचित करते हैं। प्रतीति परम सत्ता की विरोधी नहीं; कोई वस्तु सत्य होकर भी प्रतीत हो सकती है। उदाहरणार्थ, बैंक-नोट के कागज का मूल्य उस पर मुद्रित अधिकार के कारण है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि मुद्रित हुए बिना कागज का कोई अस्तित्व ही नहीं। अद्वैत वेदान्त में भी भ्रम एवं असत्यता में अन्तर स्थापित किया गया है और यह स्वीकार किया गया है कि जगद्-प्रतीति उतनी असत्य नहीं जितनी शंख में चाँदी की प्रतीति, जिसका वस्तुतः कोई अस्तित्व ही नहीं होता। अतः टैगोर प्रतीति को सत्य का ही एक पक्ष मानते हैं—

> "यदि हम सत्य को उसकी प्रतीति से वंचित कर दें, तो वह सत्ता का सर्वश्रेष्ठ भाग खो बैठता है क्योंकि प्रतीति तो वह वैयक्तिक सम्बन्ध है, वह मेरे लिए है।"[1]

टैगोर के अनुसार स्वयं उपनिषदों में, जिन्हें अद्वैतवादी अपने सिद्धान्त के समर्थन में उद्धृत करते हैं, ससीम के निषेध की निन्दा की गयी है।

> "जो व्यक्ति केवल ससीम में ही उलझे रहते हैं, वे अन्धकार में हैं। परन्तु जो केवल असीम में उलझे रहते हैं, वे तो और भी गहरे अन्धकार में गिर पड़ते हैं।"[2]

ससीम जगत् को, जो हमारे व्यावहारिक तथा सक्रिय जीवन का क्षेत्र है, अस्वीकार करना भीरुता का मार्ग है, ज्ञान का नहीं। ससीम जगत् की सत्यता के निषेध का कट्टर विरोध करते हुए टैगोर कहते हैं—

> "परम असीम निरा रिक्त है। ससीम में कुछ तो है ही। उसे एक ऐसी चेक-बुक माना जा सकता है जिसका अपने अनुरूप खाता बैंक में नहीं है। परन्तु चरम असीम तो ऐसी स्थिति में है कि उसके पास कोई धन नहीं और चेक-बुक भी नहीं।"[3]

---

1. पर्सनैलिटी, 51
2. ईशोपनिषद्, 12
3. पर्सनैलिटी, पृ० 56

टैगोर माया एवं अविद्या शब्द का प्रायः एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं। परन्तु गोचर जगत् की व्याख्या के रूप में माया का सिद्धान्त उन्हें किञ्चित् भी प्रभावित नहीं करता। मायावाद की सीमाओं पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं—

> "हमारे कुछ दार्शनिक कहते हैं कि सीमितता जैसी कोई वस्तु ही नहीं; वह माया है, भ्रम है। सत्य केवल असीम है एवं केवल माया, असत्यता ही ससीम की प्रतीति का कारण है। परन्तु माया शब्द तो नाम मात्र है। वह कोई व्याख्या नहीं। वह तो केवल इतना कहना मात्र है कि सत्य के साथ साथ विलोम का भी अस्तित्व है। परन्तु वे दोनों एक ही समय एक साथ कैसे उपस्थित रहते हैं, यह नहीं समझाया गया।"

किन्तु मायावाद की इन अपूर्णताओं के बावजूद उसमें एक विशेषता यह है कि वह जगत् को ईश्वर से नितान्त पृथक् मानने के विरुद्ध हमें सावधान कर देता है। ईश्वर से प्रकृति की पूर्ण पृथक्ता टैगोर को उतनी ही अस्वीकार्य है जितनी दोनों की पूर्ण एकाकारता। उनके अनुसार जगत् के बिना ईश्वर निरी कल्पना हो जायगा, एवं ईश्वर के बिना जगत् भी निरी विशृंखलता। इस दृष्टि से सत्य वह है जो असीम ब्रह्म एवं सीमित जगत् की अन्योन्याश्रितता का सूचक हो, एवं माया इस मिथ्या विश्वास को व्यक्त करती है कि जगत् अपने आप में सत्य है और वह असीम से सर्वथा असम्बद्ध है।

> "माया वह है जो सम्बद्धता के सत्य से विद्रोह करती है।"[1]

हमारे अनुसार इसे माया की एक **मौलिक** व्याख्या माना जा सकता है।

मानवतावाद

रवीन्द्र उत्कट मानवतावादी हैं। वे मनुष्य को ही सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानते हैं और वस्तुतः शेष जगत् से मानव की श्रेष्ठता दिखाने में ही मानवतावाद का प्रारम्भ होता है। उनके अनुसार असीम का पूर्ण उद्घाटन तारों भरे आकाश में नहीं, मनुष्य की आत्मा में होता है। ईश्वर के प्रकट रूपों में मनुष्य अनुपम है। मानव-आत्मा अतुलनीय है क्योंकि उसमें ईश्वर अपने आपको विशेष प्रकार से प्रकट करता है। परम सत्ता की दृष्टि से कहा जा सकता है कि मनुष्य से अधिक सत्य और कुछ नहीं। टैगोर इसे अपनी काव्यमयी भाषा में इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

---

1. **साधना**, पृ० 85

"ईश्वर की वीणा में बहुत से तार हैं; कुछ लोहे के हैं, कुछ ताँबे के हैं परन्तु ईश्वर की वीणा में सोने का तार केवल मनुष्य ही है।"[1]

परन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि टैगोर का मानवतावाद यूरोपीय मानवतावाद से भिन्न है। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के मानवतावादी मानव की वैज्ञानिक सफलताओं से प्रभावित होकर उसकी श्रेष्ठता केवल शारीरिक एवं मानसिक आधार पर आँकने लगे, किन्तु टैगोर इससे सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार मनुष्य की वास्तविक श्रेष्ठता उसकी शक्ति या बुद्धि में नहीं, अपितु स्वतन्त्रता का उपभोग करने में है।

टैगोर की मान्यता है कि यह स्वतन्त्रता ही मानव को ग्रहणशील से सर्जनशील प्राणी बनाती है। इसके फलस्वरूप वह एक नवीनता-प्रवर्तक कलाकार हो जाता है। मनुष्य का गौरव इस तथ्य में है कि वह जो कुछ पर्याप्त है उससे सन्तुष्ट नहीं होता, व्यग्र रहता है। उसे सुदूर एवं दुर्गम्य तत्त्व को पाने की लालसा बनी रहती है। प्रगति के लिए यह अदम्य कामना ही मनुष्य को श्रेष्ठता के शिखर पर प्रतिष्ठित कर देती है।

परन्तु मानव को सृष्टिक्रम में सर्वश्रेष्ठ दिखाकर ही टैगोर सन्तुष्ट नहीं हो जाते वे उसे एक आध्यात्मिक रंग में भी रँग देते हैं। मध्यकालीन वैष्णव कवि चण्डीदास की भाँति वे भी कहते हैं कि सबसे बड़ा सत्य है मनुष्य, उससे बढ़कर और कुछ नहीं। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'द रिलिजन आव मैन' में कबीर, दादू आदि का बड़े आदर के साथ उल्लेख करते हैं। इन सन्तों ने ईश्वर के मानवीय रूप नर-हरि, नर-नारायण को बड़ी योग्यता के साथ प्रस्तुत किया था।

स्पष्ट है कि टैगोर आध्यात्मिक मानवतावाद के प्रतिपादक हैं। वे समग्र सत्य ईश्वर को भी मानवता की दृष्टि से परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार चरम तत्त्व या परम सत्ता मानवीय है। उसकी सदैव हमें चेतना होती है। उससे हम प्रभावित होते हैं और उसे व्यक्त करते हैं। परम सत्ता में यदि मानवीय अंश न हो, तो वह मनुष्य के भीतर सर्वोत्तम अंश—उसकी महानता—को सन्तुष्ट नहीं कर सकती। इसलिए टैगोर कहते हैं—

"ईश्वरीय सत्ता को चाहे जो नाम दिया गया हो, परन्तु अपने मानवीय स्वरूप के कारण ही उसे हमारे धर्म के इतिहास में सर्वोच्च स्थान मिला है।

---

1. शान्ति निकेतन में 1931 में दिये गये एक भाषण से।

वह पूर्णता के उस समस्त आदर्शों के लिए चिन्तन-पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है, जिनका मनुष्य के अपने स्वभाव से सामंजस्य है।"[1]

मानवतावाद के विषय में रवीन्द्र अपना निष्कर्ष इस प्रकार व्यक्त करते हैं— "मेरा धर्म मानव धर्म है जो असीम मानवता में परिभाषित होता है।"[2]

यह धर्म कुछ मानवीय गुणों को ईश्वर में आरोपित करने में नहीं, अपितु ईश्वर की मानवता की सिद्धि में है, जो पहले से ही अनुमानित है।

नीति-मीमांसा

संन्यासवाद बनाम क्रियावाद—पाश्चात्य चिन्तकों द्वारा भारतीय चिन्तन पर लगाए गए वैराग्यवाद एवं नैराश्यवाद के आक्षेपों की टैगोर अत्यन्त निष्पक्षता से जाँच करते हैं। भावुक भारतीयों की भाँति इस आरोप को सर्वथा निराधार कहने की अपेक्षा वे एक सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाते हैं। गाउगे के इस कथन का उल्लेख करते हुए कि उपनिषदों का आदर्श शून्यता, नैराश्य एवं जड़ता-भावना को कुचल देने का है, टैगोर कहते हैं कि जहाँ कुछ उपनिषद् मानव-जीवन को दुःखपूर्ण मानते हैं, वहाँ कुछ अन्य संसार के उपभोग की शिक्षा भी देते हैं। उनकी मान्यता है कि शरीर के पूर्ण उत्पीड़न का उपदेश उपनिषदों में कही भी नहीं मिलता। बौद्ध धर्म भी ऐकान्तिक निर्वाण या विनाश का उपदेश नहीं देता। मध्य तथा आधुनिक युग में ऐसे अनेक क्रान्तिकारी व्यक्ति हुए; जिन्होंने संसार का निषेध करनेवाले नीतिशास्त्र का विरोध एवं जीवन के सकारात्मक मूल्यांकन का आग्रह किया। इन सब तथ्यों से स्पष्ट है कि ड्यूस्सेन, श्वाइटज़र आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय चिन्तकों की संन्यासवादी प्रवृत्ति को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया है।

परन्तु साथ ही, टैगोर स्वीकार करते हैं कि गीता की निष्काम-कर्मयोग की शिक्षा के बावजूद भारतीय जन-मानस पर त्यागमूलक एवं संन्यासवादी उपदेशों का अमिट प्रभाव पड़ा है। उपनिषदों एवं बौद्ध दर्शन ने अनासक्ति की जो शिक्षाएँ दीं, उन्हें परवर्ती चिन्तकों ने बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया और आसक्ति मात्र को हेय तथा त्याज्य घोषित कर दिया। इस त्यागमूलक प्रवृत्ति की परिणति संन्यासवाद में हुई।

---

1. द रेलिजन ऑव् मैन, पृ० 205
2. वही, पृ० 96

शंकराचार्य के महान् अद्वैतवादी सिद्धांत के मुख्य—आध्यात्मिक—पक्ष की उपेक्षा कर उनके अनुयायी केवल संन्यास पर ही बल देने लगे। इसके फलस्वरूप देश पतन के गर्त में चला गया।

टैगोर की मान्यता है कि भारत की प्रगति के लिये इस संन्यासवादी परम्परा को तोड़ना अत्यन्त आवश्यक है। वे जीवन, कर्म एवं श्रम को महत्त्व देने का अनुरोध करते हैं। इस प्रसंग में आनन्द कुमारस्वामी का यह मत सर्वथा उचित ही है—

> "टैगोर की रचनाओं में जीवन का ऐसा गुणगान, मानवता की ऐसी प्राण-प्रतिष्ठा है जो शंकराचार्य के कठोर दर्शन के तनिक भी अनुकूल नहीं।"[1]

टैगोर का नीतिशास्त्र संन्यास-विरोधी तो है ही, साथ ही वह अहं-विरोधी भी है। इसी कारण वे सुखवाद एवं उपयोगितावाद के अतिवादी रूपों को स्वीकार नहीं करते और इसीलिए शाक्तों एवं नीत्शे द्वारा प्रतिपादित 'शक्ति ही सद्गुण है' का सिद्धान्त उन्हें मान्य नहीं है।

अपनी रचनाओं में टैगोर क्रियावाद का बहुत ही सशक्त ढंग से प्रतिपादन करते हैं। रूडोल्फ इयूकेन की भाँति उनका भी विश्वास है कि आत्मा संघर्ष है और जीवन एक कर्म। वे कहते हैं—

> "मनुष्य जितना अधिक कर्म करता है और अपने अन्दर निहित सम्भावनाओं को ले आता है, उतने ही अधिक निकट वह सुदूर भविष्य को ले जाता है। इस यथार्थीकरण द्वारा ही मानव अपने को अधिकाधिक विशिष्ट बनाता चलता है एवं अपनी नाना गतिविधियों के बीच नित्य नूतन स्थितियों में स्वयं को स्पष्टतः देख पाता है।"[2]

टैगोर मानते हैं कि क्रियावाद एक ऐसा सिद्धान्त है जो अहंमूलक सुखवादी प्रवृत्ति तथा पूर्णतः न्यायमूलक संन्यासवादी प्रवृत्ति में सामंजस्य स्थापित करता है। कर्म एवं कर्तव्य-पालन का आग्रह हमें सन्यासी की गुफा में शरण लेने के प्रलोभन से बचाता है। इसके साथ ही, वह हमें जीवन के प्रति अहंप्रेरित दृष्टिकोण से बचाता है, क्योंकि कर्म के अर्थ एवं वैशिष्ट्य के बारे में हम जितना ही मनन करते हैं, उतना ही

---

1. कुमारस्वामी, आनन्द : **द सांग्ज़ ऑफ़ रवीन्द्रनाथ टैगोर** (आर्ट ऐंड स्वदेशी नामक निबन्ध-संग्रह में)।
2. **साधना**, पृ० 120

अधिक हम यह समझ पाते हैं कि सबके साथ सहयोगपूर्वक रहना ही शुभ जीवन का लक्षण है किन्तु क्रियावाद के भी एकांगी होने का खतरा है। यूरोपीय चिंतन द्वारा समाज को प्रदत्त गतिशीलता को स्वीकार करने के बाद भी टैगोर आजीवन केवल कर्म के लिए कर्म करने के यान्त्रिक सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। उनकी मान्यता है कि आधुनिक समाज में साध्य का महत्त्व इसीलिए कम होता जा रहा है कि मानव-कर्म हमारी आन्तरिक आध्यात्मिक समग्रता से अधिकाधिक विच्छिन्न होता जा रहा है। हमें मुक्त करने की अपेक्षा वह अपने बन्धन में हमें अधिकाधिक जकड़ता जा रहा है। क्रियावाद के इन दोषों को ध्यान में रखते हुए टैगोर कर्म एवं चिन्तन के बीच मध्यम मार्ग—साधना के मार्ग—का प्रतिपादन करते हैं।

स्वतन्त्रता का प्रत्यय—टैगोर के अनुसार स्वतन्त्रता एवं संयम एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। स्पिनोज़ा का यह कथन सर्वथा युक्तिसंगत है कि अनिवार्यता (नेसेसिटी) की स्वीकृति ही स्वतन्त्रता है। वस्तुतः अनिवार्यता का रहना तो अवश्यम्भावी है, परन्तु मनुष्य को यह माँग करने का अधिकार है कि यह अनिवार्यता आत्म-प्रदत्त हो। कांट का अनुसरण करते हुए टैगोर कहते हैं कि नैतिक नियमों का मुख्य उद्देश्य हमें आत्म-नियन्त्रण के स्तर तक उठाना है। इसलिए अनिवार्यता भी मनुष्य के लिए आनन्द का कारण बन सकती है। टैगोर इसे अत्यन्त सुन्दर रूपक द्वारा व्यक्त करते हैं—

> "जो यह जानता है कि आनन्द एवं स्वतन्त्रता नियम में स्वयं को अभिव्यक्त करती है, वह पहले ही नियम से ऊपर उठ चुका है। इसका यह अर्थ नहीं कि उसपर कोई बन्धन नहीं रहता, बल्कि यह है कि स्वयं बन्धन ही प्रेयसी की घेरनेवाली बाँहों की भाँति, परमानन्द का साधक हो जाता है।"[1]

स्वतन्त्रता के अपने प्रत्यय को टैगोर संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

> "सत्य के एक ओर स्वतन्त्रता है, दूसरी ओर संयम। उसका एक पक्ष कहता है, 'उसके भय से अग्नि जलती है' तो दूसरा पक्ष कहता है, 'आनन्द से ही सब वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं।' नियम को अस्वीकार करना दूसरी ओर स्वतन्त्रता के उपयोग की सम्भावना को निरस्त करना है। स्वयं चरम सत्ता भी स्वतन्त्र एवं अ-स्वतन्त्र दोनों है। ब्रह्म अपने सत्य से बद्ध एवं अपने आनन्द से मुक्त है।

1. शान्ति निकेतन, खण्ड 14

हम भी स्वतन्त्रता का उपभोग तभी कर सकते हैं जब हम सत्य के बन्धनों को स्वीकार करें।"[1]

स्पष्ट है कि टैगोर के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ है आत्म-नियंत्रण,-अ-नियंत्रण नहीं। अतः नैतिक प्राणी के रूप में मनुष्य की सर्वोच्च स्वतंत्रता उस स्वातंत्र्य के आनन्द-पूर्वक समर्पण की क्षमता में ही निहित है।

महात्मा गांधी

आधुनिक भारतीय चिन्तकों में महात्मा गांधी का अनन्य स्थान है। यह सत्य है कि वे शास्त्रीय दार्शनिक नहीं हैं; तथापि उन्होंने जगत् के महानतम धार्मिक एवं दार्शनिक आचार्यों से सनातन सत्यों को ग्रहण कर व्यावहारिक जीवन के लिए उपयुक्त एक नवीन दार्शनिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। जगत् के अन्य महान् व्यक्तियों से वे इस अर्थ में भिन्न हैं कि अपने जन्म से ही महान् नहीं थे। उन्होंने दो सद्गुणों—सत्य के प्रति निष्ठा तथा प्राणिमात्र के प्रति प्रेम—को परीक्षण द्वारा व्यावहारिक जीवन में उतारकर अपने को महान् बनाया। इस नैतिक नेतृत्व ने गांधी को भारत के ही नहीं, अपितु विश्व के महान् नैतिक-धार्मिक चिन्तकों की पंक्ति में बैठा दिया है।

हमारी मान्यता है कि आधुनिक भारतीय दर्शन में **गांधी का विशिष्ट योगदान नीति-मीमांसा तथा समाज-दर्शन के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने में निहित है।** इन दोनों क्षेत्रों में ही वे सर्वाधिक क्रान्तिकारी चिन्तक सिद्ध हुए और उन्होंने भारत के परम्परागत मूल्यों को आधुनिक परिस्थितियों पर लागू किया।

मोहनदास करमचन्द गाँधी का जन्म 2 अक्टूबर, 1869 को काठियावाड़, गुजरात में हुआ था। बाल्यकाल में उनके उर्वर मस्तिष्क पर रामायण, भागवत आदि वैष्णव ग्रन्थों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा, जिसके फलस्वरूप धर्म एवं नैतिकता में उनकी दृढ़ आस्था हो गयी। हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण कर कानून के अध्ययन के हेतु वे इंग्लैंड चले गये तथा 1891 में बैरिस्टर बनकर भारत लौटे। यहाँ अल्प वास के पश्चात् वे दक्षिण अफ्रीका चले गये, जहाँ कई वर्षों तक उन्होंने जातिगत भेद-भाव के विरुद्ध अहिंसक आन्दोलन चलाया। भारत लौटने पर उन्होंने स्वातन्त्र्य-संग्राम का नेतृत्व किया तथा सन् 1947 में देश को स्वतन्त्र कराया। सन् 1948 में एक हत्यारे की गोली से उनका प्राणान्त हुआ।

---

1. वही।

गांधी को जिन पुस्तकों ने प्रभावित किया, उनमें गीता, बाइबल, कुरान आदि धर्म-ग्रन्थों के अतिरिक्त मैक्समूलर की 'इण्डिया : ह्वाट इट कैन टीच अस', आर्नल्ड की 'लाइट आव् एशिया' 'ऐनी बेसेण्ट की 'हाउ आई बिकेम ए थियोसॉफिस्ट', रस्किन की 'अन्टू द लास्ट' तथा कार्लाइल की 'हीरोज ऐण्ड हीरो-वर्शिप' का उल्लेख किया जा सकता है। गांधी की मुख्य कृतियाँ हैं, 'ऐन ऑटोबायोग्रैफी,' 'हिन्दू धर्म', 'अनासक्तियोग' (गीता की व्याख्या), 'सत्याग्रह' आदि। दर्शन को मुख्यतः तीन भागों में बाँटा जा सकता है तत्त्व-मीमांसा, नीति-मीमांसा तथा समाज-दर्शन।

तत्त्व-मीमांसा

गांधी दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त है—ईश्वर का प्रत्यक्ष। वस्तुतः उनकी ईश्वर की अवधारणा सत्य की अवधारणा से पृथक् नहीं की जा सकती। ईश्वर एवं सत्य को एक दूसरे का पर्याय मानने की यह प्रवृत्ति उनके चिन्तन की परिपक्व अवस्था में निर्मित हुई थी। परन्तु ईश्वर-विषयक उनके चिन्तन की विकास-प्रक्रिया को समझने के लिए उनकी प्रारम्भिक मान्यताओं को जानना भी आवश्यक है।

यद्यपि गांधी को कोई शास्त्रीय दार्शनिक प्रशिक्षण प्राप्त नहीं था, तथापि हिन्दू एवं ईसाई-धर्म-ग्रन्थों के व्यापक अध्ययन तथा धार्मिक विषयों पर विद्वानों से वार्तालाप के फलस्वरूप उन्हें ईश्वर के अस्तित्व के विषय में दी जानेवाली परम्परागत युक्तियों का ज्ञान हो गया था। 'हिन्दू धर्म' नामक उनके ग्रन्थ के 38वें-39वें खण्ड में हमें ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में कई तर्क मिलते हैं। उनके निम्नलिखित कथन में कारणगत युक्ति विद्यमान है—

> 'यहीं हमारी सत्ता है, यदि हमारे पालकों एवं उनके पालकों की भी सत्ता रही है, तो समस्त सृष्टि के पालक में विश्वास रखना भी उचित ही है।''

इसी प्रकार उनके एक वाक्य में सृष्टिगत एवं प्रयोजनमूलक युक्तियाँ मिले-जुले रूप में दिखलायी पड़ती हैं—

> ''जगत् में व्यवस्था है और प्रत्येक पदार्थ एवं जीवित प्राणी एक अटल नियम द्वारा संचालित है। यह नियम अन्धा नहीं है, क्योंकि जीवित प्राणियों के आचरण को किसी अन्य नियम द्वारा संचालित नहीं किया जा सकता....तो फिर समस्त जीवन का संचालक वह, नियम ईश्वर ही है। नियम एवं नियामक एक ही है।''

आप्त वाक्य सम्बन्धी एवं ऐतिहासिक युक्तियाँ भी मिलती हैं—

"ऐसा प्रमाण सभी देशों एवं युगों के असंख्य द्रष्टाओं एवं संतों के अनुभवों में मिलता है।"

गांधी नैतिक युक्ति को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। उनके लिए **अन्तरात्मा ईश्वर की आवाज** है, कर्तव्य का आदेश है जिसका उन्होंने सदैव पालन किया।

परन्तु लोत्ज़ आदि दार्शनिकों की भाँति गांधी यह मानते हैं कि इन युक्तियों के बावजूद साक्षात् अनुभव के बिना किसी भी व्यक्ति को ईश्वर के अस्तित्व के बारे में कोई निश्चित प्रमाण नहीं दिया जा सकता। वे कहते हैं—

"एक अनिर्वचनीय रहस्यमयी शक्ति है जो सर्वव्यापी है। मैं उसका अनुभव करता हूँ, यद्यपि देखता नहीं। यह अदृश्य शक्ति अपने अस्तित्व का अनुभव तो कराती है किन्तु स्वयं समस्त प्रमाणों से परे हैं क्योंकि वह इन्द्रियों द्वारा अनुभूत अन्य समस्त पदार्थों से भिन्न है। वह इन्द्रियों से परे है।"

अतः गांधी व्यावहारिक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

"जो केवल बुद्धि को सन्तोष दे, यदि वह सम्भव भी हो, तो वह ईश्वर नहीं है। ईश्वर होने के लिए उसका हृदय पर शासन करना और उसको नया रूप देना आवश्यक है। उसे अपने भक्त के क्षुद्रतम कर्म में अपने को अभिव्यक्त करना चाहिए। ईश्वर के अस्तित्व का जो व्यक्ति अपने जीवन में परीक्षण करना चाहता है उसे सजीव श्रद्धा के साथ ऐसा करना चाहिए और चूँकि श्रद्धा को बाह्य प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, अतः सबसे सुरक्षित उपाय हैं जगत् के नैतिक शासन और नैतिक नियम—सत्य एवं प्रेम के नियम—की सर्वोच्चता में विश्वास रखना।"—यंग इंडिया, 11 अक्टूबर, 1928।

कार्यकारी परिकल्पना के आधार पर, जिसका विज्ञान में सामान्यतः प्रयोग होता है, गांधी ने ईश्वर में अपने विश्वास की वृद्धि की। सत्य एवं प्रेम द्वारा ईश्वर जगत् का शासन करता है, इस तथ्य को क्रियान्वित करते हुए उन्होंने अपने वैयक्तिक एवं राजनीतिक जीवन में सभी मनुष्यों के प्रति प्रेम एवं विश्वास के साथ व्यवहार किया। अपने इस व्यवहार के बदले में उन्हें जन-साधारण से अभूतपूर्व प्रेम एवं विश्वास मिला, जिसने ईश्वर में उनके विश्वास को और भी दृढ़ किया।

जहाँ तक ईश्वर के स्वरूप का प्रश्न है यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि गांधी की मानसिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि तथा शिक्षा निश्चित रूप से उन्हें वैयक्तिक

ईश्वर के अधिक समीप ले जाती थी। गीता, कुरान तथा बाइबल के अध्ययन ने उनकी इस आस्था को और भी पुष्ट किया। उनकी मान्यता यह है कि सर्वोच्च सत्ता पूर्णतः अमूर्त एवं सर्वथा अगम्य नहीं हो सकती, क्योंकि यदि ऐसा होता तो समस्त धार्मिक प्रयास निरर्थक हो जाते। मानव-जीवन से सर्वथा असम्बद्ध क्षेत्र में ईश्वर को खोजने के लिए गांधी तैयार नहीं हैं—

> "यदि मैं यह विश्वास कर पाता कि ईश्वर मुझे हिमालय की गुफा में मिलेगा तो मैं तुरन्त वहाँ पहुँचता। यह मैं जानता हूँ कि मैं उसे मानवता से पृथक् नहीं कर सकता।"—'हरिजन', 29 अगस्त, 1936।

वैयक्तिक ईश्वर में विश्वास मूलतः सर्वोच्च शुभत्व की मान्यता से जुड़ा हुआ है। इस शुभत्व का एक पक्ष यह है कि नैतिक नियम का प्राकृतिक नियम से कोई विरोध नहीं। सम्भव है, ईश्वर की शक्ति कभी-कभी विध्वंसक जान पड़े, किन्तु गांधी के अनुसार ईश्वर केवल प्रेम-वश ही विध्वंस कर सकता है, घृणा-वश नहीं। **विध्वंस ईश्वर का विशेषाधिकार है, हमें वह प्राप्त नहीं**। ईश्वर का विध्वंस सर्वनाशक नहीं होता। तात्पर्य यह है कि सृष्टि के सर्जनात्मक प्रयोजन के साथ विध्वंस का कोई विरोध नहीं। वह समग्र प्रक्रिया में प्रयुक्त एक साधन मात्र है। जहाँ तक अशुभ का प्रश्न है, गांधी उसे 'गलत स्थान में प्रयुक्त शुभ' मानते हैं।

> "अशुभ का कोई पृथक् अस्तित्व है ही नहीं। वह अनुपयुक्त स्थिति में सत्य या शुभ ही है।"[1]

ईसाई ईश्वरवादियों की भाँति गांधी कभी-कभी यह भी कहते हैं कि मनुष्य के इच्छा-स्वातन्त्र्य के दुरुपयोग से ही अशुभ की उत्पत्ति होती है। वे मानते हैं कि यदि ईश्वर चाहे तो समस्त बुराइयों को तत्काल दूर कर सकता है, परन्तु एक अच्छे लोकतान्त्रिक के समान वह मनुष्य को यह अवसर देता है कि वह अपने ही प्रयत्नों द्वारा अशुभ को दूर कर नैतिक श्रेष्ठता प्राप्त करे—

> "ईश्वर जगत् का सर्वोच्च लोकतान्त्रिक है क्योंकि वह हमें शुभ एवं अशुभ के बीच चुनाव करने की स्वतन्त्रता देता है।"—**यंग इंडिया**, 11 अक्टूबर 1928।

परन्तु गांधी के विचारों में निर्वैयक्तिक ईश्वर के प्रति उन्मुखता भी दिखायी पड़ती है। विशेषतः उनके नियम के आग्रह में यह प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट रूप में प्रकट हुई। उन्हीं के शब्दों में—

---

1. शुक्ला, सी० एम० : **गांधीज व्यू ऑव् लाइफ**, पृ० 37

"मैं ईश्वर को व्यक्ति नहीं मानता।....ईश्वर का नियम एवं ईश्वर दो पृथक् पदार्थ या तथ्य नहीं हैं, जैसे लौकिक राजा और उसके प्रत्यय होते हैं। ईश्वर तो प्रत्यय है, स्वयं नियम है, इसलिए ईश्वर द्वारा नियम तोड़े जाने की कल्पना असम्भव है।"[1]

यह स्वीकार करना होगा कि अपने जीवन की अन्तिम अवस्था में पहुँचकर गांधी निश्चित रूप से परम सत्ता को व्याख्यायित करने के हेतु वैयक्तिक ईश्वर की अपेक्षा सत्य को अधिक महत्त्व देने लगे थे। प्रारम्भ में वे सत्य एवं ईश्वर को एक दूसरे का पर्याय मानते थे। किंतु जहाँ वे पहले साग्रह प्रतिपादित करते थे कि 'ईश्वर ही सत्य है', वहाँ बाद में वे इस सूत्र को बदलकर कहने लगे थे कि 'सत्य ही ईश्वर है'। इस सूत्र के प्रथम भाग पर प्रकाश डालते हुए गांधी कहते हैं—

"ईश्वर ही सत्य है' में 'है' का अर्थ निश्चित रूप से 'के बराबर है' नहीं है; न ही, उसका अर्थ केवल 'सच्चा' है। सत्य ईश्वर का केवल गुण मात्र नहीं, अपितु वह है ही सत्य। वह सत्य नहीं तो और कुछ नहीं। संस्कृत भाषा में सत्य शब्द का अर्थ सत् होता है, जिसका अर्थ है 'है'। इसलिए सत् में सत्य समाविष्ट है। ईश्वर सत्य है और कुछ नहीं। अतः हम जितने सत्यवान होंगे, उतने ही ईश्वर के निकट पहुँचेंगे। जिस मात्रा में हम सच्चे हैं, उसी मात्रा में हम हैं, हमारा अस्तित्व है।"[2]

इस बात पर अधिक बल देने के हेतु, कि सत्य ईश्वर का गुण नहीं, किन्तु उसका सार ही है, गांधी सत्य को ईश्वर से पहले ले आते हैं। इस मत-परिवर्तन को वे इस प्रकार समझाते हैं—

"यदि मानव जिह्वा के लिए ईश्वर का पूर्णतम वर्णन सम्भव हो, तो हमें कहना होगा कि ईश्वर सत्य है, परन्तु मैंने एक कदम आगे बढ़ाकर कहा कि सत्य ईश्वर है। मुझे सत्य के सम्बन्ध में कोई दोहरा अर्थ नहीं मिला तथा नास्तिक लोग भी सत्य की आवश्यकता शक्ति को स्वीकार करते हैं। अतः 'सत्य ईश्वर है', यह परिभाषा मुझे अधिकतम संतोष देती है।"—**यंग इंडिया,** 31 दिसम्बर, 1931।

1. बोस, ए० के० : **सेलेक्शन्स फ्रॉम गांधी**, पृ० 6
2. मैथ्यू, पी० जी० को लिखे 9 जुलाई, 1932 के पत्र से।

गांधी यहाँ इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं कि ईश्वर की अवधारणा में अस्पष्टता सम्भव है किन्तु सत्य स्फटिक के सदृश निर्मल है; स्वयं सत् शब्द की व्युत्पत्ति से ज्ञात होता है कि उसका सार सत्ता या अस्तित्व है। इसके अति-रिक्त, सत्य को ईश्वर मान लेने से विभिन्न धर्मों को माननेवाले तथा अनीश्वरवादी भी चरम मूल्य की खोज में एक दूसरे के सहयोगी हो सकते हैं। डा० नरवणे के अनुसार—

> "सत्य ईश्वर है' सूत्र कुछेक व्यवहारवादी आवश्यकताएँ पूरी करने एवं सार्व-जनीन नैतिकता के लिए रास्ता बनाने के अलावा, स्वयं गांधी की अपनी मान्यताओं को एक समग्र जीवन-दृष्टि में सँजाने में सहायता करता है।"[1]

नीति-मीमांसा

गांधी के अनुसार नैतिकता मानव-जीवन की आधार-शिला है। व्यक्ति एवं समाज का अस्तित्व तथा प्रगति इसी पर निर्भर है। यहाँ हम गाँधी के नीति शास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों पर प्रकाश डालेंगे।

सत्याग्रह—'सत्याग्रह' का प्रत्यक्ष गांधी के सत्ता एवं मूल्य को सत्य का पर्याय मानने की मूल प्रवृत्ति से सम्बद्ध है। इसका परोक्ष सम्बन्ध उनकी इस मान्यता से भी है कि आत्मा ही सर्वोच्च शक्ति है। 'सत्याग्रह' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए गांधी कहते हैं—

> "सत्याग्रह का अर्थ है सत्य का आग्रह। वह सत्य-शक्ति है, किन्तु चूँकि सत्य आत्मा है, इसलिए वह आत्म-शक्ति भी है।"

चिन्तन के इतिहास में प्राचीन काल से ही मनीषी इस अक्षय शक्ति का सदु-पयोग करते रहे हैं। जीसस एवं बुद्ध को इसी ज्ञान से प्रेरणा मिली थी। आधुनिक युग में गांधी ने इस उपेक्षिता शक्ति को पुनः अपनाया। सूक्ष्म परीक्षण के द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह ऐसी शक्ति है जो सामाजिक आदर्शों में क्रान्ति कर देगी और उन निरकुंश शासनों तथा नित्य-वर्धनशील सैन्यवाद का अन्त कर देगी, जिनके नीचे दबकर पश्चिमी राष्ट्र कराह रहे हैं। दक्षिण अफ्रिका के संघर्ष के बाद लिखे गये गांधी के पूर्व-उल्लिखित वाक्यों के महत्त्व को गिलवर्ट मरे जैसे दूरदर्शी चिन्तकों ने स्वीकार किया था।

---

1. नरवणे, वी० एस० : **मार्डन इण्डियन थाॅट**, पृ० 181

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सत्य का आग्रह सत्याग्रह के सकारात्मक पक्ष को सूचित करता है। इसका विरोधी पक्ष अप्रतिरोध (नान-रेजिस्टेन्स) शब्द से सूचित होता है। इस सन्दर्भ में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि हम प्रतिरोध नहीं करें, तो शत्रु का विरोध कैसे सम्भव है ? इसके उत्तर में गांधी कहते हैं कि वस्तुतः सत्याग्रही किसी भी व्यक्ति को अपना शत्रु मानता ही नहीं। उसकी दृष्टि में व्यक्ति दोषी हो सकता है और उसे समझा-बुझाकर सुधारा जा सकता है। इसी प्रकार अप्रतिरोध का वास्तविक अर्थ है—प्रत्याक्रमण न करना।

गांधी द्वारा प्रतिपादित सत्याग्रह का सिद्धान्त आधुनिक राजनीति के क्षेत्र में सर्वथा नया प्रत्यय है। गाँधी वर्तमान राजनीति में व्याप्त 'जैसे को तैसा' की प्रवृत्ति का परित्याग करके प्रेम एवं शांति के साथ रहने का आग्रह करते हैं।

अहिंसा—गांधी की नीति-मीमांसा में '**अहिंसा**' का सर्वोच्च स्थान है। वे उसे परम धर्म (**अहिंसा परमो धर्मः**) मानते हैं। अहिंसा का इतना अधिक महत्त्व इसलिए है कि सत्य, जिसे गांधी 'ईश्वर' मानते हैं, कि अनुभूति प्रेम एवं अहिंसा से ही हो सकती है। उन्हीं के शब्दों में—

> "जब आप सत्य को ईश्वर के रूप में जानना चाहें तो उसका एकमात्र उपाय है प्रेम और अहिंसा।"—**यंग इंडिया**, 31 दिसम्बर, 1931।

डा० धीरेन्द्रमोहन दत्त गांधी द्वारा अहिंसा को परम धर्म माने जाने के दो और कारण प्रस्तुत करते हैं। प्रथम तो यह है कि किसी भी जीव की हत्या न करना। इस रूप में अहिंसा अन्य सभी सद्गुणों का तार्किक आधार है क्योंकि हम किसी प्राणी के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन तब तक नहीं कर सकते जब तक वह जीवित न हो। द्वितीय कारण यह है कि प्रेम के रूप में अहिंसा अन्य सभी गुणों की जननी है।

'अहिंसा' का शाब्दिक अर्थ है—किसी भी प्राणी की हत्या नहीं करना। उपनिषदों, बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन तथा मनुस्मृति में भी उसे इसी अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। परन्तु गांधी अहिंसा की इस निषेधात्मक व्याख्या से ही संतुष्ट नहीं हो जाते। वे इसे एक सकारात्मक ढंग से हमारे सम्मुख रखते हैं। उनके अहिंसा-प्रत्यय को स्पष्ट करते हुए डा० दत्त कहते हैं—

> "(1) अहिंसा की उत्पत्ति प्रेम से होती है और इसलिए अहिंसा का मापदण्ड हृदय में प्रेम की उपस्थिति है; (2) यदि हम प्रेम की आन्तरिक पुकार की उपेक्षा न करें तो हम (व्यवहार में) जीवित प्राणियों को यथासम्भव कष्ट न

पहुँचाने के लिए बाध्य हैं; (3) यह सोचना गलत है चूँकि हम अहिंसा का पूर्णतः पालन नहीं कर सकते, अतः हम अपनी क्षमता के अनुसार अहिंसा का लेशमात्र भी पालन न करें; (4) जितना ही हम प्रेम और दया के गुणों को व्यवहार में परिणत करेंगे उतना ही उन गुणों की हम वृद्धि कर पायेंगे तथा नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ और वस्तुतः सुखी हो पायेंगे।"[1]

गांधी अहिंसा-सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताएँ बतलाते हैं—

(क) अहिंसा स्वीकारात्मक और भावात्मक है। इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि—"अहिंसा मनुष्य के लिए स्वाभाविक तथा जन्मजात सामर्थ्य का ही अंग है। पशु-रूप में मनुष्य हिंसक है किन्तु आत्मा-रूप में वह हिंसक नहीं रह सकता।"—**हरिजन**, 11 अगस्त, 1940।

(ख) अहिंसा दुर्बलों का नहीं, वीरों का सिद्धान्त है। प्रायः अहिंसा-सिद्धान्त के आलोचक कहते हैं कि अहिंसक आक्रमण का विरोध इसलिए नहीं करता कि उसमें बल का अभाव है। इस आक्षेप के उत्तर में गांधी कहते हैं—"अहिंसा का अर्थ अत्याचारी के समक्ष आत्म-समर्पण करना नहीं। उसका अर्थ है अत्याचारी की इच्छा के विरुद्ध अपनी आत्मा को सन्नद्ध करना। अपने अस्तित्व के इस नियम का अनुसरण कर अकेला एक व्यक्ति भी किसी अन्यायी साम्राज्य की समस्त शक्ति को चुनौती दे सकता है।"—**यंग इण्डिया**, 11 अगस्त 1920।

(ग) सच्चे अर्थों में केवल वही व्यक्ति अहिंसक हो सकता है जिसने भय को जीत लिया हो। भीरु तथा असहाय व्यक्ति के लिए हिंसा त्यागने का प्रश्न ही नहीं उठता। "एक असहाय चूहा अहिंसक नहीं होता क्योंकि उसे हमेशा बिल्ली खा जाती है। उसका वश चले तो वह सहर्ष हत्यारिन को खा जाय, परन्तु वह निरंतर उससे डरकर भागता रहता है।"—**हरिजन**, 20 जुलाई 1935।

(घ) गांधी के अनुसार हिंसा भले ही शक्ति का भ्रम उत्पन्न करे, किन्तु वस्तुतः उसकी शक्ति नगण्य होती है। उनका विश्वास है कि—"हिंसा के आधार पर कोई स्थायी वस्तु नहीं निर्मित की जा सकती।"—**यंग इंडिया**, 2 जुलाई, 1931।

(ङ) अहिंसा कर्मठता का दर्शन है, निष्क्रियता का नहीं। सत्याग्रह, जो अहिंसा का मूर्त रूप है, गतिशीलता एवं सक्रियता का सिद्धान्त है। जोन वॉन डयूरेंट के

---

1. दत्त धीरेन्द्रमोहन : **द फिलॉसफी आव् महात्मा गांधी**, पृ० 100

अनुसार—"गाँधीवाद द्वन्द्ववाद, जो सत्याग्रह के मूल में है, ऐसी प्रक्रिया है जो मानव-कर्म द्वारा सुस्पष्ट रूप में व्यक्त होती है, जो वस्तुओं के स्वभाव में अथवा काल की प्रगति में निहित नहीं होती।"[1]

(च) अहिंसा न केवल हमारे विरोधियों को परास्त करती है, अपितु हमें आंतरिक रूप से अधिक महान् बनाकर अन्य मनुष्यों के साथ एकता के सूत्र में बाँधती है। वह हमारे अन्दर सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ तत्त्वों को जाग्रत करती है क्योंकि वह प्रेम पर आधारित है। 'अपने विशुद्धतम रूप में अहिंसा का अर्थ है अधिकतम प्रेम, अधिकतम उदारता।" कभी-कभी तो गांधी अहिंसा एवं प्रेम में तादात्म्य स्थापित कर देते हैं। वे 'प्रेम' शब्द को बड़े व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं और उसके अन्दर करुणा, उदारता, सहिष्णुता, सहानुभूति आदि महान् गुणों को समाविष्ट कर लेते हैं। प्रेम को वे ऐसी दिव्य शक्ति मानते हैं जो सदैव मानव-जाति के उत्थान के लिए प्रयत्नशील रहती है। उनके लिए, "सम्पूर्ण प्रेम का नियम ही मेरे अस्तित्व का नियम है।"—**यंग इंडिया**, 9 मार्च, 1922

(छ) यदि सत्य अहिंसा का कठोरतर पहलू है तो प्रेम कोमलतर। इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि प्रेम की अनुभूति में हम पूर्णतः सूक्ष्म हैं, किन्तु सत्य की प्राप्ति में नहीं। गांधी के शब्दों में—"हम जानते हैं कि प्रेम क्या है, चाहे हमें प्रेम के नियम का पालन करने में कितनी ही कठिनाई क्यों न होती हो। किंतु जहाँ तक सत्य का प्रश्न है, हम उसका एक अंश ही जानते हैं।"

(ज) अहिंसा हमारे सम्मुख दुःख सहन करने की शक्ति को प्रकट करती है। वस्तुतः प्रेम में सर्वोच्च अर्थ में, पीड़ा निहित है। इसीलिए गांधी अहिंसा को '**सचेतन** दुःख' कहते हैं। "प्रेम की कसौटी है तपस्या और तपस्या है आत्म-पीड़ा।"—**यंग इंडिया**, 9 मार्च, 1922

(झ) प्रेम का मूल उत्सर्ग बलिदान तथा तपस्या में है, क्रोध, प्रतिशोध या स्वार्थ में नहीं। गांधी की मान्यता है कि दुःख सहने से व्यक्तियों का ही नहीं, राष्ट्रों का भी निर्माण होता है। "व्यक्तियों की भाँति राष्ट्रों का निर्माण भी सूली की वेदना सहन कर ही होता है, अन्य किसी प्रकार नहीं। आनन्द दूसरों को दुःख देकर नहीं, अपितु स्वेच्छा से स्वयं दुःख सहने से प्राप्त होता है।"—**यंग इंडिया** 31 दिसम्बर, 1931

---

1. वॉन ड्यूरैंट, जोन : **कान्क्वेस्ट ऑव् वायलेंस**, पृ० 194

गांधी दर्शन में **दुःख-सहन का प्रत्यय केन्द्रीय महत्त्व का है।** वह दुःख-सहन के औचित्य का प्रतिपादन करता हुआ धर्म-दर्शन में उसके महत्त्व पर प्रकाश डालता है। 'बोधिसत्त्व' के आदर्श में, ईसाइयों के 'बलिदान' में, इस्लाम की 'शहादत' में तथा तालसताय एवं कैथलिक अस्तित्ववादियों की विचारधारा में दुःख सहने की आवश्यकता के प्रति हमें प्रबल आग्रह दिखायी पड़ता है। गांधी के अनुसार प्रत्येक धार्मिक परम्परा में तपस्या पर जो इतना बल दिया गया है, वह अकारण ही नहीं है। दुःख सहन के सिद्धान्त की अपनी कई विशेषताएँ हैं। जहाँ तर्क अपराधी को समझाने में असमर्थ रहता है, वहाँ भी दुःख-सहन सफल हो सकता है। इसी प्रकार, जहाँ स्वार्थ-साधन या भविष्य का प्रलोभन भी प्रभावहीन रहते हैं, वहाँ भी दुःख-सहन की सफलता संभव है। दुःख-सहन के सिद्धान्त का सशक्त ढंग से समर्थन करते हुए गांधी कहते हैं—

> "जनता के लिए बुनियादी महत्त्व की वस्तुएँ केवल तर्क द्वारा प्राप्त नहीं होतीं, बल्कि दुःख सहकर उन्हें प्राप्त करना होता है।....विरोधी को बदलने के लिए और विवेक की आवाज के लिए उसके कान खोलने के निमित्त जंगल के कानून (युद्ध) की अपेक्षा दुःख-सहन कहीं अधिक सक्षम है। तर्क का प्रभाव मस्तिष्क पर अधिक पड़ता है, परन्तु हृदय में प्रवेश तो दुःख द्वारा ही होता है। वह मनुष्य के आन्तरिक बोध को जाग्रत कर देता है। तलवार नहीं, दुःख-सहन ही मानव जाति का चिह्न है।"—**यंग इंडिया**, 5 नवम्बर, 1931।

डा० नरवणे के अनुसार—

> "गांधी की मौलिकता दुःख-सहन के सिद्धान्त को सामूहिक राजनीतिक कार्य पर लागू करने के प्रयास में है।....दुःख-सहन के सम्बन्ध में गांधी के विचार न केवल उनके प्रबल धार्मिक विश्वास को प्रकट करते हैं, बल्कि मानव-चित्त की उनकी समझ को भी। वे मानते हैं कि सारे सामाजिक संघर्ष अविश्वास एवं क्रोध की उपज हैं। इनकी जड़ें हृदय से निकालनी हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति का एक प्रभावशाली उपाय यह है कि प्रतिपक्षी के क्रोध को बीत चुकने, भड़क लेने दिया जाय। प्रतिरोध करके हम उसके क्रोध को और भी भड़काते हैं, हम उसे जीतते नहीं। चुपचाप दुःख सहन करके हम उसे अपने कार्य के विषय में सोचने को मजबूर कर देते हैं उसे अपनी भूल पहचानने का एक अवसर देते हैं। गांधी का विख्यात '**हृदय-परिवर्तन**' द्वारा क्रान्ति का सिद्धान्त भी इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य पर आधारित है।"[1]

---

1. नरवणे, वी० एस० : **मार्डन इंडियन थॉट**, पृ० 190

साध्य और साधन

1924 में प्रकाशित अपने एक लेख में गांधी ने लिखा था—

"लोग कहते हैं—'साधन आखिर तो साधन ही हैं।' मैं कहूँगा कि साधन ही अन्ततः सब कुछ हैं। जैसा साधन, वैसा साध्य। स्रष्टा ने हमें साधनों पर तो थोड़ा नियन्त्रण दिया है, किन्तु साध्य पर नहीं। शुभ की प्राप्ति का अनुपात ठीक साधनों के अनुपात के बराबर होता है। यह एक ऐसी मान्यता है, जिसका कोई अपवाद नहीं।'[1]

गांधी को यह सुविदित है कि साधन एवं साध्य के बीच कोई विभाजन संभव नहीं। उनकी मान्यता है कि यदि किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनुचित साधन अपनाये गये हों तो वह लक्ष्य कदापि अच्छा नहीं हो सकता। हमारे युग के प्रख्यात मानवतावादियों, जैसे ऐल्डस हक्सले तथा गिलबर्ट मरे, की भाँति गांधी भी यह मानते हैं कि एक अनुचित साधन किसी भी परिस्थिति में एक अच्छा फल नहीं उत्पन्न कर सकता। अतः यह मान्यता कि एक अच्छा साध्य एक बुरे साधन का औचित्य सिद्ध करता है गलत है। यदि हम हिंसा, धोखाधड़ी और अत्याचार से सत्य को प्राप्त करना चाहें, तो फिर तो सत्य सत्य ही नहीं रह जाएगा।

गांधी की मान्यता है कि अनुचित साधनों से प्राप्त सफलता को सफलता मानना भयंकर भूल है। वह सफलता निरर्थक है जो मानव को उदात्त एवं महान् नहीं बनाती। सत्य प्रत्येक नैतिक व्यक्ति का साध्य है। अतः हमारा तात्कालिक कर्तव्य अपने आचरण को नैतिक बनाना, साधनों की शुद्धि पर सर्वाधिक ध्यान देना है। इस सिद्धान्त को अपनाते हुए गांधी ने स्वतन्त्रता-संग्राम के दौरान घृणा एवं हिंसा पर आधारित आन्दोलनों का सर्वथा बहिष्कार किया और विशुद्ध अहिंसक आन्दोलनों द्वारा देश को स्वतन्त्र करवाया।

नैतिक प्रगति में व्यक्ति का स्थान

गांधी के लेखों में हमें कुछ ऐसे वाक्य अवश्य मिल सकते हैं, जिनमें कर्म के अटल विधान के आगे समर्पण तथा भाग्यवादी दृष्टिकोण की झलक मिलती है, किन्तु यदि समग्र दृष्टि से देखें तो ज्ञात होगा कि गांधी दर्शन की मूलप्रवृत्ति मानव-स्वातंत्र्य में आस्था रखने की है। कान्ट की भाँति गांधी के लिये भी स्वतन्त्रता धर्म एवं नैतिकता,

---

1. बोस, एन० के० : सेलेक्शन्स फ्रॉम गांधी पृ० 37

दोनों का मूल सिद्धान्त है। गांधी के प्राणिमात्र में ईश्वर की उपस्थिति के सिद्धान्त में यह मान्यता भी समाविष्ट है कि ईश्वर ने मानव को अपनी इच्छा-शक्ति एवं बुद्धि का उपयोग करने की स्वतन्त्रता प्रदान की है। मानव अपने भाग्य का निर्माता है। यदि वह अपनी बुद्धि का सदुपयोग करे और अन्तर्वासी ईश्वर की प्रेरणा से अन्तर्ध्वनि के आदेशों का पालन करते हुए सबके साथ प्रेमपूर्वक रहे, तो उसे ईश्वर की अनुभूति हो जायेगी और वह धरा पर स्वर्ग ले आयेगा।

गांधी समाज में व्यक्ति की स्वतन्त्रता की माँग को अत्यन्त दृढ़तापूर्वक स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है कि व्यक्ति का संकल्प सामाजिक एवं राजनैतिक संकल्प को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित कर सकता है।

समाज-दर्शन

(क) **वर्ण-व्यवस्था**—गांधी ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में प्रतिपादित वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त को मानते हैं। परन्तु कालान्तर में विकसित जाति-प्रथा के वे कट्टर विरोधी हैं। उन्हीं के शब्दों में—

> "वर्तमान जाति-व्यवस्था वर्णाश्रम के बिलकुल विरुद्ध है। जितने शीघ्र उसे त्याग दिया जाय, उतना ही अच्छा।"[1]

गांधी समाज के अस्तित्व एवं प्रगति के लिये बौद्धिक, सैनिक, व्यावसायिक तथा शारीरिक श्रम को समान रूप से आवश्यक मानते हैं, अतः उन्हें कर्तव्य-बुद्धि से करने का वे हमसे आग्रह करते हैं। उनके अनुसार समाज के लिये समान रूप से उपयोगी होने के कारण सभी को एक ही समान वेतन मिलना चाहिये। किसी भी वर्ग को दूसरे वर्ग की उपेक्षा नहीं करनो चाहिये। यदि प्रत्येक कर्म को सम्मान की दृष्टि से देखा तथा कर्तव्य-बुद्धि से किया जाय, तो किसी वर्ग-विशेष के लिये विशेषाधिकारों की समस्या ही नहीं उठेगी। गांधी की मान्यता है कि वर्ण-व्यवस्था का सिद्धान्त अपने मूल रूप में इसी आदर्श पर प्रतिष्ठित था।

हिन्दुओं की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में इसी आदर्श को मूर्त रूप दिया गया है। ब्राह्मणों की उत्पत्ति ज्ञान द्वारा सृष्टि की सेवा करने के लिये हुई है। इसी प्रकार क्षत्रियों की उत्पत्ति बाहुबल द्वारा, वैश्यों की उत्पत्ति व्यावसायिक क्षमता द्वारा तथा शूद्रों की उत्पत्ति शरीर-श्रम से सृष्टि की सेवा करने के लिए हुई है। इसका यह अर्थ

---

1. वही, पृ० 265

नहीं कि ज्ञानी को आत्मरक्षा की उपेक्षा करनी चाहिए, बल्कि यह कि **व्यक्ति को वही कार्य करना चाहिए जिसमें उसकी सर्वाधिक रुचि हो** । कर्त्तव्यपूर्ण सेवा और रुचि के मूल सिद्धान्त पर संगठित समाज आत्म-संयम तथा शक्ति-संचय को प्रश्रय देगा ।

(ख) श्रम की प्रतिष्ठा—यद्यपि गांधी स्वाभाविक रुचि के अनुसार श्रम-विभाजन के सिद्धान्त के पोषक थे, तथापि अपने वैयक्तिक अनुभव से उन्हें ज्ञात हुआ कि यदि शारीरिक श्रम कुछ ही लोगों तक सीमित कर दिया जाय, तो समाज में एक निष्क्रियता-सी आ जायेगी । बिना व्यायाम के शरीर को स्वस्थ भी नहीं रखा जा सकता । गांधी यह मानते हैं कि एकांगी बौद्धिक कार्य या विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा प्रत्येक व्यक्ति को अपने और अपने परिवार के निर्वाह के लिए थोड़ा शरीर-श्रम अवश्य करना चाहिए । अपना अन्न उत्पन्न करने के हेतु खुली हवा में खेत जोतना श्रम का सबसे आदर्श रूप है । किन्तु चूँकि सबके लिए यह सम्भव नहीं है, अतः व्यक्ति सूत कातने का या लोहारी का काम कर सकता है । प्रत्येक व्यक्ति को अपना मैला स्वयं साफ करना चाहिए । यदि हर व्यक्ति इस कार्य में सहयोग दे, तो वह स्वयं तो शुद्ध होगा ही, साथ ही श्रम की प्रतिष्ठा एवं मानव की समता को भी वह पुरस्सर करेगा । इन सिद्धांतों को विकसित करने में गांधी को तालस्ताय तथा गीता से पर्याप्त प्रेरणा मिली थी ।

(ग) समाज की आदर्श आर्थिक व्यवस्था—यद्यपि गांधी का आदर्श समता था तथापि अपने अनुभव से उन्हें विदित हुआ कि व्यक्तियों में कुछ जन्मजात अपूर्णताएँ होती हैं, जिन्हें दूर करना सम्भव नहीं । फलस्वरूप, यदि सबको समान अवसर दिये जायँ तो कुछ व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा अधिक धन कमायेंगे, भले ही समान कार्य के लिए वेतन की दर बराबर हो । कानून द्वारा इस समता को थोपना व्यक्ति के स्वातन्त्र्य एवं नैतिक प्रगति के विरुद्ध होगा । गांधी का विश्वास है कि प्रेम, अहिंसा, अस्तेय एवं अपरिग्रह जैसे नैतिक गुणों को अंगीकार कर ही समाज में समता लायी जा सकती है । उनके अनुसार एक अहिंसक समाज में सभी प्रकार के अत्याचार दूर हो जायेंगे ।

रस्किन की भाँति गांधी भी औद्योगिक प्रगति को नैतिक प्रगति में बाधक मानते हैं । उनका मत है कि भारत की परिस्थिति अन्य देशों से भिन्न है । जहाँ अन्यत्र श्रमिकों एवं यन्त्रों की कमी है, वहाँ भारत में श्रमिकों की कोई कमी नहीं । भारत में श्रम को बचानेवाली मशीनों के उपयोग से बेरोजगारी की समस्या और भी जटिल हो जायगी । इसके अतिरिक्त, नित्य-वर्धनशील उद्योग-धंधे मुख्यतः विलासितापूर्ण सामग्री के उत्पादन में योग देंगे । इसका एक दुष्परिणाम यह होगा कि मानव और भी अधिक

विलासी हो जायगा। मानव का आदर्श 'सादा जीवन और उच्च विचार' है, न कि उच्च जीवन और सादे विचार। आवश्यकताओं के परिसीमन द्वारा आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति में अधिकाधिक शक्ति व्यय करना ही मानव के लिए श्रेयस्कर है।

इसका यह अर्थ नहीं कि गांधी मशीनों के सर्वथा विरुद्ध हैं। वस्तुतः वे ऐसी मशीनों का विरोध करते हैं जो (1) बेरोजगारी की समस्या और भी जटिल बनाती हैं; (2) पूँजीपतियों द्वारा निर्धन श्रमिकों के शोषण में योग देती हैं; (3) केन्द्रीकरण तथा एकाधिकार जैसी हानिकारक प्रवृत्तियों को जन्म देती हैं; तथा (4) मानव को अपना दास बनाती हैं। मानवता के कल्याण के लिए मशीनों का सदुपयोग गांधी को अवश्य ही अभीष्ट है।

(घ) **शिक्षा**—भारत की राजनीतिक एवं सामाजिक उन्नति के लिए गांधी शिक्षा के पुनरुद्धार को अत्यन्त आवश्यक मानते हैं। उन्हीं के सिद्धान्तों के आधार पर बाद में **बुनियादी शिक्षा पद्धति** का विकास हुआ।

शिक्षा से गांधी का तात्पर्य है मनुष्य के भीतर के श्रेष्ठतम तत्त्वों की बाह्याभिव्यक्ति। प्रत्येक व्यक्ति कुछ जन्मजात क्षमताओं के साथ पैदा होता है, जिनका पूर्ण विकास उचित शिक्षा द्वारा ही संभव है। मानव का सर्वाङ्गपूर्ण विकास तभी संभव है जब उसके ज्ञान एवं कर्म में पूर्ण समन्वय हो। इस सन्दर्भ में गांधी प्राचीन भारत के ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों का पालन अत्यन्त आवश्यक मानते हैं। ब्रह्मचर्य ही व्यक्ति को ज्ञान-संपन्न बनाकर जगत् की सेवा के लिए तैयार करता है।

जॉन ड्यूई की भाँति गांधी क्रिया द्वारा शिक्षा पर अत्यधिक बल देते हैं। उनके अनुसार शारीरिक अंगों का सदुपयोग बुद्धि को विकसित करने का सर्वोत्तम उपाय है। यही बुनियादी शिक्षा का आधारभूत दर्शन है। गांधी के अनुसार यह शिक्षा पद्धति भारत में एक अहिंसक सामाजिक क्रान्ति को जन्म देगी।

गांधी शैक्षिक, नागरिक एवं आध्यात्मिक गतिविधियों में स्त्री एवं पुरुष को समकक्ष रखते हैं। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं कि भारतीय नारी के हितों की रक्षा तथा संवर्द्धन में गांधी ने अत्यन्त उल्लेखनीय योग दिया है।

श्री अरविन्द

"समकालीन भारतीय चिन्तकों में श्री अरविन्द सबसे मेधावी चिन्तक हैं। दर्शन मूलभूत तत्त्वों तक उनकी पहुँच, आन्तरिक जीवन के निर्माण की

दिशा में उनका निष्ठावान् प्रयास और मानवता तथा उसके भविष्य के प्रति उनका अगाध प्रेम उनकी कृतियों को वह गहराई एवं सम्पूर्णता प्रदान करता है जो अन्यत्र दुर्लभ है।"[1]

इन शब्दों में डा० राधाकृष्णन् ने श्री अरविन्द की उपलब्धियों का मूल्यांकन किया है।

सर्वांगपूर्ण आध्यात्मिक विकास, समन्वय एवं मानव के उज्ज्वल भविष्य के सन्देशवाहक इस महान् भारतीय चिन्तक का जन्म 15 अगस्त, 1872 को पश्चिमी बंगाल में कोननगर के एक संभ्रांत परिवार में हुआ था। दार्जिलिंग, लंदन इत्यादि स्थानों में शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् 1893 में वे भारत लौटे और उन्होंने प्राचीन भारतीय वाङ्मय, विशेषतः दर्शन और धर्म, का गहन अध्ययन प्रारम्भ किया। इस अनवरत ज्ञान-साधना के साथ ही भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम में उन्होंने एक अत्यन्त निर्णायक भूमिका अदा की। **गांधी से भी पहले श्री अरविन्द ने घोषित किया था कि विदेशी शासन के विरुद्ध शान्तिपूर्ण साधनों के द्वारा भी संघर्ष किया जा सकता है।** परन्तु उनका राष्ट्रवाद कभी भी संकीर्ण दायरों में सीमित नहीं रहा। वस्तुतः वे सदैव सत्य एवं विश्व-प्रेम के उदात्त मानवीय आदर्शों से प्रेरित रहे। 1908 से, अलीपुर जेल के कारावास के पश्चात्, वे आध्यात्मिक साधना की ओर अधिकाधिक झुकने लगे और अन्ततः राजनैतिक क्षेत्र को छोड़कर योग-साधना के निमित्त पांडिचेरी चले गये। वहाँ एक आश्रम की स्थापना कर **अतिमानस** के अवतरण हेतु वे चालीस वर्षों तक साधना करते रहे। सन् 1950 में उन्होंने महाप्रयाण किया।

श्री अरविन्द की मुख्य कृतियाँ हैं—'द लाइफ डिवाइन', ऑन द वेद', 'हिम्स टु द मिस्टिक फायर', 'एसेज ऑन द गीता', सिन्थेसिस ऑव योग' 'द ह्यूमन साइकल', 'दि आइडियल ऑव ह्यूमन यूनिटी' एवं 'सावित्री'।

भारतीय संस्कृति की मूलभूत समस्याओं को सुलझाते तथा प्रतीकों की व्याख्या करते हुए उन्होंने एक समग्र दार्शनिक दृष्टिकोण विकसित किया है, जिसमें भारतीय चिन्तन की विरोधी धाराओं के बीच सामंजस्य एवं आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन के मूल्यवान् तत्त्वों के साथ उनका संश्लेषण करने की चेष्टा की गयी है। इस

---

1. दिवाकर, आर० आर० : **महायोगी श्री अरविन्दो में** डा० राधाकृष्णन् की भूमिका।

प्रकार प्राचीन भारतीय एवं आधुनिक पाश्चात्य दर्शनों के क्षेत्र में उन्होंने एक विराट् समन्वय प्रस्तुत किया है। उनके दर्शन को मोटे तौर पर तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(1) ज्ञान-मीमांसा, (2) तत्त्व-मीमांसा और (3) विकास का सिद्धान्त।

ज्ञान-मीमांसा

वेदान्त की परम्परा का अनुकरण करते हुए श्री अरविन्द अनुभव को अत्यन्त व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं तथा उसके विविध पहलुओं से सम्बद्ध ज्ञान की विधियों का प्रतिपादन करते हैं। प्रायः अधिकांश अनुभववादी जाग्रतावस्था में इन्द्रिय-विषय के संयोग को ही सर्वोच्च अनुभव मानकर अपना दार्शनिक चिन्तन उसी तक सीमित रखते हैं। परन्तु वस्तुतः सामान्य जाग्रतानुभव हमारे समग्र अनुभव का केवल मध्यम भाग है, उसके नीचे **अवचेतना** और ऊपर **अतिचेतना** के स्तर भी हैं। निद्रावस्था में हम अवचेतना के स्तर पर पहुँच जाते हैं, जबकि अतिचेतना का साक्षात् अनुभव समाधि में ही होता है। श्री अरविन्द अपने अखण्ड दर्शन में चेतना के इन स्तरों को यथोचित महत्त्व देते हैं।

वेदान्त के ज्ञान-सिद्धान्त को अपने दर्शन का आधार बनाते हुए श्री अरविन्द आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में उसकी पुनर्व्याख्या करते हैं। उपनिषदों एवं गीता में मानव-ज्ञान के तीन साधन बतलाये गये हैं—पंचज्ञानेन्द्रिय, मन एवं बुद्धि। स्वप्रकाश आत्मा इन तीनों से परे है। सामान्यतः मन बाह्येन्द्रियों द्वारा संचालित माना जाता है किन्तु श्री अरविन्द इन्द्रियों को बहिर्मुख मन की विशिष्टताएँ मानते हैं। वस्तुतः मन बाह्य जगत् से अभिन्न है, परन्तु अज्ञानवश वह अपने और जगत् के बीच विच्छेद उपस्थित कर देता है। व्यावहारिक प्रयोजन की सिद्धि के हेतु उसे इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य संसार के साथ सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। अतः मन ही यथार्थ इन्द्रिय है और अन्य इन्द्रियाँ उसी के बाह्य यन्त्र हैं। जहाँ इन्द्रियाँ मन की सहायता के बिना ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं, वहाँ मन इन्द्रियों की सहायता के बिना भी स्वरूप-ज्ञान एवं संवेदनाओं का बोध प्राप्त कर सकता है।

श्री अरविन्द के अनुसार पंचेन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों को विकसित करने का कार्य भी मन से किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, हथेली पर रखी वस्तु का ठीक ठीक भार बिना तुला की सहायता से जानने की क्षमता उत्पन्न की जा सकती है।

बुद्धि के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए श्री अरविन्द कहते हैं—

"जैसे मन की क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं, एक पंचेन्द्रियों से युक्त और

दूसरी उनसे मुक्त, उसी प्रकार बुद्धि की क्रियाएँ भी मिश्रित और शुद्ध, दो प्रकार की होती हैं। अपनी मिश्रित प्रक्रिया में वह इन्द्रिय-प्रदत्त से प्रपंचात्मक जगत् के विषय में सामग्री प्रदान करती है और तब उनकी व्याख्या, उनमें सम्बन्ध-स्थापना एवं उनसे नाना प्रकार के अनुमान निकालती है व्यावहारिक जगत् से सम्बद्ध विज्ञानों में बुद्धि इसी प्रकार कार्य करती है परन्तु अपने शुद्ध रूप में वह प्रपंच से परे जाकर सामान्य एवं अपरिवर्तनीय प्रत्ययों का निर्माण करने की चेष्टा करती है, जो वस्तुओं की प्रतीति के साथ नहीं, अपितु उनके अधिष्ठान के साथ सम्बद्ध होते हैं।[1]....वह इन्द्रियानुभव के सीमित क्षेत्र एवं तज्जन्य त्रुटियों को दूर करने की चेष्टा करती है। शुद्ध बुद्धि का पूर्ण उपयोग हमें भौतिक ज्ञान से तत्त्व-मीमांसीय ज्ञान के क्षेत्र में ले आता है।"[2]

यद्यपि तत्त्व-मीमांसा के प्रत्यय शुद्ध बुद्धि को सन्तुष्ट करते हैं, तथापि वे हमारी अखण्ड सत्ता के सभी अंगों को पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं करते। विचार सम्भाव्य अपरोक्षानुभव के आश्वासन मात्र होते हैं। सत्य तो यह है कि परम सत्ता के विषय में बुद्धि द्वारा निर्मित अतीन्द्रिय प्रत्ययों को हम तब तक स्वीकार नहीं कर सकते, जब तक हमें कोई अपरोक्ष इन्द्रियातीत अनुभव न हो।

श्री अरविन्द के अनुसार प्रपंचातीत सत्ता का अपरोक्ष इन्द्रियातीत अनुभव न केवल सम्भव है, अपितु वह प्रच्छन्न रूप से सदैव हमारे भीतर वर्तमान है और अभ्यास द्वारा उसकी वृद्धि की जा सकती है। मन एवं अज्ञानजन्य सभी क्रियाएँ उसी पर आधारित होती हैं। अपरोक्ष ज्ञान में इन्द्रियों या मन की सहायता लिये बिना ही हमें अपनी मूलभूत सत्ता की अनुभूति होती है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का कोई भेद नहीं रहता। इसे श्री अरविन्द अन्तःप्रज्ञा (**इनट्यूशन**) कहते हैं। यह ज्ञान तदाकारता से प्राप्त होता है। आत्मा का तत्त्व के साथ साक्षात् सम्बन्ध स्थापित हो जाता है वस्तुतः अपने आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेने पर ही हमें तदाकार-ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

अन्तःप्रज्ञा से प्राप्त ज्ञान अनिर्वचनीय है, अतः उससे प्राप्त संकेतों के विश्लेषण, संगठन एवं वर्णन में बुद्धि हमारी अत्यन्त सहायता करती है। वह अन्तःप्रज्ञात्मक एवं पारमार्थिक सत्यों के सन्दर्भ में प्रपंच एवं हमारे व्यावहारिक स्वरूप की व्याख्या करती

---

1. श्री अरविन्द : **द लाइफ डिवाइन** (अमरीकी संस्करण), पृ० 59
2. वही।

है। इस प्रकार विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती है। किन्तु जब बुद्धि अपने अन्तःप्रज्ञात्मक आधार को भूलकर तत्त्व की मीमांसा करने लगती है तब वह मानो हवा में ही लड़ती है, क्योंकि वह शब्दों को अन्तःप्रज्ञा द्वारा ज्ञात सत्यों के प्रतीक मानने के बजाय उन्हें मूलभूत सत्ता ही मान बैठती है। तर्क में सदैव खण्डन-मण्डन होता है और तार्किक दृष्टि से निर्दोष निर्णय पर पहुँचने का प्रयास किया जाता है, किन्तु इसमें विरोध तथा अपूर्णता आदि का होना स्वाभाविक है। अतः तर्क अन्तःप्रज्ञा का स्थान नहीं ग्रहण करता। परन्तु फिर भी, वह अन्तःप्रज्ञा के संकेतों की स्पष्ट व्याख्या करके सत्य-बोध में हमारी सहायता करता है। इस प्रकार **श्री अरविन्द ज्ञान-प्रक्रिया में बुद्धि को यथोचित महत्त्व देते हैं।**

श्री अरविन्द स्वीकार करते हैं कि अन्तःप्रज्ञा द्वारा प्राप्त ज्ञान एक-सा नहीं होता; उसमें भी कुछ अनुभव अधिक पूर्ण और गहरे होते हैं, किन्तु अंतःप्रज्ञा में अपनी त्रुटि सुधारने की क्षमता विद्यमान रहती है। अन्तःप्रज्ञा द्वारा प्राप्त एक अस्पष्ट तथा अपूर्ण ज्ञान स्पष्ट तथा पूर्णतर ज्ञान के द्वारा सुधारा जा सकता है। श्री अरविन्द **ज्ञान के चतुष्क्रम** को स्वीकार करते हुए यह बताते हैं कि किस प्रकार अन्तःप्रज्ञा से प्राप्त ज्ञान पृथक्कृत ज्ञान में परिणत होता है। सर्वप्रथम 'तदाकारता' से ज्ञान प्राप्त होता है। यह ज्ञान-प्राप्ति का सबसे मौलिक साधन है जिसमें ज्ञाता एवं ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है। हमें अपनी स्वप्रकाशित आत्मा का ज्ञान उसी से तदाकार होकर प्राप्त होता है; संवेदनाओं की अनुभूति भी इसी के द्वारा होती है। द्वितीयतः, 'घनिष्ठ प्रत्यक्ष सम्बन्ध' से ज्ञान होता है। इसमें त्रिविध स्पन्दन होते हैं; 'स्व' का एक अंश विचार या भाव का रूप ग्रहण कर लेता है तथा दूसरा भाव उसके निकटस्थ प्रत्यक्ष सम्बन्ध में रहता है। इस अवस्था में पूर्णतः तदाकारता एवं अंशतः विच्छिन्नता तथा तदाकारता, दोनों सम्भव हैं। तृतीयतः, 'पृथक्कृत प्रत्यक्ष सम्बन्ध से ज्ञान होता। यहाँ पर ज्ञाता अपने को मानसिक अवस्थाओं से सर्वथा पृथक् कर लेता है तथा उनके प्रति साक्षी-भाव विकसित कर लेता है। चतुर्थतः, 'पृथक्कृत अप्रत्यक्ष सम्बन्ध' के माध्यम से ज्ञान प्राप्त होता है-। इसमें उन वस्तुओं से पुनः सम्पर्क स्थापित करने के निमित्त हमें इन्द्रियों की मध्यस्थता की आवश्यकता होती है। श्री अरविन्द के अनुसार, जिस प्रकार तदाकारता से प्राप्त ज्ञान के स्तर से पृथक्कृत ज्ञान के स्तर तक अवरोहण होता है, उसी प्रकार पृथक्कृत ज्ञान से तदाकारतापूर्ण ज्ञान तक आरोहण भी सम्भव है।

तत्त्व-मीमांसा

श्री अरविन्द की तत्त्व-मीमांसा मूलतः वेदांत, ईशोपनिषद् तथा भगवद्गीता

पर आधारित है। परम सत्ता के विषय में अपना मत व्यक्त करते समय वे विज्ञान की दार्शनिक व्याख्याओं—भौतिकवाद, द्वैतवाद तथा आत्मगत प्रत्ययवाद और आध्यात्मवादी अद्वैतवाद आदि सिद्धान्तों—की पूर्णताओं का दिग्दर्शन कराते हैं।

श्री अरविन्द का अखण्ड अद्वैतवाद—ब्रह्म से जगत् की सृष्टि की समस्या को सुलझाने में उपनिषद्, गीता एवं तन्त्र हमारी पर्याप्त सहायता करते हैं और इन्हीं की शिक्षाओं के आधार पर श्री अरविन्द अपना असर्वाङ्गपूर्ण अखण्ड दृष्टिकोण निर्मित एवं विकसित करते हैं। इसके अनुसार ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष एवं विश्वातीत ही नहीं, अपितु उसमें स्व-सीमा-निर्धारण और आत्माभिव्यक्ति की क्षमता भी निहित है। ब्रह्म इस अर्थ में असीम है कि उसे किसी अन्य वस्तु द्वारा सीमित नहीं किया जा सकता, किन्तु वह स्वयं सीमा-निर्धारण करने में पूर्णतः सक्षम है। इसी प्रकार, ब्रह्म को निर्गुण कहने का यह अर्थ नहीं कि वह सर्वथा गुण-रहित है, बल्कि यह कि उसमें गुण इतनी अधिक मात्रा में हैं, कि हम उनकी कल्पना ही नहीं कर सकते। वस्तुतः ब्रह्म में कोई गुण कितनी मात्रा में है, इसकी कल्पना करना सम्भव नहीं और इसीलिए उसे निर्गुण कहा जाता है। वह इन सब गुणों को अपने में समेटकर भी उनसे अतीत है। वह विश्वव्यापी एवं विश्वातीत दोनों ही है।

श्री अरविन्द अद्वैत वेदान्त की ब्रह्म-विषयक निषेधात्मक व्याख्या को एकांगी मानते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म का स्वरूप निषेधात्मक ही नहीं, भावात्मक भी है। स्वयं उपनिषदों में ही **'नेति-नेति'** के साथ-साथ **'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'** जैसे सकारात्मक वर्णन भी मिलते हैं। अतः ब्रह्म के निरूपण में श्री अरविन्द **अखण्ड अद्वैतवाद** की स्थापना करते हैं जिसमें ब्रह्म को निर्गुण, निर्विशेष एवं प्रपंचातीत मानने के साथ-साथ उसे सगुण, सविशेष एवं प्रपंच-व्याप्त भी माना गया है।

असीम का तर्क—ब्रह्म में युगपत् दो विरोधी गुणों का अस्तित्व मानना तर्क-शास्त्र की दृष्टि से अनुचित है। इसी कठिनाई से बचने के लिए अद्वैतवादी ब्रह्म को निर्गुण एवं निरपेक्ष मानते हैं और उसके विरोधी धर्मवाले जगत् को असत् कह देते हैं। किन्तु श्री अरविन्द इस द्वन्द्वात्मक समस्या से विचलित नहीं होते और यहीं उनके दर्शन की **मौलिकता** दिखायी पड़ती है। वे स्वीकार करते हैं कि इन्द्रिय-प्रदत्त सामान्य ज्ञान की प्रक्रिया में एक ही वस्तु में दो परस्पर गुण नहीं माने जा सकते, क्योंकि यह तर्क शास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त—विरोध के नियम—के विरुद्ध है। हमारा व्यावहारिक जीवन इन्द्रिय तथा मनस् द्वारा प्रदत्त ज्ञान से ही निर्धारित होता है और इसलिए उसमें विरोध

का नियम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। किन्तु ब्रह्म का ज्ञान सामान्य इन्द्रिय-मानस-प्रदत्त ज्ञान के समकक्ष नहीं होता। ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए हमें मन का अतिक्रमण कर **अति-मन** तक पहुँचना होता है। इस अतिमानसिक अनुभव में हमें आंशिक नहीं, अपितु समग्र तथा अखण्ड ज्ञान प्राप्त होता है। उस अवस्था में सबसे एकत्व की आध्यात्मिक अनुभूति होती है। उस अखण्ड चेतना में समस्त आंशिक सत्यों का एकीकरण तथा समस्त विरोधों का अन्त हो जाता है। उस स्तर पर तर्क शास्त्र के विरोध का नियम कदापि लागू नहीं किया जा सकता। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अतिमानसिक स्तर पर स्वेच्छाचारिता या उच्छृङ्खलता का साम्राज्य होता है। वास्तविकता तो यह है कि अतिमानसिक स्तर का भी अपना तार्किक नियम होता है जो सामान्य तर्कशास्त्रीय सिद्धान्तों से भिन्न होता है। श्री अरविन्द उसे **'असीम का तर्क (लॉजिक ऑव दि इनफिनिट)'** कहते हैं। वे उसे सामान्य तर्क की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं पूर्णतर मानते हैं।[1]

'असीम का तर्क', जैसा उसके नाम से ही स्पष्ट है, असीम, दिव्य सत्ता का तर्क है। उसे बुद्धि या तर्क द्वारा नहीं, अपितु अतिमानसिक चेतना की अनुभूति द्वारा ही जाना जा सकता है।

हमारी मान्यता है कि असीम का तर्क श्री अरविन्द का दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में **एक मौलिक योगदान** है। इसके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डा० मिश्र कहते हैं—

> "...... असीम के तर्क की सहायता से श्री अरविन्द अस्तित्व या सत्ता सम्बन्धी अत्यधिक जटिल समस्याओं का समुचित समाधान प्रस्तुत कर सके हैं। उनका निरपेक्ष या ब्रह्म इतना अखण्ड एवं समग्र है कि उसमें सत्ता के विभिन्न पक्षों को अपने में समन्वित करने तथा उनके बीच विद्यमान खाई को पाटने की क्षमता है।"[2]

परम सत्ता : सच्चिदानन्दमय ब्रह्म—श्री अरविन्द चरम सत्ता को अपने सार रूप में इन्द्रियों से पूर्णतः परे मानते हैं। उसका कोई भी निर्वचन सम्भव नहीं, किन्तु मानवीय चेतना के दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि वह सत् है, चित् है और आनन्द है। इसलिए वे परम सत्ता को **'सच्चिदानन्द'** के नाम से अभिहित करते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि श्री अरविन्द ब्रह्म की शक्ति पर अधिक बल देते हैं। वस्तुतः

---

1. वही, पृ० 298।
2. मिश्र, आर० एस० : **दि इंटीग्रल अद्वैतिज्म ऑफ् श्री अरोबिन्दो**, पृ० 97

उनके अनुसार **ब्रह्म = सत् + चित्-शक्ति + आनन्द** है। ब्रह्म सत् है, इसका यह अर्थ है कि उसका अस्तित्व तीनों कालों में अक्षुण्ण बना रहता है। एक ही ब्रह्म सृष्टि के पूर्व अव्यक्त था और वही जगत् के रूप में व्यक्त हो रहा है। अत: आत्मा से भौतिक तत्त्व तक सर्वत्र सत् ही व्याप्त है। सत् वस्तु का चित् होना भी आवश्यक है क्योंकि उसका जड़ होना सम्भव नहीं। यदि सत् जड़ होता, तो उससे चेतना की उत्पत्ति कभी भी सम्भव नहीं होती। वस्तुत: स्थावर-जंगम सृष्टि एवं उससे परे व्याप्त सत्, सभी चित्स्व-रूप हैं! जड़ तत्त्व में चित्-शक्ति की उपस्थिति अविश्वसनीय प्रतीत हो सकती है किन्तु श्री अरविन्द के अनुसार यह सर्वथा सत्य है। उनकी मान्यता है कि जड़ चित् का अभाव नहीं, बल्कि उसकी अभिव्यक्ति है किन्तु केवल मानसिक चेतना को चित् नहीं कहा जा सकता है। चित्-शक्ति जड़ एवं चेतन दोनों ही रूपों में प्रकट होती है। ब्रह्म की सत् एवं चित् शक्तियाँ साथ-साथ ही प्रकट होती हैं। उनकी विकास-शृंखला में एक सामञ्जस्य है। सत्-शक्ति **आत्मा** (अधिष्ठान), **पुरुष** (भोक्ता) एवं **ईश्वर** (स्वामी) के रूप में तथा चित्-शक्ति **माया, प्रकृति** एवं **शक्ति** के रूप में प्रकट होती है। सच्चित् होने के अतिरिक्त ब्रह्म आनन्द-स्वरूप भी है। श्री अरविन्द के शब्दों में—

> "विश्व-सत्ता शिव का आनन्द-नृत्य है जो ईश्वर को असंख्य रूपों में दृश्य बनाता है, परन्तु वह उस परम सत्ता को ठीक वहीं और उसी रूप में रहने देता है, उसका एकमात्र उद्देश्य है नृत्य का आनन्द।"[1]

ब्रह्म का आनन्द सौन्दर्य, सामञ्जस्य, प्रेम, शान्ति आदि रूपों में प्रकट होता है। सृष्टि की जटिल समस्या को सुलझाने के लिए श्री अरविन्द ब्रह्म के आनन्दमय स्वरूप का ही सहारा लेते हैं।

सत्ता के सात केन्द्र—उपनिषदों का अनुसरण करते हुए श्री अरविन्द सत्ता के सात पक्ष मानते हैं—भौतिक वस्तु, जीवन, मन, अतिमन, आनन्द, चित् शक्ति एवं सत्। वैदिक ऋषियों ने सप्त रश्मियों का उल्लेख किया है, यद्यपि कहीं-कहीं आठ, नौ, दस एवं बारह सूत्र भी मिलते हैं। इन्हें एक दृष्टि से ब्रह्म का क्रमिक विकास और दूसरी दृष्टि से उसका क्रमिक ह्रास कहा जा सकता है। ये काल-क्रम के अनुसार विभक्त नहीं हैं अपितु एक ही समय में विभिन्न केन्द्रों में स्थित सत्ता के विविध पक्ष हैं। प्रत्येक पक्ष अनन्त, अखण्ड ब्रह्म के एक विशिष्ट रूप को अभिव्यक्त करता है। मानव विराट् ब्रह्माण्ड का एक लघु अंश है। उसमें सत्ता के प्रथम तीन पक्ष—भौतिक

---

1. श्री अरविन्द : **द लाइफ डिवाइन, पृ० 119**

वस्तु, जीवन एवं मन—अभिव्यक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त, इन सभी पक्षों को मिलानेवाली आत्मा भी उसमें विद्यमान है जो शरीर, जीवन एवं मन के परिवर्तित होने पर भी एक ही अवस्था में रहती है। यदि आत्मा को भी इस सूची में सम्मिलित कर लें, तो सत्ता के कुल आठ पक्ष हो जायेंगे—

सत्	....	भौतिक वस्तु
चित्-शक्ति	....	जीवन
आनन्द	....	आत्मा
अतिमन	....	मन

सृष्टि-प्रक्रिया को समझाने के हेतु श्री अरविन्द ने सत्ता के इन आठ सूत्रों को मान लिया है। प्रथम पंक्ति में ब्रह्म का जगत् की ओर अवतरण एवं द्वितीय पंक्ति में व्यक्ति का ब्रह्म की ओर आरोहण दिखाया गया है। ऊपर और नीचे दोनों खंडों का संधि-स्थल वह है जहाँ मन एवं अति-मन बीच में एक आवरण डालकर आपस में मिलते हैं। इस आवरण का उन्मोचन ही दिव्य जीवन की प्राप्ति है क्योंकि उसके हटते ही मन, जीवन और भौतिक वस्तु, सभी ब्रह्म की दिव्यता से संचारित होते हैं।

विकास का सिद्धान्त—अरविन्द दर्शन में विकास का सिद्धान्त एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

> "जहाँ **पाश्चात्य विकासवादियों का दृष्टिकोण** मुख्यतः **बौद्धिक** एवं **बैदिवक** है, वहाँ **पूर्वी**, विशेषतः **भारतीय**, विकासवादी सिद्धान्त **मूलतः आध्यात्मिक हैं**, परन्तु वे **व्यक्तिपरक हैं** और उनमें जागतिक दृष्टि का प्रायः अभाव है।"

श्री अरविन्द का उद्देश्य इन दोनों सिद्धान्तों की त्रुटियों का परिमार्जन करते हुए एक **समष्टिवादी**, **गतिशील** एवं **सर्वमान्य विकासवादी सिद्धान्त** प्रस्तुत करना है। उन्होंने हमारे सम्मुख एक ऐसा **सर्वांगपूर्ण विकासवादी सिद्धान्त** लाने की चेष्टा की है जिसमें **सर्वमुक्ति** की उदार शिक्षा तथा शरीर, जीवन एवं मन के रूपान्तर द्वारा **अतिमानव** बनने की उदात्त प्रेरणा विद्यमान है।

यह सर्वथा सत्य है कि श्री अरविन्द के विकास-सिद्धांत में पश्चिमी विकास-वाद (डार्विन द्वारा प्रतिपादित) के जैविक आग्रह के स्थान पर आध्यात्मिक व्याख्या करने की चेष्टा की गयी है। यह तथ्य उनकी इस मान्यता से स्पष्ट हो जाता है कि समस्त विकास चेतना का विकास है जो स्वेच्छा से जड़ पदार्थ में प्रसुप्त रहती है। अन्य शब्दों में, भौतिक वस्तु में सन्निहित चेतना का उद्भव ही विकास की सतत प्रक्रिया है। उन्हीं के शब्दों में—

"आध्यात्मिक विकास ही इस पार्थिव अस्तित्व का मूल स्वर, इसका केन्द्रीय सार्थक हेतु है—निरन्तर विकासशील स्वरूपायन के रूप में पदार्थ में चेतना का तब तक विकास होता है जब तक रूप अन्तर्वासी आत्मा का उद्घाटन न कर दें।"[1]

श्री अरविन्द के विकासवादी सिद्धान्त की तीन मुख्य विशेषताएँ हैं जिन्हें उन्होंने **विस्तारण** (वाइडेनिंग), **ऊर्ध्वीकरण** (हाइटेनिंग) एवं **समग्रीकरण** (इन्टीग्रेशन) की संज्ञाएँ दी हैं। विस्तारण का अर्थ है विभेदीकरण, संगठन तथा अभिव्यक्ति का विविधता। देह के संगठित एवं जटिल हो जाने पर उससे जीवन प्रकट होता है। इसी प्रकार जीव के शरीर के अधिकाधिक जटिल हो जाने पर मन प्रकट होता है, परन्तु साथ ही ऊर्ध्वीकरण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। ऊर्ध्वीकरण का अर्थ फैलाव या विस्तार नहीं है, अपितु चेतना का एक से दूसरे स्तर पर आरोहण है। परन्तु विकास-प्रक्रिया की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है उसकी समग्रता एवं अखण्डता। इसके फलस्वरूप निम्न तत्त्व का विकास होने पर वह नष्ट नहीं हो जाता, अपितु उच्चतर तत्त्व से वह अनुप्राणित एवं जीवन्त हो उठता है। उदाहरणार्थ, जड़ पदार्थ से जीवन के प्रकट होने पर उसका अस्तित्व नहीं मिटता और न ही मन के प्राकट्य पर जीवन नष्ट होता है।

पाश्चात्य विकास—सिद्धान्तों का दोष दर्शाते हुए श्री अरविन्द कहते हैं कि उनके अनुसार उच्चतर तत्त्वों का आविर्भाव होने पर निम्नतर तत्त्वों का नाश होना अथवा अपनी पूर्व-स्थिति में बना रहना अनिवार्य है। भारत का अद्वैत वेदान्त दर्शन भी इसी दोष से दूषित है क्योंकि इसके अनुसार मानव को अपने विकास के निमित्त आत्मा से शरीर तथा जीवन के निम्नतर तत्त्वों को सर्वथा पृथक् कर देना चाहिए।

श्री अरविन्द के अनुसार विकास-प्रक्रिया के चार सोपान होते हैं—(1) जड़ पदार्थ, (2) जीवन, (3) मन तथा (4) अतिमन।

वस्तुतः विकास का प्रारम्भ जड़ पदार्थ से होता है क्योंकि पदार्थ के स्तर तक जाने पर परम चैतन्य की अनुभूति होती है कि आवरण की प्रक्रिया जब अपनी परा-काष्ठा पर पहुँच चुकी है. अतः स्वयं चैतन्य ही पदार्थ को विकास के लिए प्रेरित करता है, जिसके फलस्वरूप जीवन का उदय होता है। जड़ पदार्थ में चैतन्य का प्राकट्य सर्व प्रथम जीवन के ही माध्यम से होता है; तत्पश्चात् चैतन्य वनस्पति-जगत् में स्वयं को

1. वही, पृ० 734

अभिव्यक्त करता हुआ पशु-जगत् में घूमता है। वहाँ वह अधिक स्वतन्त्र हो जाता है और संवेदनशील शरीरधारी प्राणी में अपनी मानसिकता को प्रकट करता है। किन्तु इससे भी सन्तुष्ट न रहकर परम चैतन्य स्वचेतन, विश्लेषण-प्रधान एवं विवेकशील मानव-मन में अब अपने को व्यक्त कर देता है। इस समय तक विकास यहीं तक पहुँचा है, किन्तु श्री अरविन्द का विश्वास है कि विकास के अगले चरण में चैतन्य **अति-मन** के स्तर तक अवश्य पहुँचेगा। यह प्रक्रिया **आत्मिक परिवर्तन, आध्यात्मिक परिवर्तन** एवं **अतिमानसिक परिवर्तन** द्वारा सम्पन्न होगी। संक्षेप में, श्री अरविन्द के विकासवाद की तीन मुख्य विशेषताएँ हैं—उसमें सर्वमुक्ति का आदर्श विद्यमान है; उसके अनुसार मुक्ति में शरीर, जीवन और मन का रूपान्तर होकर एक नये जीवन की प्राप्ति होती है और मानव का दिव्य-ज्ञान-सम्पन्न **अतिमानव** बनना ही विकास-प्रक्रिया का प्रमुख लक्ष्य है।

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य

प्रो० कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य (1875-1949) सम्भवतः आधुनिक भारत के सबसे अधिक **मौलिक** (शास्त्रीय, एकैडेमिक) दार्शनिक चिन्तक हैं। डॉ० धीरेन्द्रमोहन दत्त के अनुसार—

> "भट्टाचार्य की कृतियाँ अत्यल्प हैं, उनकी शैली अत्यन्त संक्षिप्त है तथा उनके विचार इतने अधिक विश्लेषणात्मक एवं दुरूह हैं कि सामान्य पाठक कई प्रयासों के बाद ही उन्हें समझ सकता है।....उनकी विश्लेषणात्मक बुद्धि मूर का स्मरण दिलाती है, परन्तु उनकी मौलिकता एवं उनकी विश्लेषणात्मक अन्तर्दृष्टि की सुदूर पहुँच, वस्तुगत एवं आत्मगत क्षेत्रों मे उनकी पैठ, उन्हें दिग्गज आचार्यों की कोटि में प्रतिष्ठित करा देती है। उनकी श्रेष्ठता दूसरों के सिद्धान्तों के खण्डन में नहीं, अपितु उनके अज्ञात एवं अचिन्तित पूर्व-आशयों को प्रकट करने, उनके श्रेष्ठ तत्त्वों का प्रदर्शन करने और उन्हें कई सम्भव वैकल्पिक सिद्धान्तों में स्थान प्रदान करने में है। उनके लिए दार्शनिक विजय का आदर्श आत्म-निषेधकारी सहानुभूति एवं प्रेम में निहित है।"[1]

प्रो० भट्टाचार्य की मुख्य कृतियाँ हैं—'प्लेस आव् दि इनडेफिनिट इन लॉजिक'; 'सम ऐस्पेक्ट्स आव् निगेशन' और **'द सब्जेक्ट ऐज फ्रीडम'**। इन्हें **'स्टडीज इन फिलॉसफी'** नामक पुस्तक में संकलित किया गया है।

---

1. दत्त, डी० एम० : **द चीफ करेन्ट्स आव् कन्टेम्पोरेरी फिलॉसफी**, पृ० 116

अनिश्चित निरपेक्ष (दि ऐब्सोल्यूट इनडेफिनिट)

भट्टाचार्य अपने दर्शन का प्रारम्भ एक ऐसी चेतना से करते हैं जो आत्मगत एवं वस्तुगत तत्त्व का अतिक्रमण करती है तथा जिसके बिना इन दोनों के बीच सम्बन्ध या अन्तर होना सम्भव नहीं। परन्तु चूँकि उस इन्द्रियातीत तत्त्व को आत्मगत या वस्तुगत तथ्यों द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता, अतः वे उसे 'अनिश्चित' की संज्ञा देते हैं। वस्तुतः केवल आत्मा (सब्जेक्ट) और वस्तु (ऑब्जेक्ट) ही निश्चित की परिधि में आते हैं, एवं उनसे अतीत जो कुछ भी है वह अनिश्चित ही है।

भट्टाचार्य के अनुसार तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र में अनिश्चित को कई रूपों में ग्रहण किया गया है—

> "मोटे तौर पर ही यदि उल्लेख करें, तो प्लेटो का निषेधात्मक भौतिक तत्त्व (निगेटिव मैटर), वेदान्तियों की माया, बौद्धों का शून्य, अरस्तू का वस्तुगत आकस्मिक (आब्जेक्टिव चांस), लुक्रीटस का अणुओं में अवर्णनीय दिक्-परिवर्तन, शॉपेनहावर का अनिर्धारित (इनडिटरमिनेट) संकल्प तथा कांट एवं स्पेन्सर का अज्ञेय, अनिश्चित के ही प्रकार हैं।"[1]

परन्तु इनमें से अधिकांश दार्शनिक अनिश्चित के स्वरूप को ठीक से समझ नहीं पाये। उनकी मुख्य भूल यह रही है कि वे अनिश्चित को एक भावात्मक सत्ता मान बैठे।

> "कांट एवं स्पेन्सर को अनिश्चित के इन्द्रियातीत स्वरूप को प्रकाश में लाने का श्रेय है, यद्यपि वे दोनों ही उसे अज्ञेय सत्ता मानते हैं।"[2]

कांट ने तत्त्व की सत्ता एवं उपयोगिता पर बल तो दिया, किन्तु फिर उसे अज्ञेय कहकर छोड़ दिया। भट्टाचार्य उस और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अज्ञेय को न तो सत्ता माना जा सकता है और न चिन्तन के योग्य। निरपेक्ष अज्ञात का चिन्तन शाब्दिक अर्थ में चिन्तन नहीं है, वह तो संकेत मात्र है। यद्यपि अनिश्चित को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष या शुद्ध विचार का विषय नहीं माना जा सकता, तथापि उसकी उपेक्षा सम्भव नहीं है क्योंकि हमारे ज्ञेय अनुभवों के चारों ओर अज्ञेय भी विद्यमान रहता है और इसलिये हमें विश्वातीत चेतना की अनुभूति होती रहती है। वस्तुतः यही निश्चित एवं अनिश्चित, ज्ञात एवं अज्ञात के बीच द्वैत उत्पन्न करता है। प्रत्येक निश्चित वस्तु

---

1. भट्टाचार्य, के० सी० : **प्लेस ऑव दि इनडेफिनिट इन लॉजिक**, पृ० 2
2. वही, पृ० 11

अनिश्चित का ही विशिष्टीकरण है तथा उसी से निर्मित है। इस अर्थ में अनिश्चित निश्चित में व्याप्त है तथा उससे अतीत तो वह है ही। वस्तुतः इन दोनों में कोई कठोर विभाजन सम्भव नहीं। अनिश्चित ही निश्चित के रूप में प्रकट होता है और हमारी चेतना में रूप धारण करता है।

भट्टाचार्य की मान्यता है कि यदि हम पाश्चात्य दर्शन के फलवाद (प्रैगमैटिज़्म) एवं यथार्थवाद (रियलिज़्म) के सिद्धान्तों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होगा कि उनमें अनिश्चित की उपस्थिति अत्यन्त सरलता के साथ सिद्ध की जा सकती है।

तर्क शास्त्र में अनिश्चित का महत्त्व

अनिश्चित की अवधारणा के आधार पर भट्टाचार्य ने परम्परागत तर्क शास्त्र के दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने का प्रयास किया है। उनके अनुसार यदि तर्क शास्त्र को अपना सामान्य (यूनिवर्सल) स्वरूप बनाये रखना है तथा न केवल विज्ञान के, अपितु सम्पूर्ण दर्शन के अमूर्त सिद्धान्तों की रक्षा करनी है, तो उसे किसी विशेष दार्शनिक दृष्टिकोण की परिधि में नहीं बँध जाना चाहिए, जैसा वह सामान्यतः करता है। उसे विचार के सभी प्रकारों को ज्ञान की सम्भावित विधाओं के रूप में स्वीकार करना चाहिये, तत्त्व-ज्ञान की सत्यता का मूल्यांकन उसका कार्य नहीं। भट्टाचार्य के शब्दों में—

> "वह केवल इसी अर्थ में सामान्य न हो कि ज्ञान कहलानेवाले सभी विचारों के सन्निविष्ट रूप का वह प्रतिनिधित्व करता हो, बल्कि वह समस्त संशय एवं विवाद को भी प्रस्तुत करता हो।[1] अतः इसकी प्राथमिक समस्या इस सम्भावना का पता लगाना है कि क्या कोई ऐसा भी रूप है जो भौतिक तत्त्व नहीं है, जो निर्धारित नहीं है तथा जो सभी निर्धारित मूर्त चिन्तन—स्वीकृत या विवादग्रस्त—में अपरिहार्यतः पूर्व-कल्पित है।"[2]

भट्टाचार्य के अनुसार, तर्क शास्त्र का आधार न कोई तथाकथित आवश्यक (**नेसेसरी**) सिद्धान्त हो सकता है और न कोई निर्धारित आकस्मिक सिद्धान्त (**डिटर-मिनेट कन्टिन्जेंट**)। आवश्यक सिद्धान्त के बारे में संशय होने की अवस्था में अपना औचित्य सिद्ध करने के लिए तर्क शास्त्र को किसी विशेष प्रकार की ज्ञान-मीमांसा की

---

1. वही, पृ० 3
2. वही, पृ० 2

सहायता लेनी पड़ती है और तब उसे पक्ष-विशेष का समर्थन एवं अन्य विवादों में पड़कर अपने सामान्यत्व से हाथ धोना पड़ता है। यही बात आकस्मिक सिद्धान्त पर भी लागू होती है।

अतः तर्क शास्त्र के लिये सबसे सुरक्षित उपाय यही है कि वह एक ऐसे अनिर्धारित सिद्धान्त पर आधारित हो, जिसे समान रूप से आवश्यक या आकस्मिक कुछ भी कहा जा सकता हो। यह सिद्धान्त निश्चित एवं अनिश्चित के कोरे द्वैतवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं। भट्टाचार्य की मान्यता है कि अनिश्चित को स्वीकार कर लेने से तर्क शास्त्र उस परम्परागत दोष से मुक्त हो जायेगा जो केवल निश्चित, बौद्धिक एवं ज्ञेय तत्त्व को ही अपना विषय मानने के लिए उसे प्रवृत्त करता है तथा अनिश्चित की सर्वथा उपेक्षा कर देता है।

अनिश्चित का सिद्धान्त, जो सत्ता-विषयक विभिन्न तत्त्व-मीमांसीय सिद्धान्तों के लिए उपयुक्त पद (कैटेगरी) प्रदान करता है, स्वीकार करने से तर्क शास्त्र वास्तव में सामान्य रूप धारण कर लेगा और वह निश्चित के तर्क में भी संशोधन प्रस्तुत करेगा। भट्टाचार्य ने यद्यपि अपनी इस सूझ के अनुसार परम्परागत तर्क शास्त्र का पूर्णतः रूपान्तरण नहीं किया है, तथापि उसके कुछ प्रसंगों, जैसे सामान्य एवं विशेष के प्रत्यय, निषेधात्मक सोपाधिक प्रतिज्ञप्ति आदि, की अनिश्चित के सिद्धान्त के आधार पर जाँच की है और अपने तत्त्व-मीमांसीय चिन्तन में उसका उपयोग किया है।

चेतना के चार स्तर

भट्टाचार्य के अनुसार चेतना के चार स्तर हो सकते हैं—(1) व्यावहारिक वस्तु (एम्पिरिकल आब्जेक्ट), (2) आत्मनिर्भर (सेल्फ-सब्सिस्टेन्ट), (3) आत्मा (सब्जेक्ट) और (4) निरपेक्ष (ऐब्सोल्यूट)।

ये चारों मौखिक चेतना (थियोरेटिक कांशसनेस) के चार स्तरों से सम्बद्ध हैं, जिन्हें क्रमशः व्यावहारिक चिन्तन (एम्पिरिकल थॉट), शुद्ध वस्तुगत चिन्तन (प्योर ऑब्जेक्टिव थॉट), आध्यात्मिक चिन्तन (स्पिरिचुअल थॉट) और अतिव्याप्त चिन्तन (ट्रांसेन्डेन्टल थॉट) की संज्ञा दी जा सकती है। यहाँ चिन्तन को बोध के व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है। प्रथम, शरीर-चेतना के अन्तर्गत इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय आता है। दूसरे स्तर में मनन (कन्टेम्प्लेशन) आता है, जो विषय से ही सम्बद्ध होता है, परन्तु इसका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। तृतीय स्तर में आध्यात्मिक चेतना का समावेश होता है जिसमें वस्तुगत प्रवृत्ति का स्थान आत्मगत प्रवृत्ति ले लेती है।

यहाँ अपनी चेतना का अनुभव आप ही होता है। चतुर्थ स्तर की चेतना में अतिव्याप्त चिन्तन होता है, जो आत्मगत एवं वस्तुगत दोनों से ही परे होते हैं।

विज्ञान एवं दर्शन

चेतना के इस स्तरों में से पहले का सम्बन्ध विज्ञान से है। व्यावहारिक चिन्तन की वस्तु विज्ञान के अध्ययन का विषय है। शेष तीन स्तर अव्यावहारिक हैं, जिनका सम्बन्ध दर्शन से है।। डॉ० दत्त के अनुसार—

> "जहाँ इसका (भट्टाचार्य के दृष्टिकोण का) तार्किक भाववाद के साथ साम्य है, वहाँ सम्भवतः इसपर कांट के दर्शन का भी अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है।"[1]

भट्टाचार्य के अनुसार विज्ञान का क्षेत्र तथ्य (फैक्ट) है। तथ्य का अर्थ है—

> "वह वस्तु जिसका प्रत्यक्षीकरण सम्भव हो या जिसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष करने-वाली वस्तु से हो, जो शाब्दिक निर्णय के रूप में प्रकट की जा सकती हो और वाक्य का सन्दर्भ दिये बिना ही जिसपर विश्वास कर लिया जाता हो।"[2]

समस्त ज्ञान को कुछ जानकारी प्रदान करनी चाहिए और उसे संश्लेषणात्मक निर्णय-वाक्य (सिन्थेटिक जजमेंट) के रूप में प्रकट करना सम्भव होना चाहिए। तथ्यों के बारे में ज्ञान ऐसी ही यथार्थ जानकारी प्रदान करता है। विज्ञान ऐसी ही जानकारी या ज्ञान की पद्धति है।

दर्शन का कार्य-क्षेत्र

भट्टाचार्य के अनुसार दर्शन तथ्यों से सम्बद्ध नहीं है। जब वह विज्ञान के क्षेत्र में हस्तक्षेप करता है, तथ्यों पर विचार करने लगता है, तब वह न तो श्रेष्ठ दर्शन की उत्पत्ति कर पाता है और न श्रेष्ठ विज्ञान की ही। वह केवल काल्पनिक साहित्य का एक रूप प्रस्तुत कर पाता है। यह सत्य है कि व्यावहारिक चेतना दर्शन का विषय नहीं, किन्तु चेतना के अवशिष्ट अन्य तीन स्तरों में दर्शन के लिए पर्याप्त कार्य है। वह आत्मगत, वस्तुगत और अतिव्याप्त के दृष्टिकोण के शुद्ध प्रत्ययों से सम्बन्ध रखता है। आत्म-निर्भर शुद्ध वस्तु, व्यक्तिगत आत्म-भोक्ता और इन दोनों का अतिक्रमण करने-वाला निरपेक्ष, इन सबके प्रत्ययों से भिन्न नहीं है। अतः दर्शन के अन्तर्गत किसी तथ्य

---

1. दत्त, डी० एम० : **द चीफ करेन्ट्स ऑव कन्टेम्पोरेरी फिलॉसफी**, पृ० 120
2. भट्टाचार्य, के० सी० : **कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी**, पृ० 107

का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं। इसी प्रकार, उसमें कोई संश्लेषणात्मक निर्णय-वाक्य भी प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उसमें केवल विश्लेषणात्मक चिन्तन ही संभव है। शुद्ध चिन्तन के स्वप्रकाशित तथ्यों का दर्शन में विश्लेषण कर उनके आन्तरिक आशयों को सुव्यवस्थित ढंग से प्रकट किया जाता है।

सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् आधुनिक भारतीय (शास्त्रीय) दार्शनिकों में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। दर्शन के शुष्क विषयों की सरस प्राणवंत शैली में व्याख्या तथा धर्म के क्षेत्र में पूर्व एवं पश्चिम के वैचारिक भेदों को दूर कर उनके बीच सेतु-निर्माण डॉ० राधाकृष्णन् का आधुनिक भारतीय दर्शन के क्षेत्र में मुख्य योगदान है।

> राधाकृष्णन् की उपलब्धियों का मूल्यांकन करते हुए डॉ० दत्त कहते हैं—"राधाकृष्णन् के दर्शन....से ज्ञात होता है कि किस प्रकार पश्चिमी एवं पूर्वी विचार मिलकर समकालीन प्रत्ययवाद की एक नवीन विधा को जन्म दे सकते हैं, जिसमें एक गहन आध्यात्मिक तत्त्व, उदार दृष्टिकोण मानव-जाति द्वारा विकसित शाश्वत मूल्यों के लिए सम्मान और मानव सभ्यता के भविष्य के बारे में विश्वस्त आशावाद की विशेषताएँ विद्यमान हैं....यदि वर्तमान युग के दार्शनिक केवल अमूर्त समस्याओं को सुलझाने तथा व्यावहारिक जीवन में मनुष्यों का मार्गदर्शन कराने में असफल होने के लिए दोषी ठहराये गये हैं, तो कम से कम राधाकृष्णन् इस आक्षेप का खण्डन करने की चेष्टा करते हैं। वर्तमान पीढ़ी के जो व्यक्ति दार्शनिकों से ऐसे मार्ग-दर्शन की अपेक्षा रखते हैं, वे राधाकृष्णन् की कृतियों से सहायता ले सकते हैं—एक ऐसे आदर्श के लिए, जिसे व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र अपने जीवन में मूर्त रूप देकर स्वर्ग का राज्य पृथ्वी पर स्थापित कर सकें और मानवीय अस्तित्व में सामंजस्यपूर्ण एवं शांति-पूर्ण अवस्था ला सकें।"[1]

इस अद्वितीय शब्द-शिल्पी, प्रवाहशील वक्ता एवं महान् दार्शनिक चिन्तक का जन्म 5 सितम्बर, 1888 ई० को तिरुतनी में हुआ था।

---

1. दत्त, डी० एम० : द चीफ करेन्ट्स आव् कन्टेम्पोरेरी फिलासफी, पृ० 150

इनकी मुख्य कृतियाँ हैं—'इण्डियन फिलॉसफी', 'हिन्दू व्यू ऑव् लाइफ', 'ऐन आइडिएलिस्ट व्यू आव् लाइफ', 'ईस्टर्न रेलिजन्स ऐण्ड वेस्टर्न थाट्' तथा 'द रेन आव् रेलिजन इन कन्टेम्पोरेरी फिलॉसफी'।

आत्मा

आत्मा का प्रत्यय राधाकृष्णन् के दर्शन का मूल प्रत्यय है, परन्तु उल्लेखनीय तथ्य यह है कि वे आत्मा को एक द्रव्य (सब्स्टैन्स) न मानकर उसे जीवन मानते हैं—

> "आत्मा जीवन है; वह न द्रव्य है, न शक्ति और न गतिहीनता; उसकी सत्ता अपने आप द्वारा ही है, किसी वस्तुगत या आत्मगत द्रव्य के साथ उसकी तुलना सम्भव नहीं है।"[1]

समकालीन भौतिकशास्त्रियों एवं ह्वाइटहेड जैसे यथार्थवादियों ने द्रव्य की जो आलोचना की है उससे प्रभावित होकर राधाकृष्णन् ने आत्मा के पूर्व-स्वीकृत द्वंद्वात्मक प्रत्यय का परित्याग कर उसे एक जीवन्त सत्ता के रूप में स्वीकार किया है। राधाकृष्णन् के अनुसार मानव में स्थित आत्मा समस्त सृष्टि की मूलभूत सत्ता है।

> "यदि हमसे मानव में स्थित आत्म-तत्त्व की परिभाषा देने को कहा जाय तो एक निश्चित उत्तर देना कठिन होगा। हम उसे जानते हैं, परन्तु उसकी व्याख्या नहीं कर सकते। वह कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हो सकती, यद्यपि उसकी अनुभूति सर्वत्र होती है। वह न तो भौतिक है, न प्राण, न मन और न इच्छा, बल्कि वह इन सबमें अन्तर्निहित सत्ता है जो उन्हें थामे रहती है। वह हमारी सत्ता का आधार है, एक विश्वव्यापी शक्ति, जिसे इस या उस सूत्र में व्यक्त नहीं किया जा सकता।"[2]

जीवात्मा, ईश्वर एवं ब्रह्म एक ही विश्वव्यापी आत्मा के विभिन्न पक्ष हैं। जब आत्मा मनुष्य के शरीर एवं मन के माध्यम से व्यक्त होती है तब उसे जीवात्मा कहा जा सकता है; वह सत्ता जगत् में अभिव्यक्त होने पर ईश्वर कहलाती है और ब्रह्म उस सत्ता की ऐसी असीम सम्भावना है जिसकी वर्तमान जगत् केवल एक यथार्थ किन्तु आंशिक अभिव्यक्ति है।

---

1. राधाकृष्णन्, एस० द्वारा सम्पादित **कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी** में राधाकृष्णन का वक्तव्य, पृ० 492
2. राधाकृष्णन्, एस० : **ऐन आइडिएलिस्ट व्यू ऑफ् लाइफ**, पृ० 205

जीवात्मा; ईश्वर एवं ब्रह्म

ब्रह्म वह आध्यात्मिक सत्ता है जो व्यक्त एवं अव्यक्त तत्त्वों को अपने में समाये हुए है। पाषाणों की मृत यांत्रिकता, वनस्पतियों का अचेतन जीवन, पशुओं का चेतन जीवन एवं मानव का आत्म-चेतन जीवन ब्रह्म की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।

जगत् काल-निरपेक्ष आत्मा की अभिव्यक्ति है, यद्यपि वह उसकी एकमात्र संभव अभिव्यक्ति नहीं। सृष्टि-प्रक्रिया ब्रह्म में निहित अनन्त संभावनाओं में से कुछ को मूर्त रूप देने का प्रयास है।

> "ब्रह्म के सामने अनन्त संभावनाएँ विद्यमान हैं, उनमें से उसने इस (ब्रह्माण्ड की) एक संभावना को चुना है।"[1]

यद्यपि जगत् ब्रह्म की यथार्थ अभिव्यक्ति है, तथापि उसकी सत्ता ब्रह्म के लिए आवश्यक नहीं है। इस जगत् की सृष्टि क्यों हुई ? इस प्रश्न के उत्तर में राधाकृष्णन् कहते हैं—

> "हमें उत्तर में कहना है कि यह ब्रह्म के स्वातंत्र्य की एक अभिव्यक्ति है। ब्रह्म के लिए अपनी किसी भी संभावना को व्यक्त करना आवश्यक नहीं। यदि यह संभावना व्यक्त की जाय तो यह ब्रह्म की एक स्वतंत्र क्रिया होगी।"[2]

ब्रह्म जगत् का केवल इसी अर्थ में अधिष्ठान है कि ब्रह्म की एक संभावना जगत् का तार्किक पूर्वाधार (**लॉजिकल प्रायस**) है। इस संभावना के अभाव में जगत् का अस्तित्व संभव नहीं था।

जब हम ब्रह्म को जगत् का अधिष्ठान कहते हैं तब सत्ता का ईश्वर-पक्ष हमारे सम्मुख आता है। ईश्वर के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए राधाकृष्णन् कहते हैं—

> जैसे जगत् ब्रह्म की एक विशिष्ट संभावना की निश्चित अभिव्यक्ति है, वैसे ही ईश्वर, जिनके साथ पूजक व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, संसार के संदर्भ में ब्रह्म ही है और ब्रह्म की एक प्रतीति मात्र नहीं।"[3]

---

1. वही, पृ० 343
2. राधाकृष्णन्, एस० द्वारा सम्पादित : **कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी**, पृ० 502
3. वही, पृ० 498

स्रष्टा के रूप में ईश्वर वैयक्तिक है, जबकि ब्रह्म निरपेक्ष (ऐब्सोल्यूट) है। ईश्वर को स्रष्टा इसलिए माना जा सकता है कि वह ब्रह्म की अनभिव्यक्त संभावना को मूर्त रूप देने की चेष्टा करता है। जब यह अभिव्यक्त का कार्य पूर्ण हो जाता है तब ईश्वर अपने मूल स्रोत ब्रह्म में विलीन हो जाता है।

ब्रह्म कालातीत है। काल की उत्पत्ति सृष्टि के साथ होती है। क्रमिक घटनाओं के अनुभव से ही काल की संकल्पना होती है, परन्तु घटनाओं और उनसे बना संसार सीमित एवं विनाशधर्मी है, इसलिए काल का आदि और अन्त होता है। जगत् की उत्पत्ति, विकास एवं इतिहास सत्य हैं, प्रतीति नहीं। काल भी ईश्वर के लिये इस अर्थ में सत्य है कि ईश्वर अपनी योजनाओं को काल में ही क्रियान्वित करता है। यदि काल सान्त नहीं होता तो हमें संसार को भी शाश्वत मानना पड़ता, जिसके परिणामस्वरूप संसार एवं ईश्वर में द्वैत उत्पन्न हो जाता। संसार एवं काल का अन्त सम्भव मान लेने से नैतिक विकास की प्रक्रिया सार्थक हो उठती है—

"संसार का आदर्श एक नित्य टलनेवाली पूर्णता नहीं है परन्तु एक दिन, जिसकी तिथि निश्चित नहीं, उस आदर्श की प्राप्ति होगी।"[1]

भौतिक तत्त्व में जीवन का, जीवन में मन का एवं मानव-मन में आत्मचेतना का प्राकट्य ब्रह्माण्डीय विकास की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा ईश्वर अपने को संसार में व्यक्त करने की, सत्यं, शिवं तथा सुन्दरं के मूल्यों को मूर्त रूप देने की चेष्टा करता है। राधाकृष्णन् की मान्यता है कि मानव-आत्मा एक संगठित पूर्ण है। विश्वात्मा के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर जीवात्मा अपने व्यक्तित्व के विविध पहलुओं में विद्यमान विरोधों को दूर कर सकता है। इस अवस्था की प्राप्ति धार्मिक अन्तःप्रज्ञा (जिसमें बुद्धि, संकल्प एवं भावना का पूर्ण एकीकरण हो जाता है) में होती है।

अन्तःप्रज्ञा (इन्ट्यूशन)

अन्तःप्रज्ञा में तदाकारता से ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञाता एवं ज्ञेय में कोई द्वैत नहीं रह जाता। आत्मा का अपरोक्ष अनुभव अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान का सबसे सुन्दर उदाहरण है—

"जैसे सान्त वस्तुओं के सामान्य प्रत्यक्ष ज्ञान में हमें एक ऐसी वस्तु का सीधा और अनिवार्य बोध होता है जिसका अपना एक निश्चित स्वरूप होता है,

1. वही, पृ० 500

जिसे हम अपनी इच्छाओं या कल्पनाओं से बदल नहीं सकते, वैसे ही अन्तः-प्रज्ञात्मक चेतना से भी ऐसी यथार्थ वस्तुओं का बोध होता है, जिन्हें हम इंद्रियों द्वारा नहीं जान सकते।....यह काल्पनिक वस्तु नहीं होती, बल्कि यथार्थ का एक सच्चा अनुभव होती है।"[1]

राधाकृष्णन् के अनुसार अन्तःप्रज्ञा के प्रति आग्रह को बुद्धि-विरोधी समझना उचित नहीं।

"अन्तःप्रज्ञा बुद्धि से परे है, यद्यपि उसकी विरोधी नहीं। चूँकि वह समग्र की सत्ता के प्रति प्रतिक्रिया है अतः उसमें बुद्धि का भी समावेश है।....यह अध्ययन एवं विश्लेषण की लम्बी एवं जटिल प्रक्रिया का परिणाम है और इसीलिए तार्किक प्रक्रिया से, जिससे वह उद्भूत होकर उसका निर्देशन करती है : उच्चतर है।"[2]

राधाकृष्णन् के अनुसार कला, साहित्य तथा दर्शन की प्रत्येक कृति आत्मा के अन्तःप्रज्ञात्मक बोध पर आधारित होती है। अन्तःप्रज्ञा को वे एक अखण्ड, पूर्ण चेतना मानते हैं, जिसमें मन के सभी पक्षों का विकास होता है। अन्तःप्रज्ञा का पूर्ण विकास धार्मिक जीवन में ही सम्भव है, अतः राधाकृष्णन् धर्म के प्रत्यय को बहुत महत्त्व देते हैं।

धर्म

"धर्म अपने सार रूप में परम सत्ता का अनुभव या सजीव सम्पर्क है।....धर्म में आत्मा पूर्णतः सन्तुष्ट हो जाती है और उसका जीवन हमारी सत्ता के प्रत्येक पक्ष को सन्तुष्ट करता है।"[3]

विज्ञान एवं तकनीकी विकास ने जहाँ मानवीय बुद्धि की प्रतिष्ठा बढ़ायी है, वहाँ उसने आत्मिक विकास की उपेक्षा भी की है। फलस्वरूप, सर्वत्र अशान्ति व्याप्त है। इस अशान्ति से बचने के हेतु प्रकृतिवाद, अनीश्वरवाद, मानवतावाद, समाजवाद, उपयोगितावाद तथा आधुनिकतावाद जैसे विकल्पों को अनेक व्यक्ति स्वीकार कर रहे

---

1. राधाकृष्णन्, एस० : ऐन आइडिएलिस्ट व्यू आफ् लाइफ, पृ० 143
2. राधाकृष्णन्, एस० द्वारा सम्पादित : कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी, पृ० 486
3. वही, पृ० 492

हैं इनके सूक्ष्म परीक्षण के पश्चात् राधाकृष्णन् इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनमें से कोई भी पूर्णतः सन्तोषप्रद नहीं है; परन्तु निराशा के लिए कोई स्थान नहीं है। आज हमें आवश्यकता केवल चिन्तन-पद्धतियों में ही परिवर्तन की नहीं, अपितु भावना एवं क्रिया-पद्धतियों में परिवर्तन की भी है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि परम्परागत धर्मों की पुनर्व्याख्या मात्र से यह आवश्यकता पूर्ण नहीं हो सकती। वर्तमान दोषों को दूर करने के निमित्त एक नये जीवन के लिए सक्रिय प्रयास करना होगा, जिससे मानव की वासनाओं एवं भावनाओं का परिशोधन किया जा सके। यह प्रयास सामूहिक स्तर पर होना चाहिए। इसकी सफलता में ही विश्व का सर्वाधिक कल्याण निहित है।

सर मुहम्मद इकबाल

डॉ० मुहम्मद इक़बाल (1876-1938) एक ऐसे भारतीय दार्शनिक चिन्तक हैं जिन्होंने कुरान तथा अन्य इस्लामी ग्रन्थों से प्रेरणा ग्रहण कर उदार मानवतावादी प्रवृत्ति एवं सकारात्मक आशावाद का विकास किया। टैगोर की भाँति इकबाल ने भी अपनी कलात्मक प्रतिभा का उपयोग मुख्यतः आध्यात्मिक एवं उज्ज्वल भविष्योन्मुखी विश्व-दृष्टि की स्थापना के लिए किया।

इक़बाल की मुख्य कृतियाँ हैं—'इसरारे खुदी', 'बाले जब्रील' तथा 'नवाएँ वक्त'। उनपर सूफी चिन्तक रूमी तथा पाश्चात्य चिन्तकों, बर्गसाँ एवं नीत्शे, का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। उनके दर्शन में हमें विवेकानन्द के कर्म के प्रति आग्रह, टैगोर के उत्कट मानवतावाद तथा नीत्शे के अति-मानवतावाद की झलकियाँ मिलती हैं। **प्रचण्ड कर्मवाद** तथा **आशावाद** से युक्त **विश्व-दृष्टि** की स्थापना आधुनिक भारतीय दर्शन में उनका **प्रमुख योगदान** है।

तत्त्व-मीमांसा

इकबाल की तत्त्व-मीमांसा में खुदी (आत्मा) की अवधारणा का सबसे महत्त्व-पूर्ण स्थान है। यह सत्य है कि वे ईश्वर या परम सत्ता के स्वरूप का विवेचन भी करते हैं, परन्तु उनके दर्शन का वैशिष्ट्य ईश्वर के स्वरूप-विवेचन में नहीं, अपितु मानव-संकल्प एवं कर्म के परिप्रेक्ष्य में चरम सत्ता को व्याख्यायित करने में है। इस प्रकार उनका दर्शन स्पष्टतः संकल्पवादी एवं मानव-केन्द्रित है। इकबाल आत्मा को क्रियाशील अहम् (ऐक्टिव आई) मानते हैं। इसरारे खुदी में वे कहते हैं कि आत्मा के बिना किसी

प्रकार की सत्ता सम्भव नहीं सत्ता आत्मा का कार्य है। जो कुछ हम देखते हैं वह आत्मा की प्रसुप्त शक्तियों की ही अभिव्यक्ति है। यह दृष्टिकोण उनके लिये वैयक्तिक ईश्वर को मानना सम्भव बना देता है।

इकबाल की मान्यता है कि सर्वोच्च सत्ता जीवन की अनुभूति के उच्चतम अर्थ में एक व्यक्ति है परन्तु वे मानवेश्वरवाद को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। वे असीम की प्राप्ति एवं अपने व्यक्तित्व को बनाये रखने में कोई विरोध नहीं मानते। उनके अनुसार—

> "यह कठिनाई असीम के यथार्थ स्वरूप को ठीक से न समझ पाने के कारण उत्पन्न होती है। वास्तविक असीमता का अर्थ असीम विस्तार नहीं, उसका स्वरूप सघनता में है, विस्तार में नहीं और ज्यों ही हम अपनी दृष्टि सघनता पर जमाते हैं, त्यों ही हम देखते हैं कि ससीम अहम् असीम से पृथक् न होने पर भी उससे भिन्न होता है।"[1]

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वैयक्तिक सत्ता तथा उसकी सघनता आदि के प्रत्ययों के बारे में इकबाल और टैगोर में विलक्षण साम्य है। टैगोर की भाँति इकबाल भी मानते हैं कि मानव इसलिए महान् है कि उसमें गतिशीलता, सर्जनात्मकता एवं स्वतन्त्रता के गुण विद्यमान हैं। उनकी यह मान्यता कुरान से भी पुष्ट होती है। वैष्णवों के समान इकबाल भी यह मानते हैं कि मानव-आत्मा की रचना द्वारा ही ईश्वर का स्वरूप पूर्णता को प्राप्त होता है—'तामीरे खुदी में है खुदाई।'

मानवतावाद

इकबाल का मानवतावाद उनके गतिशीलता एवं परिवर्तन के सिद्धान्त से जुड़ा हुआ है। मानव की महानता की अभिव्यक्ति तभी सम्भव है जब हम अनन्त सम्भावनाओं से युक्त एक गतिशील जगत् को स्वीकार करें। वर्तमान जगत् में अपनी अटूट आस्था के कारण वे काल को सत्ता का मुख्य केन्द्र मानते हैं। यह स्वीकार करना होगा कि आधुनिक भारतीय दार्शनिक चिन्तकों में सम्भवतः इकबाल ने काल की समस्या पर सर्वाधिक ध्यान दिया है। अपनी कृति 'जावेदनामा' में वे कहते हैं कि क्योंकि सत्ता गतिशील है, अतः काल को परम सत्ता का एक संघटक तत्त्व मानना चाहिए, परन्तु क्रमबद्ध काल को महाकाल या चरम सत्ता मान लेना अनुचित है।

---

1. इकबाल, एम० : रीकन्स्ट्रक्शन ऑव फिलॉसफी इन इस्लाम, पृ० 118

विवेकानन्द की भाँति इकबाल भी यह मानते हैं कि मानवीय महानता अपनी पराकाष्ठा पर तभी पहुँच सकती है, जब मनुष्य पुराने घिसे-पिटे रास्ते को छोड़कर नवीन सर्जनात्मक कार्य करे। उनका आग्रह है, 'नये के लिए प्रयत्न करो, उसमें कुछ बुराई हो तो कुछ अच्छाई भी होगी'। इस प्रकार वे कर्मठता पर बल देते हैं, किन्तु फिर भी उनके चिन्तन में कठोरता नहीं आ पायी है। जहाँ एक ओर वे स्वच्छंदतावाद को भावुकता के अतिरेक से बचाते हैं, वहाँ दूसरी ओर नीत्शे के संकल्पवादी अतिरेक को प्रेम द्वारा मृदु भी बनाते हैं। इस प्रकार, इकबाल के दर्शन में जीवन के कठोर एवं कोमल पक्षों का सुन्दर समन्वय किया गया है।

●

परिशिष्ट 1

लेखक-परिचय

1. **डॉ० कमलेश दत्त त्रिपाठी**—हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के संस्कृत महाविद्यालय में प्राध्यापक हैं। आपने वेदों का विशेष अनुशीलन किया है और वैदिक साहित्य पर ही शोध-प्रबन्ध लिखा है।

2. **श्री संगम लाल पाण्डे**—प्रयाग विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में रीडर हैं। आप संस्कृतज्ञ हैं और भारतीय तथा पश्चिमी, दोनों दर्शनों के श्रेष्ठ ज्ञाता हैं। आपने एक दर्जन के लगभग दर्शन विषयक पुस्तकें लिखी हैं। [अब प्रोफेसर पद से सेवा-निवृत्त ।]

3. **डॉ० अजित शुकदेव शर्मा**—विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के दर्शन विभाग में प्राध्यापक हैं। प्राकृत भाषा और जैन दर्शन का विशेष अध्ययन और उसी क्षेत्र में शोध-कार्य किया है।

4. **डॉ० ना० हे० साम्ताणी**—आप हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में पालि के प्राध्यापक हैं। पालि भाषा एवम् बौद्ध दर्शन के विशेषज्ञ हैं; उसी क्षेत्र में शोध कार्य किया है। आपने "अर्थ विनिश्चय सूत्र" का सम्पादन भी किया है। [अब प्रोफेसर पद से सेवा-निवृत्त ।]

5. **डॉ० छोटेलाल त्रिपाठी**—प्रयाग विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में प्राध्यापक हैं। विज्ञानवाद की ज्ञान मीमांसा पर शोध कार्य किया है। हिन्दी में यूनानी दर्शन पर भी एक पुस्तक लिखी है।

6. **डॉ० श्रीनारायण मिश्र**—हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्राध्यापक हैं। व्याकरण तथा न्याय-वैशेषिक के विशिष्ट विद्वान् हैं। वैशेषिक दर्शन पर हिन्दी में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा है। 'काशिका' का सानुवाद सम्पादन भी किया है।

7. **कु० विमला कर्णाटक**—हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में पी-एच० डी० के लिए योग दर्शन की टीकाओं पर शोध कार्य किया है। प्रकाशित शोध ग्रन्थ उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत है। सम्प्रति डी० लिट्० के लिए शोध कार्य कर रही हैं।

8. **डॉ० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर**—हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत महाविद्यालय में रीडर हैं। मीमांसा दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान्; 'श्लोक वार्तिक' का हिन्दी अनुवाद भी किया है।

9. **डॉ० नीलकण्ठ शर्मा हिरेमठ**—बनारस के क्वींस कालेज में अध्यापक हैं। वेदान्त तथा अन्य कई विषयों के आचार्य। चित्सुखाचार्य की 'प्रत्यक् तत्त्व प्रदीपिका' पर शोध-प्रबन्ध लिखा है। इस पुस्तक के सम्पादन के साथ 'शंकर-सिद्धान्त संग्रह' का सम्पादन भी किया है।

10. **डॉ० इन्दु भूषण पाण्डेय**—लखनऊ विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में प्राध्यापक हैं। रामानुज दर्शन पर शोध कार्य किया है।

11. **श्री अनन्त प्रसाद मिश्र**—काशी के एक स्कूल में अध्यापक। भारतीय धर्म और दर्शन में एम० ए०, व्याकरण-शास्त्री तथा सांख्य के आचार्य हैं। वेदान्त आदि का भी बढ़िया अनुशीलन किया है। [सम्प्रति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में प्राध्यापक।]

12. **डॉ० कैलाशपति मिश्र**—हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में प्राध्यापक हैं। संस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं, तंत्र पर शोध कार्य किया है।

13. **श्री प्रमोद कुमार कोयल**—मध्यप्रदेश के मन्दसौर नगर में गवर्नमेंट कालेज में प्राध्यापक।

●

परिशिष्ट 2

उपयोगी सन्दर्भ ग्रन्थ

सामान्य ग्रन्थ

अध्याय : 1

Das Gupta, Surendra Nath—A History of Indian Philosophy—Five Volumes, (Specially first and third), Moti Lal Banarasi Das, Delhi, Varanasi.

Radhakrishnan, S.—Indian Philosophy—2 Vols. (Hindi Translation available).

Hiriyanna, M.—Outlines of Indian Philosophy (Hindi Translation—भारतीय दर्शन की रूपरेखा),

Mishra, Umesh—भारतीय दर्शन (हिन्दी समिति, हिन्दी संस्थान, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ)।

Ed. Radhakrishnan and Others—History of Philosophy Eastern & Western—Vol. I. (George Allen & Unwin). अध्याय–1.

Keith, A. B.—Religion and Philosophy of the Veda and the Upanishads—Two Vols. (Moti Lal Banarasi Das) Hindi Translation—वैदिक धर्म और दर्शन—डॉ० सूर्यकान्त.

Mac Donnel, A. A.—Vedic Mythology.

अध्याय : 2

Ranade, R. D.—A Constructive Survey of Upanishadik Philosophy (Poona, 1926), (हिन्दी अनुवाद उपलब्ध है).

Deussen, Paul—The Philosophy the Upanishads.

अध्याय : 3

Barua, Beni Madhav—A History of Pre-Buddhistic Indian Philosophy (Calcutta, 1921), दूसरा संस्करण उपलब्ध है।

Belvalkar, S. K.& Ranade, R. D.—History of Indian Philosophy, Vol. II. Munshiram Manohar Lal, New Delhi, 1974 (Second Edition).

अध्याय : 4

तिलक, लोकमान्य—गीता रहस्य ।
गांधी, महात्मा—अनासक्ति योग ।
विवेकानन्द, स्वामी—कर्मयोग ।
Sri Aurobindo—Essays on the Gita.

अध्याय : 5

उमा स्वामी—तत्त्वार्थाधिगम सूत्र । सुखलाल संघवी कृत विवेचन, पार्श्वनाथ-विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी—5
मल्लिषेण—स्याद्वाद मंजरी ।
मेहता, मोहन लाल—जैन दर्शन (श्री सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा) ।

अध्याय : 6

सायण माधव—सर्व दर्शन संग्रह ।
झा, आनन्द—चार्वाक दर्शन (हिन्दी समिति, लखनऊ) ।
Chattopadhyaya, D. P.—Indian Materialism.
Dale, Riepe—The Naturalistic Tradition in Indian Thought.

अध्याय : 7

पालि त्रिपिटक—(विशेषतः मज्झिम निकाय और दीघ निकाय) ।
धम्मपद
वसुबन्धु—अभिधर्मकोषः हिन्दी टीका, आ० नरेन्द्र देव; संस्कृत टीका, राहुल सांकृत्यायन; स्फुटार्था यशोमित्र कृत ।
Kern—Manual of Indian Buddhism.
Oldenberg—Buddha : His Life, His Doctrine, His Order.
Rhys Davids (Mrs.)—A Manual of Buddhism.
Thomas, Ed.—Life of Buddha and History of Buddhist Thought.
Stcherbatsky, Th.—The Central Conception of Buddhism. (Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi).
Stcherbatsky, Th.—The Soul Theory of the Buddhists (Same Publisher).
अनुरुद्ध—अभिधम्मत्थ संगहो—सम्पादक, अनुवादक, व्याख्याकार—भदन्त रेवतधम्म तथा रामशंकर त्रिपाठी (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय) ।

अध्याय : 8

लंकावतार सूत्र

वसुबन्धु—विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, डॉ० महेश तिवारी (चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1967)

वसुबन्धु—विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (विंशतिका तथा त्रिंशिका)—हिन्दी अनुवाद और व्याख्या—थुबतन छोगडुब शास्त्री तथा पं० रामशंकर त्रिपाठी (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)।

नागार्जुन—मूल मध्यमक कारिका, प्रसन्नपदा सहित (मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा)।

आर्यदेव—चतुःशतक।

Har Dayal—The Bodhisattva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature (Motilal Banarasidass).

Stcherbatsky, Th.—The Buddhist Conception of Nirvāṇa (Bharatiya Vidya Bhavan, Varanasi).

Suzuki, D. T.—Outlines of Mahayana Buddhism (London, 1907).

Murti, T. R. V.—The Central Philosophy of Buddhism (George Allen & Unwin, 1955).

Raju, P. T.—Idealistic Thought of India (George Allen and Unwin, 1953).

शान्तिभिक्षु—महायान (विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता)।

अध्याय : 9

न्याय सूत्र—वात्स्यायन भाष्य, न्यायवार्तिक, तात्पर्य टीका सहित।

जयन्त भट्ट—न्याय मंजरी (चौखम्बा)।

उदयनाचार्य—न्याय कुसुमांजलि (हिन्दी व्याख्या—श्री विश्वेश्वर)।

अन्नंभट्ट—तर्क संग्रह, दीपिका सहित।

विश्वनाथ—भाषा परिच्छेद, मुक्तावली सहित (हिन्दी व्याख्या, श्री ज्वाला प्रसाद गौड़)।

धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री—भारतीय दर्शन शास्त्र (न्याय-वैशेषिक), मेरठ।

Chatterji, S. C.—The Nyāya Theory of Knowledge (University of Calcutta, 1939).

अध्याय : 10

प्रशस्तपाद—पदार्थ धर्म संग्रह (व्योमवत्यादि सहित, चौखम्बा)।

शंकर मिश्र—वैशेषिक सूत्रोपस्कार (हिन्दी व्याख्या, चौखम्बा, 1969)।

श्रीधर—न्याय कंदली (हिन्दी अनुवाद सहित), (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी)।

मिश्र, डॉ० श्री नारायण—वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन (चौखम्बा प्रकाशन)।

Harsh Narain—Evolution of Nyaya Vaisesika Categoriology,

Mishra Umesh—Conception of Matter, according to Nyaya Vaisesika Allahabad, 1936).

Sastri, D. N.—Critique of Indian Realism (Agra Uuiversity).

अध्याय : 11

सांख्यकारिका—सांख्य तत्त्व कौमुदी व सार बोधिनी सहित, शिवनारायण शास्त्री (निर्णय सागर प्रेस, 1940)।

सांख्यकारिका—डॉ० रामशंकर त्रिपाठी कृत हिन्दी टीका, वाराणसी, 1970

सांख्यकारिका-तत्त्व कौमुदी—श्री रामशंकर भट्टाचार्य कृत ज्योतिष्मती व्याख्या, वाराणसी, 1967।

अध्याय : 12

योग सूत्र—व्यास भाष्य, तत्त्व वैशारदी, योगवार्तिक आदि सहित (चौखम्बा, 1935)

Das Gupta, S. N.—Yoga Philosophy.

सम्पूर्णानन्द—योगदर्शन, हिन्दी समिति, लखनऊ, 1965

अध्याय : 13

कुमारिल भट्ट—श्लोकवार्तिक (अनेक टीकाएँ)।

मिश्र, पार्थसारथि—शास्त्र दीपिका।

शालिक नाथ—प्रकरण पञ्चिका (हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी)।

Jha, G. N.—Purva Mimamsa in its Sources (Banaras Hindu University, 1943).

—do— Prabhakara School of Purva Mimamsa, Allahabad, 1911

Keith, A. B.—Purva Mimamsa

Mishra, Vacaspati—Tattwa Bindu, Edited with Introduction by V. A. Ramaswamy Sastri (Annamalai Nagar, 1936).

अध्याय : 14

मिश्र, मंडन—ब्रह्म सिद्धि, सं० कुप्पुस्वामी शास्त्री (मद्रास, 1937)।
गौड़पाद—माण्डूक्य कारिका, शाङ्कर भाष्य सहित।
Bhattacharya, Vidhushekhar—The Agama Sastra of Gaudapada.
Atreya, B. L.—Yoga Vasistha and Modern Thought.
Pandey, S. L.—Pre-Saṅkara Advaita Philosophy.

अध्याय : 15

शंकर—ब्रह्म सूत्र भाष्य, रत्नप्रभा, भामती न्याय निर्णय सहित—(बम्बई, 1947)।
शंकर—गीता भाष्य (गीता प्रेस, गोरखपुर)।
शंकर—ब्रह्म सूत्र भाष्य, चतुःसूत्री, 2 भाग, नव टीकोपेत, (कलकत्ता, 1933)।
शंकर—ईश आदि उपनिषदों पर भाष्य (आनन्दाश्रम, पूना)
सुरेश्वराचार्य—नैष्कर्म्य सिद्धि, सटीक, हिरियन्ना द्वारा सम्पादित (बम्बई, 1925)।
विद्यारण्य मुनि—विवरण प्रमेय संग्रह (अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, संवत् 1996)।
,, —पञ्चदशी।
चित्सुखाचार्य—प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका (हिन्दी अनुवाद सहित, उदासीन संस्कृत विद्यालय, काशी)।
शर्मा, राममूर्ति—अद्वैत वेदान्त।
Devaraja, N. K.—An Introduction to Sankara's Theory of Knowledge (Motilal Banarasidass, 1972).
Denssen, Paul—The System of Vedanta.

अध्याय : 16

रामानुज—श्री भाष्य, वेदार्थ संग्रह, गीता भाष्य (रामानुज ग्रन्थ संग्रह, प्रकाशक—अण्णङ्गाचार्य)।
Sen Gupta, Anima—The Philosophy of Ramanuja (Chaukhamba, Varanasi, 1967).
Srinivasachari, P. N.—Philosophy of Visistadvaita (Adyar Library).
श्रीनिवासदास—यतीन्द्रमत दीपिका।
रंगरामानुज—ईशादि उपनिषदों पर भाष्य।

अध्याय : 17

निम्बार्काचार्य—वेदान्त पारिजात सौरभ (काशी, 1932)।

Chaudhuri, Roma—Doctrine of Nimbarka and his Followers.

मध्वाचार्य—अणु व्याख्यान, ब्रह्मसूत्र भाष्य, भागवत-तात्पर्य, उपनिषद् भाष्य।

जयतीर्थ—तत्त्व-प्रकाशिका।

चतुर्वेदी, कृष्णकान्त—द्वैत वेदान्त का तात्त्विक अनुशीलन (विद्या प्रकाशन मंदिर, दिल्ली)।

वल्लभाचार्य—अणु भाष्य, बाल बोधिनी सहित (बम्बई, 1926)।

वल्लभाचार्य—तत्त्वार्थ दीप निबन्ध, श्री केदारनाथ मिश्र कृत हिन्दी व्याख्या (भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी)।

वल्लभाचार्य—भागवत सुबोधिनी व्याख्या।

चतुर्वेदी, पं० सीताराम—महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य और पुष्टिमार्ग (हिन्दी साहित्य कुटीर, हाथी गली, वाराणसी)।

श्री जीव गोस्वामी—षट् सन्दर्भ (अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी)।

बलदेव विद्याभूषण—ब्रह्मसूत्र पर गोविन्द भाष्य।

अध्याय : 18

Pandey, K. C.—Abhinavagupta (Choukhambha, Varanasi).

Dr. Kamalakar Mishra—The Significance of Tantra.

कैलाशपति मिश्र—काश्मीर शैव दर्शन, दो भाग, अर्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी, 1982

नागेन्द्र नाथ उपाध्याय—तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, नागरी प्रचारिभी सभा, वाराणसी, सं० 2015।

S. B. Das Gupta—An Introduction to Tantric Buddhism, University of Calcutta, 1958.

अध्याय : 19

सक्सेना, लक्ष्मी (संपादिका)—समकालीन भारतीय दर्शन (उ० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी लखनऊ, 1974)।

श्री अरविन्द—दिव्य जीवन (दो भाग)।

शर्मा, रामनाथ—श्री अरविन्द का सर्वांगदर्शन (मेरठ, 1972)।

Bhagavan Das—The Essential Unity of All Religions.

Sri Aurobindo—Essays on the Gita.

Sri Aurobindo—The Synthesis of Yoga (Pondicherry, 1971).

Gandhi, M. K.—Non-Violence in Peace and War, ed. Mahadev Desai (Navjivan Publishing House, Ahmedabad).

Gandhi, M. K.—Satyagraha (Navajivan Publishing House, Ahmedabad).

महात्मा गांधी—अहिंसा और सत्य, प्र० सम्पादक रामनाथ सुमन (सेवापुरी, वाराणसी)।

महात्मा गांधी—आत्मकथा।

Tagore, Rabindra Nath—The Religion of Man (Unwin Books, London).

Radhakrishnan, S.—An Idealist View of Life (George) Allen & Unwin, London, 1932).

Eastern Religions and Western Thought (George Allen & Unwin, London).

Iqbal, Sri Mohammed—Reconstruction of Philosophy in Islam.

Ed. H. Bhattacharya—Cultural Heritage of India, Vol. IV Ramkrishna Mission, Calcutta, 1969.

Eds. S Radhakrishnan,—I. H. Muirhead Contemporary Indian Philosophy, George Allen and Unwin, London, 1936.

नामानुक्रमणिका

विश्लेषणात्मक विषयानुक्रमणिका

त, थ